सूयगडो १

(मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद, टिप्पण तथा परिशिष्ट)

वाचना-प्रमुख

आचार्य तुलसी

सम्पादक-विवेचक

युवाचार्य महाप्रज्ञ

अनुवादक

मुनि दुलहराज

प्रकाशक

जैन विश्व भारती

लाडनूं (राजस्थान)

प्रकाशक :
जैन विश्व भारती
लाडनूं (राजस्थान)

आर्थिक सौजन्य :
रामपुरिया चेरिटेबल ट्रस्ट
कलकत्ता

प्रबन्ध-सम्पादक :
श्रीचन्द रामपुरिया
निदेशक
आगम और साहित्य प्रकाशन
(जैन विश्व भारती)

प्रथम संस्करण :
१९८४

पृष्ठांक :
७००

मूल्य : **१८५ रुपये**

मुद्रक :
मित्र परिषद् कलकत्ता के आर्थिक सौजन्य से स्थापित
जैन विश्व भारती प्रेस, लाडनूं (राजस्थान)

SŪYAGAḌO 1

[Text, Sanskrit Rendering and Hindi Version with notes]

Vācanā Pramukha
ĀCĀRYA TULSI

Editor and Commentator
YUVĀCĀRYA MAHĀPRAGÑA

Translated by
MUNI DULAHARĀJA

Publisher
JAIN VISHVA BHARATI
LADNUN (Raj.)

समर्पण

॥ १ ॥

पुट्ठो वि पण्णापुरिसो सुदक्खो,
आणापहाणो जणि जस्स निच्चं ।
सच्चप्पओगे पवरासयस्स,
भिक्खुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसका प्रज्ञा-पुरुष पुष्ट पटु,
होकर भी आगम-प्रधान था ।
सत्य-योग में प्रवर चित्त था,
उसी भिक्षु को विमल भाव से ॥

॥ २ ॥

विलोडियं आगमदुद्धमेव,
लद्धं सुलद्धं णवणीयमच्छं ।
सज्झायसज्झाणरयस्स निच्चं,
जयस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने आगम-दोहन कर-कर,
पाया प्रवर प्रचुर नवनीत ।
श्रुत-सद्ध्यान लीन चिरचिन्तन,
जयाचार्य को विमल भाव से ॥

॥ ३ ॥

पवाहिया जेण सुयस्स धारा,
गणे समत्थे मम माणसे वि ।
जो हेउभूओ स्स पवायणस्स,
कालुस्स तस्स प्पणिहाणपुव्वं ॥

जिसने श्रुत की धार बहाई,
सकल संघ में मेरे मन में ।
हेतुभूत श्रुत-सम्पादन में,
कालुगणी को विमल भाव से ॥

अन्तस्तोष

अन्तस्तोष अनिर्वचनीय होता है उस माली का, जो अपने हाथों से उप्त और सिंचित द्रुम-निकुञ्ज को पल्लवित, पुष्पित और फलित हुआ देखता है; उस कलाकार का, जो अपनी तूलिका से निराकार को साकार हुआ देखता है और उस कल्पनाकार का, जो अपनी कल्पना को अपने प्रयत्नों से प्राणवान् बना देखता है। चिरकाल से मेरा मन इस कल्पना से भरा था कि जैन-आगमों का शोधपूर्ण सम्पादन हो और मेरे जीवन के बहुश्रमी क्षण उसमें लगे। संकल्प फलवान् बना और वैसा ही हुआ। मुझे केन्द्र मान मेरा धर्म-परिवार उस कार्य में संलग्न हो गया। अतः मेरे इस अन्तस्तोष में मैं उन सब को समभागी बनाना चाहता हूं, जो इस प्रवृत्ति में संविभागी रहे हैं।

संविभाग हमारा धर्म है। जिन-जिन ने इस गुरुतर प्रवृत्ति में उन्मुक्तभाव से अपना संविभाग समर्पित किया है, उन सबको मैं आशीर्वाद देता हूं और कामना करता हूं कि उनका भविष्य इस महान् कार्य का भविष्य बने।

—आचार्य तुलसी

प्रकाशकीय

मुझे यह लिखते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि 'जैन विश्व भारती' द्वारा आगम प्रकाशन के क्षेत्र में जो कार्य सम्पन्न हुआ है, वह मूर्धन्य विद्वानों द्वारा स्तुत्य और बहुमूल्य बताया गया है।

हमने ग्यारह अंगों का पाठान्तर तथा 'जाव' की पूर्ति से संयुक्त सु-संपादित मूल पाठ 'अंगसुत्ताणि' भाग १, २, ३ में प्रकाशित किया है। उसके साथ-साथ आगम-ग्रन्थों का मूलपाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद एवं प्राचीनतम व्याख्या सामग्री के आधार पर सूक्ष्म ऊहापोह के साथ लिखित विस्तृत मौलिक टिप्पणों से मंडित संस्करण प्रकाशित करने की योजना भी चलती रही है। इस शृंखला में चार आगम-ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं :—

(१) ठाणं

(२) समवाओ

(३) दसवेआलियं

(४) उत्तरज्झयणाणि

प्रस्तुत आगम 'सूयगडो १' उसी शृंखला का पांचवा ग्रन्थ है। बहुश्रुत वाचना-प्रमुख आचार्यश्री तुलसी एवं अप्रतिम विद्वान् संपादक-विवेचक युवाचार्यश्री महाप्रज्ञ ने जो श्रम किया है, वह ग्रन्थ के अवलोकन से स्वयं स्पष्ट होगा।

संपादन-विवेचन सहयोगी मुनि दुलहराजजी ने इसे सुसज्जित करने में अनवरत श्रम किया है।

ऐसे सु-संपादित आगम-ग्रन्थ को प्रकाशित करने का सौभाग्य 'जैन विश्व भारती' को प्राप्त हुआ है, इसके लिए वह कृतज्ञ है।

प्रस्तुत आगम 'सूयगडो १' का मुद्रण श्री रामपुरिया चेरिटेबल ट्रस्ट (कलकत्ता) द्वारा घोषित अनुदान राशि में से हुआ है। मैं उस ट्रस्ट के सभी ट्रस्टियों के प्रति संस्था की ओर से हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करता हूं।

जैन विश्व भारती के अध्यक्ष श्री बिहारीलालजी सरावगी की निरन्तर और सघन प्रेरणा के कारण ही, कुछ वर्षों के व्यवधान के पश्चात्, आगम प्रकाशन का कार्य पुनः तत्परता से प्रारम्भ हुआ है। मुझे आशा है कि इस प्रकाशन कार्य की निरन्तरता बनी रहेगी और हम निकट भविष्य में और अनेक आगम-ग्रन्थ प्रस्तुत करने में सक्षम होंगे।

आशा है पूर्व प्रकाशनों की तरह यह प्रकाशन भी विद्वानों की दृष्टि में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा।

श्रीचन्द रामपुरिया

कलकत्ता
१-६-८४

सम्पादकीय

आगम-सम्पादन की प्रेरणा

वि० सं० २०११ का वर्ष और चैत्र मास। आचार्य श्री तुलसी महाराष्ट्र की यात्रा कर रहे थे। पूना से नारायणगांव की ओर जाते-जाते मध्यावधि में एक दिन का प्रवास मंचर में हुआ। आचार्य श्री एक जैन परिवार के भवन में ठहरे थे। वहां मासिक पत्रों की फाइलें पड़ी थीं। गृह-स्वामी की अनुमति ले, हम लोग उन्हें पढ़ रहे थे। सांझ की वेला, लगभग छह बजे होंगे। मैं एक पत्र के किसी अंश का निवेदन करने के लिये आचार्य श्री के पास गया। आचार्य श्री पत्रों को देख रहे थे। जैसे ही मैं पहुंचा, आचार्यश्री ने 'धर्मदूत' के सद्यस्क अंक की ओर संकेत करते हुए पूछा -"यह देखा कि नहीं ?" मैंने उत्तर में निवेदन किया—"नहीं, अभी नहीं देखा।" आचार्य श्री बहुत गम्भीर हो गये। एक क्षण रुककर बोले—"इसमें बौद्ध पिटकों के सम्पादन की बहुत बड़ी योजना है। बौद्धों ने इस दिशा में पहले ही बहुत कार्य किया है और अब भी बहुत कर रहे हैं। जैन आगमों का सम्पादन वैज्ञानिक पद्धति से अभी नहीं हुआ है और इस ओर अभी ध्यान भी नहीं दिया जा रहा है।" आचार्य श्री की वाणी में अन्तर्वेदना टपक रही थी, पर उसे पकड़ने में समय की अपेक्षा थी।

आगम-सम्पादन का संकल्प

रात्रि-कालीन प्रार्थना के पश्चात् आचार्य श्री ने साधुओं को आमन्त्रित किया। वे आए और वन्दना कर पंक्तिबद्ध बैठ गए। आचार्यश्री ने सायंकालीन चर्चा का स्पर्श करते हुए कहा—"जैन आगमों का कायाकल्प किया जाए, ऐसा संकल्प उठा है। उसकी पूर्ति के लिए कार्य करना होगा। बोलो, कौन तैयार है ?"

सारे हृदय एक साथ बोल उठे—"सब तैयार हैं।"

आचार्य श्री ने कहा—"महान् कार्य के लिए महान् साधना चाहिये। कल ही पूर्व तैयारी में लग जाओ, अपनी-अपनी रुचि का विषय चुनो और उसमें गति करो।"

मंचर से विहार कर आचार्य श्री संगमनेर पहुंचे। पहले दिन वैयक्तिक बातचीत होती रही। दूसरे दिन साधु-साध्वियों की परिषद् बुलाई गई। आचार्य श्री ने परिषद् के सम्मुख आगम-सम्पादन के संकल्प की चर्चा की। सारी परिषद् प्रफुल्ल हो उठी। आचार्य श्री ने पूछा—"क्या इस संकल्प को अब निर्णय का रूप देना चाहिये ?"

समलय से प्रार्थना का स्वर निकला—"अवश्य, अवश्य।" आचार्य श्री औरंगाबाद पधारे। सुराना भवन, चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (वि० सं० २०११), महावीर जयन्ती का पुण्य-पर्व। आचार्य श्री ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इस चतुर्विध संघ की परिषद् में आगम-सम्पादन की विधिवत् घोषणा की।

आगम-सम्पादन का कार्यारम्भ

वि० सं० २०१२ श्रावण मास (उज्जैन चातुर्मास) से आगम सम्पादन का कार्यारम्भ हो गया। न तो सम्पादन का कोई अनुभव और न कोई पूर्व तैयारी। अकस्मात् 'धर्मदूत' का निमित्त पा आचार्य श्री के मन में संकल्प उठा और उसे सबने शिरोधार्य कर लिया। चिन्तन की भूमिका से इसे निरी भावुकता ही कहा जाएगा, किन्तु भावुकता का मूल्य चिन्तन से कम नहीं है। हम अनुभव-विहीन थे, किन्तु आत्म-विश्वास से शून्य नहीं थे। अनुभव आत्म-विश्वास का अनुगमन करता है, किन्तु आत्म-विश्वास अनुभव का अनुगमन नहीं करता।

प्रथम दो-तीन वर्षों में हम अज्ञात दिशा में यात्रा करते रहे। फिर हमारी सारी दिशाएं और कार्य-पद्धतियां निश्चित और सुस्थिर हो गईं। आगम-सम्पादन की दिशा में हमारा कार्य सर्वाधिक विशाल व गुरुतर कठिनाइयों से परिपूर्ण है, यह कहकर मैं स्वल्प भी अतिशयोक्ति नहीं कर रहा हूं। आचार्यश्री के अदम्य उत्साह और समर्थ प्रयत्न से हमारा कार्य निरन्तर गतिशील हो रहा है। इस कार्य में हमें अन्य अनेक विद्वानों की सद्भावना, समर्थन व प्रोत्साहन मिल रहा है। मुझे विश्वास है कि आचार्य श्री की यह वाचना पूर्ववर्ती वाचनाओं से कम अर्थवान् नहीं होगी।

सम्पादन का कार्य सरल नहीं है—यह उन्हें सुविदित है, जिन्होंने उस दिशा में कोई प्रयत्न किया है। दो-ढाई हजार वर्ष पुराने ग्रन्थों के सम्पादन का कार्य और भी जटिल है, क्योंकि उनकी भाषा और भावधारा आज की भाषा और भावधारा से बहुत व्यवधान पा चुकी है। इतिहास की यह अपवाद-शून्य गति है कि जो विचार या आचार जिस आकार में आरब्ध होता है, वह उसी आकार में स्थिर नहीं रहता। या तो वह बड़ा हो जाता है या छोटा। यह ह्रास और विकास की कहानी ही परिवर्तन की कहानी है। कोई भी आकार ऐसा नहीं है, जो कृत है और परिवर्तनशील नहीं है। परिवर्तनशील घटनाओं, तथ्यों, विचारों और आचारों के प्रति अपरिवर्तनशीलता का आग्रह मनुष्य को असत्य की ओर ले जाता है। सत्य का केन्द्र-विन्दु यह है कि जो कृत है, वह सब परिवर्तनशील है। अकृत या शाश्वत भी ऐसा क्या है, जहां परिवर्तन का स्पर्श न हो। इस विश्व में जो है, वह वही है जिसकी सत्ता शाश्वत और परिवर्तन की धारा से सर्वथा विभक्त नहीं है।

शब्द की परिधि में बंधने वाला कोई भी सत्य क्या ऐसा हो सकता है, जो तीनों कालों में समान रूप से प्रकाशित रह सके ? शब्द के अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है भाषाशास्त्र के इस नियम को जानने वाला यह आग्रह नहीं रख सकता कि दो हजार वर्ष पुराने शब्द का आज वही अर्थ सही है, जो आज प्रचलित है। 'पाषण्ड' शब्द का जो अर्थ आगम-ग्रन्थों और अशोक के शिला-लेखों में है, वह आज के श्रमण साहित्य में नहीं है। आज उसका अपकर्ष हो चुका है। आगम साहित्य के सैंकड़ों शब्दों की यही कहानी है कि वे आज अपने मौलिक अर्थ का प्रकाश नहीं दे रहे हैं। इस स्थिति में हर चिन्तनशील व्यक्ति अनुभव कर सकता है कि प्राचीन साहित्य के सम्पादन का काम कितना दुरूह है।

मनुष्य अपनी शक्ति में विश्वास करता है और अपने पौरुष से खेलता है, अतः वह किसी भी कार्य को इसलिए नहीं छोड़ देता कि वह दुरूह है। यदि यह पलायन की प्रवृत्ति होती तो प्राप्य की सम्भावना नष्ट ही नहीं हो जाती किन्तु आज जो प्राप्त है, वह अतीत के किसी भी क्षण में विलुप्त हो जाता। आज से हजार वर्ष पहले नवांगी टीकाकार (अभयदेव सूरि) के सामने अनेक कठिनाइयां थीं। उन्होंने उनकी चर्चा करते हुए लिखा है—

१. सत् सम्प्रदाय (अर्थ-वोध की सम्यक् गुरु-परम्परा) प्राप्त नहीं है।
२. सत् ऊह (अर्थ की आलोचनात्मक कृति या स्थिति) प्राप्त नहीं है।
३. अनेक वाचनाएं (आगामिक अध्यापन की पद्धतियां) हैं।
४. पुस्तकें अशुद्ध हैं।
५. कृतियां सूत्रात्मक होने के कारण बहुत गम्भीर हैं।
६. अर्थ विषयक मतभेद भी हैं।[1]

इन सारी कठिनाइयों के उपरान्त भी उन्होंने अपना प्रयत्न नहीं छोड़ा और वे कुछ कर गये।

कठिनाइयां आज भी कम नहीं हैं, किन्तु उनके होते हुए भी आचार्य श्री तुलसी ने आगम-सम्पादन के कार्य को अपने हाथों में ले लिया। उनके शक्तिशाली हाथों का स्पर्श पाकर निष्प्राण भी प्राणवान् बन जाता है तो भला आगम-साहित्य, जो स्वयं प्राणवान् है, उसमें प्राण-संचार करना क्या बड़ी बात है ? बड़ी बात यह है कि आचार्य श्री ने उसमें प्राण-संचार मेरी और मेरे सहयोगी साधु-साध्वियों की असमर्थ अंगुलियों द्वारा कराने का प्रयत्न किया है। सम्पादन-कार्य में हमें आचार्य श्री का आशीर्वाद ही प्राप्त नहीं है किन्तु मार्ग-दर्शन और सक्रिय योग भी प्राप्त है। आचार्यवर ने इस कार्य को प्राथमिकता दी है और इसकी परिपूर्णता के लिये अपना पर्याप्त समय दिया है। उनके मार्ग-दर्शन, चिन्तन और प्रोत्साहन का सम्बल पा हम अनेक दुस्तर धाराओं का पार पाने में समर्थ हुए हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ सूयगडो (प्रथम श्रुतस्कंध) का सानुवाद संस्करण है। आगम साहित्य के अध्येता दोनों प्रकार के लोग हैं, विद्वद्जन और साधारण जन। मूल पाठ के आधार पर अनुसंधान करने वाले विद्वानों के लिए मूल पाठ का संपादन 'अंगसुत्ताणि' भाग १ में किया गया है। प्रस्तुत संस्करण में मूल पाठ, संस्कृत छाया, हिन्दी अनुवाद और टिप्पण हैं और टिप्पणों के सन्दर्भस्थल भी उपलब्ध हैं।

---

१. स्थानांगवृत्ति, प्रशस्ति श्लोक, १,२ :

सत्सम्प्रदायहीनत्वात्, सदूहस्य वियोगतः।
सर्वस्वपरशास्त्राणामदृष्टेरस्मृतेश्च मे ॥
वाचनानामनेकत्वात्, पुस्तकानामशुद्धितः।
सूत्राणामतिगाम्भीर्याद्, मतभेदाश्च कुत्रचित् ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ की भूमिका बहुत ही लघुकाय है। हमारी परिकल्पना है कि सभी अंगों और उपांगों की बृहद् भूमिका एक स्वतंत्र पुस्तक के रूप में हो।

संस्कृत छाया

संस्कृत छाया को हमने वस्तुतः छाया रखने का ही प्रयत्न किया है। टीकाकार प्राकृत शब्द की व्याख्या करते हैं अथवा उसका संस्कृत पर्यायान्तर देते हैं। छाया में वैसा नहीं हो सकता।

हिन्दी अनुवाद और टिप्पण

प्रस्तुत आगम का हिन्दी अनुवाद मूलस्पर्शी है। इसमें केवल शब्दानुवाद की-सी विरसता और जटिलता नहीं है तथा भावानुवाद जैसा विस्तार भी नहीं है। श्लोकों का आशय जितने शब्दों में प्रतिबिम्बित हो सके उतने ही शब्दों की योजना करने का प्रयत्न किया गया है। मूल शब्दों की सुरक्षा के लिए कहीं-कहीं उनका प्रचलित अर्थ कोष्ठकों में दिया गया है। श्लोक तथा श्लोकगत शब्दों की स्पष्टता टिप्पणों में की गई है।

इसका अनुवाद वि० सं० २०२६ बेंगलोर चतुर्मास में प्रारंभ किया था। यात्राओं तथा अन्यान्य कार्यों की व्यस्तता के कारण इसकी संपूर्ति में अधिक समय लग गया। अवरोधों की लम्बी यात्रा के बाद प्रस्तुत ग्रन्थ तैयार होकर अब जनता तक पहुंच रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के टिप्पणों में चूर्णि के पृष्ठांक स्वर्गीय मुनि श्री पुण्यविजयजी द्वारा संपादित तथा प्रकाशित सूत्रकृतांग (प्रथम श्रुतस्कंध) की चूर्णि के हैं। अनुवाद और टिप्पण-लेखन में मुनि दुलहराजजी ने तत्परता से योग दिया है। इसका पहला परिशिष्ट मुनि दुलहराजजी ने, दूसरा मुनि धनंजयजी ने, तीसरा और चौथा मुनि हीरालालजी ने तथा पांचवां मुनि राजेन्द्रकुमारजी ने तैयार किया है। साध्वी जिनप्रभाजी ने संस्कृत छाया का पुनरावलोकन किया और मुनि सुदर्शनजी तथा समणी कुसुमप्रज्ञाजी ने प्रूफ देखने में पूरा सहयोग दिया।

'अंगसुत्ताणि' भाग १ में प्रस्तुत सूत्र का संपादित पाठ प्रकाशित है। इसलिए इस संस्करण में पाठान्तर नहीं दिए गए हैं। पाठान्तरों तथा तत्सम्बन्धी अन्य सूचनाओं के लिए 'अंगसुत्ताणि' भाग १ द्रष्टव्य है।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ में अनेक साधुओं की पवित्र अंगुलियों का योग है। आचार्यश्री के वरदहस्त की छाया में बैठकर कार्य करने वाले हम सब संभागी हैं, फिर भी मैं उन सब साधु-साध्वियों के प्रति सद्भावना व्यक्त करता हूं जिनका इस कार्य में योग है और आशा करता हूं कि वे इस महान् कार्य के अग्रिम चरण में और अधिक दक्षता प्राप्त करेंगे।

आचार्यश्री प्रेरणा के अनन्त स्रोत हैं। हमें इस कार्य में उनकी प्रेरणा और प्रत्यक्ष योग दोनों प्राप्त है, इसलिए हमारा कार्य-पथ बहुत ऋजु हुआ है। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित कर मैं कार्य की गुरुता को बढ़ा नहीं पाऊंगा। उनका आशीर्वाद दीप बनकर हमारा कार्य-पथ प्रकाशित करता रहे, यही हमारी आशंसा है।

—युवाचार्य महाप्रज्ञ

१५ अगस्त, १९८४
जोधपुर

भूमिका

नाम-बोध

प्रस्तुत आगम का नाम 'सूयगडो' है। समवाय, नंदी और अनुयोगद्वार—तीनों आगमों में यही नाम उपलब्ध होता है।[1] निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ने प्रस्तुत आगम के तीन गुण-निष्पन्न नाम बतलाए हैं—[2]

१. सूतगड—सूतकृत

२. सुत्तकड—सूत्रकृत

३. सूयगड—सूचाकृत

प्रस्तुत आगम मौलिकदृष्टि से भगवान् महावीर से सूत (उत्पन्न) है तथा यह ग्रंथरूप में गणधर के द्वारा कृत है, इसलिए इसका नाम सूतकृत है।

इसमें सूत्र के अनुसार तत्त्वबोध किया जाता है, इसलिए इसका नाम सूत्रकृत है।

इसमें स्व और पर समय की सूचना कृत है, इसलिए इसका नाम सूचाकृत है।

वस्तुत: सूत, सुत्त और सूय—ये तीनों सूत्र के ही प्राकृत रूप हैं। आकारभेद होने के कारण तीन गुणात्मक नामों की परिकल्पना की गई।

सभी अंग मौलिक रूप में भगवान् महावीर द्वारा प्रस्तुत और गणधर द्वारा ग्रन्थरूप में प्रणीत हैं। फिर केवल प्रस्तुत आगम का ही 'सूतकृत' नाम क्यों ? इसी प्रकार दूसरा नाम भी सभी अंगों के लिए सामान्य है। प्रस्तुत आगम के नाम का अर्थस्पर्शी आधार तीसरा है। क्योंकि प्रस्तुत आगम में स्वसमय और परसमय की तुलनात्मक सूचना के संदर्भ में आचार की प्रस्थापना की गई है। इसलिए इसका संबंध सूचना से है। समवाय और नंदी में यह स्पष्टतया उल्लिखित है—

'सूयगडे णं ससमया सूइज्जंति, परसमया सूइज्जंति, ससमय-परसमया सूइज्जंति।'[3]

जो सूचक होता है उसे सूत्र कहा जाता है। प्रस्तुत आगम की पृष्ठभूमि में सूचनात्मक तत्त्व की प्रधानता है, इसलिए इसका नाम सूत्रकृत है।

सूत्रकृत के नाम के संबंध में एक अनुमान और किया जा सकता है। वह वास्तविकता के बहुत निकट प्रतीत होता है। दृष्टिवाद के पांच प्रकार हैं—

१. परिकर्म

२. सूत्र

३. पूर्वानुयोग

४. पूर्वगत

५. चूलिका।

आचार्य वीरसेन के अनुसार सूत्र में अन्य दार्शनिकों का वर्णन है।[4] प्रस्तुत आगम की रचना उसी के आधार पर की गई, इसलिए इसका 'सूत्रकृत' नाम रखा गया। सूत्रकृत शब्द के अन्य व्युत्पत्तिक अर्थों की अपेक्षा यह अर्थ अधिक संगत प्रतीत होता है। 'सुत्तगड' और बौद्धों के 'सुत्तनिपात' में नामसाम्य प्रतीत होता है।

---

१ (क) समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सू० ८८।
(ख) नंदी सू० ८०।
(ग) अणुओगद्दाराइं, सू० ५०।

२. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा २ : सूतगडं सुत्तकडं, सूयगडं चेव गोण्णाइं।

३. (क) समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सू० ९०।
(ख) नंदी, सू० ८२

४. कसायपाहुड, भाग १, पृ० १३४।

अंग और अनुयोग

द्वादशांगी में प्रस्तुत आगम का स्थान दूसरा है। अनुयोग चार हैं—

१. चरणकरणानुयोग ३. गणितानुयोग
२. धर्मकथानुयोग ४. द्रव्यानुयोग

चूर्णिकार के अनुसार प्रस्तुत आगम चरणकरणानुयोग (आचार-शास्त्र) है।[1] शीलांकसूरी ने इसे द्रव्यानुयोग (द्रव्यशास्त्र) की कोटि में रखा है। उनके अनुसार आचारांग प्रधानतया चरणकरणानुयोग तथा सूत्रकृतांग प्रधानतया द्रव्यानुयोग है।[2]

समवाय तथा नंदी में द्वादशांगी का विवरण दिया हुआ है। वहां सभी अंगों के विवरण के अंत में **'एवं चरणकरणपरूवणया'** पाठ मिलता है। अभयदेवसूरी ने 'चरण' का अर्थ श्रमणधर्म और 'करण' का अर्थ पिण्डविशुद्धि, समिति आदि किया है।[3]

चूर्णिकार ने कालिकश्रुत को चरणकरणानुयोग तथा दृष्टिवाद को द्रव्यानुयोग माना है।[4]

द्वादशांगी में मुख्यतः द्रव्यशास्त्र दृष्टिवाद है। शेष अंगों में द्रव्य का प्रतिपादन गौण है। द्रव्यशास्त्र में भी गौणरूप में आचार का प्रतिपादन हुआ है। चूर्णिकार ने मुख्यता की दृष्टि से प्रस्तुत आगम को आचारशास्त्र माना है और वह उचित भी है। वृत्तिकार ने इसमें प्राप्त द्रव्य विषयक प्रतिपादन को मुख्य मानकर इसे द्रव्यशास्त्र कहा है। इन दोनों वर्गीकरणों में सापेक्ष दृष्टिभेद है।

आकार और प्रकार

प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कंध हैं। समवाय और नंदी में इसका उल्लेख मिलता है।[5] प्रथम श्रुतस्कंध के सोलह और द्वितीय श्रुतस्कंध के सात अध्ययन हैं। इसका उल्लेख समवाय, नंदी, उत्तराध्ययन और आवश्यक में है।[6] उनका विवरण इस प्रकार है—

प्रथम श्रुतस्कंध

अध्ययन	उद्देशक	रचनाबन्ध	परिमाण
१. समए (समय)	४	पद्य	श्लोक ८८
२. वेयालिए (वैतालीय)	३	,,	,, ७६
३. उवसग्गपरिण्णा (उपसर्गपरिज्ञा)	४	,,	,, ८२
४. इत्थीपरिण्णा (स्त्रीपरिज्ञा)	२	,,	,, ५३
५. णरयविभत्ती (नरकविभक्ति)	२	,,	,, ५२
६. महावीरत्थुई (महावीरस्तुति)	०	,,	,, २९
७. कुसीलपरिभासितं (कुशीलपरिभाषित)	०	,,	,, ३०
८. वीरियं (वीर्य)	०	,,	,, २७
९. धम्मो (धर्म)	०	,,	,, ३६
१०. समाही (समाधि)	०	,,	,, २४

१. सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० ३ : इह चरणाणुओगेण अधिकारो।
२. सूत्रकृतांगवृत्ति, पत्र १ : तत्राचाराङ्गं चरणकरणप्राधान्येन व्याख्यातम्, अधुना अवसरायातं द्रव्यप्राधान्येन सूत्रकृताख्यं द्वितीयमङ्गं व्याख्यातुमारभ्यते।
३. समवायांगवृत्ति, पत्र १०२ : चरणम्—व्रतश्रमणधर्मसंयमाद्यनेकविधम्। करणम्—पिण्डविशुद्धिसमित्याद्यनेकविधम्।
४. सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० ३ : कालियसुयं चरणकरणाणुयोगो, ... दिट्ठिवातो दव्वाणुजोगोत्ति।
५. (क) समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सू० ९०।
(ख) नंदी, सू० ८२।
६. (क) समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सू० ९०।
(ख) नंदी, सू० ८२।
(ग) उत्तराध्ययन ३१/१६।
(घ) आवश्यक अध्ययन ४।

११. मग्गे (मार्ग)	०	,,	,, ३८
१२. समोसरणं (समवसरण)	०	,,	,, २२
१३. आहत्तहीयं (याथातथ्य)	०	,,	,, २३
१४. गंथो (ग्रन्थ)	०	,,	,, २७
१५. जमईए (यमकीय)	०	,,	,, २५
१६. गाहा (गाथा)	०	,,	सूत्र ६

दूसरा श्रुतस्कंध

अध्ययन	उद्देशक	रचना-बन्ध	परिमाण
१. पोंडरीए (पौण्डरीक)	०	गद्य	सूत्र ७२
२. किरियाठाणे (क्रियास्थान)	०	,,	,, ८१
३. आहारपरिण्णा (आहारपरिज्ञा)	०	,,	,, १०२
४. पच्चक्खाणकिरिया (प्रत्याख्यानक्रिया)	०	,,	,, २५
५. आयारसुयं (आचारश्रुत)	०	पद्य	श्लोक ३३
६. अद्दइज्जं (आर्द्रकीय)	०	,,	,, ५५
७. णालंदइज्जं (नालंदीय)	०	गद्य	सूत्र ३८

प्रस्तुत आगम की पद संख्या ३६ हजार बतलाई गई है।[1]

धवला में भी इसकी पद संख्या यही निर्दिष्ट है। किन्तु धवला और जयधवला दोनों में भी इसके दो श्रुतस्कंध होने का उल्लेख नहीं है और न अध्ययनों की संख्या का भी उल्लेख है।[2]

विषय-वस्तु

समवाय तथा नंदी में प्रस्तुत आगम के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख मिलता है। समवाय के अनुसार सूत्रकृतांग में स्वसमय-परसमय की सूचना, जीव-अजीव की सूचना, लोक-अलोक तथा जीव-अजीव आदि नौ पदार्थों की सूचना दी गई है।

नवदीक्षित श्रमणों की दृष्टि परिमार्जित करने के लिए १८० क्रियावादी दर्शनों, ८४ अक्रियावादी दर्शनों, ६७ अज्ञानवादी दर्शनों और ३२ विनयवादी दर्शनों की व्यूह-रचना कर स्वसमय की स्थापना की गई है।[3]

नंदी में प्रतिपाद्य विषय का विवरण संक्षिप्त है। उसमें जीव-अजीव आदि नौ पदार्थों की सूचना का उल्लेख नहीं है। उसमें स्वसमय की स्थापना का उल्लेख है, किन्तु नवदीक्षित की दृष्टि परिमार्जित करने की कोई चर्चा नहीं है।[4]

प्रस्तुत आगम मूलतः आचार-शास्त्र है। 'अंग और अनुयोग' शीर्षक में यह बताया जा चुका है। आचार की पृष्ठभूमी को समझाने के लिए दूसरे दार्शनिकों की दृष्टियों का निरूपण किया गया है, वह प्रासंगिक है, किन्तु मौलिक विषय आचार-निरूपण ही है।

निर्युक्तिकार ने सूत्रकृत के प्रत्येक अध्ययन के विषय का प्रतिपादन किया है। उससे भी इसका मुख्य विषय आचारशास्त्रीय प्रमाणित होता है।

---

१. समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सू० ६० : छत्तीसं पदसहस्साइं पयग्गेणं।

२. (क) षट्खंडागम, धवला, भाग १, पृ० ६६।
   (ख) कसायपाहुड, जयधवला, भाग १, पृ० १२२।

३. समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सू० ६०।

४. नंदी, सू० ८२।

निर्युक्तिकार के अनुसार अध्ययनों के प्रतिपाद्य इस प्रकार हैं[1]—

१. स्वसमय-परसमय का निरूपण
२. सम्बोधि का उपदेश
३. उपसर्गों [प्राप्त कष्टों] की तितिक्षा का उपदेश
४. स्त्रीदोष का वर्जन—ब्रह्मचर्य साधना का उपदेश
५. उपसर्गभीरु और स्त्रीवशवर्ती मुनि का नरक में उपपात
६. भगवान् महावीर ने जैसे उपसर्ग और परीसह पर विजय प्राप्त की, वैसी ही उन पर विजय पाने का उपदेश
७. कुशील का परित्याग और शील का समाचरण
८. वीर्य का बोध और पंडितवीर्य में प्रयत्न
९. यथार्थ धर्म का निर्देश
१०. समाधि का प्रतिपादन
११. मोक्षमार्ग का निर्देश
१२. चार वादि-समवसरणों—दार्शनिकों के अभिमत का प्रतिपादन
१३. यथार्थ का प्रतिपादन
१४. गुरुकुलवास का महत्त्व
१५. आदानीय—चारित्र का प्रतिपादन
१६. पूर्वोक्त विषय का संक्षेप में संकलन—निर्ग्रन्थ आदि की परिभाषा

द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों का विषय-निरूपण इस प्रकार है—

१. पुंडरीक के दृष्टान्त द्वारा धर्म का निरूपण
२. क्रियाओं का प्रतिपादन[2]
३. आहार का निरूपण
४. प्रत्याख्यानक्रिया का निरूपण
५. आचार और अनाचार का अनेकान्तदृष्टि से निरूपण
६. आर्द्रकुमार का गोशालक आदि श्रमण-ब्राह्मणों से चर्चा-संवाद[3]
७. गौतम स्वामी और पार्श्वापत्यीय उदक पेढालपुत्र का चर्चा-संवाद

अंग साहित्य में आचार-निरूपण विभिन्न सन्दर्भों में किया गया है। आचारांग प्रथम अंग है। उसमें वह अध्यात्म के सन्दर्भ में किया गया है। सूत्रकृत दूसरा अंग है। इसमें वह दार्शनिक मीमांसा के सन्दर्भ में किया गया है। इसमें संदर्भ का परिवर्तन हुआ है,

---

१. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा २२-२६ : ससमयपरसमयपरूवणा य णाऊण बुज्झणा चेव।
संबुद्धस्सुवसग्गा थीदोसविवज्जणा चेव ॥
उवसग्गभीरुणो थीवसस्स णरएसु होज्ज उववाओ।
एव महप्पा वीरो जयमाह तहा जएज्जाह ॥
णिस्सील-कुसीलजढो सुसीलसेवी य सीलवं चेव।
णाऊण वीरियदुगं पंडियवीरिए पयतितव्वं ॥
धम्मो समाहि मग्गो समोसढा चउसु सव्ववादीसु।
सीसगुणदोसकहणा गंथंमि सदा गुरुनिवासो ॥
आयाणिय संकलिया आयाणिज्जम्मि आयतचरित्तं।
अप्पग्गंथे पिंडिकवयणे गाधाए अहिगारो ॥

२. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा १६५ : किरियाओ भणियाओ किरियाठाणंति तेण अज्झयणं।
अहिगारो पुण भणिओ बंधे तह मोक्खमग्गे य ॥

३. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा १९० : अज्जद्दएण गोसालभिक्खुबंभवतीतिदंडीणं।
जह हत्थितावसाणं कहियं इणमो तहा वुच्छं ॥

मुख्य प्रतिपाद्य परिवर्तित नहीं हुआ है। दिगम्बर साहित्य में प्रस्तुत सूत्र का विषय-वर्णन इस प्रकार मिलता है—

सूत्रकृत में ज्ञानविनय, प्रज्ञापना, कल्प्याकल्प्य, छेदोपस्थापना और व्यवहारधर्मक्रिया का निरूपण किया गया है।[1] यह आचार्य अकलंक का प्रतिपादन है।

आचार्य वीरसेन ने धवला में उक्त प्रतिपादन किया है। उसमें स्वसमय-परसमय की प्ररूपणा का प्रतिपादन इससे अतिरिक्त है।[2]

जयधवला में उन्होंने (आचार्य वीरसेन ने) प्रस्तुत आगम का विषय-वर्णन भिन्न प्रकार से किया है। उसके अनुसार सूत्रकृत में स्वसमय, परसमय तथा स्त्रीपरिणाम—क्लीवता, अस्फुटता, कामावेश, विभ्रम, आस्फालनसुख, पुंस्कामिता आदि स्त्री के लक्षणों का प्ररूपण किया गया है।[3]

समीक्षा—

दोनों परम्पराओं में जो विषय-वस्तु का वर्णन है, उससे वर्तमान में उपलब्ध सूत्रकृतांग पर पूर्ण प्रकाश नहीं पड़ता। सूत्रकृतांगनिर्युक्ति का विषय-वर्णन इसका अपवाद है। उसकी रचना प्रस्तुत आगम की व्याख्या के लिए ही लिखी गई थी। इसीलिए उसमें प्रस्तुत आगम का अधिकृत और विशद विषय-वर्णन प्राप्त है।

समवाय और नंदी में प्राप्त सूत्रकृत का विषय-वर्णन पढ़ने से मन पर पहला प्रभाव यही पड़ता है कि प्रस्तुत आगम दर्शन-शास्त्रीय (द्रव्यानुयोग) ग्रन्थ है। उक्त दोनों विवरणों में स्त्रीपरिज्ञा आदि अध्ययनों में प्राप्त विषय-वस्तु का कोई उल्लेख नहीं है। तत्त्वार्थराजवार्तिक के वर्णन में मुनि के आचार धर्म का उल्लेख है, किन्तु स्वसमय और परसमय के निरूपण का उल्लेख नहीं है। धवला में उक्त वर्णन के साथ-साथ स्वसमय और परसमय का भी उल्लेख है। जयधवला में स्त्रीपरिणाम का उल्लेख है, जो उपसर्ग-परिज्ञा और स्त्रीपरिज्ञा अध्ययनों की ओर इंगित करता है। इन विभिन्न विषय-वर्णनों के अध्ययन के आधार पर दो निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं—

१. विभिन्न आचार्यो ने अपनी-अपनी रुचि या दृष्टि के अनुसार मुख्य विषयों का संक्षेप में प्रतिपादन किया और गौण विषयों की उपेक्षा कर दी।

२. प्रस्तुत आगम के प्राचीन रूप का परम्परा-प्राप्त विषय-वर्णन और अद्यतनरूप का विषय-वर्णन मिश्रित हुआ है। उस मिश्रण में कहीं प्राचीन विषय-वर्णन की प्रमुखता है और कहीं अद्यतन विषय-वर्णन की।

यह प्रश्न फिर मन को आन्दोलित करता है कि समवाय और नंदी के संकलन-काल में प्रस्तुत आगम का वर्तमान रूप स्थिर हो चुका था, जो श्रुतस्कन्ध और अध्ययनों की संख्या से स्पष्ट प्रतीत होता है,[4] फिर उनमें स्त्रीपरिज्ञा आदि अध्ययनों की सूचना क्यों नहीं दी गई? क्या संकलन-काल में उनके सामने जो सूत्रकृत रहा, उसमें द्रव्य का प्रतिपादन प्रधान था? क्या यह प्राप्त सूत्रकृत किसी दूसरी वाचना का है? ये प्रश्न अभी पर्याप्तरूपेण आलोच्य हैं।

दार्शनिक मत—

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम तथा बारहवें अध्ययन में और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के छट्ठे अध्ययन में अनेक दार्शनिक मतों का उल्लेख मिलता है। आगमरचना की शैली के अनुसार दार्शनिक आचार्यों के नामो का उल्लेख नहीं है। केवल उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन और अस्वीकार है। बौद्धों के दीघनिकाय के 'सामञ्ञफलसुत्त' में जैसे तत्कालीन दार्शनिक मतवादों का वर्णन है, वैसे ही प्रस्तुत आगम में विभिन्न मतवादों का समवसरण है। उपनिषदों में भी यत्र तत्र इन मतवादों का उल्लेख है। श्वेताश्वतर

---

१. तत्त्वार्थराजवार्तिक १।२० : सूत्रकृते ज्ञानविनय-प्रज्ञापना-कल्प्याकल्प्य-छेदोपस्थापनाव्यवहारधर्मक्रियाः प्ररूप्यन्ते।

२. षट्खंडागम, धवला भाग १, पृ० ९९ : सूदयदं णाम अंगं छत्तीस-पय-सहस्सेहि णाणाविणयपण्णवणा-कप्पाकप्प-च्छेदोवट्ठाण-ववहार-धम्म-किरियाओ परूवेइ ससमय-परसमय-सरूवं च परूवेइ।

३. कषायपाहुड, जयधवला भाग १, पृ० १२२ : सूदयदं णाम अंगं ससमयं परसमयं थीपरिणामं—क्लैब्यास्फुटत्व-मदनावेश-विभ्रमास्फालन-सुख-पुंस्कामितादिस्त्रीलक्षणं च प्ररूपयति।

४. (क) समवाओ, पइण्णगसमवाओ, सू० ९० : दो सुयक्खंधा, तेवीसं अज्झयणा।

(ख) नंदी सू० १८२ : दो सुयक्खंधा, तेवीसं अज्झयणा।

उपनिषद् में कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद आदि की चर्चा है।[1]

मैत्रायणी उपनिषद् में कालवाद की स्पष्ट मान्यता प्रदर्शित है।[2] उस समय में ये विभिन्न वाद बहुत प्रचलित थे। अतः तत्कालीन सभी परम्पराओं के साहित्य में उनका उल्लेख होना स्वाभाविक है। महावीर और बुद्ध का युग सम्प्रदायों की बहुलता का युग रहा है। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में ६२ मतवाद वर्णित हैं। प्रस्तुत सूत्र के प्रथम श्रुतस्कंध के बारहवें अध्ययन में चार वादों का वर्णन मिलता है[3]—

१. क्रियावाद
२. अक्रियावाद
३. अज्ञानवाद
४. विनयवाद

मूल आगम में इनके भेदों का उल्लेख नहीं हैं। निर्युक्तिकार ने इन चार वादों के ३६३ भेदों का उल्लेख किया है।[4]

समवाय में आए हुए सूत्रकृत के विवरण में भी इनका उल्लेख है, जो पहले बताया जा चुका है। इससे इतना स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के युग में मतवादों की बहुलता थी। वीरसेनाचार्य के अनुसार इन ३६३ मतवादों का वर्णन दृष्टिवाद का विषय है। उन्होंने धवला में लिखा है—दृष्टिवाद में ३६३ दृष्टियों का निरूपण और निग्रह किया जाता है।[5]

जयधवला में उन्होंने लिखा है—दृष्टिवाद के सूत्र नामक दूसरे प्रकार में नास्तिवाद, क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद और वैनयिकवाद का वर्णन है।[6]

समवाय तथा नंदी में इस प्रकार का उल्लेख नहीं है। नंदी की चूर्णि तथा वृत्ति में इसका कोई वर्णन नहीं है फिर भी दृष्टिवाद नाम से ही यह प्रमाणित होता है कि उसमें समस्त दृष्टियों—दर्शनों का निरूपण है। दृष्टिवाद द्रव्यानुयोग है। तत्त्वमीमांसा उसका मुख्य विषय है। इसलिए उसमें दृष्टियों का निरूपण होना स्वाभाविक है।

प्रस्तुत सूत्र में दृष्टियों का प्रतिपादन मुख्य विषय नहीं है, किन्तु आचार-स्थापना की पृष्ठभूमि में विभिन्न दर्शनों के दृष्टि-कोणों को समझना आवश्यक है। इस दृष्टि से वह प्रासांगिक रूप में वर्णित है।

भ० महावीर के युग में ३६३ मतवाद थे—यह समवायगत सूत्रकृतांग के विवरण तथा सूत्रकृतांगनिर्युक्ति से ज्ञात होता है। किन्तु उन मतवादों तथा उनके आचार्यों के नाम वहां उल्लिखित नहीं हैं। उत्तरवर्ती व्याख्याकारों ने ३६३ मतवादों को गणित की प्रक्रिया से समझाया है, किन्तु वह मूलस्पर्शी नहीं लगता। ऐसा प्रतीत होता है कि ३६३ मतों की मौलिक अर्थ-परम्परा विच्छिन्न होने के पश्चात् उन्हें गणित की प्रक्रिया के आधार पर समझाने का प्रयत्न किया गया है।

श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों के साहित्य में किञ्चित् प्रकार-भेद के साथ वह प्रक्रिया मिलती है। उसके लिए आचारांग वृत्ति १।१।१।४, स्थानांगवृत्ति ४।४।३४५; प्रवचनसारोद्धार गाथा ११८८, गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा ७८७, ८८४-८८८ द्रष्टव्य हैं।

---

१. श्वेताश्वतर उपनिषत् १।२; ६।१।
२ मैत्रायणी उपनिषत् ६।१४, १५।
३ सूयगडो १।१२।२।
४. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गाथा ११२, ११३ : असियसयं किरियाणं, अकिरियाणं च होइ चुलसीती।
अन्नाणिय सत्तट्ठी वेणइयाणं च बत्तीसा॥
तेसिं मताणुमतेणं पन्नवणा वणिया इहऽज्झयणे।
सब्भावणिच्छयत्थं समोसरणमाहु तेणं ति॥
५. षट्खंडागम, प्रथमखण्ड, धवला पृ० १०८ : एषां दृष्टिशतानां त्रयाणां त्रिषष्ट्युत्तराणां प्ररूपणं निग्रहश्च दृष्टिवादे क्रियते।
६. कसायपाहुड, जयधवला, पृ० १३४ : जं सुत्तं णाम तं जीवो अबंधओ अकत्ता णिग्गुणो अभोत्ता सव्वगओ अणुमेत्तो णिच्चेयणो सपयासओ परप्पयासओ णत्थि जीवो त्ति य णत्थियवादं, किरियावादं अकिरियावादं अण्णाणवादं णाणवादं वेणइयवादं अणेयपयारं गणिदं च वण्णेदि।
"असीदिसदं किरियाणं, अक्किरियाणं च आहु चुलसीदिं।"
सत्तट्ठण्णाणीणं वेणइयाणं च बत्तीसं॥६६॥
एदीए गाहाए भणिदतिण्णिसय-तिसट्ठिसमयाणं वण्णणं कुणदि त्ति भणिदं होदि।

बौद्धों ने भी आधारभूत दस वादों की नामोल्लेखपूर्वक चर्चा की है, जैसे—

१. शाश्वतवाद
२. नित्यता-अनित्यता-वाद
३. सान्त-अनन्त-वाद
४. अमराविक्षेप-वाद
५. अकारणवाद
६. मरणान्तर होशवाला आत्मा
७. मरणान्तर बेहोश आत्मा
८. मरणान्तर न-होशवाला न-बेहोश आत्मा
९. आत्मा का उच्छेद
१०. इसी जन्म में निर्वाण।

दीघनिकाय में इन दस वादों के विभिन्न कारणों का उल्लेख कर ६२ भेद किए गए हैं।[1]

जैन परम्परा के आदि-साहित्य में ये भेद तत्कालीन मतवादों के रूप में संकलित कर दिए गए थे। किन्तु उत्तरवर्ती साहित्य में उनकी परम्परागत संख्या प्राप्त रही, उनका प्रत्यक्ष परिचय नहीं रहा, इसीलिए उस संख्या की संगति गणित की प्रक्रिया से की गई।

क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी दार्शनिकों के ये चार वर्गीकरण थे। इनमें अनेक मुख्य और गौण सम्प्रदाय थे। कुछ-कुछ विचारभेद को लेकर उनका निर्माण हुआ था। स्थानांगसूत्र में आठ अक्रियावादी सम्प्रदायों का उल्लेख मिलता है[2]—

१. एकवादी
२. अनेकवादी
३. मितवादी
४. निर्मितवादी
५. सातवादी
६. समुच्छेदवादी
७. नित्यवादी
८. असत्परलोकवादी

ये अक्रियावादियों के मुख्य सम्प्रदाय ज्ञात होते हैं। व्याख्या ग्रन्थों में यत्र तत्र अन्य नाम भी मिलते हैं, किन्तु उनकी व्यवस्थित नामावलि या परिचय आज प्राप्त नहीं है।

आचार्य अकलंकदेव ने इन चारों वर्गों के आचार्यों के कुछ नामों का उल्लेख किया है।[3]

क्रियावादी दर्शनों के आचार्य—

१. कौत्कल, २. काणेविद्धि [कांडेविद्धि, कंठेविद्धि], ३. कौशिक, ४. हरिश्मश्रु, ५. मांछपिक [मांघपिक, मांधनिक], ६. रोमस, ७. हारीत, ८. मुंड, ९. अश्वलायन।

अक्रियावादी दर्शनों के आचार्य—

१. मरीचिकुमार, २. कपिल, ३. उलूक, ४. गार्ग्य, ५. व्याघ्रभूति, ६. वाद्वलि, ७. माठर, ८. मौद्गलायन।

अज्ञानवादी दर्शनों के आचार्य—

१. शाकल्य, २. वाल्कल, ३. कुथुमि, ४. सात्यमुद्रि, ५. नारायण [राणायन], ६. कंठ, [कण्व], ७. मध्यंदिन, ८. मौद, ९. पैप्पलाद, १०. वादरायण, ११. अंबष्ठीकृद् [स्वेष्टकृत्, स्विष्टिकृत्], १२. औरिकायन [ऐतिकायन, अनिकात्यायन], १३. वसु, १४. जैमिनि।

विनयवादी दर्शनों के आचार्य

१. वशिष्ठ, २. पाराशर, ३. जतुकर्णि, ४. वाल्मीकि, ५. रोमर्षि, ६. सत्यदत्त, ७. व्यास, ८. ऐलापुत्र, ९. औपमन्यव, १०. ऐन्द्रदत्त, ११. अयस्थूण।

आचार्य वीरसेन की धवला टीका[4] और सिद्धसेनगणी की तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका[5] में भी क्वचित् किञ्चित् परिवर्तन के

---

१. दीघनिकाय—ब्रह्मजालसुत्त पृ० ५-१५।
२. स्थानांग ८।२२।
३. तत्त्वार्थराजवार्तिक ८।२०।
४. षट्खंडागम भाग १, पृ० १०७-१०८।
५. तत्त्वार्थभाष्यानुसारिणी टीका, अध्याय ८।

साथ ये नाम मिलते हैं। धवला और भाष्यानुसारिणी में उक्त नामसूचि आचार्य अकलंक की सूचि के आधार पर संकलित की गई है—ऐसा प्रतीत होता है। श्वेताम्बर साहित्य में भाष्यानुसारिणी टीका के अतिरिक्त कहीं भी यह नामसूचि प्राप्त नहीं है। दिगम्बर साहित्य में भी आचार्य अकलंक से पूर्व वह प्राप्त नहीं है। उन्हें वह कहां से प्राप्त हुई, इसका भी प्रमाणपुरस्सर उत्तर दे पाना कठिन है।

उक्त सूची में अधिकांश नाम वैदिक परम्परा के आचार्यों के प्रतीत होते हैं; श्रमण-परम्परा के आचार्यों के नाम नगण्य हैं या नहीं हैं, यह अनुसन्धेय है।

प्रस्तुत सूत्र (सूत्रकृतांग) के अनुसार क्रियावाद आदि चारों वाद श्रमण और वैदिक दोनों में थे। 'समणा माहणा एगे' इस वाक्य के द्वारा स्थान-स्थान पर यह सूचना दी गई है। श्रमण परम्परा के अद्य प्राप्त दोनों मुख्य सम्प्रदाय—जैन और बौद्ध—जगत् के अकृत या अनादि होने के पक्ष में हैं। किन्तु उस समय श्रमण सम्प्रदाय भी जगत् को अंडकृत मानते थे।[1]

प्रस्तुत सूत्र की रचनाशैली के अनुसार 'एगे' शब्द के द्वारा विभिन्न मतवाद निरूपित किए गए हैं। किन्तु कहीं-कहीं दर्शन के नाम का प्रत्यक्ष उल्लेख भी मिलता है। क्षणिकवादी बौद्धों के लिए 'क्षणयोगी' शब्द का प्रयोग मिलता है।[2]

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में बौद्ध शब्द भी मिलता है।[3] प्रथम श्रुतस्कन्ध में बुद्ध और बौद्ध दोनों का प्रयोग हुआ है।[4]

सूत्रकार के सामने बौद्ध साहित्य रहा है, ऐसा प्रस्तुत आगम में प्रयुक्त शब्दों से प्रतीत होता है। उदाहरण रूप में यहां तीन शब्द प्रस्तुत हैं—

(१) खंध (स्कन्ध)—पंच खंधे वयंतेगे।[5]
(२) धाउ (धातु)—पुढवी आऊ तेऊ य, तहा वाऊ य एगओ।
चत्तारि धाउणो रूवं, एवमाहंसु जाणगा।[6]
(३) आरोप्प (आरोप्य)—भवंति आरोप्प महंत सत्ता।[7]

बौद्धपिटकों के अनुसार स्कन्ध पांच होते हैं[8]—

१. रूप-स्कन्ध, २. वेदना-स्कन्ध, ३. संज्ञा-स्कन्ध, ४. संस्कार-स्कन्ध, ५. विज्ञान-स्कन्ध।

बौद्धपिटकों में पृथ्वी आदि चार महाभूतों को धातु कहा गया है।[9]

दीघनिकाय में भव के तीन प्रकार बतलाए गए हैं[10]—

काम-भव—पार्थिव लोक।
रूप-भव—अपार्थिव साकारलोक।
अरूप-भव—निराकार लोक।

सूत्रकार द्वारा प्रस्तुत पूर्वपक्षों के अध्ययन से पता चलता है कि उपनिषद् तथा सांख्य दर्शन के ग्रन्थ भी उनकी दृष्टि के सामने रहे हैं। सांख्य के पचीस तत्त्वों में प्रकृति और पुरुष—ये दो मुख्य हैं। प्रकृति के अर्थ में प्रधान शब्द का प्रयोग सांख्य दर्शन

---

१. सूयगडो, १।१।६७ : माहणा समणा एगे, आह अंडकडे जगे।
२. वही, १।१।१७ : पंच खंधे वयंतेगे, बाला उ खणजोइणो।
३. वही २।६।२८ : बुद्धाण तं कप्पइ पारणाए।
४. वही, १।११।२५ : तमेव अविजाणंता अबुद्धा बुद्धवादिणो।
बुद्धा मो त्ति य मण्णंता अंतए ते समाहिए॥
५. वही, १।१।१७।
६. वही, १।१।१८।
७. वही, २।६।२६।
८. दीघनिकाय पृ० २६०।
९. वही, पृ० ७६।
१०. वही, पृ० १११।

में मिलता है।[1] सूत्रकार ने उसका प्रयोग किया है।[2] कठोपनिषद् में एकात्मवाद और नानात्मवाद का दृष्टान्तपूर्वक वर्णन है।[3] सूत्रकृतांग १।१ का नौवां श्लोक उसके सन्दर्भ में पठनीय है। 'विण्णू नाणा हि दीसए' (सूत्रकृतांग १।१।९) का आधार 'एकं रूपं बहुधा यः करोति'—कठोपनिषद् ५।१२) रहा है।

सूत्रकार के सम्मुख गोशालक, संजयवेलट्ठिपुत्र, पकुधकात्यायन आदि श्रमण परम्परा के आचार्यों का साहित्य भी रहा है। प्रस्तुत आगम में प्रयुक्त शब्दों के आधार पर इसकी निश्चित सम्भावना की जा सकती है। बारहवें अध्ययन में 'वंझ' शब्द है। इसका आशय यह है कि पकुधकात्यायन के अकृततावाद के अनुसार सात काय वन्ध्य—कूटस्थ होते हैं। दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में भी यही शब्द प्रयुक्त हुआ है।[4] प्रस्तुत आगम में अनेक समीक्षणीय स्थल हैं। यहां उनकी ओर एक इंगित मात्र किया गया है।

रचनाकार और रचनाकाल

पारंपरिकदृष्टि से यह सम्मत है कि द्वादशांगी की रचना गणधारों (भगवान् महावीर के ग्यारह प्रधान शिष्यों) ने की थी। इस सम्मति के अनुसार सूत्रकृतांग गणधरों की रचना है। किन्तु वर्तमान में कोई भी अंग अविकलरूप में प्राप्त नहीं है। आज जो भी प्राप्त है वह उत्तरकाल में संकलित है। संकलनकार के रूप में वर्तमान आगमों के रचनाकार देवर्धिगणी हैं।

प्रो० विंटरनीत्स का अभिमत है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है, उसकी तुलना में द्वितीय श्रुतस्कन्ध अर्वाचीन है। उसके अनुसार प्रथम श्रुतस्कन्ध एक व्यक्ति की रचना है। इसकी सम्भावना अधिक है कि वह किसी संग्राहक के द्वारा विभिन्न पद्यों और उपदेशों का संग्रह करतैयार किया हुआ संगृहीत ग्रन्थ है। दूसरा श्रुतस्कन्ध गद्य में लिखा हुआ है। वह अव्यवस्थित ढंग से एकत्र किए गए परिशिष्टों का समूह मात्र है। किन्तु भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों का जीवन-बोध कराने की दृष्टि से वह भी महत्त्वपूर्ण है।[5]

प्रो० विंटरनीत्स के इस अभिमत से सहमति प्रगट की जा सकती है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन है और द्वितीय श्रुतस्कन्ध उसकी तुलना में अर्वाचीन है। भाषा, शब्द-प्रयोग और रचनाशैली की दृष्टि से आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भांति सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीन प्रतीत होता है। आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध जैसे प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिका (परिशिष्ट) के रूप में उत्तरकाल में उसके साथ जोड़ा गया है, वैसे ही सूत्रकृतांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध भी प्रथम श्रुतस्कन्ध की चूलिका (परिशिष्ट) के रूप में उत्तरकाल में उसके साथ जोड़ा गया है। आचारांग की चूलिका का 'आयारचूला' के रूप में स्पष्ट उल्लेख है, वैसे सूत्रकृतांग चूलिका का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। किन्तु द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध का परिशिष्ट भाग है, इस तथ्य से निर्युक्तिकार परिचित थे। महाध्ययन शब्द के द्वारा यह तथ्य ज्ञात होता है।[6] चूर्णिकार ने निर्युक्तिकार के आशय को थोड़ा स्पष्ट किया है। उन्होंने लिखा है कि प्रथम श्रुतस्कन्ध के सोलह अध्ययन छोटे हैं और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययन बड़े हैं।[7] निर्युक्तिकार के आशय को शीलांकसूरी ने बहुत स्पष्ट किया है। उनके स्पष्टीकरण से यह प्रतीत होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध का परिशिष्ट है। उन्होंने लिखा है—प्रथम श्रुतस्कन्ध में जो विषय संक्षेप में निरूपित किया गया है वही विषय द्वितीय श्रुतस्कन्ध में युक्तिपूर्वक विस्तार से निरूपित है। उनके मतानुसार संक्षेप और विस्तार—दोनों पद्धतियों द्वारा निरूपित विषय समीचीन रूपेण

---

१. सांख्यकारिका, २२।

२. सूयगडो, १।१।६५ : पहाणाई तहावरे।

३. कठोपनिषद् ५।९, १०, १२।

४. दीघनिकाय १।२।

५. History of Indian Literature, Part II, Page 441.

६. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति गाथा, १४२, १४३ : णामं ठवणादविए खेत्ते काले तहेव भावे य।
एसो खलु महतंमि निक्खेवो छव्विहो होति॥
णामं ठवणादविए खेत्ते कले तहेव भावे य।
एसो खलु अज्झयणे निक्खेवो छव्विहो होति॥

७. सूत्रकृतांगचूर्णि पृ० ३०८ : गाहासोलसगाइं खुड्डलगाइं, तहज्झयणाइं इमाइं, महत्तरियाइं महंति अज्झयणाइं, अहवा महंति च ताइं अज्झयणाइं च महज्झयणाइं।

प्रतिपादित होता है ।[1]

ये परिशिष्ट किसी एक आचार्य के द्वारा लिखित हैं या भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा, इसका निर्णय करना सरल नहीं है। आचारांग के साथ जिस प्रकार आचारचूला का सम्बन्ध प्रदर्शित है उसी प्रकार सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों के साथ द्वितीय श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों का सम्बन्ध प्रदर्शित नहीं है। फिर भी समग्रदृष्टि से प्रदर्शित सम्बन्ध के द्वारा द्वितीय श्रुतस्कन्ध को प्रथम श्रुतस्कन्ध के वार्तिक या परिशिष्ट की कोटि में रखा जा सकता है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के सात अध्ययनों में पांच अध्ययन गद्य में हैं। आदर्शों में उनका आकार बहुत ही संक्षिप्त है। उस संक्षेप के कारण वे बहुत दुर्बोध बन गए। उन्हें पढ़ने पर सहज ही पाठक के मन पर उनके अव्यवस्थित होने का प्रभाव हो सकता है। किन्तु पाठ की पूर्णता करने पर वह प्रभाव नहीं हो सकता है। यदि प्रो० विंटरनीत्स के सामने प्रस्तुत पुस्तक का पाठ होता तो सम्भवतः उनकी उक्त धारणा नहीं बन पाती।

प्रथम श्रुतस्कन्ध की रचना सुधर्मा स्वामी की है, अतः इसका कालमान ईस्वी पूर्व पांचवीं शताब्दी होना चाहिए। द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रचनाकार के विषय में कोई जानकारी प्राप्त नहीं है। अतः इसका रचनाकाल निश्चित करना भी कठिन है। वह ईस्वी सन् पांच सौ पूर्व की रचना है, यह इस आधार पर कहा जा सकता है कि देवर्धिगणी के सामने यह प्राप्त था। इसमें मागधी के कुछ विशेष प्रयोग मिलते हैं, जैसे—अकस्मा, अस्माकं। प्राकृत की दृष्टि से इनके स्थान में 'अकम्हा, अम्हं' का प्रयोग होना चाहिए था। शीलांकसूरी ने इस विषय में लिखा है कि मगध देश में ग्वालों तथा स्त्रियों के द्वारा भी ये शब्द संस्कृत की भांति प्रयुक्त किए जाते हैं, इसलिए उनका वैसे ही प्रयोग किया गया है।[2] इन शब्द-प्रयोगों से ज्ञात होता है कि द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना, मगध में जैन साधु विहार कर रहे थे, उसी समय में हुई या उसके आसपास में हुई।

जैन साधुओं का विहार मुख्यरूपेण बंगाल, बिहार आदि में होता था। ईसापूर्व तीसरी-चौथी शताब्दी में श्रुतकेवली भद्रबाहु हजारों साधुओं के साथ दक्षिण भारत में चले गए। ईसापूर्व तीसरी शताब्दी में श्रुतकेवली स्थूलभद्र के उत्तराधिकारी आर्य महागिरि और सुहस्ती मालवा में विहार करने लगे। ईसापूर्व दूसरी शताब्दी में मगध में मौर्यवंश का पतन हो गया। बृहद्रथ को मारकर उनके सेनानी पुष्यमित्र शुंग ने राज्य पर अधिकार कर लिया। पुष्यमित्र तथा शुंगवंश के शासनकाल में जैनों और बौद्धों को अपने मूल विहारक्षेत्र को बदलना पड़ा।

विहारक्षेत्र-परिवर्तन की भूमिका के संदर्भ में यह अनुमान किया जा सक ा है कि सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना ईसापूर्व दूसरी शताब्दी के आसपास होनी चाहिए।

रचनाशैली

सूत्रकृतांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध पद्यशैली में लिखित है। सोलहवां अध्ययन गद्यशैली में लिखा हुआ प्रतीत होता है, किन्तु वास्तव में वह गद्यशैली में लिखित नहीं है। निर्युक्तिकार ने गाथा शब्द की मीमांसा करते हुए कुछ विकल्प प्रस्तुत किए हैं। उनमें लिखा है कि प्रस्तुत अध्ययन गेय है, वह गाथाछंद या सामुद्रछंद में लिखित है।[3]

---

१. सूत्रकृतांग, द्वितीयश्रुतस्कन्ध, वृत्ति पत्र १ :

इहानन्तरश्रुतस्कन्धे योऽर्थः समासतोऽभिहितः, असावेवानेन श्रुतस्कन्धेन सोपपत्तिको व्यासेनाभिधीयते; त एव विधयः सुसंगृहीता भवन्ति येषां समासव्यासाभ्यामभिधानमिति। यदि वा पूर्वश्रुतस्कन्धोक्त एवार्थोऽनेन दृष्टान्तद्वारेण सुखावगमार्थं प्रतिपाद्यत, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य श्रुतस्कन्धस्य सम्बन्धीनि सप्त महाध्ययनानि प्रतिपाद्यन्ते।

२. (क) सूत्रकृतांग २/२/६ वृत्ति पत्र ४८ : इह चाकस्मादित्ययं शब्दो मगधदेशे सर्वेणाप्यागोपालाङ्गनादिना संस्कृत एवोच्चार्य इति।

(ख) सूत्रकृतांग २/७/१५, वृत्ति पत्र १७३ : अस्माकमित्येतन्मगधदेशे आगोपालाङ्गनादिप्रसिद्धं संस्कृतमेवोच्चार्यंते तदिहापि तथैवोच्चारितमिति।

३. (क) सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा १३१, १३२ : .... ।

मधुराभिधाणजुत्ता तेण य गाहं ति णं बेंति ॥
गाधीकता य अत्था अधवा सामुद्दएण छंदेणं ।
एएण होती गाधा एसो अण्णो वि पज्जाओ ॥

(ख) सूत्रकृतांगवृत्ति, पत्र २७०, २७१ : मधुरं—श्रुतिपेशलमभिधानम्—उच्चारणं यस्याः सा मधुराभिधानयुक्ता, गाथाछन्दसोपनिबद्धस्य प्राकृतस्य मधुरत्वादित्यभिप्रायः, गीयते पठ्यते मधुराक्षरप्रवृत्त्या गायन्ति वा तामिति गाथा, यत एवमतस्तेन कारणेन गाथामिति तां ब्रुवते। णमिति वाक्यालङ्कारे एनां वा गाथामिति। अन्यथा वा निरुक्तिमधिकृत्याह—'गाहीकया व' इत्यादि, 'गाथीकृताः'—पिण्डीकृता विक्षिप्ताः सन्त एकत्रमीलिता अर्था यस्यां सा गाथेति, अथवा—सामुद्रेण छन्दसा वा निबद्धा सा गाथेत्युच्यते।

द्वितीय श्रुतस्कन्ध का बड़ा भाग गद्यशैली में लिखित है। वह विस्तृत शैली में लिखा हुआ है। उसमें यत्र तत्र रहस्यवादी शैली के वाक्य उपन्यस्त हैं—

जहा पुव्वं तहा अवरं, जहा अवरं तहा पुव्वं। (सू० २/१/५४)

एत्थ वि सिया, एत्थ वि णो सिया। (सू० २/१/६०)

प्रस्तुत भाग में रूपक और दृष्टान्तों का भी समीचीन प्रयोग किया गया है। प्रथम अध्ययन में पुण्डरीक का रूपक बहुत ही सुन्दर है। दृष्टान्तों का प्रयोग अनेक स्थानों पर उपलब्ध है। इससे संवाद और प्रश्नोत्तर शैली का प्रयोग किया गया है। संवादशैली का एक सुन्दर उदाहरण दूसरे अध्ययन में मिलता है।[1]

प्रथम श्रुतस्कन्ध का यमकीय अध्ययन यमक अलंकार में लिखित है। यह आगम ग्रन्थों की काव्यात्मक शैली का विरल उदाहरण है। परिचय की दृष्टि से उसके दो श्लोक यहां उद्धत हैं[2]—

भूतेसु ण विरुज्झेज्जा एस धम्मे वुसीमओ।
वुसीमं जगं परिण्णाय अस्सिं जीवियभावणा॥
भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया।
णावा व तीरसंपण्णा सव्वदुक्खा तिउट्टति॥

द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सूत्र और चूलिका (परिशिष्ट) तथा सूत्र और वृत्ति—ये दोनों संलग्नरूप में मिलते हैं। इस सम्बन्ध में चूर्णिकार और वृत्तिकार के संकेत बहुत मूल्यवान् हैं। इनके आधार पर अन्य आगमों में भी इस पद्धति की सम्भावना की जा सकती है। यह आगमिक अध्ययन का व्यापक दृष्टिकोण है, जो सब आगमों के अध्ययन के लिए उपयोगी है। इससे तदुभयागम की दृष्टि स्पष्ट होती है। आगम के तीन प्रकार हैं—सूत्रागम, अर्थागम और तदुभयागम। इस तीसरे प्रकार में सूत्र और अर्थ दोनों साथ-साथ होते हैं। समीक्ष्यमाण सूत्र इसका श्रेष्ठ और स्पष्ट उदाहरण है। दूसरे श्रुतस्कन्ध का दूसरा अध्ययन 'क्रियास्थान' है। उसका विषय सत्रहवें सूत्र तक समाप्त हो जाता है। इस प्रकार दूसरा अध्ययन भी वहीं समाप्त हो जाता है। उससे आगे ६४ सूत्र और हैं। वे प्रस्तुत अध्ययन की चूलिका (परिशिष्ट) के रूप में हैं। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। स्वयं सूत्रकार ने भी 'अदुत्तरं' शब्द के द्वारा उसकी सूचना दी है। व्याख्याग्रन्थों के अनुसार जैसे चिकित्साशास्त्र में मूलसंहिता में—श्लोकस्थान, निदान और शारीर चिकित्सा में जो प्रतिपादित नहीं है वह उत्तरसंहिता में प्रतिपादित है। रामायण आदि के भी जैसे उत्तर हैं, वैसे ही जो प्रस्तुत अध्ययन (क्रियास्थान) में प्रतिपादित नहीं है वह इस उत्तर भाग में प्रतिपादित है। इसलिए यह आचारचूला की भांति प्रस्तुत अध्ययन का उत्तर भाग या चूलिका (परिशिष्ट) भाग है।[3] द्वितीयश्रुतस्कन्ध के दूसरे अध्ययन के १९ वें सूत्र की व्याख्या में चूर्णिकार ने सूत्र और वृत्ति का स्पष्ट विभाग प्रदर्शित किया है[4]—**सूचनात्सूत्रमितिकृत्वा एवं एताणि संखेवेण सुत्ताइं वुत्ताइं, एतेसिं इदाणिं सुत्तेण चेव वित्ती भण्णति, जहा वेतालिए, चत्तारि विणयसमाधिट्ठाणा उच्चारेतुं पच्छा एक्केक्कस्स विभासा, जहा वा उक्खित्तणाए संघाडेत्ति उच्चारेऊण पदाणि एक्केक्कस्स अज्झयणं वुच्चति, दिट्ठिवाते सुत्ताणि भाणिऊण पच्छा सव्वो चेव दिट्ठिवातो, तेसिं सुत्तपदाणं एतेण चेव वृत्तिर्भवति।**

वृत्ति के उपसंहार में चूर्णिकार ने लिखा है[5]—**उक्ता वृत्तिः।** वृत्तिकार ने सूत्र और वृत्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है,

---

१. देखें—२/२/७७।

२. सूयगडो, १/१५/४,५।

३. (क) सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० ३५३ : अदुत्तरं च ण तेभ्यः क्रियास्थानेभ्यः अथ उत्तरं अदुत्तरं, यथा वैद्यसंहितानां उत्तरं जं मूलसंहितासु श्लोकस्थाननिदानशारीरचिकित्साकल्पेषु च यत् यथोपदिष्टं च, यथोपदिष्टं सदुत्तरोऽभिधीयते, रामायणछन्दोपट्ठिततमादीणंपि उत्तरं अत्थि, एवमिहावि तेरससु किरियाट्ठाणेसु जं वुत्तं अधम्मपक्खस्स अणुवसमपुव्वकं उत्तरं उवेति।

(ख) सूत्रकृतांग द्वितीयश्रुतस्कन्धवृत्ति, पत्र ५९ : अस्मात्त्रयोदशक्रियास्थानप्रतिपादनादुत्तरं यदत्र न प्रतिपादितं, तदधुनोत्तरभूतेनानेन सूत्रसंदर्भेण प्रतिपाद्यते, यथाऽऽचारे प्रथमश्रुतस्कन्धे यन्नाभिहितं तदुत्तरभूताभिश्चूलिकाभिः प्रतिपाद्यते; तथा चिकित्साशास्त्रे मूलसंहितायां श्लोकस्थाननिदानशारीरचिकित्सितकल्पसंज्ञकायां यन्नाभिहितं तदुत्तरेऽभिधीयते, एवमन्यत्रापि छंदश्चित्यादावुत्तरसद्भावोऽवगन्तव्यः, तदिहापि पूर्वेण यन्नाभिहितं तदनेनोत्तरग्रन्थेन प्रतिपाद्यते इति।

४. सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० ३५६।

५. वही, पृ० ३५७।

किन्तु उन्होंने वृत्ति का उल्लेख किया है[1]—तदेवमेतानि चतुर्दशाप्युद्दिश्य प्रत्येकमादितः प्रभृति विवृणोति।

इस प्रकार प्रस्तुत सूत्र की रचनाशैली में अनेक विधाएं निहित हैं।

भाषा और व्याकरण-विमर्श

प्रस्तुत आगम के भाषा-प्रयोग प्राचीन और अनेकदेशीय हैं। इसमें व्याकरण के नियमों की प्रतिवद्धता भी कम है। इसमें प्राचीन शब्द प्रयोग भी मिलते हैं। वैदिक व्यवस्था के अनुसार चार आश्रमों में पहला ब्रह्मचर्य आश्रम है। वहां ब्रह्मचर्य का अर्थ गुरुकुल है। चौदहवें 'ग्रन्थ' अध्ययन में ब्रह्मचर्य इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—वट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा (१/१४/१)। आयसा (१/४/१/६) वण्णसा (१/१३/१३)—ये कायसा की भांति मागधी के विशेष प्रयोग हैं।

व्याकरण विषयक संकेत पांचवें परिशिष्ट में दिए गए हैं। उदाहरण स्वरूप कुछेक यहां प्रस्तुत किए जा रहे हैं, जैसे—एवंपुवट्ठिया (१।३२)। इसमें तीन शब्द हैं—एवं+अपि+उवट्ठिया। द्विपदसंधि के अनेक प्रयोग मिलते हैं, जैसे—चिट्ठंतदुव (१।८३)—चिट्ठंत+अदुव; मुहमंगलिओदरियं (७।२५)—मुहमंगलिओ+ओदरियं। छंद की दृष्टि से दीर्घ के स्थान पर ह्रस्व के प्रयोग मिलते हैं, जैसे—पिट्ठओ के स्थान पर 'पिट्ठउ' (५।२९), महंतीओ के स्थान पर 'महंतीउ' (५।३९), समाहीए के स्थान पर 'समाहिए' (३।४७)। यत्र-तत्र संधि और वर्णलोप के संयुक्त प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे—सद्दहंताऽय (६।२९)—सद्दहंता+आदाय यहां 'दा' का लोप किया गया है। गारवं (१३।१२)—यहां गारववं होना चाहिए। 'जराउ' (७।१) यह विभक्ति रहित पद है और यहां 'या' का लोप किया गया है—जराउया। विभक्ति रहित पद-प्रयोगों के अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे—पाण (२।७५), गिद्ध (३।३९), पाव (५।१९), तणरुक्ख (७।१)। वचन-व्यत्यय तथा विभक्ति-व्यत्यय के प्रयोग भी मिलते हैं, जैसे—बहुस्सुए, धम्मिए, माहणे, भिक्खुए (२।७)। यहां सर्वत्र बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग है। इत्थीसु (४।१२) यहां तृतीया विभक्ति के स्थान पर सप्तमी का प्रयोग है। गतिरागती (१३/१८) यहां विसर्ग का रकारीकरण संस्कृत के समान है। व्यञ्जन परिवर्तन के कारण कहीं-कहीं अर्थ-बोध की जटिलता भी उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए प्रथम श्रुतस्कन्ध के चौदहवें अध्ययन के १९ वें श्लोक का चतुर्थ चरण प्रस्तुत किया जा सकता है। आदर्शों में उसके प्रकार मिलते हैं—१. ण यासियावाय वियागरेज्जा। २. ण यासिसावाद वियागरेज्जा।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ आशीर्वाद या स्तुतिवाद किया है।[2] वृत्तिकार ने भी इसका यही अर्थ किया है।[3] 'आशिष्' शब्द का प्राकृतरूप 'आसिसा' बनता है।[4] आसिसा के द्वितीय सकार का लोप तथा यकारश्रुति करने पर 'आसिया' रूप बन जाता है। इसके पूर्व चस्थानीय यकार है। इसलिए 'यासियावाय' के संस्कृतरूप 'च आशिर्वाद' और 'च अस्याद्वाद'—दोनों किए जा सकते हैं। इसी संभावना के आधार पर इसका अर्थ विद्वानों ने अस्याद्वाद किया, किन्तु यदि 'आसिसावाद' पाठ सामने होता तो यह कठिनाई नहीं आती। इस प्रकार की कठिनाई का अनुभव व्याख्याकारों को अनेक स्थलों पर करना पड़ा है और आज भी पड़ रहा है।

व्याख्या-ग्रन्थ

सूत्रकृतांग जैन परम्परा में बहुमान्य आगम रहा है। इसका दार्शनिक मूल्य बहुत है। इसमें भगवान् महावीर के समय का गंभीर चिन्तन अर्न्तनिहित है। इस पर अनेक आचार्यो ने व्याख्याएं लिखी हैं। इसके प्रमुख व्याख्या-ग्रन्थ ये हैं—

१. निर्युक्ति, २. चूर्णि, ३. वृत्ति, ४. दीपिका, ५. विवरण, ६. स्तबक।

निर्युक्ति

यह सर्वाधिक प्राचीन व्याख्या-ग्रन्थ है। इसमें २०४ गाथाएं हैं। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक सूचनाएं और संकेत हैं। शेष व्याख्याओं के लिए यह आधारभूत व्याख्या-ग्रन्थ है। यह पद्यात्मक है और इसकी भाषा प्राकृत है। इसके कर्त्ता द्वितीय भद्रबाहु (वि० पांचवीं-छट्ठी शताब्दी) हैं।

---

१. सूत्रकृतांग, द्वितीयश्रुतस्कन्धवृत्ति, पत्र ६२।

२. सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० २९३ :"संशु स्तुतौ" तस्याशीर्भवति स्तुतिवादमित्यर्थः, न तद्दानवन्दनाविभिस्तोषितो ब्रूयात्—आरोग्यमस्तु, ते दीर्घं चायुः, तथा सुभगा भवाऽष्टपुत्रा इत्येवमादीनि न व्याकरेत्।

३. सूत्रकृतांगवृत्ति, पत्र २५५ : नापि चाशीर्वादं बहुपुत्रो बहुधनो (बहुधर्मो) दीर्घायुस्त्वं भूया इत्यादि व्यागृणीयात्।

४. हेमचन्द्र, प्राकृतव्याकरण १/१५। स्त्रियामादविद्युतः।

चूर्णि

निर्युक्ति के पश्चात् दूसरा व्याख्या-ग्रन्थ चूर्णि है। वह सूत्र के आशय को प्रकट करने में बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह गद्यात्मक है और इसकी भाषा प्राकृत-संस्कृत का मिश्रितरूप है। इसके कर्त्ता जिनदासगणि माने जाते हैं। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से यह समीक्षणीय है। प्रस्तुत चूर्णि की शैली आचारांगचूर्णि के समान है। चूर्णिकार ने एक स्थान पर यह उल्लेख भी किया है 'ये द्वार जैसे आचार और कल्प (की चूर्णि) में प्ररूपित हैं, वैसे ही यहां प्ररूपित करने चाहिए।'[1] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार, कल्प और सूत्रकृतांग की चूर्णियां एककर्तृक हैं। आचारांग और उत्तराध्ययन की चूर्णि का कर्ता एक ही व्यक्ति होना चाहिए, इसकी चर्चा हमने 'आयारो तह आयारचूला' की भूमिका में की है।[2]

वृत्ति

यह तीसरा महत्त्वपूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ है। इसमें स्थान-स्थान पर विषय का विशद विवेचन हुआ है। इसकी भाषा संस्कृत है। इसके कर्ता शीलांकसूरि हैं। इनका अस्तित्वकाल ई० ८वीं शती माना जाता है।[3] वृत्ति के प्रारम्भ में उन्होंने उसके निर्माण का प्रयोजन बतलाया है और पूर्ववृत्ति का संकेत किया है। प्रारम्भिक श्लोक इस प्रकार हैं—

स्वपरसमयार्थसूचकमनन्तगमपर्यायार्थगुणकलितम् ।
सूत्रकृतमङ्गमतुलं विवृणोमि जिनान्नमस्कृत्य ॥१॥

व्याख्यातमङ्गमिह यद्यपि सूरिमुख्यैर्भक्त्या तथापि विवरीतुमहं यतिष्ये ।
किं पक्षिराजगतमित्यवगम्य सम्यक्, तेनैव वाञ्छति पथा शलभो न गंतुम् ॥२॥

ये मय्यवज्ञां व्यधुरिद्धबोधा, जानन्ति ते किञ्चन तानपास्य ।
मत्तोऽपि यो मन्दमतिस्तथाऽर्थी, तस्योपकाराय ममैष यत्नः ॥३॥

वृत्ति के अन्त में यह उल्लेख मिलता है कि प्रस्तुत वृत्ति शीलाचार्य ने वाहरिगणि की सहायता से की—

'कृता चेयं शीलाचार्येण वाहरिगणिसहायेन।'

वृत्ति के अंतिम श्लोक में वृत्तिकार ने पाठक के कल्याण की कामना की है—

यदवाप्तमत्र पुण्यं टीकाकारेण मया समाधिभृता ।
तेनापेततमस्को भव्यः कल्याणभाग् भवतु ॥

चूर्णि और वृत्ति में अनेक स्थलों में पाठभेद और अर्थभेद हैं। अर्थभेद के कुछ विशेष स्थल ये हैं—

१।३३, ३४, ३६, ४३, ५०, ५५, ६८, ७२, ७३, ७६; २।१७, १८; ४।४५; ७।११, १३, १५, १६; ८।८, १६, १६, २४; ६।१७, २६; ११।१६, १७, ३२; १२।११, १३; १४।२२; १५।७।

दीपिका

इसकी भाषा संस्कृत है। इसके कर्ता उपाध्याय साधुरंग हैं। इसका रचनाकाल ई० १५४२ है।

विवरण

इसकी भाषा संस्कृत है। इसके कर्ता हर्षकुल हैं। इसका रचनाकाल ई० १८२६ हैं।

स्तबक

इसकी भाषा गुजराती है। इसके कर्ता पार्श्वचन्द्रसूरि है।

उक्त तीनों (दीपिका, विवरण और स्तबक) व्याख्याग्रन्थ वृत्ति पर आधृत और संक्षिप्त हैं।

---

१. सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० ५ : एताणि दाराणि जहा आयारे कप्पे वा परूवितानि तथा परूवेयव्वाणि।

२. आयारो तह आयारचूला, भूमिका पृ० ३०।

३. आयारो तह आयारचूला, भूमिका, पृ० ३१।

उपसंहार

प्रस्तुत भूमिका में सूत्रकृतांग के विशाल और गंभीर विषय पर संक्षिप्त विमर्श किया गया है। इसमें ऐतिहासिक तथा दार्शनिक सामग्री प्रचुर मात्रा में है। उस पर विशद प्रकाश डालने का प्रयत्न टिप्पणों में किया गया है।

जोधपुर (राजस्थान)
१ सितम्बर, १९८४

—आचार्य तुलसी

विषय सूची

पहला अध्ययन

दूसरा अध्ययन

तीसरा अध्ययन

चौथा अध्ययन

पांचवां अध्ययन

छठा अध्ययन

सातवां अध्ययन

आठवां अध्ययन

नौवां अध्ययन

दसवां अध्ययन

ग्यारहवां अध्ययन

बारहवां अध्ययन

तेरहवां अध्ययन

चौदहवां अध्ययन

पन्द्रहवां अध्ययन

सोलहवां अध्ययन

परिशिष्ट

पढमं अज्झयणं

समए

पहला अध्ययन

समय

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'समय' है। निर्युक्ति में यह नाम निर्दिष्ट नहीं है। वहां इसमें वर्ण्य विषय के आधार पर 'ससमय-परसमयपरूवणा'—(स्वसमय-परसमयप्ररूपणा) कहा गया है।[1] चूर्णि और वृत्ति में इस अध्ययन का नाम 'समय' दिया गया है।[2] संभव है 'स्वसमय-परसमयप्ररूपणा' यह नाम बहुत दीर्घ हो जाता, अतः संक्षेप में इसे 'समय' की संज्ञा दे दी गई हो।

समवाओ (२३/१) में भी 'समय' नाम ही निर्दिष्ट है।

निर्युक्तिकारने 'समय' के बारह प्रकार निर्दिष्ट किए हैं और चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने उसकी व्याख्या की है—[3]

१. नाम समय—किसी का नाम 'समय' हो।

२. स्थापना समय—किसी वस्तु में 'समय' की आरोपणा करना।

३. द्रव्य समय—सचित्त या अचित्त द्रव्य का स्वभाव—गुणधर्म। जैसे—जीव द्रव्य का उपयोग, धर्मास्तिकाय का गति स्वभाव, अधर्मास्तिकाय का स्थिति स्वभाव, आकाशास्तिकाय का अवगाहन स्वभाव।

अथवा—जिस द्रव्य का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के माध्यम से जो स्वभाव अभिव्यक्त होता है, वह 'द्रव्य समय' कहलाता है। जैसे—

(क) वर्ण से—भ्रमर काला है, कमल नीला है, कंबलशाटक लाल है, हल्दी पीली है, चंद्र श्वेत है।

(ख) गंध से—चंदन सुगन्धयुक्त है, लहसुन दुर्गन्धयुक्त है।

(ग) रस से—सूंठ कटुक है, नीम तिक्त है, कपित्थ कसैला है, गुड़ मीठा है।

(घ) स्पर्श से—पाषाण कर्कश है, भारी है, पक्षी की पांख हल्की है, बर्फ ठण्डा है, आग गरम है, घृत स्निग्ध है, राख रूक्ष है। अथवा—जिस द्रव्य का जो उपयोग-काल है वह भी 'द्रव्य समय' कहलाता है, जैसे—

दूध के उष्ण-अनुष्ण, ठंडे या गर्म के आधार पर उसका उपयोग करना।

वर्षाऋतु में लवण, शरदऋतु में जल, हेमन्त में गाय का दूध, शिशिर में आंवले का रस, वसन्त में घृत, ग्रीष्म में गुड़—ये सारे अमृत-तुल्य होते है।[4]

४. क्षेत्र समय—(क) आकाश का स्वभाव।

(ख) ग्राम, नगर आदि का स्वभाव।

(ग) देवकुरु आदि क्षेत्रों का स्वभाव-प्रभाव, जैसे—वहां के सभी प्राणी सुन्दर, सदा सुखी और वैर रहित होते हैं।

अथवा—क्षेत्र—खेत आदि को संवारने का समय।

अथवा—ऊर्ध्व, अधो और तिर्यक्लोक का स्वभाव।

५. कालसमय—काल में होने वाला स्वभाव, जैसे—सुषमा आदि काल में द्रव्यों का होने वाला स्वभाव।

---

१. निर्युक्ति गाथा २२ : ससमय-परसमयपरूवणा य······।

२. (क) चूर्णि पृ० १९ : तत्थ पढमज्झयणं समयोत्ति।
   (ख) वृत्ति पत्र ९ : तत्राद्यमध्ययनं समयाख्यम्।

३. (क) निर्युक्ति गाथा ३०। (ख) चूर्णि पृष्ठ १९,२०। (ग) वृत्ति पत्र ११।

४. चूर्णि पृ १९ : वर्षासु लवणममृतं शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते।
   शिशिरे चामलकरसो घृतं वसन्ते गुडो वसन्तस्यान्ते॥

६. कुतीर्थसमय—अन्यतीर्थिकों की धार्मिक मान्यता। जैसे—कुछ दार्शनिक हिंसा में धर्म मानते हैं, कुछ ज्ञानवादी होते हैं, कुछ स्नान, उपवास, गुरुकुलवास में ही धर्म मानते हैं।

७. संगारसमय—संकेत का समय—काल। जैसे—पूर्वकृत संकेत के अनुसार सिद्धार्थ नामक सारथी ने बलदेव को संबोधित किया था।

८. कुलसमय—कुल का धर्म—आचार-व्यवहार। जैसे—शक जाति वालों के लिए पितृशुद्धि, आभीरकों के लिए मन्थनी शुद्धि।

९. गणसमय—गण की आचार-व्यवस्था, जैसे—मल्लगण का यह आचार है कि जो मल्ल अनाथ होकर मरता है, उसका दाह-संस्कार गण से होता है, अथवा जिसकी दुर्-अवस्था हो जाती है उसका उद्धार गण करता है।

१०. संकरसमय—भिन्न-भिन्न जाति वालों का समागम और उनकी एकवाक्यता। वाममार्ग की परंपरा में अनाचार में प्रवृत्त होने के लिए विभिन्न जाति वाले एक मत हो जाते हैं।

११. गण्डीसमय—उपासना की पद्धति, जैसे—भिक्षु को प्रातः पेज्जागंडी, मध्याह्न में भावणगंडी, अपरान्ह में धर्मकथा करना, सन्ध्या में समिति का आचरण करना।[1]

वृत्तिकार ने भिन्न-भिन्न संप्रदायों की प्रथा को गंडी-समय माना है। जैसे—शाक्य भिक्षु भोजन के समय गंडी का ताडन करते हैं।[2]

१२. भावसमय—यह अध्ययन जो क्षयोपशम भाव का उद्बोधक है।

विषय-वस्तु

प्रस्तुत अध्ययन का विषय है स्वसमय—जैन मत और परसमय—जैनेतर मतों के कुछेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन। इस अध्ययन के चार उद्देशक और अठासी श्लोक हैं। इनमें विभिन्न मतों का प्रतिपादन—खंडन और मंडन है। निर्युक्तिकार ने उद्देशकों के अर्थाधिकार की चर्चा की है। पहले उद्देशक के छह अर्थाधिकार हैं—[3]

पंचभूतवाद, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारकवाद, आत्मषष्ठवाद, अफलवाद।

दूसरे उद्देशक के चार अर्थाधिकार हैं—नियतिवाद, अज्ञानवाद, ज्ञानवाद, कर्मचय-अभाववाद।

तीसरे उद्देशक के दो अर्थाधिकार हैं—आधाकर्म, कृतवाद।

चौथे उद्देशक का एक अर्थाधिकार है—परतीर्थिकों की अविरत-गृहस्थ-तुल्यता।

वस्तुतः यह अध्ययन अनेक दार्शनिकों के कुछेक प्रचलित सिद्धान्तों के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का सुन्दर निरूपण करता है। हमने इस अध्ययन के विषयों का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—

१-६ बंधन और बंधन-मुक्ति का विवेचन।
७-८ पंचमहाभूतवाद।
९-१० एकात्मवाद।
११-१२ तज्जीव-तच्छरीरवाद।
१३-१४ अकारकवाद।
१५-१६ आत्मषष्ठवाद।

---

१. चूर्णि पृ० १९-२०।

२. वृत्ति पत्र ११ : गण्डी समयो—यथाशाक्यानां भोजनावसरे गण्डीताडनमिति।

३. निर्युक्ति गाथा २७-२९ : मघपंचभूत एकप्पए य तज्जीवतस्सरीरी य।
तध य अकारकवादी आतच्छट्ठो अफलवादी ॥
बितिए णियतीवायो अण्णाणी तह य णाणवादी य।
कम्मं चयं ण गच्छति चतुव्विधं भिक्खुसमयम्मि ॥
तइए आहाकम्मं कडवादी जध य ते पवादी तु।
किच्चुवमा य चउत्थे परप्पवादी अविरतेसु ॥

१७-१८ बौद्धों का पंचस्कंध और चतुर्धातुवाद ।
१९-२७ एकान्तवादी दर्शनों की निस्सारता ।
२८-४० नियतिवाद ।
४१-५० अज्ञानवाद ।
५१-५९ बौद्धों की कर्मोपचय की चिन्ता और उसका समाधान ।
६०-६३ आधाकर्म-दोष का प्रतिपादन ।
६४-६९ जगत्कर्तृत्व के विभिन्न दर्शनों की चर्चा ।
७०-७१ अवतारवाद ।
७२-७३ आत्मप्रवाद की प्रशंसा ।
७३-७५ सिद्धवाद ।
७६-७९ याचना का सिद्धान्त ।
८०-८२ लोक-स्वरूप की चर्चा ।
८३-८५ अहिंसा का स्वरूप ।
८६-८८ भिक्षुक की चर्या ।

इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में भूतवादी दर्शन के दोनो पक्षों—पंचभूतवाद और चतुर्भूतवाद का प्रतिपादन हुआ है। आगमयुग में पंचभूतवाद प्रचलित था। पकुधकात्यायन पंचभूतवाद को स्वीकार करते थे। दर्शनयुग में चार्वाक सम्मत चार भूतों का ही उल्लेख मिलता है। वे आकाश तत्त्व को नहीं मानते थे।

एकात्मवादी दर्शन उपनिषदों का उपजीवी है। 'सर्वत्र एक ही आत्मा है'—यह ९-१० श्लोक में प्रतिपादित है।

इसी प्रकार 'तज्जीव-तच्छरीरवादी' दर्शन का इस अध्ययन में संक्षिप्त वर्णन है। किन्तु दूसरे श्रुतस्कंध (१/१३-२२) में उसका विस्तार मिलता है। प्रस्तुत सूत्र में इस मत के प्रवर्तक का नाम नहीं मिलता, किन्तु बौद्ध साहित्य में अजितकेशकंबल को इस मत का प्रवर्तक माना है।

अक्रियावाद पूरणकाश्यप का दार्शनिक पक्ष है। पकुधकात्यायन और पूरणकाश्यप—दोनों अक्रियावादी थे। बौद्ध साहित्य में इसका विस्तार से वर्णन प्राप्त है। वृत्तिकार शीलांक ने अकारकवाद को सांख्यदर्शन का अभिमत बतलाया है।[1]

पंचमहाभूतवाद पकुधकात्यायन के दार्शनिक पक्ष की एक शाखा है। पंचमहाभूतवादी की मान्यताओं का विशद वर्णन प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध (१/२५-२६) में प्राप्त है।

सतरहवें, अठारहवें श्लोक में बौद्ध सम्मत पांच स्कंधों तथा चार धातुओं का उल्लेख है।

प्रस्तुत अध्ययन में नियतिवाद का उल्लेख है। उसका विस्तार द्वितीय श्रुतस्कंध (१/४२-४५) में प्राप्त है।

एकतालीसवें श्लोक में अज्ञानवाद का उल्लेख है। अज्ञानवादी दार्शनिकों के विचारों का निरूपण इसी आगम के १२/२,३ में प्राप्त है। दीघनिकाय में प्ररूपित संजयवेलट्ठिपुत्त के अनिश्चयवाद के निरूपण को संशयवाद या अज्ञानवाद माना जा सकता है।

प्रस्तुत अध्ययन (श्लोक ६४-६९) में जगद् कर्तृत्व की प्रचलित विभिन्न मान्यताओं का निरूपण है। विभिन्न दार्शनिक सृष्टि-संरचना की विभिन्न मान्यताओं को लेकर चलते थे। ६४ से ६७ श्लोक तक सृष्टिवाद का मत उल्लिखित कर ६८ वें श्लोक में सूत्रकार ने अपना अभिमत प्रदर्शित किया है।

श्लोक ७०,७१ में अवतारवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित है। चूर्णिकार ने इसे त्रैराशिक संप्रदाय का अभिमत माना है।[2] त्रैराशिक का अर्थ आजीवक संप्रदाय किया गया है। गोशालक उसके आचार्य थे।[3]

लोक के विषय में विभिन्न दार्शनिकों के मत को प्रदर्शित कर सूत्रकार ने जैन मत का प्रतिपादन किया है। (श्लोक

---

१. वृत्ति पत्र २१,२२।
२. चूर्णि पृष्ठ ४३ : तेरासिइया इदाणिं—ते वि कडवादिणो चेव।
३. (क) वृत्ति पत्र ४६ : त्रैराशिका गोशालकमतानुसारिणः।
(ख) नंदी वृत्ति, हरिभद्रसूरी, पृष्ठ ८७ : त्रैराशिकाश्चाजीविका एवोच्यन्ते।

८०—८२)।

श्लोक ८३-८५ में अहिंसा विषयक चर्चा है। चौरासीवें श्लोक में अनन्तवाद और अपरिणामवाद के आधार पर हिंसा का समर्थन करने वाले दृष्टिकोण का प्रतिपादन मिलता है।

प्रस्तुत अध्ययन में कुछेक विशेष शब्द प्रयुक्त हैं—तिणच्चा (२०-२५), संगइयं (३०), पासत्थ (३२)।

प्रस्तुत अध्ययन में प्रतिपादित कुछेक मौलिक विचार—

१. परिग्रह और दुःख का सम्बन्ध (२)।
२. हिंसा और वैर का सम्बन्ध (३)।
३. परिग्रहमूलक हिंसा के तथ्य का उद्घाटन।
४. परिग्रह और हिंसा के त्याग के लिए सम्यग् दर्शन जरूरी।
५. दुःख का निवर्तन धर्म-अधर्म के विवेक से होता है, तर्क से नहीं (४६-४६)।

कुछ विशेष प्रयोग—

१. पव्वया (प्रव्रजिताः) १६।
२. जिया (जीवाः) २८।
३. अप्पत्तियं अप्रीतिकं ३६।

विभिन्न दार्शनिकों के विभिन्न मतों का इस अध्ययन में सुन्दर निरूपण हुआ है। हमने उन मतों के पूर्वपक्ष की चर्चा करते हुए बौद्ध और वैदिक परम्पराओं की मान्यताओं को भी टिप्पणों में स्पष्ट किया है। इस अध्ययन में अन्य दार्शनिकों के मतों का संक्षेप में उल्लेख है। उनका विस्तार दूसरे श्रुतस्कंध में प्रतिपादित है। इसका निर्देश हमने यथास्थान कर दिया है।

दार्शनिक तत्वों के निरूपण के साथ-साथ इसमें बन्धन-विवेक और बन्धन-मुक्ति के उपायों की भी सुन्दर चर्चा है। जम्बू ने सुधर्मा से पूछा—किमाह बंधणं वीरे ? किं वा जाणं तिउट्टइ ?—भगवान् महावीर ने किसे बन्धन माना है? उसे तोड़ने का उपाय क्या है? इसके उत्तर में सुधर्मा ने कहा—परिग्रह बंधन है, हिंसा बंधन है। इसका हेतु है—ममत्व। बन्धन-मुक्ति का उपाय है—धन और परिवार में अत्राण-दर्शन और जीवन का मृत्यु की ओर संधावन की अनुभूति। (श्लोक २-५)

इस अध्ययन की चूर्णि में अनेक नए-नए तथ्यों का उल्लेख है। हमने टिप्पणों में उनका यथेष्ट उपयोग किया है।

वृत्तिकार शिलांक ने भी अनेक जानकारियां प्रस्तुत की हैं।

छासठवें श्लोक का तीसरा चरण है—मारेण संथुया माया—इसमें मृत्यु की उत्पत्ति की कथा का संकेत मात्र है। यह कथा महाभारत के द्रोणपर्व, अध्याय ५३ में मिलती है। चूर्णिकार ने इस श्लोक के स्थान पर आचार्य नागार्जुन द्वारा सम्मत श्लोक दिया है। वह पूरे कथानक का द्योतक है—

अतिवड्ढीयजीवा णं, मही विण्णवते पभुं।
ततो से मायासंजुत्ते, करे लोगस्सऽभिद्दवा॥

देखें—टिप्पण संख्या—१२८।

पढमं अज्झयणं : पहला अध्ययन

समए : समय

पढमो उद्देसो : पहला उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा बंधणं परिजाणिया। किमाह बंधणं वीरे? किं वा जाणं तिउट्टइ? ।१।	बुध्येत त्रोटयेत्, बन्धनं परिज्ञाय। किमाह बन्धनं वीरः? किं वा जानन् त्रोटयति? ॥	१. सुधर्मा ने कहा—'बोधि को प्राप्त करो।[1] बंधन को जानकर उसे तोड़ डालो।'[2] जम्बू ने पूछा—'महावीर ने[3] बंधन किसे कहा है? किस तत्त्व को जान लेने पर उसे तोड़ा जा सकता है?'[4]
२. चित्तमंतमचित्तं वा परिगिज्झ किसामवि। अण्णं वा अणुजाणाइ एवं दुक्खा ण मुच्चई ।२।	चित्तवत् अचित्तं वा, परिगृह्य कृशमपि। अन्यं वा अनुजानाति, एवं दुःखात न मुच्यते ॥	२. सुधर्मा ने कहा[5]—'जो मनुष्य चेतन[6] या अचेतन पदार्थों में तनिक भी[7] परिग्रह-बुद्धि (ममत्व) रखता है और दूसरों के परिग्रह का अनुमोदन करता है[8] वह दुःख से[9] मुक्त नहीं हो सकता।'
३. सयं तिवातए पाणे अदुवा अण्णेहिं घायए। हणंतं वाणुजाणाइ वेरं वड्ढइ अप्पणो ।३।	स्वयं अतिपातयेत् प्राणान्, अथवा अन्यैः घातयेत्। घ्नन्तं वा अनुजानाति, वैरं वर्धयति आत्मनः ॥	३. परिग्रही मनुष्य प्राणियों का स्वयं हनन करता है,[10] दूसरों से हनन कराता है अथवा हनन करने वाले का अनुमोदन करता है, वह अपने वैर को बढ़ाता है[11]—वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।
४. जस्सिं कुले समुप्पण्णे जेहिं वा संवसे णरे। ममाती लुप्पती बाले अण्णमण्णेहिं मुच्छिए ।४।	यस्मिन् कुले समुत्पन्नः, यैर्वा संवसेत् नरः। ममत्ववान् लुप्यते बालः, अन्योऽन्यं मूर्च्छितः ॥	४. जो मनुष्य जिस कुल में[12] उत्पन्न होता है और जिनके साथ संवास करता है वह उनमें ममत्व रखता है[13] तथा वे भी उसमें ममत्व रखते हैं। इस प्रकार परस्पर होने वाली मूर्च्छा से मूर्च्छित होकर[14] वह बाल (अज्ञानी) नष्ट होता रहता है[15]—वह दुःख से मुक्त नहीं हो सकता।
५. वित्तं सोयरिया चेव सव्वमेयं ण ताणइ। संधाति जीवितं चेव कम्मणा उ तिउट्टइ ।५।	वित्तं सौदर्याश्चैव, सर्वमेतद् न त्राणाय। संधावति जीवितं चैव, कर्माणि तु त्रोटयति ॥	५. धन और भाई-बहिन[16]—ये सब त्राण नहीं दे सकते।[17] जीवन मृत्यु की ओर दौड़ रहा है,[18] इस सत्य को जान लेने पर मनुष्य कर्म के बंधन को तोड़ डालता है।[19]
६. एए गंथे विउक्कम्म एगे समणमाहणा। अयाणंता विउस्सिता सत्ता कामेहिं माणवा ।६।	एतान् ग्रन्थान् व्युत्क्रम्य, एके श्रमण-ब्राह्मणाः। अजानन्तः व्युच्छ्रिताः, सक्ताः कामेषु मानवाः ॥	६. कुछ श्रमण-ब्राह्मण[20] इन उक्त ग्रन्थों[21] (परिग्रह और परिग्रह-हेतुओं) का परित्याग कर, विरति और अविरति के भेद को नहीं जानते हुए[22] गर्व करते हैं।[23] वे मननशील होने पर भी कामभोगों में आसक्त रहते हैं।

७. संति पंच महब्भूया
इहमेगेसिमाहिया ।
पुढवी आऊ तेऊ
वाऊ आगासपंचमा ।७।

सन्ति पञ्च महाभूतानि,
इह एकेषां आहृतानि ।
पृथ्वी आपः तेजो,
वायुः आकाशपञ्चमानि ॥

७. कुछ दार्शनिकों[२४] (भूतवादियों) के मत में यह निरूपित है कि इस जगत् में पांच महाभूत हैं[२५]—पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु और आकाश।

८. एए पंच महब्भूया
तेब्भो एगो त्ति आहिया ।
अह एसिं विणासे उ
विणासो होइ देहिणो ।८।

एतानि पञ्च महाभूतानि,
तेभ्यः एक इति आहृताः ।
अथ एषां विनाशे तु,
विनाशो भवति देहिनः ॥

८. ये पांच महाभूत हैं। इनके संयोग से[२६] एक—आत्मा[२७] उत्पन्न होता है। इन पांच महाभूतों का विनाश होने पर[२८] आत्मा (देही) का विनाश हो जाता है।[२९,३०]

९. जहा य पुढवीथूभे
एगे णाणा हि दीसइ ।
एवं भो ! कसिणे लोए
विण्णू णाणा हि दीसए ।९।

यथा च पृथिवीस्तूपः,
एको नाना हि दृश्यते ।
एवं भो ! कृत्स्नो लोको,
विज्ञो नाना हि दृश्यते ॥

९. जैसे—एक ही पृथ्वी-स्तूप (मृत्-पिण्ड) नानारूपों में दिखाई देता है, उसी प्रकार समूचा लोक एक विज्ञ[३१] (ज्ञानपिण्ड) है, वह नानारूपों में दिखाई देता है।

१०. एवमेगे त्ति जंपंति
मंदा आरंभणिस्सिया ।
एगे किच्चा सयं पावं
तिव्वं दुक्खं णियच्छइ ।१०।

एवमेके इति जल्पन्ति,
मंदाः आरम्भनिश्रिताः ।
एकः कृत्वा स्वयं पापं,
तीव्रं दुःखं नियच्छति ॥

१०. क्रिया करने में अलस और हिंसा से प्रतिबद्ध[३२] कुछ दार्शनिक उक्त सिद्धांत का निरूपण करते हैं। (यदि आत्मा एक है तो यह कैसे घटित होगा कि) अकेला व्यक्ति स्वयं पाप करता है और वही तीव्र[३३] दुःख भोगता है।[३४,३५]

११. पत्तेयं कसिणे आया
जे बाला जे य पंडिया ।
संति पेच्चा ण ते संति
णत्थि सत्तोववाइया ।११।

प्रत्येकं कृत्स्नः आत्मा,
ये बालाः ये च पंडिताः ।
सन्ति प्रेत्य न ते सन्ति,
न सन्ति सत्त्वाः औपपातिकाः ॥

११. प्रत्येक शरीर में पृथक्-पृथक् अखंड[३६] आत्मा है, इसीलिए कुछ अज्ञानी हैं और कुछ पंडित हैं। जो शरीर हैं वे ही आत्माएं हैं।[३७] वे आत्माएं परलोक में नहीं जातीं।[३८] उनका पुनर्जन्म नहीं होता।[३९]

१२. णत्थि पुण्णे व पावे वा
णत्थि लोए इओ परे ।
सरीरस्स विणासेणं
विणासो होइ देहिणो ।१२।

नास्ति पुण्यं वा पापं वा,
नास्ति लोकः इतः परः ।
शरीरस्य विनाशेन,
विनाशो भवति देहिनः ॥

१२. न पुण्य है, न पाप है और न इस लोक से भिन्न दूसरा कोई लोक है। शरीर का विनाश होने पर आत्मा (देही) का भी विनाश हो जाता है।[४०,४१]

१३. कुव्वं च कारयं चेव
सव्वं कुव्वं ण विज्जइ ।
एवं अकारओ अप्पा
ते उ एवं पगब्भिया ।१३।

कुर्वंश्च कारयंश्चैव,
सर्वं कुर्वन् न विद्यते ।
एवं अकारकः आत्मा,
ते तु एवं प्रगल्भिताः ॥

१३. आत्मा सब करता है, सब करवाता है, फिर भी वह (पुण्य-पाप का बंध) करने वाला नहीं होता, इसलिए वह अकर्त्ता है। अक्रियावादी इस सिद्धांत की स्थापना करते हैं।

१४. जे ते उ वाइणो एवं
लोए तेसिं कुओ सिया?
तमाओ ते तमं जंति
मंदा आरंभणिस्सिया ।१४।

ये ते तु वादिनः एवं,
लोकः तेषां कुतः स्यात् ?
तमसः ते तमो यान्ति,
मन्दाः आरम्भनिश्रिताः ॥

१४. जो दार्शनिक ऐसा कहते हैं उनके मतानुसार यह लोक[४२] कैसे घटित होगा ? अक्रियावादी पुरुषार्थ करने में अलस और हिंसा से प्रतिबद्ध[४३] होकर तम से घोर तम (अज्ञान से घोर अज्ञान) की ओर चले जाते हैं।[४४,४५]

१५. संति पंच महब्भूया
इहमेगेसि आहिया ।
आयछट्ठा पुणेगाहु
आया लोगे य सासए ।१५।

सन्ति पञ्च महाभूतानि,
इह मेकेषां आहृतानि ।
आत्मषष्ठाः पुनरेके आहुः,
आत्मा लोकश्च शाश्वतः ॥

१५. 'पांच महाभूत हैं—' यह पंचमहाभूतवादी दार्शनिकों का ए अभिमत है। कुछ महाभूतवादी दार्शनिक पांच महाभूत तथा आत्मा को छठा तत्त्व[४६] मानते हैं। उनके मतानुसार आत्मा और लोक शाश्वत हैं।[४७]

१६. दुहओ ते ण विणस्संति
णो य उप्पज्जए असं।
सव्वेवि सव्वहा भावा
णियतीभावमागया ।।१६।।

द्वौ तौ न विनश्यतः,
नो च उत्पद्यते असन्।
सर्वेऽपि सर्वथा भावाः,
नियतिभावमागताः ।।

१६. उन दोनों[४८] (आत्मा और लोक)[४९] का विनाश नहीं होता। असत् उत्पन्न नहीं होता। सभी पदार्थ सर्वथा नियतिभाव को प्राप्त हैं, शाश्वत हैं।[५०-५१]

१७. पंच खंधे वयंतेगे
बाला उ खणजोइणो।
अण्णो अणण्णो णेवाहु
हेउयं च अहेउयं ।।१७।।

पञ्च स्कन्धान् वदन्ति एके,
बालास्तु क्षणयोगिनः।
अन्यं अनन्यं नैवाहुः,
हेतुकं च अहेतुकम् ।।

१७. कुछ दार्शनिक (बौद्ध) पांच स्कंधो (रूप, वेदना, विज्ञान, संज्ञा और संस्कार) का निरूपण करते हैं। वे स्कंध क्षणयोगी (क्षणिक) हैं। वे स्कंधों से अन्य या अनन्य आत्मा को नहीं मानते। वे स-हेतुक आत्मा को नहीं मानते।

१८. पुढवी आऊ तेऊ य
तहा वाऊ य एगओ।
चत्तारि धाउणो रूवं
एवमाहंसु जाणगा ।।१८।।

पृथ्वी आपः तेजश्च,
तथा वायुश्च एककः।
चत्वारि धातोः रूपाणि,
एवमाहुः ज्ञायकाः ।।

१८. धातुवादी बौद्ध यह मानते हैं कि पृथ्वी, पानी, अग्नि और वायु—इन चार धातुओं से शरीर निर्मित होता है।[५२]

१९. अगारमावसंता वि
आरण्णा वा वि पव्वया।
इमं दरिसणमावण्णा
सव्वदुक्खा विमुच्चंति ।।१९।।

अगारमावसन्तोऽपि,
आरण्याः वाऽपि प्रव्रजिताः।
इदं दर्शनमापन्नाः,
सर्वदुःखात् विमुच्यन्ते ।।

१९. वे प्रवादी यह कहते हैं—गृहस्थ, आरण्यक[५३] या प्रव्रजित[५४] कोई भी हो, जो इस दर्शन में आ जाता है,[५५] वह सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है।[५६]

२०. तेणाविमं तिणच्चा णं
ण ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं
ण ते ओहंतराऽऽहिया ।।२०।।

तेनापि इदं त्रिज्ञात्वा,
न ते धर्मविदः जनाः।
ये ते तु वादिनः एवं,
न ते ओघंतराः आहृताः ।।

२०. किसी दर्शन में आ जाने[५७] तथा त्रिपिटक आदि ग्रंथों को जान लेने से[५८] वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे दुःख के प्रवाह का तीर नहीं पा सकते।[५९]

२१. तेणाविमं तिणच्चा णं
ण ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं
ण ते संसारपारगा ।।२१।।

तेनापि इदं त्रिज्ञात्वा,
न ते धर्मविदः जनाः।
ये ते तु वादिनः एवं,
न ते संसारपारगाः ।।

२१. किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रंथों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे संसार के पार नहीं जा सकते।

२२. तेणाविमं तिणच्चा णं
ण ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं
ण ते गब्भस्स पारगा ।।२२।।

तेनापि इदं त्रिज्ञात्वा,
न ते धर्मविदः जनाः।
ये ते तु वादिनः एवं,
न ते गर्भस्य पारगाः ।।

२२. किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रन्थों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे गर्भ के पार नहीं जा सकते।

२३. तेणाविमं तिणच्चा णं
ण ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं
ण ते जम्मस्स पारगा ।।२३।।

तेनापि इदं त्रिज्ञात्वा,
न ते धर्मविदः जनाः।
ये ते तु वादिनः एवं,
न ते जन्मनः पारगाः ।।

२३. किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रन्थों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे जन्म के पार नही जा सकते।

२४. तेणाविमं तिणच्चा णं
ण ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं
ण ते दुक्खस्स पारगा।२४।

तेनापि इदं त्रिज्ञात्वा,
न ते धर्मविदः जनाः ।
ये ते तु वादिनः एवं,
न ते दुःखस्य पारगाः ।।

२४. किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रंथों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे दुःख के पार नहीं जा सकते।

२५. तेणाविमं तिणच्चा णं
ण ते धम्मविऊ जणा।
जे ते उ वाइणो एवं
ण ते मारस्स पारगा।२५।

तेनापि इदं त्रिज्ञात्वा,
न ते धर्मविदः जनाः ।
ये ते तु वादिनः एवं,
न ते मारस्य पारगाः ।।

२५ किसी दर्शन में आ जाने तथा त्रिपिटक आदि ग्रन्थों को जान लेने से वे मनुष्य धर्मविद् नहीं हो जाते। (इस दर्शन में आ जाने से मनुष्य सब दुःखों से मुक्त हो जाते हैं) जो ऐसा कहते हैं वे मृत्यु के पार नहीं जा सकते।

२६. णाणाविहाइं दुक्खाइं
अणुहवंति पुणो पुणो।
संसारचक्कवालम्मि
वाहिमच्चुजराकुले ।२६।

नानाविधानि दुःखानि,
अनुभवंति पुनः पुनः ।
संसारचक्रवाले,
व्याधिमृत्युजराकुले ।।

२६. वे व्याधि, मृत्यु और जरा से आकुल इस संसार-चक्रवाल में नाना प्रकार के दुःखों का बार-बार अनुभव करते हैं।

२७. उच्चावयाणि गच्छंता
गब्भमेस्संतणंतसो ।
णायपुत्ते महावीरे
एवमाह जिणोत्तमे।२७।

उच्चावचानि गच्छन्तः,
गर्भमेष्यन्ति अनन्तशः ।
ज्ञातपुत्रः महावीरः,
एवं आह जिनोत्तमः ।।

२७. वे उच्च और निम्न स्थानों में भ्रमण करते हुए अनन्त बार जन्म लेंगे—ऐसा जिनोत्तम ज्ञातपुत्र महावीर ने कहा है।

—त्ति बेमि ।।

—इति ब्रवीमि ।।

—ऐसा मैं कहता हूं।

बीओ उद्देसो : दूसरा उद्देशक

२८. आघायं पुण एगेसिं
उववण्णा पुढो जिया।
वेदयंति सुहं दुक्खं
अदुवा लुप्पंति ठाणओ ।१।

आख्यातं पुनरेकेषां,
उपपन्नाः पृथग् जीवाः ।
वेदयन्ति सुखं दुःखं,
अथवा लुप्यन्ते स्थानतः ।।

२८. कुछ दार्शनिक (नियतिवादी) यह निरूपित करते हैं—जीव पृथक्-पृथक् उत्पन्न होते हैं, पृथक्-पृथक् सुख-दुःख का वेदन करते हैं और पृथक्-पृथक् ही अपने स्थान से च्युत होते हैं—मरते हैं।[१०]

२९. ण तं सयं कडं दुक्खं
ण य अण्णकडं च णं।
सुहं वा जइ वा दुक्खं
सेहियं वा असेहियं ।२।

न तद् स्वयं कृतं दुःखं,
न च अन्यकृतं च ।
सुखं वा यदि वा दुःखं,
सैद्धिकं वा असैद्धिकम् ।।

२९. वह दुःख स्वयंकृत नहीं होता, अन्यकृत भी नहीं होता। सैद्धिक—निर्वाण का सुख हो अथवा असैद्धिक—सांसारिक सुख-दुःख हो (वह सब नियतिकृत होता है।)[११]

३०. ण सयं कडं ण अण्णेहिं
वेदयंति पुढो जिया।
संगइयं तं तहा तेसिं
इहमेगेसिमाहियं ।३।

न स्वयं कृतं न अन्यैः,
वेदयन्ति पृथग् जीवाः ।
सांगतिकं तत् तथा तेषां,
इह एकेषामाहृतम् ।।

३०. सभी जीव न स्वकृत सुख-दुःख का वेदन करते हैं और न अन्यकृत सुख-दुःख का वेदन करते हैं। वह सुख-दुःख उनके सांगतिक—नियतिजनित[१२] होता है, ऐसा कुछ (नियतिवादी) मानते हैं।

३१. एवमेयाणि जंपंता
बाला पंडियमाणिणो।
णिययाणिययं संतं
अयाणंता अबुद्धिया ।४।

एवमेतानि जल्पन्तो,
बालाः पंडितमानिनः ।
नियताऽनियतं सत्,
अजानन्तः अबुद्धिकाः ।।

३१. इस प्रकार नियतिवाद का प्रतिपादन करने वाले अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको पंडित मानते हैं। कुछ सुख-दुःख नियत होता है और कुछ अनियत—[१३] इस सत्य को वे अल्पबुद्धि वाले मनुष्य नहीं जानते।

३२. एवमेगे उ पासत्था
ते भुज्जो विप्पगब्भिया ।
एवंपुवट्ठिया संता
णऽत्तदुक्खविमोयगा ।५।

एवं एके तु पार्श्वस्थाः,
ते भूयो विप्रगल्भिताः ।
एवमपि उपस्थिताः सन्तः,
नात्मदुःखविमोचकाः ॥

३२. इस प्रकार कुछ पार्श्वस्थ (नियति का एकांगी आग्रह रखने वाले नियतिवादी)[६४] साधना-मार्ग में प्रवृत्त होते हैं। यह उनकी दोहरी धृष्टता है। वे साधना-मार्ग में प्रवृत्त होने पर भी[६५] अपने दुःखों का विमोचन नहीं कर सकते।

३३. जविणो मिगा जहा संता
परिताणेण तज्जिया ।
असंकियाइं संकंति
संकियाइं असंकिणो ।६।

जविनो मृगा यथा श्रान्ताः,
परितानेन तर्जिताः ।
अशंकितानि शंकन्ते,
शंकितानि[१] अशंकिनः ॥

३३. जैसे वेगगामी मृग[६६] मृगजाल से[६७] भयभीत[६८] और श्रान्त (दिग्मूढ) होकर[६९] अशंकनीय के प्रति शंका करते हैं और शंकनीय के प्रति अशंकित रहते हैं।

३४. परिताणियाणि संकंता
पासियाणि असंकिणो ।
अण्णाणभयसंविग्गा
संपलिंति तहिं तहिं ।७।

परिततानि शंकमानाः,
पाशितानि[२] अशंकिनः ।
अज्ञानभयसंविग्नाः,
संप्रलीयन्ते तत्र तत्र ॥

३४. वे बिछे हुए मृगजाल के प्रति शंकित होते हैं और पाशयंत्र के प्रति अशंकित होते हैं। वे अज्ञानवश भय से व्याकुल होकर इधर-उधर दौड़ते हैं।

३५. अह तं पवेज्ज वज्झं
अहे वज्झस्स वा वए ।
मुच्चेज्ज पयपासाओ
तं तु मंदो ण देहई ।८।

अथ तत् प्लवेत वर्ध्रं,
अधो वर्ध्रस्य वा व्रजेत् ।
मुच्येत पदपाशात्,
तत् तु मन्दो न पश्यति ॥

३५. यदि वे छलांग भरते हुए पदपाश (कूटयंत्र) की बाध को[७०] फांद जाएं अथवा उसके नीचे से निकल जाएं तो वे उस पदपाश से[७१] मुक्त हो सकते हैं, किन्तु वे मंदमति उस उपाय को नहीं देख पाते।

३६. अहियप्पाऽहियपण्णाणे
विसमंतेणुवागए ।
से बद्धे पयपासाइं
तत्थ घायं णियच्छइ ।९।

अहितात्मा अहितप्रज्ञानः,
विषमान्तेन उपागतः ।
स बद्धः पदपाशान्[३],
तत्र घातं नियच्छति ॥

३६. अपना हित नहीं समझने वाले और हित की बुद्धि से शून्य वे मृग विषमांत—संकरे द्वार वाले[७२] पाशयंत्र से जाते हैं और उस बंधन में बंध कर मृत्यु को प्राप्त होते हैं।

३७. एवं तु समणा एगे
मिच्छदिट्ठी अणारिया ।
असंकियाइं संकंति
संकियाइं असंकिणो ।१०।

एवं तु श्रमणाः एके,
मिथ्यादृष्टयः अनार्याः ।
अशंकितानि शंकन्ते,
शंकितानि[४] अशंकिनः ॥

३७. इसी प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य[७३] श्रमण अशंकनीय के प्रति शंका करते हैं और शंकनीय के प्रति शंका नहीं करते।[७४]

३८. धम्मपण्णवणा जा सा
तं तु संकंति मूढगा ।
आरंभाइं ण संकंति
अवियत्ता अकोविया ।११।

धर्मप्रज्ञापना या सा,
तां तु शंकन्ते मूढकाः ।
आरम्भान् न शंकन्ते,
अव्यक्ताः अकोविदाः ॥

३८. अव्यक्त[७५], अकोविद और मोहमूढ[७६] श्रमण जो धर्म की प्रज्ञापना है उसके प्रति शंका करते हैं[७७] और आरंभ (हिंसा) के प्रति शंका नहीं करते।

३९. सव्वप्पगं विउक्कस्सं
सव्वं णूमं विहूणिया ।
अप्पत्तियं अकम्मंसे
एयमट्ठं मिगे चुए ।१२।

सर्वात्मकं व्युत्कर्षं,
सर्वं 'णूमं'[५] विधूय ।
अप्रीतिकं अकर्मांशः,
एनमर्थं मृगः च्युतः ॥

३९. पूर्ण लोभ, मान, माया और क्रोध[७८] को नष्ट कर साधक अकर्मांश (सिद्ध)[७९] हो जाता है, किन्तु मृग की भांति अज्ञानी[८०] नियतिवादी इस अर्थ (उपलब्धि) से च्युत हो जाता है—अकर्मांश नहीं हो सकता।

---

१. 'प्रति' इति शेषः ।
२. 'प्रति' इति शेषः ।
३. 'प्राप्तः' इति शेषः ।
४. 'प्रति' इति शेषः ।
५. 'णूमं' (दे०) माया इत्यर्थः ।

४०. जे एयं णाभिजाणंति
मिच्छदिट्ठी अणारिया।
मिगा वा पासबद्धा ते
घायमेसंतऽणंतसो ।।१३।

ये एनं नाभिजानन्ति,
मिथ्यादृष्टयः अनार्याः।
मृगा इव पाशबद्धास्ते,
घातं एष्यन्ति अनन्तशः ।।

४०. जो मिथ्यादृष्टि अनार्य इस (अकर्मांश होने के उपाय) को नहीं जानते वे पाश से बद्ध मृग की भांति अनन्त बार मृत्यु को प्राप्त होते हैं।[८१]

४१. माहणा समणा एगे
सव्वे णाणं सयं वए।
सव्वलोगे वि जे पाणा
ण ते जाणंति किंचणं।१४।

ब्राह्मणाः श्रमणा एके,
सर्वे ज्ञानं स्वकं वदेयुः।
सर्वलोकेऽपि ये प्राणाः,
न ते जानन्ति किञ्चन ।।

४१. कुछ[८२] ब्राह्मण और श्रमण[८३]—वे सब अपने-अपने ज्ञान की सचाई को स्थापित करते हुए कहते हैं—'समूचे लोक में (हमारे मत से भिन्न) जो मनुष्य हैं वे कुछ भी नहीं जानते।

४२. मिलक्खू अमिलक्खुस्स
जहा वुत्ताणुभासए।
ण हेउं से वियाणाइ
भासियं तऽणुभासए।१५।

म्लेच्छः अम्लेच्छस्य,
यथा उक्तं अनुभाषते।
न हेतुं स विजानाति,
भाषितं तदनुभाषते ।।

४२. जैसे म्लेच्छ अम्लेच्छ के कथन का दोहराता है, उसके कथन के अभिप्राय को नहीं जानता, किन्तु कथन का पुनः कथन कर देता है।

४३. एवमण्णाणिया णाणं
वयंता वि सयं सयं।
णिच्छयत्थं ण जाणंति
मिलक्खु व्व अबोहिया।१६।

एवं अज्ञानिका ज्ञानं,
वदन्तोऽपि स्वकं स्वकम्।
निश्चयार्थं न जानन्ति,
म्लेच्छ इव अबोधिकाः ।।

४३. इसी प्रकार अज्ञानी (पूर्णज्ञान से शून्य)[८४] अपने-अपने ज्ञान को प्रमाण मानते हुए भी निश्चय-अर्थ (सत्य) को नहीं जानते, म्लेच्छ की भांति अज्ञानी होने के कारण उसका हार्द नहीं समझ पाते।

४४. अण्णाणियाण वीमंसा
अण्णाणे ण णियच्छइ।
अप्पणो य परं णालं
कत्तो अण्णाणुसासिउं ?।१७।

अज्ञानिकानां विमर्शः,
अज्ञाने न नियच्छति।
आत्मनश्च परं नालं,
कुतः अन्यान् अनुशासितुम् ।।

४४. अज्ञानिकों का उक्त विमर्श[८५] अज्ञान के विषय में निश्चय नहीं करा सकता। (संदिग्ध मतिवाले) अज्ञानवादी अपने आपको भी जब अज्ञानवाद का अनुशासन नहीं दे सकते तब दूसरों को उसका अनुशासन कैसे दे सकते है ?

४५. वणे मूढे जहा जंतू
मूढणेयाणुगामिए ।
दो वि एए अकोविया
तिव्वं सोयं णियच्छई।१८।

वने मूढो यथा जन्तुः,
मूढनेत्रनुगामिकः ।
द्वावपि एतौ अकोविदौ,
तीव्रं स्रोतो नियच्छतः ।।

४५. जैसे[८६] वन में दिग्मूढ बना हुआ मनुष्य दिग्मूढ नेता (पथ-दर्शक) का अनुगमन करता है तो वे दोनों मार्ग को नहीं जानते हुए घोर[८७] जंगल में[८८] चले जाते हैं।

४६. अंधो अंधं पहं णेंतो
दूरमद्धाण गच्छई।
आवज्जे उप्पहं जंतू
अदुवा पंथाणुगामिए।१९।

अन्धो अन्धं पथं नयन्,
दूरमध्वानं गच्छति।
आपद्यते उत्पथं जन्तुः,
अथवा पथानुगामिकः ।।

४६. जैसे एक अंधा दूसरे अंधे को मार्ग में ले जाता हुआ (जहां पहुंचना है वहां से) दूर मार्ग में चला जाता है[८९] अथवा उत्पथ में चला जाता है[९०] अथवा किसी दूसरे मार्ग में चला जाता है।[९१]

४७. एवमेगे णियागट्ठी
धम्ममाराहगा वयं।
अदुवा अहम्ममावज्जे
ण ते सव्वज्जुयं वए।२०।

एवमेके नियागार्थिनः,
धर्माराधकाः वयम्।
अथवा अधर्ममापद्येरन्,
न तं सर्वर्जुकं व्रजेयुः ।।

४७. इसी प्रकार कुछ मोक्षार्थी[९२] कहते हैं—'हम धर्म के आराधक हैं।' किन्तु (वे धर्म के लिए प्रव्रजित होकर भी) अधर्म के मार्ग पर चलते हैं।[९३] वे सबसे सीधे मार्ग (संयम) पर[९४] नहीं चलते।

४८. एवमेगे वियक्काहिं
णो अण्णं पज्जुवासिया।
अप्पणो य वियक्काहिं
अयमंजू हि दुम्मई।२१।

एवमेके वितर्कैः,
नो अन्यं पर्युपासीनाः।
आत्मनश्च वितर्कैः,
अयं ऋजुर्हि दुर्मतयः ।।

४८. कुछ अज्ञानवादी[९५] अपने वितर्कों के गर्व से किसी दूसरे (विशिष्ट ज्ञानी)[९६] की पर्युपासना नहीं करते। वे अपने वितर्कों के द्वारा[९७] यह कहते हैं कि हमारा यह मार्ग ही ऋजु[९८] है, शेष सब दुर्मति हैं—उत्पथ-गामी हैं।

४९. एवं तक्काए साहेंता धम्माधम्मे अकोविया । दुक्खं ते णातिवट्टंति सउणी पंजरं जहा ।२२।	एवं तर्केण साधयन्तः, धर्माधर्मे अकोविदाः । दुःखं ते नातिवर्तन्ते, शकुनिः पञ्जरं यथा ॥	४९. वे तर्क से (अपने मत को) सिद्ध करते हैं, पर धर्म और अधर्म को[98] नहीं जानते । जैसे पक्षी पिंजरे से[99] अपने आपको मुक्त नहीं कर सकता, वैसे ही वे दुःख से[100] मुक्त नहीं हो सकते ।
५०. सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं । जे उ तत्थ विउस्संति संसारं ते विउस्सिया ।२३।	स्वकं स्वकं प्रशंसन्तः, गर्हमाणाः परं वचः । ये तु तत्र व्युच्छ्रयन्ति, संसारं ते व्युच्छ्रिताः ॥	५०. अपने अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मतों की निंदा करते हुए जो गर्व से उछलते हैं वे संसार (जन्म-मरण की परंपरा) को बढ़ाते हैं ।[101]
५१. अहावरं पुरक्खायं किरियावाइदरिसणं । कम्मचिंतापणट्ठाणं दुक्खखंधविवद्धणं ।२४।	अथापरं पुराख्यातं, क्रियावादिदर्शनम् । कर्मचिन्ताप्रणष्टानां, दुःखस्कन्धविवर्धनम् ॥	५१. अज्ञानवादी दर्शन के बाद क्रियावादी दर्शन[102] का निरूपण किया जा रहा है जो प्राचीन काल से निरूपित है ।[103] बौद्धों का कर्म-विषयक चिन्तन सम्यक्-दृष्ट नहीं है ।[104] इसलिए वह दुःख-स्कंध को बढ़ाने वाला है ।[105]
५२. जाणं काएणऽणाउट्टी अबुहो जं च हिंसइ । पुट्ठो वेदेइ परं अवियत्तं खु सावज्जं ।२५।	जानन् कायेन अनाकुट्टी, अबुधः यं च हिनस्ति । स्पृष्टो वेदयति परं, अव्यक्तं खलु सावद्यम् ॥	५२. जो जीव को जानता हुआ (संकल्पपूर्वक) काया से उसे नहीं मारता अथवा अबुध हिंसा करता है—अन-जान में किसी को मारता है, उसके अव्यक्त (सूक्ष्म) सावद्य (कर्म) स्पृष्ट होता है । उसी क्षण उसका वेदन हो जाता है—वह क्षीण होकर पृथग् हो जाता है ।
५३. संतिमे तओ आयाणा जेहिं कीरइ पावगं । अभिकम्मा य पेसा य मणसा अणुजाणिया ।२६।	सन्ति इमानि त्रीणि आदानानि, यैः क्रियते पापकम् । अभिक्रम्य च प्रेष्य च, मनसा अनुज्ञाय ॥	५३ ये तीन आदान—मार्ग हैं जिनके द्वारा कर्म का उपचय होता है— १. अभिक्रम्य—स्वयं जाकर प्राणी की घात करना । २. प्रेष्य—दूसरे को भेजकर प्राणी की घात कर-वाना । ३. प्राणी की घात करने वाले का अनुमोदन करना ।
५४. एए उ तओ आयाणा जेहिं कीरइ पावगं । एवं भावविसोहीए णिव्वाणमभिगच्छइ ।२७।	एतानि तु त्रीणि आदानानि, यैः क्रियते पापकम् । एवं भावविशोध्या, निर्वाणमभिगच्छति ॥	५४. ये तीन आदान हैं जिनके द्वारा कर्म का उपचय होता है । जो इन तीन आदानों का सेवन नहीं करता वह भावविशुद्धि (राग-द्वेष रहित प्रवृत्ति) के द्वारा निर्वाण को प्राप्त होता है ।
५५. पुत्तं पि ता समारंभ आहारट्ठं असंजए । भुंजमाणो वि मेहावी कम्मुणा णोवलिप्पते ।२८।	पुत्रमपि तावत् समारभ्य, आहारार्थमसंयतः । भुञ्जानोऽपि मेधावी, कर्मणा नोपलिप्यते ॥	५५. असंयमी गृहस्थ भिक्षु के भोजन के लिए पुत्र (सूअर या बकरे) को मार कर मांस पकाता है, मेधावी भिक्षु उसे खाता हुआ भी कर्म से लिप्त नहीं होता ।[106,107]

५६. मणसा जे पउस्संति
चित्तं तेसिं ण विज्जइ।
अणवज्जं अतहं तेसिं
ण ते संवुडचारिणो।२९।

मनसा ये प्रदुष्यन्ति,
चित्तं तेषां न विद्यते।
अनवद्यं अतथ्यं तेषां,
न ते संवृतचारिणः॥

५६. जो मन से प्रद्वेष करते हैं—निर्घृण होते हैं उनके कुशल-चित्त नहीं होता।[१०८] (केवल काय-व्यापार से) कर्मोपचय नहीं होता—यह उनका सिद्धान्त तथ्यपूर्ण नहीं है। उक्त सिद्धांत का प्रतिपादन करने वाले संवृतचारी नहीं होते—कर्म-बंध के हेतुओं में प्रवृत्त रहते हैं।

५७. इच्चेयाहिं दिट्ठीहिं
सायागारवणिस्सिया।
सरणं ति मण्णमाणा
सेवंती पावगं जणा।३०।

इत्येताभिः दृष्टिभिः,
सातागौरवनिश्रिताः।
शरणं इति मन्यमानाः,
सेवन्ते पापकं जनाः॥

५७. इन दृष्टियों को स्वीकार कर[१०९] वे वादी शारीरिक सुख में आसक्त हो जाते हैं। वे अपने मत को शरण मानते हुए सामान्य व्यक्ति की भांति पाप का सेवन करते हैं।

५८. जहा आसाविणिं णावं
जाइअंधो दुरूहिया।
इच्छई पारमागंतुं
अंतराले विसीयई।३१।

यथा आस्राविणीं नावं,
जात्यन्धः आरुह्य।
इच्छति पारमागन्तुं,
अन्तराले विषीदति॥

५८. जैसे जन्मान्ध मनुष्य सच्छिद्र नौका[११०] में बैठकर समुद्र का पार पाना चाहता है, (किन्तु उसका पार नहीं पाता), वह बीच में ही डूब जाता है।

५९. एवं तु समणा एगे
मिच्छदिट्ठी अणारिया।
संसारपारकंखी ते
संसारं अणुपरियट्टंति।३२।

एवं तु श्रमणाः एके,
मिथ्यादृष्टयः अनार्याः।
संसारपारकांक्षिणस्ते,
संसारं अनुपर्यटन्ति॥

५९. इसी प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण संसार का पार पाना चाहते हैं, (किन्तु उसका पार नहीं पाते), वे बार-बार संसार में भ्रमण करते हैं।

—त्ति बेमि॥

—इति ब्रवीमि॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

तइओ उद्देसो : तीसरा उद्देशक

६०. जं किंचि वि पूइकडं
सड्ढी आगंतु ईहियं।
सहस्संतरियं भुंजे
दुपक्खं चेव सेवई।१।

यत् किञ्चिदपि पूतिकृतं,
श्रद्धिना आगंतुकान् ईहितम्।
सहस्रान्तरितं भुञ्जीत,
द्विपक्षं चैव सेवते॥

६०. श्रद्धालु गृहस्थ[१११] ने आगन्तुक भिक्षुओं के लिए कुछ भोजन निष्पादित किया। उस (आधाकर्म) भोजन से दूसरा भोजन मिश्रित हो गया। वह पूतिकर्म[११२] (आधाकर्म से मिश्रित) भोजन यदि भिक्षु हजार घरों के अंतरित हो जाने पर भी लेता है, खाता है, फिर भी वह द्विपक्ष का सेवन करता है—[११३] प्रव्रजित होने पर भी भोजन के निमित्त गृहस्थ जैसा आचरण करता है।

६१. तमेव अवियाणंता
विसमंसि अकोविया।
मच्छा वेसालिया चेव
उदगस्सऽभियागमे।२।

तमेव अविजानन्तः,
विषमे अकोविदाः।
मत्स्याः वैशालिकाश्चैव,
उदकस्याभ्यागमे॥

६१. वे पूतिकर्म के सेवन से उत्पन्न दोष को नहीं जानते। वे कर्मबंध के प्रकारों[११४] को भी नहीं जानते।[११५]जिस प्रकार समुद्र में रहने वाले विशालकाय मत्स्य[११६] ज्वार के साथ नदी के मुहाने पर आते हैं।

६२. उदगस्स प्पभावेणं
सुक्कम्मि घातमेंति उ।
ढंकेहि य कंकेहि य
आमिसत्थेहिं ते दुही।३।

उदकस्याल्पभावेन,
शुष्के घातं यन्ति तु।
ध्वांक्षैश्च कंकैश्च,
आमिषार्थिभिस्ते दुःखिनः॥

६२. (ज्वार के लौट जाने पर) पानी कम हो जाता है[११७] और नदी की बालू सूख जाती है[११८] तब मांसार्थी[११९] ढंक और कंक पक्षियों के द्वारा[१२०] नोचे जाने पर वे मत्स्य दुःख का अनुभव करते हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं।[१२१]

६३. एवं तु समणा एगे
वट्टमाणसुहेसिणो ।
मच्छा वेसालिया चेव
घायमेसंतणंतसो ।४।

एवं तु श्रमणाः एके,
वर्तमानसुखैषिणः ।
मत्स्या वैशालिका इव,
घातमेष्यन्ति अनन्तशः ॥

६३. इसी प्रकार वर्तमान सुख की एपणा करने वाले कुछ श्रमण[१२२] इन विशालकाय मत्स्यों की भांति अनन्त बार मृत्यु को प्राप्त होते है ।[१२३]

६४. इणमण्णं तु अण्णाणं
इहमेगेसिमाहियं ।
देवउत्ते अयं लोए
बंभउत्ते त्ति आवरे ।५।

इदं अन्यत् तु अज्ञानं,
इह एकेषां आहृतम् ।
देवोप्तः अयं लोकः,
ब्रह्मोप्तः इति चापरे ॥

६४. यह एक अज्ञान है । कुछ प्रावादुकों द्वारा यह निरूपित है कि यह लोक देव द्वारा उप्त है (देव द्वारा इसका बीज-वपन किया हुआ है) ।[१२४] कुछ कहते है—यह लोक ब्रह्मा द्वारा उप्त है (ब्रह्मा द्वारा इसका बीज-वपन किया हुआ है) ।[१२५]

६५. ईसरेण कडे लोए
पहाणाइ तहावरे ।
जीवाजीवसमाउत्ते
सुहदुक्खसमण्णिए ।६।

ईश्वरेण कृतो लोकः,
प्रधानादिना तथा अपरे ।
जीवाजीवसमायुक्तः,
सुखदुःखसमन्वितः ॥

६५. कुछ कहते हैं—जीव-अजीव से युक्त तथा सुख-दुःख से समन्वित यह लोक ईश्वर द्वारा कृत है और कुछ कहते है—यह प्रधान (प्रकृति) द्वारा कृत है ।[१२६]

६६. सयंभुणा कडे लोए
इति वुत्तं महेसिणा ।
मारेण संथुया माया
तेण लोए असासए ।७।

स्वयंभुवा कृतो लोकः,
इति उक्तं महर्षिणा ।
मारेण संस्तृता माया,
तेन लोकः अशाश्वतः ॥

६६. स्वयंभू ने इस लोक को बनाया[१२७]—यह महर्षि ने कहा है । उस स्वयंभू ने मृत्यु से युक्त माया की रचना की,[१२८] इसलिए यह लोक अशाश्वत है ।

६७. माहणा समणा एगे
आह अंडकडे जगे ।
असो तत्तमकासी य
अयाणंता मुसं वए ।८।

ब्राह्मणाः श्रमणाः एके,
आहुः अंडकृतं जगत् ।
असौ तत्त्वमकार्षीच्च,
अजानन्तः मृषा वदन्ति ॥

६७. कुछ ब्राह्मण और श्रमण कहते हैं कि यह जगत् अण्डे से उत्पन्न हुआ है ।[१२९] उस ब्रह्मा ने सब तत्त्वों की रचना की है । जो इसे नही जानते वे मिथ्यावादी हैं ।

६८. सएहिं परियाएहिं
लोगं बूया कडे त्ति य ।
तत्तं ते ण वियाणंति
णायं णाऽऽसी कयाइ वि ।९।

स्वकैः पर्यायैः,
लोकं ब्रूयात् कृत इति च ।
तत्त्वं ते न विजानन्ति,
नायं नासीत् कदाचिदपि ॥

६८. अपने पर्यायों से लोक कृत है—ऐसा कहना चाहिए । (लोक किसी कर्त्ता की कृति है ऐसा मानने वाले) तत्त्व को नही जानते । लोक कभी नही था—ऐसा नहीं है ।[१३०]

६९. अमणुण्णसमुप्पायं
दुक्खमेव विजाणिया ।
समुप्पायमजाणंता
किह णाहिंति संवरं ? ।१०।

अमनोज्ञसमुत्पादं,
दुःखं एव विजानीयात् ।
समुत्पादं अजानन्तः,
कथं ज्ञास्यन्ति संवरम् ॥

६९. दुःख असंयम की उत्पत्ति है—यह ज्ञातव्य है । जो दुःख की उत्पत्ति को नहीं जानते वे संवर (दुःख-निरोध) को कैसे जानेंगे ?[१३१]

७०. सुद्धे अपावए आया
इहमेगेसिमाहियं ।
पुणो कीडापदोसेणं
से तत्थ अवरज्झई ।११।

शुद्धः अपापकः आत्मा,
इह एकेषां आहृतम् ।
पुनः क्रीडाप्रदोषेण,
स तत्र अपराध्यति ॥

७०. कुछ वादियों ने यह निरूपित किया है—आत्मा शुद्ध होकर अपापक—कर्म-मल रहित या मुक्त हो जाता है । वह फिर क्रीडा और प्रद्वेष (राग-द्वेष) से युक्त होकर मोक्ष में भी कर्म से बंध जाता है । (फलतः अनन्तकाल के बाद फिर अवतार लेता है ।)

७१. इह संवुडे मुणी जाए
पच्छा होइ अपावए ।
वियडं व जहा भुज्जो
णीरयं सरयं तहा ।१२।

इह संवृतः मुनिर्जातः,
पश्चाद् भवति अपापकः ।
विकटं इव यथा भूयो,
नीरजस्कं सरजस्कं तथा ॥

७१. मनुष्य जीवनकाल में संवृत मुनि होकर अपाप (कर्म-मल से रहित) होता है । फिर जैसे पानी स्वच्छ होकर पुनः मलिन हो जाता है, वैसे ही यह आत्मा निर्मल होकर पुनः मलिन हो जाता है ।[१३२]

७२. एयाणुवीइ मेहावी
बंभचेरं ण तं वसे।
पुढो पावाउया सव्वे
अक्खायारो सयं सयं ॥१३

एतद् अनुविविच्य मेधावी,
ब्रह्मचर्यं न तद् वसेत्।
पृथक् प्रावादुकाः सर्वे,
आख्यातारः स्वकं स्वकम् ॥

७२. इन वादों का अनुचिन्तन कर मेधावी मुनि उनके गुरुकुल में[133] निवास न करे। भिन्न-भिन्न मत वाले वे सब प्रावादुक अपने-अपने मत का आख्यान करते हैं—प्रशंसा करते हैं।

७३. सए सए उवट्ठाणे
सिद्धिमेव ण अण्णहा।
अधो वि होति वसवत्ती
सव्वकामसमप्पिए ॥१४

स्वके स्वके उपस्थाने,
सिद्धिरेव नान्यथा।
अधोऽपि भवति वशवर्ती,
सर्वकामसमर्पितः ॥

७३. (वे कहते हैं) अपने-अपने सांप्रदायिक अनुष्ठान में ही सिद्धि होती है, दूसरे प्रकार से नहीं होती। सिद्धि (मोक्ष) से पूर्व इस जन्म में भी[134] जितेन्द्रिय मनुष्य के प्रति सब कामनाएं समर्पित हो जाती हैं[135]—उसे आठों सिद्धियां उपलब्ध हो जाती हैं।

७४. सिद्धा य ते अरोगा य
इहमेगेसि आहियं।
सिद्धिमेव पुरोकाउं
सासए गढिया णरा ॥१५

सिद्धाश्च ते अरोगाश्च,
इह एकेषां आहृतम्।
सिद्धिमेव पुरस्कृत्य,
स्वाशये ग्रथिताः नराः ॥

७४. कुछ दार्शनिकों का यह निरूपण है कि (सिद्धि-प्राप्त मनुष्य शरीरधारी होने पर भी) सिद्ध ही होते हैं। वे रोगग्रस्त होकर नहीं मरते। (किन्तु वे स्वेच्छा से शरीर-त्याग कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।) इस प्रकार सिद्धि को ही प्रधान मानने वाले हिंसा आदि प्रवृत्तियों में आसक्त रहते हैं।[136]

७५. असंवुडा अणादीयं
भमिहिंति पुणो-पुणो।
कप्पकालमुवज्जंति
ठाणा आसुरकिब्बिसिय ॥१६

असंवृताः अनादिकं,
भ्रमिष्यन्ति पुनः पुनः।
कल्पकालं उपपद्यन्ते,
स्थानानि आसुरकिल्विषिकानि ॥

७५. वे असंवृत मनुष्य अनादि संसार में बार-बार भ्रमण करेंगे। वे कल्प-परिमित काल तक[137] आसुर और किल्विषिक[138] स्थानों में उत्पन्न होते रहेंगे।

—त्ति बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

चउत्थो उद्देसो : चौथा उद्देशक

७६. एते जिया भो! ण सरणं
बाला पंडियमाणिणो।
हिच्चा णं पुव्वसंजोगं
सितकिच्चोवएसगा ॥१

एते जिताः भो! न शरणं,
बालाः पंडितमानिनः।
हित्वा पूर्वसंयोगं,
सितकृत्योपदेशकाः ॥

७६. हे शिष्य! विषय और कषाय से पराजित वे प्रावादुक[139] शरण नहीं हो सकते। वे अज्ञानी होते हुए भी अपने आपको पंडित मानते हैं। वे पूर्व संयोगों (स्वजन, धन आदि) को छोड़कर पुनः गृहस्थोचित कार्यों का उपदेश देते हैं।[140]

७७. तं च भिक्खू परिण्णाय
विज्जं तेसु ण मुच्छए।
अणुक्कस्से अणवलीणे
मज्झेण मुणि जावए ॥२

तं च भिक्षुः परिज्ञाय,
विद्वान् तेषु न मूर्च्छेत्।
अनुत्कर्षः अनपलीनः,
मध्येन मुनिः यापयेत् ॥

७७. विद्वान् भिक्षु उनके मतवादों को जानकर उनमें मूर्च्छित न बने। वह मुनि अपना उत्कर्ष और दूसरे का अपकर्ष न दिखाए। इन दोनों से बचकर मध्य-मार्ग (तटस्थ भाव) से जीवन यापन करे।[141]

७८. सपरिग्गहा य सारंभा
इहमेगेसिमाहियं।
अपरिग्गहे अणारंभे
भिक्खू जाणं परिव्वए ॥३

सपरिग्रहाश्च सारम्भाः,
इह एकेषां आहृतम्।
अपरिग्रहः अनारम्भः,
भिक्षुः जानन् परिव्रजेत् ॥

७८. कुछ दर्शनों में यह व्याख्यात है कि परिग्रही[142] और आरम्भ (पचन-पाचन आदि) करने वाले भी मुनि हो सकते हैं। किन्तु ज्ञानी[143] भिक्षु अपरिग्रह और अनारंभ के पथ पर चले।

७९. कडेसु घासमेसेज्जा
विऊ दत्तेसणं चरे ।
अगिद्धो विप्पमुक्को य
ओमाणं परिवज्जए ।४।

कृतेषु ग्रासमेषयेत्,
विद्वान् दत्तैषणां चरेत् ।
अगृद्धः विप्रमुक्तश्च,
अवमानं परिवर्जयेत् ॥

७९. विद्वान् भिक्षु गृहस्थों द्वारा अपने लिए कृत[१४४] आहार की एषणा (याचना) करे और प्रदत्त आहार का भोजन करे।[१४५] वह आहार में अनासक्त[१४६] और अप्रतिबद्ध होकर अवमान संखडी[१४७] (विशेष प्रकार के भोज) में न जाए।

८०. लोगवायं णिसामेज्जा
इहमेगेसिमाहियं ।
विवरीयपण्णसंभूयं
अण्णवुत्त-तयाणुगं ।५।

लोकवादं निशाम्येत्,
इह एकेषां आहृतम् ।
विपरीतप्रज्ञासम्भूतं,
अन्योक्त-तदनुगम् ॥

८०. कुछ वादियों द्वारा निरूपित 'लोकवाद को[१४८] सुनो, जो विपरीत प्रज्ञा से उत्पन्न है और जो दूसरे की कही हुई बात का अनुगमन मात्र है।[१४९]

८१. अणंते णितिए लोए
सासए ण विणस्सई ।
अंतवं णितिए लोए
इइ धीरोऽतिपासई ।६।

अनन्तो नित्यो लोकः,
शाश्वतः न विनश्यति ।
अन्तवान् नित्यो लोकः,
इति धीरोऽतिपश्यति ॥

८१. कुछ मानते हैं कि लोक नित्य, शाश्वत और अविनाशी है, इसलिए अनन्त है। किन्तु धीर पुरुष देखता है कि लोक नित्य होने पर भी सान्त है।

८२. अपरिमाणं वियाणाइ
इहमेगेसि आहियं ।
सव्वत्थ सपरिमाणं
इइ धीरोऽतिपासई ।७।

अपरिमाणं विजानाति,
इह एकेषां आहृतम् ।
सर्वत्र सपरिमाणं,
इति धीरोऽतिपश्यति ॥

८२. ज्ञात हो रहा है कि लोक अपरिमित है, वह कुछ धार्मिकों द्वारा आख्यात है, किन्तु धीर पुरुष सर्वत्र (सब अवस्थाओं में) उसे परिमित देखता है।[१५०]

८३. जे केइ तसा पाणा
चिट्ठंतदुव थावरा ।
परियाए अत्थि से अंजू
जेण ते तसथावरा ।८।

ये केचित् त्रसाः प्राणाः,
तिष्ठन्ति अथवा स्थावराः ।
पर्यायः अस्ति स ऋजुः,
येन ते त्रसस्थावराः ॥

८३. इस लोक में कुछ प्राणी त्रस हैं और कुछ स्थावर हैं। यह उनका व्यक्त पर्याय है। (अपने-अपने व्यक्त पर्याय के कारण) कुछ त्रस होते हैं और कुछ स्थावर होते हैं।[१५१]

८४. उरालं जगतो जोगं
विवज्जासं पलेंति य ।
सव्वे अकंतदुक्खा य
अओ सव्वे अहिंसगा ।९।

उदारं जगतः योगं,
विपर्यासं परायन्ति च ।
सर्वे अकान्तदुःखाश्च,
अतः सर्वे अहिंस्यकाः ॥

८४. जगत् में घटित होने वाली विभिन्न अवस्थाएं हमारे सामने हैं। दूसरी विपरीत अवस्था के आने पर पहली अवस्था प्रलीन हो जाती है। कोई भी जीव दुःख नहीं चाहता,[१५२] इसलिए सभी जीव अहिंस्य हैं—हिंसा करने योग्य नहीं हैं।[१५३]

८५. एयं खु णाणिणो सारं
जं ण हिंसइ कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव
एयावंतं वियाणिया ।१०।

एतत् खलु ज्ञानिनः सारं,
यत् न हिनस्ति कञ्चनम् ।
अहिंसां समतां चैव,
एतावत् विजानीयात् ॥

८५. ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। समता अहिंसा है, इतना ही उसे जानना है।[१५४]

८६. वुसिते विगयगिद्धी य
आयाणं सारक्खए ।
चरियासणसेज्जासु
भत्तपाणे य अंतसो ।११।

व्युषितः विगतगृद्धिश्च,
आत्मानं संरक्षेत् ।
चर्यासनशय्यासु,
भक्तपाने च अन्तशः ॥

८६. संयमी धर्म में स्थित रहे,[१५५] किसी भी इन्द्रिय-विषय में आसक्त न बने,[१५६] आत्मा का संरक्षण करे[१५७] और जीवन-पर्यन्त चर्या, आसन, शय्या और भक्तपान के विषय में होने वाले असंयम से अपने आपको बचाए।

८७. एतेहिं तिहिं ठाणेहिं
संजए सययं मुणी।
उक्कसं जलणं णूम-
मज्झत्थं च विगिंचए ।१२।

एतेषु त्रिषु स्थानेसु,
संयतः सततं मुनिः।
उत्कर्ष ज्वलनं 'णूमं',
अध्यस्तं च विवेचयेत् ॥

८७. मुनि इन तीन स्थानों—ईर्या समिति, आसन-शयन और भक्त-पान में सतत संयत रहे। वह मान, क्रोध, माया[158] और लोभ[159] का विवेक करे—उन्हें आत्मा से पृथक् करे।

८८. समिए तु सया साहू
पंचसंवरसंवुडे ।
सितेहिं असिते भिक्खू
आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ।१३।

समितस्तु सदा साधुः,
पञ्चसंवरसंवृतः ।
सितेषु असितः भिक्षुः,
आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥

८८. पांच समितियों से सदा समित, पांच संवरों से संवृत भिक्षु[160] (नाना प्रकार की आसक्तियों और मतवादों से) बंधे हुए लोगों के बीच में[161] अप्रतिबद्ध रहता हुआ अंतिम क्षण तक मोक्ष के लिए परिव्रजन करे।

—त्ति बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ।

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन १

श्लोक १ :

१. बोधि को प्राप्त............तोड़ डालो (बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा)

'आचारः प्रथमो धर्मः'—यह आचार-शास्त्र का प्रसिद्ध सूत्र है, किन्तु इस सूत्र में आचार का महत्व प्रतिपादित हुआ है, उसकी पृष्ठभूमी का प्रतिपादन नहीं है। भगवान् महावीर के आचार-शास्त्र का सूत्र है—'ज्ञानं प्रथमो धर्मः'। पहले ज्ञान फिर आचार।[1] ज्ञान के बिना आचार का निर्धारण नहीं हो सकता और अनुपालन भी नहीं हो सकता। ज्ञानी मनुष्य ही आचार और अनाचार का विवेक करता है तथा अनाचार को छोड़ आचार का अनुपालन करता है। 'बुज्झेज्ज तिउट्टेज्जा'—इस श्लोकांश में यही सत्य प्रतिपादित हुआ है। पहले बंधन को जानो फिर उसे तोड़ो। बंधन क्या है ? उसके हेतु क्या हैं ? उसे तोड़ने के उपाय क्या हैं ? .न सबको जानने पर ही उसे तोडा जा सकता है। यह दृष्टि न केवल ज्ञानवाद है और न केवल आचारवाद है। यह दोनों का ़मन्वय है।

चूर्णिकार ने बुज्झेज्ज, उवलभेज्ज, भिंदेज्ज, जहेज्ज और आगमेज्ज—इन सबको ज्ञानार्थक धातु माना है।[2] बोधि, उपलब्धि, ेद या विवेक, प्रहाण और आगम—ये सब ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

. तोड़ डालो (तिउट्टेज्जा)

इसका अर्थ है—तोडना। त्रोटन दो प्रकार का होता है—द्रव्य-त्रोटन और भाव-त्रोटन। द्रव्य-त्रोटन—अर्थात् किसी भी ाद्गलिक पदार्थ का टूटना। भाव-त्रोटन के तीन साधन हैं—ज्ञान, दर्शन और चरित्र। इन तीन साधनों से अज्ञान, अविरति और ाथ्यादर्शन को तोडना भाव-त्रोटन है। प्रमाद, राग-द्वेष, मोह आदि को तोडना तथा आठ प्रकार के कर्मों के बंधन को तोडना भी ाव-त्रोटन है।[3]

महावीर ने (वीरे)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—तीर्थंकर किया है।[4]

चूर्णिकार ने इस शब्द के स्थान पर 'धीरे' शब्द मानकर उसका अर्थ—बुद्धि आदि गुणों को धारण करने वाला किया है।[5]

बंधन किसे.........तोड़ा जा सकता है ? (किमाह बंधणं.........आणं तिउट्टइ ?)

जंबू ने आर्य सुधर्मा से पूछा—भगवान् महावीर की वाणी में बंधन क्या है और उसे कैसे तोड़ा जा सकता है ? इन दो ाों के उत्तर में आर्य सुधर्मा ने कहा—परिग्रह बंधन है, हिंसा बंधन है।[6] बंधन का हेतु है—ममत्व।[7] बंधन-मुक्ति के उपाय हैं—

.सवेआलियं, ४ श्लोक १० : पढमं णाणं तओ दया।

चूर्णि, पृष्ठ ११ : बुज्झेज्ज वा उवलभेज्ज वा भिंदेज्ज वा। एवमन्येऽपि ज्ञानार्था धातवो वक्तव्याः, तद् यथा—जहेज्ज वा आगमेज्ज वा।

चूर्णि, पृष्ट २१ : तिउट्टेज्ज त्रोडेज्ज। सा दुविधा—दव्वत्रोडणा य भावत्रोडणा य। दव्वे देसे सव्वे य। देसे एगतंतुणा एगगुणेण वा छिण्णेण दोरो त्रुट्टो बुज्झति, सव्वेण वि त्रुटो त्रुटो चेव भण्णति। भावतोट्टणा भावेणेव भावो त्रोटेतव्वो, णाण-दंसण-चरित्ताणि त्रोडयित्ता तेहिं चेव करणभूतेहिं अण्णाण-अविरति-मिच्छादरिसणाणि त्रोडितव्वाणि, जधुद्दिट्ठा वा पमातादिबंधहेतू त्रोडेज्ज, बंधं ' अट्ठ कम्मणियलाणि त्रोडेज्ज।

'त्ति, पत्र १३ : वीरः तीर्थकृत्।

'र्णि, पृष्ठ २१ : धीरो इति बुद्ध्यादीन् गुणान् दधातीति धीरः।

ायगडो १।१।२,३।

ी, १।१।४।

(१) धन और परिवार में अत्राण-दर्शन और (२) जीवन का मृत्यु की दिशा में संधावन।[1]

व्यवहार के धरातल पर मनुष्य का पुरुषार्थ दुःख की निवृत्ति और सुख की उपलब्धि के लिए होता है। अध्यात्म के धरातल पर मनुष्य बंधन की निवृत्ति और मोक्ष की उपलब्धि के लिए पुरुषार्थ करता है। बंधन दुःख है और मोक्ष सुख है। अतः दुःख और सुख ही अध्यात्म की भाषा में बंध और मोक्ष—इन शब्दों द्वारा प्रतिपादित हुए हैं।

श्लोक २ :

५. श्लोक २।

कर्म-बंध के मुख्य हेतु दो हैं—आरंभ और परिग्रह। राग-द्वेष, मोह आदि भी कर्म-बंध के हेतु हैं किन्तु वे भी आरंभ और परिग्रह के बिना नहीं होते। अतः मुख्यतः इन दो हेतुओं—आरंभ और परिग्रह का ही ग्रहण किया गया है। इन दोनों में भी परिग्रह गुरुतर कारण है। परिग्रह के लिए ही आरंभ किया जाता है। अतः सबसे पहले सूत्रकार प्रस्तुत श्लोक में परिग्रह का निर्देश करते हैं। प्राणातिपात आदि पांच आस्रवों में भी परिग्रह गुरुतर माना गया है, अतः उसका उल्लेख पहले हुआ है—यह चूर्णिकार का अभिमत है।[2]

वृत्तिकार का अभिमत है कि सभी प्रकार के आरंभ कर्मों के उपादान कारण हैं। ये आरंभ प्रायशः 'मैं' और 'मेरा' इससे उद्भूत होते हैं। 'मैं' और 'मेरा' परिग्रह का द्योतक है। अतः प्रस्तुत श्लोक में सबसे पहले परिग्रह का निर्देश किया गया है।[3]

चूर्णि और वृत्ति के अनुसार परिग्रह बंध का हेतु है—यह प्रमाणित होता है। यदि परिग्रह को बंध का हेतु न माना जाए तो 'किमाह बंधणं वीरे'—इस प्रश्न का उत्तर मूल पाठ में उपलब्ध नहीं होता। परिग्रह बंधन है—यह स्वीकार करने पर ही उस प्रश्न का उत्तर प्रस्तुत श्लोक में मिल जाता है।

६. चेतन (चित्तमंतं)

चित्त के अनेक अर्थ हैं—जीव, चेतना[4], उपयोग, ज्ञान[5]। चित्तवत् का अर्थ है—जीव के लक्षणों से युक्त, चेतनावान् अथवा ज्ञानवान्। विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं पृ० १२४, १२५।

७. तनिक भी (किसामवि)

कृश, तनु और तुच्छ—ये एकार्थक शब्द हैं। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसे परिग्रह का विशेषण मानकर इसका अर्थ—तृणतुषमात्र परिग्रह किया है।[6] हमने इसको ममत्व या परिग्रह-बुद्धि के साथ जोड़कर इसका अर्थ—तनिक भी—किया है। प्रस्तुत शब्द 'किसा' में आकार अलाक्षणिक है। वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप में 'कस' का अर्थ—परिग्रह ग्रहण करने की बुद्धि से जीव का गमन-परिणाम—किया है।[7] चूर्णिकार ने 'किसा' का अर्थ इच्छामात्र या प्रार्थना या कषाय किया है। वैभव न होने पर भी कषाय की बुद्धि से ग्रहण किए जाने वाले वस्त्र-पात्र भी परिग्रह बन जाते हैं—यह उनका अभिमत है।[8]

---

१. सूयगडो, १।१।५ : वित्तं सोयरिया चेव, सव्वमेयं ण ताणइ।
संधाति जीवितं चेव, कम्मणा उ तिउट्टइ॥

२. चूर्णि, पृष्ठ २१, २२ : उक्तं हि—"आरम्भ—परिग्रहौ बन्धहेतू" [ ] येऽपि च रागादयः तेऽपि नाऽऽरम्भपरिग्रहा-वन्तरेण भवन्तीति, तेन तावेव वा गरीयांसाविती कृत्वा सूत्रेणैवोपनिबद्धौ, तत्रापि परिग्रहनिमित्तं आरम्भः क्रियत इति कृत्वा स एव गरीयस्त्वात् पूर्वमपदिश्यते, पंचण्हं वा पाणातिवातादिआसवाणं परिग्गहो गुरुअतरो त्ति कातुं तेण पुव्वं परिग्गहो वुच्चति।

३. वृत्ति, पत्र १३ : सर्वारम्भाः कर्मोपादानरूपाः प्रायश आत्मात्मीयग्रहोत्थाना इतिकृत्वाऽऽदौ परिग्रहमेव दर्शितवान्।

४. दशवैकालिक, जिनदास चूर्णि, पृष्ठ १३५ : चित्तं जीवो भण्णइ...............चेयणा।

५. वृत्ति, पत्र १३ : चित्तम्—उपयोगो ज्ञानं।

६. (क) चूर्णि, पृष्ठ २२ : कृशं तनु तुच्छमित्यनर्थान्तरम्, तृणतुषमात्रमपि।
(ख) वृत्ति, पत्र १३ : कृशमपि स्तोकमपि तृणतुषादिकमपीत्यर्थः।

७. वृत्ति, पत्र १३ : यदि वा कसनं कसः—परिग्रहग्रहणबुद्ध्या जीवस्य गमनपरिणाम इति यावत्।

८. चूर्णि, पृष्ठ २२ : अथवा कषायमपीति इच्छामात्रं प्रार्थना अथवा कषायतः असत्यपि विभवे कषायतः परिगृह्यमाणानि वस्त्र-पात्राणि परिग्रहो भवति।

८. दूसरों के परिग्रह का अनुमोदन करता है (अण्णं वा अणुजाणइ)

चूर्णिकार का अभिमत है कि प्रस्तुत श्लोक में स्वयं परिग्रह न रखने, दूसरों से परिग्रह न रखवाने का उल्लेख नहीं है, किन्तु इस तृतीय चरण के द्वारा ये दोनों बातें ग्रहीत की गई हैं।[१]

९. दुःख से (दुक्खा)

दुःख के दो अर्थ हैं—कर्म और कर्म-विपाक।[२] कर्म बंधन है और विपाक उसका परिणाम। परिग्रही मनुष्य बंधन से मुक्त नहीं हो सकता। अप्राप्त परिग्रह के प्रति उसकी तीव्र आकांक्षा होती है, जो परिग्रह नष्ट हो गया उसके प्रति उसके मन में तीव्र अनुताप होता है, जो है उसके संरक्षण में पूरा आयास करता है और परिग्रह के उपभोग से कभी तृप्ति नहीं होती, अतृप्ति बढ़ती है। ये सारे दुःख ही दुःख हैं। यहां बंध के अर्थ में दुःख शब्द प्रयुक्त है।[३]

श्लोक ३ :

१०. हनन करता है (तिवातए)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने मूलतः इसको 'त्रिपातयेत्' मानकर व्याख्या की है। उन्होंने 'त्रि' शब्द से आयुष्य-प्राण, बल-प्राण और शरीर-प्राण अथवा मन, वचन, काया का ग्रहण किया है। वैकल्पिक रूप में उन्होंने यहां अकार का लोप मान कर मूल शब्द 'अतिपातयेत्' माना है।[४]

प्रस्तुत प्रसंग में यह वैकल्पिक अर्थ ही उचित लगता है।

११. वह अपने वैर को बढ़ाता है (वेरं वड्ढइ अप्पणो)

चूर्णिकार ने वैर की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'विरज्यते येन तद् वैरम्'—जिससे विरति की जाती है, वह वैर है।[५] इस शब्द के अनेक अर्थ हैं[६]—

१. आठ कर्म।
२. पाप।
३. वैर।
४. वर्ज्य।

प्रस्तुत प्रसंग में "वैर" शब्द बन्धन के अर्थ में प्रयुक्त है। प्रस्तुत श्लोक में हिंसा करना, हिंसा करवाना, और हिंसा करने वाले का अनुमोदन करना—इन तीनों का कथन है। चूर्णिकार का कथन है कि कुछ दार्शनिक स्वयं हिंसा नहीं करते किन्तु दूसरों से करवाते हैं तथा अनुमोदन भी करते हैं। कुछ दार्शनिक स्वयं हिंसा करते हैं, दूसरों से नहीं करवाते। कुछ दार्शनिक तीनों प्रकार से हिंसा करते हैं।[७]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ २२ : सूचनामात्रं सूत्रं इति कृत्वा स्वयङ्करण कारवणानि अणुमतीए गिहिताइं।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ २२ : दुक्खं कर्म तद्विपाकश्च।
(ख) वृत्ति, पत्र १३ : दुःखम्—अष्टप्रकारं कर्म तत्फलं वा असातोदयादिरूपं तस्मात्।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ २२।
(ख) वृत्ति, पत्र १३ : परिग्रहेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्क्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगे चातृप्तिरित्येवं परिग्रहे सति दुःखात्मकाद्बन्धनान्न मुच्यत इति।

४. (क) चूर्णि, पृष्ठ २२ : तिवायए त्ति आयुर्बलशरीरप्राणेभ्यो त्रिभ्यः पातयतीति त्रिपातयति, त्रिभ्यो वा मनो-वाक्-काययोगेभ्यः पातयति, करणभूतैर्वा मनो-वाक्-काययोगैः पातयतीति त्रिपातयति। अतिपातयतीति वा वक्तव्यम्, अकारलोपं कृत्वाऽपदिश्यते तिपातयति।
(ख) वृत्ति, पत्र १४।

५. चूर्णि, पृष्ठ २२ : विरज्यते येन तद् वैरम्।

६. वही, पृष्ठ २२ : अथवा वेरमिति अट्ठप्पगारं कम्मं। उक्तं हि—पावे वेरे वज्जेति ता वेरं।

७. वही, पृष्ठ २२ : कश्चित् स्वयं त्रिविधेऽपि करणे वर्त्तते, कश्चिद् द्विविधे, कश्चिदेकविधे।

परिग्रह के लिए हिंसा होती है। जहां परिग्रह है वहां हिंसा का होना निश्चित है, इसलिए परिग्रह और हिंसा—ये दोनों परस्पर संबंधित हैं। ये एक ही वस्त्र के दो अंचल हैं। ये दोनों बन्धन के कारण हैं। यद्यपि राग और द्वेष भी बंधन के कारण हैं, किन्तु वे भी परिग्रह और हिंसा से उत्तेजित होते हैं, इसलिए परिग्रह और हिंसा बन्धन के पार्श्ववर्ती कारण बन जाते हैं।

परिग्रही व्यक्ति प्राणियों के प्राणों का वियोजन करता है। इस क्रिया से वह सैंकड़ों जन्मों तक चलने वाला वैर बांधता है। इस प्रकार वह दुःख की परम्परा से कभी मुक्त नहीं हो पाता। एक दुःख से मुक्त होते ही दूसरे दुःख में फंस जाता है।

चूर्णिकार ने यहां तीन उदाहरणों का उल्लेख मात्र किया है—१. शुनकवध, २. वारत्तक अमात्य ३. मधु बिन्दु।[1]

श्लोक ४ :

१२. कुल में (कुले)

चूर्णिकार ने कुल शब्द से मातृपक्ष और पितृपक्ष दोनों का ग्रहण किया है।[2] वृत्तिकार ने राष्ट्रकूट आदि कुलों का ग्रहण किया है।[3]

१३. ममत्व रखता है (ममाती)

मनुष्य माता, पिता, भाई, भगिनी, भार्या, मित्र आदि में ममत्व रखता है। वह मानता है कि ये सब मेरे है।[4]

१४. इस प्रकार परस्पर होने वाली मूर्च्छा से मूर्च्छित होकर (अण्णमण्णेहिं मुच्छिए)

चूर्णिकार ने यहां चतुर्भंगी प्रस्तुत की है—[5]

(१) कोई मनुष्य माता-पिता आदि में मूर्च्छित, किन्तु वे इसमें मूर्च्छित नहीं।

(२) वे इसमें मूर्च्छित किन्तु वह उनमें मूर्च्छित नहीं।

(३) वह उनमें मूर्च्छित तथा वे भी इसमें मूर्च्छित।

(४) शून्य—०।

प्रस्तुत पद तृतीय भंग का द्योतक है। वृत्तिकार ने इसका संस्कृतरूप 'अन्येषु अन्येषु' मानकर इस प्रकार अर्थ किया है—व्यक्ति पहले माता-पिता के प्रति ममत्व रखता है, फिर पत्नी आदि के प्रति और फिर पुत्र, पौत्र के प्रति ममत्व रखता है।[6]

१५. नष्ट होता रहता है (लुप्पती)

ममत्व के कारण वह मनुष्य बन्धन-मुक्ति के मार्ग पर नहीं चल सकता। ममत्व या मूर्च्छा बन्धन का हेतु है, (या) दुःख का हेतु है। यहां नष्ट होने का अर्थ है दुःख से मुक्त नहीं होना।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ २२। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने इनका स्थल-निर्देश फुट नोट नं ३ में इस प्रकार किया है—(१) पिंडनिर्युक्ति गाथा ६२८ तथा टीका। आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १३०३, हारिभद्रीया वृत्ति पत्र ७०९ अथा आवश्यकचूर्णि, विभाग २, पत्र १९७।

२. चूर्णि, पृष्ठ २२ : कुले इति मातृ-पितृपक्षे।

३. वृत्ति, पत्र १४ : राष्ट्रकूटादौ कुले।

४. वृत्ति, पत्र १४ : मातृपितृभ्रातृभगिनीभार्यावयस्यादिषु ममायमिति ममत्ववान्।

५. चूर्णि, पृष्ठ २२ : एत्थ चउभंगो—सो तेसु मुच्छितो ण ते तत्थ मुच्छिता १ (ते तत्थ मुच्छिता) ण सो तेसु २। सूत्राभिहितस्तु अण्णमण्णेहिं मुच्छित्ते त्ति सो वि तेसु ते वि तम्मि त्ति ३। चतुर्थः शून्य ४।

६. वृत्ति, पत्र १४ : अन्येष्वन्येषु च मूर्छितो गृद्धोऽध्युपपन्नो, ममत्वबहुल इत्यर्थः, पूर्वं तावन्मातापित्रोस्तदनु भार्यायां पुनः पुत्रादौ स्नेहवानिति।

श्लोक ५ :

१६. भाई और बहिन (सोयरिया)

इसका संस्कृत रूप है 'सोदर्याः'। इससे वे व्यक्ति गृहीत हैं जो नालबद्ध होते हैं, एक ही उदर से उत्पन्न होते हैं, जैसे—भाई-बहिन।[1]

१७. ये सब त्राण नहीं दे सकते (सव्वमेयं ण ताणइ)

धन, भाई-बहिन आदि त्राण नहीं दे सकते। चूर्णिकार ने यहां 'पालक पादच्छेद' के उदाहरण की ओर संकेत किया है।[2] आवश्यक चूर्णि में यह उदाहरण 'सुलस' के नाम से निर्दिष्ट है। संभव है पालक का ही दूसरा नाम सुलस हो। वह उदाहरण संक्षेप में इस प्रकार है—

सुलस कालसौकरिक का पुत्र था। कालसौकरिक मर कर सातवीं नरक में उत्पन्न हुआ। पारिवारिक लोगों ने सुलस को पिता का उत्तराधिकारी नियुक्त करना चाहा। सुलस ने इन्कार कर दिया। उसने कहा—पिता प्रतिदिन पांचसौ भैंसों को मारता था। मैं यह कार्य नहीं कर सकता। हिंसा नरक का कारण है। पारिवारिक लोगों ने कहा—हम सब तुम्हारे पाप का विभाग ले लेंगे। तुम केवल एक भैंसे को मारना, शेष हम सब कर लेंगे। शुभ मुहूर्त में पुत्र को अभिषिक्त करना था। एक भैंसे को सजाया गया। उसके गले में लाल कणेर की माला डाली गई और कुल्हाड़ी पर लाल चन्दन का लेप किया गया। कुल्हाड़ी को सुलस के हाथ में देकर पारिवारिक लोगों ने कहा—'तुम भैंसे पर प्रहार कर अपने व्यवसाय का प्रारंभ करो।' सुलस ने उस कुल्हाड़ी का प्रहार अपने पैरों पर किया। वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा। सचेत होने पर उसने अपने स्वजनों से कहा—मेरा यह दुःख आप बंटाइए। उन्होंने कहा—दुःख नहीं बांटा जा सकता। हम इसका विभाग लेने में असमर्थ हैं। सुलस ने कहा—फिर आप सब ने यह कैसे कहा कि पांच सौ भैंसों के मारने के पाप का हम विभाग कर लेंगे। कोइ भी व्यक्ति, चाहे फिर वह अपना सगा भाई ही क्यों न हो, दुःख को नहीं बंटा सकता।[3]

१८. जीवन मृत्यु की ओर दौड़ रहा है (संधाति जीवितं चेव)

जीवन का जो एक-एक क्षण बीत रहा है, उससे मृत्यु-काल सन्निकट होता है। एक-एक क्षण के आयुष्य का बीतने का अर्थ ही है—मृत्यु की ओर बढ़ना। इसी प्रकार जीवन की भांति कामभोग भी विनाश की ओर ही बढ़ते हैं। वे निरंतर विनष्ट होते रहते हैं। जीवन और कामभोग दोनों अनित्य हैं।[4]

१९. कर्म के बन्धन को तोड़ डालता है (कम्मणा उ तिउट्टइ)

जब व्यक्ति इस सत्य को जान लेता है कि इस संसार में कोई भी त्राण नहीं दे सकता और यह जीवन निरंतर मृत्यु की ओर दौड़ा जा रहा है, तब वह कर्म के बंधन को तोड़ने में सफल हो जाता है।

कर्म बंधन है। उसके परोक्ष हेतु हैं—राग और द्वेष तथा प्रत्यक्ष हेतु हैं—परिग्रह और हिंसा। कारण को मिटाए बिना कार्य को नहीं मिटाया जा सकता। बंधन के कारणों को तोड़े बिना बंधन को नहीं तोड़ा जा सकता। परिग्रह और हिंसा की मूर्च्छा को तोड़ना ही वह सत्य है जिसे जान लेने पर बंधन को तोड़ा जा सकता है।

प्रस्तुत श्लोक में अध्यात्म चेतना के जागरण के आधारभूत दो तत्त्व बतलाए गए हैं—१. धन और परिवार में त्राण देने की क्षमता का अभाव २. जीवन की नश्वरता और तीसरा आधारभूत तत्त्व है—आत्मा की परिणामि-नित्यता। उसकी चर्चा इसी अध्ययन के सातवें श्लोक से प्रारंभ होती है और अड़सठवें श्लोक में उसका उपसंहार होता है।

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ २३ : सोदरिया णाम माता भगिणी णालबद्धा।
   (ख) वृत्ति, पत्र १४ : सोदर्या भ्रातृभगिन्यादयः।

२. चूर्णि, पृष्ठ २३ : पालकपादच्छेदोदाहरणं।

३. आवश्यक चूर्णि, उत्तर भाग, पृष्ठ १६९, १७०।

४. चूर्णि, पृ २३ : समस्तं धाति संधाति मरणाय धावति, जीवनवत् कामभोगाऽपि हि अग्नि-चौरादिविनाशाय धावंति (धावंति)। एवं जीवितं कामभोगांश्चानित्यात्मकं जानीहि।

कान्ट ने नैतिकता के तीन आधारभूत तत्त्व माने हैं। वे ये हैं—(१) संकल्प की स्वतंत्रता (२) आत्मा की अमरता (३) ईश्वर।

श्लोक ६ :

२०. श्रमण-ब्राह्मण (समणमाहणा)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने श्रमण शब्द से शाक्य आदि श्रमणों का तथा माहन शब्द से परिव्राजक आदि का ग्रहण किया है।[1] चूर्णिकार ने वैकल्पिक रूप में श्रमण का अर्थ साधु और माहन का अर्थ श्रमणोपासक किया है। अथवा तत्पुरुष समास कर श्रमण को भी माहन माना है।[2]

२१. ग्रंथों (परिग्रह और परिग्रह-हेतुओं) (गंथे)

ग्रंथ का शाब्दिक अर्थ है—बांधने वाला। उसके अनेक प्रकार हैं—सजीव या निर्जीव पदार्थ, धन या पारिवारिक जन, आरंभ और परिग्रह।[3]

२२. नहीं जानते हुए (अयाणंता)

इसका अर्थ है—विरति और अविरति के दोषों को नहीं जानने वाला।[4]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—परमार्थ को नहीं जानने वाला किया है।[5]

प्रस्तुत अध्ययन के ६८वें श्लोक के आधार पर इसका अर्थ जगत् और आत्मा के स्वरूप को नहीं जानने वाला तथा ६९वें श्लोक के आधार पर दुःख और दुःख के हेतुओं को नहीं जानने वाला, फलित होता है।

२३. गर्व करते हैं (विउस्सिता)

चूर्णिकार और वृत्तिकार इसके अर्थ में एक मत नहीं हैं। चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—विविध प्रकार से बद्ध तथा वीभत्सरूप में अहंमन्यता रखने वाला।[6]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—अनेक प्रकार से दृढ़ता से बद्ध अर्थात् अपने मत में अभिनिविष्ट।[7]

श्लोक ७ :

२४. कुछ दार्शनिकों (भूतवादियों) के मत में (एगेसिं)

इस शब्द से पांच महाभूतवादियों का ग्रहण किया गया है।[8] वृत्तिकार ने इस शब्द से बार्हस्पत्यमतानुसारी (लोकायतिक) भूतवादियों का ग्रहण किया है।[9]

वृत्तिकार ने एक प्रश्न उठाया है कि सांख्य, वैशेषिक आदि भी पांच महाभूतों का सद्भाव मानते हैं फिर प्रस्तुत श्लोक में प्रतिपादित पांच महाभूतों के कथन को लोकायतिक मत की अपेक्षा में ही क्यों मानना चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान वे

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ २३ : श्रमणाः शाक्यादयः, माहणा परिव्राजकादयः।
   (ख) वृत्ति, पत्र १४ : श्रमणाः शाक्यादयो बार्हस्पत्यमतानुसारिणश्च ब्राह्मणाः।

२. चूर्णि, पृष्ठ २३ : समणा लिंगत्था माहणा समणोवासगा तत्पुरुषो वा समासः श्रमणा एव माहणा श्रमणमाहणाः।

३. चूर्णि, पृष्ठ २३।

४. चूर्णि पृष्ठ २३ : अयाणंता विरति—अविरति दोसे य।

५. वृत्ति पत्र १४ : परमार्थमजानाना।

६. चूर्णि, पृष्ठ २३ : विओसिता, बद्धा इत्यर्थः, वीभत्सं वा उत्सृता विउस्सिता।

७. वृत्ति, पत्र १४ : विविधम्—अनेकप्रकारम् उत्—प्राबल्येन सिता—बद्धाः स्वसमयेष्वभिनिविष्टाः।

८. चूर्णि, पृष्ठ २३ : एगेसिं ण सव्वेसिं, जे पंचमहब्भूतवाइया तेसिं एवं।

९. वृत्ति, पत्र १५ : एकेषां भूतवादिनाम् आख्यातानि प्रतिपादितानि तत्तीर्थकृता तैर्वा भूतवादिभिर्बार्हस्पत्यमतानुसारिभिः।

स्वयं देते हुए कहते हैं कि सांख्य प्रधान से महान्, महान् से अहंकार और अहंकार से षोडशक आदि तत्त्व मानते हैं। वैशेषिक काल, दिग्, आत्मा आदि तथा अन्य वस्तु-समूह को भी मानते हैं। लोकायतिक पांच भूतों के अतिरिक्त किसी आत्मा आदि तत्त्व का अस्तित्व नहीं मानते। अतः प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या उन्हीं के मतानुसार की गई है।[1]

२५. पांच महाभूत हैं (पंच महब्भूया)

पांच महाभूत हैं—पृथिवी, अप्, तेजस्, वायु और आकाश।

ये भूत सर्वलोकव्यापी हैं, अतः इन्हें 'महाभूत' कहा गया है।[2]

शरीर में जो कठोर भाग है वह पृथिवी भूत है।

शरीर में जो कुछ रूप या द्रव भाग है वह अप् भूत है।

शरीर में जो उष्ण स्वभाव या शरीराग्नि है वह तेजस् भूत है।

शरीर में जो चल स्वभाव या उच्छ्वास-निश्वास है वह वायु भूत है।

शरीर में जो शुषिर स्थान है वह आकाश भूत है।[3]

श्लोक ८ :

२६. इनके संयोग से (तेब्भो)

यह संस्कृत के 'तेभ्यः' का प्रतिरूपक पद है। इसका अर्थ है—इन पांच महाभूतों के संयोग से।[4] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—काया के आकार में परिणत इन पांच महाभूतों से—ऐसा किया है।[5] चूर्णिकार ने 'ते भो' ऐसा वैकल्पिक पाठ मानकर 'भो' का अर्थ—'शिष्यामंत्रण' किया है।[6]

२७. एक—आत्मा (एगो)

यहां एक शब्द 'आत्मा' का द्योतक है। एक ऐसा चेतन द्रव्य (आत्मा) जो भूतों से अव्यतिरिक्त है।[7]

भूतवादियों के अनुसार यह समूचा लोक भौतिक है। चेतन और अचेतन सभी द्रव्य भौतिक हैं।[8]

२८. विनाश होने पर (विणासे)

वृत्तिकार का मत है कि पांच भूतों का काया के आकार में परिणमन तथा उनमें चैतन्य की अभिव्यक्ति हो जाने पर पांच भूतों में से किसी एक भूत की कमी अर्थात् वायु या तेजस् की कमी या दोनों की कमी हो जाने पर प्राणी मृत घोषित हो जाता है।[9]

---

१. वृत्ति, पत्र १५।

२. वृत्ति, पत्र १५। महान्ति च तानि भूतानि च महाभूतानि, सर्वलोकव्यापित्वान्महत्त्वविशेषणम्।

३. चूर्णि, पृष्ठ २३, २४ : तत्र यो ह्यस्मिन् शरीरके कठिनभावो तं पुढविभूतं, यावत् किञ्चिद् रूपं तं आउभूतं, उसिणस्वभावो कायाग्निश्च तेउभूतं, चलस्वभावं उच्छ्वासनिःश्वासश्च वातभूतं, वदनादिशुषिरस्वभावमाकाशम्।

४. चूर्णि, पृष्ठ २४।

५. वृत्ति, पत्र १६ : तेभ्यः कायाकारपरिणतेभ्यः।

६. चूर्णि, पृष्ठ २४ : अथवा ते भो! एगो त्ति सिस्सामन्त्रणं।

७. वृत्ति, पत्र १६ : एक कश्चिच्चिद्रूपो भूताव्यतिरिक्त आत्मा भवति।

८. चूर्णि, पृष्ठ २४ : भौतिकोऽयं लोकः चेतनमचेतनद्रव्यं सर्वं भौतिकम्।

९. वृत्ति, पत्र १६ : अथैषां कायाकारपरिणतौ चैतन्याभिव्यक्तौ सत्यां तदूर्ध्वं तेषामन्यतमस्य विनाशे अपगमे वायोस्तेजसश्चोभयोर्वा ......ततश्च मृत इति व्यपदेशः प्रवर्तते।

२९. आत्मा (देहो) का विनाश हो जाता है (विणासो होइ देहिणो)

प्राणी का विनाश हो जाता है अर्थात् उसे मृत कह दिया जाता है। इस घटना में केवल किसी एक भूत का विनाश होता है। उसके विनष्ट होते ही प्राणी मर जाता है। इसमें भूतों से व्यतिरिक्त किसी जीव या आत्मा का अपगम नहीं होता। यह भूतवादियों का पूर्वपक्ष है।[1] शरीर पांच भूतों से निर्मित है। किसी एक भूत की कमी होने पर पृथ्वी भूत पृथ्वी में, अप् भूत अप् में, वायु भूत वायु में, तेजस् भूत तेजस् में और आकाश भूत आकाश में मिल जाता है।[2] चूर्णिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में विशेषावश्यक भाष्य की पांच गाथाएं तथा उनकी स्वोपज्ञवृत्ति का उद्धरण प्रस्तुत कर भूतवादियों के मत का निराकरण किया है।[3]

श्लोक ७-८ :

३०. श्लोक ७-८

आत्मा का स्वतंत्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करने वाले दार्शनिक भूतवादी कहलाते हैं। प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध में उन्हें 'पंचमहाभौतिक' कहा गया है।[4] वहां चार्वाक या बृहस्पति जैसे किसी भी शब्द का प्रयोग प्राप्त नहीं है। वर्तमान में चार्वाक या बृहस्पति के सिद्धान्त-सूत्र मिलते हैं। उनमें चार भूतों—पृथिवी, अप्, तेज और वायु का ही उल्लेख मिलता है।[5] इनमें आकाश परिगणित नहीं है। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण को मानने वाले चार्वाक अमूर्त आकाश को मान भी कैसे सकते हैं? दर्शनयुगीन साहित्य में चार्वाक सम्मत चार भूतों का ही उल्लेख मिलता है। आगम-युग में पंचभूतवादी थे। पकुधकात्यायन पंचभूतों को स्वीकार करते थे और आत्मा को नहीं मानते थे।[6]

भूतों से चैतन्य उत्पन्न होता है और भूतों का विनाश होने पर चैतन्य विनष्ट हो जाता है। यह अनात्मवादियों का सामान्य सिद्धान्त है। इसकी प्रतिध्वनि दर्शनयुग के साहित्य में भी मिलती है।[7]

शरीर से भिन्न आत्मा का अस्तित्व नहीं है, इसलिए परलोक, पुनर्जन्म और मोक्ष का प्रश्न ही नहीं उठता। भूतवादी सिद्धान्त के अनुसार मृत्यु ही मोक्ष है। वे धर्माचरण को भी महत्त्व नही देते। उनका प्रतिपाद्य है कि धर्म का आचरण नहीं करना चाहिए। इसकी पुष्टि में उनका तर्क है कि उसका फल परलोक में होता है। जब परलोक ही संदिग्ध है तब उसका फल असंदिग्ध कैसे होगा? कौन समझदार पुरुष हाथ में आए हुए मूल्यवान् पदार्थ को दूसरे को सौंपना चाहेगा? कल मिलने वाले मयूर की अपेक्षा आज मिलने वाला कबूतर अच्छा है। संदिग्ध सोने के सिक्के की अपेक्षा निश्चित चांदी का सिक्का अच्छा है।[8]

श्लोक ९ :

३१. विज्ञ (ज्ञानपिंड) (विण्णू)

चूर्णिकार ने 'विण्णु' (विज्ञ) का वैकल्पिक अर्थ विष्णु भी किया है।[9] वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल 'विद्वान्' किया है।[10]

---

१. वृत्ति, पत्र १६ : ततश्च मृत इति व्यपदेशः प्रवर्तते, न पुनर्जीवापगम इति भूताव्यतिरिक्तचैतन्यवादिपूर्वपक्ष इति।
२. चूर्णि, पृष्ठ २४ : विणासो नाम पञ्चत्वमेव गमनम्, पृथिवी पृथिवीमेव गच्छति, एवं शेषाण्यपि गच्छन्ति।
३. चूर्णि, पृष्ठ २४ में उद्धृत विशेषावश्यक भाष्य गाथा १६५१—५५ तथा स्वोपज्ञ टीका।
४. सूयगडो, २।१।२३ : अहावरे दोच्चे पुरिसजाए पंचमहब्भूइए त्ति आहिज्जइ।
५. तत्त्वोपप्लवसिंह : पृथिव्यप्तेजोवायुरिति तत्त्वानि।
तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा ॥
६. देखें—सूयगडो १।१।१५, १६ का टिप्पण।
७. (क) षड्दर्शनसमुच्चय, तर्करहस्यदीपिका, पृष्ठ ४५८ : यदुवाच वाचस्पतिः—.........तेभ्यश्चैतन्यम् :
(ख) सन्मति तर्क, वृत्ति पत्र, परलोकिनोऽभावात् परलोकाभावः।
८. कामसूत्र............इति लोकायतिकाः—
न धर्मांश्चरेत्। एष्यत्फलत्वात्। सांशयिकत्वाच्च। कोह्यबालिशो हस्तगतं परगतं कुर्यात्। वरमद्यकपोतः श्वो मयूरात्।
वरं सांशयिकात् निष्कादसांशयिकः कार्षापणः ॥
९. चूर्णि, पृष्ठ २५ : विण्णूरिति विद्वान् विष्णुर्वा।
१०. वृत्ति, पत्र १६।

'विष्णु' जीव का पर्यायवाची नाम है।[1]

श्लोक १० :

३२. हिंसा से प्रतिबद्ध (आरंभणिस्सिया)

जो हिंसायुक्त व्यापार में आसक्त, संबद्ध, अध्युपपन्न होते हैं वे 'आरंभनिश्रित' कहे जाते हैं।[2]

३३. तीव्र (तिव्वं)

यह दुःख का विशेषण है। चूर्णिकार ने इसका संस्कृत रूप 'त्रिप्रम्' कर इसका अर्थ—कायिक आदि तीन प्रकार का कर्म किया है। इसका वैकल्पिक अर्थ है—कर्म।[3]

३४. भोगता है (णियच्छइ)

इसका अर्थ है—भोगना, वेदन करना, अवश्य प्राप्त करना।[4] आर्ष प्रयोग के कारण यहां बहुवचन के स्थान पर एक वचन है।[5] संभव है कि छन्द की दृष्टि से ऐसा किया गया है।

श्लोक ९-१० :

३५. श्लोक ९-१०

सत् एक था। यह सिद्धान्त ऋग्वेद में प्राप्त होता है।[6] किन्तु वह 'सत्' आत्मा के रूप में प्रतिष्ठित नहीं है। एकात्मवाद का सिद्धान्त उपनिषदों में मिलता है। छान्दोग्य उपनिषद् में बताया है कि एक मृत् पिंड के जान लेने पर सब मृण्मय विज्ञात हो जाता है। घट आदि उसके विकार हैं। मृत्तिका ही सत्य है।[7]

चूर्णिकार ने पृथ्वी स्तूप की व्याख्या दो प्रकार से की है—

१. एक पृथ्वीस्तूप नाना प्रकार का दीखता है। जैसे—निम्नोन्नत भूभाग, नदी, समुद्र, शिला, बालू धूल, गुफा, कंदरा आदि भिन्न-भिन्न होने पर भी पृथ्वी से व्यतिरिक्त नहीं दीखती।

२. एक मिट्टी का पिंड कुम्हार के चाक पर आरोपित होने पर भिन्न-भिन्न प्रकार से परिणत होता हुआ घट के रूप में निर्वर्तित होता है। उसी प्रकार एक ही आत्मा नाना रूपों में दृष्ट होता है।[8]

इस प्रसंग में चूर्णिकार ने 'ब्रह्मबिन्दु' उपनिषद् का एक श्लोक उद्धृत किया है—एक ही भूतात्मा सब भूतों में व्यवस्थित है। वह एक होने पर भी जल में चन्द्र के प्रतिबिम्ब की भांति नाना रूपों में दिखाई देता है।

---

१. भगवई २०।१७ : जीवत्थिकायस्स णं भंते ! केवतिया अभिवयणा पण्णत्ता ?
गोयमा ! अणेगा अभिवयणा पण्णत्ता, तं जहा—जीवे इ वा·········विण्णू इ वा।

२. वृत्ति, पत्र २० : आरम्भे—प्राण्युपमर्दनकारिणि व्यापारे निःश्रिता—आसक्ताः संबद्धा अध्युपपन्नाः।

३. चूर्णि, पृष्ठ २५; २६ : त्रिप्रकारं कायिकादि कर्म ··············अथवा त्रिभिस्तापयतीति त्रिप्रम्, किञ्च तत् ? कर्म।

४. (क) चूर्णि, पृष्ठ २५ : णियच्छति वेदयतीत्यर्थः।
(ख) वृत्ति, पत्र २० : निश्चयेन यच्छन्त्यवश्यंतया गच्छन्ति—प्राप्नुवन्ति।

५. वृत्ति, पत्र २० : आर्षत्वाद् बहुवचनार्थे एकवचनमकारि।

६. ऋग्वेद १।१६४।४६ : एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।

७. छांदोग्य उपनिषद् ६।१।४ : यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात्। वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं, मृत्तिकेत्येव सत्यम्।

८. चूर्णि, पृष्ठ २५।

९. ब्रह्मविन्दूपनिषत् श्लोक १२ : एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत्॥

कठोपनिषद् में भी एक ही आत्मा के अनेक रूपों को अग्नि के उदाहरण द्वारा समझाया गया है, जैसे—अग्नि जगत् में प्रवेश कर अनेक रूपों में व्यक्त होता है, वैसे ही एक आत्मा सब भूतों की अन्तरात्मा में प्रविष्ट हो नाना रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है।[1]

प्रस्तुत सूत्र में एक के नानारूपों में अभिव्यक्त होने का प्रतिपादन है। उसका पूर्वपक्ष छान्दोग्य उपनिषद् का मृत्पिंड और उसके नानात्व का प्रतिपादन ही संगत प्रतीत होता है। प्रतिबिम्ब या प्रतिरूपता का सिद्धान्त प्रस्तुत सूत्र में विवक्षित नहीं है और सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर यह दृश्य जगत् के साथ उतना संगत भी नहीं है। नानात्व के सिद्धान्त की एक द्रव्य के नाना पर्यायों के साथ संगति हो सकती है, किन्तु प्रतिबिम्ब का सिद्धान्त संगत नहीं होता। इसका संबंध सादृश्य से है, पर्याय से नहीं है।

जैनदृष्टि यह रही है कि एक आत्मा या समष्टि-चेतना वास्तविक नहीं है और न वह दृश्य जगत् का उपादान भी है। अनन्त आत्माएं हैं और प्रत्येक आत्मा इसलिए स्वतंत्र है कि उसका उपादान कोई दूसरा नहीं है। चेतना व्यक्तिगत है। प्रत्येक आत्मा का चैतन्य अपना-अपना है। इसका प्रतिपादन प्रस्तुत सूत्र के २/१/५१ में किया गया है।

एकात्मवाद में क्रिया की सार्थकता नहीं होती। इसीलिए एकात्मवादी ज्ञानवादी होते हैं, क्रियावादी नहीं होते। 'मन्द' शब्द से यही तथ्य सूचित होता है। एकात्मवाद में न कोई हिंस्य होता है और न कोई हिंसक। इसलिए वे हिंसा करते हुए भी हिंसा को नहीं मानते। 'आरंभनिश्रित' शब्द से यही तथ्य सूचित होता है। चौदहवें श्लोक में भी 'मंद' और 'आरंभनिश्रित'—ये दो पद हैं। इससे प्रतीत होता है कि सूत्रकार ने 'मंद' शब्द के द्वारा एकात्मवाद और अकारकवाद—दोनों के अक्रियावादी होने की सूचना दी है। 'आरंभनिश्रित' शब्द के द्वारा इस सूचना का अनुमान भी किया जा सकता है कि इन दोनों को सृष्टि का आरंभ स्वीकृत है।

चूर्णिकार ने प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'पुढवीथूभे' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—'पृथिव्येव स्तूपः'—पृथ्वी ही स्तूप है।[2]

वृत्तिकार ने इस व्युत्पत्ति के साथ-साथ—'पृथिव्या वा स्तूपः'—पृथ्वी का स्तूप, यह व्युत्पत्ति भी की है।[3]

श्लोक ११ :

३६. अखण्ड (कसिणे)

इसका अर्थ है—सर्व, अखंड।[4] चूर्णिकार ने इसका अर्थ—'शरीर मात्र' किया है और शरीर से व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं होती, ऐसे पूर्वपक्ष का उल्लेख किया है।[5]

३७. जो शरीर हैं वे ही आत्माएं हैं (संति)

जो शरीर हैं, वे ही आत्माएं हैं। जब तक शरीर हैं तब तक ही आत्माएं हैं—यह इस शब्द का तात्पर्यार्थ है।[6]

३८. वे आत्माएं परलोक में नहीं जातीं (पेच्चा ण ते संति)

वे आत्माएं परलोक में नहीं जातीं, क्योंकि काया के आकार में परिणत भूतों में चैतन्य पैदा होता है और उनके विघटन से चैतन्य नष्ट हो जाता है। एक भव से दूसरे भव में जाने वाला चैतन्य प्राप्त ही नहीं होता, इसलिए परलोक में जाने वाला, शरीर से भिन्न, स्वकर्मफल को भोगने वाला 'आत्मा' नाम का कोई पदार्थ नहीं है।[7]

---

१. कठोपनिषद् ५।९ : अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो, रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा, रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च।

२. चूर्णि, पृ० २५।

३. वृत्ति, पत्र १९।

४. वृत्ति, पत्र २० : कृत्स्नाः सर्वेऽप्यात्मानः।

५. चूर्णि, पृ० २६ : कसिणो णाम शरीरमात्रः, न तु शरीराद् व्यतिरिच्यते।

६. वृत्ति, पत्र २० : सन्ति विद्यन्ते यावच्छरीरं विद्यन्ते तदभावे तु न विद्यन्ते।

७. वृत्ति, पत्र २० : कायाकारपरिणतेषु भूतेषु चैतन्याविर्भावो भवति, भूतसमुदायविघटने च चैतन्यापगमो, न पुनरन्यत्र गच्छच्चैतन्यमुपलभ्यते, इत्येतदेव दर्शयति—'पिच्चा न ते संती' ति प्रेत्य परलोके न ते आत्मानः सन्ति विद्यन्ते परलोकानुयायी शरीराद् भिन्नः स्वकर्मफलभोक्ता न कश्चिदात्माख्यः पदार्थोऽस्तीति भावः।

३९. उनका पुनर्जन्म नहीं होता (णत्थि सत्तोववाइया)

प्राणी एक भव से दूसरे भव में नहीं जाते। यहां 'अत्थि' शब्द तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। यह बहुवचन में प्रयुक्त है।[1]

उपपात का अर्थ है—उत्पत्ति या जन्म। जो जन्म से निष्पन्न है वह औपपातिक कहा जाता है। यह वृत्तिकार का अभिमत है।[2] प्रस्तुत प्रसंग में यह शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त है।

उपपात जन्म का एक प्रकार है। देव और नारक औपपातिक कहलाते हैं। उनका गर्भ आदि में से नहीं गुजरना पड़ता। वे तत्काल सम्पूर्ण शरीर वाले ही उत्पन्न होते हैं। यह अर्थ यहां गम्य नहीं है। 'आयारो' में भी सामान्य जन्म के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग उपलब्ध है।[3]

श्लोक ११-१२ :

४०. श्लोक ११-१२ :

अजितकेशकंबल के दार्शनिक विचारों का वर्णन प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध (१।१३-२२) में विस्तार से मिलता है। उसका कुछ अंश इस प्रकार है—

........पैर के तलवे से ऊपर, सिर के केशाग्र से नीचे और तिरछे चमड़ी तक जीव है—शरीर ही जीव है। यही पूर्ण आत्म-पर्याय है। यह जीता है (तब तक प्राणी) जीता है, यह मरता है (तब प्राणी) मर जाता है। शरीर रहता है (तब तक) जीव रहता है। उसके विनष्ट होने पर जीव नहीं रहता। शरीर पर्यन्त ही जीवन होता है। जब तक शरीर होता है तब तक जीवन होता है। [शरीर के विकृत हो जाने पर] दूसरे उसे जलाने के लिए ले जाते हैं। आग में जला देने पर उसकी हड्डियां कबूतर के रंग की हो जाती हैं। आसंदी (अरथी, चारपाई) को पांचवीं बना उसे उठाने वाले चारों पुरुष गांव में लौट आते हैं। इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं है, शरीर से भिन्न उसका संवेदन नहीं होता।

जिनके मत में यह सु-आख्यात है—जीव अन्य है और शरीर अन्य है, वह इसलिए सु-आख्यात नहीं है कि वे इस प्रकार नहीं जानते कि आयुष्मान् ! यह आत्मा दीर्घ है या ह्रस्व, वलयाकार है या गोल, त्रिकोण है या चतुष्कोण, लम्बा है या षट्कोण। कृष्ण है या नील, लाल है या पीला या शुक्ल। सुगंधित है या दुर्गन्धित। तीता है या कडुआ, कषैला है या खट्टा या मधुर। कर्कश है या कोमल, भारी है या हल्का, शीत है या उष्ण, चिकना है या रूखा। (आत्मा का किसी भी रूप में ग्रहण नहीं होता।) इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं है, शरीर से भिन्न उसका संवेदन नहीं होता।

जिनके मत में यह सु-आख्यात है—जीव अन्य है और शरीर अन्य है, वह इसलिए सु-आख्यात नहीं है कि उन्हें वह इस प्रकार उपलब्ध नहीं होता—

जैसे कोई पुरुष म्यान से तलवार निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह तलवार है, यह म्यान। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष मूंज से शलाका को निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह मूंज है, यह शलाका। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष मांस से हड्डी को निकालकर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह मांस है, यह हड्डी। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है।

जैसे कोई पुरुष हथेली में लेकर आंवले को दिखलाए—आयुष्मान् ! यह हथेली है, यह आंवला। पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है।

---

१. वृत्ति पत्र २१ : अस्तिशब्दस्तिङन्तप्रतिरूपको निपातो बहुवचने द्रष्टव्यः।

२. वृत्ति, पत्र २१ : उपपातेन निर्वृत्ताः औपपातिकाः।

३. आयारो, १।२, ४ : अत्थि मे आया ओववाइए, णत्थि मे आया ओववाइए।

जैसे कोई पुरुष दही से नवनीत निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह नवनीत है, यह दही । पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है ।

जैसे कोई पुरुष तिलों से तैल निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह तैल है, यह खली । पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है ।

जैसे कोई पुरुष ईख से रस निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह ईख का रस है, यह छाल । पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है ।

जैसे कोई पुरुष अरणी से आग निकाल कर दिखलाए—आयुष्मान् ! यह अरणी है, यह आग । पर ऐसा कोई पुरुष नहीं है जो आत्मा को शरीर से निकाल कर दिखलाए, आयुष्मान् ! यह आत्मा है, यह शरीर है ।

इस प्रकार शरीर से भिन्न जीव का अस्तित्व नहीं है, शरीर से भिन्न उसका संवेदन नहीं है ।[1]

जैन साहित्य में तज्जीव-तच्छरीरवाद का उल्लेख है किन्तु उसके पुरस्कर्ता तीर्थंकर का उल्लेख नहीं है । बौद्ध साहित्य में उसके तीर्थंकर का भी उल्लेख प्राप्त है ।

बौद्ध साहित्य में उपलब्ध अजितकेशकंबल के दार्शनिक विचारों की उक्त विचारों तथा प्रस्तुत श्लोक-युगल से तुलना करने पर सहज ही इस निष्कर्ष पर पहुंचा जा सकता है कि इस श्लोक-युगल में अजितकेशकंबल के दार्शनिक विचार प्रतिपादित हुए हैं । दीघनिकाय के अनुसार अजितकेशकंबल के दार्शनिक विचार इस प्रकार हैं—

.......दान नहीं है, यज्ञ नहीं है, आहुति नहीं है । सुकृत और दुष्कृत कर्मों का फल-विपाक नहीं है । न यह लोक है और न परलोक । न माता है और न पिता । औपपातिक सत्त्व (देव) भी नहीं हैं । लोक में सत्य तक पहुंचे हुए तथा सम्यक् प्रतिपन्न श्रमण-ब्राह्मण नहीं हैं जो इस लोक और परलोक को स्वयं जानकर, साक्षात् कर बतला सकें । प्राणी चार महाभूतों से बना है । जब वह मरता है तब (शरीरगत) पृथ्वी तत्त्व पृथ्वीकाय में, पानी तत्त्व अप्काय में, अग्नि तत्त्व तेजस् काय में और वायु तत्त्व वायुकाय में मिल जाते हैं । इन्द्रियां आकाश में चली जाती हैं । चार पुरुष मृत व्यक्ति को खाट पर ले जाते हैं । जलाने तक उसके चिन्ह जान पड़ते हैं । फिर हड्डियां कपोत वर्ण वाली हो जाती हैं । आहुतियां राख मात्र रह जाती हैं । 'दान करो' यह मूर्खों का उपदेश है । जो आस्तिकवाद का कथन करते हैं, वह उनका कहना तुच्छ और झूठा विलाप है । मूर्ख हो या पंडित, शरीर का नाश होने पर सब विनष्ट हो जाते हैं । मरने के बाद कुछ नहीं रहता ।[2]

४१. श्लोक १२ :

भूतों से व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है, भूतों के विघटित होने पर आत्मा का अभाव हो जाता है—इस पक्ष को पुष्ट करने वाले दृष्टांतों का उल्लेख वृत्तिकार ने किया है । वे इस प्रकार हैं—

१. जल के बिना जल का बुद्बुद् नहीं होता, इसी प्रकार भूतों के व्यतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है ।

२. जैसे केले के तने की छाल को निकालने लगें तो उस छाल के अतिरिक्त अन्त तक कुछ भी सार पदार्थ हस्तगत नहीं होता, इसी प्रकार भूतों के विघटित होने पर भूतों के अतिरिक्त और कुछ भी सारभूत तत्त्व प्राप्त नहीं होता ।

३. जब कोई व्यक्ति अलात को घुमाता है तो दूसरों को लगता है कि कोई चक्र घूम रहा है, उसी प्रकार भूतों का समुदाय भी विशिष्ट क्रिया के द्वारा जीव की भ्रान्ति उत्पन्न करता है ।

---

१. सूयगडो २।१।१५-१७ ।

२. दीघनिकाय १।२।४।२२ : एवं वुत्ते, भंते, अजितो केसकंबलो मं एतदवोच —नत्थि, महाराज, दिन्नं, नत्थि यिट्ठं, नत्थि हुतं, नत्थि सुकतदुक्कटानं कम्मानं फलं विपाको, नत्थि अयं लोको, नत्थि परो लोको, नत्थि माता, नत्थि पिता, नत्थि सत्ता ओपपातिका, नत्थि लोके समणब्राह्मणा सम्मग्गता सम्मापटिपन्ना ये इमं च लोकं परं च लोकं सयं अभिञ्ञा सच्छिकत्वा पवेदेन्ति । चातुमहाभूतिको अयं पुरिसो यदा कालं करोति, पठवी पठविकायं अनुपेति अनुपगच्छति, आपो आपोकायं अनुपेति अनुपगच्छति, तेजो तेजोकायं अनुपेति अनुपगच्छति, वायो वायोकायं अनुपेति अनुपगच्छति, आकासं इन्द्रियानि सङ्कमन्ति । आसन्दिपञ्चमा पुरिसा मतं आदाय गच्छन्ति । यावाळाहना पदानि पञ्ञायन्ति । कापोतकानि अट्ठीनि भवंति । भस्सन्ता आहुतियो । दत्तुपञ्ञत्तं यदिदं दानं । तेसं तुच्छं मुसा विलापो ये केचि अत्थिकवादं वदन्ति । बाले च पण्डिते च कायस्स भेदा उच्छिज्जन्ति विनस्सन्ति, न होन्ति परं मरणा'ति ।

४. जैसे स्वप्न में विज्ञान बहिर्मुख आकार के रूप में अनुभूत होता है, आन्तरिक घटना बाह्य अर्थ के रूप में प्रतीत होती है, इसी प्रकार आत्मा के न होने पर भी भूत समुदाय में विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है।

५. जब स्वच्छ कांच में बाहर के पदार्थ का प्रतिबिम्ब पड़ता है तब ऐसा लगता है कि वह पदार्थ कांच के अन्दर स्थित है, किन्तु वह वैसा नहीं है।

६. जैसे गर्मी में भूमी की ऊष्मा से उत्पन्न किरणें दूर से देखने पर जल का भ्रम उत्पन्न करती हैं;

७. जैसे गन्धर्वनगर आदि यथार्थ न होने पर भी यथार्थ का भ्रम उत्पन्न करते हैं—

उसी प्रकार काया के आकार में परिणत भूतों का समुदाय भी आत्मा का भ्रम उत्पन्न करता है। यथार्थ में वह उससे पृथग् नहीं है।

वृत्तिकार ने अंत में लिखा है—'इन दृष्टांतों के प्रतिपादक कुछ सूत्र कहे जाते हैं किन्तु मुझे प्राचीन सूत्र-प्रतियों तथा प्राचीन टीकाओं में वे प्राप्त नहीं हुए इसीलिए मैंने उनका उल्लेख नहीं किया है।'[1]

श्लोक १४ :

४२. यह लोक (लोए)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—सम्यक्त्वलोक, ज्ञानलोक या संयमलोक, अथवा इहलोक या परलोक या दूसरा कोई लोक।[2]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—चतुर्गत्यात्मक संसार किया है।[3] लोक शब्द का अर्थ—दर्शन, दृष्टि या आलोक भी किया जा सकता है।

४३. हिंसा से प्रतिबद्ध (आरंभणिस्सिया)

आरंभ के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य आरंभ—छह जीवनिकायों का वध आदि।

२. भाव आरंभ—हिंसा आदि में परिणत अशुभ संकल्प।[4]

वृत्तिकार ने हिंसाजन्य व्यापार से संबद्ध व्यक्ति को 'आरंभनिश्रित' माना है।[5]

४४. तमसे घोर तम की ओर चले जाते हैं—(तमाओ ते तमं जंति)

तम के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य तम—नरक, तमस्काय, कृष्णराजि। ये तीनों अंधकारमय हैं।

२. भाव तम—मिथ्यादर्शन, एकेन्द्रिय अवस्था।[6]

मिथ्यादर्शन में दृष्टि अंधकारपूर्ण होती है और एकेन्द्रिय जीव स्त्यानर्द्धि निद्रा (गहन सुषुप्ति) में होते हैं इसलिए ये तमस् की अवस्था में रहते हैं।

---

1. वृत्ति, पत्र २१ : अस्मिंश्चार्थे बहवो दृष्टान्ताः सन्ति, तद्यथा—.........................भ्रान्ति समुत्पादयतीति । अमीषां च दृष्टान्तानां प्रतिपादकानि केचित्सूत्राणि व्याचक्षते, अस्माभिस्तु सूत्रादर्शेषु चिरन्तनटीकायां चादृष्टत्वान्नोल्लिखितानीति ।
2. चूर्णि, पृष्ठ २८ : लोकत्वात् सम्यक्त्वलोको ज्ञानलोकः संयमलोको वा, अथवा योऽभिप्रेतो लोकः परोऽन्यो वा ।
3. वृत्ति, पत्र २३ : लोकः चतुर्गतिकसंसारः ।
4. चूर्णि, पृष्ठ २८ : आरम्भे द्रव्ये भावे च । द्रव्ये षट्कायवधः, भावे हिंसादिपरिणता अशुभसंकल्पा ।
5. वृत्ति, पत्र २३ : प्राण्युपमर्दकारिणि विवेकिजननिन्दिते आरम्भे—व्यापारे निश्चयेन नितरां वा श्रिताः—संबद्धाः, [illegible] इत्याश्रित्य परलोकनिरपेक्षतयाऽऽरम्भनिश्रिता इति ।
6. चूर्णि, पृष्ठ २८ : तमो हि द्वेधा—द्रव्ये भावे च । द्रव्ये नरकः तमस्कायः कृष्णराजयश्च, भावे मिथ्यादर्शनं एकेन्द्रिया वा ।

तम के दो अर्थ हैं—मिथ्यादर्शन या अज्ञान।[1] चूर्णिकार के अनुसार इस पद का अर्थ है—वे प्राणी अज्ञान से अज्ञान की ओर ही जाते है।

वृत्तिकार ने इस पद के दो अर्थ किए हैं[2]—

१. वे प्राणी अज्ञान से घोर अज्ञान में जाते हैं।

२. एक यातनास्थान (नरक) से दूसरे महत्तर यातनास्थान (सातवें नरक) में जाते हैं।

४५. श्लोक १३-१४ :

अक्रियावादि पूरणकाश्यप का दार्शनिक पक्ष है। बौद्ध साहित्य में पूरणकाश्यप के विचारों का प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है—

'कर्म करते-कराते, छेदन करते-कराते, पकाते-पकवाते, शोक कराते, परेशान होते, परेशान करते, चलते-चलाते, प्राणों का अतिपात करते, अदत्त लेते, सेंध लगाते, गांव लूटते, चोरी-बदमाशी करते, परस्त्रीगमन करते तथा झूठ बोलते हुए भी पाप नहीं होता। तीक्ष्ण धार के चक्र से काटकर इस पृथ्वी के प्राणियों का कोई मांस का एक खलिहान बना दे, मांस का एक पुंज बना दे, तो भी उसको उसके द्वारा पाप नहीं होगा, पाप का आगम नहीं होगा। यदि घात करते-कराते, छेदन करते-कराते, पकाते-पकवाते, गंगा नदी के दक्षिण तट पर भी चला जाए तो भी इसके कारण उसके पाप नहीं होगा, पाप का आगम नहीं होगा। दान देते-दिलाते, यज्ञ करते-कराते, गंगा के उत्तर तीर पर भी आ जाए तो इसके कारण उसको पुण्य नहीं होगा, पुण्य का आगम नहीं। दान से, दमन से, संयम से और सत्य-वचन से पुण्य नहीं होता, पुण्य का आगम नही होता।'[3]

पकुधकात्यायन और पूरणकाश्यप—ये दोनों ही अक्रियवादी थे। ये दोनों ही पुण्य और पाप को अस्वीकार करते थे।

प्रस्तुत श्लोकों की व्याख्या सांख्यदर्शनपरक भी की जा सकती है। चूर्णिकार ने इसका संकेत भी दिया है।[4] सांख्यदर्शन के अनुसार तेरहवें श्लोक का अनुवाद इस प्रकार होगा—'आत्मा कुछ करता है और कुछ करवाता है, किन्तु सब कुछ नहीं करता, इसलिए वह अकर्त्ता है। अक्रियावादी इस सिद्धान्त की स्थापना करते हैं।'

चूर्णिकार ने लिखा है—आत्मा सर्वथा, सर्वत्र और सर्वकाल में सब कुछ नहीं करता, इसलिए वह अकर्त्ता है।[5]

वृत्तिकार ने लिखा है—(अकारवाद सांख्य दर्शन) के अनुसार आत्मा अमूर्त्त, नित्य और सर्वव्यापी है, इसलिए वह कर्त्ता नहीं हो सकता। यद्यपि उसमें स्थितिक्रिया तथा मुद्रा-प्रतिबिम्ब न्याय से भुजिक्रिया होती है, फिर भी वह सब क्रियाओं का कर्त्ता नहीं है, इसलिए वह अकर्त्ता है।[6]

सांख्यकारिका में पुरुष (आत्मा) के पांच धर्म बतलाए गए हैं—साक्षित्व, कैवल्य, माध्यस्थ्य, द्रष्टत्व और अकर्तृत्व।[7] पुरुष के अकर्तृत्वभाव की सिद्धि में दो हेतु हैं—'पुरुष विवेकी है तथा उसमें प्रसव धर्म का सर्वथा अभाव है। अविवेकिता से ही सम्भूय-कारिता के रूप में कर्तृत्व आता है तथा जो प्रसवधर्मी अर्थात् अन्य तत्त्वों को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है, वही कर्त्ता हो

१. चूर्णि, पृष्ठ २८ : तम इति मिथ्यादर्शनं अज्ञानं वा।

२. वृत्ति, पत्र २३ : अज्ञानरूपात्तमसः सकाशादन्यत्तमो यान्ति, भूयोऽपि ज्ञानावरणादिरूपं महत्तरं तमः संचिन्वन्तीयुक्तं भवति, यदिवा—तम इव तमो—दुःखसमुद्घातेन सदसद्विवेकप्रध्वंसित्वाद्यातनास्थानं तस्माद्—एवंभूतात्तमसः परतरं तमो यान्ति, सप्तमनरक-पृथिव्यां रौरवमहारौरवकालमहाकालाप्रतिष्ठानाख्यं नरकावासं यान्तीत्यर्थः।

३. दीघनिकाय १।२।४।१७।

४. चूर्णि, पृष्ठ २७ : एगे णाम सांख्यादयः।

५. वही, पृष्ठ २७ : सव्वं कुव्वं ण विज्जति त्ति, सर्वं सर्वथा सर्वत्र सर्वकालं चेति।

६. वृत्ति, पत्र २१,२२ : अकारकवादिमताभिधित्सया आह·········आत्मनश्चामूर्तत्वान्नित्यत्वात् सर्वव्यापित्वाच्च कर्तृत्वानुपपत्तिः, अत एव हेतोः कारयितृत्वमप्यात्मनोऽनुपपन्नमिति। ·········यद्यपि च स्थितिक्रियां मुद्राप्रतिबिम्बोदयन्यायेन (जपास्फटिकन्यायेन च) भुजिक्रियां करोति तथापि समस्तक्रियाकर्तृत्वं तस्य नास्ति।

७. सांख्यकारिका १९ : तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।
कैवल्यं माध्यस्थ्यं द्रष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥

सकता है। ये दोनों अविवेकता (सम्भूयकारिता) और प्रसवधर्मिता गुणों के ही धर्म हैं। अतः जहां गुण नहीं हैं उस पुरुष तत्त्व में इन दोनों धर्मों का भी अभाव ही रहेगा, इसलिए वह कर्त्ता नहीं, अकर्त्ता ही सिद्ध होता है।'[1]

कर्तृत्व सत्त्व, रज और तम—इन तीन गुणों में ही निहित है, फिर भी उनकी सन्निधि से वह कर्त्ता की भांति प्रतीत होता है।[2]

इस अभिमत के संदर्भ में तेहरवें श्लोक के प्रथम दो चरणों का अनुवाद इस प्रकार किया जा सकता है—आत्मा सब कुछ करने वाला और कराने वाला है (ऐसा प्रतीत होता है), (किन्तु वास्तव में) वह कर्त्ता नहीं है।

सांख्य दर्शन में कर्तृत्व का विचार अधिष्ठातृत्व और उपादान—इन दो दृष्टियों से किया गया है। 'मिट्टी से घड़ा बनता है'—इसमें मिट्टी उपादान है। 'मिट्टी घड़ा बन जाती है'—इस वाक्य में उपादान कर्त्ता रूप में प्रस्तुत है। प्रकृति कर्त्ता है—इसका तात्पर्य यह है कि प्रकृति बुद्धि आदि तत्त्वों का उपादान कारण है। पुरुष उनका उपादान कारण नहीं है, इसलिए वह अकर्त्ता है। पुरुष के सान्निध्य के बिना प्रकृति में परिणाम नहीं हो सकता, इसलिए वह अपनी सन्निधि के कारण उस परिणाम का साक्षी है, उसका अधिष्ठाता है। इस अधिष्ठातृत्व की दृष्टि से वह कर्त्ता भी है। तात्पर्य की भाषा में कहा जा सकता है कि पुरुष प्रकृति के परिणमन का उपादान के रूप में कर्त्ता नहीं है, वह साक्षी रूप में कर्त्ता है। प्रकृति में उपादानमूलक कर्तृत्व है, पुरुष में अधिष्ठातृमूलक। यह सापेक्ष कर्तृत्व और अकर्तृत्व ही प्रस्तुत श्लोक में विवक्षित है।

४६. आत्मा को छट्ठा तत्त्व मानने वाले (आयछट्ठा)

आत्मा को छट्ठा तत्त्व मानने वाले अर्थात् पांच महाभूतों से यह शरीर निष्पन्न हुआ है और आत्मा छट्ठा तत्त्व है—ऐसा मानने वाले दार्शनिक।[3]

४७. आत्मा और लोक शाश्वत हैं (आया लोगे य सासए)

'लोगे' का अर्थ है—पृथिवी आदि रूप वाला लोक। चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—१. प्रधान (प्रकृति) २ सम्यक्त्व।[4] कुछ दार्शनिक आत्मा और पांच भूतों को अनित्य मानते थे किन्तु आत्मषष्ठवादी इन्हें शाश्वत मानते थे। आत्मा सर्वव्यापी तथा अमूर्त्त होने के कारण आकाश की तरह शाश्वत है तथा पृथिवी आदि भूत अपने रूप से कभी प्रच्युत नहीं होते अतः वे भी शाश्वत हैं।'[5]

४८. ते

चूर्णिकार ने 'ते' शब्द से आत्मा और लोक का अर्थ फलित किया है।[6] वृत्तिकार ने 'ते' से पृथ्वी आदि पांच भूत और आत्मा का ग्रहण किया है।[7] वास्तव में चूर्णिकार का अभिमत संगत है।

श्लोक १६ :

४९. उन दोनों (आत्मा और लोक) (दुहओ)

चूर्णिकार को 'दुहओ' का यह अर्थ सम्मत है—आत्मा तथा चाक्षुष-अचाक्षुष प्रकृति अथवा ऐहिक या आमुष्मिक लोक।[8]

---

१. सांख्यकारिका, पृष्ठ ८९,९० (व्रजमोहन चतुर्वेदी कृत अनुवाद)

२. सांख्यकारिका, २० : गुणकर्तृत्वेऽपि तथा कर्तेव भवत्युदासीनः।

३. चूर्णि, पृष्ठ २८ : पंचमहब्भूतियं सरीरं, सरीरी छट्ठो, स च आत्मा।

४. चूर्णि, पृष्ठ २८ : लोको नाम प्रधानः सम्यक्त्वं चेति।

५. वृत्ति, पत्र २४ : एतानि चात्मषष्ठानि भूतानि यथाऽन्येषां वादिनामनित्यानि तथा नामीषामिति दर्शयति—आत्मा लोकश्च पृथिव्यादिरूपः 'शाश्वतः' अविनाशी, तत्रात्मनः सर्वव्यापित्वादमूर्तत्वाच्चाकाशस्येव शाश्वतत्वं, पृथिव्यादीनां च तद्रूपाप्रच्युतेर-विनश्वरत्वमिति।

चूर्णि, पृष्ठ २८।

वृत्ति, पत्र २४ : ते आत्मषष्ठाः पृथिव्यादयः पदार्थाः।

चूर्णि, पृष्ठ २८ : दुहतो णाम उभयतो, आत्मा प्रधानं चाक्षुषमचाक्षुषं वा ऐहिकाऽऽमुष्मिको वा लोकः।

वृत्तिकार ने 'उभयतः' का मुख्य अर्थ दो प्रकार का विनाश माना है—निर्हेतुक विनाश और सहेतुक विनाश। वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ द्विरूप अर्थात् चेतन या अचेतन जगत्—ये दोनों नष्ट नहीं होते—भी किया है।[1]

५० सभी पदार्थ सर्वथा नियतिभाव को प्राप्त हैं। (सव्वेवि सव्वहा भावा णियती भावमागया)

इन दो चरणों की व्याख्या में चूर्णिकार और वृत्तिकार एक मत नहीं हैं।

चूर्णिकार ने इन दो चरणों का अर्थ सांख्यदर्शन के आधार पर किया है। वे 'नियति' का अर्थ प्रधान (प्रकृति) करते हैं। उनके अनुसार इनका अर्थ होगा—महत् आदि सभी विकार प्रकृति के ही अधीन हैं।[2]

वृत्तिकार के अनुसार इनका अर्थ है—पृथ्वी आदि पांच महाभूत तथा आत्मा—ये सभी पदार्थ नित्य हैं, शाश्वत हैं। वृत्तिकार ने नियतिभाव का अर्थ नित्यत्व किया है।[3]

५१. श्लोक १५-१६ :

पंचमहाभूतवाद पकुधकात्यायन के दार्शनिक पक्ष की एक शाखा है। पकुधकात्यायन नित्यपदार्थवादी था। इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध (१।२३-२६) में मिलता है। पंचमहाभूतवादी मानते हैं—'·········इस जगत् में पांच महाभूत हैं। हमारे मत के अनुसार जिनसे क्रिया-अक्रिया, सुकृत-दुष्कृत, कल्याण-पाप, साधु-असाधु, सिद्धि-असिद्धि, नरक-स्वर्ग, तथा अन्ततः तृण मात्र कार्य भी निष्पन्न होता है···उस भूत समवाय को पृथक्-पृथक् नामों से जानना चाहिए, जैसे—पृथ्वी पहला महाभूत है, पानी दूसरा महाभूत है, अग्नि तीसरा महाभूत है, वायु चौथा महाभूत है और आकाश पांचवा महाभूत है। ये पांच महाभूत अनिर्मित, अनिर्मापित, अकृत, अकृत्रिम, अकृत, अकृतक, अनादि, अनिधन (अनन्त), अवन्ध्य (सफल), अपुरोहित (दूसरे द्वारा अप्रवर्तित), स्वतंत्र और शाश्वत हैं।'[4]

बौद्ध साहित्य में पकुधकात्यायन द्वारा सम्मत सात कायों का उल्लेख मिलता है। 'ये सात काय (पदार्थ) अकृत, अकृतविध, अनिर्मित, अनिर्मापित, वन्ध्य, कूटस्थ तथा खंभे के समान अचल हैं। वे हिलते नहीं, वदलते नहीं, आपस में कष्टदायक नहीं होते और एक-दूसरे को सुख-दुःख देने में असमर्थ हैं। पृथ्वी, आप, तेज, वायु, सुख, दुःख तथा जीव—ये ही सात पदार्थ हैं। इनमें मारने वाला, मरने वाला, सुनने वाला, कहने वाला, जानने वाला, जनाने वाला, कोई नहीं। जो भी तीक्ष्ण शस्त्र से सिर का छेदन करता है, वह किसी जीव का व्यपरोपण नहीं करता। वह शस्त्र इन सात पदार्थों के अवकाश (रिक्त स्थान) में घुसता है।'[5]

---

१. वृत्ति, पत्र २४, २५ : उभयत इति निर्हेतुकविनाशद्वयेन न विनश्यन्ति·········यदि वा—दुहओ त्ति द्विरूपादात्मनः स्वभावाच्चेतनाचेतनरूपान्न विनश्यन्तीति।

२. चूर्णि, पृष्ठ २८ : सव्वे महतादयो विकाराः। नियतिर्नाम प्रधानम् तामागताः।

३. वृत्ति, पत्र २५ : सर्वेऽपि भावाः—पृथिव्यादय आत्मषष्ठाः नियतिभावं नित्यत्वमागता।

४. सूयगडो २।१।२५, २६ : तेसिं च णं एगइए सड्ढी भवति। कामं तं समणा वा माहणा वा संपहारिंसु गमणाए। तत्थ अण्णतरेणं धम्मेणं पण्णत्तारो, वयं इमेणं धम्मेणं पण्णवइस्सामो। से एवमायाणह भयंतारो! जहा मे एस धम्मे सुयक्खाते सुपण्णत्ते भवति—इह खलु पंचमहब्भूया जेहिं णो कज्जइ किरिया इ वा अकिरिया इ वा सुकडे इ वा दुक्कडे इ वा कल्लाणे इ वा पावए इ वा साहू इ वा असाहू इ वा सिद्धी इ वा असिद्धी इ वा णिरए इ वा अणिरए इ वा, अवि अंतसो तणमायमवि।

तं च पदोद्देसेणं पुढोभूतसमवायं जाणेज्जा, तं जहा—पुढवी एगे महब्भूते, आऊ दुच्चे महब्भूते, तेऊ तच्चे महब्भूते, वाऊ चउत्थे महब्भूते, आगासे पंचमे महब्भूते। इच्चेते पंच महब्भूया अणिम्मिया अणिम्माविया अकडा णो कित्तिमा णो कडगा अणादिया अणिधणा अवंझा अपुरोहिता सतंता सासया।

५. दीघनिकाय १।२।४।२५ : एवं वुत्ते, भन्ते, पकुधो कच्चायनो मं एतदवोच—'सत्तिमे, महाराज, काया अकटा अकटविधा अनिम्मिता अनिम्माता वञ्झा कूटट्ठा एसिकट्ठायिट्ठिता। ते न इञ्जन्ति, न विपरिणामेन्ति, न अञ्ञमञ्ञं ब्याबाधेन्ति, नालं अञ्ञमञ्ञस्स सुखाय वा दुक्खाय वा सुखदुक्खाय वा। कतमे सत्त? पठविकायो, आपोकायो, तेजोकायो, वायोकायो, सुखे, दुक्खे, जीवे सत्तमे—इमे सत्त काया अकटा अकटविधा अनिम्मिता अनिम्माता वञ्झा कूटट्ठा एसिकट्ठायिट्ठिता। ते न इञ्जन्ति, न विपरिणामेन्ति, न अञ्ञमञ्ञं ब्याबाधेन्ति, नालं अञ्ञमञ्ञस्स सुखाय वा दुक्खाय वा सुखदुक्खाय वा। तत्थ नत्थि हन्ता वा घातेता वा सोता वा सावेता वा विञ्ञाता वा विञ्ञापेता वा। यो पि तिण्हेन सत्थेन सीसं छिन्दति, न कोचि किञ्चि जीविता वोरोपेति, सत्तन्नं त्वेव कायानमन्तरेन सत्थं विवरमनुपतती' ति।

अकृत, अनिर्मित और अवन्ध्य—नित्यवाद की सूचना देने वाले ये तीनों शब्द जैन और बौद्ध—दोनों की साहित्य परंपराओं में समान हैं। पंचमहाभूत और सात काय—ये दोनों भिन्न पक्ष हैं। इस भेद का कारण पकुधकात्यायन की दो विचार-शाखाएं हो सकती हैं और यह भी संभव है कि जैन और बौद्ध लेखकों को दो भिन्न अनुश्रुतियां उपलब्ध हुई हों।

आत्म-षष्ठवाद पकुधकात्यायन के दार्शनिक पक्ष की दूसरी शाखा है। इसकी संभावना की जा सकती है कि पकुधकात्यायन के कुछ अनुयायी केवल पंचमहाभूतवादी थे। वे आत्मा को स्वीकार नहीं करते थे। उसके कुछ अनुयायी पांच भूतों के साथ-साथ आत्मा को भी स्वीकार करते थे। वह स्वयं आत्मा को स्वीकार करता था। सूत्रकार ने उसकी दोनों शाखाओं को एक ही प्रवाद के रूप में प्रस्तुत किया है। इसी आधार पर उक्त संभावना की जा सकती है।

पकुधकात्यायन भूतों की भांति आत्मा को भी कूटस्थनित्य मानता था। इसका विस्तृत वर्णन प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध (१।२७,२८) में उपलब्ध है। आत्मषष्ठवादी मानते हैं—

'………सत् का नाश नहीं होता, असत् का उत्पाद नहीं होता। इतना (पांच महाभूत या प्रकृति) ही जीवकाय है। इतना ही अस्तिकाय है। इतना ही समूचा लोक है। यही लोक का कारण है और यही सभी कार्यों में कारणरूप से व्यापृत होता है। अन्ततः तृणमात्र कार्य भी उन्हीं से होता है।' '(उक्त सिद्धांत को मानने वाला) स्वयं क्रय करता है, दूसरों से करवाता है, स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से करवाता है, स्वयं पकाता है, दूसरों से पकवाता है और अन्ततः मनुष्य को भी बेचकर या मारकर कहता है—'इसमें भी दोष नहीं है'—ऐसा जानो।'[1]

श्लोक १७-१८ :

५२. श्लोक १७-१८ :

बौद्ध पिटकों में पांच स्कंध प्रतिपादित हैं—रूपस्कंध, वेदनास्कंध, संज्ञास्कंध, संस्कारस्कंध और विज्ञानस्कंध[2]। ये सब क्षणिक हैं। बौद्ध केवल विशेष को स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में सामान्य यथार्थ नहीं होता। अतीत का क्षण बीत जाता है और अनागत का क्षण प्राप्त नहीं होता, केवल वर्तमान का क्षण ही यथार्थ होता है। इन क्रमवर्ती क्षणों में उत्तरवर्ती क्षण वर्तमान क्षण से न अन्य होता है और न अनन्य होता है। वे प्रतीत्यसमुत्पाद को मानते हैं, इसलिए वर्तमान क्षण न सहेतुक होता है और न अहेतुक होता है।

चूर्णिकार के अनुसार बौद्ध आत्मा को पांच स्कंधों से भिन्न या अभिन्न—दोनों नहीं मानते।[3] उस समय दो दृष्टियां प्रचलित थीं। कुछ दार्शनिक आत्मा को शरीर से भिन्न मानते थे और कुछ दार्शनिक आत्मा और शरीर को एक मानते थे। बौद्ध इन दोनों दृष्टियों से सहमत नहीं थे। आत्मा के विषय में उनका अभिमत था कि वही जीव है और वही शरीर है—ऐसा नहीं कहना चाहिए। जीव अन्य है और शरीर अन्य है—ऐसा भी नहीं कहना चाहिए।[4]

बौद्ध का दृष्टिकोण यह है कि स्कंधों का भेदन होने पर यदि पुद्गल (आत्मा) का भेदन होता है तो उच्छेदवाद प्राप्त हो जाता है। बुद्ध ने इस उच्छेदवादी दृष्टि का वर्जन किया है। स्कंधों का भेदन होने पर यदि पुद्गल (आत्मा) का भेदन नहीं होता है तो पुद्गल शाश्वत हो जाता है। वह निर्वाण जैसा बन जाता है।[5] उक्त दोनों—उच्छेदवाद और शाश्वतवाद सम्मत नहीं हैं, इसलिए

---

१. सूयगडो २।१।२७,२८ : आयछट्ठा पुण एगे एवमाहु—सतो णत्थि विणासो, असतो णत्थि संभवो। एताव ताव जीवकाए, एताव ताव अत्थिकाए, एताव ताव सव्वलोए, एतं मुहं लोगस्स करणयाए, अवि अंतसो तणमायमवि। से किणं किणावेमाणे, हणं घायमाणे, पयं पयावेमाणे, अवि अंतसो पुरिसमवि विक्किणित्ता घायइत्ता, एत्थं पि जाणाहि णत्थित्थ दोसो।

२. दीघनिकाय १०।३।२० : पञ्चक्खन्धो—रूपक्खन्धो वेदनाक्खन्धो, सञ्ञाक्खन्धो, सङ्खारक्खंधो, विञ्ञाणक्खन्धो।

३. चूर्णि, पृष्ठ २६ : न चैतेष्वात्माऽन्तर्गतो (भिन्नो) वा विद्यते, संवेद्यस्मरणप्रसङ्गादित्यादि तेषामुत्तरम्।

४. कथावत्थुपालि १।१।९१, ९२ : ···तं जीवं तं सरीरं ति ? न हेवं वत्तब्बे···।
अञ्ञं जीवं अञ्ञं सरीरं ? न हेवं वत्तब्बे··· ॥

५. वही, १।१।९४ : खन्धेसु भिज्जमानेसु, सो चे भिज्जति पुग्गलो।
उच्छेदा भवति दिट्ठि, या बुद्धेन विवज्जिता ॥
खन्धेसु भिज्जमानेसु, नो चे भिज्जति पुग्गलो।
पुग्गलो सस्सतो होति, निब्बानेन समसमो ति ॥

यह नहीं कहना चाहिए कि स्कंधों से पुद्गल भिन्न है और यह भी नहीं कहना चाहिए कि स्कंधों से पुद्गल अभिन्न है।

चूर्णिकार के अनुसार स्कंधमात्रिक बौद्ध आत्मा को हेतुमात्र मानते थे और शून्यवादी उसे अहेतुक मानते थे[1]। किन्तु मूल सूत्र में सहेतुक और अहेतुक— दोनों का अस्वीकार किया गया है। चूर्णिकार की व्याख्या उत्तरवर्ती परंपराओं के आधार पर की हुई है। पिटकों के आधार पर बौद्ध हेतु और अहेतु— दोनों को अस्वीकार करते हैं। इसके अस्वीकार में ही प्रतीत्य-समुत्पाद का सिद्धान्त विकसित किया गया है।

बौद्धों का अभिमत यह है—

१. यदि आत्मा और जगत् को सहेतुक माना जाए तो शाश्वतवाद की स्थिति बनती है।

२. सत्त्वों के क्लेश का हेतु नहीं है, प्रत्यय नहीं है, बिना हेतु और बिना प्रत्यय के ही सत्त्व क्लेश पाते हैं। सत्त्वों की शुद्धि का कोई हेतु नहीं है, कोई प्रत्यय नहीं है, माना जाए तो अहेतुवाद की स्थिति बनती है।

३. प्रकृति, अणु, काल आदि के अनुसार लोक प्रवर्तित है— ऐसा मानने पर विषम हेतुवाद की स्थिति बनती है।

४. लोक ईश्वर, पुरुष, प्रजापति के वशवर्ती है—ऐसा मानना वशवर्तीवाद की स्थिति बनती है।

ये चारों विकल्प अमान्य हैं।

बौद्ध इसीलिए प्रतीत्य समुत्पादवाद को स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि 'प्रतीत्य' शब्द से शाश्वत आदि वादों का अस्वीकार और 'समुत्पाद' से उच्छेद आदि का प्रहाण किया गया है।[2]

श्लोक १९ :

५३. आरण्यक (आरण्णा)

अरण्य में रहने वाले तापस आदि।[3]

५४. प्रव्रजित (पव्वया)

वृत्तिकार ने इस शब्द के द्वारा शाक्य आदि भिक्षुओं का[4] और चूर्णिकार ने उदक शौचवादी का ग्रहण किया है।[5]

५५. इस दर्शन में आ जाता है (इमं दरिसमावण्णा)

इसका अर्थ है—इस दर्शन को प्राप्त। चूर्णिकार ने 'इस दर्शन' से शाक्य दर्शन अथवा सभी मोक्षवादी दर्शनों का ग्रहण किया है।[6]

वृत्तिकार ने पञ्चभूतवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी तथा सांख्य आदि मोक्षवादियों का ग्रहण किया है।[7] किन्तु प्रकरण के अनुसार इस वाक्य का संबंध शाक्य दर्शन से ही होना चाहिए।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ २९ : तथा स्कन्धमातृका हेतुमात्रमात्मानमिच्छन्ति बीजाङ्कुरवत्। अहेतुकं शून्यवादिका—
हेतु - प्रत्यय - सामग्रीपृथग्भावेष्वसम्भवात्।
तेन तेनाभिलाप्या हि, भावाः सर्वे स्वभावतः॥

२. विसुद्धिमग्ग, भाग ३ पृ ११८५ : पुरिमेन सस्सतादीनमभावो पच्छिमेन च पदेन।
उच्छेदादिविघातो द्वयेन परिदीपितो ञायो।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ २९ : अरण्ये वा तापसादयः।
(ख) वृत्ति, पत्र २८ : आरण्या वा तापसादयः।

४: वृत्ति, पत्र २८ : प्रव्रजिताश्च शाक्यादयः।

५. चूर्णि, पृष्ठ २९ : पव्वगा णाम वचइत्ता (पव्वइत्ता) दगसोअयरियादयो।

६. चूर्णि, पृष्ठ २९ : एयं दरिसणमिति एयं सक्कदरिसणं वा जाणि य मोक्खवादिदरिसणाणि वुत्ताइं ताइं।

७. वृत्ति, पत्र २८, २९।

५६. सभी दुःखों से मुक्त हो जाता है (सव्वदुक्खा विमुच्चति)

पंचभूतवादी तथा तज्जीवतच्छरीरवादी मानते हैं कि जो हमारे मत का आश्रय लेते हैं, वे गृहस्थ शिर और मुंह के मुंडन, दंड, चर्म, जटा, काषाय चीवर आदि के धारण करने, केशलोच, नग्नता, तपश्चरण आदि कायक्लेश रूप कष्टों से मुक्त हो जाते हैं। ये उनके लिए आवश्यक नहीं होते, क्योंकि कहा भी है—

'तपांसि यातनाश्चित्राः' संयमो भोगवञ्चनम् ।
अग्निहोत्रादिकं कर्म, बालक्रीडेव लक्ष्यते ॥'

तप, विभिन्न प्रकार की यातनाएं, संयम, भोग से वंचित रहना तथा अग्निहोत्र आदि सारे अनुष्ठान बालक्रीडा की भांति तुच्छ हैं।

सांख्य आदि मोक्षदर्शनवादी कहते हैं कि जो हमारे दर्शन को स्वीकार कर प्रव्रजित होते हैं वे जन्म, मरण, बुढापा, गर्भ-परंपरा तथा अनेक प्रकार के तीव्रतम शारीरिक और मानसिक दुःखों से मुक्त हो जाते हैं। वे समस्त द्वन्द्वों से मुक्त हो मोक्ष पा लेते हैं।[१]

चूर्णिकार ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है—बौद्ध उपासक भी सिद्ध हो जाते हैं तथा आरोप्य देव भी देवयोनि से मुक्त हो जाते हैं। सांख्य मतानुयायी गृहस्थ भी अपवर्ग को प्राप्त कर लेते हैं।[२]

इस श्लोक की व्याख्या बौद्ध दर्शन से संबंधित है इसलिए 'इमं दरिसणं' का अर्थ बौद्ध दर्शन ही होना चाहिए।

५७. तेणाविमं

चूर्णिकार ने 'तेण' शब्द उपासकों की संज्ञा है—ऐसा सूचित किया है।[३] किन्तु बौद्ध साहित्य में इसकी कोई जानकारी नहीं मिलती। हमने इसका संस्कृत रूप—'तेनापीदं' किया है। यहां 'तेन' शब्द पूर्व श्लोक में आए हुए गृहस्थ, आरण्यक और प्रव्रजित का सर्वनाम है।

५८. त्रिपिटक आदि ग्रन्थों को जान लेने से (तिणच्चा)

चूर्णिकार ने त्रि शब्द को त्रिपिटक का सूचक बतलाया है।[४] वृत्ति में 'तेणाविमं तिणच्चाणं' पाठ के स्थान पर 'तेणावि संधि णच्चाणं' पाठ मिलता है। उसमें त्रिपिटक का उल्लेख नहीं है।[५]

५९. दुःख के प्रवाह का पार नहीं पा सकते (ओहंतराहिया)

यहां दो पदों में संधि है—ओहंतरा+आहिया। 'ओहंतरा' का अर्थ है—कर्म के प्रवाह को तैरने वाला। ओघ दो प्रकार का होता है—द्रव्य और भाव। द्रव्यौघ अर्थात् समुद्र और भावौघ अर्थात् आठ प्रकार के कर्म, संसार।[६]

श्लोक २८ :

६०. श्लोक २८ :

प्रस्तुत श्लोक में आए हुए अनेक शब्दों से पूर्वोक्त कुछ दर्शनों का निरसन होता है। यह वृत्तिकार का अभिमत है।

उववण्णा—इसका अर्थ है कि जीव युक्तियों से सिद्ध है। इस पद के द्वारा पंचभूतवादी तथा तज्जीवतच्छरीरवादी मतों का अपाकरण किया है।

१. वृत्ति, पत्र २८; २९।
२. चूर्णि, पृष्ठ २९ : तच्चण्णियाणं उवासगा वि सिज्झंति, आरोप्पगा वि अणागमणधम्मिणो य देवा ततो चेव णिव्वंति। साङ्ख्यानामपि गृहस्थाः अपवर्गमाप्नुवन्ति।
३. चूर्णि, पृष्ठ ३० : तेण त्ति उपासकानामाख्या।
४. वही, पृ० ३० : त्रिपिटकज्ञानेन।
५. वृत्ति, पत्र २९।
६. चूर्णि, पृ० ३० : ओहो द्रव्ये भावे च, द्रव्यौघः समुद्रः, भावौघस्तु अष्टप्रकारं कर्म यतः संसारो भवति।

पुढो—जीव शरीर की दृष्टि से या नरक आदि भवों की उत्पत्ति की दृष्टि से पृथक्-पृथक् है। इससे आत्माद्वैतवाद का निरसन होता है।

जिया—जीव। इससे पंच स्कंध से अतिरिक्त जीव का अभाव मानने वाले बौद्धों का निरसन किया गया है।

वेदयन्ति सुहं दुक्खं—प्रत्येक जीव सुख-दुःख का अनुभव करता है। इससे आत्मा के अकर्तृत्व का निरसन किया गया है। अकर्त्ता और अविकारी आत्मा में सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता।

अदुवा लुप्पंति ठाणओ—इस पद के द्वारा जीवों का एक भव से दूसरे भव में जाने की स्वीकृति है।[1]

चूर्णिकार ने इस प्रकार की कोई चर्चा नहीं की है।

श्लोक २९ :

६१. सैद्धिक –निर्वाण का सुख हो अथवा असैद्धिक—सांसारिक सुख-दुःख हो (सेहियं वा असेहियं)

चूर्णिकार ने सैद्धिक का अर्थ 'निर्वाण' किया है।[2] वृत्तिकार ने सैद्धिक-सुख का अर्थ 'अपवर्गसुख' और असैद्धिक-दुःख का अर्थ सांसारिक दुःख किया है। यह मुख्य अर्थ है। विकल्प रूप में इन्होंने सैद्धिक और असैद्धिक—दोनों शब्दों को सुख और दुःख—इन दोनों के साथ जोड़कर भी अर्थ प्रस्तुत किया है। वह इस प्रकार है—

सैद्धिक सुख—माला, चन्दन, अंगना आदि के उपभोग से प्राप्त सुख।

सैद्धिक दुःख—चाबुक मारने, ताडना देने, तप्त शलाका द्वारा दागने से उत्पन्न दुःख।

असैद्धिक सुख—बाह्य निमित्त के बिना आन्तरिक आनन्द रूप सुख जो आकस्मिक रूप से उत्पन्न होता है।

असैद्धिक दुःख—शरीर में उत्पन्न ज्वर, मस्तक पीडा, शिरःशूल आदि।[3]

श्लोक ३० :

६२. नियतिजनित (संगइयं)

चूर्णिकार ने इसकी व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है—संगतेः इदं—सांगतिकं, अथवा संगते र्वा हितं—सांगतिकं। इसके दो अर्थ किए हैं—सहगत अर्थात् संयुक्त अथवा जो आत्मा के साथ नित्य संगत रहते हैं।[4]

वृत्तिकार ने संगति का अर्थ नियति किया है। संगति में होने वाला 'सांगतिक' कहा जाता है। इसका अर्थ है—नियतिजनित।[5]

श्लोक ३१ :

६३. कुछ सुख-दुःख नियत होता है और कुछ अनियत (णिययाणिययं संतं)

चूर्णिकार के अनुसार नियत का अर्थ है—जो कर्म जैसे किए गए हैं उनका उसी प्रकार वेदन करना। जैसे देव और नारकों का आयु निरुपक्रम (निमित्तों से अपरिवर्तनीय) होता है। अनियत का अर्थ है—जो कर्म जैसे किए गए हैं उनका उसी प्रकार से वेदन न करना। जैसे—मनुष्य और तिर्यञ्च का आयु सामान्यतः सोपक्रम (निमित्तों से परिवर्तनीय) होता है।[6]

---

१. वृत्ति, पत्र ३०,३१।

२. चूर्णि, पृ० ३१ : सेधनं सिद्धिः निर्वाणमित्यर्थः।

३. वृत्ति, पत्र ३१।

४. चूर्णि, पृ० ३१ : संगतेरिदं संगतियं भवति, संगतेर्वा हितं संगतिकं भवति।

५. वृत्ति, पत्र ३२ : संगइयं ति सम्यक् स्वपरिणामेन गतिः—यस्य यदा यत्र यत्सुखदुःखानुभवनं सा संगतिः—नियतिस्तस्यां भवं सांगतिकम्।

६. चूर्णि, पृ० ३२ : णियता-ऽणियतं संतं जे जधा कडा कम्मा ते तधा चेव णियमेण वेदिज्जंति त्ति एवं नियतं। तं जधा—णिरुवक्कमायू देव-णेरतिय त्ति, अणियतं सोवक्कमायुं ति।

वृत्तिकार ने भी सुख आदि के नियतिकृत और अनियतिकृत दोनों प्रकार बतलाए हैं।[1]

चूर्णिकार ने 'संतं' का अर्थ 'सद्भूत' (यथार्थ) और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—'इतना होने पर भी'—किया है।[2]

श्लोक ३२ :

६४. पार्श्वस्थ (नियति का एकांगी आग्रह रखने वाले नियतिवादी) (पासत्था)

'पासत्थ' जैन आगमों का प्रचलित शब्द है। इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—पार्श्वस्थ और पाशस्थ। इन दोनों के आधार पर इसकी व्याख्या की गई है। जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पार्श्व—तट पर ठहरता है, वह पार्श्वस्थ होता है।[3] मिथ्यात्व आदि के पास से जो बद्ध होता है, वह पाशस्थ कहलाता है।[4] किन्तु 'पासत्थ' का मूलस्पर्शी संस्कृत रूप केवल पार्श्वस्थ ही होना चाहिए। पाशस्थ कोरा बौद्धिक है, मूलस्पर्शी नहीं। पार्श्वस्थ का जो अर्थ किया गया है वह भी मौलिक नहीं लगता। इसका मूलस्पर्शी अर्थ होना चाहिए—भगवान् पार्श्व की परम्परा में स्थित।

भगवान् पार्श्व भगवान् महावीर से २५० वर्ष पूर्ववर्ती हैं। भगवान् पार्श्व के अनेक शिष्य भगवान् महावीर के तीर्थ में प्रव्रजित हो गए। अनेक साधु प्रव्रजित नहीं भी हुए। हमारा अनुमान है कि भगवान् पार्श्व के जो शिष्य भगवान् महावीर के शासन में सम्मिलित नहीं हुए, उन्हीं के लिए 'पासत्थ' [पार्श्वस्थ] शब्द प्रयुक्त हुआ है।

यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के आचार की अपेक्षा भगवान् पार्श्व का आचार मृदु था। जब तक भगवान् महावीर या सुधर्मा आदि शक्तिशाली आचार्य थे तब तक दोनों परम्पराओं में सामंजस्य बना रहा। किन्तु समय के प्रवाह में जब सामंजस्य स्थापित करने वाले शक्तिशाली आचार्य नहीं रहे तब पार्श्वनाथ के शिष्यों के प्रति महावीर के शिष्यों में हीन भावना इतनी बढ़ी कि पार्श्वस्थ शब्द शिथिल आचारी के अर्थ में रूढ हो गया।

पार्श्वस्थ दो प्रकार के हैं[5]—

१. सर्वतः पार्श्वस्थ—जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र के पार्श्व—तट पर स्थित होता है।

२. देशतः पार्श्वस्थ—जो शय्यातरपिंड, अभिहृतपिंड, राजपिंड, नित्यपिंड, अग्रपिंड का विशेष आलम्बन के बिना सेवन करता है।

पार्श्वस्थ की पहली व्याख्या का संबंध शायद नियतिवादी आजीवक सम्प्रदाय से है और दूसरी स्वयूथिक जैन निर्ग्रन्थों से। पार्श्वस्थों को स्वयूथिक भी कहा गया है।

वृत्तिकार ने पार्श्वस्थ के दो अर्थ बतलाए हैं[6]—

१. युक्तियों से बाहर ठहरने वाला—अयौक्तिक बात को मानने वाला।

२. परलोक की क्रिया की व्यर्थता मानने वाला।

---

१. वृत्ति, पत्र ३२ : सुखादिकं किञ्चिन्नियतिकृतम्—अवश्यंभाव्युदयप्रापितं तथा अनियतम्—आत्मपुरुषकारेश्वरादिप्रापितम्।

२. (क) चूर्णि, पृ० ३२ : संतं सब्भूतं।
   (ख) वृत्ति, पत्र ३२ : संतं सत्।

३,४. प्रवचनसारोद्धार, गाथा १०४, वृत्ति, पत्र २५ : पार्श्वे—तटे ज्ञानादीनां यस्तिष्ठति स पार्श्वस्थः। अथवा मिथ्यात्वादयो बन्धहेतवः पाशा इव पाशास्तेषु तिष्ठतीति पाशस्थः।

५. वही, गाथा १०४, १०५ :

सो पासत्थो दुविहो सव्वे देसे य होइ नायव्वो।
सव्वंमि नाणदंसणचरणाणं जो उ पासंमि॥
देसंमि य पासत्थो सेज्जायरऽभिहडरायपिण्डं च।
नीयं च अग्गपिण्डं भुंजइ निक्कारणे चेव॥

वृत्ति, पत्र २५ : स च द्विभेदः—सर्वतो देशतश्च, तत्र सर्वतो यः केवलवेषधारी सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रेभ्यः पृथक् तिष्ठति, देशतः पुनः पार्श्वस्थः स यः कारणं तथाविधमन्तरेण शय्यातराभ्याहृतं नृपतिपिण्डं नैत्यिकमग्रपिण्डं वा भुङ्क्ते।

६. वृत्ति, पत्र ३३ : युक्तिकदम्बकाद् बहिस्तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः परलोकक्रियापार्श्वस्था वा नियतिपक्षसमाश्रयणात् परलोकक्रियावैयर्थ्यम्।

उनके अनुसार एकान्तवादी तथा कालवादी और ईश्वरकारणिक पार्श्वस्थ हैं ।[1]

चूर्णिकार ने इस शब्द की कोई व्याख्या नहीं की है ।

प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ—नियति का एकांगी आग्रह रखने वाले नियतिवादी ही उपयुक्त लगता है । नियतिवादी आजीवकों का संबंध भगवान् पार्श्व की परम्परा से था, अतः उनके लिए 'पार्श्वस्थ' शब्द का उपयोग बहुत अर्थ-सूचक है ।

६५ एवंपुवट्ठिया

यहां तीन पदों में संधि है—एवं+अपि+उवट्ठिया ।

इसका अर्थ है—साधना मार्ग में प्रवृत्त होने पर भी ।

श्लोक ३३ :

६६. मृग (मिगा)

मृग के दो अर्थ होते हैं—हिरण और आरण्यक पशु । चूर्णिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ—'वातमृग' किया है । यह हिरणों की एक जाति है जो तीव्र-गमन के लिए प्रसिद्ध है ।[2]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—आरण्यक पशु किया है ।[3]

६७ मृगजाल से (परिताणेण)

चूर्णिकार और वृत्तिकार इसका सर्वथा भिन्न अर्थ करते हैं । चूर्णिकार ने इसका अर्थ वागुरा—मृगजाल किया है और वृत्तिकार ने इसका अर्थ परित्राण—रक्षा का साधन माना है ।[4]

इस अर्थ-भेद का मूल कारण यह प्रतीत होता है कि चूर्णिकार ने 'परिताणेण तज्जिया' मान कर यह अर्थ किया है और वृत्तिकार ने 'परिताणेण वज्जिया' मानकर अर्थ किया है । 'तज्जिया' और 'वज्जिया' के कारण ही यह अर्थ-भेद हुआ है ।[5]

वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप से चूर्णिकार के अर्थ को मान्य किया है ।[6]

६८. भयभीत (तज्जिया)

मृग उस मृगजाल में फंस कर बाहर नहीं निकल पाते । एक ओर वह मृगजाल होता है और दूसरी ओर हाथी, अश्व और पैदल सेना होती है । एक ओर थोड़ी-थोड़ी दूरी पर पाशकूट आदि होते हैं । इस स्थिति में वे मरण-भय से उद्विग्न हो जाते हैं ।[7]

६९. श्रान्त (दिग्मूढ) होकर (संता)

चूर्णिकार ने इस शब्द के द्वारा मृग की यौवन अवस्था का ग्रहण किया है । वह मृग अनुपहत शरीर, वय और अवस्था वाला तथा शक्तिसंपन्न होता है ।[8]

---

१. वृत्ति, पत्र ३३ : एकान्तवादिनः कालेश्वरादिकारणिकाः पार्श्वस्थाः ।
२. चूर्णि, पृ० ३२ : मृगाः तत्रापि वातमृगाः परिगृह्यन्ते ।
३. वृत्ति, पत्र ३३ : मृगा आरण्याः पशवः ।
४. (क) चूर्णि, पृ० ३२ : परितानः वागुरेत्यर्थः ।
(ख) वृत्ति, पत्र ३३ : परि—समन्तात् त्रायते—रक्षतीति परित्राणम् ।
५. (क) चूर्णि, पृ० ३२ : परिताणेण तज्जिता—तज्जिता चारिता प्रहता इत्यर्थः ।
(ख) वृत्ति, पत्र ३३ : परित्राणं तेन वर्जिता—रहिताः ।
६. वृत्ति, पत्र ३३ : यदि वा—परितानं—वागुरादिबन्धनम् ।
७. चूर्णि, पृ० ३२ : न शक्यमेतत् परितानं निस्सर्तुम् । सा च एगतो वागुरा, एकतो हस्त्यश्वपदातिवती यथाविभवतो सेना, एकतः पाशा—कूटोपगा यथाविभागशः । नित्यत्रस्ताः तत्र ते मृगाः स्वजात्यादिभिः परित्रुद्यमाना मरणभयोद्विग्नाः ।
८. वही, पृ० ३२ : संतग्रहणान्निरुपहतशरीर-वयोऽवस्था अक्षीणपराक्रमाः ।

वृत्तिकार ने इसको शतृ प्रत्यय का बहुवचन मात्र माना है।[1] हमने इसका अर्थ श्रान्त किया है।

श्लोक ३५ :

७०. बाध को (वज्झं)

वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—वर्ध्र और 'बन्ध'।[2] इसका अर्थ है—बन्धन के आकार में व्यवस्थित वागुरा आदि। बन्धन बांधने के कारण बंध कहलाते हैं।

इसका संस्कृत रूप 'वर्ध्र' ही होना चाहिए।

७१. पदपाश से (पयपासाओ)

चूर्णिकार ने 'पदपाश' का अर्थ 'कूट' किया है।[3]

वृत्तिकार ने पदपाश के दो अर्थ किए हैं। 'पदपाश' को एक शब्द मानकर उसका अर्थ वागुरा आदि बन्धन किया है और 'पद' तथा 'पाश' को भिन्न-भिन्न मानकर पद का अर्थ कूट और पाश का अर्थ बन्धन किया है।[4]

श्लोक ३६ :

७२. विषमान्त—संकरे द्वार वाले (विसमंते…)

वृत्तिकार ने 'विसमंतेणुवागते' इस पद की दो प्रकार से व्याख्या की है। (१) विषमान्तकूट, पाश आदि से युक्त प्रदेश से उपागत (२) विषम अन्त वाले कूटपाश आदि में स्वयं को फंसाने वाला।[5]

चूर्णिकार ने 'विसमंतेणुवागये'—इनको तीन पद मानकर 'विसम' को वागुरा-द्वार का विशेषण माना है।[6]

श्लोक ३७ :

७३. अनार्य (अणारिया)

अनार्य तीन प्रकार के होते हैं—ज्ञान अनार्य, दर्शन अनार्य और चारित्र अनार्य।[7]

वृत्तिकार ने असद् प्रवृत्ति करने वाले को अनार्य माना है।[8] प्रज्ञापना में आर्य और म्लेच्छ (अनार्य) के अनेक प्रकार निर्दिष्ट हैं।[9]

७४. अशंकनीय के प्रति.........शंका नहीं करते (असंकियाइं.........असंकिणो)

वे मिथ्यादृष्टि अनार्य ज्ञान, दर्शन, और चरित्र तथा जो अशंकनीय हैं उनके प्रति शंका करते हैं और कहते हैं कि संसार जीव-बहुल है, अतः यहां अहिंसा का पालन नहीं किया जा सकता। जिन कुदर्शनों के प्रति शंकित रहना चाहिए उनके प्रति वे श्रद्धा व्यक्त करते हैं और उन पर विश्वास करते हैं।[10]

---

१. वृत्ति, पत्र ३३ : (वेगवन्तः) सन्तः।
२. वृत्ति, पत्र ३३ : वज्झं ति वर्ध्रं यदि वा बन्धनाकारेण व्यवस्थितं वागुरादिकं वा बन्धनं बन्धकत्वाद् बन्धमुच्यते।
३. चूर्णि, पृ० ३३ : पदं पासयतीति पदपाशः कूडः उपकौ वा।
४. वृत्ति, पत्र ३४ : पदे पाशः पदपाशो—वागुरादिबन्धनं तस्मान्मुच्येत, यदि वा पदं—कूटं पाशः—प्रतीतः।
५. वृत्ति, पत्र ३४ : विषमान्तेन कूटपाशादियुक्तेन प्रदेशेनोपागतः, यदि वा—विषमान्ते—कूटपाशादिके।
६. चूर्णि, पृ० ३३।
७. वही, पृ० ३३ : अणारिय त्ति णाण-दंसण-चरित्त-अणारिया।
८. वृत्ति, पत्र ३४ : अनार्या अज्ञानावृतत्वादसदनुष्ठायिनः।
९. प्रज्ञापना, पद १, सूत्र ८८-१२९।
१०. चूर्णि, पृष्ठ ३३ : ते असंकिताइं संकिती, णाण-दंसण-चरित्ताइं (असंकणिज्जाइं) ताइं तपोभीरुत्वाद् अन्यैश्च जीवबहुत्वादिभिः पदैर्नात्र शक्यते अहिंसा निष्पादयितुमिति संकंति ण सद्दहंति, संकिताइं कुदंसणाइं ताइं असंकिणो सद्दहंति पत्तियंति।

श्लोक ३८ :

७५. अव्यक्त (अवियत्ता)

अव्यक्त का अर्थ है—अपरिपक्व बुद्धि वाले। जो हिंसा और अहिंसा में भेद करना नहीं जानते उन्हें यहां अव्यक्त कहा गया है।[1]

अव्यक्त की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। जिसके कांख आदि में केश नहीं आ जाते तब तक वह अव्यक्त होता है। सोलह वर्ष की आयु के नीचे वाला व्यक्ति अव्यक्त होता है।[2]

७६. मोहमूढ (मूढगा)

मूढ दो प्रकार के होते हैं—अज्ञानमूढ और दर्शनमूढ।[3]

वृत्तिकार ने सहज सद्विवेक से विकल व्यक्ति को मूढ माना है।[4]

७७. शंका करते हैं (संकंति)

धर्म-प्रज्ञापना के विषय में उनका मत है कि इसकी आराधना कठिन है। अथवा वे उन पर श्रद्धा ही नहीं करते। अथवा यह ऐसा ही है या नहीं, ऐसी शंका करते हैं—जैसे पृथ्वी आदि प्राणियों में जीवत्व है या नहीं ?[5]

श्लोक ३९ :

७८. श्लोक ३९ :

प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त सर्वात्मक, व्युत्कर्ष, नूम और अप्रीतिक—ये चारों शब्द चार कषाय के वाचक हैं।

लोभ सब कषायों में व्याप्त रहता है अथवा सब कषाय लोभ में व्याप्त रहते हैं, इसलिए उसका नाम 'सर्वात्मक' है। अभिमान में अपने उत्कर्ष का अनुभव होता है, इसलिए उसका नाम 'व्युत्कर्ष' है। 'नूम' देशी शब्द है। उसका अर्थ है—गहन। गहन का अर्थ है—दुर्ग या अप्रकाश। माया में छिपाव या गहनता होती है, इसलिए उसका नाम 'नूम' है। क्रोध प्रीति का विनाश करता है, इसलिए उसका नाम अप्रीतिक है।[6]

७९. अकर्मांश (सिद्ध) (अकम्मंसे)

जहां कर्म का अंशमात्र भी शेष न हो उस अवस्था को अकर्मांश अवस्था कहते हैं। यह सिद्ध अवस्था है। कषाय के नष्ट होने पर मोहनीय कर्म का नाश हो जाता है। उसके नष्ट होने पर साधक आगे बढ़ता हुआ विशिष्ट ज्ञान (केवलज्ञान) को प्राप्त होता है और अन्त में भवोपग्राही कर्मों को नष्ट कर, अकर्मांश होकर, सिद्ध हो जाता है।[7]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३२ : अवियत्ता णाम अव्यक्ताः णाऽऽरंभादिसु दोसेसु विसेसितबुद्धयः।

२. निशीथभाष्य, गाथा ६२३७, चूर्णि : जाव कक्खादिसु रोमसंभवो न भवति ताव अव्वत्तो ,............ अहवा जाव सोलसवरिसो ताव अव्वत्तो।

३. चूर्णि, पृष्ठ ३३ : मूढा अज्ञानेन दर्शनमोहेन।

४. वृत्ति, पत्र ३४ : मुग्धाः—सहजसद्विवेकविकलाः।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३३ : धम्मपण्णवणा—तीसे संकंति वेसेन्ति दुक्खं कज्जति अधवा ण सद्दहंति। अधवा किमेवं ण व त्ति वा संकंति, पृथिव्यादिजीवत्वं।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३४ : सर्वत्राऽऽत्मा यस्य स भवति सर्वात्मकः, अथवा जे भावकषायदोसा ते वि सव्वे लोभे संभवंतीति सव्वप्पगं। ....। विविधं जात्यादिभिर्मदस्थानैरात्मानं उक्कस्सति विउक्कस्सति। नूमं गहनमित्यर्थः। दव्वणूमं दुग्गं अप्पगासं वा, भावणूमं माया। ....। किंचि अप्पत्तियं णाम रूसियव्वं, तदपि अप्पत्तियं।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३४।

८०. मृग की भांति अज्ञानी (मिगे)

जैसे मृग पाश के प्रति जाता हुआ प्रचुर तृण और जल वाले स्थान से तथा स्वतन्त्रता से घूमने फिरने तथा वन में रहने के सुख से रहित होकर मृत्यु के मुंह में जा गिरता है, वैसे ही ये नियतिवादी भी अकर्मांश होने की स्थिति से भ्रष्ट हो जाते हैं।[1]

८१. श्लोक २८-४० :

नियतिवादी क्रियावाद और अक्रियावाद दोनों में विश्वास नहीं करते। उनका दर्शन यह है—कुछ लोग क्रिया का प्रतिपादन करते हैं और कुछ अक्रिया का प्रतिपादन करते हैं। ये दोनों समान हैं। 'मैं करता हूं'—यह मानने वाला भी कुछ नहीं करता और 'मैं नहीं करता हूं'—यह मानने वाला भी कुछ नहीं करता। सब कुछ नियति करती है। यह सारा चराचर जगत् नियति के अधीन है। अज्ञानी पुरुष कारण को मानकर इस प्रकार जानता है। मैं दुःखी हो रहा हूं, शोक कर रहा हूं, खिन्न हो रहा हूं, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा हूं, पीड़ित हो रहा हूं, परितप्त हो रहा हूं, यह सब मैंने किया है। दूसरा पुरुष जो दुःखी हो रहा है, शोक कर रहा है, खिन्न हो रहा है, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा है, पीड़ित हो रहा है, परितप्त हो रहा है, यह सब उसने किया है। इस प्रकार वह अज्ञानी पुरुष कारण को मानकर स्वयं के दुःख को स्वकृत और पर के दुःख को परकृत मानता है।

मेधावी पुरुष कारण को मानकर इस प्रकार जानता है। मैं दुःखी हो रहा हूं, शोक कर रहा हूं, खिन्न हो रहा हूं, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा हूं, पीड़ित हो रहा हूं, परितप्त हो रहा हूं। यह सब मेरे द्वारा कृत नहीं है। दूसरा पुरुष जो दुःखी हो रहा है, शोक कर रहा है, खिन्न हो रहा है, शारीरिक बल से क्षीण हो रहा है, पीड़ित हो रहा है, परितप्त हो रहा है। यह सब उसके द्वारा कृत नहीं है। इस प्रकार वह मेधावी पुरुष कारण (नियति) को मानकर स्वयं के और पर के दुःख को नियतिकृत मानता है।

मैं (नियतिवादी) कहता हूं—पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं वे सब नियति के कारण ही शरीरात्मक संघात, विविध पर्यायों (बाल्य, कौमार आदि अवस्थाओं), विवेक (शरीर से पृथक् भाव) और विधान (विधि विपाक) को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार वे सब सांगतिक (नियतिजनित) हैं इस उत्प्रेक्षा से।

वे ऐसा नहीं जानते, जैसे—क्रिया, अक्रिया, सुकृत, दुष्कृत, कल्याण, पाप, साधु, असाधु, सिद्धि, असिद्धि, नरक, स्वर्ग हैं। इस प्रकार वे नाना प्रकार के कर्म-समारंभों के द्वारा भोग के लिए नाना प्रकार के कामभोगों का समारंभ करते हैं। (सूयगडो २।१।४२-४५)

भगवती (शतक १५) में नियतिवादी गोशालक के सिद्धान्तों का विस्तृत वर्णन मिलता है।

भगवान् महावीर सद्दालपुत्त के कुंभकारापण में विहार कर रहे थे। उस समय सद्दालपुत्त घड़ों को धूप में सुखा रहा था। भगवान् महावीर ने पूछा—'सद्दालपुत्त ! ये घड़े कैसे किये जाते हैं ?' सद्दालपुत्त ने कहा—'भंते ! पहले मिट्टी लाते हैं, फिर उसमें जल मिलाकर रोंदते हैं, फिर उसमें राख मिलाते हैं, फिर मिट्टी का पिंड बना उसे चाक पर चढ़ाते हैं। इस प्रकार ये घड़े तैयार किये जाते हैं। भगवान् महावीर ने कहा—'सद्दालपुत्त ! ये घड़े उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार, पराक्रम से किए जाते हैं ? या अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम से किए जाते हैं ?' सद्दालपुत्त ने कहा—'भंते ! ये सब अनुत्थान, अकर्म, अबल, अवीर्य, अपुरुषकार और अपराक्रम से किए जाते हैं। उत्थान, कर्म, बल, वीर्य पुरुषकार और पराक्रम का कोई अर्थ नहीं हैं। सब भाव नियत हैं।[2]

सूत्रकृतांग के चूर्णिकार ने नियतवादियों के एक तर्क का उल्लेख किया है। नियतिवादी मानते हैं कि अकृत का फल नहीं होता। मनुष्य जो फलभोग करता है उसके पीछे कर्तृत्व अवश्य है, किन्तु वह कर्तृत्व मनुष्य का नहीं है। यदि मनुष्य का कर्तृत्व हो, वह क्रिया करने में स्वतन्त्र हो तो वह सब कुछ मन चाहा करेगा। उसे जो इष्ट नहीं है, वह फिर क्यों करेगा ? किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। मनुष्य बहुत सारे अनीप्सित कार्य भी करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सब कुछ नियति करती है।[3]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३४ : यथा मृगः पाशं प्रति अभिसर्पन् प्रचुरतृणोदकगोचरात् स्वैरप्रचाराद् वनसुखाद् भ्रष्टः मृत्युमुखमेति एवं ते वि णियतिवादिणो।

२. उवासगदसाओ ७।१६-२४।

३. चूर्णि, पृ. ३२३ : न चाकृतं फलमस्तीत्यतः णियती करोति, जति पुरिसो करेज्ज तेन सर्वमीप्सितं कुर्यात्, न चेदमस्तीति ततो नियती करेइ, नियतिः कारिका।

बौद्ध साहित्य में नियतिवाद के सिद्धान्त का निरूपण इस प्रकार मिलता है—'प्राणियों के संक्लेश का कोई हेतु नहीं है, कोई प्रत्यय नहीं है। बिना किसी हेतु और प्रत्यय के ही प्राणी संक्लेश पाते हैं। प्राणियों की विशुद्धि का कोई हेतु नहीं है, कोई प्रत्यय नहीं है। बिना किसी हेतु और प्रत्यय के ही प्राणी विशुद्ध होते हैं। आत्मशक्ति नहीं है, परशक्ति नहीं है, पुरुषकार नहीं है, बल नहीं है, वीर्य नहीं है, पुरुष-सामर्थ्य नहीं है, पुरुष-पराक्रम नहीं है। सभी सत्व, प्राणी, भूत और जीव अवश, अबल, अवीर्य हैं। वे नियति के वश में हैं। वे छह अभिजातियों में सुख-दुख का अनुभव करते हैं।

चौदह सौ हजार प्रमुख योनियां हैं। साठ सौ भी हैं, पांच सौ भी हैं। पांच सौ कर्म, पांच कर्म, तीन कर्म, एक कर्म, आधा कर्म है। बासठ प्रतिपद (मार्ग), बासठ अन्त कल्प, छह अभिजातियां, आठ पुरुषभूमियां, उनचास सौ आजीवक, उनचास सौ परिव्राजक, उनचास सौ नागावास, बीस सौ इन्द्रियां, तीस सौ नरक, छत्तीस रजोधातु, सात संज्ञी-गर्भ, सात असंज्ञी-गर्भ, सात निगंठी-गर्भ, सात देव, सात मनुष्य, सात पिशाच, सात स्वर, सात सौ सात पवुट, सात सौ सात प्रपात, सात सौ सात स्वप्न तथा अस्सी लाख छोटे-बड़े कल्प हैं। इन्हें मूर्ख और पण्डित पुरुष जानकर इनका अनुगमन कर दुःखों का अन्त कर सकते हैं। वहां यह नहीं है कि इस शील से, इस व्रत से अथवा तप से या ब्रह्मचर्य से अपरिपक्व कर्म को परिपक्व करूंगा, परिपक्व कर्म को भोगकर उसका अंत करूंगा। इस पर्यन्तकृत संसार में सुख और दुःख द्रोण (नाप) से नपे हुए हैं। घटना-बढ़ना नहीं होता। उत्कर्ष और अपकर्ष नहीं होता। जैसे सूत की गोली फेंकने पर खुलती हुई गिर पड़ती है वैसे ही मूर्ख और पण्डित दौड़कर, आवागमन में पड़कर, दुःख का अन्त करेंगे।'[1]

श्लोक ४१ :

८२. श्लोक ४१ :

अज्ञानवादी दार्शनिकों के विचारों का निरूपण प्रस्तुत आगम के १२।२,३ में मिलता है। उस समय अज्ञानवाद की विभिन्न शाखाएं थीं। उनमें संजयवेलट्ठिपुत्त के अज्ञानवाद या संशयवाद का भी समावेश होता है। सूत्रकृतांग के चूर्णिकार ने अज्ञानवाद की प्रतिपादन-पद्धति के सात और प्रकारान्तर से चार भागों का उल्लेख किया है—

१. जीव सत् है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

२. जीव असत् है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

३. जीव सत्-असत् है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

४. जीव अवचनीय है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

५. जीव सत् और अवचनीय है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

६. जीव असत् और अवचनीय है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

७. जीव सत्, असत् और अवचनीय है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

प्रकारान्तर से चार भंग—

१. पदार्थ की उत्पत्ति सत् से होती है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

२. पदार्थ की उत्पत्ति असत् से होती है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

३. पदार्थ की उत्पत्ति सत्-असत् से होती है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

४. पदार्थ की उत्पत्ति अवचनीय है, यह कौन जानता है और इसे जानने से क्या प्रयोजन ?

अज्ञानवादी आत्मा, परलोक आदि सभी विषयों की जिज्ञासा का समाधान इसी पद्धति से करते थे।[2]

---

१. दीघनिकाय १।२।४।१९।

२. चूर्णि पृष्ठ २०६; २०७ : इमे दिट्ठिविधाणा—सन् जीवः को वेत्ति ? किं वा तेण णातेण ? असन् जीवः को वेत्ति ? किं वा तेण णातेण ? सदसन् जीवः को वेत्ति ? किं वा तेण णातेण ? अवचनीयो जीव को वेत्ति ? किं वा तेण णातेण ? एक, एवं सदवचनीयः असदवचनीयः, सदसदवचनीय······सती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वा ताए णाताए ? असती भावोत्पत्ति को वेत्ति ? किं वा ताए णाताए ? सदसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वा ताए णाताए ? अवचनीया भावोत्पत्तिः को वेत्ति ? किं वा ताए णाताए ?·········।

दीघनिकाय में संजयवेलट्ठिपुत्त के अनिश्चयवाद (या संशयवाद या अज्ञानवाद) का निरूपण इन शब्दों में मिलता है—

······तुम पूछो कि क्या परलोक है तो यदि मुझे ज्ञात हो कि वह है तो मैं तुम्हें बतलाऊं कि परलोक है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, अन्यथा भी मैं नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं है। परलोक नहीं है, परलोक नहीं नहीं है। परलोक है भी और नहीं भी है। परलोक न है और न नहीं है।

······तुम पूछो कि क्या देवता है तो यदि मुझे ज्ञात हो कि वे हैं तो मैं तुम्हें बतलाऊं कि देवता है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, अन्यथा भी मैं नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वे नहीं हैं। मैं यह भी नहीं कहता कि वे नहीं नहीं हैं। देवता नहीं हैं, देवता नहीं नहीं है। देवता हैं भी और नहीं भी हैं। देवता न हैं और न नहीं हैं।

······तुम पूछो कि क्या अच्छे-बुरे कर्म का फल है तो यदि मुझे ज्ञात हो कि वह है तो मैं तुम्हें बतलाऊं कि अच्छे-बुरे कर्म का फल है। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, अन्यथा भी मैं नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं है। मैं यह भी नहीं कहता कि वह नहीं नहीं हैं। अच्छे-बुरे कर्म का फल है। अच्छे-बुरे कर्म का फल नहीं नहीं है। अच्छे-बुरे कर्म का फल है भी और नहीं भी है। अच्छे-बुरे कर्म का फल न है और न नहीं है।

······तुम पूछो कि तथागत मरने के बाद होते हैं या नहीं होते तो यदि मुझे ज्ञात हो कि तथागत मरने के बाद होते हैं तो मैं तुम्हें बतलाऊं कि वे होते हैं और यदि मुझे ज्ञात हो कि तथागत मरने के बाद नहीं होते तो मैं बतलाऊं कि वे नहीं होते। मैं ऐसा भी नहीं कहता, मैं वैसा भी नहीं कहता, अन्यथा भी मैं नहीं कहता। मैं यह भी नहीं कहता कि वे नहीं होते। मैं यह भी नहीं कहता कि वे नहीं नहीं होते। तथागत मरने के बाद नहीं होते, वे नहीं नहीं होते, तथागत मरने के बाद होते भी हैं और नहीं भी होते। तथागत मरने के बाद न होते हैं और न नहीं होते हैं।[1]

पंडित राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है—

'आधुनिक जैन दर्शन का आधार 'स्याद्वाद' है, जो मालूम होता है कि संजयवेलट्ठिपुत्त के चार अंग वाले अनेकान्तवाद को लेकर उसे सात अंग वाला किया गया है। संजय ने तत्त्वों (परलोक, देवता) के बारे में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से कहने से इंकार करते हुए उस इन्कार को चार प्रकार कहा है—

(१) है?—नहीं कह सकता।

(२) नहीं है—नहीं कह सकता।

(३) है भी और नहीं भी—नहीं कह सकता।

(४) न है और न नहीं है—नहीं कह सकता।

इसकी तुलना कीजिए जैनों के सात प्रकार के स्याद्वाद से—

(१) है?—हो सकता है। (स्याद अस्ति)

(२) नहीं है?—नहीं भी हो सकता है। (स्याद् नास्ति)

(३) है भी और नहीं भी?—है भी और नहीं भी हो सकता है। (स्यादस्ति च नास्ति च)।

उक्त तीनों उत्तर क्या कहे जा सकते है? इसका उत्तर जैन 'नहीं' में देते हैं—

(४) 'स्याद्'—(हो सकता है)—क्या यह कहा जा सकता (वक्तव्य) है? नहीं, स्याद् अवक्तव्य है।

(५) 'स्याद् अस्ति'—क्या यह वक्तव्य है? नहीं, स्याद् अस्ति अवक्तव्य है।

(६) 'स्याद् नास्ति'—क्या यह वक्तव्य है? नहीं, स्याद् नास्ति अवक्तव्य है।

(७) स्याद् अस्ति च नास्ति च—क्या यह वक्तव्य है? नहीं, स्याद् अस्ति च नास्ति च अवक्तव्य है।

दोनों को मिलाने से मालूम होगा कि जैनों ने संजय के पहले वाले तीन वाक्यों (प्रश्न और उत्तर दोनों) को अलग करके अपने स्याद्वाद की छह भंगियां बनाई हैं और उसके चौथे वाक्य 'न है और न नहीं है'—को छोड़कर, 'स्याद्' भी अवक्तव्य है—यह सातवां भंग तैयार कर अपनी सप्तभंगी पूरी की।

१. दीघनिकाय १।२।४।३१।

उपलब्ध सामग्री से मालूम होता है कि संजय अपने अनेकान्तवाद का प्रयोग परलोक, देवता, कर्मफल, मुक्तपुरुष जैसे परोक्ष विषयों पर करता था। जैन संजय की युक्ति को प्रत्यक्ष वस्तुओं पर भी लागू करते हैं। उदाहरणार्थ सामने मौजूद घट की सत्ता के बारे में यदि जैन दर्शन से प्रश्न पूछा जाए तो उत्तर निम्न प्रकार मिलेगा—

(१) घट यहां है ?—हो सकता है (स्याद् अस्ति)।

(२) घट यहां नहीं है ?—नहीं भी हो सकता है (स्याद् नास्ति)।

(३) क्या घट यहां है भी और नहीं भी है ?—है भी और नहीं भी हो सकता है। (स्याद् अस्ति च नास्ति च)।

(४) 'हो सकता है' (स्याद्)—क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, स्याद् यह अवक्तव्य है।

(५) घट यहां हो सकता है (स्यादस्ति)—क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, घट यहां हो सकता है—यह नहीं कहा जा सकता।

(६) घट यहां नहीं हो सकता है (स्यान्नास्ति)—क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, घट यहां नहीं हो सकता—यह नहीं कहा जा सकता।

(७) घट यहां हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है—क्या यह कहा जा सकता है ?—नहीं, घट यहां हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, यह नहीं कहा जा सकता।

इस प्रकार एक भी सिद्धान्त (वाद) की स्थापना न करना, जो कि संजय का वाद था। उसी को संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर, जैनों ने अपना लिया और उसके चतुर्भंगी न्याय को सप्तभंगी में परिणत कर दिया।'[1]

पंडित राहुल सांकृत्यायन ने काल्पनिक तथ्यों के आधार पर स्थापनाएं प्रस्तुत की हैं—

(१) संजयवेलट्ठिपुत्त के चार अंग वाले अनेकान्तवाद को लेकर उसे सात अंग वाला किया गया है।

(२) एक भी सिद्धान्त की स्थापना न करना, जो कि संजय का वाद था, उसी को संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने पर जैनों ने अपना लिया।

ये दोनों स्थापनाएं बहुत ही भ्रामक और वास्तविकता से परे हैं। संजयवेलट्ठिपुत्त का दृष्टिकोण अज्ञानवादी या संशयवादी था। इसलिए वे किसी प्रश्न का निश्चयात्मक उत्तर नहीं देते थे। भगवान् महावीर का दृष्टिकोण अनेकांतवादी था। वे प्रत्येक प्रश्न का उत्तर निश्चयात्मक भाषा में देते थे। भगवती तथा अन्य आगमों में भी भगवान् महावीर के साथ हुए प्रश्नोत्तरों का विशाल संकलन है। उसके अध्ययन से पता चलता है कि भगवान् महावीर द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दो नयदृष्टियों से प्रश्नों का समाधान देते थे। ये ही दो नय अनेकान्तवाद के मूल आधार हैं। स्याद्वाद के तीन भंग मौलिक हैं—स्यात् अस्ति, स्याद् नास्ति और स्याद् अवक्तव्य। भगवान् महावीर ने प्रश्नों के समाधान में और तत्त्व के निरूपण में बार-बार इनका प्रयोग किया है। संजयवेलट्ठिपुत्त की अपनी चतुर्भंगात्मक प्रतिपादन शैली और भगवान् महावीर की प्रतिपादन शैली त्रिभंगात्मक थी। फिर इस कल्पना का कोई आधार नहीं है कि संजय के अनुयायियों के लुप्त हो जाने से जैनों ने उसके सिद्धान्त को अपना लिया। सत्, असत्, सत्-असत् और अनुभय (अवक्तव्य)—ये चार भंग उपनिषद् काल से चले आ रहे हैं। उस समय के सभी प्रायः दार्शनिकों ने इन भंगों का किसी न किसी रूप में प्रयोग किया है। फिर यह मानने का कोई अर्थ नहीं है कि जैनों ने संजयवेलट्ठिपुत्त के भंगों के आधार पर स्याद्वाद की सप्तभंगी विकसित की।

'स्यात् अस्ति' का अर्थ 'हो सकता है'—यह भी काल्पनिक है। जैन परम्परा में यह अर्थ कभी मान्य नहीं रहा है। भगवान् महावीर से पूछा गया—

भंते ! द्विप्रदेशी स्कंध आत्मा है ? अनात्मा है ? या अवक्तव्य है ?

भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—द्विप्रदेशी स्कंध स्यात् आत्मा है, स्यात् आत्मा नहीं है, स्यात् अवक्तव्य है।

'भंते ! यह कैसे ?

---

१. दर्शन-दिग्दर्शन, राहुल सांकृत्यायन, पृ० ४९८,४९९।

'गौतम ! द्विप्रदेशी स्कंध स्व की अपेक्षा से आत्मा है, पर की अपेक्षा से आत्मा नहीं है और उभय की अपेक्षा से अवक्तव्य है।'[1]

यह संशयवाद या अज्ञानवाद नहीं है। इसमें तत्त्व का निश्चयात्मक प्रतिपादन है। यह प्रतिपादन सापेक्ष दृष्टिकोण से है, इसलिए यह अनेकान्तवाद या स्याद्वाद है। भगवती में आए हुए पुद्गल-स्कंधों की चर्चा के प्रसंग में स्याद्वाद के सातों ही भंग फलित होते हैं। भगवती सूत्र दर्शनयुग में लिखा हुआ कोई दार्शनिक ग्रंथ नहीं है। वह महावीरकालीन आगम सूत्र है। इससे यह ज्ञात होता है कि स्याद्वाद को संजयवेलट्ठिपुत्त के सिद्धान्त से उधार लेने की बात सर्वथा आधार शून्य है।

अज्ञानवादी कहते हैं—अनेक दर्शन हैं और अनेक दार्शनिक। वे सब सत्य को जानने का दावा करते हैं, किन्तु उन सब का जानना परस्पर विरोधी है। सत्य परस्पर विरोधी नहीं होता। यदि उन दार्शनिकों का ज्ञान सत्य का ज्ञान होता तो वह परस्पर विरोधी नहीं होता। वह परस्पर विरोधी है, इसलिए सत्य नहीं है। जैसे म्लेच्छ अम्लेच्छ की भाषा के आशय को समझे बिना केवल उसे दोहरा देता है, वैसे ही सब अज्ञानी (सम्यग्ज्ञानशून्य दार्शनिक) अपने-अपने ज्ञान को प्रमाण मानते हुए भी निश्चयार्थ (वास्तविक सत्य) को नहीं जानते। यदि वे निश्चयार्थ को जानते होते तो परस्पर विरोधी अर्थ का प्रतिपादन नहीं करते। वे अपने मत-प्रवर्तक को सर्वज्ञ मानते हैं, पर वे स्वयं सर्वज्ञ नहीं हैं तब सर्वज्ञ की बात कैसे समझ सकेंगे? असर्वज्ञ सर्वज्ञ को नहीं जानता। कोई व्यक्ति सर्वज्ञ है और उस समय के लोग उसकी सर्वज्ञता को जानना चाहते हैं, किन्तु सर्वज्ञ के द्वारा जो ज्ञेय है उसे वे समग्रता से नहीं जान पाते, इसलिए वे कैसे जान सकते हैं कि वह व्यक्ति सर्वज्ञ है? दूसरों की चित्तवृत्ति को जानना सरल नहीं है। उपदेष्टा ने किस विवक्षा से क्या कहा है, उसे पकड़ा नहीं जा सकता, इसलिए कोई भी दार्शनिक, भले फिर वह किसी भी दर्शन का अनुयायी हो, निश्चयार्थ को नहीं जानता। वह अपने दर्शन के हार्द को समझे बिना उस म्लेच्छ की भांति वाणी को दोहरा रहा है, शास्त्र की रट लगा रहा है, इसलिए अज्ञान ही श्रेय है।[2]

यह प्रस्तुत सूत्र के वृत्तिकार शीलांकसूरी की व्याख्या है। उनके अनुसार इन तीनों श्लोकों (४१, ४२, ४३) में अज्ञानवाद का समर्थन है और चवालीसवें श्लोक से उसका प्रतिपादन शुरू होता है।

देखें—१२/१ का टिप्पण।

८३. श्रमण (समणा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ श्रमण और वृत्तिकार ने 'परिव्राजक विशेष' किया है।[3] श्रमणों के अन्तर्गत परिव्राजकों का समावेश

---

१. भगवई १२/२१८, २१९ :

आया भंते ! दुपएसिए खंधे ? अण्णे दुपएसिए खंधे ?

गोयमा ! दुपएसिए खंधे सिय आया, सिय नो आया, सिय अवत्तव्वं……।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं…… ?

गोयमा ! अप्पणो आदिट्ठे आया, परस्स आदिट्ठे नो आया, तदुभयस्स आदिट्ठे अवत्तव्वं……।

२. वृत्ति, पत्र ३५ : एके केचन ब्राह्मणविशेषा: तथा श्रमणाः परिव्राजकविशेषाः सर्वेऽप्येते ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं—हेयोपादेयार्थाऽऽविर्भावकं परस्परविरोधेन व्यवस्थितं स्वकं आत्मीयं वदन्ति, न च तानि ज्ञानानि परस्परविरोधेन प्रवृत्तत्वात् सत्यानि,……।

……यथा म्लेच्छः अम्लेच्छस्य परमार्थमजानानः केवलं तद् भाषितमनुभाषते, तथा अज्ञानिकाः सम्यग्ज्ञानरहिताः श्रमणा ब्राह्मणा वदन्तोऽपि स्वीयं स्वीयं ज्ञानं प्रमाणत्वेन परस्परविरुद्धार्थभाषणात् निश्चयार्थं न जानन्ति, तथाहि—ते स्वकीयं तीर्थंकरं सर्वज्ञत्वेन निर्धार्य तदुपदेशेन क्रियासु प्रवर्तेरन्, न च सर्वज्ञविवक्षा अर्वाग्दर्शिना ग्रहीतुं शक्यते, नासर्वज्ञः सर्वज्ञं जानातीति न्यायात्, तथा चोक्तम्—'सर्वज्ञोऽसाविति ह्येतत् तत्कालेऽपि बुभुत्सुभिः। तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ?' एवं परचेतोवृत्तीनां दुरन्वयत्वाद् उपदेष्टुरपि यथावस्थितविवक्षया ग्रहणासंभवान्निश्चयार्थमजानाना म्लेच्छवदपरोक्तमनुभाषन्त एव। ……अतोऽज्ञानमेव श्रेय इति।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३४ : समणा समणा एव।

(ख) वृत्ति, पृष्ठ ३५ : श्रमणाः परिव्राजकविशेषाः।

भी होता था, ऐसा प्राचीन उल्लेख प्राप्त होता है।[1] अतः वृत्तिकार का अर्थ भी संगत है।

श्लोक ४३ :

८४. अज्ञानी (पूर्ण ज्ञान से शून्य) (अण्णाणिया)

अज्ञानिक का अर्थ है—पूर्ण ज्ञान से शून्य।[2]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—सम्यग् ज्ञान से रहित किया है।[3]

श्लोक ४४ :

८५. विमर्श (वीमंसा)

चूर्णिकार ने संशय, सन्देह, वितर्क, ऊह और विमर्श को पर्यायवाची माना है।[4]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—पर्यालोचन तथा मीमांसा।[5]

श्लोक ४५ :

८६. श्लोक ४५ :

प्रस्तुत श्लोक में दिग्मूढ पथदर्शक के द्वारा होने वाले अपाय का निर्देश किया गया है। किसी गहन वन में एक पथिक पथ-भ्रष्ट हो गया। वह दिग्भ्रान्त होता हुआ पथ की टोह में घूम रहा था। इतने में ही उसे दूसरा पथिक दिखाई दिया। उसने पूछा—'भाई! पाटलिपुत्र नगर किस दिशा की ओर है? उस पथिक ने कहा—चलो, मैं तुम्हें वहां ले चलता हूं।' दोनों साथ हो गए। वह भी पाटलीपुत्र का मार्ग नहीं जानता था। दोनों जंगल में ही भटकते रहे। रास्ते में पर्वत, पत्थर, नदियां, गुफाएं, वृक्ष, गुल्म, लता, वितान, जंगल आदि भयंकर स्थान आए। वहां वे दोनों कष्ट पाते हुए भी गन्तव्य तक नहीं पहुंच पाए।

किसी सार्थवाह ने स्कंधावार से एक मार्गदर्शक साथ ले लिया। वह स्वयं दिग्भ्रान्त था। वह दूसरी ही दिशा में चल पड़ा। उसके पीछे-पीछे सारा सार्थ चलता गया। सार्थ के बीच में चलने वाले मनुष्य तथा अन्त में चलने वाले मनुष्य मार्ग के ज्ञाता थे। परन्तु आगे-आगे चलने वाला मार्ग से अजान था। वे सब उस दिग्भ्रान्त नेता का अनुगमन कर कष्ट पाते रहे।[6]

१.(क) निशीथभाष्य गाथा, ४४२० : णिग्गंथ सक्क तावस, गेरुय आजीव पंचहा समणा ॥

चूर्णि—णिग्गंथा साधू समणा वा सक्का रत्तपडा, तावसा वणवासिओ, गेरुआ परिवायया, आजीवगा गोसालसिस्सा पंडरभिक्खुआ वि भण्णंति।

(ख) प्रवचनसारोद्धार, गाथा ७३१-३३ :

निग्गंथ सक्क तावस, गेरुय आजीव पंचहा समणा।
तम्मि निग्गंथा ते जे, जिणसासण भवा मुणिणो ॥
सक्का य सुगय सीसा, जे जडिला ते उ तावसा गीया।
जे धाउरवत्था तिदंडिणो गेरुया ते उ ॥
जे गोसालगमयमणुसरंति, भन्नंति ते उ आजीवा।
समणत्तणेण भुवणे, पंचवि पत्ता पसिद्धिमिमे ॥

२. चूर्णि, पृष्ठ ३५ : अत्रिकालाभिज्ञा इव न सद्भावतो वदन्ति।

३. वृत्ति, पत्र ३५ : अज्ञानिकाः सम्यग्ज्ञानरहिताः।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३५ : संशयः संदेहो वितर्कः ऊहा वीमंसेत्यनर्थान्तरम्।

५. वृत्ति, पत्र ३६ : विमर्शः पर्यालोचनात्मको मीमांसा वा—मातुं परिच्छेत्तुमिच्छा।

६. चूर्णि, पृष्ठ ३५।

८७. घोर (तिव्वं)

तीव्र के दो अर्थ हैं—अत्यन्त, असह्य ।[1]

८८. जंगल में (सोयं)

इसके तीन अर्थ हैं—श्रोत (भयद्वार), जंगल, शोक । पर्वत, चट्टानें, नदियां, कन्दरा, तथा वृक्ष, गुल्म और लताओं के झुरमुट तथा जंगल—ये भय पैदा करने वाले होते हैं । अत: ये श्रोत हैं ।[2]

श्लोक ४६ :

८९. दूर मार्ग में चला जाता है (दूरमद्धाण गच्छई)

इसका तात्पर्य है—विवक्षित मार्ग से दूर चला जाता है । एक अंधा मनुष्य दूसरे अंधे के पास आकर बोला—'चलो, मैं तुम्हें उस गांव या नगर में ले चलता हूं जहां तुम जाना चाहते हो ।' वह अंधा उसके साथ चल पड़ा । ले जाने वाला भी अंधा और जाने वाला भी अंधा । ले जाने वाला नहीं जानता कि उसे कहां ठहरना है, कहां चलना है । मार्ग का यह अपरिमाण ही मार्ग से दूर भटकना है ।[3]

६०. उत्पथ में चला जाता है (आवज्जे उप्पहं जंतू)

इस प्रकार दोनों अंधे अपने पादस्पर्श से मार्ग को पहचानते हुए क्षण भर सही मार्ग पर चलते हैं, फिर उत्पथ में चले जाते हैं । उस उत्पथ पर चलते हुए प्रपात, कांटे, सर्प, हिंस्र पशुओं से वे विनाश को प्राप्त हो जाते हैं ।[4]

श्लोक ४७ :

६१. मोक्षार्थी (णियागट्ठी)

चूर्णिकार ने 'णियायट्ठी' का संस्कृत प्रतिरूप 'नियाकार्थ' किया है । तात्पर्यार्थ में इसके दो अर्थ किए हैं—नियत—मोक्ष और नियत—नित्य ।[5]

वृत्तिकार ने 'नियाग' का अर्थ मोक्ष या सद्धर्म किया है ।[6]

नियाग का नियत शब्द से सीधा संबंध नहीं है । इसका संबंध 'नि' उपसर्ग पूर्वक 'यज्' धातु से संगत लगता है ।

६२. अधर्म के मार्ग पर चलते हैं (अहम्ममावज्जे)

कुछ लोग धर्म की आराधना के लिए दीक्षा स्वीकार करते हैं । तथाकथित मान्यता अथवा जीवन-यात्रा की कठिनाइयों के कारण वे आरंभ में प्रवृत्त रहते हैं । इस प्रकार वे धर्म के लिए जीवन-यापन करते हुए भी अधर्म में चले जाते हैं ।. चूर्णिकार ने एक महत्त्वपूर्ण बात का उल्लेख किया है कि आजीवक श्रमण बहुत कठोर तपश्चर्या करते थे, किन्तु वे भी अधर्मानुबंधी धर्म का आचरण करने के कारण धर्म से अधर्म की ओर चले जाते थे ।[7]

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ३५ : तीव्रं नाम अत्यर्थम् ।
   (ख) वृत्ति, पत्र ३६ : तीव्रम् असह्यम् ।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३५ : पर्वता-ऽश्म-सरित्-कन्दरा-वृक्ष-गुल्म-लता-वितान-गहनं श्रवन्ति तेनेति श्रोतं भयद्वारमित्यर्थः ।

३. वही, पृष्ठ ३५ : जधा कोई अंधो अद्धाणे अद्धाणट्ठाणे वा किंचि अन्धमेव समेत्य ब्रवीति—अहं ते अभिरुचितं गामं णगरं वा णेमि त्ति तेण सध पट्ठितो ।............नासौ जानाति यत्र वस्तव्यं यातव्यं वा इत्यतस्तस्य तदपरिमाणमेव अध्वानमित्यतो दूराध्वानम् ।

४. वही, पृष्ठ ३५ : स एवं पधेणं पत्थितो वि क्षणान्तरं पादस्पर्शेन गत्वा उत्पथमापद्यते यत्र विनाशं प्राप्नुते प्रपात-कण्टका-ऽहि-श्वापदादिभ्यः ।

५. वही, पृष्ठ ३६ : नियतो नाम मोक्षः, नियतो नित्य इत्यर्थः, नियाकेन यस्यार्थः स भवति नियाकार्थः ।

६. वृत्ति, पत्र ३६ : नियागो—मोक्षः सद्धर्मो वा ।

७ चूर्णि, पृष्ठ ३६ : अधर्ममापद्यन्ते, यथाशक्त्या आरम्भप्रवृत्ता धर्मायोत्थिता अधर्ममेव आपद्यन्ते । येऽपि च कष्टतपः प्रवृत्ता आजीविकादयः तेऽपि धर्मं अधर्मानुबन्धिनं प्राप्य पुनरपि गोशालवत् संसारायैव भवन्ति ।

६३ सबसे सीधे मार्ग (संयम) पर (सव्वज्जुयं)

इसका अर्थ है—संयम ।[1] संयम सब ओर से ऋजु होता है ।

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं– संयम, सद्धर्म और सत्य ।[2] दशवैकालिक सूत्र में ऋजुदर्शी का अर्थ संयमदर्शी मिलता है ।[3]

श्लोक ४८ :

६४. कुछ अज्ञानवादी (एगे)

चूर्णिकार ने 'एगे' का अर्थ परतंत्र-तीर्थंकर किया है ।[4] जैन आगमों में तीर्थंकर शब्द का प्रयोग प्रचुरता से मिलता है । बौद्ध साहित्य में छह तीर्थंकरों का उल्लेख उपलब्ध है ।[5] तीर्थंकर का अर्थ होता है—प्रवचनकार । शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के भाष्य में कपिल, कणाद आदि को तीर्थंकर कहा है ।[6] इन सारे संदर्भों में चूर्णिकार का 'परतंत्र-तीर्थंकर' यह प्रयोग बहुत महत्त्वपूर्ण है ।

६५. दूसरे (विशिष्टज्ञानी) की (अण्णं)

यहां 'अन्य' से सर्वज्ञ और सर्वदर्शी का ग्रहण किया गया है ।[7]

६६. वे अपने वितर्कों के द्वारा (अप्पणो य वियक्काहिं)

इसका अर्थ है—अपने वितर्कों के द्वारा । वे अज्ञानवादी मन ही मन वितर्कणा करते हैं कि व्यास ने अमुक ऋषि के द्वारा कथित इतिहास का प्रणयन किया था । कणाद ऋषि ने महेश्वर की आराधना कर, उनकी कृपा से वैशेषिक मत का प्रवर्तन किया था । इस प्रकार आत्म-वितर्क और परोपदेश के द्वारा वे बतलाते हैं—यह मार्ग ऋजु है, अथवा यह मार्ग ऋजु नहीं है ।[8] वितर्क और मीमांसा एकार्थक हैं ।[9]

६७. ऋजु (अंजू)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ ऋजु किया है ।[10] वृत्तिकार ने इसका प्रधान अर्थ व्यक्त या स्पष्ट तथा वैकल्पिक अर्थ ऋजु या अकु-

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ३६ : सव्वुज्जगो णाम संजमो ।

२. वृत्ति, पत्र ३७ : सर्वैः प्रकारैर्ऋजुः—प्रगुणो विवक्षितमोक्षगमनं प्रत्यकुटिलः सर्वर्जुः—संयमः सद्धर्मो वा ……………यदि वा—सर्वर्जुकं—सत्यम् ।

३. दसवेआलियं ३/११, वृत्ति पत्र ११९ : ऋजुदर्शिन इति ऋजुर्मोक्षं प्रति ऋजुत्वात् संयमस्तं पश्यन्त्युपादेयतयेति ऋजुदर्शिनः ।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३६ : एते इति ये उक्ताः परतन्त्रतीर्थंकराः ।

५. दीघनिकाय I, २/१/२-७; पृ० ४१, ४२ :

  १. पूरण कस्सपो.........तित्थकरो……।
  २. मक्खलिगोसालो………तित्थकरो……।
  ३. अजितो केसकम्बलो………तित्थकरो……।
  ४. पकुधो कच्चायनो………तित्थकरो……।
  ५. सञ्जयो वेलट्ठपुत्तो………तित्थकरो……।
  ६. निगण्ठो नाटपुत्तो………तित्थकरो……।

६. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, अ० २, पाद १, सूत्र ११, भाष्य, पृ० ३८८ : प्रसिद्धमाहात्म्यानुमतानामपि तीर्थंकराणां कपिल-कणभुक्प्रभृतीनां……।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३६ : अन्ये नाम ये छद्मस्थलोकादुत्तीर्णाः सर्वज्ञाः सर्वदर्शिनः ।

८. वही, पृष्ठ ३६ : यथा व्यासः अमुकेन ऋषिणा एवमुक्तमितिहासमानयति, यथा कणादोऽपि महेश्वरं किलाऽऽराध्य तत्प्रसादपूतमनाः वैशेषिक [मत] मकरोत् । एतैरात्मवितर्कैः परोपदेशैश्च ययास्वं अयमस्मिन् मार्गः ऋजुः अऋजुर्वा ।

९. वही, पृष्ठ ३६ : वितर्का मीमांसेत्यनर्थान्तरम् ।

१०. वही, पृष्ठ ३६ : ऋजुः ।

टिल किया है।[1]

श्लोक ४९ :

९८. धर्म और अधर्म को (धम्माधम्मे)

चूर्णिकार ने धर्म और अधर्म के दो-दो अर्थ किए हैं[2]—

धर्म—१. द्रव्य और पर्याय का स्वभाव में अवस्थान।

२. जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस सधता है तथा जो सुख का कारण है।

अधर्म—१. द्रव्य और पर्याय का स्वभाव में अनवस्थान।

२. जो दुःख का कारण बनता है।

वृत्तिकार ने उदाहरण के द्वारा इसकी व्याख्या की है। क्षान्ति आदि धर्म और हिंसा आदि पाप—अधर्म।[3]

९९. जैसे पक्षी पिंजरे से (सउणी पंजरं जहा)

जैसे शुक, कोकिल, मैना आदि पक्षी पिंजरे को तोड़ने में सफल नहीं होते अर्थात् पिंजरे से अपने आपको मुक्त नहीं कर सकते।[4]

१००. दुःख से (दुक्खं)

चूर्णिकार ने दुःख का अर्थ संसार किया है। कारण में कार्य का उपचार कर दुःख का वैकल्पिक अर्थ अधर्म किया है।[5]
वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—असाता का उदय अथवा मिथ्यात्व के द्वारा उपचित कर्म-बंधन।[6]

श्लोक ५० :

१०१. श्लोक ५० :

अपने सिद्धांत की प्रशंसा और दूसरे सिद्धांत की गर्हा करना वर्तमान की मनोवृत्ति ही नहीं है, यह बहुत पुरानी मनोवृत्ति है। 'यही सत्य है, दूसरा सिद्धान्त सत्य नहीं है'—इसी आग्रह ने संघर्ष को जन्म दिया है। 'इदमेवैकं सत्यं, मम सत्यं'—इस आग्रह से जो असत्य जन्म लेता है, उससे बचने के लिए अनेकान्त को समझना आवश्यक है। अनेकान्तदृष्टि वाला दूसरे सिद्धान्त के विरोध में या प्रतिपक्ष में खड़ा नहीं होता, किन्तु सत्य को सापेक्षदृष्टि से स्वीकार करता है। नियतिवादी नियति के सिद्धान्त को ही परम सत्य मानकर दूसरे सिद्धान्तों का खंडन करते थे तब भगवान् महावीर ने कहा—नियतिवाद ही तत्त्व है, इस प्रकार का गर्व दुःख के पार पहुंचाने वाला नहीं, दुःख के जाल में फंसाने वाला है। प्रस्तुत श्लोक को अनेकान्तदृष्टि की पृष्ठभूमि के रूप में देखा जा सकता है।

चूर्णिकार ने 'विउस्संति'—इस क्रिया पद का अर्थ—विशेष गर्व करना किया है।[7] इस अर्थ के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'व्युत्स्नयन्ति' होता है। वृत्तिकार ने 'विउस्संति' का अर्थ—विद्वानों की भांति आचरण करते हैं अथवा अपने शास्त्र के विषय में विशिष्ट युक्ति का कथन करते हैं—किया है।[8]

---

१. वृत्ति, पत्र ३७ : 'अंजु' रिति निर्दोषत्वाद् व्यक्तः—स्पष्टः, परैस्तिरस्कर्तुमशक्यः, ऋजुर्वा—प्रगुणोऽकुटिलः।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३६ : धर्मो नाम यथाद्रव्यपर्यायस्वभावावस्थानम्, विपरीतोऽधर्म इति। अथवा धर्मोऽभ्युदय-नैश्रेयसिकः सुखकारणमिति, दुःखकारणमधर्मः।

३. वृत्ति, पत्र ३७।

४. चूर्णि, पृ० ३६ : यथा शुकः कोकिला मदनशिलाका द्रव्यपञ्जरं नातिवर्त्तते।

५. वही, पृष्ठ ३६ : दुःखं संसारो। अथवा कारणे कार्यवदुपचारं कृत्वाऽपदिश्यते संसारदुःखकारणमधर्मः।

६. वृत्ति, पत्र ३७ : 'दुःखम्' असातोदयलक्षणं तद्धेतुं वा मिथ्यात्वाद्युपचितकर्मबन्धनम्।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३७ : विउस्संति, विशेषेण उस्संति इदमेवैकं तत्त्वमिति विशेषेण उच्छ्रयंति गव्वेणं उस्संतीति।

८. वृत्ति, पत्र ३८ : 'विद्वस्यंते' विद्वांस इवाऽऽचरन्ति, तेषु वा विशेषेणोशन्ति—स्वशास्त्रविषये विशिष्टं युक्तिव्रातं वदन्ति।

इन अर्थों के मूल में इनके दो संस्कृत रूप हैं—विद्वस्यंते और विशेषेणोशन्ति'। चूर्णि में 'विउस्सिया' पाठ उपलब्ध नहीं है। वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—'व्युत्श्रिताः' और 'व्युसिताः'।[1]

श्लोक ५१ :

१०२. क्रियावादी दर्शन (किरियावाइदरिसणं)

चूर्णिकार ने 'कर्म' को क्रिया का पर्यायवाची मानकर इसका अर्थ—कर्मवादी दर्शन किया है।[2]

१०३. जो प्राचीनकाल से निरूपित है (पुरक्खायं)

'पुराख्यात' शब्द के अनेक अर्थ हैं[3]—

१. जितने दर्शन प्रचलित हैं, उनसे पूर्व कहा हुआ। जैसे गंगा के बालु कणों की गिनती नहीं की जा सकती उसी प्रकार अनगिन बुद्ध हुए हैं, उनके द्वारा कहा हुआ।

२. प्राचीन काल के मिथ्या दर्शनों में आख्यात।

३. प्रख्यात।

१०४. कर्म-विषयक चिन्तन सम्यक् दृष्ट नहीं है (कम्मचिंतापणट्ठाणं)

कर्म जैसे, जिससे, जिसके और जिन हेतुओं में प्रवर्त्तमान व्यक्ति के बंधता है, उस चिन्ता से रहित।[4] कर्म-बंध या अबंध के विषय में अगले श्लोक के टिप्पण में स्पष्ट कथन किया गया है।

१०५. दु:ख-स्कंध को बढ़ाने वाला है (दुक्खखंधविवद्धणं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—कर्म समूह को वढ़ानेवाला[5] और वृत्तिकार ने दुःख-परम्परा को वढ़ाने वाला किया है।[6]

श्लोक ५१-५५ :

१०६. श्लोक ५१-५५ :

अहिंसा के विषय में चिन्तन की अनेक कोटियां रही हैं। प्रस्तुत प्रकरण में बौद्धों का अहिंसक विषयक चिन्तन प्रस्तुत हैं।

क्या जीव का वध होने पर हिंसा होती है ?

क्या जीव का वध न होने पर हिंसा होती है ?

क्या जीव का वध होने पर भी हिंसा नहीं होती ?

अहिंसा के चिन्तन में ये तीन महत्वपूर्ण प्रश्न रहे हैं। इन प्रश्नों का सभी धर्माचार्यों ने अपनी-अपनी शैली से समाधान दिया है। बौद्धों ने इन प्रश्नों का उत्तर इस भाषा में दिया—(१) सत्त्व है (२) सत्त्व-संज्ञा है (३) मारने का चिन्तन है और (४) प्राणी मर जाता है—इन चारों का योग होने पर हिंसा होती है, हिंसा से होने वाला कर्म का उपचय होता है।[7] जिन परिस्थितियों में हिंसा नहीं होती उसका उल्लेख सूत्रकार ने किया है। निर्युक्तिकार के अनुसार वे चार हैं[8]—

---

१. वृत्ति, पत्र ३८ : विविधम्—अनेकप्रकारम् उत्—प्राबल्येन श्रिताः—संबद्धाः, तत्र वा संसारे उषिताः।

२. चूर्णि, पृष्ठ ३७ : क्रिया कर्मेत्यनर्थान्तरम्, कर्मवादिदर्शनमित्यर्थः।

३. वही, पृष्ठ ३७ : त एवं ब्रुवते—'गंगावालिकासमा हि बुद्धाः, तैः पूर्वमेवेदमाख्यातम्'। अथवा पुराख्यातमिति पूर्वेषु मिथ्यादर्शन-प्रकृतेष्वाख्यातम्। अथवा प्रख्यातं पुराख्यातम्।

४. वही, पृष्ठ ३७ : कम्मचिंता णाम यथा येन यस्य येषु च हेतुषु प्रवर्त्तमानस्य कर्म बध्यते ततो कर्मचिन्तातः प्रनष्टाः।

५. वही, पृष्ठ ३७ : दुःखस्कन्धविवर्द्धनम्, कर्मसमूहवर्द्धनमित्यर्थः।

६. वृत्ति, पत्र ३८ : 'दुःखस्कन्धस्य' असातोदयपरम्पराया विवर्धनं भवति।

७. चूर्णि, पृष्ठ ३७ : कथं पुनरुपचीयते ? उच्यते, यदि सत्त्वश्च भवति सत्त्वसंज्ञा च सञ्चिन्त्य जीविताद् व्यपरापणं प्राणातिपातः।

८. सूत्रकृतांगनिर्युक्ति, गाथा २८ : कम्मं चयं ण गच्छति चतुविधं भिक्खुसमयम्मि।

१. परिज्ञोपचित—केवल मन से पर्यालोचन करने से किसी प्राणी का वध नहीं होता इसलिए उससे हिंसा-जनित कर्म का चय नहीं होता ।

२. अविज्ञोपचित—अनजान में प्राणी का वध हो जाने पर भी हिंसा-जनित कर्म का चय नहीं होता ।

३. ईर्यापथ—चलते समय कोई जीव मर जाता है, उससे भी हिंसा-जनित कर्म का चय नहीं होता, क्योंकि उसकी मारने की अभिसंधि नहीं होती ।

४. स्वप्नान्तिक—स्वप्न में जीव-वध हो जाने पर भी हिंसा-जनित कर्म का चय नहीं होता ।

इन चारों से मात्र कर्म का स्पर्श होता है जो सूक्ष्म तन्तु के बन्धन की भांति तत्काल छिन्न हो जाता है अथवा सूखी भींत पर गिरने वाली धूली की भांति तत्काल नीचे गिर जाता है । उसका विपाक नहीं होता ।

पाराजिक में हिंसा विषयक बौद्ध दृष्टिकोण प्रतिपादित है—

जो मनुष्य जानकर मनुष्य को प्राण से मारे, या शस्त्र खोज लाए या मरने की अनुमोदन करे, मरने के लिए प्रेरित करे—अरे पुरुष ! तुझे क्या है इस पापी दुर्जीवन से ? तेरे लिए जीने से मरना श्रेय है—इस प्रकार के चित्त-विचार तथा चित्त-विकल्प से अनेक प्रकार से मरने की जो अनुमोदना करे या मरने के लिए प्रेरित करे तो वह भिक्षु पाराजिक होता है । वह भिक्षुओं के साथ सहवास के अयोग्य होता है ।[1]

सूत्रकार ने उक्त प्रकरण के संदर्भ में तीन आदानों का प्रतिपादन किया है—

१. अभिक्रम्य

२. प्रेष्य

३. अनुमोदन

जीव वध के प्रति कृत, कारित और अनुमति—इन तीनों का प्रयोग होने पर कर्म का चय होता है । इनमें से किसी एक या सब का प्रयोग होने पर हिंसा-जनित कर्म का चय होता है ।

परिज्ञोपचित और अनुमोदन एक नहीं है। परिज्ञोपचित में केवल मानसिक चिंतन होता है और अनुमोदन में दूसरे द्वारा किए जाने वाले जीव-वध का समर्थन होता है ।[2]

बौद्धदृष्टि के अनुसार जहां कृत, कारित और अनुमोदन नहीं होता वहां जीव वध होने पर भी कर्म का चय नहीं होता । इस तथ्य की पुष्टि के लिए सूत्रकार ने मांस-भोजन का दृष्टान्त उपस्थित किया है । आर्द्रकुमार और बौद्धभिक्षुओं के वार्तालाप के प्रसंग में भी इस विषय की चर्चा उपलब्ध है। वहां बौद्ध दृष्टिकोण इस रूप में प्रस्तुत है—

'कोई पुरुष खल की पिंडी को पुरुष जानकर पकाता है, तुंबे को कुमार जानकर पकाता है, फिर भी वह जीव-वध से लिप्त होता है । इसके विपरीत कोई म्लेच्छ मनुष्य को खल की पिंडी समझकर शूल में पिरोता है, कुमार को तुंबा समझकर पकाता है, फिर भी वह जीव-वध से लिप्त नहीं होता । खल-पिंडी की स्मृति से पकाया गया मनुष्य का मांस बुद्धों के लिए अग्राह्य नहीं होता ।'[3]

इस प्रसंग से भी यह फलित होता है कि मन से असंकल्पित जीव-वध होने पर कर्म का चय नहीं होता ।

---

१. विनयपटिक १।३ राहुल सांकृत्यायन सन् १९३५ ।

२. वृत्ति, पत्र ३९ : परिज्ञोपचितादस्यायं भेदः—तत्र केवलं मनसा चिन्तनमिह त्वपरेण व्यापाद्यमाने प्राणिन्यनुमोदनमिति ।

३. सूयगडो २।६।२६-२८ : पिण्णागपिंडीमवि विद्ध सूले केई पएज्जा पुरिसे इमे त्ति ।
अलाउयं वा वि 'कुमारग त्ति' स लिप्पई पाणिवहेण अम्हं ।।
अहवावि विद्धूण मिलक्खु सूले पिण्णागबुद्धीए णरं पएज्जा ।
कुमारगं वा वि अलाउएं त्ति ण लिप्पई पाणिवहेण अम्हं ।।
पुरिसं च विद्धूण कुमारगं वा सूलंमि केइ पए जायतेए ।
पिण्णागपिंडि सइमारुहेत्ता बुद्धाण तं कप्पइ पारणाए ।।

वसुबन्धु ने प्राणातिपात की व्याख्या में बतलाया है—'इसको मारूंगा—ऐसा जानकर उसे मारता है और वह उसी को मारता है किसी दूसरे को नहीं मारता तब प्राणातिपात होता है। संकल्प के बिना किसी को मारता है, अथवा जिसे मारना चाहता है उसे नहीं मारता किंतु किसी दूसरे को मारता है, वहां प्राणातिपात नहीं होता।'[1]

प्रस्तुत सूत्र में बौद्धों के इस अहिंसा विषयक दृष्टिकोण को आलोच्य बतलाया गया है। इसे आलोच्य बतलाने के पीछे हिंसा का एक मानदंड है। वह है—प्रमाद। हिंसा का मुख्य हेतु है—प्रमाद, फिर हिंसा करने का संकल्प हो या न हो। अप्रमत्त और वीतराग के मन में हिंसा का संकल्प उत्पन्न ही नहीं होता। उनके द्वारा कोई जीव-वध हो जाता है तो उनके हिंसा-जनित कर्म-बंध नहीं होता। जो वीतराग नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है, उसके द्वारा किसी जीव का वध होता है तो उसके हिंसा-जनित कर्म-बंध अवश्य होता है। कोई बच्चा हो अथवा कोई समझदार मनुष्य भी नींद में हो अथवा कोई जानबूझ कर हिंसा न कर रहा हो, फिर भी इन सब अवस्थाओं मे यदि प्राणातिपात होता है तो वे हिंसा के दोष से मुक्त नहीं हो सकते। संकल्पकृत हिंसा और असंकल्प-जनित हिंसा से होने वाले कर्म-बन्ध में तारतम्य हो सकता है, किन्तु एक में कर्म का बन्ध और दूसरी में कर्म का अबंध—ऐसा नहीं हो सकता। संकल्प व्यक्त मन का एक परिणाम है। प्रमाद अव्यक्त चेतना (अध्यवसाय, अन्तर्मन या सूक्ष्म मन) का कार्य है। यदि वह विरत नहीं है तो स्थूल मन का संकल्प न होने पर भी जीव-वध होने पर हिंसा होगी और यदि प्रमाद नहीं है तो जीव-वध होने पर भी द्रव्यतः हिंसा होगी, किन्तु उससे कर्म-बन्ध नहीं होगा। बौद्ध दृष्टिकोण में हिंसा और अहिंसा के बीच संकल्प और असंकल्प की भेदरेखा खींची गई है। जैन दृष्टिकोण में उनके बीच प्रमाद और अप्रमाद की भेदरेखा खींची गई है। इसी दृष्टिकोण को सामने रखकर बौद्ध दृष्टि की आलोचना की गई है।

१०७. श्लोक ५५ :

भिक्षु त्रिकोटि शुद्ध मांस को खाता हुआ पाप से लिप्त नहीं होता। इस विषय में चूर्णिकार ने एक उदाहरण दिया है—एक भिक्षु उपासिका के घर गया। उसने बटेर को मार, उसे पका भिक्षु को दिया। गृहस्वामी ने आश्चर्य के साथ कहा—देखो, यह कैसा निर्दय है।[2] इससे ज्ञात होता है कि भिक्षु मांस लेते थे। उद्दिष्ट मांस का बुद्ध ने भिक्षु के लिए निषेध किया था। 'भिक्षुओ! जान-बूझकर अपने उद्देश्य से बने मांस को नहीं खाना चाहिए। जो खाए उसे दुक्कर दोष है। भिक्षुओ! अनुमति देता हूं (अपने लिए मारे को) देखे, सुने, संदेहयुक्त—इन तीन बातों से शुद्ध मछली और मांस के खाने की।'[3]

चूर्णिकार ने त्रिकोटि मांस का उल्लेख किया है। वे तीन कोटियां उक्त उद्धरण में स्पष्ट हैं—अदृष्ट, अश्रुत, अशंकित।

सूत्रकार ने पुत्र को मारने का उल्लेख किया है। यह भी निराधार नहीं है। चूर्णिकार ने पुत्र के तीन अर्थ किए हैं—नरपुत्र, सूअर या बकरा।[4] निर्ग्रन्थों ने बौद्धों के मांसाहार के विषय में कोई बातचीत की और वह बातचीत बुद्ध के पास पहुंची। तब बुद्ध ने पूर्वजन्म की घटना बताते हुए कहा—

पूर्व समय में वाराणसी में ब्रह्मदत्त के राज्य काल में बोधिसत्व उत्पन्न हुए वे प्रव्रजित होकर हिमालय में चले गए। एक बार वे भिक्षा के लिए वाराणसी में आए। एक गृहस्थ तंग करने के लिए, उनको अपने घर ले गया। भोजन परोसा। तपस्वी ने भोजन किया। अन्त में गृहस्थ ने कहा—'मैंने तुम्हारे लिए ही प्राणियों का वध कर मांस का यह भोजन तैयार किया था। इसका पाप केवल हमें ही न लगे, तुमको भी लगे। गृहस्थ ने यह गाथा कही—हन्त्वा झत्वा वीधत्वा च देति दानं असञ्ञतो।
एदिसं भत्तं भुञ्जमानो स पापेन उपलिप्पति॥

—असंयमी व्यक्ति प्राणियों को मारकर परितापित कर, वध कर दान देता है। इस प्रकार का भोजन खाने वाला पाप से लिप्त होता है।

---

१. अभिधर्मकोश ४।७३ : प्राणातिपातः सञ्चिन्त्य परस्याभ्रान्तिमारणम्।
अदत्तादानमन्यस्य स्वीक्रिया बलचौर्यतः॥

२. चूर्णि, पृष्ठ ३८ : भिक्षुः त्रिकोटिशुद्धं भुञ्जानोऽपि मेधावी कम्मुणा णोवलिप्पते। तत्रोदाहरम् उपासिकाया भिक्षुः पाहुणओ गतो। ताए लावगो मारेऊण ओवक्खडेत्ता तस्स दिण्णो। घरसामिपुच्छा। अहो! णिग्घिण त्ति।

३. विनयपिटक ६।४।६, राहुल सांकृत्यायन पृष्ठ २४५।

४. चूर्णि, पृष्ठ ३८ : किमंग णरपुत्रं शूकरं वा छागलं वा।

उत्तर में बोधिसत्व ने कहा—

> पुत्तदारम्मि चे हन्त्वा देति दानं असञ्ञतो ।
> भुञ्जमानोदि सप्पञ्ञो न पापेन उपलिप्यति ॥

—यदि कोई व्यक्ति अपने पुत्र या स्त्री को मारकर भी उनके मांस का दान करता है तो प्रज्ञावान भिक्षु उसे खाता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता ।[1]

श्लोक ५६ :

१०८. जो मन से......कुशल चित्त नहीं होता (मणसा जे पउस्संति, चित्तं तेसिं ण विज्जइ)

चूर्णिकार के अनुसार इन दो चरणों की व्याख्या इस प्रकार है—

सबसे पहले व्यक्ति के मन में प्राणियों के प्रति निर्दयता उत्पन्न होती है। फिर यह प्रतिपादन होता है कि जो हमारे भोजन के लिए दूसरा व्यक्ति जीवों का वध करता है, उसमें कोई दोष नहीं है। जो व्यक्ति उद्दिष्ट भोजन का आहार करते हैं वे अप्रदुष्ट होने पर भी उनका मन द्वेषयुक्त ही होता है। वे निरंतर संघभक्त तथा मत्स्य-मांस का भोजन करने में मूर्च्छित होते है तथा इन्द्रियों के व्यापार में नित्य अभिनिविष्ट होते हैं, अत: उनके चित्त नहीं होता। सूत्रकार ने 'चित्त नहीं होता' ऐसा प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य है कि उनके कुशल चित्त नहीं होता। अशुभ चित्त या व्याकुल चित्त को अ-चित्त ही कहा जाता है। व्यवहार में भी देखा जाता है कि जो व्याकुल चित्त होता है वह कहता है—मेरे चित्त है या नहीं।[2]

(अणवज्जं अतहं)

जो हिंसा आदि आरंभ में प्रवृत्त होते हैं, उनके अनवद्य योग (कर्मोपचय का अभाव) नही होता। जो लोग आरंभ में प्रवृत्त व्यक्ति के अनवद्य योग मानते हैं, वह अतथ्य है।

कर्म बंध के हेतुओं से निवृत्त (संवुडचारिणो)

संवृत का अर्थ है—संयम का उपक्रम। जो संयम का उपक्रम करता है वह संवृतचारी होता है।[3]

असंवृतचारी प्रद्वेष, निह्नव, मात्सर्य आदि आश्रवों में वर्तमान रहने के कारण तद् अनुरूप कर्म बांधते हैं।[4]

श्लोक ५७ :

१०९. इन दृष्टियों को स्वीकार कर (इच्चेयाहिं दिट्ठीहिं)

आगम युग में दर्शन के अर्थ में 'दृष्टि' शब्द का प्रयोग प्रमुखता से होता था। पूर्ववर्ती श्लोकों में नाना सिद्धान्त निरूपित हैं। उन्हीं के लिए यहां दृष्टि शब्द का प्रयोग किया गया है। दृष्टि का अर्थ नय होता है। जो दार्शनिक एक ही दृष्टि या नय का आग्रह करते थे, उन्हें मिथ्यादृष्टि कहा जाता था। ४१ और ५९ वें श्लोक में मिथ्यादृष्टि शब्द का प्रयोग मिलता है।

चूर्णिकार ने इस पद के द्वारा पूर्वोक्त नियतिवादी आदि की दृष्टियों को स्वीकार किया है।[5]

---

१. जातक अट्ठकथा, सं० २४६, तेलीवाद जातक ।

पश्चादपदिश्यते—यः परः जीववहं करोति न तत्र दोषोऽस्तीति । ते हि पुण्य-

२. चूर्णि, पृष्ठ ३८ : पूर्वं हि सत्त्वेषु निर्घृणतोत्पद्यते, अप्रदुष्टा अपि मनसा दुष्टा एव मन्तव्याः य उद्देशककृतं भुञ्जते । एवं तेषां कामकाः मातुरपि स्तनं छित्वा तेभ्यो ददति। सङ्घभक्तादिषु मत्स्याद्यशनेषु च मूर्च्छितानां ग्रामादिव्यापारेषु च नित्याभिनिविष्टानां कुशलचित्तं न विद्यते, अशोभनं चित्तं व्याकुलं वा तदचित्तमेव, यथा अशीलवती । लोकेऽपि दृष्टम्—व्याकुलचित्ता भवति (भणंति) अविचित्तओ हं ।

३. वही, पृष्ठ ३८ : संवृतचारिणो नाम संवृतः संयमोपक्रमः तच्चरणशीलः संवृतचारी ।

४. वही, पृष्ठ ३८ : नित्यमेव हि ते असंवुडचारिणो बन्धहेतुषु वर्तन्ते, असंवृतत्वात् ते हि तत्प्रदोषनिह्नव—मात्सर्यादिष्वाश्रवद्वारेषु यथास्वं वर्त्तमानास्तदनुरूपमेव च यथापरिणामं कर्म बध्नन्ति ।

५. चूर्णि, पृष्ठ ३९ : एताहिं ति इहाध्याये या अपदिष्टा नियतिकाद्याः ।

वृत्तिकार ने केवल 'चार प्रकार का कर्म उपचय को प्राप्त नहीं होता'—इस बौद्ध दृष्टि को स्वीकार किया है।[1]

शारीरिक सुखों में आसक्त (सायागारवणिस्सिया)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ शरीर-सुख के प्रति आसक्त किया है।[2]

गौरव के तीन प्रकार हैं—ऋद्धि गौरव, रस गौरव, और साता गौरव। प्रस्तुत प्रसंग में साता गौरव का कथन है। इसका अर्थ है—सुखशीलता में आसक्त।[3]

श्लोक ५८ :

११०. सच्छिद्र नौका (आसाविणि णावं)

ऐसी नौका जिसके कोष्ठ (चहारदिवारी)[4] नहीं किया गया है या जिसका कोष्ठ भग्न हो गया है, उसे आस्राविणी नौका कहते हैं।[5]

जन्मान्ध (जाइअंधो)

इसका अर्थ है—जन्मान्ध। चूर्णिकार के अनुसार जात्यंध का ग्रहण इसलिए किया गया है, कि वह न नौका के मुख—अग्रभाग को जानता है और न उसके पृष्ठभाग को जानता है और न वह नाव खेने के उपकरणों का उपयोग जानता है। वह निश्छिद्र नौका को भी नहीं चला सकता, फिर छेद वाली नौका को कैसे चला सकता है ?[6]

श्लोक ६० :

१११. श्रद्धालु गृहस्थ (सड्ढी)

यह विभक्ति रहित पद है। यहां 'सड्ढीहिं'—तृतीया विभक्ति होनी चाहिए। चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—श्रद्धावान् अथवा एक साथ रहने वाले।[7]

११२. पूतिकर्म (पूइकडं)

पूतिकृत—आधाकर्म से मिश्रित आहार आदि।
देखें—दसवेआलियं ५।१।५५ का टिप्पण नं० १५४।

११३. फिर भी वह द्विपक्ष का सेवन करता है (दुपक्खं चेव सेवई)

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं[8]—

(१) गृहस्थ पक्ष और प्रव्रजित पक्ष।
(२) ईर्यापथ और सांपरायिक।
(३) पूर्वबद्ध कर्म-प्रकृतियों को गाढ करना तया नये कर्मों को बांधना।

---

१. वृत्ति, पत्र ४१ : 'इत्येताभिः' पूर्वोक्ताभिश्चतुर्विधं कर्म नोपचयं यातीति 'दृष्टिभिः' अभ्युपगमैः।
२. चूर्णि, पृष्ठ ३९ : सातागारवो नाम शरीरसुक्खं तत्र निःसृताः (निःश्रिताः) अज्झोववण्णा इत्यर्थः।
३. वृत्ति, पत्र ४१ : 'सातगौरवनिःश्रिताः' सुखशीलतायामासक्ताः।
४. आप्टे संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी—कोष्ठम् A Surrounding Wall, भागवत ४।२८।५६।
५. चूर्णि, पृष्ठ ३९ : आस्रवतीति आस्राविणी अकतकोट्ठा भुण्णकोट्ठा वा।
६. वही, पृष्ठ ३९ : जात्यन्धग्रहणं नासौ नावामुखं पृष्ठं वा जानीते, यो वा अवल्लकपत्रादेरुपकरणस्य यथोपयोगः। .... सो हि णिछिड्डं पि ण सक्केइ वट्टावेतुं, किमंग पुण सछिड्डं ?
७. चूर्णि, पृष्ठ ४० : श्रद्धा अस्यास्तीति श्राद्धो...............अथवा सड्ढि त्ति जे एगतो वसंति।
८. वृत्ति, पत्र ४२ : 'द्विपक्षं' गृहस्थपक्षं प्रव्रजितपक्षं............. यदि वा— 'द्विपक्ष' मिति ईर्यापथः सांपरायिकं च, अथवा—पूर्वबद्धा निकाचिताद्यवस्थाः कर्मप्रकृतीर्नयत्यपूर्वांश्चादत्ते।

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—गृहस्थ पक्ष और प्रव्रज्या पक्ष। वह व्यक्ति वेश की दृष्टि से संयमी और आचरण में असंयमी होता है, इसलिए वह गृहस्थ और साधु—दोनों पक्षों का सेवन करता है।[1]

श्लोक ६१ :

११४. कर्मबन्ध के प्रकारों को (विसमंसि)

चूर्णिकार का कथन है कि कर्म-बंध विषम होता है। उसे तोड़ना सरल नहीं होता। आठ कर्मों में प्रत्येक कर्म अनेक प्रकार का है और उसका बंध अनेक कारणों से होता है। प्रत्येक कर्म की अनेक प्रकृतियां हैं, अतः कर्म-बंधन से मुक्त होना विषम कार्य है।[2]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—सघन कर्म-बंध अथवा चतुर्गतिक संसार।[3]

११५. नहीं जानते (अकोविया)

जो मनुष्य प्रत्युत्पन्न में आसक्त होते हैं और भविष्य में होने वाले दोषों को नहीं जानते वे अकोविद होते हैं। वैसे व्यक्ति दुःख को प्राप्त होते हैं।[4]

११६. विशालकाय मत्स्य (मच्छा वेसालिया)

चूर्णिकार ने 'वेसालिय' के तीन अर्थ किए हैं[5]—

(१) विशाल का अर्थ है—समुद्र, उसमें होने वाले मत्स्य।
(२) विशालकाय मत्स्य।
(३) 'विशाल'—नामक विशिष्ट मत्स्य जाति में उत्पन्न मत्स्य।

वृत्तिकार ने भी ये ही तीन अर्थ किये हैं।[6]

ज्वार के साथ नदी के मुहाने पर आते हैं (उदगस्सऽभियागमे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—पानी का समुद्र से बाहर फेंका जाना किया है। मतांतर में इसका अर्थ ज्वार का आना और जाना भी किया है।[7]

११७. कम हो जाता है (प्पभावेणं)

अल्पभाव का अर्थ है—थोड़ा।[8]

वृत्तिकार ने इसको 'प्रभाव' शब्द मानकर व्याख्या की है। उनका कहना है कि ज्वार के पानी के प्रभाव से वे विशालकाय मत्स्य नदी के मुहानों पर आ जाते हैं।[9]

वृत्तिकार का यह अर्थ उचित नहीं लगता, क्योंकि यह 'उदगस्सऽभियागमे' में आ गया है। अतः यहां 'अल्पभाव' वाला अर्थ ही उचित है।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४० : दुपक्खं णाम पक्षौ द्वौ सेवते, तद्यथा—गृहित्वं प्रव्रज्यां च। .... दव्वतो लिंगं भावतो असंजतो। एवं ते प्रव्रजिता अपि भूत्वा आधाकर्मादिभोजने गृहस्था एव सम्पद्यन्ते।

२. वही, पृष्ठ ४० : विसमो णाम बंध-मोक्खो, कम्मबंधो वि विसमो, जतो एक्केक्कं कम्मणेगप्पगारं अणेगेहिं च पगारेहिं बज्झते...... .... ।

३. वृत्ति, पत्र ४२, विषमः अष्टप्रकारकर्मबन्धो भवकोटिभिरपि दुर्मोक्षः चतुर्गतिसंसारो वा।

४. चूर्णि, पृष्ठ ४० : ते अयाणगा प्रत्युत्पन्नगृद्धाः अनागतदोष (वा)—दर्शनाद् आधाकर्मादिभिर्दोषैः कर्मबद्धाः संसारे दुःखमाप्नुवन्ति।

५. वही, पृ० ४० : विशाल समुद्रः विशाले भवाः वैशालिकाः, बृहत्प्रमाणाः अथवा विशालकाः वैशालिका.।

६. वृत्ति, पत्र ४२।

७. चूर्णि, पृ० ४० : उदगस्य अभ्यागमो नाम समुद्रान्निस्सरणम्, केचित्तु पुनः प्रवेशः।

८. चूर्णि पृ० ४० : अप्पभावो णाम उदगस्स अल्पभावः।

९. वृत्ति, पत्र ४२ :......उदकस्स प्रभावेन नदीमुखमागताः।

११८. नदी की बालू सूख जाती है तब (सुक्कम्मि)

पानी का प्रवाह आता है और तत्काल चला जाता है तब वहां कुछ पानी शेष रह जाता है या कीचड़ बन जाता है। ये सारी अवस्थाएं 'शुष्क' शब्द से गृहीत हैं।[1]

११९. मांसार्थी (आमिसत्थेहिं)

हमने इसको ढंक और कंक पक्षियों का विशेषण माना है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसे विशेषण न मान कर स्वतन्त्र माना है। मांसार्थी अर्थात् शृंगाल, पक्षि, मनुष्य, मार्जार आदि। यह चूर्णिकार का अर्थ है।[2]

वृत्तिकार के अनुसार वे मनुष्य जो मांस और चर्बी पाने के इच्छुक हैं तथा वे जो मत्स्य आदि को बेचकर अपनी आजीविका चलाते हैं वे मांसार्थी कहलाते हैं।[3]

दुःखी (दुही)

कुछ मत्स्य जो ज्वार के साथ तट पर आ जाते हैं, वे भाटा के आने पर पानी के साथ पुनः समुद्र में चले जाते हैं और कुछ मत्स्य थोड़े से पानी में फंस जाते हैं। मांसार्थी पशु-पक्षी अपने तीक्ष्ण दांतों और चोंचों से उनका मांस नोंच-नोंच कर खाते हैं तब वे मत्स्य बहुत दुःखी होते हैं।[4]

१२०. ढंक और कंक पक्षियों के द्वारा (ढंकेहि य कंकेहि य)

प्रस्तुत आगम में ये शब्द तीन स्थानों पर आए हैं। दो स्थानों पर ढंक और कंक तथा एक स्थान पर ढंक आदि।

१. ढंकेहि य कंकेहि य (१।१।६२)
२. जधा ढंका य कंका य (१।११।२७)
३. ढंकादि (१।१४।२)

चूर्णिकार ने प्रथम निर्दिष्ट स्थान में इनका कोई अर्थ नहीं किया है। तात्पर्यार्थ में ये मांसभक्षी पक्षी हैं। दूसरे स्थल पर इनका अर्थ जलचर पक्षी, जो तृण नहीं खाते, केवल उदक का आहार करते हैं—पानी के जीवों का भोजन करते हैं, किया है। तीसरे स्थल पर इन्हें केवल पक्षी माना है।[5]

वृत्तिकार ने तीन स्थानों पर इनके अर्थ इस प्रकार किए हैं[6]—

१. मांस में आसक्त रहने वाले पक्षी विशेष।
२. मांसाहारी पक्षी विशेष जो जलाशयों पर रहते हैं और मछलियों को पाने में तत्पर रहते हैं।
३. मांसभक्षी क्षुद्रजीव।

बौद्ध शब्दकोष में ढंक का अर्थ काक (crow) किया है।[7]

---

१. चूर्णि पृ० ४० : प्रत्यावृत्ते उदगे शुष्का एव बालुका संवृत्ता पङ्को वा।
२. चूर्णि, पृ० ४० : आमिषाशिनः शृगाल-पक्षि-मनुष्य-मार्जारादयः।
३. वृत्ति, पत्र ४२ : मांसवसार्थिभिर्मत्स्यवन्धादिभिर्जीवन्त एव।
४. चूर्णि, पृ० ४० : यदृच्छया च केचित् पुनः वीचीमासाद्य वर्द्धमाने च उदके समुद्रमेव विशन्ति। दुहि त्ति तैस्तीक्ष्णतुण्डैः पिशिताशिभिरश्यमानास्तीव्रं दुःखमनुभवन्तो अट्टदुहट्टवसट्टा मरंति।
५. (क) चूर्णि पृ० ४०......एतेनान्ये आमिषाशिनः।
(ख) वही, पृ० २०१......जलचरपक्षिजातिरेव......एते हि न तृणाहाराः केवलोदकाहारा वा।
(ग) वही, पृ० २२८......ढङ्कः पंखी।
६. (क) वृत्ति पत्र ४२ : आमिषगृध्नुभिर्ढङ्कैः कङ्कैश्च पक्षिविशेषैः।
(ख) वही, पृ० २०७ : ढङ्कादयः—पक्षिविशेषा जलाशयाश्रया आमिषजीविनो मत्स्यप्राप्तिं ध्यायन्ति।
(ग) वही पृ० २४९ : 'ढङ्कादयः'—क्षुद्रसत्त्वाः पिशिताशिनः।
७. पालि इंगलिश डिक्शनरी (P.T.S.)

राजस्थानी में ढंक को 'ढींकड़ा' (बड़ा काग) कहते हैं।

पिशेल ने 'ढंक' का संस्कृत रूप 'ध्वांक्ष' किया है।

महाराष्ट्री में इसे 'ढंख' कहा जाता है।[1]

प्रश्नव्याकरण में अनेक पक्षियों के नाम आए हैं—उनमें एक पक्षी का नाम है 'ढिंक'।[2] यह भी 'ढंक' का ही वाचक है।

कंक शब्द के दस अर्थ हैं। उनमें चार अर्थ—गृध्र, काक, कोक (चक्रवाक) और पिक (कोयल) ये पक्षीवाची हैं।

कंकस्तरंगे गुप्ते च, गृध्रे काके युधिष्ठिरे।
कूले मधुरिपौ कोके, पिके वैकस्वतेऽप्यथ ॥[3]

हिन्दी शब्दसागर में कंक के तीन अर्थ किए हैं—

१. मांसाहारी पक्षी जिसके पंख बाणों में लगाए जाते हैं।
२. सफेद चील—इसका पृष्ठभाग बहुत मजबूत और लोहवर्ण का होता है।
३. बगुला, बतख।

१२१. मृत्यु को प्राप्त होते हैं (घातमेंति)

समुद्र के विशालकाय मत्स्य ज्वार-भाटे के पानी के साथ बहकर चर पर आ जाते हैं। पानी का प्रवाह वेग से लौट जाता है। मत्स्य विशालकाय होने के कारण उस थोड़े से पानी में तैर नहीं सकते और मुड़ते समय वहीं फंस जाते हैं।[4]

चूर्णिकार ने 'घंत' पाठ मान कर इसके दो अर्थ किए हैं—१. घात से होने वाला अंत। २. मृत्यु।[5]

वृत्तिकार ने 'घात' का अर्थ विनाश किया है।[6]

श्लोक ६३ :

१२२. वर्तमान सुख की एषणा करने वाले कुछ श्रमण (समणा एगे वट्टमाणसुहेसिणो)

चूर्णिकार ने अन्यतीर्थिक और पार्श्वस्थ (स्वतीर्थिक शिथिलाचारी मुनि) को श्रमण माना है।[7] वृत्तिकार ने इस शब्द के द्वारा शाक्य, पाशुपत, और जैन मुनियों का सूचन किया है।[8]

वर्तमान सुख की एषणा करने वाले व्यक्ति परिणाम पर ध्यान नहीं देते। वे केवल वर्तमान क्षण का ही विचार करते हैं। प्रस्तुत श्लोक में उन मुनियों को वर्तमान सुख की एषणा करने वाला माना है जो आधाकर्म आदि अशुद्ध आहार की प्राप्ति में ही सुख का अनुभव करते हैं। वे यह नहीं सोचते कि आधाकर्म के उपभोग से क्या-क्या कटु परिणाम उन्हें भोगने होंगे।[9]

१२३. अनंत बार······प्राप्त होते हैं (एसंतणंतसो)

यहां दो शब्द हैं—एष्यन्ति और अनन्तशः।

---

१. पिशल, पेरा २१५ पृ० ३३३।
२. पण्हावागरणाइं १।६।
३. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी 'कङ्कः', पृ० ५१६।
४. चूर्णि पृ० ४० : स च महाकायत्वान्न तत्र शक्नोति तर्तुम्, परिवर्त्तमानो वा नदीमुखे लग्यते।
५. चूर्णि, पृ० ४०।
६. वृत्ति, पत्र ४२।
७. चूर्णि, पृ० ४० : अण्णउत्थिया पासत्थादयो वा।
८. वृत्ति, पत्र ४२ : श्रमणाः······शाक्यपाशुपतादयः स्वयूथ्या वा।
९. वृत्ति, पत्र ४२ : वर्तमानसुखैषिणः······तत्कालावाप्तसुखलवासक्तचेतसोऽनालोचिताधाकर्मोपभोगजनितातिकटुकदुःखौघानुभवाः।

मत्स्य केवल उसी भव में मारे जाते हैं, किन्तु जो श्रमण वर्तमान सुखैषी होते हैं वे अनन्त जन्म-मरण करते हैं।[1]

वृत्तिकार ने 'एष्यन्ति' का अर्थ 'अनुभव करेंगे'—किया है।[2] इसका धात्वर्थ है—प्राप्त होंगे।

श्लोक ६४ :

१२४. देव द्वारा उप्त है (देवउत्ते)

जैसे कृषक बीजों का वपन कर फसल उगाता है वैसे ही देवताओं ने बीज वपन कर इस संसार का सर्जन किया है।

'उत्त' शब्द के संस्कृत रूप तीन हो सकते हैं—उप्त, गुप्त और पुत्र। इनके आधार पर 'देवउत्त' शब्द के तीन अर्थ किए जा सकते हैं[3]—

१. देवउत्त—देव द्वारा बीज वपन किया हुआ।
२. देवगुप्त—देव द्वारा पालित।
३. देवपुत्र—देव द्वारा उत्पादित।

१२५. ब्रह्मा द्वारा उप्त है (बंभउत्ते)

इसका अर्थ है—ब्रह्मा द्वारा बीज-वपन किया हुआ। कुछ प्रावादुक मानते हैं कि ब्रह्मा जगत् का पितामह है। जगत् सृष्टि के आदि में वह अकेला था। उसने प्रजापतियों की सृष्टि की। उन्होंने फिर क्रमशः समस्त संसार को बनाया।[4]

इनके भी तीन अर्थ होते हैं—[5]

१. ब्रह्मउप्त—ब्रह्मा द्वारा बीज-वपन किया हुआ।
२. ब्रह्मगुप्त—ब्रह्मा द्वारा पालित।
३. ब्रह्मपुत्र—ब्रह्मा द्वारा उत्पादित।

श्लोक ६५ :

१२६. कुछ कहते हैं—यह (लोक) प्रधान—प्रकृति द्वारा कृत है (पहाणाइ पहावए)

प्रधान का अर्थ है—सांख्य सम्मत प्रकृति।

इसका अपर नाम अव्यक्त भी है। सत्त्व, रजस् और तमस्—इन तीन गुणों की साम्यावस्था को प्रकृति कहा जाता है। वह पुरुष (आत्मा) के प्रति प्रवृत्त होती है।

इस शब्द में प्रयुक्त आदि शब्द से वृत्तिकार ने प्रकृति से सृष्टि के सर्जन का क्रम उल्लिखित किया है—प्रकृति से महान् (बुद्धि), महान् से अहंकार, अहंकार से षोडशक गण (पांच बुद्धीन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच तन्मात्र और मन), फिर पांच तन्मात्र से पांच भूतों की सृष्टि होती है। अथवा आदि शब्द से स्वभाव आदि का ग्रहण किया है। कुछ प्रावदुक कहते हैं—जैसे कांटों की तीक्ष्णता स्वभाव से ही होती है, वैसे ही यह लोक भी स्वभाव से ही बना है।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४० : मच्छा एगभवियं मरणं पावेंति एवमणेगाणि जाइतव्वमरितव्वाणि पावंति।

२. वृत्ति, पत्र ४२ : एष्यन्ति अनुभविष्यन्ति।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४१ : देवउत्ते········देवेहि अयं लोगो कतो, उत्त इति बीजवद् वपितः आदिसर्गे······देवगुत्तो देवैः पालित इत्यर्थः। देवपुत्तो वा देवैर्जनित इत्यर्थः।
(ख) वृत्ति, ४३ : देवेनोप्तो देवोप्तः, कर्षकेणेव बीजवपनं कृत्वा निष्पादितोऽयं लोक इत्यर्थः देवैर्वा गुप्तो—रक्षितो देवगुप्तो देव-पुत्रो वा।

४. वही, पत्र ४३ : तथाहि तेषामयमभ्युपगमः—ब्रह्मा जगत्पितामहः, स चैक एव जगदादावासीत्तेन च प्रजापतयः सृष्टाः तैश्च क्रमेणैतत्सकलं जगदिति।

५. चूर्णि, पृष्ठ ४१ : एवं बंभउत्ते वि तिण्णि विकप्पा भाणितव्वा—बंभउत्तः बंभगुत्तः बंभपुत्त इति वा।

कुछ प्रावादुक कहते हैं—मयूर की पांखों की तरह यह लोक भी नियति द्वारा कृत है।[1]

'पहाणाइ'—इस शब्द में 'कडे' शब्द शेष रहता है। 'पहाणाइ कडे'—ऐसा होना चाहिए।

इस विशाल जगत् का मूल कारण क्या है, इस विषय में सभी दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से चिन्तन प्रस्तुत किया है। सांख्य दर्शन के अनुसार मूल तत्त्व दो हैं—चेतन और अचेतन। ये दोनों अनादि और सर्वथा स्वतंत्र हैं। चेतन अचेतन का अथवा अचेतन चेतन का कार्य या कारण नहीं हो सकता। इस दृष्टि से सांख्य दर्शन सृष्टिवादी नहीं है। वह सत्कार्यवादी है। अचेतन जगत् का विस्तार 'प्रधान' से होता है, इस अपेक्षा से सूत्रकार ने सांख्य दर्शन को सृष्टिवाद की कोटि में परिगणित किया है।

प्रधान का एक नाम प्रकृति है। वह त्रिगुणात्मिका होती है। सत्व, रजस् और तमस्—ये तीन गुण हैं। इनकी दो अवस्थाएं होती हैं—साम्य और वैषम्य। साम्यावस्था में केवल गुण ही रहते हैं। यही प्रलयावस्था है। वैषम्यावस्था में वे तीनों गुण विभिन्न अनुपातों में परस्पर मिश्रित होकर सृष्टि के रूप में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार अचेतन जगत् का मुख्य कारण यह 'प्रधान' या 'प्रकृति' ही है।

प्रकृति की विकाररहित अवस्था मूल प्रकृति है। उससे महत्—बुद्धि नामक तत्त्व उत्पन्न होता है। महत् से अहंकार, अहंकार से मन, दस इन्द्रियां (पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां) और पांच तन्मात्राएं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) उत्पन्न होती हैं। इन पांच तन्मात्राओं से पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं—शब्द तन्मात्रा से आकाश उत्पन्न होता है। शब्द तन्मात्रा सहित स्पर्श तन्मात्रा से वायु उत्पन्न होता है। शब्द और स्पर्श तन्मात्राओं से युक्त रूप तन्मात्रा से तेज उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्राओं से युक्त रस तन्मात्रा से जल उत्पन्न होता है। शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्राओं से युक्त गन्ध तन्मात्रा से पृथ्वी उत्पन्न होती है।[2]

इन चौबीस तत्त्वों में प्रकृति किसी से उत्पन्न नहीं होती। वह अनादि है। उसका कोई मूल नहीं है। इसलिए उसे मूल कहा जाता है[3] मूल प्रकृति अविकृति होती है। महत्, अहंकार और पांच तन्मात्राएं—ये सात तत्त्व प्रकृति और विकृति दोनों में होते हैं। इनसे अन्य तत्त्व उत्पन्न होते हैं, इसलिए ये प्रकृति हैं और ये किसी न किसी अन्य तत्त्व से उत्पन्न होते हैं, इसलिए विकृति भी हैं। सोलह तत्त्व (दस इन्द्रियां, पांच महाभूत और मन) केवल विकृति हैं। पुरुष किसी को उत्पन्न नहीं करता इसलिए वह प्रकृति नहीं है और वह किसी से उत्पन्न नहीं होता, इसलिए वह विकृति भी नहीं है।[4] मूल प्रकृति पुरुष—दोनों अनादि हैं।[5] शेष तेईस तत्त्व प्रकृति के विकार हैं। यही प्रधानकृत सांख्य-सृष्टि का स्वरूप है।

सृष्टिवाद के विविध पक्षों का निरूपण वैदिक और श्रमण साहित्य में मिलता है। सूत्रकार ने सृष्टि विषयक जिन मतों का संकलन किया है उनका आधार इस साहित्य में खोजा जा सकता है। सृष्टि के संबंध में कुछ अभिमत यहां प्रस्तुत हैं—

१. ऋग्वेद के दसवें मंडल में सृष्टि के विषय की अनेक ऋचाएं हैं। ८१,८२ वीं ऋचा में कहा गया है कि विश्वकर्मा ने संसार की सृष्टि की। ८१वीं ऋचा में पूछा गया—सृष्टि का आधार क्या है? सृष्टि की सामग्री क्या थी? आकाश और पृथ्वी का निर्माण कैसे हुआ? इनके उत्तर में कहा गया है—एक ईश्वर था। वह चारों ओर देखता था। उसका मुंह सभी दिशाओं में था। उसके हाथ-पैर सर्वत्र थे। आकाश-पृथ्वी के निर्माण के समय उसने उन सबका प्रयोग किया। सारी सृष्टि बन गई।

ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में पुरुष (आदिपुरुष) को सृष्टि का कर्त्ता माना है। उसके हजार सिर, हजार आंखें और हजार पैर थे। सारी सृष्टि उसकी है। उस पुरुष से 'विराज' उत्पन्न हुआ और उससे दूसरा पुरुष 'हिरण्यगर्भ' पैदा हुआ।

कुछेक सूक्तों में कहा गया है कि पहले हिरण्यगर्भ उत्पन्न हुआ, जो स्वर्ण-अंड के रूप में था। वही प्रजापति है।

---

१ वृत्ति, पत्र ४३।

२. सांख्यकारिका, श्लोक २२ : प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि॥

३. सांख्य सूत्र १/६७ : मूले मूलाभावादमूलं मूलम्।

४. सांख्यकारिका, श्लोक ३ : मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥

५. गीता १३/१९ : प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।

२. अथर्ववेद में सृष्टि के विषय में अनेक उल्लेख हैं। वे सब ऋग्वेद के ही उपजीवी कहे जा सकते हैं।

इस वेद के १६ वें कांड के ५३, ५४ में काल को सृष्टि का सर्जक माना है। काल ने ही प्रजापति, स्वयंभू, काश्यप आदि को उत्पन्न किया। उससे ही सारी सृष्टि पैदा हुई।

विभिन्न ब्राह्मण ग्रंथों में भी सृष्टि विषयक चर्चा उपलब्ध होती है—

१. सत्पथ ब्राह्मण ६/१/१ में—

पहले असत् (अव्यक्त) था। वह ऋषि और प्राणरूप था। सात प्राणों से प्रजापति की उत्पत्ति हुई। प्रजापति के मन में यह विकल्प उठा—'मैं एक से अधिक होऊं।' उन्होंने तपस्या की। तपस्या में थक जाने के कारण उन्होंने पहले ब्रह्मा को उत्पन्न किया। उसने पानी को उत्पन्न किया। उससे अंडा पैदा हुआ। प्रजापति ने उसे छूआ। उससे पृथ्वी आदि अस्तित्व में आए।

२. इसी ब्राह्मण ग्रंथ के ११/१/६/१ में इस प्रकार का वर्णन है—

पहले केवल पानी था। पानी के मन में उत्पन्न करने की बात उठी। पानी तपस्या करने गया। एक अंडा जन्मा जो एक वर्ष तक पानी पर तैरता रहा। एक वर्ष बाद पुरुष, प्रजापति का जन्म हुआ। उसने अंडे को तोड़ा। उसने अपने श्वास से देवताओं को जन्म दिया। फिर अग्नि, इन्द्र, सोम आदि पैदा हुए।

३. तैतरीय ब्राह्मण II २/६/१ :

पहले कुछ नहीं था। न स्वर्ग था। न पृथ्वी थी। न आकाश था। उस असत् ने 'होने' की बात से मन को पैदा किया। वही सृष्टि। (इदं वा अग्रे नैव किंचनासीत्। न द्यौरासीत्। न पृथिवी। न चान्तरिक्षम्। तदसदेव सन् मनो अकुरुत स्यामिति।)

उपनिषदों में सृष्टि-निर्माण की विभिन्न कल्पनाएं हैं—

१. वृहदारण्यक उपनिषद् I ४/३, ४, ७ :

पहले एक ही आत्मा पुरुष के रूप में था। उसे अकेले में आनन्द नहीं आया। उसमें एक से दो होने की भावना जागी। उसने अपनी आत्मा को दो भागों में बांटा। एक भाग स्त्री और दूसरा भाग पुरुष बना। दोनों पति-पत्नी के रूप में रहे। उससे सारी मानव-सृष्टि का अस्तित्व आया। फिर प्राणी जगत् बना। फिर नाम-रूप में आत्मा का प्रवेश हुआ।

२. छान्दोग्य उपनिषद् ६/२३-४; ६/३/२-३ :

पहले केवल सत् था। एक से अनेक होने की चाह जगी। उसने तेज उत्पन्न किया। तेज से पानी उत्पन्न हुआ। पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई। दिव्य शक्ति ने तीनों—तेज, पानी और पृथ्वी में प्रवेश कर उन्हें नाम-रूप दिया।

३ ऐतरेय उपनिषद् III ३ :

पहले केवल आत्मा था। कुछ भी सचेतन नहीं। उसने सोचा—मैं सृष्टि की रचना करूं। पहले अंभस् को उत्पन्न किया। उसके बाद मरीचि—आकाश, मृत्यु और पानी को उत्पन्न किया।.........फिर विश्व का भर्त्ता आदि-आदि।

४. तैतरीय उपनिषद् II ६ :

आत्मा था। उसने सोचा—अकेला हूं, बहुत होऊं। तपस्या कर विश्व की सृष्टि की। सर्जन के पश्चात् उसमें प्रवेश कर दिया।

पहले केवल असत् था, फिर सत् उत्पन्न हुआ। दूसरे शब्दों में पहले अव्यक्त था, फिर व्यक्त हुआ। ब्रह्मा स्वयं जगत् के स्रष्टा हैं और सर्जित हैं।

५. श्वेताश्वतर उपनिषद् ३/२-३

रुद्र सृष्टि का स्रष्टा है। ईश्वर 'मायी' है। उसमें असीम शक्ति है। वह माया के द्वारा विश्व की सृष्टि करता है। माया इश्वरीय शक्ति है।[1]

---

१. दी प्रिन्सिपल उपनिषदाज, भूमिका पृ० ८२-८३ डा० राधाकृष्णन।

मुंडक उपनिषद् २/१ में कहा गया है कि ब्रह्मा से आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी, पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई। आकाश का एक गुण है शब्द। वायु में दो गुण हैं—शब्द और स्पर्श। अग्नि में तीन गुण हैं—शब्द, स्पर्श और वर्ण। पानी में चार गुण हैं—शब्द, स्पर्श, वर्ण और स्वाद। पृथ्वी में पांच गुण हैं—शब्द, स्पर्श, वर्ण, स्वाद और गंध। इनके विभिन्न मात्रा के मिश्रण से सृष्टि की रचना हुई।

सुबाला उपनिषद् १।१ में उल्लेख है कि ऋषि सुबाला ने ब्रह्मा से सृष्टि विषयक प्रश्न पूछा। ब्रह्मा ने कहा—पहले अस्तित्व था—ऐसा भी नहीं है, पहले अस्तित्व नहीं था—ऐसा भी नहीं है, पहले अस्तित्व था भी और नहीं भी—ऐसा भी नहीं है। सबसे पहले तमस् पैदा हुआ। उससे भूत उत्पन्न हुए। उनसे आकाश, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से अप् और अप् से पृथ्वी उत्पन्न हुई। उसके बाद अंडा उत्पन्न हुआ। एक वर्ष की परिपक्वता के बाद वह अंडा फूटा। ऊपर का भाग आकाश, नीचे का पृथ्वी और मध्य में दिव्य पुरुष। .... उसने मृत्यु को उत्पन्न किया। वह तीन आंखों, तीन सिर और तीन पैरों से युक्त खंड परशु था। ब्रह्मा उससे भयभीत हो गया। मृत्यु उसी में प्रविष्ट हो गई। ब्रह्मा ने सात मानस-पुत्रों को जन्म दिया। उन्होंने सात पुत्रों को जन्म दिया। वे प्रजापति कहलाए। ....

स्मृतियों में सृष्टि की रचना विषयक चर्चा—

१. मनुस्मृति I, ५-१९—

पहले केवल तमस् व्याप्त था। वह अविमृश्य, अतर्क्य और अज्ञात था। ईश्वरीय शक्ति ने तमस् का नाश किया। उसने अपने ही शरीर से विविध प्रकार के प्राणियों की रचना करने के लिए सबसे पहले पानी की सृष्टि की। उसमें अपना बीज बोया। वह बीज स्वर्ण-अंडे के रूप में विकसित हुआ। वह सूर्य जैसा तेजस्वी था। उस अंडे में स्वयं वह उत्पन्न हुआ। वह ब्रह्मा कहलाया। वही नारायण नाम से अभिहृत हुआ, क्योंकि पानी को 'नारा' (नारा के अपत्य) कहा गया है और वह पानी ब्रह्मा का प्रथम विश्राम-स्थल था। सृष्टि का प्रथम कारण न सत् था, न असत् था। उससे जो उत्पन्न हुआ वह ब्रह्मा कहलाया। स्वर्ण-अंडे में वह दिव्य शक्ति एक वर्ष तक रही। अंडे के दो भाग हुए। एक भाग स्वर्ग बना और एक भाग पृथ्वी। इन दो के मध्य मध्यलोक, आठ दिशाएं और समुद्र बना। उस दिव्य शक्ति ने अपने से मन निकाला ....। मन से अहंकार और महत्—आत्मा उत्पन्न हुए। सारी सृष्टि तीन गुणों का मिश्रण मात्र है।

२. मनुस्मृति I, ३२-४१—

ब्रह्मा ने अपने शरीर को दो भागों में बांटा—एक पुरुष, दूसरा स्त्री। स्त्री ने 'विराज' को उत्पन्न किया। उसने तपस्या कर एक पुरुष को जन्म दिया। वही मनु कहलाया। मनु ने पहले दस प्रजापतियों को जन्म दिया। उनसे सात मनु, ईश्वर, देवता, ऋषि, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सराएं, सर्प, पक्षी तथा अन्यान्य सभी जीव और नक्षत्र उत्पन्न हुए।

३. मनुस्मृति I, ७४-७८—

ब्रह्मा गाढ़ निद्रा से जागृत हुए। सृष्टि का विचार उत्पन्न हुआ। उन्होंने पहले आकाश को उत्पन्न किया। आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से पानी और पानी से पृथ्वी उत्पन्न हुई। यह समूची सृष्टि का आदि-क्रम है।

इसी प्रकार महाभारत के अध्याय १७५-१८० के अनेक स्थलों में सृष्टि की चर्चा प्राप्त है।

विभिन्न पुराणों में भी सृष्टि की चर्चा मिलती है। इन सारी उत्तरवर्ती चर्चा का मूल स्रोत ब्राह्मण ग्रंथ और उपनिषद् हैं।

सृष्टि की रचना अंडे से हुई, यह सिद्धान्त बहुमान्य रहा है। छांदोग्य आदि उपनिषदों में भी इसकी चर्चा है।

ऋषिभाषित में भी अंडे से उत्पन्न सृष्टि की संक्षिप्त चर्चा प्राप्त है। श्रीगिरि अर्हत् के अनुसार पहले केवल जल था। उसमें एक अंडा उत्पन्न हुआ। वह फूटा और लोक निर्मित हो गया। उसने श्वास लेना प्रारंभ किया। यह वरुण-विधान है। जल का देवता वरुण है। इसलिए यह सृष्टि वरुण की सृष्टि है।[1]

१२७. स्वयंभू ने इस लोक को बनाया (सयंभुणा कडे लोए)

चौदह मनुओं में सृष्टि स्वयंभू कृत है। ब्रह्मा का अपर नाम स्वयंभू है, क्योंकि वे अपने आप उस अंडे से उत्पन्न हुए थे। पहले मनु का नाम 'स्वयंभू' है।

१. इसिभासियाइं, अध्ययन ३७; पृ० २३७: एत्थ अंडे संतत्ते एत्थ लोए संभूते। एत्थं सासासे। इयं णे वरुणविहाणे......।

१२८. मृत्यु से युक्त माया की रचना की (मारेण संथुया माया)

प्रस्तुत चरण में वैदिक साहित्य में उल्लिखित मृत्यु की उत्पत्ति की कथा का संकेत है—

ब्रह्मा ने जीवाकुल सृष्टि की रचना की। पृथ्वी जीवों के भार से आक्रान्त हो गई। वह और अधिक भार वहन करने में असमर्थ थी। वह दौड़ी-दौड़ी ब्रह्मा के पास आकर बोली—'प्रभो ! यदि सृष्टि का यही क्रम रहा तो मैं भार कैसे वहन कर सकूंगी ? यदि सब जीवित ही रहेंगे तो भार कैसे कम होगा ? उस समय परिषद् में नारद और रुद्र भी थे। ब्रह्मा ने कहा—मैं अपनी सृष्टि का विनाश कैसे कर सकता हूं ? उन्होंने विश्व प्रकाश से एक स्त्री का निर्माण किया। वह दक्षिण दिशा से उत्पन्न हुई, इसलिए उसका नाम मृत्यु रखा। उसे कहा—तुम प्राणियों का विनाश करो। यह सुनते ही मृत्यु कांप उठी। वह रोने लगी। अरे, मुझे ऐसा जघन्य कार्य करना होगा। उसकी आंखों से आंसू पड़ने लगे। ब्रह्मा ने सारे आंसू इकट्ठे कर लिए। मृत्यु ने पुनः तपस्या की। ब्रह्मा ने कहा—ये लो तुम्हारे आंसू। जितने आंसू हैं उतनी ही व्याधियां—रोग हो जाएंगे। इनसे प्राणियों का स्वतः विनाश होगा। वह धर्म के विपरीत नहीं होगा। मृत्यु ने बात मान ली।[1]

चूर्णिकार ने इसका विवरण इस प्रकार दिया है—विष्णु ने सृष्टि की रचना की। अजरामर होने के कारण सारी पृथ्वी जीवाकुल हो गई। भार से आक्रान्त होकर पृथ्वी प्रजापति के सम्मुख उपस्थित हुई। प्रजापति ने प्रलय की बात सोची। सब प्रलय हो जाएगा—यह देखकर पृथ्वी भयभीत होकर कांपने लगी। प्रजापति ने उस पर अनुकंपा कर व्याधियों के साथ मृत्यु का सर्जन किया। उसके पश्चात् धार्मिक तथा सहज-सरल प्रकृति वाले सभी मनुष्य देवलोक में उत्पन्न होने लगे। सारा स्वर्ग उनके अत्यधिक भार से आक्रान्त हो गया। स्वर्ग प्रजापति के पास उपस्थित हुआ। तब प्रजापति ने मृत्यु के साथ माया का सर्जन किया। लोग माया प्रधान होने लगे। वे नरक में उत्पन्न होने लगे। प्रजापति ने स्वर्ग से कहा—'लोग शास्त्रों को जानते हुए तथा अपने संशयों को नष्ट करते हुए भी, शास्त्रानुसार प्रवृत्ति नहीं करेंगे। (इसके अभाव में वे स्वर्ग में उत्पन्न नहीं होंगे।) इसलिए स्वर्ग ! तुम जाओ। अब तुम्हें कोई भय नहीं है।[2]

सूत्रकृतांग के प्रस्तुत श्लोक (१।६६) के अन्तिम दो चरण इस प्रकार हैं—'मारेण संथुया माया, तेण लोए असासए।' यह वाक्य उक्त कथानक का पूरा द्योतक नहीं है। आचार्य नागार्जुन ने इस स्थान पर जो श्लोक मान्य किया है वह अक्षरशः इस कथानक का द्योतक है। वह श्लोक इस प्रकार है—

"अतिवड्ढिय जीवा णं, मही विण्णवते पभुं।
ततो से माया संजुत्ते, करे लोगस्सभिद्दवा॥"

चूर्णिकार ने यह श्लोक 'नागार्जुनीयास्तु पठन्ति' कह कर उद्धत किया है।[3] वास्तव में यही श्लोक यहां होना चाहिए था।

चूर्णिकार ने 'मार' का अर्थ विष्णु किया है। विष्णु को सृष्टि का कर्त्ता मानने वाले कहते हैं कि विष्णु ने स्वयं स्वर्गलोक से एक अंश में अवतीर्ण होकर इन सभी लोकों की सृष्टि की। वह सब सृष्टि का विनाशकर्त्ता है इसलिए 'विष्णु' को ही 'मार'

---

१. महाभारत, द्रोणपर्व अध्याय ५३।

२. चूर्णि, पृष्ठ ४१ : यदा विष्णुना सृष्टा लोकास्तदा अजरामरत्वात् तैः सर्वा एवेयं मही निरन्तरमाकीर्णा, पश्चादसावतीवभाराक्रांता मही प्रजापतिमुपस्थिता।.........

......ततस्तेन परित्रा (णा) य स्वयं मह्या विज्ञप्तेन 'मा भूल्लोकः सर्व एव प्रलयं यास्यति इति, भूमेरभावात्' तां च भयविह्वलाङ्गी अनुकम्पता व्याधिपुरस्सरो मृत्युः सृष्टः। ततस्ते धर्मभूयिष्ठाः प्रकृत्यार्जवयुक्ता मनुष्याः सर्व एव देवेषूपपद्यन्ते स्म। ततः स्वर्गोऽपि अतिगुरुभाराक्रान्तः प्रजापतिमुपतस्थौ, ततस्तेन मारेण संस्तुता माया, मारो णाम मृत्युः, संस्तवो नाम साङ्गत्यम्, उक्तं हि—मातृपुव्वसंयवः, मृत्युसहगता इत्यर्थः। ततस्ते मायाबहुला मनुष्याः केचिदेकमृत्युधर्ममनुभूय नरकादिषु यथाक्रमत उपपद्यन्ते स्म। उक्तं च—

जानन्तः सर्वशास्त्राणि छिन्दन्तः सर्वसंशयान्।
न ते तथा करिष्यन्ति गच्छ स्वर्गं न ते भयम्॥

३. वही, पृष्ठ ४१।

कहा है।[1] ये 'मार' का अर्थ मृत्यु भी करते हैं।[2]

वृत्तिकार का कथन है कि स्वयंभू ने लोक की सृष्टि की। वह अतिभार से आक्रान्त न हो जाए, इस भय से उसने 'यम' नामक 'मार' (मृत्यु) की सृष्टि की। उस 'मार' ने माया को जन्म दिया। उस माया से लोक मरने लगे।[3]

श्लोक ६७ :

१२९. यह जगत् अंडे से उत्पन्न हुआ है (अंडकडे)

चूर्णिकार का कथन है कि ब्रह्मा ने अण्डे का सर्जन किया। वह जब फूटा तब सारी सृष्टि प्रकट हुई।[4]

वृत्तिकार ने माना है कि ब्रह्मा ने पानी में अंडे की सृष्टि की। वह बड़ा हुआ। जब वह दो भागों में विभक्त हुआ तब एक भाग ऊर्ध्व लोक, दूसरा भाग अधोलोक और उनके मध्य में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, आकाश, समुद्र, नदी, पर्वत आदि आदि की संस्थिति हुई।

वृत्तिकार ने एक श्लोक उद्धृत करते हुए यह बताया है कि सृष्टि के आदि-काल में तमस् ही था।[5]

श्लोक ६८ :

१३०. श्लोक ६८ :

पूर्ववर्ती चार श्लोकों (६४-६७) में सृष्टिवाद का मत उल्लिखित कर प्रस्तुत श्लोक में सूत्रकार अपना अभिमत प्रदर्शित करते हैं। जगत् के विषय में दो नयों से विचार किया गया है। इस जगत् को सृष्टि माना भी जा सकता है और नहीं भी माना जा सकता। द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से यह जगत् शाश्वत है। जितने द्रव्य थे उतने ही रहेंगे। एक अणु भी नष्ट नहीं होता और एक अणु भी नया उत्पन्न नहीं होता। पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से इस जगत् को सृष्टि कहा जा सकता है, किन्तु यह है कर्त्ता-विहीन सृष्टि। यह किसी एक मूल तत्त्व के द्वारा निष्पन्न सृष्टि नहीं है। मूल तत्त्व दो हैं—चेतन और अचेतन। ये दोनों ही अपने अपने पर्यायों द्वारा बदलते रहते हैं। सृष्टि का विकास और ह्रास होता रहता है। इस सिद्धान्त की पुष्टि भगवान् महावीर के एक संवाद से होती है। एक प्रश्न के उत्तर में महावीर ने कहा—द्रव्य की दृष्टि से लोक नित्य है। पर्याय उत्पन्न और नष्ट होते रहते हैं, इस दृष्टि से वह अनित्य है।[6]

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'स्व-पर्याय का अर्थ आत्माभिप्राय किया है।[7] किन्तु दोनो नयों की दृष्टि से विचार करने पर स्वपर्याय का अर्थ द्रव्यगत पर्याय ही उचित प्रतीत होता है।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४१ : तत्र तावद् विष्णुकारणिका ब्रुवते—विष्णुः स्वर्लोकादेकांशेनावतीर्य इमान् लोकानसृजत्, स एव मारयतीति कृत्वा मारोऽपदिश्यते।

२. वही, पृष्ठ ४१ : मारो णाम मृत्युः।

३. वृत्ति, पत्र ४३ : स्वयंभुवा लोकं निष्पाद्यातिभारभयाद्यमाख्यो मारयतीति मारो व्यधायि, तेन मारेण 'संस्तुता' कृता प्रसाधिता माया, तया च मायया लोका म्रियन्ते।

. चूर्णि, पृष्ठ ४२ : ब्रह्मा किलाण्डमसृजत्, ततो भिद्यमानात् शकुनवल्लोकाः प्रादुर्भूताः।

. वृत्ति, पत्र ४३, ४४ : ब्रह्माऽप्स्वण्डमसृजत्, तस्माच्च क्रमेण वृद्धात्पश्चाद्द्विधाभावमुपगतादूर्ध्वाधोविभागोऽभूत्, तन्मध्ये च सर्वाः प्रकृतयोऽभूवन्, एवं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशसमुद्रसरित्पर्वतमकराकरनिवेशादिसंस्थितिरभूदिति, तथा चोक्तम्—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

. अंगसुत्ताणि (भाग २) भगवई, ७।५९ : दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया।

. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४२ : स्वपर्यायो नाम आत्माभिप्रायः अप्पणिज्जो गमकः।

(ख) वृत्ति, पत्र ४४ : 'स्वकैः' स्वकीयैः 'पर्यायैः' अभिप्रायैर्युक्तिविशेषैः।

श्लोक ६९ :

१३१. श्लोक ६९ :

दु:ख, दु:ख-हेतु, दु:ख-संवर और दु:ख-संवर के हेतु—ये चार प्रश्न सभी दार्शनिकों में चर्चित रहे हैं। दु:ख के स्वरूप और दु:ख उत्पत्ति के विषय में भिन्न-भिन्न मत और व्याख्याएं उपलब्ध होती हैं।

कुछेक लोग दु:ख की उत्पत्ति के कारणों को नहीं जानते। वे दु:ख-निरोध कैसे जान पाएंगे ? निरोध से पूर्व उत्पत्ति का ज्ञान आवश्यक है। वे मानते है—इस संसार में जो सुखरूप माना जाता है, वह भी वास्तव में दु:ख ही है। चलना दु:ख है, ठहरना दु:ख है, बैठना दु:ख है, सोना दु:ख है, भूख भी दु:ख है, तृप्ति भी दु:ख है। ये सब सृष्टि से पूर्व नही थे। वाद में इनकी उत्पत्ति हुई है। इसलिए ये सब दु:ख हैं और ये सारे ईश्वर-कृत हैं, हमारे द्वारा कृत नहीं हैं।

इस प्रकार का अभिमत रखने वाले लोग दु:ख की उत्पत्ति को भी सम्यक्तया नहीं जानते तव वे उसके निरोध को कैसे जान पाएंगे ? चूर्णिकार ने इस भावना को स्पष्ट करते हुए लिखा है—दु:ख स्वयं के द्वारा ही कृत है और उसका स्वयं में ही फल-भोग होता है, जैसे—कृषि आदि मनुष्य स्वयं करता है और उसका फल-भोग करता है तव वह कहता है—यह सव ईश्वर का प्रसाद है।[1]

इस प्रकार दु:ख के कर्तृत्व और फल-भोक्तृत्व के वारे में धारणा स्पष्ट न हो तव दु:ख-निरोध का प्रयत्न कैसे हो सकता है ? उसका दायित्व किस पर होगा ? दु:ख का निरोध व्यक्ति स्वयं करेगा या यह ईश्वर-कृत होगा ? इस चिन्तन में दु:ख-निरोध के लिए किया जाने वाला पुरुषार्थ प्रज्वलित नहीं होता।

श्लोक ७०-७१ :

१३२. श्लोक ७०,७१ :

प्रस्तुत दो श्लोकों में अवतारवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित है। चूर्णिकार के अनुसार यह त्रैराशिक संप्रदाय का अभिमत है।[2] वृत्तिकार ने इसे गोशालक का मत बतलाया है।[3] आचार्य हरिभद्र ने त्रैराशिक का अर्थ आजीवक संप्रदाय किया है।[4] गोशालक उसके आचार्य थे। इस दृष्टि से चूर्णि और वृत्ति परस्पर संवादी है।

चूर्णिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में त्रैराशिक मत की मान्यता को इस प्रकार व्याख्यायित किया है—

कोई जीव मोक्ष प्राप्त कर लेने पर भी अपने धर्म-शासन की पूजा और अन्यान्य धर्म-शासनों की अपूजा देखकर मन ही मन प्रसन्न होता है। अपने शासन की अपूजा देखकर वह अप्रसन्न भी होता है। इस प्रकार वह सूक्ष्म और आन्तरिक राग-द्वेष के वशीभूत होकर पुन: मनुष्य-भव में जन्म लेता है। जैसे स्वच्छ वस्त्र काम में आते-आते मैला होता है, वैसे ही वह राग-द्वेष की रजों के द्वारा मैला होकर संसार में अवतरित होता है। यहां मनुष्य भव में प्रव्रज्या ग्रहण कर, संवृतात्मा श्रमण होकर मुक्त हो जाता है और फिर संसार में अवतरित होता है। काल की लम्वी अवधि में यह क्रम चलता ही रहता है।

प्रस्तुत प्रसंग में क्रीडा का अर्थ मानसिक प्रसन्नता या राग तथा प्रदोष का अर्थ द्वेष है। वृत्तिकार का मत भी चूर्णि से

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४२,४३। जं पि किंचि सुखसण्णितं तं पि दुक्खमेव, चक्कम्मितं दुक्खं, एवं ठिति आसितं सयं दुक्खं, छुधा विघातगत्तणं पि दुक्खं। एवमादीणि पुव्वं णासी पश्चाज्जायन्त इति दुक्खाणि, तानि चेश्वरकृतानि नास्माभिरिति।...... ... का तर्हि भावना ? तद्धि तैरात्मनैव पूर्वं पापं कृतम्, पश्चाद् हेत्वन्तरतः तेष्वपि विपक्कं, तद्यथानाम कृष्यादीनि कर्माणि स्वयं कृत्वा तत्फलमुपभुञ्जाना ब्रुवते—यदस्मासु किञ्चित् कर्म विपच्यते तत् सर्वमीश्वरकृतमिति।
(ख) वृत्ति, पत्र ४६।

२. चूर्णि, पृ० ४३ : तेरासिइया इदाणिं—ते वि कडवादिणो चेव।

३. वृत्ति, पत्र ४६ : त्रैराशिका गोशालकमतानुसारिणः।

४. नंदीवृत्ति, हरिभद्रसूरी, पृ० ८७ : त्रैराशिकाश्चाजीविका एवोच्यन्ते।

भिन्न नहीं है।[1]

बौद्ध साहित्य में 'खिड्डापदोसिका' नामक देवों का उल्लेख मिलता है। वहां उनके शाश्वत और अशाश्वत—दोनों स्वरूप प्रतिपादित हैं। यह अभिमत मिथ्यादृष्टि स्थानों में उल्लिखित है, किन्तु यह किस सम्प्रदाय का है, इसका स्पष्ट उल्लेख वहां प्राप्त नहीं है।[2]

श्लोक ७२ :

१३३. गुरुकुल में (बंभचेरं)

जैन आगमों में यह शब्द 'गुरुकुलवास' के लिए प्रयुक्त होता है।[3]

चूर्णिकार ने इसका अर्थ द्रव्य-ब्रह्मचर्य किया है।

जहां चरित्र सम्यक् नहीं होता वह गुरुकुलवास वास्तविक नहीं होता, इसलिए वह द्रव्य ब्रह्मचर्य कहलाता है। चूर्णिकार ने बताया है कि मुनि ऐसे गुरुकुलवास में न रहे। उसके साथ सम्पर्क भी न रखे।[4]

श्लोक ७३ :

१३४. सिद्धि (मोक्ष) से पूर्व इस जन्म में भी (अधोऽवि)

चूर्णिकार ने 'अधोहिं' पाठ मानकर उसका अर्थ अवधिज्ञान किया है।[5]

वृत्तिकार ने अधोऽवि' पाठ का अर्थ 'सिद्धेरारात्' सिद्धि से पहले किया है।[6]

पाठ-शोधन में प्रयुक्त 'ख' संकेत की प्रति में 'अधोधि' पाठ मिला। हमने पाद-टिप्पण में उसे दिया है और टिप्पणी करते हुए लिखा है कि लिपिदोष के कारण 'वि' के स्थान में 'धि' हो गया है। किन्तु 'सिद्धि' और 'सिद्ध' शब्द पर हमने जिस अर्थ पर विचार किया है, उसके अनुसार चूर्णि-सम्मत 'अधोहिं' या 'अधोधि' पाठ संगत लगता है। अवधिज्ञान सिद्धि का एक अंग है। उसे उपलब्ध कर पुरुष सिद्ध बनता है।

१३५. सब कामनाएं समर्पित हो जाती हैं (सव्वकामसमप्पिए)

साधक के प्रति सभी कामनाएं समर्पित होती हैं, इसलिए सिद्ध-साधक सर्वकाम समर्पित होता है। कामनाओं की पूर्ति सिद्धि के द्वारा होती है। सिद्धियों के अनेक प्रकार हैं—अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, कामरूपित्व, आदि-आदि।[7]

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ४३। तस्य हि स्वशासन पूज्यमानं दृष्ट्वा अन्यशासनान्यपूज्यमानानि (च) क्रीडा भवति, मानसः प्रमोद इत्यर्थः, अपूज्यमाने वा प्रदोषः ततोऽसौ सूक्ष्मे रागे द्वेषे वाऽनुगतान्तरात्मा शनैः शनैः निर्मलपटवदुपभुज्यमानःकृष्णानि कर्माण्युपचित्य स्वगौरवात्तेन रजसाऽवतार्यते।

(ख) वृत्ति, पत्र ४६।

२. दीघनिकाय १।२ पृ० ४५,४६।

३. सूयगडो १।१४।१ :······सुबंभचेरं वसेज्जा।

४. चूर्णि पृ० ४३ : नैते निर्वाणायेति द्रव्यब्रह्मचेरं न तं वसे त्ति ण तं रोएज्जा आयरेज्जा वा, ण वा तेहिं समं वसेज्जा संसग्गि वा कुर्यात् तेहिं ति।

५. वही, पृ० ४४ : अधोहि नाम अवधिज्ञानम्।

६. वृत्ति, पत्र ४७।

७. वही, पत्र ४७।

श्लोक ७४ :

१३६. श्लोक ७३-७४ :

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने सिद्धि का अर्थ निर्वाण किया है।[1] अगले श्लोक (७४) में प्रयुक्त 'सिद्ध' शब्द के संदर्भ में 'सिद्धि' शब्द का अर्थ 'विशेष अनुष्ठान की सिद्धि' प्रतीत होता है। सिद्धि प्राप्त पुरुष ही सिद्ध होता है। सिद्धपुरुष सिद्धि को सामने रखकर ही साधना करता है, यह 'सिद्धिमेव पुरोकाउं' (श्लोक ७४) पद से स्पष्ट है। सिद्ध का अर्थ मुक्त नहीं है, किन्तु सिद्धपुरुष है। चूर्णिकार ने लिखा है—सिद्धपुरुष शरीरी होकर भी नीरोग होता है। वह वात आदि दोषजनित रोगों तथा आगन्तुक रोगों से पीड़ित नहीं होता और वह इच्छा-मरण से शरीर को छोड़कर निर्वाण में चला जाता है।[2] प्रस्तुत श्लोक (७४) में 'अरोगा य' इस शब्द से सिद्धपुरुष को प्राप्त होने वाली कामसिद्धि की ओर संकेत किया गया है।

तंत्रशास्त्र का अभिमत है कि योगी को जब आठ सिद्धियां प्राप्त होती हैं तब उसे देहसिद्धि की भी उपलब्धि सहज हो जाती है। देहसिद्धि का तात्पर्य यह है कि उसका शरीर आकर्षक, मोहक, रोगों से अनाक्रान्त और वज्र की तरह दृढ़ बन जाता है। देहसिद्धि के दो प्रकार हैं—सापेक्ष देहसिद्धि और निरपेक्ष देहसिद्धि। सापेक्ष देहसिद्धि असम्यक् होती है और निरपेक्ष देहसिद्धि सम्यक् होती है। इनको समझने के लिए गोरखनाथ के जीवन की एक घटना प्रस्तुत की जाती है।

गुरु गोरखनाथ को कायसिद्धि प्राप्त थी। उनका शरीर वज्रमय बन गया था। किसी प्रकार के आघात का उन पर कोई प्रभाव नहीं होता था। एक बार उनके मन में अपनी सिद्धियों का चमत्कार दिखाने की भावना जागी। वे उस समय के महासिद्ध 'अल्लाम प्रभुदेव' के पास आए और बोले—मुझे कायसिद्धि प्राप्त है। आप परीक्षा कर देखें। मेरे शरीर पर तलवार का प्रहार करें। कहीं घाव नहीं होगा।' प्रभुदेव ने उस बात को टालना चाहा। गोरखनाथ ने अपना हठ नहीं छोड़ा और प्रभुदेव को परीक्षा करने का बार-बार आग्रह किया। प्रभुदेव ने तलवार से गोरखनाथ के शरीर पर प्रहार किया। एक रोंआ भी नहीं कटा। तलवार का आघात लगते ही ऐसा टंकार हुआ जैसे पर्वत पर वज्र का प्रहार करने से होता है। गोरखनाथ का मन अहं से भर गया। उस अहं को तोड़ने के लिए प्रभुदेव बोले—तुम्हारी कायसिद्धि सम्यक् नहीं है। सम्यक् कायसिद्धि वह है जो मृत्यु को पार कर जाए, जिस पर प्रहार करने से कोई शब्द न हो। गोरखनाथ प्रभुदेव की परीक्षा करने के लिए उद्यत हुए। तलवार से उन पर गहरे प्रहार किए। तलवार शून्य आकाश में जैसे चलती रही। न शब्द और न आघात। प्रभुदेव का शरीर आकाश की भांति आघातविहीन और निर्विकार रहा। गोरखनाथ ने प्रभुदेव के रोम-रोम में तलवार चुभाने का प्रयास किया पर व्यर्थ। वह शरीर आकाशमय बन गया था।[3]

श्लोक ७५ :

१३७. कल्प-परिमित काल तक (कप्पकालं)

'कल्प' शब्द दीर्घ काल का सूचक है। वैदिक काल-गणना में इसका परिमाण इस प्रकार मिलता है—ब्रह्मा का एक दिन अथवा हजार युग का काल अथवा ४३२०००००० वर्षों का कालमान।

१३८. आसुर और किल्विषिक (आसुरकिब्बिसिय)

चूर्णिकार ने आसुर और किल्विषिक को भिन्न-भिन्न माना है।[4]

वृत्तिकार ने दोनों को एक शब्द मान कर इसका अर्थ—नागकुमार आदि असुर जाति के देवों में किल्विषिक देव के रूप में (उत्पन्न होते हैं) किया है।

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ४४ : सिद्धिरिति निर्वाणम्।
(ख) वृत्ति, पत्र ४७ : सिद्धिम् अशेषसांसारिकप्रपञ्चरहितस्वभावम्।

२. चूर्णि, पृ० ४४ : ते हि रिद्धिमन्तः शरीरिणोऽपि भूत्वा सिद्धा एव भवन्ति नीरोगाश्च। नीरोगा णाम वातादिरोगैरागन्तुकैश्च न पीड्यन्ते, ततः स्वेच्छातः शरीराणि हित्वा निर्वान्ति।

३. तंत्र सिद्धान्त और साधना पृष्ठ १५५-१५८।

४. चूर्णि, पृ० ४४ : आसुरेषूपपद्यन्ते किल्विषिकेषु च।

ये देव अधम जाति वाले और सेवक स्थानीय होते हैं। इनकी ऋद्धि भी अल्प होती है और भोग-सामग्री भी अल्प होती है। इनका आयुष्य-काल भी कम और शक्ति भी कम होती है।[1]

उत्तराध्ययन सूत्र में भी आसुरी भावना और किल्विषिक भावना का पृथक्-पृथक् उल्लेख हुआ है।[2] ये दो भिन्न स्थान हैं, अतः चूर्णिकार की व्याख्या संगत प्रतीत होती है।

श्लोक ७६ :

१३६. वे प्रावादुक (एते)

चूर्णिकार ने इस शब्द से कुतीर्थिक और लिंगस्थ—इन दोनों का ग्रहण किया है।[3]

वृत्तिकार ने पंचभूतवादी, एकात्मवादी, तज्जीवतच्छरीरवादी, सृष्टिकर्तृत्ववादी तथा गोशालक के मत को मानने वाले त्रैराशिकवादियों का ग्रहण किया है।[4]

१४०. गृहस्थोचित कार्यों का उपदेश देते हैं (सितकिच्चोवएसगा)

'सित' शब्द के दो अर्थ हैं—बद्ध और गृहस्थ।[5]

इस पद का अर्थ है—गृहस्थोचित कार्यों का उपदेश देने वाले।

वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप देकर भिन्न अर्थ किया है—[6]

१. सितकृत्योपदेशगाः—गृहस्थों की पचन-पाचन आदि हिंसाकारी प्रवृत्ति करने वाले।

२. सितकृत्योपदेशकाः—गृहस्थोचित कार्यों का उपदेश देने वाले।

वृत्तिकार ने इसके अर्थ की एक और कल्पना की है। उसके अनुसार 'सिया' को क्रियापद के रूप में प्रयोग मान कर उसका संस्कृत रूप 'स्युः' दिया है। 'कृत्य' का अर्थ गृहस्थ किया है। इस संदर्भ में पूरे पद का अर्थ होगा—वे गृहस्थोचित हिंसा का उपदेश देने वाले होते हैं।[7]

श्लोक ७७ :

१४१. वह मुनि अपना उत्कर्ष ··यापन करे (अणुक्कसे···जावए)

उत्कर्ष का अर्थ है—मद या अहंकार। मद के आठ स्थान हैं—जाति, कुल, रूप, बल आदि। जो इन मद-स्थानों का सेवन नहीं करता वह अनुत्कर्ष होता है।[8]

अणवलीणे—

'अपनलीन' उत्कर्ष का विरोधी भाव है। उस युग में जातिवाद उच्चता और हीनता का एक मुख्य मानदंड था, इसलिए

---

१. वृत्ति, पत्र ४८ : आसुराः—असुरस्थानोत्पन्ना नागकुमारादयः तत्रापि न प्रधानाः किं तर्हि ? 'किल्बिषिकाः' अधमाः प्रेष्यभूता अल्पर्धयोऽल्पभोगाः स्वल्पायुः सामर्थ्याद्यपेताश्च भवन्तीति।

२. उत्तरज्झयणाणि, ३६।२६५,२६६।

३. चूर्णि, पृ० ४५ : एते·········कुतित्था लिंगत्था य।

४. वृत्ति, पत्र ४६ : एत इति पञ्चभूतैकात्मतज्जीवतच्छरीरादिवादिनः कृतवादिनश्च गोशालकमतानुसारिणस्त्रैराशिकाश्च।

५. चूर्णि, पृ० ४५ : सिताः बद्धा इत्यर्थ·········सिताः गृहस्थाः।

६. वृत्ति, पत्र ४६ : सितकृत्योपदेशगाः कृत्योपदेशका वा।

७. वही, पत्र ४६ : यदिवा—सिया इति आर्षत्वाद्बहुवचनेन व्याख्यायते स्युः भवेयुः कृत्यं—कर्तव्यं सावद्यानुष्ठानं तत्प्रधानाः कृत्या—गृहस्थास्तेषामुपदेशः—संरम्भसमारम्भारम्भरूपः स विद्यते येषां ते कृत्योपदेशिकाः।

८. चूर्णि, पृ० ४५ : अणुक्कसो णाम न जात्यादिभिर्मदस्थानैरुत्कर्षं गच्छति।

उच्च मानी जाने वाली जातियों में जन्म लेने वाला व्यक्ति उत्कर्ष का और तुच्छ मानी जाने वाली जातियों में जन्म लेने वाला व्यक्ति हीनता का अनुभव करता था। भगवान् महावीर ने सामायिक धर्म का प्रतिपादन कर दोनों प्रकार की मनोवृत्ति वाले भिक्षुओं के सामने यह शिक्षापद प्रस्तुत किया कि आत्म-विकास का मार्ग उत्कर्ष और अपकर्ष—दोनों से परे है, इसलिए सामायिक की साधना करने वाले व्यक्ति को मध्यम मार्ग से चलना चाहिए। चूर्णिकार ने इसी आशय की व्याख्या की है। उन्होंने एक वैकल्पिक अर्थ भी किया है कि राग और द्वेष—दोनों से बचकर मध्य-मार्ग से चलना चाहिए।

प्रस्तुत श्लोक का यह भाव आचारांग के इस सूत्र की सहज ही स्मृति करा देता है—'णो हीणे णो अइरित्ते' (आयारो, २/४९)

वृत्तिकार ने 'अप्पलीणे' पाठ मान कर उसका अर्थ—अन्यतीर्थिक, गृहस्थ या पार्श्वस्थों के साथ परिचय या संश्लेप न करना—किया है।[1]

श्लोक ७८ :

१४२. परिग्रही······(सपरिग्गहा···)

कुछ धार्मिक पुरुष यह घोषणा करते हैं कि निर्वाण के लिए आरंभ और परिग्रह को छोड़ना कोई तात्त्विक बात नहीं है।[2] जैन श्रमण का आचार ठीक इससे विपरीत है। उसके लिए अपरिग्रही और अनारंभी (अहिंसक) होना अनिवार्य है। इसलिए ज्ञानी भिक्षु को परिग्रह और आरंभ के आकर्षण से बचकर चलना चाहिए। सहज ही प्रश्न होता है कि अपरिग्रही और अनारंभी मनुष्य शरीर-यापन कैसे कर सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर अगले श्लोक में स्वयं सूत्रकार देते हैं।

१४३. ज्ञानी (जाणं)

इसका अर्थ है—ज्ञानवान्।[3]

वृत्तिकार ने इसके स्थान पर 'ताणं' पाठ मान कर 'शरण' अर्थ किया है।[4]

श्लोक ७९ :

१४४. गृहस्थों द्वारा अपने लिए कृत (कडेसु)

पूर्व श्लोक में कहा गया है कि मुनि अहिंसक और अपरिग्रही होकर जीवन यापन करे। पचन-पाचन आदि हिंसायुक्त क्रियाओं को किए विना तथा परिग्रह का आदान-प्रदान किए विना व्यक्ति अपना जीवन कैसे चला सकता है ? भोजन के बिना शरीर नहीं चलता और हिंसा तथा परिग्रह (धन) के विना भोजन की उत्पत्ति और प्राप्ति नहीं हो सकती। शरीर धर्म का साधन है। अतः इसके निर्वाह के लिए हिंसा और परिग्रह आवश्यक हैं।

इसका समाधान प्रस्तुत श्लोक में इस प्रकार मिलता है—(१) गृहस्थ अपने लिए भोजन पकाए उसकी एषणा या याचना करे। (२) गृहस्थ के द्वारा प्रदत्त भोजन की एषणा करे। (३) प्राप्त भोजन को अनासक्त भाव से खाए। (४) विप्रमुक्त रहे—आहार के प्रति मूर्च्छा न करे। जहां इष्ट आहार मिले उस कुल या ग्राम से प्रतिबद्ध न बने। (५) भोजन कम हो अर्थात् भोजन लेने पर दूसरों को कठिनाई का अनुभव हो, वैसे भोजन का परिवर्जन करे।

१४५. प्रदत्त आहार का भोजन करे (दत्तेसणं चरे)

तुलना—दाणभत्तेसणे रया (दसवे १।४)

---

१. वृत्ति, पत्र ४९ : अप्रलीनः असंबद्धस्तीर्थिकेषु गृहस्थेषु पार्श्वस्थादिषु वा संश्लेषमकुर्वन्।

२. चूर्णि, पृ० ४७ : यदेषामारम्भ-परिग्रहावाख्यातौ निर्वाणाय अतत्त्वम्।

३. वही, पृ० ४७ : ज्ञानवान् ज्ञानी।

४. वृत्ति, पत्र ५० : त्राणं शरणम्।

१४६. आहार में अनासक्त (अगिद्धे)

प्रस्तुत चरण में प्रयुक्त दो शब्द 'अगृद्ध' और 'विप्रमुक्त' मुनि की एषणा से संबंधित हैं। एषणा के तीन प्रकार हैं— गवेषणा, ग्रहण-एषणा, और ग्रासैषणा। 'अगृद्ध' शब्द के द्वारा ग्रास-एषणा की सूचना दी गई है। 'विप्रमुक्त' शब्द से गवेषणा और ग्रहण एषणा के ४२ दोषों का सूचन होता है। यह चूर्णिकार की व्याख्या है।[1]

वृत्तिकार की व्याख्या इससे भिन्न है। वे पूर्व चरण में प्रयुक्त 'कडेसु' शब्द से सोलह उद्गम दोषों का निवारण, 'दत्त' शब्द से उत्पादन के सोलह दोषों का निवारण, 'एषणा' शब्द से दस एषणा के दोषों का निवारण और 'अगृद्ध' तथा 'विप्रमुक्त' शब्द से ग्रासैषणा के पांच दोषों का निवारण मानते हैं। इस प्रकार यह पूरा श्लोक भोजन से संबंधित ४२+५ दोषों के निवारण का द्योतक है।[2]

विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं, अध्ययन ५।

१४७. अवमान संखड़ी (विशेष प्रकार का भोज) (ओमाणं)

यह शब्द विशेष जीमनवार का द्योतक है। इसका अर्थ है—ऐसा भोज जिसमें निमंत्रित व्यक्तियों की संख्या नियत हो। मुनि यदि वहां जाता है तो भोज्य-सामग्री की न्यूनता हो सकती है। अतः निमंत्रित व्यक्तियों के व्याघात होता है। इसलिए इस प्रकार के भोज में जाने का वर्जन किया गया है।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ है—मुनि अपने तपोमद, ज्ञानमद आदि का प्रदर्शन कर दूसरे की अवमानना न करे।[3] यह अर्थ प्रसंग से दूर प्रतीत होता है।

देखें—दसवेआलियं, चूलिका २/६

श्लोक ८० :

१४८. लोकवाद को (लोगवायं)

प्रस्तुत श्लोक में सूत्रकार ने 'लोकवाद' को सुनने और जानने का निर्देश दिया है। लोकवाद के दो अर्थ हैं—[4]

१. अन्यतीर्थिकों तथा पौराणिक लोगों के 'लोक' संबंधी विचार।

२. लोक-मान्यता—अन्यतीर्थिकों की धार्मिक मान्यता।

लोक शब्द के तीन अर्थ किए जा सकते हैं—जगत्, पाषण्ड और गृहस्थ। यहां इसका प्रथम अर्थ प्रासंगिक प्रतीत होता है। चूर्णिकार ने इसके पाषण्ड और गृहस्थ—ये दो अर्थ मान्य किए हैं।[5] वृत्तिकार ने इसके पाषण्ड और पौराणिक ये दो अर्थ बतलाए हैं।[6] चूर्णिकार ने लौकिकमत को कुछ उदाहरणों द्वारा समझाया है—[7] सन्तानहीन का लोक नहीं होता। गाय को मारने वाले का लोक

---

१. चूर्णि, पृ० ४६ : बायालीसदोसविप्पमुक्कं एसणं चरेदिति गवेसणा गहणेसणा य गहिताओ। अगिद्धे त्ति घासेसणा।

२. वृत्ति, पत्र ५० : कृतेषु—अनेन च षोडशोद्गमदोषपरिहारः सूचितः, दत्तमिति अनेन षोडशोत्पादनदोषाः परिगृहीता द्रष्टव्याः, अगृद्ध·········विप्रमुक्तः, अनेनापि च ग्रासैषणादोषाः पञ्च निरस्ता अवसेयाः।

३. वही, पत्र ५० : परेषामपमानं—परावमर्दशित्वम्।

४. (क) वही पत्र ५० : लोकानां—पाखण्डिनां पौराणिकानां वा वादो लोकवादः।
   (ख) चूर्णि पृ० ४६।

५. चूर्णि, पृ० ४६ : लोका नाम पाषण्डा गृहिणश्च।

६. वृत्ति, पत्र ५० : लोकानां—पाखण्डिनां पौराणिकानां वा।

७. चूर्णि पृ० ४६ : लोकवादस्तावत्—अनपत्यस्य लोका न सन्ति, गावान्ताः नरकाः तथा गोभिर्हतस्य गोघ्नस्य नास्ति लोकः। तथा—
'जेसिं सुणया जक्खा, विप्पा देवा पितामहा काया।
ते लोगदुव्वियड्ढा, दुक्खं मोक्खा विबोधितुं॥'
तथा पुरुषः पुरुष एव, स्त्री स्त्रीत्येव। तथा पाषण्डलोकस्यापि पृथक् तयोरिव प्रसृताः—केषाञ्चित् सर्वगतः असर्वगतः नित्योऽनित्यः अस्ति नास्ति चात्मा, तथा केचित् सुखेन धर्ममिच्छन्ति, केचिद् दुःखेन, केचिद् ज्ञानेन, केचिदाभ्युदयिकधर्मपराः नैव मोक्षमिच्छन्ति।

नहीं होता। इस मत के अनुसार कुत्तों को यक्ष, ब्राह्मणों को देव और कौओं को पितामह माना जाता है। यह भी लौकिक मान्यता रही है कि पुरुष पुरुष ही रहता है और स्त्री स्त्री ही रहती है। पाषण्डवाद के उदाहरण ये हैं—कुछ दार्शनिक आत्मा को सर्वगत मानते हैं और कुछ असर्वगत मानते हैं। कुछ उसे नित्य मानते हैं और कुछ अनित्य। कुछ उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और कुछ उसके नास्तित्व का प्रतिपादन करते हैं। मोक्ष के बारे में चार मान्यताएं हैं—

१. सुखवादी—सुख से मोक्ष प्राप्त होना।
२. दुःखवादी—दुःख से मोक्ष प्राप्त होना।
३. ज्ञानवादी—ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होना।
४. आभ्युदयिकधर्मवादी—मोक्ष को अस्वीकार करते हैं।

१४९. जो दूसरे की कही हुई बात का अनुगमन मात्र है (अण्णवुत्त-तयाणुगं)

चूर्णिकार ने बताया है कि अन्यतीर्थिकों के शास्त्र एक-दूसरे के वचन को प्रमाण मानते हैं। व्यास ऋषि भी दूसरे के वचन को प्रमाण मानते हुए लिखते हैं—'अनुकप' नामक ऋषि ने इस प्रकार साक्षात् किया, देखा तथा अमुक ऋषि ने ऐसा देखा आदि-आदि। वे दूसरों के वचनों का अतिवर्त नहीं करते।[1]

वृत्तिकार का अर्थ सर्वथा भिन्न है। उनके अनुसार इसका अर्थ है—अविवेकी व्यक्तियों द्वारा कथित का अनुगमन करने वाला सिद्धान्त।[2]

विवरीयपण्णसंभूयं............

'विवरीयपण्णसंभूयं, अण्णवुत्त-तयाणुगं'—ये दोनों चरण लोकवाद के विशेषण हैं। सूत्रकार का प्रतिपाद्य यह है कि लोकवाद विपरीत प्रज्ञा से उत्पन्न है तथा वचन प्रामाण्य पर आधारित है। इसलिए यह आस्थाबन्ध के योग्य नहीं है। प्रस्तुत श्लोक में सत्य की खोज का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र उद्घाटित हुआ है। वह यह है कि जो सत्य वचन के प्रामाण्य पर आधारित होता है, उसमें विरोधी प्रज्ञाओं के दर्शन होते हैं। एक दार्शनिक एक बात कहता है तो दूसरा दूसरी बात कहता है। परोक्ष ज्ञान में इन समस्याओं को कभी नहीं सुलझाया जा सकता। अनुभव ज्ञान अपनी साधना से उपलब्ध होता है। उसमे विरोधी प्रज्ञा उपस्थित नहीं होती। सम्यक्दर्शी या प्रत्यक्षदर्शी जितने होते हैं उन सबका अनुभव एक ही जैसा होता है। सूत्रकार स्वयं परोक्षदर्शियों द्वारा प्रतिपादित कुछ विरोधी वादों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं।

श्लोक ८१-८२ :

१५०. श्लोक ८१-८२ :

प्राचीन काल में लोक सान्त है या अनन्त, यह बहुचर्चित प्रश्न था। पिंगलक निर्ग्रन्थ ने स्कन्धक से यह पूछा—मागध ! लोक सान्त है या अनन्त ? स्कन्धक इसका समाधान नहीं दे सका। वह भगवान् महावीर के पास पहुंचा। उसने उस प्रश्न का समाधान चाहा। भगवान् महावीर ने प्रश्न के उत्तर में कहा—स्कन्धक ! मैंने लोक को चार दृष्टियों से प्रज्ञप्त किया है। द्रव्य और क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है, काल और भाव की दृष्टि से वह अनन्त है। द्रव्य की दृष्टि से लोक एक है, इसलिए वह सान्त है और क्षेत्र की दृष्टि से लोक सपरिमाण है, इसलिए वह सान्त है।[3]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ४६ : अन्योन्यस्य .... तत् कथ्यं (कथम् ?), व्यासोऽपि हि इतिहास्यमानयनम (? यन्न)न्यस्य वचः प्रमाणीकरोति, तद्यथा—अनुकपेन ऋषिणा एवं दृष्टम्, अन्येनैवम् इति, नान्योन्यस्य वचनमतिवर्त्तते, प्रायेण हि वार्तानुवर्त्तिको लोकः।

२. वृत्ति, पत्र ५० : अन्यैः—अविवेकिभिर्यदुक्तं तदनुगम्।

३. अंगसुत्ताणि (भाग २), भगवई २।४५ : एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पण्णत्ते, तं जहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ।

दव्वओ णं एगे लोए सअंते।

खेत्तओ णं लोए असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ आयाम-विक्खंभेणं, असंखेज्जाओ जोयणकोडाकोडीओ परिक्खेवेणं पण्णत्ते, अत्थि पुण से अंते। .... सेत्तं खंदगा ! दव्वओ लोए सअंते, खेत्तओ लोए सअंते, कालओ लोए अणंते, भावओ लोए अणंते।

भगवान् महावीर ने एक दूसरे प्रसंग में कहा—'जमाली ! लोक शाश्वत भी है और अशाश्वत भी है।'[1] इस प्रसंग में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक—इन दो नयों की दृष्टि से यह निरूपण किया गया है। प्रस्तुत दोनों श्लोकों की व्याख्या द्रव्य, क्षेत्र आदि चार दृष्टियों तथा द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों की दृष्टि से की जा सकती है। केवल 'अनन्तवाली दृष्टि के सामने यह दृष्टि प्रस्तुत की गई कि लोक अनन्त ही नहीं, सान्त भी है। अपरिमाणवाली दृष्टि के सामने सपरिमाण दृष्टि प्रस्तुत की गई है। उसका हार्द यह है कि कोई भी अवस्था असीम नहीं है। प्रत्येक अवस्था ससीम है। इस लोकवाद का जीववाद से संबंध प्रतीत होता है। अगले श्लोक के संदर्भ में यहां 'लोक' का अर्थ जीव या आत्मा अधिक संगत लगता है। हिंसा और अहिंसा की चर्चा में आत्मा के नित्यत्व का दृष्टिकोण उपस्थित होता था। कहा जाता था—आत्मा शाश्वत है फिर हिंसा किसकी होगी ? दूसरी बात—आत्मा सर्वव्यापी है, फिर हिंसा किसकी होगी ?

इस दृष्टिकोण के उत्तर में सूत्रकार ने सान्त और परिमित का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है। चूर्णिकार ने अनन्तवाद का तात्पर्य यह समझाया है कि त्रस त्रस ही रहता है और स्थावर स्थावर ही। त्रस कभी स्थावर नहीं होता और स्थावर कभी त्रस नहीं होता। इस प्रकार पुरुष सदा पुरुष, स्त्री सदा स्त्री और नपुंसक सदा नपुंसक ही रहता है। प्रत्येक जन्म मे उन्हें यही अवस्था उपलब्ध होती है। पुरुष मृत्यु के पश्चात् स्त्री नहीं होता और स्त्री मृत्यु के पश्चात् कभी पुरुष नहीं होती। उक्त शाश्वतवाद का प्रतिवाद अगले श्लोक में किया गया है।

चूर्णि और वृत्ति में प्रस्तुत दोनों श्लोकों की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है।

चूर्णिकार के अनुसार सांख्य मतावलंबी लोक को अनन्त और नित्य मानते हैं। क्योंकि उनके द्वारा सम्मत 'पुरुष' तत्त्व सर्वव्यापी और कूटस्थ है, अपरिणमनशील है।[2]

उन्होंने वैशेषिकों की मान्यता का उल्लेख करते हुए कहा है कि वे परमाणु को शाश्वत मानते हुए भी क्रियाशील मानते हैं। वे न कभी नष्ट होते हैं और न कभी उत्पन्न।[3]

अंतवं णितिए लोए—यह पौराणिकों की मान्यता है। पौराणिक मानते हैं कि क्षेत्र की दृष्टि से लोक सात द्वीप और सात समुद्र परिमाण वाला है। वह काल की दृष्टि से नित्य है। यह चूर्णिकार का उल्लेख है।[4]

सांख्य सत्कार्यवादी हैं। वे पदार्थ को कूटस्थ-नित्य मानते हैं। वे मानते हैं कि कारण रूप में प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व विद्यमान है। कोई भी नया पदार्थ न उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है। केवल उनका आविर्भाव-तिरोभाव होता है।[5]

वृत्तिकार ने अनन्त के दो अर्थ किए हैं। अनन्त वह होता है जिसका निरन्वय नाश नहीं होता। जिस भव में जो जिस रूप में रहता है, अगले भव में भी वह उसी रूप में जन्म लेता है। पुरुष पुरुष ही रहता है और स्त्री स्त्री ही।[6]

अनन्त का दूसरा अर्थ है—अपरिमित, अवधि से शून्य।[7]

उन्होंने किसी भी मत का उल्लेख न करते हुए लिखा है—लोक शाश्वत है, क्योंकि द्व्यणुक आदि कार्यद्रव्य की अपेक्षा से वह अशाश्वत होते हुए भी उसका जो मूल कारण परमाणु है, उसका कभी परित्याग नहीं होता तथा दिग्, आत्मा और आकाश आदि का कभी विनाश नहीं होता।[8] यह सांख्यमत का ही उल्लेख है।

---

१. अंगसुत्ताणि (भाग २), भगवई ९।२३३ : .... सासए लोए जमाली। .... असासए लोए जमाली।
२. चूर्णि, पृ० ४७ : साङ्ख्याः तेषां सर्वगतः क्षेत्रज्ञः कूटस्थः ग्रहणम्।
३. वही, पृ० ४७ : वैशेषिकाणां परमाणवः शाश्वतत्वेऽपि सति क्रियावन्तः .... न तेषां कश्चिद् भावो विनश्यति उत्पद्यते वा।
४. वही, पृ० ४७ : यथा पौराणिकानां सप्त द्वीपाः सप्त समुद्राः क्षेत्रलोकपरिमाणम्, कालतस्तु नित्यः।
५. सांख्यकारिका श्लोक ९।
६. वृत्ति, पत्र ५० : नास्यान्तोऽस्तीत्यनन्तः, न निरन्वयनाशेन नश्यतीत्युक्तं भवतीति, तथाहि—यो यादृगिहभवे स तादृगेव परभवेऽप्युत्पद्यते, पुरुषः पुरुष एवाङ्गना अङ्गनैवेत्यादि।
७. वही, पत्र ५० : यदिवा अनन्तः अपरिमितो निरवधिक इति यावत्।
८. वही, पत्र ५० : तथा शश्वद्भवतीति शाश्वतो द्व्यणुकादिकार्यद्रव्यापेक्षयाऽशश्वद्भवन्नपि न कारणद्रव्यं परमाणुत्वं परित्यजतीति तथा न विनश्यतीति दिगात्माकाशाद्यपेक्षया।

श्लोक ८२ :

चूर्णिकार ने प्रस्तुत श्लोक को सर्वज्ञतावादियों के मत का निरूपण करने वाला माना है। उनका कथन है कि सर्वज्ञवादी दो प्रकार का अभिमत प्रस्तुत करते हैं—

१ कुछ सर्वज्ञवादी कहते हैं कि सर्वज्ञ अनन्त ज्ञान का धारक होता है। वह सब कुछ जानता है। उसका ज्ञान सर्वत्र अप्रतिहत होता है।

२ कुछ सर्वज्ञवादी मानते हैं कि सर्वज्ञ तिर्यग्, ऊर्ध्व और अधोलोक को क्षेत्र और काल की दृष्टि से परिमित रूप में ही जानता है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार प्रस्तुत श्लोक में दो मतों का निर्देश है। कुछ मतावलम्बी मानते हैं कि कोई सर्वज्ञ नहीं होता। हमारे अतीन्द्रियद्रष्टा ऋषि क्षेत्र की दृष्टि से अपरिमित क्षेत्र को जानते हैं और काल की दृष्टि से अपरिमित काल को जानते हैं। किन्तु वे सर्वज्ञ नहीं हैं। 'अपरिमित' शब्द का यह एक तात्पर्य है। इसका दूसरा अर्थ यह है—हमारे ऋषि आवश्यक तत्त्व को जानने वाले अतीन्द्रियद्रष्टा हैं। यह प्रसिद्ध श्लोक है—

सर्वं पश्यतु वा मा वा ईष्टमर्थं तु पश्यतु ।
कीटसंख्यापरिज्ञानं, तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥

कोई सब कुछ देखने वाला (सर्वज्ञ) हो या न हो, कोई बात नहीं है। जो इष्ट अर्थ है उसको देखना आवश्यक है। कीड़ों की संख्या का ज्ञान निरर्थक है। उस ज्ञान से किसी का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

दूसरा मत यह है—कुछ दार्शनिक मानते हैं कि सर्वज्ञ कोई होता ही नहीं। क्षेत्र और काल की दृष्टि से परिमित को ही जाना जा सकता है। ब्रह्मा हजार दिव्य वर्ष तक सोता रहता है। उस अवस्था में वह कुछ भी नहीं देखता। फिर जागृत होता है और हजार दिव्य वर्ष तक जागता रहता है। उस अवस्था में वह देखता है।[2]

श्लोक ८३ :

१५१. श्लोक ८३ :

इस श्लोक में पूर्ववर्ती दोनों श्लोकों का प्रत्युत्तर है। उसमें यह कहा गया था कि कुछेक दार्शनिक लोक को नित्य मानते हुए कहते हैं कि त्रस प्राणी सदा त्रस ही रहते हैं और स्थावर प्राणी सदा स्थावर ही रहते हैं। त्रस कभी स्थावर नहीं होते और स्थावर कभी त्रस नहीं होते।

प्रस्तुत श्लोक में कहा गया है कि त्रस निर्वर्तक नामकर्म का उपचय कर प्राणी त्रस होता है और स्थावर निर्वर्तक नामकर्म का उपचय कर प्राणी स्थावर होता है। स्थावर त्रस हो सकते हैं और त्रस स्थावर हो सकते हैं। जिस जन्म में जो पर्याय व्यक्त होता है उसी के आधार पर हम उसको त्रस या स्थावर कहते हैं। कोई भी पर्याय अनन्त और असीम नहीं होता। जो इस जन्म में पुरुष होता है वह अगले जन्म में स्त्री हो सकता है और जो स्त्री होता है वह पुरुष हो सकता है।

श्लोक ८४ :

१५२. जीव दुःख नहीं चाहता (अकंतदुक्खा)

चूर्णिकार ने अकान्त का अर्थ अप्रिय किया है।[3]

वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—आक्रान्त और अकान्त। आक्रान्त का अर्थ है—अभिभूत और अकान्त का अर्थ

---

१. चूर्णि, पृ० ४६ : केयाञ्चित् सर्वज्ञवादिनां अनन्तं ज्ञानं सर्वत्र चाप्रतिहतमिति .... सर्वत्रेति तिर्यगूर्ध्वमधश्चेति क्षेत्रतः कालतः।

२. वृत्ति, पत्र ५१।

३. चूर्णि, पृ० ४८ : कान्तं प्रियमित्यर्थः, न कान्तमकान्तम्।

है—अनभिमत। उनके अनुसार 'सव्वे अकंतदुक्खा य'—इस पद का अर्थ होगा—सभी प्राणियों को दुःख अनभिमत है, अप्रिय है।[1]

१५३. श्लोक ८४ :

अनन्तवाद और अपरिमाणवाद के आधार पर हिंसा का समर्थन करने वाले दृष्टिकोण का प्रतिवाद प्रस्तुत श्लोक में मिलता है। आत्मा नहीं मरती और वह सर्व व्यापक है—ये दोनों हिंसा के समर्थन-सूत्र नहीं बन सकते। हिंसा और अहिंसा का विचार आत्मा की अमरता या शाश्वतता के आधार पर नहीं किया गया है किन्तु वह उसके परिवर्तनशील पर्यायों के आधार पर किया गया है। वर्तमान पर्याय की वास्तविकता यह है कि सब प्राणी मृत्यु को दुःख मानते हैं और दुःख किसी को भी प्रिय नहीं है, इसलिए सब प्राणी अहिंस्य हैं। कोई भी प्राणी दुःख नहीं चाहता, यह अहिंसा का एक आधार बनता है।

श्लोक ८५ :

१५४. श्लोक : ८५ :

ज्ञान का सार क्या है ? यह प्रश्न चिर अतीत से पूछा जाता रहा है। सूत्रकार ने ज्ञान का सार अहिंसा बतलाया है। आचारांग निर्युक्ति में उल्लेख मिलता है—अंग (ज्ञान) का सार आचार है।[2] अहिंसा परम आचार है। यह समता के आधार पर विकसित होती है। जैसे मुझे दुःख अप्रिय है वैसे ही सब जीवों को दुःख अप्रिय है—इस समता का अनुभव जितना विकसित होता है उतनी ही अहिंसा विकसित होती है। सूत्रकार ने इस समता पर बल देते हुए लिखा है—ज्ञान का विषय यही है। इससे आगे जानना क्या शेष बचता है ?

श्लोक ८६ :

१५५. संयमी धर्म में स्थित रहे (वुसिते)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—धर्म में स्थित किया है।[3] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—दश प्रकार की चक्रवाल समाचारी में स्थित किया है।[4] चक्रवाल की विशद जानकारी के लिए देखें—उत्तराध्ययन का २६ वां अध्ययन।

१५६. किसी भी इन्द्रिय-विषय में आसक्त न बने (विगयगिद्धि)

चूर्णिकार ने 'गिद्धी' के स्थान पर पाठान्तर 'गेही' पाठ माना है और उसका संस्कृत रूप 'ग्रेधि', किया है।[5] पिशेल ने गृद्धी से गेही का विकास-क्रम इस प्रकार माना है—गृद्धी—गिद्धी—गेद्धि—गेहि।[6]

१५७. आत्मा का संरक्षण करे (आयाणं सारक्खए)

'आयाणं' के संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—आत्मानं और आदानम्। आत्मा की असंयम से रक्षा करना आत्म-संरक्षण है। ज्ञान आदि का संरक्षण आदान है।[7]

चरिया·········

चूर्णिकार ने चर्या से ईर्यासमिति, आसन और शयन से आदान-निक्षेप समिति और भक्त-पान से एषणा समिति की सूचना

---

१. वृत्ति, पत्र ५२ : आक्रान्ता—अभिभूता·········अकान्तम् अनभिमतम्।

२. (क) आचारांगनिर्युक्ति, गाथा १६ : अंगाणं किं सारो ? आयारो·········।
(ख) आवश्यकनिर्युक्ति गा० ९३ : सामाइयमाईयं सुयनाणं जाव बिंदुसाराओ।
तस्स वि सारो चरणं, सारो चरणस्स निव्वाणं॥

३. चूर्णि, पृ० ४८ : वुसिते त्ति स्थितः, कस्मिन् ? धर्मे।

४. वृत्ति, पत्र ५३ : विविधम्—अनेकप्रकारमुषितः स्थितो दशविधचक्रवालसमाचार्यां व्युषितः।

५. चूर्णि, पृ० ४८ : पठ्यते (च) अकषायी सदाऽधिगतगेधी·········ग्रेधिः लोभः।

६. पिशेल, प्राकृत व्याकरण, पृ० १२८।

७. चूर्णि, पृ० ४८ : आदाणं सारक्खए त्ति आत्मनं सारक्खति असंजमातो, आदीयत इति आदानं ज्ञानादि, तं सारक्खति मोक्खहेतुं।

दी है। वैकल्पिक रूप में चर्या से पांचों समितियों तथा आसन-शयन से तीनों गुप्तियों का ग्रहण किया है।[1]

श्लोक ८७ :

१५८. मान, क्रोध, माया (उक्कसं जलणं णूमं)

जिसके द्वारा आत्मा दर्प से भर जाती है, उसको उत्कर्ष कहा जाता है। यह मान का वाचक है।

जो आत्मगुणों को या चारित्र को जलाता है वह है ज्वलन अर्थात् क्रोध।

'णूम' यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—गहन। यह माया का वाचक है। माया गहन होती है। उसका मध्य उपलब्ध नहीं होता।[2]

१५९. लोभ (अज्झत्थं)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—अभिप्रेत। लोभ सबके द्वारा अभिप्रेत है, इसलिए यह शब्द लोभ का वाचक है।[3]

प्रस्तुत श्लोक में शिष्य ने एक प्रश्न उपस्थित किया है कि आगमों में कषायों का एक क्रम है। उसमें क्रोध पहला कषाय है। प्रस्तुत श्लोक में मान को पहला स्थान प्राप्त है। यह आगम प्रसिद्ध क्रम का उल्लंघन है। क्यों?

इसका समाधान यह है कि मान में क्रोध की नियमा है और क्रोध में मान की भजना है। इसको उपदर्शित करने के लिए ही इसमें व्यतिक्रम किया है।[4]

श्लोक ८८ :

१६०. पांच संवरों से संवृत भिक्षु (पंचसंवरसंवुडे)

पांच संवर ये हैं—

१. प्राणातिपात विरमण
२. मृषावाद विरमण
३. अदत्तादान विरमण
४. मैथुन विरमण
५. परिग्रह विरमण।

१६१. बंधे हुए लोगों के बीच में (सितेहिं)

बंधन अनेक प्रकार के होते हैं। गृहवास, पुत्र, कलत्र आदि के प्रति जो आसक्ति है, वह भी बंधन है।[5] इसी प्रकार अपनी मान्यता, मतवाद भी एक बंधन है। भिक्षु सभी प्रकार की आसक्तियों और पूर्वाग्रहों से बचे।

---

१. चूर्णि, पृ० ४८, ४९ : चरिय त्ति इरियासमिती गहिता·········अधवा चरियागहणेण समितीओ गहिताओ, आसण-सयणगहणेण कायगुत्ती, एक्कग्गहणेण गहणं ति काऊण मण-वइगुत्तीओ वि गहिताओ। भत्त-पाणग्गहणेण एसणासमिई, एवं आदाण-परिट्ठावणियाई सूइयाओ।

२. वहीं, पृ० ४९ : उक्कस्यतेऽनेनेति उक्कसो मानः। ज्वलत्यनेनेति ज्वलनः क्रोधः। नूमं णामं अप्रकाशं माया।

३. वही, पृ० ४९ : अज्झत्थो णाम अभिप्रेतः, स च लोभः।

४. वृत्ति, पत्र ५३ : ननु चान्यत्रागमे क्रोध आदावुपन्यस्यते, तथा क्षपकश्रेण्यामारूढो भगवान् क्रोधादीनेव संज्वलनान् क्षपयति, तत् किमर्थमागमप्रसिद्धं क्रममुल्लङ्घ्यादौ मानस्योपन्यास इति?, अत्रोच्यते, माने सत्यवश्यंभावी क्रोधः, क्रोधे तु मानः स्याद्वा न वेत्यस्यार्थस्य प्रदर्शनायान्यथाक्रमकरणमिति।

५. चूर्णि, पृ० ४९ : सिता बद्धा इत्यर्थः, गृहि—कुपाषण्डादिभिर्गृह-कलत्र-मित्रादिभिः सङ्गैः सिताः।

बीअं अज्झयणं
वेयालिए

दूसरा अध्ययन
वैतालीय

पंचा० जयसे०	पंचास्तिकाय जयसेनीय टीका	[रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई]
पंचा० तत्त्व०	,, तत्त्वप्रबोधिनी टीका	[,, ,,]
पद्मच०	पद्मचरित्र	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई]
पयडि अणु० ध० आ०	पयडिअणुओगद्दार धवला आरा	
परमलघु०	परमलघुमञ्जूषा	[चौखम्वा सिरीज काशी]
परिशिष्ट०	परिशिष्टपर्व	[जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर]
पात० महाभा०	पातञ्जलमहाभाष्य	[निर्णयसागर बंबई]
पाराशरोप०	पाराशरोप पुराण	
पिंड०	पिण्डनिर्युक्ति	[देवचन्द्र लालभाई सूरत]
पिंड० भा०	पिण्डनिर्युक्ति भाष्य	[,, ,,]
पुरुषा०	पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	[रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई]
प्रज्ञा०	प्रज्ञापना सूत्र	[आगमोदय समिति सूरत]
प्रज्ञा० मलय०	प्रज्ञापनासूत्र मलयगिरिटीका	[,, ,,]
प्रमाणनय०	प्रमाणनयतत्त्वालोकालङ्कार	[आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय पूना]
प्रमाणमी०	प्रमाणमीमांसा	[सिंघी जैन सीरीज् कलकत्ता]
प्रमाणवार्तिकालं०	प्रमाणवार्तिकालङ्कार	[भिक्षु राहुलसांकृत्यायनकी प्रेस कापी]
प्रमाणसं०	प्रमाणसंग्रह अकलङ्कग्रन्थत्रयान्तर्गत	[सिंघीजैन सिरीज कलकत्ता]
प्रवचन०	प्रवचनसार	[रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई]
प्रव० टी०	प्रवचनसार टीका	[,, ,,]
प्रवचन० जय०	प्रवचनसार जयसेनीयटीका	[,, ,,]
प्रश० किरणा०	प्रशस्तपाद किरणावली	[चौखम्वा सीरीज काशी]
प्रश० भा०	प्रशस्तपादभाष्य	[,, ,,]
प्रशम०	प्रशमरतिप्रकरण	[जैनधर्मप्रसारकसभा भावनगर]
प्रश० व्यो०	प्रशस्तपादव्योमवती टीका	[चौखम्वा सीरीज़ काशी]
प्रा० गु०	प्राकृत व्याकरण गुजराती	[गुजरात पुरातत्त्व मंदिर अहमदावाद]
प्रा० श्रुतभ०	प्राकृत श्रुतभक्ति	क्रियाकलापान्तर्गत—
बृहत्स्व०	बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र	प्रथमगुच्छकान्तर्गत (काशी)
बृहत्स्व० टी०	बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र टीका लिखित	जैनसिद्धान्त आरा
बृहद्द्रव्य०	बृहद्द्रव्य संग्रह	[रायचन्द्र शास्त्रमाला]
बृह० भा० टी०	बृहत्कल्पभाष्य टीका	[आत्मानन्दसभा भावनगर]
बोधिच०	बोधिचर्यावतार पञ्जिका	[रा. ए. सोसाइटी कलकत्ता]
भग०	भगवतीसूत्र	[ऋ० के० संस्था रतलाम, द्वितीय संस्करण]
भग० अभ०	भगवतीसूत्र अभयदेवी टीका	[,, ,,
भग० आ० / मूलारा०	भगवती आराधना	[सोलापुर]
भग० विज० / मूलारा० विजय०	भगवती आराधना विजयोदया टीका	[,,]
भा०प्रा०रा०	भारत के प्राचीन राजवंश	[हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बंबई]
भावप्रा०	भावप्राभृत षट्प्राभृतान्तर्गत	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई]
भावसं० श्लो०	भावसंग्रह संस्कृत	[,, ,,]
मध्वभा०	मध्वभाष्य	
महापु०	महापुराण	[माणिकचन्द्र ग्र० बंबई]
मी० श्लो०	मीमांसा श्लोकवार्तिक	[चौखम्वा सीरीज़ काशी]
मी० श्लो० स्फो०	मीमांसाश्लोकवार्तिक स्फोटा०	[,, ,,]
मुग्धबो० टी०	मुग्धबोधव्याकरण टीका	
मू० टी०	मूलाचार टीका	[माणिकचन्द्र ग्र० बंबई]
मूला० / मूलाचा०	मूलाचार	[,, ,,]
मूला० सम०	मूलाचार समयसाराधिकार	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई]
मूलारा० द०	मूलाराधनादर्पण	[जैनबुकडिपो सोलापुर]

इस तथ्य की पुष्टि प्रस्तुत अध्ययन के अन्तिम श्लोक (७६) में प्रयुक्त "एवं से उदाहु' से होती है। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'स' से भगवान् ऋषभ को ग्रहण किया है और कहा है कि भगवान् ऋषभ ने अपने पुत्रों को उद्दिष्ट कर इस अध्ययन का प्रतिपादन किया है।[1]

परिमाण और प्रतिपाद्य

प्रस्तुत अध्ययन में तीन उद्देशक और ७६ श्लोक हैं—पहले उद्देशक में २२, दूसरे में ३२ और तीसरे में २२ श्लोक हैं।

निर्युक्तिकार के अनुसार इन तीन उद्देशकों का प्रतिपाद्य (अर्थाधिकार) इस प्रकार है—

पहला उद्देशक—हित-अहित, उपादेय और हेय का बोध तथा अनित्यता की अनुभूति।

दूसरा उद्देशक—अहंकार-वर्जन के उपायों का निर्देश तथा इन्द्रिय-विषयों की अनित्यता का प्रतिपादन।

तीसरा उद्देशक—अज्ञान द्वारा उपचित कर्मों के नाश के उपायों का प्रतिपादन।

वस्तुत: यह अध्ययन इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि प्राणी की भोगेच्छा अनन्त है और उसे पदार्थों के उपभोग से कभी उपशान्त नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत अध्ययन में प्रतिपादित कुछ विचार-बिन्दु

- जागना दुर्लभ है। जो वर्तमान क्षण में नहीं जागता और जागने की प्रतीक्षा करता रहता है, वह कभी जाग नहीं पाता।
- वर्तमान क्षण ही जागृति का क्षण है, क्योंकि मृत्यु के लिए कोई अवस्था निश्चित नहीं है।
- जागृति का अर्थ है—अहिंसा और अपरिग्रह की चेतना का निर्माण।
- हिंसा और परिग्रह साथ-साथ चलते हैं।
- अनित्यता का बोध संबोधि की ओर ले जाता है।
- मनुष्य को जागरण की दिशा में प्रमत्त नहीं होना चाहिए।
- सही अर्थ में प्रव्रजित वह होता है जो विषय और वासना—दोनों से मुक्त होता है।
- अकिंचनता (नग्नत्व) और तपस्या (कृशत्व) मुक्ति के हेतु हैं, साधन नहीं। मुक्ति का साधन है—कषाय-मुक्ति।
- अहंकार न करने के तीन कारण—
  - अहंकारी का वर्तमान, अतीत और भविष्य—तीनों काल दु:खपूर्ण होते हैं।
  - ऊंची-नीची अवस्था अवश्यंभावी है, फिर अहंकार कैसे ?
  - अहंकारी को मोक्ष, बोधि और श्रेय प्राप्त नहीं होते।
- धर्मकथा करने का अधिकारी वह होता है जो संवृतात्मा हो, विषयों के प्रति अनासक्त हो और स्वच्छ हृदयवाला हो।
- अकेला वह है जो राग-द्वेष तथा संकल्प-विकल्प से मुक्त है।
- असमाधि का मूल कारण है—मूर्च्छा।
- दु:ख का स्पर्श अज्ञान से होता है और उसका क्षय संयम से होता है।

प्रस्तुत अध्ययन में 'अणुधम्मचारिणो' (श्लोक ४७) और 'कस्सव' (श्लोक ४७) शब्द महत्त्वपूर्ण हैं।

अनुधर्मचारी का अर्थ अनुचरणशील होता है। अनुधर्म में विद्यमान 'अनु' शब्द को चार अर्थों में व्युत्पन्न किया है—अनुगत' अनुकूल, अनुलोम और अनुरूप।

अनुगत + धर्म=अनुधर्म
अनुकूल + धर्म=अनुधर्म
अनुलोम + धर्म=अनुधर्म
अनुरूप + धर्म=अनुधर्म

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ७६ : से इति सो उसभसामी अट्ठावते पव्वते अट्ठाणउतीए सुताणं आह कथितवान्।
(ख) वृत्ति, पत्र ७८ : स ऋषभस्वामी स्वपुत्रानुद्दिश्य उदाहृतवान् प्रतिपादितवान्।

काश्यप

मुनि सुव्रत और अर्हत् अरिष्टनेमि के अतिरिक्त शेष सभी तीर्थंकर इक्ष्वाकुवंश के हैं। उनका गोत्र काश्यप है। भगवान् ऋषभ का एक नाम काश्यप है। शेष सभी तीर्थंकर इनके अनुवर्ती हैं, इसलिए वे सभी 'काश्यप' कहलाते हैं। काश्यप के द्वारा भगवान् ऋषभ और महावीर का ग्रहण भी होता है। इसका एक कारण यह भी है कि दोनों की साधना-पद्धति समान थी। दोनों ने पांच महाव्रतों की साधना-पद्धति का विधान किया था। ऐतिहासिक दृष्टि से यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

इसी अध्ययन के पचासवें श्लोक में प्रयुक्त पांच शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और वे तत्कालीन समाज-व्यवस्था और मुनि की आचार-व्यवस्था पर प्रकाश डालते हैं। वे शब्द ये हैं—

१. काथिक, २. प्राश्निक, ३. संप्रसारक, ४. कृतक्रिय ५. मामक।

प्रस्तुत अध्ययन के इकावनवें श्लोक में चार कषायों के वाचक चार नए शब्द प्रयुक्त हुए हैं—

१. छन्न—माया
२. प्रशंसा—लोभ
३. उत्कर्ष—मान
४. प्रकाश—क्रोध

इसी प्रकार प्रस्तुत आगम के ६/११ में इन चार कषायों के लिए निम्न चार नाम प्रयुक्त हैं—

१. माया—पलिउंचण (परिकुंचन)
२. लोभ— भजन
३. क्रोध—स्थंडिल
४. मान—उच्छ्रयण

बावनवें श्लोक में प्रयुक्त 'सहिए' (सहित) शब्द भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। उसकी अर्थ-परम्परा पर ध्यान देने से कुछेक योग प्रक्रियाओं पर प्रकाश पड़ता है। देखें—टिप्पण।

सत्तावनवें श्लोक की व्याख्या में चूर्णिकार ने ऐतिहासिक जानकारी देते हुए पूर्वदिशा निवासी आचार्यों और पश्चिमी दिशा निवासी आचार्यों के अर्थभेद का उल्लेख किया है।

चौसठवें और पैंसठवें श्लोक में सूत्रकार ने एक चिरंतन प्रश्न की चर्चा की है। वह प्रश्न है—वर्तमान प्रत्यक्ष है। किसने देखा है परलोक। इस चिंतन के गुण-दोष की चर्चा वहां की गई है।

धर्म की आराधना गृहवास में भी हो सकती है। इस तथ्य का स्पष्ट प्रतिपादन सड़सठवें श्लोक में प्राप्त है।

इसी प्रकार प्रस्तुत अध्ययन में एकत्व भावना, अशरण भावना, अनित्य भावना आदि का सुन्दर विवेचन प्राप्त है। इसमें ब्रह्मचर्य, कर्म-विपाक, शिक्षा, अनुकूलपरीषह, मान-विसर्जन, कर्म-अचय, सत्योपक्रम, धर्म की त्रैकालिकता, आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का भी सुन्दर समावेश है।

एक शब्द में कहा जा सकता है कि यह अध्ययन वैराग्य को वृद्धिगत करने और संबोधि को प्राप्त कर समाधिस्थ होने के सुन्दर उपायों को निर्दिष्ट करता है।

पहला अध्ययन तात्विक है और यह अध्ययन पूर्णतः आध्यात्मिक तथ्यों का प्रतिपादक है।

बीअं अज्झयणं : दूसरा अध्ययन

वेयालिए : वैतालीय

पढमो उद्देसो : पहला उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. संबुज्झह किण्ण बुज्झहा संबोही खलु पेच्च दुल्लहा। णो हूवणमंति राइओ णो सुलभं पुणरावि जीवियं ।१।	संबुध्यध्वं किं न बुध्यध्वं, संबोधिः खलु प्रेत्य दुर्लभा । नो खलु उपनमन्ति रात्रयः, नो सुलभं पुनरपि जीवितम् ।।	१. (भगवान् ऋषभ ने अपने पुत्रों से कहा—) 'संबोधि को प्राप्त करो। बोधि को क्यों नहीं प्राप्त होते हो? जो वर्तमान में संबोधि को प्राप्त नहीं होता, उसे अगले जन्म में भी वह सुलभ नहीं होती। बीती हुई रातें लौट कर नहीं आतीं। जीवन-सूत्र के टूट जाने पर उसे पुनः सांधना सुलभ नहीं है।'[1]
२. डहरा वुड्ढा य पासहा गब्भत्था वि चयंति माणवा। सेणे जह वट्टयं हरे एवं आउखयंमि तुट्टई ।२।	दहरा वृद्धाश्च पश्यत, गर्भस्था अपि च्यवन्ते मानवाः । श्येनो यथा वर्त्तकं हरेत्, एवं आयुःक्षये त्रुट्यति ।।	२. [2]तुम देखो—बालक, बूढ़े और गर्भस्थ मनुष्य भी मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। जिस प्रकार बाज बटेर[3] का हरण करता है, उसी प्रकार आयु के क्षीण होने पर मृत्यु जीवन का हरण करती है, जीवन-सूत्र टूट जाता है।
३. मायाहि पियाहि लुप्पई णो सुलहा सुगई य पेच्चओ। एयाइ भयाइ देहिया आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ।३।	मातृभिः पितृभिः लुप्यते, नो सुलभा सुगतिश्च प्रेत्य । एतानि भयानि दृष्ट्वा, आरम्भात् विरमेत् सुव्रतः ।।	३. [4]मनुष्य कदाचित् माता-पिता से पहले ही मर जाता है। अगले जन्म में सुगति[5] (सुकुल में जन्म) सुलभ नहीं है। इन भय-स्थानों को देखकर सुव्रत (श्रेष्ठ संकल्प वाला) मनुष्य हिंसा (और परिग्रह) से विरत हो जाए।
४ जमिणं जगई पुढो जगा कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो। सयमेव कडेहिं गाहई णो तस्स मुच्चे अपुट्ठवं ।४।	यदिदं जगति पृथग् जन्तवः, कर्मभिः लुप्यन्ते प्राणिनः । स्वयमेव कृतैः गाहते, नो तस्य मुच्यते अस्पृष्टवत् ।।	४. इस जगत् में प्राणी अपने-अपने कर्मों के द्वारा लुप्त होते हैं—[6] सुख-स्थानों से च्युत होते हैं। वे स्वयं की क्रियाओं के द्वारा कर्म का उपचय करते हैं। वे उसके विपाक से अस्पृष्ट होकर उससे मुक्त नहीं हो सकते।[7]
५. देवा गंधव्वरक्खसा असुरा भूमिचरा सिरीसिवा। राया णरसेट्ठिमाहणा ठाणा ते वि चयंति दुक्खिया ।५।	देवा गन्धर्वराक्षसाः, असुराः भूमिचराः सरीसृपाः । राजानः नरश्रेष्ठिब्राह्मणाः, स्थानात् तेऽपि च्यवन्ते दुःखिताः ।।	५. देव[8], गन्धर्व, राक्षस, असुर, पाताल-वासी नागकुमार, राजा, जनसाधारण, श्रेष्ठी और ब्राह्मण—ये सभी दुःखपूर्वक अपने-अपने स्थान से च्युत हो जाते हैं।[9]

६. कामेहि य संथवेहि य
कम्मसहा कालेण जंतवो।
ताले जह बंधणच्चुए
एवं आउखयम्मि तुट्टई।६।

कामैश्च संस्तवैश्च,
कर्मसहाः कालेन जन्तवः ।
तालो यथा बन्धनच्युतः,
एवं आयुःक्षये त्रुट्यति ॥

६. मृत्यु के आने पर मनुष्य कामनाओं और भोग्य-वस्तुओं से संबंध तोड़कर अपने अर्जित कर्मों के साथ (अज्ञात लोक में) चले जाते हैं। जैसे (स्वभावतः या किसी निमित्त से) ताड का फल वृन्त से टूटता है वैसे ही (स्वभावतः या किसी निमित्त से) आयु के क्षीण होने पर मनुष्य का जीवन-सूत्र टूट जाता है।

७. जे यावि बहुस्सुए सिया
धम्मिए माहणे भिक्खुए सिया।
अभिणूमकडेहिं मुच्छिए
तिव्वं से कम्मेहिं किच्चती।७।

यश्चापि बहुश्रुतः स्यात्,
धार्मिकः ब्राह्मणः भिक्षुकः स्यात् ।
अभिणूमकृतैः मूर्च्छितः,
तीव्रं स कर्मभिः कृत्यते ॥

७. जो कोई बहुश्रुत[१०] (शास्त्र-पारगामी) या धार्मिक[११] (न्यायवेत्ता) अथवा ब्राह्मण या भिक्षु भी यदि मायाकृत असत् आचरण में[१२] मूर्च्छित होता है[१३] तो वह कर्मों के द्वारा तीव्र रूप में छिन्न होता है।

८. अह पास विवेगमुट्ठिए
अवितिण्णे इह भासई धुवं।
णाहिसि आरं कओ परं?
वेहासे कम्मेहिं किच्चई।८।

अथ पश्य विवेकं उत्थितः,
अवितीर्णः इह भाषते ध्रुवम् ।
ज्ञास्यसि आरं कुतः परं,
विहायसि कर्मभिः कृत्यते ॥

८. हे शिष्य! तू देख, कोई भिक्षु (परिग्रह और स्वजन-वर्ग का परित्याग कर) संयम के लिए उत्थित हुआ है, किन्तु (वित्तैषणा और सुतैषणा के सागर को) तर नहीं पाया है, वह ध्रुव की कथा[१४] करता है। तू उसका अनुसरण कर गृहस्थी को ही जानेगा, प्रव्रज्या को नहीं जान पाएगा।[१५] जो गृहस्थी और प्रव्रज्या के अन्तराल में रहता है वह कर्मों (या कामनाओं) से छिन्न होता है।[१६]

९. जइ वि य णिगिणे किसे चरे
जइ वि य भुंजिय मासमंतसो।
जे इह मायादि मिज्जई
आगंता गब्भादणंतसो।९।

यद्यपि च नग्नः कृशश्चरेत्,
यद्यपि च भुञ्जीत मासमन्तशः ।
य इह मायादिना मीयते,
आगन्ता गर्भादनन्तशः ॥

९. यद्यपि कोई भिक्षु नग्न रहता है, देह को कृश करता है[१७] और मास-मास के अन्त में एक बार खाता है, फिर भी माया आदि से परिपूर्ण होने के कारण वह अनन्त बार जन्म-मरण करता है।

१०. पुरिसोरम पावकम्मुणा
पलियंतं मणुयाण जीवियं।
सण्णा इह काममुच्छिया
मोहं जंति णरा असंवुडा।१०।

पुरुष! उपरम पापकर्मणा,
पर्यन्तं मनुजानां जीवितम् ।
सन्ना इह काममूर्च्छिताः,
मोहं यान्ति नराः असंवृताः ॥

१०. हे पुरुष! (जिससे तू उपलक्षित हुआ है) उस पाप-कर्म से उपरमण कर, (क्योंकि) मनुष्य-जीवन का अन्त अवश्यंभावी है। जो स्त्री आदि में निमग्न होकर इन्द्रिय-विषयों में मूर्च्छित हैं वे असंवृत पुरुष मोह को प्राप्त होते हैं।

११. जययं विहराहि जोगवं
अणुपाणा पंथा दुरुत्तरा।
अणुसासणमेव पक्कमे
वीरेहिं सम्मं पवेइयं ।११।

यतमानः विहर योगवान्!,
अणुप्राणाः पन्थानः दुरुत्तराः।
अनुशासनमेव प्रक्रामेत्,
वीरैः सम्यक् प्रवेदितम् ॥

११. हे योगवान्![18] तू यतनापूर्वक विहरण कर। मार्ग सूक्ष्म प्राणियों से संकुल हैं।[19] (अतः अयतनापूर्वक चलने वाला जीव-वध किए बिना) उन पर नहीं चल सकता। तू अर्हतों के द्वारा सम्यग् प्रवेदित अनुशासन का[20] अनुसरण कर।

१२. विरया वीरा समुट्ठिया
कोहाकायरियाइपीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो
पावाओ विरयाऽभिणिव्वुडा ।१२।

विरताः वीराः समुत्थिताः,
क्रोधकातरिकादिपेषणाः।
प्राणान् न घ्नन्ति सर्वशः,
पापात् विरता अभिनिर्वृताः ॥

१२. वीर वे हैं जो विरत हैं, संयम में उत्थित हैं, क्रोध, माया आदि कषायों का चूर्ण करने वाले हैं, जो सर्वशः प्राणियों की हिंसा नहीं करते, जो पाप से विरत हैं और उपशान्त हैं।

१३. ण वि ता अहमेव लुप्पए
लुप्पंती लोगंसि पाणिणो।
एवं सहिएऽहिपासए
अणिहे से पुट्ठेऽहियासए ।१३।

नापि तावत् अहमेव लुप्ये,
लुप्यन्ते लोके प्राणिनः।
एवं सहितोऽभिपश्यति,
अनिहः सः स्पृष्टोऽधिसहेत ॥

१३. 'इस संसार में मैं ही केवल दुःखों से पीड़ित नहीं होता, परन्तु लोक में दूसरे प्राणी भी पीड़ित होते हैं'—इस प्रकार ज्ञान-संपन्न पुरुष अन्तर्दृष्टि से देखे और वह परिषहों से स्पृष्ट होने पर उनसे आहत न हो, किन्तु उन्हें सहन करे।

१४. धुणिया कुलियं व लेववं
कसए देहमणसणादिहिं।
अविहिंसामेव पव्वए
अणुधम्मो मुणिणा पवेइओ ।१४।

धूत्वा कुड्यं लेपवत्,
कर्शयेत् देहमनशनादिभिः ॥
अविहिंसामेव प्रव्रजेत्,
अनुधर्मः मुनिना प्रवेदितः ॥

१४. [21]कर्म-शरीर को प्रकंपित कर। जैसे गोबर आदि से लीपी हुई भींत को धक्का देने पर उसका लेप टूट जाता है और वह कृश हो जाती है, वैसे ही अनशन आदि के द्वारा (मांस और शोणित से उपचित) देह को कृश कर। अहिंसा में प्रव्रजन कर। महावीर के द्वारा प्रवेदित अहिंसा धर्म अनुधर्म है—[22] पूर्ववर्ती ऋषभ आदि सभी तीर्थंकरों द्वारा प्रवेदित है।

१५. सउणी जह पंसुगुंडिया
विहुणिय धंसयई सियं रयं।
एवं दविओवहाणवं
कम्मं खवइ तवस्सि माहणे ।१५।

शकुनिः यथा पांसुगुण्ठितो,
विधूय ध्वंसयति सितं रजः।
एवं द्रव्यः उपधानवान्,
कर्म क्षपयति तपस्वी ब्राह्मणः ॥

१५. जैसे पक्षिणी (धूल-स्नान के कारण) धूल से अवगुंठित होने पर अपने शरीर को कंपित कर, लगे हुए रजकणों को दूर कर देती है, वैसे ही राग-द्वेष रहित तपस्वी श्रमण[23] तपस्या के द्वारा कर्मों को क्षीण कर देता है।

१६. उट्ठियमणगारमेसणं
समणं ठाणठियं तवस्सिणं।
डहरा वुड्ढा य पत्थए
अवि सुस्से ण य तं लभे जणा ।१६।

उत्थितमनगारमेषणां,
श्रमणं स्थानस्थितं तपस्विनम्।
दहरा वृद्धाश्च प्रार्थयेयुः,
अपि शुष्येयुः न च तं लभेरन् जनाः ॥

१६. जो अनगारत्व (अनिकेतचर्या) या मोक्ष की एषणा के लिए उत्थित है, जो श्रमणोचित स्थान (ज्ञान आराधना, चरित्र आराधना आदि) में स्थित है,

जो तपस्वी है, उस श्रमण को बच्चे या बूढ़े पुनः घर में आने की प्रार्थना करते हैं। वे प्रार्थना करते-करते थक जाते हैं किन्तु उस श्रमण को संयम-मार्ग से च्युत नहीं कर सकते।

१७. जइ कालुणियाणि कासिया
जइ रोयंति य पुत्तकारणा।
दवियं भिक्खुं समुट्ठियं
णो लब्भंति णं सण्णवेत्तए।।१७।

यदि कारुणिकानि अकार्षुः,
यदि रुदन्ति च पुत्रकारणम्।
द्रव्यं भिक्षुं समुत्थितं,
नो लप्स्यन्ते एनं संज्ञापयितुम्।।

१७. यद्यपि वे कौटुम्बिक उस श्रमण के पास आकर करुण विलाप करते हैं, पुत्र-प्राप्ति के लिए[२४] रुदन करते हैं (एक पुत्र को उत्पन्न कर तुम प्रव्रजित हो जाना—ऐसा कहते हैं), फिर भी वे राग-द्वेष रहित उस श्रमण को समझा-बुझाकर पुनः गृहस्थी में नहीं ले जा सकते :

१८. जइ तं कामेहि लाविया
जइ आणेज्ज तं बंधिता घरं।
तं जीवित णावकंखिणं
णो लब्भंति तं सण्णवेत्तए।।१८।

यदि तं कामैः निमंत्र्य,
यदि आनयेत् तं बध्वा गृहम्।
तं जीवितस्य नावकांक्षिणं,
नो लप्स्यन्ते एनं संज्ञापयितुम्।।

१८. यद्यपि वे कौटुम्बिक उस श्रमण को कामभोग के लिए निमंत्रित करते हैं[२५] अथवा उसे बांध कर घर ले आते हैं, परन्तु जो असंयम जीवन की आकांक्षा नहीं करता उसे वे समझा-बुझाकर पुनः गृहस्थी में नहीं ले जा सकते।

१९. सेहंति य णं ममाइणो
माय पिया य सुया य भारिया।
पोसाहि णे पासओ तुमं
लोगं परं पि जहासि पोस णे।।१९।

सेधन्ति च एनं ममायिनः,
माता पिता च सुता च भार्या।
पोषय नः पश्यकस्त्वं,
लोकं परमपि जहासि पोषय नः।।

१९. अपनापन दिखाने वाले माता, पिता, पुत्री और पत्नी—ये सभी उस श्रमण को सीख देते हैं—'तू हमारा पोषण कर। तू पश्यक (दीर्घदर्शी) है। (हमारी सेवा से वंचित रहकर) तू परलोक को सफल नहीं कर पायेगा, इसलिए तू हमारा पोषण कर।

२०. अण्णे अण्णेहि मुच्छिया
मोहं जंति णरा असंवुडा।
विसमं विसमेहि गाहिया
ते पावेहिं पुणो पगब्भिया।२०।

अन्ये अन्यैः मूर्च्छिताः,
मोहं यान्ति नराः असंवृताः।
विषमं विषमैः ग्राहिताः,
ते पापैः पुनः प्रगल्भिताः।।

२०. कुछ मुनि (उनकी बातें सुनकर माता, पिता, पत्नी या पुत्री में) मूर्च्छित होकर मोह को प्राप्त होते हैं तथा इन्द्रिय और मन के संवर से रहित हो जाते हैं—पुनः गृहस्थी में लौट आते हैं। असंयमी के द्वारा असंयम में लाए हुए वे मनुष्य पुनः पाप करने के लिए लज्जा रहित हो जाते हैं।

२१. तम्हा दवि इक्ख पंडिए
पावाओ विरएभिणिव्वुडे।
पणए वीरे महाविहिं
सिद्धिपहं णेयाउयं धुवं।२१।

तस्मात् द्रव्यः ईक्षस्व पंडितः,
पापात् विरतः अभिनिर्वृतः।
प्रणतः वीरः महावीथिं,
सिद्धिपथं नैर्यात्रिकं ध्रुवम्।।

२१. इसलिए राग-द्वेष रहित पंडित मुनि (विरत और अविरत मनुष्यों के गुण-दोषों को) देखकर पाप से विरत और (कषाय से) उपशान्त हो जाए। वीर पुरुष लक्ष्य तक ले जाने वाले[२६] उस शाश्वत महापथ के प्रति[२७] प्रणत होते हैं जो सिद्धि का पथ है।

२२. वेयालियमग्गमागओ
मणवयसा काएण संवुडो।
चिच्चा वित्तं च णायओ
आरंभं च सुसंवुडे चरे।२२।

—त्ति बेमि ।।

वैतालीयमार्गमागतः,
मनसा वचसा कायेन संवृतः ।
त्यक्त्वा वित्तं च ज्ञातीः,
आरंभं च सुसंवृतश्चरेत् ।।

—इति ब्रवीमि ।।

२२. वैतालीय मार्ग को प्राप्त कर मुनि मन, वचन और काया से संवृत होकर, धन, स्वजन और हिंसा का त्याग कर संयम में विचरण करे।

—ऐसा मैं कहता हूं ।।

बीओ उद्देसो : दूसरा उद्देशक

२३. तय संं व जहाइ से रयं
इइ संखाय मुणी ण मज्जई।
गोयण्णतरेण माहणे
अहऽसेयकरी अण्णेसि इंखिणी।१।

त्वचं स्वामिव जहाति स रजः,
इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ।
गोत्रान्यतरेण ब्राह्मणः,
अथ अश्रेयस्करी अन्येषां 'इंखिणी' ।।

२३. जिस[२८] प्रकार (सर्प) अपनी केंचुली को छोड़ देता है, वैसे ही मुनि रज को[२९] छोड़ देता है। (अकषाय अवस्था में रज क्षीण होता है) यह जानकर मुनि मद न करे। गोत्र और अन्यतर (कुल, बल, रूप, श्रुत आदि)[३०] तथा अपनी विशिष्टता का बोध—ये सब मद के हेतु हैं। (मद से मत्त होकर) दूसरों की अवहेलना करना श्रेयस्कर नहीं है।

२४. जो परिभवई परं जणं
संसारे परिवत्तई महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया
इइ संखाय मुणी ण मज्जई।२।

यः परिभवति परं जनं,
संसारे परिवर्तते महत् ।
अथ 'इंखिणिका' तु पातिका,
इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ।।

२४. जो गोत्र आदि की हीनता के कारण दूसरे की अवहेलना करता है वह दीर्घ-काल तक संसार[३१] (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि हीन जातियों) में उत्पन्न होता रहता है। इसलिए यह अवहेलना पाप को उत्पन्न करने वाली या पतन की ओर ले जाने वाली[३२] है—यह जान-कर मुनि मद न करे।

२५. जे यावि अणायगे सिया
जे वि य पेसगपेसगे सिया
इव मोणपयं उवट्ठिए
णो लज्जे समयं सया चरे।३।

यश्चापि अनायकः स्यात्
योऽपि च प्रेष्यकप्रेष्यकः स्यात् ।
इदं मौनपदं उपस्थितः,
नो लज्जेत समतां सदा चरेत् ।।

२५. एक सर्वोच्च अधिपति हो और दूसरा उसके नौकर का नौकर हो। वह सर्वोच्च अधिपति मुनिपद की प्रव्रज्या स्वीकार कर (पहले से प्रव्रजित अपने नौकर के नौकर को वन्दना करने में) लज्जा का अनुभव न करे, सदा समता का आचरण करे।[३३]

२६. सम अण्णयरम्मि संजमे
संसुद्धे समणे परिव्वए।
जा आवकहा समाहिए
दविए कालमकासि पंडिए।४।

समे अन्यतरस्मिन् संयमे,
संशुद्धः समनाः परिव्रजेत् ।
यावत् यावत्कथा समाहितः,
द्रव्यः कालमकार्षीत पंडितः ।।

२६. जो मुनि सम संयमस्थान या अधिक संयमस्थान में स्थित[३४] (पूर्व प्रव्रजित मुनि को वंदना करता है), वह अहं-कार शून्य है और सम्यक् मन वाला[३५] होकर परिव्रजन करता है। वह पंडित मुनि जीवन पर्यन्त, मौत आए तब तक, समाधियुक्त और राग-द्वेष रहित होकर मद नहीं करता।

२७. दूरं अणुपस्सिया मुणी
तीयं धम्ममणागयं तहा।
पुट्ठे फरुसेहिं माहणे
अवि हण्णू समयंसि रीयइ ।५।

दूरं अनुदृश्य मुनिः,
अतीतं धर्ममनागतं तथा।
स्पृष्टः परुषैः ब्राह्मणः,
अपि हतुः समये रीयते ॥

२७. मुनि अतीत और अनागत धर्म की दीर्घकालीन परम्परा[१९] (कभी उच्चता और कभी हीनता की अवस्थाओं) को देखकर (मद नहीं करता)। अहिंसा का अनुशीलन करने वाला कठोर वचन से तर्जित तथा हत-प्रहत होने पर भी समता में रहता है।[१७]

२८. पण्णसमत्ते सया जए
समताधम्ममुदाहरे मुणी।
सुहुमे उ सया अलूसए
णो कुज्झे णो माणि माहणे ।६।

समाप्तप्रज्ञः सदा यतः,
समताधर्ममुदाहरेद् मुनिः।
सूक्ष्मे तु सदा अलूषकः,
नो क्रुध्येद् नो मानी ब्राह्मणः ॥

२८. कुशल प्रज्ञा वाला और सदा अप्रमत्त मुनि समता धर्म का निरूपण करे। वह सूक्ष्मदर्शी मुनि (धर्म कथा में) सदा अहिंसक रहे—किसी को बाधा न पहुंचाए।[१८] वह न क्रोध करे और न अभिमान करे।[१९]

२९. बहुजणणमणम्मि संवुडे
सव्वट्ठेहिं णरे अणिस्सिए।
हरए व सया अणाविले
धम्मं पादुरकासि कासवं ।७।

बहुजननमने संवृतः,
सर्वार्थेषु नरः अनिश्रितः।
ह्रद इव सदा अनाविलः,
धर्मं प्रादुरकार्षीत् काश्यपम् ॥

२९. जो मनुष्य धर्म में संवृत, सब विषयों के प्रति अनासक्त और ह्रद की भांति सदा स्वच्छ है, उसने काश्यप (भगवान् महावीर) के धर्म को प्रगट किया।[२०]

३०. बहवे पाणा पुढो सिया
पत्तेयं समयं समीहिया।
जे मोणपयं उवट्ठिए
विरइं तत्थ अकासि पंडिए ।८।

बहवः प्राणाः पृथग् श्रिताः।
प्रत्येकं समतां समीहिताः।
यो मौनपदं उपस्थितः,
विरतिं तत्र अकार्षीत् पंडितः ॥

३०. संसार में अनन्त प्राणी हैं। उनका अस्तित्व पृथक्-पृथक् है। प्रत्येक प्राणी में समता है—सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय। यह देखकर जो मुनिपद में उपस्थित है, वह पंडित विरति करे—किसी प्राणी का उपघात न करे।

३१. धम्मस्स य पारगे मुणी
आरंभस्स य अंतए ठिए।
सोयंति य णं ममाइणो
णो य लभंती णियं परिग्गहं ।९।

धर्मस्य च पारगो मुनिः,
आरंभस्य च अन्तके स्थितः।
शोचन्ति च ममायिनः,
नो च लभन्ते निजं परिग्रहम् ॥

३१. धर्म का पारगामी मुनि आरंभ (हिंसा) के अन्त में स्थित होता है। परिग्रह के प्रति ममत्व रखने वाला शोक करता है। वह अपने विनष्ट परिग्रह को प्राप्त नहीं करता।

३२. इहलोगे दुहावहं विऊ
परलोगे य दुहं दुहावहं।
विद्धंसणधम्ममेव तं
इइ विज्जं को गारमावसे ? ।१०।

इहलोके दुःखावहं विद्वान्,
परलोके च दुःखं दुःखावहम्।
विध्वंसनधर्ममेव तद्,
इति विद्वान् कः अगारमावसेत् ॥

३२. परिग्रह इस लोक में भी दुःखावह होता है और परलोक में भी अत्यन्त दुःखावह होता है। वह विध्वंसधर्मा है—ऐसा जानकर कौन घर में रहेगा ?

३३. महया पलिगोव जाणिया
जा वि य वंदणपूयणा इह।
सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे
विउमंता पयहिज्ज संथवं ।११।

महान्तं परिगोपं ज्ञात्वा,
यापि च वन्दनपूजना इह।
सूक्ष्मं शल्यं दुरुद्धरं,
विद्वान् मत्वा प्रजह्यात् संस्तवम् ॥

३३. जो यह वंदना-पूजा है[२१] वह महा कीचड़ है। वह ऐसा सूक्ष्म शल्य है जो सरलता से नहीं निकाला जा सकता। यह जानकर विद्वान् पुरुष को संस्तव (वंदना-पूजा) का परित्याग करना चाहिए।

सिद्धहेम०	सिद्धहेम व्याकरण	[अहमदाबाद]
सिद्धान्तसा०	सिद्धान्तसारादिसंग्रह	[माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बंबई]
सिद्धिवि०	सिद्धिविनिश्चय	[पं० महेन्द्रकुमार स्या० वि० काशी]
सिद्धिवि० टी०	सिद्धिविनिश्चयटीका लिखित	[पं० सुखलालजी B. H. U.]
सुश्रु०	सुश्रुतसंहिता	[निर्णयसागर प्रेस बम्बई]
सूत्र० नि०	सूत्रकृताङ्ग निर्युक्ति	[आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय पूना]
सूत्र० शी०	सूत्रकृताङ्ग शीलाङ्कटीका	[महावीर जैन ज्ञानोदय सोसाइटी राजकोट]
स्था०	स्थानाङ्गसूत्र	[अहमदाबाद द्वितीयावृत्ति]
स्था० टी०	स्थानाङ्ग सूत्रटीका	[,, ,,]
स्फोट० न्याय०	स्फोटसिद्धि न्यायविचार	[त्रिवेन्द्रं संस्कृत सीरिज]
स्फोट सि०	स्फोटसिद्धि	[मद्रास युनि० सीरिज]
स्या० म०	स्याद्वादमञ्जरी	[रायचन्द्र शास्त्रमाला बंबई]
स्या० र० स्या० रत्ना०	स्याद्वादरत्नाकर	[आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय पूना]
स्वामिका०	स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा	[जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता]
हरि०	हरिवंशपुराण	[मा० दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बई]
हेतु बि० टी०	हेतुबिन्दुटीका अर्चटकृत	[पं० सुखलालजी B. H. U.]
हेम० प्रा० व्या०	हेमचन्द्राचार्यकृत प्राकृतव्याकरण	[आर्हतमत प्रभाकर कार्यालय पूना]

का०	कारिका
गा०	गाथा
त्रु०	त्रुटित अक्षर
प०	पत्र
पृ०	पृष्ठ
श्लो०	श्लोक
सू०	सूत्र
सूत्रगाथाङ्क	कसायपाहुडके गाथासूत्रोंके क्रमाङ्क

४१. अहिगरणकरस्स भिक्खुणो
वयमाणस्स पसज्झ दारुणं ।
अट्ठे परिहायई बहू
अहिगरणं ण करेज्ज पंडिए ।१९।

अधिकरणकरस्य भिक्षोः,
वदतः प्रसह्य दारुणम् ।
अर्थः परिहीयते बहुः,
अधिकरणं न कुर्यात् पंडितः ।।

४१. कलह करने वाले, तिरस्कारपूर्ण और कठोर वचन बोलने वाले भिक्षु का परम[५२] अर्थ नष्ट हो जाता है, इसलिए पण्डित भिक्षु को कलह नहीं करना चाहिए ।

४२. सीओदग पडिदुगंछिणो
अपडिण्णस्स लवावसक्किणो ।
सामाइयमाहु तस्स जं
जो गिहिमत्तेऽसणं ण भुंजई ।२०।

शीतोदकस्य प्रतिजुगुप्सिनः,
अप्रतिज्ञस्य लवावष्वष्किनः ।
सामायिकमाहुः तस्य यद्,
यो गृह्यमत्रे अशनं न भुङ्क्ते ।।

४२. शीतोदक (सजीव जल)[५३] न पीने वाले,[५४] निष्काम[५५], प्रवृत्ति से दूर रहने वाले[५६] और जो गृहस्थ के पात्र में भोजन नहीं करता[५७], उस साधक के सामायिक होता है ।

४३. ण य संखयमाहु जीवियं
तह वि य बालजणो पगब्भई ।
बाले पावेहि मिज्जई
इइ संखाय मुणी ण मज्जई ।२१।

न च संस्कृतमाहुः जीवितं,
तथाऽपि च बालजनः प्रगल्भते ।
बालः पापैर्मीयते,
इति संख्याय मुनिर्न माद्यति ।।

४३. (टूटे हुए) जीवन-सूत्र को जोड़ा नहीं जा सकता । फिर भी अज्ञ मनुष्य (हिंसा आदि करने में) धृष्ट होता है । वह अज्ञ (अपने हिंसा आदि आचरणों द्वारा जनित) पाप-कर्मों से भरता जाता है— यह जानकर मुनि मद नहीं करता ।

४४. छंदेण पलेतिमा पया
बहुमाया मोहेण पाउडा ।
वियडेण पलेति माहणे
सीउण्हं वयसा हियासए ।२२।

छन्देन प्रलीयते इयं प्रजा,
बहुमाया मोहेन प्रावृता ।
विकटेन प्रलीयते ब्राह्मणः,
शीतोष्णं वचसा अध्यासीत ।।

४४. बहुत माया वाली, मोह से ढकी हुई यह जनता स्वेच्छा से विभिन्न गतियों में पर्यटन करती है । मुनि सरल भाव से संयम में लीन रहता है और वचन (मन और काया) से शीत और उष्ण को सहन करता है ।

४५. कुजए अपराजिए जहा
अक्खेहि कुसलेहि दीवयं ।
कडमेव गहाय णो कलिं
णो तेयं णो चेव दावरं ।२३।

कुजयोऽपराजितो यथा,
अक्षैः कुशलैः दीव्यन् ।
कृतमेव गृहीत्वा नो कलिं,
नो त्रेतं नो चैव द्वापरम् ।।

४६. एवं लोगम्मि ताइणा
बुइए जे धम्मे अणुत्तरे ।
तं गिण्ह हियं ति उत्तमं
कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ।२४।

एवं लोके त्रायिणा,
उक्तो यो धर्मः अनुत्तरः ।
तं गृहाण हितं इति उत्तमं,
कृतमिव शेषमपहाय पंडितः ।।

४५-४६. जैसे अपराजित द्यूतकार कुशल द्यूतकारों के साथ खेलता हुआ कृत दाव को ही लेता है, कलि, त्रेता या द्वापर को नहीं लेता । इसी प्रकार इस लोक में त्रायी (महावीर) के द्वारा कथित जो अनुत्तर धर्म है उसको कृत दाव की भांति हितकर और उत्तम समझकर स्वीकार करे । जैसे सफल द्यूतकर शेष सभी दावों को छोड़कर केवल कृत को ही लेता है, उसी प्रकार पंडित मुनि, सब कुछ छोड़कर, धर्म को ही ग्रहण करे ।

४७. उत्तर मणुयाण आहिया
गामधम्म इति मे अणुस्सुयं ।
जंसी विरया समुट्ठिया
कासवस्स अणुधम्मचारिणो ।२५।

उत्तराः मनुष्याणां आख्याताः,
ग्राम्यधर्माः इति मया अनुश्रुतम् ।
यस्मिन् विरताः समुत्थिताः,
काश्यपस्य अनुधर्मचारिणः ।।

४७. मैंने परंपरा से यह सुना है[५८]—ग्राम्य-धर्म (मैथुन) मनुष्यों के लिए सब विषयों मे प्रधान[५९] कहा गया है । किंतु काश्यप (महावीर या ऋषभ)[६०] के द्वारा आचरित धर्म का अनुचरण करने वाले मुनि[६१] उत्थित होकर उससे विरत रहते हैं ।

४८. जे एय चरंति आहियं
णाएण महया महेसिणा।
ते उट्ठिय ते समुट्ठिया
अण्णोण्णं सारेंति धम्मओ ।२६।

ये एनं चरन्ति आहृतं,
ज्ञातेन महता महर्षिणा।
ते उत्थिताः ते समुत्थिताः,
अन्योन्यं सारयन्ति धर्मतः ।।

४८. जो महान् महर्षि ज्ञातपुत्र द्वारा कथित धर्म का आचरण करते हैं वे उत्थित हैं, समुत्थित हैं। वे एक दूसरे को धर्म में (धार्मिक प्रेरणा से) प्रेरित करते हैं।

४९. मा पेह पुरा पणामए
अभिकंखे उवहिं धुणित्तए।
जे दूवण ण ते हि णो णया
ते जाणंति समाहिमाहियं ।२७।

मा प्रेक्षस्व पुरा प्रणामकान्,
अभिकांक्षेद् उपधिं धूनयितुम्।
ये दुरुपनता न ते हि नो नताः,
ते जानन्ति समाधिमाहृतम् ।।

४९. पूर्वकाल में भुक्त भोगों की ओर न देखें। उपधि (माया या कर्म) को दूर करने की अभिलाषा करें। जो विषयों के प्रति नत होते हैं[१२] वे स्वाख्यात समाधि को नहीं जान पाते और जो उनके प्रति नत नहीं होते वे ही स्वाख्यात समाधि को जान पाते हैं।

५० णो काहिए होज्ज संजए
पासणिए ण य संपसारए।
णच्चा धम्मं अणुत्तरं
कयकिरिए य ण यावि मामए ।२८।

नो काथिको भवेत् संयतः,
प्राश्निकः न च संप्रसारकः।
ज्ञात्वा धर्मं अनुत्तरं,
कृतक्रियः च न चापि मामकः ।।

५०. संयमी भोजन आदि की कथा न करे, साक्षी (मध्यस्थ या पंच) न बने, लाभ-अलाभ, मुहूर्त आदि न बताए, अनुत्तर धर्म को जानकर गृहस्थ के द्वारा किए गए आरम्भ की प्रशंसा न करे और 'यह मेरा है, मैं इसका हूं'—इस प्रकार ममत्व न करे।[१३]

५१. छण्णं च पसंस णो करे
ण य उक्कोस पगास माहणे।
तेसिं सुविवेगमाहिए
पणया जेहि सुझोसियं धुयं ।२९।

छन्नं च प्रशंसां नो कुर्यात्,
न च उत्कर्षं प्रकाशं ब्राह्मणः।
तेषां सुविवेक आहृतः,
प्रणताः यैः सुजुष्टं धुतम् ।।

५१. मुनि माया और लोभ का आचरण न करे। मान और क्रोध न करे।[१४] जिन्होंने धुत का[१५] सम्यक् अभ्यास किया है और जो (धर्म के प्रति) प्रणत हैं उन्हें सम्यक् विवेक[१६] उपलब्ध हो गया है।

५२. अणिहे सहिए सुसंवुडे
धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
विहरेज्ज समाहिंतिदिए
आतहितं दुक्खेण लब्भते ।३०।

अस्निहः सस्वहितः सुसंवृतः,
धर्मार्थी उपधानवीर्यः।
विहरेत् समाहितेन्द्रियः,
आत्महितं दुःखेन लभ्यते ।।

५२. मुनि स्नेह रहित[१७], आत्महित में रत[१८], सुसंवृत, धर्मार्थी, तप में पराक्रमी और शांत इन्द्रिय वाला होकर विहार करे। आत्महित की साधना बहुत दुर्लभ है।[१९]

५३. ण हि णूण पुरा अणुस्सुयं
अदुवा तं तह णो अणुट्ठियं।
मुणिणा सामाइयाहियं
णातएण जगसव्वदंसिणा ।३१।

न हि नूनं पुरा अनुश्रुतं,
अथवा तत् तथा नो अनुष्ठितम्।
मुनिना सामायिकं आहृतं,
ज्ञातकेन जगत्सर्वदर्शिना ।।

५३. विश्व में सर्वदर्शी ज्ञातपुत्र मुनि ने जो सामायिक का आख्यान किया है वह निश्चित ही पहले अनुश्रुत—परंपरा-प्राप्त नहीं है अथवा वह जैसे होना चाहिए वैसे अनुष्ठित नहीं है।

५४. एवं मत्ता महंतरं
धम्ममिणं सहिया बहू जणा ।
गुरुणो छंदाणुवत्तगा
विरया तिण्ण महोघमाहियं ।३२।

एवं मत्वा महदन्तरं,
धर्ममिमं सहिताः बहवो जनाः ।
गुरोः छन्दानुवर्तकाः,
विरताः तीर्णाः महौघमाहृतम् ॥

५४. इस प्रकार (सामायिक की पूर्व परंपरा और वर्तमान परंपरा के) महान् अन्तर को जानकर, धर्म को समझकर, आत्महित में रत, गुरु के अभिप्रायानुसार चलने वाले, विरत बहुत सारे मनुष्य इस संसार समुद्र का पार पा गए हैं ।

—त्ति बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ।

—ऐसा मैं कहता हूं ।

तइओ उद्देसो : तीसरा उद्देशक

५५. संवुडकम्मस्स भिक्खुणो
जं दुक्खं पुट्ठं अबोहिए ।
तं संजमओऽवचिज्जई
मरणं हेच्च वयंति पंडिया ।१।

संवृतकर्मणः भिक्षोः,
यत् दुःखं स्पृष्टं अबोध्या ।
तत् संयमतः अपचीयते,
मरणं हित्वा व्रजन्ति पंडिताः ॥

५५. संवृत कर्म वाले[७७] भिक्षु के जो अज्ञान के द्वारा[७१] दुःख (कर्म)[७२] स्पृष्ट होता है[७३] वह संयम के द्वारा विनष्ट हो जाता है । (उसके विनष्ट होने पर) पंडित मनुष्य मरण (कर्म या संसार) को छोड़कर (मोक्ष) चले जाते हैं ।

५६ जे विण्णवणाहिऽज्झोसिया
संतिण्णेहि समं वियाहिया ।
तम्हा उड्ढं ति पासहा
अद्दक्खू कामाइं रोगवं ।२।

ये विज्ञापनाभिः अजुष्टाः,
सन्तीर्णैः समं व्याहृताः ।
तस्मात् ऊर्ध्वमिति पश्यत,
अद्राक्षुः कामान् रोगवत् ॥

५६. जो स्त्रियों के प्रति[७४] अनासक्त हैं,[७५] वे (संसार को) तरे हुए के समान कहे गए हैं । इसलिए तुम ऊर्ध्व (मोक्ष) की ओर[७६] देखो, कामभोगों को रोग के समान देखो ।

५७. अग्गं वणिएहि आहियं
धारेंती रायाणया इहं ।
एवं परमा महव्वया
अक्खाया उ सराइभोयणा ।३।

अग्रं वणिग्भिराहितं,
धारयन्ति राजकाः इह ।
एवं परमाणि महाव्रतानि,
आख्यातानि तु सरात्रिभोजनानि ॥

५७. व्यापारियों द्वारा लाए गए श्रेष्ठ (रत्न, आभूषण आदि) को[७७] राजा लोग धारण करते हैं, वैसे ही रात्रि-भोजन-विरमण सहित पांच महाव्रत परम बतलाए गए हैं ।[७८] (उन्हें संयमी मनुष्य धारण करते हैं ।)

५८. जे इह सायाणुगा णरा
अज्झोववण्णा कामेहि मुच्छिया ।
किवणेण समं पगब्भिया
ण वि जाणंति समाहिमाहियं ।४।

ये इह सातानुगाः नराः,
अध्युपपन्नाः कामेषु मूर्च्छिताः ।
कृपणेन समं प्रगल्भिताः,
नापि जानन्ति समाधिमाहृतम् ॥

५८. जो सुख के पीछे दौड़ने वाले हैं[७९], आसक्त हैं[८०], कामभोगों में मूर्च्छित हैं, कृपण के समान ढीठ हैं[८१], वे महावीर द्वारा कथित समाधि को नहीं जान सकते ।

५९. वाहेण जहा व विच्छए
अबले होइ गवं पचोइए ।
से अंतसो अप्पथामए
णाईव चए अबले विसीयइ ।५।

व्याधेन यथा वा विक्षतः,
अबलो भवति गौः प्रचोदितः ।
स अन्तशः अल्पस्थामा,
नातीव शक्नोति अबलो विषीदति ॥

५९-६०. जैसे गाडीवान् द्वारा[८२] प्रताड़ित और प्रेरित बैल अन्त में अल्प-प्राण हो जाता है (तथा) वह दुर्बल होकर गाडी को विषम मार्ग में नहीं खींच पाता,

कीचड़ में फंस जाता है—

६०. एवं कामेसणाविऊ
अज्ज सुए पयहेज्ज संथवं ।
कामी कामे ण कामए
लद्धे वा वि अलद्ध कण्हुई ।६।

एवं कामैषणाविद्वान्,
अद्य श्वः प्रजह्यात् संस्तवम् ।
कामी कामान् न कामयेत,
लब्धान् वापि अलब्धान् कुतश्चित् ।।

इसी प्रकार कामैषणा को जानने वाला (काम के संत्रास से पीडित होकर सोचता है कि) मुझे आज या कल यह संस्तव (काम-भोग)[८३] छोड़ देना चाहिए। (वह उस संस्तव को छोड़ना चाहते हुए भी कुटुम्बपोषण आदि के दुःखों से प्रताडित और प्रेरित होकर उन्हें छोड़ नहीं पाता। प्रत्युत् उस बैल की भांति अल्प-प्राण होकर उनमें निमग्न हो जाता है।) इसलिए मनुष्य कामी होकर कहीं भी प्राप्त या अप्राप्त कामों की कामना न करे।

६१. मा पच्छ असाहुया भवे
अच्चेही अणुसास अप्पगं ।
अहियं च असाहु सोयई
से थणई परिदेवई वहुं ।७।

मा पश्चाद् असाधुता भवेत्,
अत्येहि अनुशाधि आत्मकम् ।
अधिकं च असाधुः शोचति,
स स्तनति परिदेवते बहु ।।

६१. मरणकाल में असाधुता (शोक या अनुताप) न हो इसलिए तू कामभोगों का अतिक्रमण कर अपने को अनुशासित कर। (जितना अधिक) जो असाधु होता है वह उतना ही अधिक शोक करता है, क्रन्दन करता है और बहुत विलाप करता है।[८४]

६२. इह जीवियमेव पासहा
तरुण एव वाससयस्स तुट्टई ।
इत्तरवासं व बुज्झहा
गिद्ध णरा कामेसु मुच्छिया ।८।

इह जीवितमेव पश्यत,
तरुण एव वर्षशतस्य त्रुट्यति ।
इत्वरवासं वा बुध्यध्वं,
गृद्धाः नराः कामेषु मूर्च्छिताः ।।

६२. यहीं जीवन को देखो। सौ वर्ष जीने वाला मनुष्य तारुण्य में ही मर जाता है। यह जीवन अल्पकालिक-वास है[८५], इसे तुम जानो। (फिर भी) आसक्त मनुष्य कामभोगों में मूर्च्छित रहते हैं।

६३. जे इह आरंभणिस्सिया
आयदंड एगंतलूसगा ।
गंता ते पावलोगयं
चिररायं आसुरियं दिसं ।६।

ये इह आरंभनिश्रिताः,
आत्मदण्डाः एकान्तलूषकाः ।
गन्तारस्ते पापलोककं,
चिररात्रं आसुरीयां दिशम् ।।

६३. जो हिंसा-परायण, आत्मघाती[८६] और विजन में लूटने वाले हैं[८७] वे नरक में[८८] जायेंगे और उस आसुरी दिशा में[८९] चिरकाल तक रहेंगे।

६४. ण य संखयमाहु जीवियं
तह वि य बालजणो पगब्भई ।
पच्चुप्पण्णेण कारियं
के दट्ठुं परलोगमागए ? ।१०।

न च संस्कृतमाहुः जीवितं,
तथापि च बालजनः प्रगल्भते ।
प्रत्युत्पन्नेन कार्यं,
कः दृष्ट्वा परलोकमागतः ?

६४. (टूटे हुए) जीवन को सांधा नहीं जा सकता। फिर भी अज्ञानी मनुष्य धृष्टता करता है—हिंसा आदि में प्रवृत्त होता है। (वह सोचता है) मुझे वर्तमान से प्रयोजन है। परलोक को देखकर कौन लौटा है ?

६५. अदक्खुव ! दक्खुवाहियं
सद्दहसु अदक्खुदंसणा ! ।
हंदि ! हु सुणिरुद्धदंसणे
मोहणिज्जेण कडेण कम्मुणा ।११।

अद्रष्टृवत् ! द्रष्टृव्याहृतं,
श्रद्धस्व अद्रष्टृदर्शनः !
हन्त ! खलु सुनिरुद्धदर्शनः,
मोहनीयेन कृतेन कर्मणा ।।

६५. हे अन्धतुल्य ! हे द्रष्टा के दर्शन से शून्य ! (हे अर्वाग्दर्शी !) तुम द्रष्टा के वचन पर श्रद्धा करो। अपने किए हुए मोहनीय कर्म के द्वारा तुम्हारा दर्शन निरुद्ध है, इसे तुम जानो।[९०]

६६. दुक्खी मोहे पुणो पुणो
णिव्विदेज्ज सिलोगपूयणं।
एवं सहिएऽहिपासए
आयतुलं पाणेहि संजए।१२।

दुःखी मोहे पुनः पुनः,
निर्विद्यात् श्लोकपूजनम्।
एवं सहितः अधिपश्येद्,
आत्मतुलां प्राणैः संयतः॥

६६. दुःखी मनुष्य पुनः पुनः मोह को प्राप्त होता है। तुम श्लाघा और पूजा से विरक्त रहो। इस प्रकार सहिष्णु[९१], और संयमी सब जीवों में आत्मतुला को देखे—उन्हें अपने समान समझे।

६७. गारं पि य आवसे णरे
अणुपुव्वं पाणेहि संजए।
समया सव्वत्थ सुव्वए
देवाणं गच्छे सलोगयं।१३।

अगारमपि च आवसन् नरः,
अनुपूर्वं प्राणेषु संयतः।
समता सर्वत्र सुव्रतः,
देवानां गच्छेत् सलोकताम्॥

६७. मनुष्य गृहवास में रहता हुआ भी क्रमशः प्राणियों के प्रति संयत होता है। वह सर्वत्र समभाव और श्रेष्ठ-व्रतों को स्वीकार कर देवों की सलोकता (देवगति) को प्राप्त होता है।[९२]

६८. सोच्चा भगवाणुसासणं
सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं।
सव्वत्थ विणीयमच्छरे
उंछं भिक्खु विसुद्धमाहरे।१४।

श्रुत्वा भगवदनुशासनं,
सत्ये तत्र कुर्यादुपक्रमम्।
सर्वत्र विनीतमत्सरः,
उञ्छं भिक्षुः विशुद्धमाहरेत्॥

६८. भगवान् के अनुशासन को[९३] सुनकर सत्य को पाने का प्रयत्न करना चाहिए। भिक्षु सबके प्रति मात्सर्य[९४] रहित होकर विशुद्ध उंछ (माधुकरी भिक्षा)[९५] लाए।

६९. सव्वं णच्चा अहिट्ठए
धम्मट्ठी उवहाणवीरिए।
गुत्ते जुत्ते सया जए
आयपरे परमायतट्ठिए।१५।

सर्वं ज्ञात्वा अधितिष्ठेत्,
धर्मार्थी उपधानवीर्यः।
गुप्तः युक्तः सदा यतः,
आत्मपरः परमायतार्थिकः॥

६९. धर्मार्थी, तप में पराक्रम करने वाला, मन-वचन और शरीर से गुप्त, समाधिस्थ[९६], स्व और पर के प्रति सदा संयत, मोक्षार्थी[९७] पुरुष सब (हेय और उपादेय) को जानकर आचरण करे।

७०. वित्तं पसवो य णाइओ
तं बाले सरणं ति मण्णई।
एए मम तेसि वा अहं
णो ताणं सरणं ण विज्जई।१६।

वित्तं पशवश्च ज्ञातयः,
तद् बालः शरणं इति मन्यते।
एते मम तेषां वा अहं,
नो त्राणं शरणं न विद्यते॥

७०. अज्ञानी मनुष्य धन[९८], पशु, और ज्ञाति-जनों को शरण मानता है। वह मानता है कि ये मेरे हैं और मैं इनका हूं। पर ये धन आदि त्राण और शरण नहीं होते।

७१. अब्भागमियम्मि वा दुहे
अहवोवक्कमिए भवंतिए।
एगस्स गई य आगई
विदु मंता सरणं ण मण्णई।१७।

अभ्यागमिके वा दुःखे,
अथवा औपक्रमिके भवान्तिके।
एकस्य गतिश्च आगतिः,
विद्वान् मत्वा शरणं न मन्यते॥

७१. अभ्यागमिक (असाता वेदनीय के उदय से होने वाले) दुःख को (अकेला ही भोगता है।) अथवा औपक्रमिक[९९] (किसी निमित्त से होने वाली) मृत्यु के आने पर अकेला ही जाता-आता है—यह जानकर विद्वान् पुरुष किसी को शरण नहीं मानता।

७२. सव्वे सयकम्मकप्पिया
अवियत्तेण दुहेण पाणिणो।
हिंडंति भयाउला सढा
जाइजरामरणेहिऽभिद्दुया।१८।

सर्वे स्वककर्मकल्पिता,
अव्यक्तेन दुःखेन प्राणिनः।
हिण्डन्ते भयाकुलाः शठाः,
जातिजरामरणैरभिद्रुताः॥

७२. सभी प्राणी अपने-अपने कर्मों से विभक्त हैं।[१००] वे अव्यक्त दुःख से दुःखी, भयाकुल, (तपश्चरण) में आलसी[१०१], जन्म, जरा और मरण से[१०२] उत्पीडित होकर संसार में परिभ्रमण करते हैं।

७३. इणमेव खणं वियाणिया
णो सुलभं बोहिं च आहियं ।
एवं सहिएऽहिपासए
आह जिणे इणमेव सेसगा ।१९।

इममेव क्षणं विजानीयात्,
नो सुलभा बोधिश्च आहृता ।
एवं सहितः अधिपश्यति,
आह जिनः इदमेव शेषकाः ॥

७३. 'इसी क्षण को[103] जानो ।' यह आख्यात बोधि[104] सुलभ नहीं है—यह जानकर ज्ञानी मनुष्य (उस सत्य को) देखे । यह बात ऋषभ ने (अपने पुत्रों से) कही । शेष तीर्थंकरों ने भी (जनता से) यही कहा ।

७४. अभविंसु पुरा वि भिक्खवो
आएसा वि भविंसु सुव्वया ।
एयाइं गुणाइं आहु ते
कासवस्स अणुधम्मचारिणो ।२०।

अभुवन् पुराऽपि भिक्षवः !,
आगमिष्या अपि भविष्यन्ति सुव्रताः ।
एतान् गुणान् आहुस्ते,
काश्यपस्य अनुधर्मचारिणः ॥

७४. हे श्रेष्ठव्रती भिक्षुओ ! अतीत में भी जिन हुए हैं और भविष्य में भी होंगे । उन्होंने इन (अहिंसा आदि) गुणों का निरूपण किया है । उन्होंने काश्यप (भगवान् ऋषभ) के द्वारा[105] प्रतिपादित धर्म का ही प्रतिपादन किया है ।[106]

७५. तिविहेण वि पाण मा हणे
आयहिए अणियाण संवुडे ।
एवं सिद्धा अणंतगा
संपइ जे य अणागयावरे ।२१।

त्रिविधेन अपि प्राणान् मा हन्यात्,
आत्महितः अनिदानः संवृतः ।
एवं सिद्धा अनन्तकाः,
संप्रति ये च अनागता अपरे ॥

७५. साधक मन, वचन और काया, कृत, कारित और अनुमति—इन तीनों प्रकारों से किसी भी प्राणी की हिंसा न करे, आत्मा में लीन रहे, सुखों की अभिलाषा न करे, इन्द्रिय और मन का संयम करे । इन गुणों का अनुसरण कर अनन्त मनुष्य (अतीत में) सिद्ध हुए हैं, कुछ (वर्तमान में) हो रहे हैं और (भविष्य में) होंगे ।

७६. एवं से उदाहु अणुत्तरणाणी
अणुत्तरदंसी अणुत्तरणाणदंसणधरे ।
अरहा णायपुत्ते
भगवं वेसालिए वियाहिए ।२२।

—त्ति बेमि ॥

एवं स उदाह अनुत्तरज्ञानी,
अनुत्तरदर्शी अनुत्तरज्ञानदर्शनधरः ।
अर्हन् ज्ञातपुत्रः,
भगवान वैशालिकः व्याहृतः, ।

—इति ब्रवीमि ॥

७६. अनुत्तरज्ञानी, अनुत्तरदर्शी, अनुत्तर-ज्ञान-दर्शनधारी, अर्हत्, ज्ञातपुत्र, वैशालिक और व्याख्याता भगवान् ने ऐसा कहा है ।[107]

—ऐसा मैं कहता हूं ।

टिप्पण : अध्ययन २

श्लोक १ :

१. श्लोक १ :

जागना दुर्लभ है—यही प्रस्तुत श्लोक का हार्द है। जो वर्तमान क्षण में जागृत नहीं होता, समय की प्रतीक्षा में रहता है, वह जाग नहीं पाता। कोई भी व्यक्ति युवा होकर पुनः शिशु नहीं होता और वृद्ध होकर पुनः युवा नहीं होता। शैशव और यौवन की जो रात्रियां बीत जाती हैं वे फिर लौटकर नहीं आतीं। जीवन को बढ़ाया नहीं जा सकता, इसलिए जागृति के लिए वर्तमान क्षण ही सबसे उपयुक्त है। जो मनुष्य भविष्य में जागृत होने की बात सोचते हैं वे अपने आपको आत्म-प्रवंचना में डाल देते हैं।

श्लोक २ :

२. श्लोक २ :

आचारांग सूत्र में बताया गया है कि मृत्यु के लिए कोई अनागम नहीं है—वह किसी भी अवस्था में आ सकती है।[1] प्रस्तुत श्लोक का हृदय यह है कि जो वर्तमान अवस्था में जागृत नहीं होता वह भावी अवस्था में जागने की आशा कैसे कर सकता है ? मृत्यु के लिए कोई अवस्था निश्चित नहीं है, इस स्थिति में वर्तमान क्षण ही जागृति का क्षण हो सकता है।

३. बटेर (वट्टयं)

बटेर तीतर की जाति का एक पक्षी है जो तीतर से कुछ बड़ा होता है।[2]

श्लोक ३ :

४. श्लोक ३ :

कुछ मनुष्य माता-पिता आदि स्वजन वर्ग के स्नेह से बंधकर जागृत नहीं होते। वे सोचते हैं कि माता-पिता आदि की मृत्यु हो जाने पर हम जागृत बनेंगे। किन्तु यह कौन जानता है कि माता-पिता की मृत्यु पहले होगी या सन्तान की ? इस अनिश्चित अवस्था में जागृति के प्रश्न को भविष्य के लिए नहीं छोड़ा जा सकता।

जागृति का अर्थ है—अहिंसा और अपरिग्रह की चेतना का निर्माण। जो हिंसा और परिग्रह की चेतना निर्मित करता है, वह सदा सुप्त रहता है।

परिग्रह हिंसापूर्वक होता है। अहिंसक के परिग्रह नहीं होता। परिग्रह के लिए हिंसा होती है, इसलिए हिंसा और परिग्रह—ये दोनों साथ-साथ चलते हैं। जो परिग्रह का निर्देश हो वहां हिंसा का और जहां हिंसा का निर्देश हो वहां परिग्रह का निर्देश स्वयं गम्य है।[3]

५. सुगति (सुकुल में जन्म) (सुगई)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ सुकुल किया है।[4] वृत्तिकार इसका अर्थ सुगति (अच्छी गति) करते हैं।[5]

---

१. आयारो ४।१६ : नाणागमो मच्चुमुहस्स अत्थि।

२. (क) चूर्णि, पृ० ५२ : वट्टगा नाम तित्तिरजातिरेव ईषदधिकप्रमाणा उक्ता वार्तकाः।
(ख) वृत्ति, पत्र ५६ : वर्त्तकं तित्तिरजातीयम्।

३. चूर्णि, पृ० ५२ : आरम्भो नाम असंयमः अनुक्तमपि ज्ञायते परिग्रहाच्च। कथम् ? आरम्भपूर्वको परिग्रहः स च निरारम्भस्य न भवतीत्यत आरम्भग्रहणम्।

४. वही, पृ० ५२ : सुगतिर्नाम सुकुलम्]।

५. वृत्ति पत्र ५६।

श्लोक ४ :

६. लुप्त होते हैं (लुप्पंति)

नरक आदि गतियों में प्राणी विवध दुःखों से पीड़ित होते हैं। वे सारे सुख-सुविधा के स्थानों से च्युत हो जाते हैं।[1]

७. श्लोक ४ :

प्रस्तुत श्लोक में तीन सिद्धान्त प्रतिपादित हैं—

१. जीवों के कर्म भिन्न-भिन्न होते हैं।

२. कर्म स्वयं द्वारा कृत होता है, किसी अन्य के द्वारा नहीं।

३. कृत-कर्म का फल भुगते बिना उससे छुटकारा नहीं पाया जा सकता।

श्लोक ५-६ :

८. देव (देवा)

चूर्णिकार ने 'देव' शब्द से वानव्यन्तर देवों का[2] और वृत्तिकार ने ज्योतिष्क तथा सौधर्म आदि देवों का ग्रहण किया है[3]।

९. श्लोक ५ :

मनुष्य अपने मोह के कारण अनित्य को नित्य मानकर उसमें आसक्त हो जाता है। उसकी आसक्ति जागृति में बाधा बनती है। अनित्यता का बोध उस बाधा के व्यूह को तोड़ता है। देव और मनुष्य के भोग अनित्य हैं। उनका जीवन ही अनित्य है तब उनके भोग नित्य कैसे हो सकते हैं? इस सत्य का बोध हो जाने पर मनुष्य जागृति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है।

श्लोक ६ :

संकल्प से काम और काम से संस्तव (गाढ़ परिचय) उत्पन्न होता है। उससे कर्म का बन्ध होता है। मनुष्य जब मरता है तब कामनाएं और परिचित भोग उसके साथ नहीं जाते। वह उनके द्वारा अर्जित कर्म-बन्धनों के साथ परलोक में जाता है। स्वभावतः या किसी निमित्त से मृत्यु के आने पर मनुष्य का जीवन-सूत्र टूट जाता है। काम और परिचित भोग-सामग्री यहां रह जाती है और वह कहीं अन्यत्र चला जाता है। संयोग का अन्त वियोग में और जीवन का अन्त मृत्यु में होता है, इसलिए मनुष्य को जागरण की दिशा में प्रमत्त नहीं होना चाहिए।

श्लोक ७ :

१०. बहुश्रुत (शास्त्र-पारगामी) (बहुस्सुए)

चूर्णिकार ने इसका कोई अर्थ नहीं किया है।

वृत्तिकार ने आगम और उसके अर्थ के पारगामी को बहुश्रुत माना है।[4]

११. धार्मिक (न्यायवेत्ता) (धम्मिए)

चूर्णिकार ने धार्मिक का अर्थ न्यायवेत्ता[5] और वृत्तिकार ने धर्मशील किया है।[6]

१२. मायाकृत असत् आचरण में (अभिणूमकडेहिं)

नूम के दो अर्थ हैं—माया और कर्म। प्राणी विषयों के द्वारा उन (माया और कर्म) के अभिमुख होते हैं। इसलिए चूर्णिकार

---

१. चूर्णि, पृ० ५२ : नरकादिषु विविधैर्दुःखैर्लुप्यन्ते सर्वसुखस्थानेभ्यश्च च्यवन्ते।

२. वही, पृ० ५३ : देवग्रहणाद् वाणमंतरभेदाः।

३. वृत्ति, पत्र ५७ : देवा ज्योतिष्कसौधर्माद्याः।

४. वही, पत्र ५७ : बहुश्रुताः शास्त्रार्थपारगाः।

५. चूर्णि, पृ० ५३ : धर्मे नियुक्तो धार्मिकः।

६. वृत्ति, पत्र ५७ : धार्मिका धर्माचरणशीलाः।

ने 'अभिनूमकर' का अर्थ विषय किया है।[1] वृत्तिकार ने 'अभिनूमकृत' पाठ के अनुसार उसका अर्थ माया या कर्म के द्वारा कृत असद् अनुष्ठान किया है।[2]

१३. मूर्च्छित होता है (मुच्छिए)

मूर्च्छा जागृति में बाधक है। विषयों में मूर्च्छित होने वाला गृहस्थ ही कर्मों से बाधित नहीं होता, किन्तु ब्राह्मण और भिक्षु भी विषयों में मूर्च्छित होकर कर्मों से बाधित होता है।

श्लोक ८ :

१४. धुत की कथा (धुतं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ वैराग्य किया है। मतान्तर के अनुसार इसका अर्थ है—चारित्र।[3]

१५. गृहस्थी को ही······प्रव्रज्या को नहीं (आरं······परं)

'आर' के तीन अर्थ प्राप्त हैं—

१. गृहस्थी।
२. इहलोक।
३. संसार।

'पर' के भी तीन अर्थ हैं—

१. प्रव्रज्या।
२. परलोक।
३. मोक्ष।[4]

१६. (णाहिसी·········किच्चई)

सही अर्थ में प्रव्रजित वह होता है जो विषय और वासना—दोनों से मुक्त होता है। जो विषय से मुक्त होकर भी वासना से मुक्त नहीं होता वह प्रव्रजित के वेष में गृहस्थ होता है। जिसके अन्तःकरण में वैराग्य का बीज अंकुरित नहीं होता फिर भी जो वैराग्य का उपदेश देता है परंतु स्वयं उसका आचरण नहीं करता, उसके साथ रहकर कोई व्यक्ति प्रव्रजित और गृहस्थ का अन्तर कैसे जान सकता है? संसार और मोक्ष का भेद कैसे जान सकता है? इस भेद को नहीं जानने वाला अधर में होता है—न पूरा गृहस्थ होता है और न पूरा प्रव्रजित। यह कर्म (कामनाजनित प्रवृत्ति) को छिन्न करने का नहीं किन्तु उससे छिन्न होने का मार्ग है। यह जागृति का विघ्न है, इसलिए आचार्य ने शिष्य को सावधान किया है।

विवेक, यतना, संयम, जागरूकता और अप्रमाद—ये सब एकार्थक हैं।

श्लोक ९ :

१७. नग्न रहता है, देह को कृश करता है (णिगिणे किसे)

नग्नत्व अकिंचनता का सूचक है। कृशत्व तपस्या का सूचक है।[5] अकिंचनता और तपस्या—ये दोनों निर्वाण के हेतु हैं,

---

१. चूर्णि, पृ० ५३ : नूमं नाम कर्म माया वा, अभिमुखं नूमीकुर्वन्तीति अभिनूमकराः विषयाः।
२. वृत्ति, पत्र ५७ : तेऽप्याभिमुख्येन णूमं न्ति कर्म माया वा तत्कृतैः असदनुष्ठानैः।
३. चूर्णि, पृ० ५३ : धुतं णाम येन कर्माणि विधूयन्ते, वैराग्य इत्यर्थः। चारित्रमपि केचिद् भणन्ति।
४. (क) चूर्णि, पृ० ५४ : आरं गृहस्थत्वम्, परं प्रव्रज्या।·········आरमिति अयं लोकः परस्तु परलोकः। अयं सोत्रोऽर्थः—आरः संसारः, परः मोक्षः।
(ख) वृत्ति, पत्र ५७,५८।
५. चूर्णि, पृ० ५४ : णिगिणो नाम नग्नः। कृशस्तपोनिष्टप्तत्वाद् आतापनादिभिः।

किन्तु साधन नहीं हैं। उसका साधन है—कषायमुक्ति। आन्तरिक कषायों से मुक्ति मिले बिना नग्नता और तपःजनित कृशता होने पर भी निर्वाण उपलब्ध नहीं होता। इसलिए इस वास्तविकता की विस्मृति नहीं होनी चाहिए कि निर्वाण-प्राप्ति का साधन (साधकतम उपाय) कषायमुक्ति ही है।

श्लोक ११ :

१८. हे योगवान् (योगवान्)

चूर्णिकार ने योगवान् का अर्थ विस्तार से किया है। उनके अनुसार योग का अर्थ है—संयम। योगवान् अर्थात् संयमी। ज्ञानयोग, दर्शनयोग और चारित्रयोग—इन पर जिनका अधिकार हो जाता है, वह योगवान् होता है। यह चूर्णि सम्मत दूसरा अर्थ है। जो समितियों और गुप्तियों (मन, वचन और काया) के प्रति सतत उपयुक्त, निरन्तर जागृत होता है वह योगवान् होता है। जो काम कोई दूसरा करता है और चित्त किसी दूसरे काम में लगता है, वह उस क्रिया के प्रति योगवान् नहीं होता। लोकप्रवाद में भी कहा जाता है कि मेरा मन किसी दूसरे काम में लगा हुआ था इसलिए मैं उसे नहीं पहचान सका। शारीरिक क्रिया और मानसिक क्रिया—दोनों एक साथ चले, यह स्वाधीन योग है। स्वाधीन योग वाला व्यक्ति ही योगवान् होता है।[1] चूर्णिकार ने भावक्रिया के सूत्र को वहुत सुन्दर अभिव्यक्ति दी है। शरीर की क्रिया और मन का योग नहीं होता उसे द्रव्य-क्रिया कहा जाता है। शरीर और मन की क्रिया का योग भाव-क्रिया है। यह साधना और सफलता का महत्त्वपूर्ण सूत्र है।

जैन परंपरा में योग, संयम, संवर—ये एकार्थक शब्द हैं। महर्षि पतंजलि ने अपनी साधना पद्धति में 'योग' शब्द को प्रधानता दी है। जैन साधना-पद्धति में संयम और संवर शब्द की प्रधानता है। फिर भी आगमकारों ने अनेक स्थानों पर योग और योगवान् का प्रयोग किया है।[2]

दिगंबर परंपरा में कायक्लेश के छह भेद निर्दिष्ट हैं—अयन, शयन, आसन, स्थान, अवग्रह और योग। योग के अनेक प्रकार हैं—आतापनायोग, वृक्षमूलयोग, शीतयोग आदि। देखें—जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के अन्तर्गत 'कायक्लेश' शब्द।

१९. सूक्ष्म प्राणियों से संकुल हैं (अणुपाणा)

इस पद का अर्थ 'अनुपानत्का'—जूते न पहनने वाले—किया जाए तो संभावना से दूर नहीं होगा।

२०. अनुशासन का (अणुसासणं)

हमारी पृथ्वी जीवों से भरी हुई है। यात्रा के मार्ग भी जीवों से खाली नहीं होते। इस स्थिति में अहिंसापूर्वक चलना कैसे संभव हो सकता है? इस विषय में आचार्य ने मार्ग-दर्शन दिया है। यतना (संयम या अप्रमत्तभाव) पूर्वक चलने वाला ही अहिंसक हो सकता है।

इस विषय की समग्र जानकारी के लिये देखें—दसवेआलियं, अध्ययन पांच और आयारचूला अध्ययन तीन।

श्लोक १४ :

२१. श्लोक १४ :

'कर्म शरीर को प्रकंपित कर'—यह इस श्लोक का मुख्य प्रतिपाद्य है। चूर्णिकार ने कर्म को प्रकंपित कर—यह लिखा है।[3] इसकी स्पष्टता आयारो (५/५९) के 'धुणे कम्मसरीरगं' इस सूत्र से होती है। शेष श्लोक में प्रकंपन की प्रक्रिया बतलाई गई है। प्रज्ञापना के अनुसार मनुष्य में काम-संज्ञा प्रधान होती है।[4] स्थानांग सूत्र में काम-संज्ञा की उत्तेजना के चार कारण बतलाए हैं।

---

१. चूर्णि, पृ० ५४,५५ : योगो नाम संयम एव, योगो यस्यास्तीति स भवति योगवान्। जोगा वा जस्स वसे वट्टंति स भवति योगवान् णाणादीया। अथवा योगवानिति समिति-गुप्तिषु नित्योपयुक्तः, स्वाधीनयोग इत्यर्थः, यो हि अन्यत् करोति अन्यत्र चोपयुक्तः स हि तत्प्रवृत्तयोगं प्रति अयोगवानिव भवति। लोकेऽपि च वक्तारो भवन्ति—विमना अहं, तेन मया नोपलक्षितमिति। अतः स्वाधीनयोग एव योगवान्।

२. सूयगडो १।१५।५ भावणाजोगसुद्धप्पा……। १।८।२७ : झाणजोगं समाहट्टु। उत्तरज्झयणाणि ११।२४ : जोगवं उवहाणवं।

३. चूर्णि, पृष्ठ ५५ : धुणिया णाम धुणेज्जा कम्मं।

४. प्रज्ञापना ८।८ : मणुस्सा……ओसण्णकारणं पडुच्च मेहुणसण्णोवगया…।

उनमें एक कारण है—रक्त और मांस का उपचय।[1] उपचित रक्त और मांस काम-केन्द्र को उत्तेजित करते हैं। मनुष्य का ऊर्जा-केन्द्र (प्राणशक्ति या कुण्डलिनी शक्ति) काम-केन्द्र के पास अवस्थित है। जिनका काम-केन्द्र उत्तेजित रहता है उसकी ऊर्जा का प्रवाह उर्ध्वगामी नहीं होता। वह कर्मशरीर को प्रकंपित नहीं कर सकता और उसे प्रकंपित किए बिना प्रज्ञा, सहज प्रसन्नता आदि विशिष्ट शक्तियों का विकास नहीं हो सकता। इस दृष्टि से अनशन आदि के द्वारा स्थूल शरीर को कृश करना आवश्यक है। वह कृश होता है, इसका अर्थ है कि कर्मशरीर भी कृश हो रहा है। कर्मशरीर के कृश होने का अर्थ है—राग-द्वेष और मोह कृश हो रहा है। इनके कृश होने का अर्थ है—ज्ञान और दर्शन की शक्ति का विकास।

राग, द्वेष और मोह के कृश होने पर मनुष्य में अहिंसा या विराट् प्रेम का स्रोत प्रवाहित हो जाता है। यह महावीर का अनुभव-वचन है। केवल महावीर का ही नहीं, पूर्ववर्ती सभी तीर्थंकरों का यही अनुभव है। राग, द्वेष और मोह का विलय होने पर सभी ने अहिंसा धर्म का उद्घोष किया। आचारांग सूत्र में इस तथ्य को विस्तार से समझाया गया है।[2]

२२. अनुधर्म है (अणुधम्मो)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—[3]

१. ऋषभ आदि तीर्थंकरों ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है उसी का प्रतिपादन महावीर ने किया है।
२. सूक्ष्म धर्म।

वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ ये हैं—[4]

१. मोक्ष के प्रति अनुकूल धर्म, अहिंसा।
२. परीषह, उपसर्ग आदि को सहन करने की तितिक्षा।

श्लोक १५ :

२३. श्रमण (माहणे)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—श्रमण और ब्राह्मण।[5] वृत्तिकार ने इसका अर्थ अहिंसक किया है।[6]

श्लोक १७ :

२४. पुत्र-प्राप्ति के लिए (पुत्तकारणा)

चूर्णिकार ने पुत्र की वांछा के तीन हेतु माने हैं—[7]

१. कुल-परंपरा को चलाने के लिए।
२. पितृ-पिंडदान के लिए।
३. संपत्ति की सुरक्षा के लिए।

---

१. ठाणं ४।५८१ : चउहिं ठाणेहिं मेहुणसण्णा समुप्पज्जति, तं जहा—
चित्तमंससोणिययाए, मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएणं, मतीए, तदट्ठोवओगेणं।

२. आयारो ४।१,२ : से बेमि—जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे णिइए सासए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए।

३. चूर्णि, पृ० ५६ : अनुधर्मो अनु पश्चाद्भावे यथाऽन्यैस्तीर्थकरैस्तथा वर्द्धमानेनापि मुनिना प्रवेदितम्। अणुधर्मः सूक्ष्मो वा धर्मः।

४. वृत्ति, पत्र ५६ : अनुगतो—मोक्षं प्रत्यनुकूलो धर्मोऽनुधर्मः असावहिंसालक्षणः परीषहोपसर्गसहनलक्षणश्च धर्मः।

५. चूर्णि, पृ० ५६ : समणे त्ति वा माहणे त्ति वा।

६. वृत्ति, पत्र ५६ : माहण त्ति वधीरिति प्रवृत्तिर्यस्य स प्राकृतशैल्या माहणेत्युचत इति।

७. चूर्णि, पृ० ५६ : पुत्रकारणाद् एकमपि तावत् कुलतन्तुवर्द्धनं पितृपिण्डदं धनगोप्तारं च पुत्रं जनयस्व।

श्लोक १८ :

२५. निमन्त्रित करते हैं (लाविया)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—धन आदि का प्रलोभन देकर अनेक प्रकार से निमंत्रण देना—किया है।[1]

वृत्तिकार से 'लावयन्ति' के दो अर्थ किए हैं—निमंत्रित करना, उपलुब्ध करना।[2]

श्लोक २१ :

२६. लक्ष्य तक ले जाने वाले (णेयाउयं)

इसका संस्कृत रूप 'नैर्यात्रिक' होता है। इसका अर्थ है—ले जाने वाला। चूर्णि[3] और वृत्ति[4] में यही अर्थ सम्मत है।

कुछ व्याख्या ग्रन्थों में 'नेयाउयं' का अर्थ न्याययुक्त और उसका संस्कृतरूप 'नैयायिक' किया गया है।[5] यह शब्दशास्त्रीय दृष्टि से चिन्तनीय है। नैयायिक शब्द का प्राकृतरूप 'णेयाउय' नहीं बनता। ऋकार को उकार का आदेश होने के कारण 'नैर्यात्रिक' का 'णेयाउय' रूप बनता है।

विशेष विवरण के लिए देखें—

उत्तरज्झयणाणि ३।१६ का टिप्पण, पृष्ठ २७।

२७. महापथ के प्रति (महाविहिं)

चूर्णिकार ने महावीथि का अर्थ संबोधि-मार्ग, सिद्धिमार्ग किया है।[6] प्रस्तुत अध्ययन का प्रारंभ संबोधि से ही होता है। इसमें उसके विभिन्न उपायों और विघ्नों का उल्लेख किया है।

'महाविहिं' शब्द में 'वि' दीर्घ होना चाहिए किन्तु छन्द की दृष्टि से उसे ह्रस्व किया गया है।

श्लोक २३ :

२८. श्लोक २३ :

चैतन्य आत्मा का स्वभाव है। मनुष्य जब चैतन्य के अनुभव में रहता है तब उसके रज का बंध नहीं होता। जब वह कषाय के अनुभव में रहता है तब उसके रज का बंध होता है। कषाय की अवस्था में होने का अर्थ है—चैतन्य के प्रति जागृत न होना। यह रज के बंध का हेतु है। अकषाय की अवस्था में होना चैतन्य के प्रति जागृत होना है। यह रज को क्षीण करने का हेतु है। इस अवस्था में रज या कर्म परमाणु अपने आप क्षीण होते हैं।[7]

मद कषाय का एक प्रकार है। इससे अभिभूत व्यक्ति गोत्र आदि के उत्कर्ष का अनुभव करता है। उत्कर्ष के अनुभव का अर्थ है दूसरों की हीनता का अनुभव करना। समता धर्म की आराधना करने वाले के लिए यह सर्वथा अवांछनीय है। चूर्णिकार ने 'माहण' शब्द की व्याख्या में बताया है कि अहिंसक सुन्दर होता है और अन्य व्यक्ति अशोभन होते हैं।[8] इस भावना को भी मद का रूप नहीं देना चाहिए।

---

१. चूर्णि, पृ० ५७ : लाविय त्ति णिमंतणा। जइ कामेहिं धणेण वा बहुप्पगारं उवणिमंतेज्ज।

२. वृत्ति, पत्र ६० : लावयन्ति उपनिमन्त्रयेयुरुपलोभयेयु रित्यर्थः।

३. चूर्णि, पृ० ५८ : नयतीति नैयायिकः।

४. वृत्ति, पत्र ६१ : नेतारम्।

५. (क) उत्तराध्ययन ३।१६, चूर्णि, पृ० ६८, १६२ : नयनशीलो नैयायिकः।
   (ख) वही, वृत्ति पत्र १८५ : नैयायिकः न्यायोपपन्न इत्यर्थः।

६. चूर्णि, पृ० ५७ : महाविहिं·········जो हेट्ठा संबोहणमग्गो भणितो············तत्र द्रव्यवीधी नगर-ग्रामादिपथाः भाववीधी तु सिद्धिपन्थाः।

७. वही, पृ० ५६ : अकषायत्वेनेति वाक्यशेषः अकषायस्य हि सर्पत्वगिवावहीयते रजः।

८. वही, पृ० ५६ : मांहणो साधू अहिंसगो सुन्दरो अण्णे असोभणा।

२९. रज को (रयं)

रज का शाब्दिक अर्थ है—चिपकने वाला द्रव्य ।[1]

३०. गोत्र और अन्यतर (कुल, बल, रूप, श्रुत आदि) (गोयण्णतरेण)

मद के आठ प्रकार हैं—जातिमद, कुलमद, बलमद, रूपमद, तपमद, श्रुतमद, लाभमद और ऐश्वर्यमद ।[2]

प्रस्तुत शब्द में 'गोत्र' शब्द के द्वारा जाति और कुल का ग्रहण किया गया है । शेष छह मद 'अन्यतर' शब्द के द्वारा गृहीत हैं ।[3]

श्लोक २४ :

३१. संसार (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि हीन जातियों) में (संसारे)

जन्म के आधार पर जातियां पांच हैं—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय । इनमें जन्मगत क्षमता की दृष्टि से पंचेन्द्रिय जाति श्रेष्ठ है । गोत्र या जाति का अभिमान कर दूसरों की अवज्ञा करने वाला एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय आदि हीन जातियों में जन्म लेता है ।[4] इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा—किसी के प्रति घृणा मत करो, किसी को हीन मत समझो ।[5]

३२. पाप को उत्पन्न करने वाली या पतन की ओर ले जाने वाली (पाविया)

चूर्णिकार ने 'पातिका' शब्द की व्याख्या की है ।[6] वृत्तिकार ने पापिका और पातिका—दोनों अर्थ किए हैं । अवज्ञा सदोष है, इसलिए वह पापिका है । वह स्व-स्थान से नीचे की ओर ले जाती है, इसलिए वह पातिका है ।[7]

श्लोक २५ :

३३. श्लोक २५ :

अनायक का अर्थ है—जिसका कोई नायक—नेता न हो, जो सर्वथा स्वतंत्र हो । जो अनायक होता है वह सर्वोच्च अधिपति होता है ।

प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि निर्ग्रन्थ परंपरा में व्यक्ति विशेष की पूजा नहीं होती, संयम-पर्याय की पूजा होती है । जो संयम-पर्याय में ज्येष्ठ होता है, वह पश्चात् प्रव्रजित व्यक्तियों द्वारा वन्दनीय होता है । यह वंदना की परंपरा संयम-पर्याय की काल-अवधि के आधार पर निर्धारित है ।

मनुष्यों में चक्रवर्ती सर्वोच्च अधिपति होता है । इसी प्रकार बलदेव, वासुदेव तथा महामांडलिक राजा भी अपनी-अपनी स्थिति में सर्वोच्च होते हैं । ऐसी स्थिति भी बनती है कि उनके दास का दास पूर्व प्रव्रजित हो जाता है और वे पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करते हैं । ऐसी स्थिति में वह दास का दास उनके द्वारा वंदनीय होता है, क्योंकि वह संयम-पर्याय में ज्येष्ठ है ।

प्रस्तुत श्लोक में यह निर्देश दिया गया है कि चक्रवर्ती आदि उच्च व्यक्ति भी प्रव्रज्या-ज्येष्ठ अपने दासानुदास को वंदना करने में कभी लज्जा का अनुभव न करें । वे ऐसा न सोचें—मुझे अपने दास के दास को वंदना करनी पड़ेगी । साथ ही साथ वह पूर्व

१. चूर्णि, पृ० ५९ : रज्यत इति रजः ।

२. ठाणं ८।२१ : अट्ठ मयट्ठाणा पण्णत्ता तं जहा—जातिमए, कुलमए, बलमए, रूवमए, तवमए, सुतमए, लाभमए, इस्सरियमए ।

३. चूर्णि, पृ० ५९ : गोत्रं नाम जातिः कुलं च गृह्यते, अन्यतरग्रहणात् क्षत्रियः ब्राह्मण इत्यादि, अथवा अन्यतरग्रहणात् शेषाण्यपि मदस्थानानि गृहीतानि भवन्ति ।

४. चूर्णि, पृ० ५९ : संसारे·········विसेसेण सुकुच्छितासु जातीसु एगेंदिय-बेइंदियादिसु ।

५. आयारो, २।४९ :······णो हीणे, णो अइरित्ते········· ।

६. चूर्णि, पृ० ५९ : पातिका······प्रागुक्ता पातयति नीचगोत्रादिषु संसारे व त्ति ।

७. वृत्ति, पत्र ६२ : पापिकेव दोषवत्येव अथवा स्वस्थानादधमस्थाने पातिका ।

प्रव्रजित दास भी अहंकार न करे कि अब मेरे सर्वोच्च स्वामी मेरी पूजा करेंगे, वंदना करेंगे। लज्जा और अहं का विसर्जन ही मोक्ष का साधक हो सकता है।

वासुदेव निदानकृत होते हैं, अत: वे प्रव्रज्या के अधिकारी नहीं होते।[1]

श्लोक २६ :

३४. सम संयम स्थान या अधिक संयम स्थान में स्थित (अण्णयरम्मि संजमे)

अन्यतर का अर्थ है—विषम या अधिक। सबका संयम समान नहीं होता, परिणामों की निर्मलता भी समान नहीं होती, फिर भी यह संघीय व्यवस्था है कि जो पहले प्रव्रजित होता है वह पूज्य होता है।[2]

३५. सम्यक् मन वाला (समणे)

'समण' शब्द का एक निरुक्त है—सम्यक् मनवाला। चूर्णिकार ने प्रस्तुत 'समण' शब्द का वही निरुक्त किया है।[3] अनुयोगद्वार सूत्र में भी 'समण' शब्द का यह निरुक्त उपलब्ध है।[4]

श्लोक २७ :

३६. दीर्घकालीन परम्परा (दूरं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ दीर्घ किया है।[5] वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—मोक्ष और दीर्घ।[6]

३७. श्लोक २७ :

चूर्णिकार ने अहंकार-मुक्ति के आलम्बन की तीन व्याख्याएं प्रस्तुत की हैं[7]—

१. अहंकार करने वाले व्यक्ति का अतीत और भविष्य दु:खपूर्ण होते हैं, इसलिए अहंकार नहीं करना चाहिए।

२. यह जीव अतीतकाल में कभी उच्च अवस्था में और कभी हीन अवस्था में रहता आया है। कोई भी जीव एक जैसी अवस्था में नहीं रहता, इसलिए अहंकार नहीं करना चाहिए।

३. अहंकारी मनुष्य से मोक्ष, बोधि और श्रेय दूर रहते हैं, इसलिए उसे अहंकार नहीं करना चाहिए।

---

१. चूर्णि, पृ० ५९।

२. (क) चूर्णि, पृ० ६० : अण्णयरे व त्ति विसमे वा छट्ठाणपडितस्स तेसु सम्यक्त्वादपि पूज्यः संयम इति कृत्वा अन्यतरे अधिके वर्त्तमाना पूज्यः संयतत्वादेव।
(ख) वृत्ति, पत्र ६३।

३. चूर्णि, पृ० ६० : समणे त्ति सम्यग् मणे समणे वा समणे।

४. अनुयोगद्वार, सूत्र ७०८, श्लोक ६ : तो समणो जइ सुमणो, भावेण य जइ न होइ पावमणो।
सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु॥

५. चूर्णि, पृ० ६० : दूरं नाम दीर्घम्।

६. वृत्ति, पत्र ६३ : दूरो—मोक्षस्तमनु—पश्चात् तं दृष्ट्वा यदिवा दूरमिति दीर्घकालम्।

७. चूर्णि, पृ० ६० : दूरं नाम दीर्घमनुपश्य। तीतं धम्ममणागतं तधा, धर्मः स्वभाव इत्यर्थः वर्त्तमानो धर्मो हि कालानादित्वाद् दूरः वर्त्तमानः स तु अविरतत्वान्मानादिमदमत्तस्य दु:खं भूयिष्ठोऽतिक्रान्तः। किञ्च—'इमेण खलु जीवेण अतीतद्धाए उच्च-णीय-मज्झिमासु गतीसु असति उच्चगोते असति णीयगोते होत्था (भग० १२) तथा च अतीतकाले प्राप्तानि सर्वदु:खान्यनेकशः एवमनागतधर्ममपि। अथवा दूरमणुपस्सिअ त्ति दढं पस्सिय, अथवा मोक्षं दूरं श्रेय पस्सिय दुर्लभबोधितां पस्सिय, जात्यादिमदमत्तस्य च दूरतः श्रेयः एवमणपस्सिय इत्येवमाद्यतीताऽनागतान् धर्मान् अणुपस्सिता।

श्लोक २८ :

३८. (जए······सुहुमे·········अलूसए)

चूर्णिकार ने 'जए' को मुनि का विशेषण मानकर उसका अर्थ ज्ञानवान् या अप्रमत्त किया है ।[1] वृत्तिकार ने 'जए' को क्रिया-पद मानकर उसका संस्कृतरूप 'जयेत्' (जीतना) किया है ।[2]

चूर्णिकार ने 'सुहुमे' के दो अर्थ किए हैं—संयम और सूक्ष्म बुद्धिवाला ।[3] वृत्तिकार ने इसका अर्थ संयम किया है ।[4]

चूर्णिकार के अनुसार 'अलूसए' का अर्थ है—अनाशंसी[5] और वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—अविराधक ।[6] हमने इसका अर्थ अहिंसक किया है ।

आचारांग के संदर्भ में चूर्णिकार के अर्थ सूत्रकार की भावना के अधिक निकट हैं ।[7]

३९. न क्रोध करे और न अभिमान करे (णो कुज्झे णो माणि माहणे)

जिसकी प्रज्ञा कुशल होती है और जो सूक्ष्मदर्शी होता है उसी साधक को वैराग्यपूर्ण और तात्विक दोनों प्रकार की धमकथा करने का अधिकार है । इसीलिए धर्मकथी को प्रज्ञा-सम्पन्न और सूक्ष्मदर्शी होना चाहिए । जो स्वयं प्रमत्त होता है वह दूसरे को अप्रमाद का उपदेश नहीं दे सकता, इसलिए उसे सदा अप्रमत्त होना चाहिए । समता धर्म की व्याख्या करने वाला किसी को बाधा नहीं पहुंचा सकता, इसलिए उसे अलूसक या अहिंसक होना चाहिए ।

धर्मकथा के किसी प्रसंग से रुष्ट होकर कोई व्यक्ति तर्जना या ताड़ना करे तो धर्मकथी को क्रुद्ध नहीं होना चाहिए । धर्म-कथा की विशिष्टता पर अभिमान नहीं होना चाहिए ।[8]

'माणी' के स्थान पर 'माणि' विभक्ति रहित पद का प्रयोग है ।

श्लोक २९ :

४०. श्लोक २९ :

उपलब्ध अंग साहित्य आर्य सुधर्मा द्वारा रचित है । उन्होने अंग सूत्रों में भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट धर्म की व्याख्या की है । उनका अभिमत है कि जिन लोगों ने धर्म की व्याख्या की है, कर रहे हैं या करेंगे, वे इन लक्षणों से युक्त होने चाहिए—

१. संवृतात्मा

२. विषयों के प्रति अनासक्त

३. स्वच्छ हृदय ।

प्रायः सभी लोग धर्म के प्रति प्रणत होते हैं, इसलिए चूर्णिकार ने 'वहुजणणमण' पद का अर्थ धर्म किया है ।[9] वृत्तिकार का

---

१. चूर्णि, पृ० ६० : जते त्ति ज्ञानवान् अप्रमत्तश्च ।
२. वृत्ति, पत्र, ६३ : जयेत् ।
३. चूर्णि, पृ० ६० : सुहुमो नाम संयम······अहवा सुहुमे त्ति सूक्ष्मबुद्धिः ।
४. वृत्ति पत्र ६३ : सूक्ष्मे तु संयमे ।
५. चूर्णि, पृ० ६०,६१ : अलूषकस्तु स एवमनाशंसी न च मार्गविराधनां करोति ।
६. वृत्ति, पत्र ६३ : अलूषक: अविराधकः ।
७. देखें—जए—आयारो ३।३८, ४।४१
   सुहुम—आयारो ८।८।२३
   लूसए—आयारो ६।९५, ९९
८. देखें—आयारो २।१७४-१७८; ६।१००-१०५ ।
९. चूर्णि, पृ० ६१ : बहुजनं नामयतीति बहुजननामनः, बहुजनेन वा नम्यते, स्तूयत इत्यर्थः, स धर्म एव ।

भी यही अभिमत है।[1] अधार्मिक मनुष्य भी यह नहीं कहता कि मैं अधर्म करता हूं। यह तथ्य एक उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है—

महाराज श्रेणिक राज्य सभा में बैठे थे। धर्म की चर्चा चल पड़ी। प्रश्न उपस्थित हुआ कि धार्मिक कौन है? पार्षदों ने कहा—धार्मिक कहां मिलता है? प्रायः सभी लोग अधार्मिक हैं। अभयकुमार ने इसके विपरीत कहा। इस संसार में अधार्मिक कोई नहीं है। पार्षदों ने इसे मान्य नहीं किया। तब परीक्षा की स्थिति उत्पन्न हो गई। अभयकुमार ने दो भवन निर्मित करवाए—एक धवल और एक काला। नगर में घोषणा करवाई गई—जो धार्मिक हैं वे धवल भवन में चले जाएं और जो अधार्मिक हैं वे काले भवन में चले जाएं। सभी नागरिक धवल गृह में चले गए। अधिकारियों ने एक व्यक्ति से पूछा—क्या तुम धार्मिक हो? उसने कहा—मैं किसान हूं। हजारों पक्षी मेरे धान्य-कणों को चुगकर जीते हैं, इसलिए मैं धार्मिक हूं। दूसरे ने कहा—मैं वणिक हूं। मैं प्रतिदिन ब्राह्मण को भोजन कराता हूं, इसलिए मैं धार्मिक हूं। तीसरे ने कहा—मैं अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करता हूं, कितने कष्ट का काम है यह! फिर मैं धार्मिक कैसे नहीं हूं? चौथे ने कहा—मैं कसाई हूं। मैं अपने कुलधर्म का पालन करता हूं। मेरे धन्धे से हजारों मांसभोजी लोग पलते हैं। इसलिए मैं भी धार्मिक हूं। इस प्रकार सभी लोगों ने अपने आपको धार्मिक बतलाया। अभयकुमार विजयी हो गया।

दो व्यक्ति काले भवन में गए। पूछने पर बताया—हम श्रावक हैं। धार्मिक मनुष्य सदा अप्रमत्त रहते हैं। हमने एक बार मद्यपान कर लिया। हमारा अप्रमाद का व्रत भंग हो गया। हम अधार्मिक हैं, इसलिए हम धवल भवन में नहीं गए।[2]

अधिकांश लोग अपने आपको धार्मिक मानते हैं और प्रत्येक आचरण या कुलक्रमागत कार्य को धर्म का ही रूप देते हैं। अधर्म नाम किसी को प्रिय नहीं है। इसी लोक-भावना को ध्यान में रखकर सूत्रकार ने धर्म के लिए 'बहुजननमन' शब्द का प्रयोग किया है।[3]

कुछ व्याख्याकारों ने बहुजननमन' का अर्थ लोभ भी किया है। प्रायः सभी लोग लोभ के प्रति प्रणत होते हैं।[4] इस आधार पर यह अर्थ असंगत भी नहीं है। धर्मोपदेष्टा को लोभ का संवरण करने वाला होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से भी यह असंगत नहीं है।

श्लोक ३३ :

४१. वंदना-पूजा (वंदणपूयणा)

आक्रोश, ताड़ना आदि को सहन करना सरल है, किन्तु वंदना और पूजा के समय अनासक्त रहना बहुत कठिन है। इसलिए वन्दना और पूजा को सूक्ष्म शल्य कहा गया है। यह ऐसा हृदय-शल्य है जिसे हर कोई सहज ही नहीं निकाल पाता।[5]

श्लोक ३४ :

४२. अकेला (एगे)

'एक' शब्द की व्याख्या द्रव्य और भाव—दो दृष्टिकोणों से की गई है। द्रव्य की दृष्टि से एकलविहारी भिक्षु अकेला होता है और भाव की दृष्टि से राग-द्वेष रहित होना अकेला होना है। एकलविहारी भिक्षु को पवनयुक्त या पवन रहित, सम या विषम जैसा

१. वृत्ति, पत्र ६३।

२. (क) चूर्णि, पृ० ६१।
   (ख) वृत्ति, पत्र ६३-६४।

३. चूर्णि, पृ० ६१ : सर्वलोको हि धर्ममेव प्रणतः न हि कश्चित् परमाधार्मिकोऽपि ब्रवीति—अधम्मं करेमि।

४. वही पृ० ६१ : अन्ये त्वाहु :—बहुजननमनः लोभः सर्वो हि लोकस्तस्मिन् प्रणतः।

५. (क) चूर्णि, पृ० ६३ : शक्यमाक्रोशताडनादि तितिक्षितुम्, दुःखतरं तु वन्द्यमाने पूज्यमाने वा विषयैर्वा विलोभ्यमाने निःसङ्गतां भावयितुमिति एवं सूक्ष्मं भावशल्यं दुःखमुद्धर्तुं हृदयादिति।
   (ख) वृत्ति, पत्र ६५।

भी शयन-आसन मिलें उसमें वह अकेला होने का अनुभव करे—राग-द्वेष न करे।[1]

जन-संपर्क का माध्यम है—वचन। जो उसका प्रयोग नहीं करता, वह अपने आप अकेला हो जाता है। मन के विकल्प व्यक्ति को द्वैत में ले जाते हैं। उसका संवरण करने वाला अपने आप अकेला हो जाता है। भाव की दृष्टि से प्रत्येक भिक्षु को अकेला होना चाहिए। द्रव्य की दृष्टि से अकेले रहने का निर्देश उस भिक्षु के लिए है जो साधना के लिए संघ से मुक्त होकर एकलविहारी हो गया है।[2]

श्लोक ३५ :

४३. श्लोक ३५ :

प्रस्तुत श्लोक में एकलविहारी मुनि की चर्या प्रतिपादित है। एकलविहारी मुनि पूछने पर भी नहीं बोलता। कुछेक वचन बोलता है। कोई संबोधि प्राप्त करने वाला हो तो उसके लिए एक, दो, तीन या चार उदाहरणों का प्रतिपादन कर सकता है। वह अपने बैठने के स्थान का प्रमार्जन करता है, किन्तु शेष घर का प्रमार्जन नहीं करता।[3]

४४. शून्यगृह का (सुण्णघरस्स)

चूर्णिकार ने शून्य शब्द के दो निरुक्त किए हैं—[4]

१. शूनां हितं शून्यं—जो कुत्तों के लिए हितकर हो।

२. शून्यं वा यत्राऽन्यो न भवति—जिसमें दूसरा कोई न हो।

४५. (वइं)

चूर्णिकार के अनुसार एकलविहारी मुनि पूछने पर चार भाषाएं बोल सकता है।[5] वे चार भाषाएं हैं[6] :—

याचनी—याचना से सम्बन्ध रखने वाली भाषा।

प्रच्छनी—मार्ग आदि तथा सूत्रार्थ के प्रश्न से सम्बन्धित भाषा।

अनुज्ञापनी—स्थान आदि की आज्ञा लेने से सम्बन्धित भाषा।

पृष्टव्याकरणी—पूछे हुए प्रश्नों का प्रतिपादन करने वाली भाषा।

वृत्तिकार ने सावद्य वचन बोलने का निषेध किया है और जो अभिग्रहवान् तथा जिनकल्पिक है, उसे निरवद्य भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए, ऐसा मत प्रगट किया है।[7]

श्लोक ३६ :

४६. चींटी, खटमल आदि (चरगा)

इसका शाब्दिक अर्थ है—चलने-फिरने वाले प्राणी। चूर्णिकार ने चींटी, खटमल आदि को इसके अन्तर्गत माना है।[8] वृत्तिकार ने चरक शब्द से दंश, मशक का ग्रहण किया है।[9] शब्द की दृष्टि से चूर्णिकार का मत उपयुक्त लगता है। दंश, मशक उड़ने वाले प्राणी हैं, न कि चलने वाले।

---

१. चूर्णि, पृ० ६३ : द्रव्ये एगलविहारवान्, भावे राग-द्वेषरहितो वीतरागः ············ एगो राग-द्दोसरहितो, सव्वत्थपवाद-णिवाद-सम-विसमेसु ठाण-णिसीयण-सयणेसु एगभावेण भवितव्वं।

२. वही, पृ० ६३।

३. वही, पृष्ठ ६३ : अवस्सं संबुज्झितुकामस्स वा एगनायं एवावागरणं वा जाव चत्तारि। णिसीयणट्ठाणे मोत्तूण सेसं वसधिं ण समुच्छति ति ण पमज्जति।

४. वही, पृष्ठ ६३ : शुनां हितं शून्यं, शून्यं वा यत्रान्यो न भवति।

५. वही, पृ० ६३ : एगल्लविहारी ·····चत्तारि भासाओ मोत्तूण ण उदाहरति वयिं।

६. ठाणं ४।२२ : पडिमापडिवण्णस्स णं अणगारस्स कप्पंति चत्तारि भासाओ भासित्तए, तंजहा—जायणी, पुच्छणी, अणुण्णवणी पुट्ठस्स वागरणी।

७. वृत्ति, पत्र ६६ : सावद्यां वाचं······न ब्रूयात्, आभिग्रहिको जिनकल्पिकादिर्निरवद्यामपि न ब्रूयात्।

८. चूर्णि, पृष्ठ ६४ : चरन्तीति चरकाः पिपीलिका-मत्कुण-घृतपायिकादयः।

९. वृत्ति, पत्र ६६ : चरन्तीति चरका—दंशमशकादयः।

श्लोक ३९ :

४७. त्रायी (ताइणो)

त्राता तीन प्रकार के होते हैं—[1]

१. आत्मत्राता—जिनकल्पिक मुनि ।
२. परत्राता—अर्हत् ।
३. उभयत्राता—गच्छवासी मुनि ।

४८. ...आसन का (...आसणं)

पीढ, फलक आदि आसन हैं। चूर्णिकार ने इस शब्द के द्वारा उपाश्रय का ग्रहण किया है।[2] वृत्तिकार ने इसका अर्थ वसति माना है।[3]

श्लोक ४० :

४९. गर्म और तप्त जल को पीने वाले (उसिणोदगतत्तभोइणो)

उष्ण और तप्त—ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। चूर्णिकार ने बताया है कि धूप से गरम बना हुआ पानी मुनि को नहीं लेना चाहिए। यह तप्त शब्द द्वारा सूचित किया है।[4]

वृत्तिकार ने 'उष्णोदकतप्तभोजी'—इस शब्द का अर्थ अत्यन्त उबले हुए पानी को पीने वाला किया है। उन्होंने वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ इस प्रकार किया है—गर्म पानी को ठंडा किए बिना पीने वाला।[5]

५०. तथागत (अप्रमत्त) के (तहागयस्स)

चूर्णिकार ने 'तथागत' का अर्थ—वैराग्यवान्, वीतराग या अप्रमत्त किया है।[6] वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'जहावाई तहाकारी' अर्थात् वीतराग किया है।[7]

५१. असमाधि होती है (असमाही)

असमाधि का मूल कारण है—मूर्च्छा। राजाओं की ऋद्धि देखकर मूर्च्छा उत्पन्न न हो, इस दृष्टि से उनके संसर्ग का निषेध प्रस्तुत श्लोक में किया गया है। यह चूर्णिकार का अभिमत है।[8]

वृत्तिकार ने बतलाया है कि राजाओं का संसर्ग अनर्थ का हेतु है। उस संसर्ग में स्वाध्याय आदि में बाधा उपस्थित होती है।[9]

ऐतिहासिक दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि जैन मुनि धर्म को राज्याश्रित बनाने के पक्ष में नहीं थे। राजा की इच्छा का पालन करने पर अपनी समाचारी का भंग होता है और उसकी इच्छा का अतिक्रमण करने पर अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, इसलिए राजाओं के संसर्ग को हितकर नहीं माना।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ६४ : त्रायतीति त्राता, स च त्रिविधः—आत्म० पर० उभयत्राता जिनकल्पिका-ऽर्हद्-गच्छवासिनः।
२. वही, पृ० ६४ : आसनग्रहणादुपाश्रयोऽपि गृहीतः।
३. वृत्ति, पत्र ६७ : आस्यते—स्थीयते यस्मिन्निति तदासनं—वसत्यादि ।
४ चूर्णि, पृ० ६४ : उसिणग्रहणात् फासुगोदग-सोवीरग-उण्होदगादीणि, तप्तग्रहणात् स्वाभाविकस्याऽऽतपोदकादेः प्रतिषेधार्थः।
५. वृत्ति, पत्र ६७ : उष्णोदकतप्तभोजिनः त्रिदण्डोद्वृत्तोष्णोदकभोजिनः यदि वा उष्णं सन्न शीतीकुर्यादिति तप्तग्रहणम्।
६. चूर्णि, पृ० ६४ : तधागतस्सवि त्ति वैराग्यगतस्यापि। अथवा यथाऽन्ये, यथा ज (जि) नादयो गता वीतरागा तथा सो वि अप्रमादं प्रति गतः।
७. वृत्ति, पत्र ६७ : तथागतस्य यथोक्तानुष्ठायिनः।
८ चूर्णि, पृ० ६४ : रिद्धिं दृष्ट्वा तां मा भून्मूर्च्छां कुर्यात् मूर्च्छतश्च असमाधी भवति।
९. वृत्ति, पत्र ६७ : राजादिभिः सार्द्धं यः संसर्गः सम्बन्धोऽसावसाधुः अनर्थोदयहेतुत्वात्........राजादिसंसर्गवशाद् असमाधिरेव अपध्यानमेव स्यात् न कदाचित् स्वाध्यायादिकं भवेदिति।

श्लोक ४१ :

५२. अर्थ (अट्ठे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ मोक्ष और उसके कारणभूत ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि किया है।[1] वृत्तिकार ने इसके द्वारा मोक्ष और उसके कारणभूत संयम को ग्रहण किया है।[2]

श्लोक ४२ :

५३. शीतोदक (सजीव जल) (सीओदग)

इसका शाब्दिक अर्थ है—ठंडा पानी। आगमिक परिभाषा में इसका अर्थ है—सजीव पानी।[3] गर्म जल या शस्त्रभूत पदार्थों से उपहत जल निर्जीव हो जाता है।

५४. न पीने वाले (पडिदुगंछिणो)

प्रतिजुगुप्सी का अनुवाद 'न पीने वाले' किया गया है। जो जिसका सेवन नहीं करता, वह उसके प्रति जुगुप्सा करता है। यह चूर्णिकार की व्याख्या है। उन्होंने बताया है कि ब्राह्मण गोमांस, मद्य, लहसुन और प्याज से जुगुप्सा करते हैं, इसलिए उन्हें नहीं खाते। वे गोमांस आदि खाने वालों से भी जुगुप्सा करते हैं।[4]

५५. निष्काम (अपडिण्णस्स)

कामनापूर्ति के लिए संकल्प नहीं करने वाला अप्रतिज्ञ कहलाता है। 'इस तपस्या से मुझे यह फल मिलेगा'—इस आशंसा से तप नहीं करना चाहिए। स्थान, आहार, उपधि और पूजा के लिए भी कोई प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए। मुनि को सर्वथा निष्काम होना चाहिए।[5]

५६. प्रवृत्ति से दूर रहने वाले (लवावसक्किणो)

इसमें दो शब्द हैं—लव और अवष्वष्की। लव का अर्थ है—कर्म। जिस प्रवृत्ति से कर्म का बंध होता है उससे दूर रहने वाला 'लव-अवष्वष्की' कहलाता है।[6]

५७. गृहस्थ के पात्र में भोजन नहीं करता (गिहिमत्तेऽसणं ण भुंजई)

गृहस्थ के पात्र में भोजन करने से पश्चात्-कर्म दोष होता है। भिक्षु शीतोदक से जुगुप्सा करता है और गृहस्थ भोजनपात्र को साफ करने लिए शीतोदक का प्रयोग करता है, इसलिए संयमभाव की सुरक्षा के लिये यह निर्देश दिया गया है कि भिक्षु गृहस्थ के पात्र में भोजन न करे।[7]

देखें—दसवेआलियं ६।५१ का टिप्पण।

---

१. चूर्णि, पृ० ६५ : अर्थो नाम मोक्षार्थः तत्कारणादीनि च ज्ञानादीनि।

२. वृत्ति, पत्र ६७ : अर्थो मोक्षः तत्कारणभूतो वा संयमः।

३. (क) चूर्णि, पृ० ६५ : सीतोदगं णाम अविगतजीवं अफासुगं।
   (ख) वृत्ति, पत्र ६७ : सीओदग इत्यादि शीतोदकम्—अप्रासुकोदकम्।

४. चूर्णि, पृ० ६५ : प्रतिदुगुंछति णाम ण पिबति यो हि यन्नाऽऽसेवति स तद् जुगुप्सत्येव, जधा धीयारा गोमांस-मद्य-लसुन-पलण्डुं दुगुंछंति, न केवलं धीयारा गोमांसं दुगुंछति तदाशिनोऽपि जुगुप्संति।

५. (क) चूर्णि पृ० ६५ : अपडिण्णो णाम अप्रतिज्ञः नास्य प्रतिज्ञा भवति यथा मम अनेन तपसा इत्यं णाम भविष्यतीति......आहार-उवधि-पूयाणिमित्तं वा अप्रतिज्ञः।
   (ख) वृत्ति पत्र ६७ : न विद्यते प्रतिज्ञा—निदानरूपा यस्य सोऽप्रतिज्ञोऽनिदान इत्यर्थः।

६. (क) चूर्णि पृ० ६५ : लवं कर्म येन तत् कर्म भवति तत आश्रवात् स्तोकादपि अवसक्कति।
   (ख) वृत्ति, पत्र ६७ : लवं कर्म तस्मात् अवसप्पिणो त्ति—अवसर्पिणः यदनुष्ठानं कर्मबन्धोपादानभूतं तत्परिहारिण इत्यर्थः।

७. चूर्णि, पृ० ६५ : मा भूत् पच्छाकम्मदोसो भविस्सति। णट्ठे हिते वीसरिते स एव सीतोदगवधः स्यादिति।

श्लोक ४७ :

५८. मैंने परम्परा से यह सुना है (अणुस्सुयं)

यह परंपरा का सूचक शब्द है। सूत्रकार कहते हैं—मैंने स्थविरों से सुना और उन्होंने अपने पूर्ववर्ती स्थविरों से सुना। इस प्रकार यह परंपरा से श्रुत है।[1]

५९. सब विषयों में प्रधान (उत्तर)

मैथुन स्पर्शन इन्द्रिय का विषय है। चूर्णिकार के अनुसार शब्द आदि इन्द्रिय-विषयों में यह सबसे दुर्जेय है, इसलिए यह सबसे बड़ा या प्रधान है।[2]

'उत्तरा' के स्थान पर यह विभक्तिरहित पद है।

६०. काश्यप (महावीर या ऋषभ) के (कासवस्स)

मुनि सुव्रत और अर्हत् अरिष्टनेमि के अतिरिक्त शेष सब तीर्थंकर ईक्ष्वाकुवंश के हैं। इन सबका गोत्र काश्यप है। भगवान् ऋषभ का एक नाम कश्यप है। शेष सभी तीर्थंकर उनके अनुवर्ती हैं, इसलिए वे सभी काश्यप कहलाते हैं।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने काश्यप के दो अर्थ किए हैं—भगवान् महावीर और भगवान् ऋषभ।[3]

भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर की साधना-पद्धति में सर्वाधिक साम्य है। दोनों की साधना-पद्धति में पांच महाव्रतों का विधान है, इसलिए काश्यप शब्द के द्वारा ऋषभ और महावीर का सूचन देना ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत मूल्यवान् है।

देखें—२।७४ का टिप्पण।

६१. आचरित धर्म का अनुचरण करने वाले मुनि (अणुधम्मचारिणो)

अनुधर्मचारी का अर्थ अनुचरणशील होता है। गुरु ने जैसा आचरण किया वैसा आचरण करने वाला शिष्य अनुधर्मचारी होता है।[4]

अनुधर्म शब्द में विद्यमान 'अनु' शब्द को चार अर्थों में व्युत्पन्न किया गया है—अनुगत, अनुकूल, अनुलोम, अनुरूप।[5]

अनुगत+धर्म=अनुधर्म
अनुकूल+धर्म=अनुधर्म
अनुलोम+धर्म=अनुधर्म
अनुरूप+धर्म=अनुधर्म।

आचारांग का—'से जं च आरभे, जं च णारभे, अणारद्धं च णारभे'—यह सूत्र 'अनुधर्म' की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसका तात्पर्य है—वह (कुशल) किसी प्रवृत्ति का आचरण करता है और किसी का आचरण नहीं करता; मुनि उसके द्वारा अनाचीर्ण प्रवृत्ति

---

१. (क) चूर्णि पृष्ठ ६६ : अनुश्रुतं स्थविरेभ्यः तैः पूर्वं श्रुतम् पश्चात् तेभ्यो मयाऽनुश्रुतम्।
(ख) वृत्ति, पत्र ६९ : मयैतदनु—पश्चाद् श्रुतं एतच्च सर्वमेव प्रागुक्तं यच्च वक्ष्यमाणं तन्नाभेयेनाऽऽदितीर्थकृता पुत्रानुद्दिश्याभिहितं सत् पाश्चात्यगणधराः सुधर्मस्वामिप्रभृतयः स्वशिष्येभ्यः प्रतिपादयन्ति अतो मयैतदनुश्रुतमित्यनवद्यम्।

२. चूर्णि, पृष्ठ ६६,-६७ : उत्तरा नाम शेषविषयेभ्यः ग्रामधर्मा एव गरीयांसः।.........अथवा उत्तराः शब्दादयो ग्रामधर्मा मनुष्याणां चक्रवर्ति-बलदेव-वासुदेव-मण्डलिकानाम्।

३. (क) चूर्णि, पृ० ६७ : काश्यपः वर्द्धमानस्वामी........ अथवा ऋषभ एव काश्यपः।
(ख) वृत्ति, पत्र ६९ : काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्धमानस्वामिनो वा।

४. चूर्णि, पृष्ठ ६७ : अणुधम्मचारिणो.........तेन चीर्णमनुचरन्ति यथोद्दिष्टम्।

५. वही, पृष्ठ ७६ : अनुगतो वा अनुकूलो वा अनुलोमो वा अनुरूपो वा धर्मः अनुधर्मः।

का आचरण न करे।[1]

निशीथ भाष्य में लोकोत्तर धर्मों को 'अनुगुरु' बतलाया गया है।[2] चूर्णिकार ने लिखा है—वे प्रलंब सब तीर्थंकरों, गौतम आदि गणधरों तथा जम्बू आदि आचार्यों द्वारा अनाचीर्ण हैं। वर्तमान आचार्यों द्वारा भी अनाचीर्ण हैं, इसलिए वर्जनीय हैं। इस प्रतिपादन पर शिष्य ने प्रश्न उपस्थित किया—जो तीर्थंकरों द्वारा अनाचीर्ण है, वह हम सबके लिए अनाचीर्ण है। क्या यह सही है ? गुरु ने उत्तर दिया—यह सही है। और इसलिए सही है कि लोकोत्तर धर्म 'अनुधर्म' होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि आचार्यों के द्वारा जो चीर्ण, चरित, आचेष्टित है वह उत्तरकालीन शिष्यों द्वारा भी अनुचरणीय है। इसका अर्थ है—अनुधर्मता।[3]

तीर्थंकर या गुरु का कोई अतिशय है, उसमें अनुधर्मचारिता नहीं होती। अन्य साधुओं में जो सामान्य धर्मता है वहां अनुधर्म का विचार किया जाता है।[4]

श्लोक ४६ :

६२. जो विषयों के प्रति नत होते हैं (दूवण)

यह शब्द 'दूम' धातु से निष्पन्न है। इसका अर्थ है—संताप करने वाला। मैथुन मनुष्य को संतप्त करता है इसलिए इसे 'दूमण' कहा गया है। प्राकृत में 'मकार' के स्थान पर 'वकार' होता है।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—विषयों के प्रति अत्यन्त आसक्त किया है।[5] वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—दुष्ट धर्म के प्रति उपनत, मन को दुःखी करने वाला या उपतापकारी शब्द आदि विषय।[6]

श्लोक ५० :

६३. श्लोक ५० :

प्रस्तुत श्लोक में काहिए, पासणिए, संपसारए, कयकिरिए और मामए—ये पांच शब्द विशेष विमर्श योग्य हैं। प्रस्तुत आगम के नौवें अध्ययन के सोलहवें श्लोक में संपसारी, कयकिरिए और पसिणायतणाणि—ये तीन शब्द मिलते हैं। वहां 'संपसारए' के स्थान पर 'संपसारी' तथा 'पासणिए' के स्थान पर 'पसिणायतणाणि' का प्रयोग किया गया है। चूर्णिकार ने भी वहां 'पासणियायतनानि' पाठ स्वीकार किया है।

आयारो ५।८७ में ये पांच शब्द प्राप्त हैं—काहिए, पासणिए, संपसारए, ममाए, कयकिरिए। वहां इनका अर्थ इस प्रकार है—

- काथिक—काम-कथा, श्रृंगार-कथा करने वाला।
- पश्यक—स्त्रियों को वासनापूर्ण दृष्टि से देखने वाला।
- संप्रसारक—एकान्त में स्त्रियों के साथ बातचीत करने वाला।

---

१. आयारो २।१८३, पृ० १०७।

२. निशीथभाष्य गाथा ४८५५ : अवि य हु सव्वपलंबा, जिणगणहरमाइएहिऽणाइण्णा।
लोउत्तरिया धम्मा, अणुगुरुणो तेण तव्वज्जा॥

३. वही, गाथा ४८५५, चूर्णि पृ० ५२२ : ते य सव्वेहिं तित्यकरेहिं गोयमादिहिं य गणधरेहिं, आदिसद्दातो जंबूणाममादिएहिं आयरिएहिं जाव संपदमवि अणाइण्णा, तेणं कारणेणं ते वज्जणिज्जा : आह 'तो किं जं जिणेहिं अणाइण्णा तो एयाए चेव आणाए वज्जणिज्जा ?' ओमित्युच्यते, लोउत्तरे जे धम्मा ते अणुधम्मा।
किमुक्तं भवति ? जं तेहिं गुरूहिं चिण्णं चरितं आचेट्ठियं तं पच्छिमेहिं वि अणुचरियव्वं, जम्हा य एवं तम्हा तेहिं पलंबा ण सेविया, पच्छिमेहिं वि ण सेवियव्वा। अतो ते वज्जणिज्जा। एवं अणुधम्मया भवति।

४. वही, गाथा ४८५६, चूर्णि भाग ३, पृ० ५२२ : कहं ? उच्यते गुरु तीर्थंकरः। अतिशयास्तस्यैव भवंति नान्यस्य। अत्रानुधर्मता न चिन्त्यते।

५. चूर्णि, पृष्ठ ६७ : दूपनताः शाक्यादयः ते हि मोक्षाय प्रपन्ना अपि विषयेषु प्रणता रसादिषु।

६. वृत्ति, पत्र ६६ : दुष्टधर्मं प्रत्युपनताः कुमार्गानुष्ठायिनस्तीर्थिकाः यदि वा—दूमण त्ति दुष्टमनःकारिण उपतापकारिणो वा शब्दादयो विषयास्तेषु।

- ० मामक—ममत्व करने वाला।
- ० कृतक्रिय—स्त्रियों को वश में करने के लिए साज-श्रृंगार करने वाला।[1]

ये सारे अर्थ स्त्री से संबंधित हैं।

निशीथ भाष्य, चूर्णि आदि में इनके अर्थ भिन्न हैं।

काहिए

इसका अर्थ है—कथा से आजीविका करने वाला।[2] आख्यानक, गीत, श्रृंगारकाव्य, दंतकथा तथा धर्म, अर्थ और काममिश्रित संकीर्ण कथा करता है वह काथिक कहलाता है।

निशीथ चूर्णि के अनुसार जो देशकथा, भक्तकथा आदि कथा करता है वह काथिक है।[3]

जो धर्मकथा भी आहार, वस्त्र, पात्र आदि की प्राप्ति के लिए करता है, जो यश को चाहने वाला है, पूजा और वन्दना का अर्थी है, जो सूत्रपौरुषी और अर्थपौरुषी का पूरा पालन नहीं करता, जो रात-दिन धर्मकथा पढ़ने और कहने में लगा रहता है, जिसका कर्म केवश धर्मकथा करना ही है, वह काथिक कहलाता है। आज के शब्दों में उसे कथावाचक या कथाभट्ट कहा जा सकता है।

उक्त व्याख्याओं से यह निष्कर्ष निकलता है कि संयमी मुनि को धर्मकथा के अतिरिक्त सभी प्रकार की कथाओं का वर्जन करना चाहिए। धर्मकथा स्वाध्याय का पांचवां प्रकार है। उससे मनुष्य संबोधि को प्राप्त होता है, तीर्थ की अव्युच्छित्ति होती है, शासन की प्रभावना होती है। उसके फलस्वरूप कर्मों की निर्जरा होती है, इसलिए वह को जा सकती है। किन्तु वह भी हर समय नहीं, उस सीमा में ही करनी चाहिए जिससे अवश्यकरणीय कार्य—अध्ययन, सेवा आदि में विघ्न उपस्थित न हो।[4]

पासणिए

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—साक्षी। देशी नाममाला में साक्षी के अर्थ में 'पासणिअ' और 'पासाणिअ,—ये दो शब्द प्राप्त हैं।[5]

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'पासणिए' शब्द की व्याख्या प्राश्निक शब्द के आधार पर की है। चूर्णिकार ने प्राश्निक का अर्थ—गृहस्थ के व्यवसाय और व्यवहार के संबंध में निर्णण देने वाला—किया है।[6] इसी सूत्र की ६/१६ की चूर्णि में इसका अर्थ इस प्रकार है—प्रश्न का निर्णय देने वाला, लौकिक शास्त्रों के भावार्थ का प्रतिपादन करने वाला।[7]

वृत्तिकार ने राजा आदि के इतिहास-स्थापन तथा दर्पण, अंगुष्ठप्रश्न आदि विद्या के द्वारा आजीविका करने वाले को प्राश्निक

---

१. आचारांगवृत्ति, पत्र १६६।

२. वृत्ति पत्र, ७० : कयया चरति काथिकः।

३. निशीथ १३/५६ :, चूर्णि पृ० ३९८ : सज्झायादिकरणिज्जे जोगे मोत्तुं जो देसकहादि कहातो कधेति सो काहितो।

४. निशीथभाष्य, गाथा ४३५३-५५ चूर्णि, पृष्ठ ३९८,३९९ : आहारादीणट्ठा, जसहेउं अहव पूयणनिमित्तं।
तक्कम्मो जो धम्मं, कहेंति सो काहिओ होति ॥
कामं खलु धम्मकहा, सज्झायस्सेव पंचमं अंगं।
अव्वोच्छित्तीइ ततो, तित्थस्स पभावणा चेव ॥
तह वि य ण सव्वकालं, धम्मकहा जीइ सव्वपरिहाणी।
नाउं व खेत्तकालं, पुरिसं च पवेदते धम्मं ॥

···धम्मकहं पि जो करेति आहारादिणिमित्तं, वत्थपातादिणिमित्तं, जसत्थी वा, वंदणादिपूयाणिमित्तं वा सुत्तत्थपोरिसिमुक्कवावारो अहो य रातो य धम्मकहादिपढणकहणवज्झो, तदेवास्य केवलं कर्म तक्कम्म एवं विधो काहितो भवति।

चोदग आह—"णणु सज्झाओ पंचविधो वायणादिगो। तस्स पंचमो भेदो धम्मकहा। तेण भव्वसत्ता पडिबुज्झंति, तित्थे य अव्वोच्छित्ती पभावणाय भवति, अतो ताओ णिज्जरा चेव भवति, कहं काहियत्तं पडिसिज्झति ? ······ सव्वकालं धम्मो ण कहेयव्वो जतो पडिलेहणादि संजमजोगाण सुत्तत्थपोरिसीण य आयरियगिलाणमादीकिच्चाण य परिहाणी भवति, अतो न.काहियत्तं कायव्वं।

५. देशीनाममाला ६।४१ : पासणिओ पासाणिओ अ सक्खिम्मि ॥

६. चूर्णि, पृ० ६७ : पासणिओ णाम गिहीणं व्यवहारेषु प्रस्तुतेषु पणियगादिषु वा प्राश्निको न भवति।

७. वही, पृ० १७८ : पासणियो णाम यः प्रश्नं छन्दति, तद्यथा—व्यवहारेष (शास्त्रेषु) वा।

कहा है।[1] इसी सूत्र की ६/१६ की वृत्ति में वृत्तिकार ने चूर्णिकार का अनुसरण किया है।[2]

निशीथ भाष्य और चूर्णि में इसका अर्थ कुछ विस्तार से मिलता है। एक जैसी प्रतीत होने वाली वस्तुओं का विभाजन करना, दो प्रतियोगियों या प्रतिस्पर्धियों के विवाद का निपटारा करना, लौकिक शास्त्रों के सूत्र और अर्थ का प्रतिपादन करना, अर्थशास्त्र की व्याख्या करना, सेतुबंध आदि का तथा स्त्रीवेद, शृंगारकथा आदि ग्रन्थों का विवेचन करना—इन सबको करने वाला 'पासणिअ' होता है।[3]

आप्टे के 'संस्कृत-इंग्लिश कोष' में प्राश्निक शब्द के ये अर्थ मिलते हैं—(१) An examiner (परीक्षक), An arbitrator (मध्यस्थ) A judge (न्यायाधीश), An umpire (निर्णायक), अहो प्रयोगाभ्यंतर प्राश्निकाः। तद् भगवत्या प्राश्निकपदमभ्यासितव्यम्।

संपसारए

जो मुनि वर्षा आदि के संबंध में तथा पदार्थों के मूल्य बढ़ने-घटने संबंधी बात बताता है वह संप्रसारक होता है। यह चूर्णि की व्याख्या है।[4] प्रस्तुत सूत्र के ८।१६ में चूर्णिकार ने गृहस्थों के असंयममय कार्यों का समर्थन करने वाले तथा उनका उपदेश देने वाले को संप्रसारी माना है।[5]

वृत्तिकार ने संप्रसारक का अर्थ वृष्टि, अर्थकाण्ड आदि की सूचक कथा का विस्तार करने वाला किया है।[6] प्रस्तुत सूत्र के ८।१६ की वृत्ति में संप्रसारण का अर्थ है—पर्यालोचन या उपदेश-दान। मुनि गृहस्थों के साथ सांसारिक पर्यालोचन न करे और उन्हें असंयमप्रवृत्ति का उपदेश न दे।[7]

असंयममय कार्य का विवरण निशीथभाष्य और चूर्णि में मिलता है। गृहस्थ को निष्क्रमण और प्रवेश का मुहूर्त्त देना, सगाई कराना, 'विवाहपटल' आदि ज्योतिष ग्रंथों के आधार पर विवाह का मुहूर्त्त देना, 'अर्थकांड' आदि ग्रंथों के आधार पर द्रव्य के क्रय-विक्रय का निर्देश देना—ये सब असंयममय कार्य हैं। इन्हें करने वाला संप्रसारी होता है।[8]

---

१. वृत्ति, पत्र ७० : प्रश्नेन राजादिकिंवृत्तरूपेण दर्पणादिप्रश्ननिमित्तरूपेण वा चरतीति प्राश्निकः।

२. वृत्ति, पत्र १८१ : प्रश्नस्य—आदर्शप्रश्नादेः आयतनम् आविष्करणं कथनं यथा विवक्षितप्रश्ननिर्णयनानि यदि वा प्रश्नायतनानि लौकिकानां परस्परव्यवहारे मिथ्याशास्त्रगतसंशये वा प्रश्ने सति यथावस्थितार्थकथनद्वारेणायतनानि—निर्णयनानीति।

३. निशीथ भाष्य, गाथा ४३५६-४३५८, चूर्णि, पृष्ठ ३९९ : लोइयववहारेसू लोए सत्थादिएसु कज्जेसु।
पासणियत्तं कुणती, पासणिओ सो य णायव्वो॥
साधारणे विरेगं, साहति पुत्तपडए य आहरणं।
दोण्ह य एगो पुत्तो, दोण्णि महिलाओ एगस्स॥
छंदणिरुत्तं सद्दं अत्थं वा लोइयाण सत्थाणं।
भावत्थए य साहति, छलियादी उत्तरे सउणे॥

······छंदादियाणं लोगसत्थाणं सुत्तं कहेति अत्थं वा, अहवा अत्थं व त्ति अत्थसत्थं सेतुमादियाण वा बहूणं कव्वाणं, कोहल्लयाण य, वेसियमादियाण य भावत्थं पसाहति। छलिय सिंगारकहा त्थीवण्णगादी।

४. चूर्णि, पृ० ६७ : संपसारको नाम सम्प्रसारकः, तद्यथा—इयं वरिसं किं देवो वासिस्सति ण व त्ति ? किं भंडं अग्घहिति वा न वा ?

५. वही, पृ० १७८ : संपसारगो णामं असंजताणं असंजमकज्जेसु साम छंदेति उवदेसं वा।

६. वृत्ति, पत्र ७० : संप्रसारकः देववृष्ट्यर्थकाण्डादिसूचककथाविस्तारकः।

७. वृत्ति, पत्र १८१ : सम्प्रसारणं—पर्यालोचनं परिहरेदिति वाक्यशेषः एवमसंयमानुष्ठानं प्रत्युपदेशदानम्।

८. निशीथ भाष्य, गाथा ४३६१-४३६२ : अस्संजयाण भिक्खू, कज्जे अस्संजमप्पवत्तेसु।
जो देती सामत्थं, संपसारओ सो य णायव्वो॥
गिहिणिक्खमणपवेसे, आवाह विवाह विक्कय कए वा।
गुरुलाघवं कहेंते, गिहिणो खलु संपसारीओ॥

चूर्णि, पृष्ठ ४०० :

········गिहीणं असंजयाणं गिहाओ दिसि जत्तए वा णिग्गमयं देति। गिहि (स्स) जत्ताओ वा आगयस्स पावेसं देति। आवाहो विड्डियालंभयण सुहं दिवसं कहेति, मा वा एयस्स देहि, इमस्स वा देहि। विवाहपडलादिएहिं जोतिसगंथेहिं विवाहवेलं देति। अत्थकंडमादिएहिं गंथेहिं इमं दव्वं विक्किणाहि, इमं वा किणाहि। एवमादिएसु कज्जेसु गिहीणं गुरुलाघवं कहेंतो संपसारत्तणं पावति।

कयकिरिए

गृहस्थ कोई आरंभ करता है, प्रवृत्ति या निर्माण करता है, संयमी को उसमें तटस्थ रहना चाहिए—गृहस्थ के आरंभ की प्रशंसा या अनुमोदना नहीं करनी चाहिए। जो ऐसा करता है उसे 'कृतक्रिय' कहा जाता है।[1]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—संयमपूर्ण क्रिया करने वाला किया है।[2]

मामए

मेरा देश, मेरा गांव, मेरा कुल, मेरा पुरुष—इस प्रकार ममत्व करने वाला 'मामक' कहलाता है।[3] दशवैकालिक सूत्र की चूलिका में यह निर्देश है कि मुनि ग्राम आदि में ममत्व न करे।[4]

निशीथभाष्य चूर्णि में 'मामक' की विशद परिभाषा प्राप्त होती है। जो व्यक्ति ऐसा कहता है—मेरे उपकरणों का कोई दूसरा व्यक्ति उपयोग न करे। मेरी स्थंडिलभूमि में कोई दूसरा न जाए। मेरे आहार, पानी आदि का कोई उपभोग न करे'—वह मामक होता है। उसका अपने समस्त भोगोपभोग के प्रति ममत्व है, इसीलिए प्रतिषेध करता है।

जो यह कहता है—'यह कितना सुन्दर देश है। यह वृक्ष, कुए, सरोवर, तालाब आदि से युक्त है। ऐसा देश दूसरा नहीं है। यहां सुखपूर्वक रहा जा सकता है। यहां स्थान, भक्त-पान, उपकरण आदि की उपलब्धि सुलभ है। यहां अनेक प्रकार के धान्य निष्पन्न होते हैं। यहां दूध की प्रचुरता है। यहां के लोगों का वेश और शरीर सुंदर है। यहां के लोग आभिजात्य और नवीन हैं। वे साधुओं के भक्त हैं, उपद्रवकारी नहीं हैं।' इस प्रकार की भावना अभिव्यक्त करने वाला भी 'मामक' होता है।[5]

प्रस्तुत आगम के ४।१२ में "कुशील" शब्द की व्याख्या में चूर्णिकार ने काथिक, प्राश्निक, संप्रसारक और मामक को कुशील माना है।[6]

श्लोक ५१ :

६४. (छण्णं च.........पगास माहणे)

चूर्णिकार ने छन्न का अर्थ माया, प्रशंसा का अर्थ प्रार्थना या लोभ, उत्कर्ष का अर्थ मान और प्रकाश का अर्थ क्रोध किया

---

१. चूर्णि, पृ० ६७ : कतकिरिओ णाम कृतं परैः कर्म पुट्ठो अपुट्ठो वा भणति शोभनमशोभनं वा एवं कर्त्तव्यमासिद् न वेति वा।

२. वृत्ति, पत्र ७० : कृता—स्वभ्यस्ता क्रिया—संयमानुष्ठानरूपा येन स कृतक्रियः।

३. चूर्णि, पृ० ६५ : मामको णाम ममीकारं करोति देशे ग्रामे कुले वा एगपुरिसे वा।

(ख) वृत्ति, पत्र ७० : मामको ममेदमहमस्य स्वामीत्येवं परिग्रहाग्रही।

४. दशवैकालिक चूलिका २।८ : गामे कुले वा नगरे व देसे।
ममत्तभावं न कहिं चि कुज्जा॥

५. निशीथ भाष्य गाथा ४३५९, ४३६० : आहार उवहि देहे, वीयार विहार वसहि कुल गामे।
पडिसेहं च ममत्तं, जो कुणति मामतो सो उ॥
अह जारिसओ देसो, जे य गुणा एत्थ सस्सगोणादी।
सुंदरअभिजातजणो, ममाइ निक्कारणोवयति॥

निशीथ चूर्णि, पृ० ४०० :
.........उवकरणादिसु जहासंभवं पडिसेहं करेंति, मा मम उवकरणं कोइ गेण्हउ। एवं अण्णेसु वि वियारभूमिमादिएसु पडिसेहं सगच्छपरगच्छयाणं वा करेति। आहारादिएसु चेव सव्वेसु ममत्तं करेति। भावपडिबंधं एवं करेंतो मामओ भवति।
अह त्ति अयं जारिसो देसो रुक्ख-वावि-सर-तडागोवसोभितो एरिसो अण्णो णत्थि। सुहविहारो। सुलभवसहिमत्तोवकरणादिया य बहू गुणा। सालिक्खुमादिया य बहू सस्सा णिप्फज्जंति य। गो-महिस-पउरत्ततो य पउरगोरसं। सरीरेण वत्थादिएहिं सुंदरो जणो, अभिजायत्तणतो य कुलीणो, ण साहुसुवद्दवकारी, एवमादिएहिं गुणेहिं भावपडिबद्धो णिक्कारणिओ वा वयति—प्रशंसतीत्यर्थः।

६. चूर्णि, पृ० १०७ : कुत्सितसीला कुशीला पासत्थादयः पंच णव वा।......एते य पंच, इमे य चत्तारि—काधिय-पासणिय-संपसारग-मामगा।

है। उन्होंने बताया है कि अन्तर्गत क्रोध नेत्र, मुख आदि के विकार से प्रगट हो जाता है इसलिए क्रोध के लिए प्रकाश शब्द का प्रयोग किया गया है।[1]

वृत्तिकार ने प्रत्येक शब्द का हार्द समझाया है। माया के द्वारा अपने अभिप्राय को छिपाया जाता है, इसलिए उसका नाम 'छन्न' है। 'पसंस' पद का संस्कृत रूप प्रशंस्य मानकर वृत्तिकार ने लिखा है कि लोभ सबके द्वारा प्रशस्य माना जाता है, इसलिए उसका नाम प्रशस्य है। मान उत्कर्ष की भावना उत्पन्न करता है, इसलिए उसका नाम उत्कर्ष है। क्रोध अन्तर् में रहता हुआ भी मुख, दृष्टि और भौंहें आदि के विकार से प्रगट होता है, इसलिए उसका नाम प्रकाश है।[2]

प्रस्तुत सूत्र के १।३६ में भी लोभ आदि के लिए इनसे भिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है।

प्रस्तुत सूत्र के ६।११ में क्रोध, मान, माया और लोभ के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग हुआ है। भगवती १२।१०३-१०६ में क्रोध, मान, माया और लोभ के पर्यायवाची शब्द संकलित हैं। वहां उत्कर्ष शब्द मान के पर्यायवाची शब्दों में उल्लिखित है। शेष शब्द वहां उपलब्ध नहीं हैं।

६५. धुत का (धुयं)

इसका अर्थ है—प्रकंपित करना। कर्मबंध को प्रकंपित करने वाला आचरण धुत कहलाता है।

६६. सम्यक् विवेक (सुविवेगं)

विवेक का अर्थ है—विवेचन या पृथक्करण। घर, परिवार आदि को छोड़ना बाह्य विवेक है और आन्तरिक दोषों—कषाय आदि को छोड़ना आन्तरिक विवेक या कषाय-विवेक है। चूर्णिकार ने सुविवेक, सुनिष्क्रान्त और सुप्रव्रज्या को पर्यायवाची माना है।[3]

श्लोक ५२ :

६७. स्नेह रहित (अणिहे)

चूर्णिकार ने इसका संस्कृतरूप 'अनिहतः' किया है। उनके अनुसार मुनि परिषहों से निहत नहीं होता, तपस्या करने में शक्तिहीनता का परिचय नहीं देता, इसीलिए वह अनिहत कहलाता है।[4]

वृत्तिकार ने 'अनिह' का मूल अर्थ अस्निह और वैकल्पिक अर्थ उपसर्गों से अपराजित किया है।[5]

६८. आत्महित में रत (सहिए)

चूर्णि[6] और वृत्ति[7] दोनों में 'सहिए' पद के 'सहित' और 'स्वहित'—दोनों अर्थ किए गए हैं। जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र में सम्यक् प्रकार से स्थापित होता है वह 'सहित' और जो आत्मा में स्थापित होता है वह 'स्वहित' कहलाता है।

आयारो (३।२८, ६७, ६९) में 'सहिए' शब्द का प्रयोग मिलता है। उसके चूर्णिकार ने वही अर्थ किया है जो सूत्रकृतांग की

१, चूर्णि, पृ० ६८ : द्रव्यच्छन्नं निधानादि, भावच्छन्नं माया। भृशं शंसा प्रार्थना लोभः। उक्कसो मानः। प्रकाशः क्रोधः। स हि अन्तर्गतोऽपि नेत्र-वक्त्रादिभिर्विकारैरुपलक्ष्यते।

२. वृत्ति, पत्र ७० : छन्नंति ति माया तस्याः स्वाभिप्रायप्रच्छादनरूपत्वात् तां न कुर्यात्, चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः तथा प्रशस्यते— सर्वैरप्यविगानेनाद्रियत इति प्रशस्यो—लोभस्तं च न कुर्यात्, तथा जात्यादिभिर्मदस्थानैर्लघुप्रकृतिं पुरुषमुत्कर्षयतीत्युत्कर्षको मानस्तमपि न कुर्यादिति सम्बन्धः, तथाऽन्तर्व्यवस्थितोऽपि मुखदृष्टिभ्रूभङ्गविकारैः प्रकाशीभवतीति प्रकाशः—क्रोधः।

३. चूर्णि, पृ० ६८ : गृहदारादिभ्यो विवेको वाह्यः, आभ्यन्तरस्तु कषायविवेकः,·········सुविवेगोत्ति वा सुणिक्खंतं ति वा सुपव्वज्ज त्ति वा एगट्ठं।

४. चूर्णि, पृ० ६८ : अनिहो नाम अनिहतः परीषहैः तपः कर्मसु वा नात्मानं निघयति।

५. वृत्ति, पत्र ६७ : अणिहे इत्यादि स्निह्यत इति स्निहः, न स्निहः अस्निहः, सर्वत्र ममत्वरहित इत्यर्थः, यदिवा परीषहोपसर्गैर्निहन्यते इति निहः, न निहोऽनिहः, उपसर्गैरपराजित इत्यर्थः।

६. चूर्णि, पृ० ६८ : ज्ञानदिषु सम्यग् हितः सहितः णाणादीहि ३, आत्मनि वा हितः स्वहितः।

७. वृत्ति पत्र ७० : सह हितेन वर्तत इति सहितः, सहितो—युक्तो वा ज्ञानादिभिः, स्वहितः—आत्महितो वा सदनुष्ठानप्रवृत्तः।

चूर्णि में प्राप्त है।[1]

योग ग्रंथों में 'सहित' का प्रयोग कुंभक-प्राणायाम के संदर्भ में भी मिलता है। 'सहितकुंभक' सगर्भ और निर्गर्भ—दोनों प्रकार का होता है। जो मंत्र-जप, संख्या और परिणाम के साथ किया जाता है वह सगर्भ और जो मंत्र-जप आदि के बिना किया जाता है वह निर्गर्भ होता है।[2]

'सहितकुंभक' करने वाला आत्मस्थ हो जाता है, इसलिए ज्ञान, दर्शन और चारित्र से युक्त होना तथा कुंभक की अवस्था में होना—इन दोनों के फलितार्थ में कोई भेद नहीं प्रतीत नहीं होता। हो सकता है, 'सहित' का अर्थ श्वास निरोध या श्वास को शान्त करना रहा हो और व्याख्या-काल में उसकी विस्मृति हो गई हो। युक्त शब्द का अर्थ जो गीता में है वह आगम सूत्रों के व्याख्या ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। इसी प्रकार 'सहित' शब्द का अर्थ भी व्याख्या ग्रन्थों में उपलब्ध न रहा हो। जिस परंपरा में महाप्राणध्यान की साधना का उल्लेख प्राप्त है वहां 'सहिए' का कुंभक अर्थ ही रहा हो—इसमें कोई संदेह नहीं है।

६९. (आतहितं.........)

मुनि को समाहित इन्द्रिय वाला क्यों होना चाहिए? उसे इन्द्रिय-विषयों के प्रति रुष्ट और तुष्ट क्यों नहीं होना चाहिए? समभाव की साधना बहुत कठिन है, उसके लिए प्रयत्नशील क्यों होना चाहिए? इन प्रश्नों के उत्तर में सूत्रकार ने बताया कि यह दुर्लभ अवसर है। यह जो प्राप्त है वह बार-बार नहीं मिलता। इस अवसर में आत्महित साधा जा सकता है। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इस दुर्लभता का विवरण इस प्रकार प्रस्तुत किया है—त्रस होना, पांच इन्द्रियों की प्राप्ति, मनुष्य जन्म, आर्यदेश, प्रधान कुल, अच्छी जाति, रूप आदि की संपन्नता, पराक्रम, दीर्घ आयुष्य, ज्ञान, सम्यक्त्व और शील की संप्राप्ति—ये सब दुर्लभ हैं। आत्महित की साधना के लिए इन सबकी अपेक्षा है। इसलिए आत्महित साधना सहज सुलभ नहीं है।[3]

श्लोक ५५ :

७०. संवृत कर्म वाले (संवुडकम्मस्स)

संवर महावीर की साधना-पद्धति का मौलिक तत्त्व है। अपाय का निरोध किए बिना मनुष्य उससे मुक्त नहीं हो सकता। संवर का अर्थ है—अपाय का निरोध। संवर की साधना करने वाला संवृत होता है। हिंसा आदि आस्रव, इन्द्रियां, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय तथा मन, वचन और शरीर की चंचलता—इन सभी अपायों का निरोध करने वाला संवृतकर्मा कहलाता है।[4]

७१. अज्ञान के द्वारा (अबोहिए)

दुःख का स्पर्श अज्ञान से होता है और उसका क्षय संयम से होता है। प्रश्न होता है कि दुःख का स्पर्श अज्ञान से कैसे हो सकता है? प्रज्ञापना सूत्र (२३।६, १०) में बतलाया गया है कि कर्म का बंध राग और द्वेष—इन दो कारणों से होता है। राग और द्वेष का प्रयोग असंयम है। असंयम से स्पृष्ट दुःख संयम से क्षीण होता है—क्या यह प्रतिपादन अधिक संगत नहीं होता?

कर्मबंध का विचार दो दृष्टिकोणों में किया जाता है—

१. कर्म का बंध किन कारणों से होता है?

२. कर्म का बंध कैसे होता है?

---

१. आचारांग चूर्णि, पृ० ११४।

२. घेरण्ड संहिता ५।४६ : सहितो द्विविधः प्रोक्तः प्राणायामं समाचरेत्।
सगर्भो बीजमुच्चार्य, निगर्भो बीजवर्जितः॥

३. (क) चूर्णि पृ० ६८।
(ख) वृत्ति पत्र ७०।

४. चूर्णि, पृ० ६९ : संवृतानि यस्य प्राणवधादीनि कर्माणि स भवति संवुडकम्मा। इन्द्रियाणि वा यस्य संवृतानि स भवति संवृतः, निरुद्धानीत्यर्थः। यस्य वा यत्नवतः चंकमणादीणि कम्माणि संवृतानि, अथवा मिथ्यादर्शना—ऽविरति-प्रमाद-कषाय-योगा यस्य संवृता भवन्ति स संवृतकर्मा।

प्रस्तुत स्थल में कर्म का बंध कैसे होता है—इसका निर्देश मिलता है। इसकी स्पष्ट व्याख्या प्रज्ञापना सूत्र में मिलती है। ज्ञानावरण कर्म का अनुभव (वेदन) करने वाला जीव दर्शनावरणीय कर्म का अनुभव करता है। दर्शनावरणीय कर्म का अनुभव करने वाला दर्शन-मोहनीय कर्म का अनुभव करता है। दर्शन-मोहनीय कर्म का अनुभव करने वाला मिथ्यात्व का अनुभव करता है—अतत्त्व में तत्त्व का अध्यवसाय करता है। मिथ्यात्व के अनुभव से आठ कर्मों का बंध होता है।[1] कर्मबंध की इस प्रक्रिया में कर्मबंध का प्रथम हेतु ज्ञानावरण का उदय या अज्ञान है। इस आधार पर अज्ञान से दुःख का स्पर्श होता है, यह कहना संगत है।

तालाब के नाले बन्द कर दिए जाते हैं तब उसमें रहा हुआ जल हवा और सूर्य के ताप से सूख जाता है। इसी प्रकार कर्म के आस्रव-द्वारों का निरोध कर देने पर, इन्द्रियों का संयम होने पर, स्पृष्ट दुःख अपने आप विनष्ट हो जाता है।[2]

७२. दुःख (कर्म) (दुक्खं)

आगम साहित्य में दुःख का प्रयोग कर्म और दुःख—इन दो अर्थों में होता है। कर्म दुःख का हेतु है, इसलिए उसे भी दुःख कहा जाता है। चूर्णिकार ने यहां दुःख का अर्थ कर्म किया है।[3]

७३. स्पृष्ट होता है (पुट्ठं)

कर्म की तीन प्रारम्भिक अवस्थाएं ये हैं—

१. बद्ध—राग-द्वेष के परिणाम से कर्म-योग्य पुद्गलों का कर्मरूप में परिणत होना।
२. स्पृष्ट—कर्म-पुद्गलों का आत्म-प्रदेशों के साथ संश्लेष होना।
३. बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट—कर्म पुद्गलों का प्रगाढ़ बंध होना।[4]

चूर्णिकार ने कर्म की चार अवस्थाएं निर्दिष्ट की हैं—

१. बद्ध, २. स्पृष्ट, ३. निधत्त, ४. निकाचित।[5]

श्लोक ५६ :

७४. स्त्रियों के प्रति (विण्णवणा)

स्त्रियां रति—काम का विज्ञापन करती हैं अथवा मोहातुर पुरुषों के द्वारा स्त्रियों के समक्ष रति—काम का विज्ञापन किया जाता है, इसलिए 'विज्ञापना' शब्द का प्रयोग स्त्री के अर्थ में किया गया है।[6]

७५. अनासक्त हैं (अजोसिया)

चूर्णिकार ने 'जुषी प्रीति-सेवनयोः' इस धातु से इसको निष्पन्न कर इसका अर्थ—आदर करते हुए—किया है।[7] इन्द्रियों के पांचों विषय स्वाधीन होते हैं। चूर्णिकार ने एक सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है—

पुप्फ-फलाणं च रसं सुराए मंसस्स महिलियाणं च।
जाणंता जे विरता ते दुक्करकारए वंदे॥

पुष्प, फल, मदिरा, मांस और स्त्री के रस को जानते हुए जो उनसे विरत होते हैं वे दुष्कर तप करने वाले हैं। उनको मैं

---

१. पण्णवणा २३।३।
२. चूर्णि, पृष्ठ ६९ : तं पंचभालिविहाडिततडागदृष्टान्तेन निरुद्धेसु व नालिकामुहेसु वाताऽऽतवेणावि सुस्सति, ओलित्तभावं सिग्घतरं सुस्सति. एवं संयमेन निरुद्धाश्रवस्य पूर्वोपचितं कर्म क्षीयते।
३. वही, पत्र ६९ : दुक्खमिति कम्मं।
४. प्रज्ञापना २३।१९, वृत्ति, पत्र ४५६।
५. चूर्णि, पृ० ६९ : पुट्ठं णाम बद्ध-पुट्ठ-निधत्त-निकाइतं।
६.(क) चूर्णि, पृष्ठ ७० : विज्ञापयन्ति रतिकामाः विज्ञाप्यन्ते वा मोहातुरैर्विज्ञापनाः स्त्रियः।
(ख) वृत्ति, पत्र ७२ : कामार्थिभिर्विज्ञाप्यन्ते यास्तदर्थिन्यो वा कामिनं विज्ञापयन्ति ता विज्ञापनाः स्त्रियः।
७. चूर्णि पृ० ७० : 'जुषी प्रीति-सेवनयोः' अज्झोसिता नाम अत्यादृतमनसा इत्यर्थः।

वंदन करता हूं।[1]

वृत्तिकार ने 'अजुष्टा' संस्कृत रूप देकर इसका अर्थ असेवित किया है।[2]

७६. ऊर्ध्व (मोक्ष) की ओर (उड्ढं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—मोक्ष और मोक्षसुख।[3] वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल मोक्ष किया है।[4] उत्तराध्ययन सूत्र (६/१३) में 'बहियाउड्ढमादाय' में भी 'उड्ढ' शब्द का यही अर्थ है। ऊर्ध्व का शाब्दिक अर्थ है—ऊपर। जैन मत के अनुसार लोक के अत्यन्त ऊर्ध्वभाग में मुक्तिशिला है। वही मोक्ष है, इसीलिए ऊर्ध्व शब्द मोक्ष का वाचक बन गया। अन्य दर्शनों में जो 'परं' शब्द का अर्थ है, वही अर्थ जैनदर्शन में 'ऊर्ध्व' का है।

श्लोक ५७ :

७७. श्रेष्ठ (रत्न, आभूषण आदि) को (अग्गं)

इसका अर्थ है उत्तम। जो वर्ण, प्रभा और प्रभाव से उत्तम होता है उसे अग्ग (अग्र) या श्रेष्ठ कहा जाता है। वह वस्त्र, आभूषण, हाथी, घोड़ा, स्त्री या पुरुष—कुछ भी हो सकता है। जिस क्षेत्र में जो द्रव्य प्रधान होता है, वह श्रेष्ठ कहलाता है।[5]

७८. श्लोक ५७ :

प्रस्तुत श्लोक में महाव्रतों के साथ रात्रीभोजन-विरमण का भी उल्लेख है। स्थानांग (५/१) और उत्तराध्ययन (२३/२३) के अनुसार भगवान् महावीर ने पांच महाव्रतों का प्रतिपादन किया था। वहां रात्रीभोजन-विरमण का उल्लेख नहीं है। स्थानांग (६।६२) में रात्रीभोजन विरमण का उल्लेख भी नहीं मिलता। प्रस्तुत श्लोक से ज्ञात होता है कि रात्रीभोजन-विरमण की व्यवस्था भी पांच महाव्रतों की व्यवस्था के साथ जुड़ी हुई है। छठे अध्ययन के अठाइसवें श्लोक से भी यह तथ्य पुष्ट होता है। वहां बताया गया कि भगवान् महावीर ने स्त्री और रात्रीभोजन का वर्जन किया—'से वारिय इत्थी सराइभत्ते'।

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में चूर्णिकार ने पूर्व दिशा निवासी और पश्चिम दिशा निवासी आचार्यों के अर्थभेद का उल्लेख किया है। जो अनुवाद किया गया है वह पूर्व दिशावासी आचार्य की परम्परा के अनुसार है। पश्चिम दिशावासी आचार्यों के अनुसार प्रस्तुत श्लोक का अर्थ इस प्रकार होता है—व्यापारियों द्वारा लाये गए रत्नों को राजा या उनके समकक्ष लोग ही धारण करते हैं। किन्तु इस संसार में रत्नों के व्यापारी और खरीददार कितने हैं ? इसी प्रकार परम महाव्रत (रत्नों की भांति) अत्यन्त दुर्लभ हैं। उनके उपदेष्टा और धारण करने वाले कितने लोग हैं ? बहुत कम हैं।[6]

भगवान् महावीर के समय में जैन मुनियों का विहार-क्षेत्र प्रायः पूर्व में ही था। वीर निर्वाण की दूसरी शताब्दी में आचार्य भद्रबाहु के समय द्वादशवर्षीय दुष्काल पड़ा। उस समय साधुओं के कुछ गण दक्षिण भारत में चले गए और कुछ गण मालव प्रदेश में। उज्जैनी जैन धर्म का मुख्य केन्द्र बन गया। वीर निर्वाण की तीसरी शताब्दी में महाराज संप्रति ने सौराष्ट्र, महाराष्ट्र आदि पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। उनकी प्रेरणा से उन प्रदेशों में जैन मुनि विहार करने लगे और वे प्रदेश जैन धर्म के मुख्य केन्द्र बन गए। वहां विहार करने वाले आचार्य ही पश्चिम दिशा निवासी हैं।

---

१. चूर्णि, पृ० ७० : ।

२. वृत्ति, पत्र ७२ : अजुष्टाः—असेविताः।

३. चूर्णि, पृ० ७० : ऊर्ध्वमिति मोक्षः तत्सुखं वा।

४. वृत्ति, पत्र ७२ : ऊर्ध्वमिति मोक्षम्।

५. (क) चूर्णि, पृष्ठ ७० : यदुत्तमं किञ्चित् तदग्गं, तद्यथा वर्णतः प्रकाशत प्रभावतश्चेत्यादि, तच्च रत्नादि, तत्तु द्रव्यं वणिग्भिरानीतं राजानो धारयन्ति तत्प्रतिमा वा तत्तु वस्त्रमाभरणादि वा, तथैव चाश्वो हस्ती स्त्री पुरुषो वा, यो वा यस्मिन् क्षेत्रे प्रधान स तत्र तत् प्रधानं द्रव्यं धारयति।

(ख) वृत्ति, पत्र ७२।

६. चूर्णि, पृष्ठ ७० : पूर्वदिग्निवासिनामाचार्याणामर्थः। प्रतीच्चापरदिग्निवासिनस्त्वेवं कथयन्ति······धारयन्ति शतसाहस्राण्यर्घनयाणि वा राजान एव धारयन्ति, तत्तुल्या तत्प्रतिमा वा। कियन्तो लोके हस्तिवणिजः क्रायिका वा ? एवं परमाणि महव्वताणि रत्नभूतान्यतिदुर्लभराणि, तेषामल्पा एवोपदेष्टारो धारयितराश्च।

श्लोक ५८ :

७९. सुख के पीछे दौड़ने वाले (सायाणुगा)

जो ऐहिक और पारलौकिक अपायों से निरपेक्ष होकर केवल सुख के पीछे दौड़ते हैं, वे 'सातानुग' कहलाते हैं।[1]

८०. आसक्त हैं (अज्झोववण्णा)

जो ऋद्धि, रस और साता—इन तीन गौरवों में अत्यन्त आसक्त होते हैं वे अभ्युपपन्न कहलाते हैं।[2]

८१. कृपण के समान ढीठ हैं (किवणेण समं पगब्भिया)

चूर्णिकार ने 'किमणेण' पाठ मानकर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है[3]—

कोई व्यक्ति अतिचारों का सेवन करता है। दूसरा उसे अतिचार-निवृत्ति की प्रेरणा देता है तब वह कहता है—इस छोटे से दोष-सेवन से क्या होना-जाना है ? वह प्रत्येक अतिचार की उपेक्षा करता रहता है। धीरे-धीरे उसकी पापाचरण की वृत्ति बढ़ती जाती है और फिर वह बड़ा पाप करने में भी नहीं हिचकता। एक संस्कृत कवि ने कहा है—'करोत्यादौ तावत् सघृणहृदयः किंचिदशुभं।'[4] चूर्णिकार ने इसको और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है[5]—एक व्यक्ति सफेद कपड़े पहने हुए था। उस पर कुछ कीचड़ लग गया। व्यक्ति ने सोचा—इस छोटे से धब्बे से क्या अन्तर आएगा ? उसने उसकी उपेक्षा कर दी। उसे उसी समय धोकर साफ नहीं किया। फिर कभी उसी वस्त्र पर स्याही, श्लेष्म, चिकनाई आदि लग गई। उसने उसकी भी उपेक्षा कर दी। धीरे-धीरे वस्त्र अत्यन्त मलिन हो गया।

कमरे के फर्श पर किसी बच्चे ने मल-मूल विसर्जित किए। उसे वहीं घिस डाला। इसी प्रकार श्लेष्म, नाक का मैल आदि भी वहीं डालते गए और घिसते गए। धीरे-धीरे गंदगी बढ़ती गई। एक दिन ऐसा आया कि सारा कमरा गन्दगीमय हो गया और उससे अत्यन्त दुर्गन्ध फूटने लगी।

इसी प्रकार जो मुनि अपने चारित्र पटल पर लगने वाले छोटे से धब्बे की उपेक्षा करता है वह अपने संपूर्ण चारित्र को गंवा देता है। चूर्णिकार ने दो दृष्टान्तों की सूचना दी है—(१) भद्रक महिष और (२) आम्रभक्षी राजा (उत्तराध्ययन ७/११)।[5]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ७० : सायं अणुगच्छंतीति सायाणुगा इहलोगपरलोगनिरवेक्खा।
(ख) वृत्ति, पत्र ७२ : सातं—सुखमनुगच्छन्तीति सातानुगाः—सुखशीला ऐहिकामुष्मिकापायभीरवः।

२. (क) चूर्णि, पृ० ७० : एवं इड्ढि-रस-सायागारवेसु अज्झोववण्णा अधिकं उपपण्णा अज्झोववण्णा।
(ख) वृत्ति, पत्र ७२ : समृद्धिरससातागौरवेषु अभ्युपपन्ना गृद्धाः।

३. चूर्णि, पृ० ७० : ते वि अइयारेसु पसज्जमाणा यदा परैश्चोद्यन्ते तदा ब्रुवते—किमनेन स्वल्पेन दोषेण भविष्यति ? वितधं वा दुप्पडिलेहितं—दुब्भासित—अणाउत्तगमणादि ? एवं थोवथोवं पावमायरंता पदे पदे विसीदमाणा सुबहून्यपि पापान्याचरन्ति।

४. चूर्णि, पृ० ७० : चूर्णिकार ने श्लोक का यह एक चरण मात्र दिया है। यह पूरा श्लोक इस प्रकार उपलब्ध होता है—
'करोत्यादौ किञ्चत् सघृणहृदयस्तावदशुभं,
द्वितीयं सापेक्षो विमृशति च कार्यं प्रकुरुते।
तृतीयं निःशंको विगतघृणमन्यच्च कुरुते,
ततः पापाभ्यासात् सततमशुभेषु प्ररमते॥
(बृहत्कल्पभाष्य गाथा ९९४, वृत्ति पृ० ३१३ में उद्धृत)

५. चूर्णि, पृ० ७१ : दिट्ठंतो जधा—एगस्स सुद्ध वत्थे पंको लग्गो। सो चिंतेति—किमेत्तियं करिस्सति ? त्ति तत्थेव हसितं, एवं वितियं मसि-खेल-सिंघाणग-सिणेहादीहि सव्वं मइलीभूतं।
अथवा मणिकोट्टिमे चेडरूवेण सण्णा वोसिरिता, सा तत्थेव घट्टा। एवं खेल-सिंघाणादीणि वि 'किमेताणि करिस्संति ?' त्ति तत्थेव तत्थेव घट्टाणि। जाव तं मणिकोट्टिमं सव्वं लेवखादीहि-श्लेष्मादिभिः मलिनीभूतं दुग्गंधिगं च जातं। भद्दगमहिसो वि एत्थ दिट्ठंतो भाणितव्वो। अंबभक्खी राया दिट्ठंतो य।
एवं पदे पदे विसीदंतो किमणेण दुब्भासितेण वा स्तोकत्वादस्य चरित्तपडस्स मलिणीभविस्सति ? जाव सव्वो चरित्तपडो मइलियो अचिरेण कालेण, चरित्तमणिकोट्टिमं वा।

श्लोक ५९ :

८२. गाडीवान् द्वारा (वाहेण)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ व्याध और वैकल्पिक अर्थ गाडीवान् किया है।[1]

श्लोक ६० :

८३. संस्तव (कामभोग का परिचय) (संथवं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—पूर्वापर संबंध[2] और वृत्तिकार ने काम संबंधी परिचय किया है।[3]

८४. (सोयई, थणई, परिदेवई)

चूर्णिकार ने 'सोयई' का अर्थ मनस्ताप, 'थणई' का अर्थ वाचिक क्रन्दन और 'परिदेवई' के स्थान पर 'परितप्पई' पाठ मानकर उसका अर्थ आन्तरिक और बाह्य शारीरिक दुःख का वेदन करना किया है।[4]

वृत्तिकार ने शोचति का अर्थ—शोक करना, स्तनति का अर्थ सशब्द निःश्वास लेना और 'परिदेवते' का अर्थ बहुत विलाप या क्रन्दन करना किया है।[5]

श्लोक ६२ :

८५. यह जीवन अल्पकालिकवास है (इत्तरवास)

सौ वर्ष की परम आयुष्य वाला मनुष्य अल्पवय में भी मर जाता है, इसलिए इस जीवन को 'इत्वरवास'—अल्पकालिक कहा गया है।[6]

मनुष्य का परम आयुष्य सौ वर्ष का माना जाता है। यह भी हजारों वर्ष की आयुष्य की अपेक्षा से कतिपय निमेषमात्र का ही होता है। अतः इसे अल्पकालिक कहा गया है।[7]

श्लोक ६३ :

८६. आत्मघाती (आयदंड)

दंड का अर्थ है—हिंसा। दूसरे प्राणियों की हिंसा करने वाला अपनी हिंसा भी करता है। दूसरों को दंडित करने वाला

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ७१ : वाहो णाम लुद्धगो.........वाहतीति वाहः शाकटिकोऽन्यो वा।
   (ख) वृत्ति, पत्र ७२ : व्याधेन लुब्धकेन.........यदिवा—वाहयतीति वाहः—शाकटिकस्तेन।

२. चूर्णि, पृ० ७१ : संथवो णाम पुव्वा-ऽवरसंबंधो।

३. वृत्ति, पत्र ७३ : परिचयं कामसम्बन्धम्।

४. चूर्णि, पृ० ७२ : शोचनं मानसस्तापः, निस्तननं तु वाचिकं किञ्चित् कायिकं च। सर्वतस्तप्यते परितप्यते बहिरन्तश्च काय-वाङ्-मनोभिर्वा।

५. वृत्ति, पत्र ७३ : शोचति, स च परमाधार्मिकैः कदर्थ्यमानस्तिर्यक्षु वा क्षुधादिवेदनाग्रस्तोऽत्यर्थं स्तनति सशब्दं निःश्वसिति, तथा परिदेवते विलपत्याक्रन्दति सुबह्विति—
   हा मातर्म्रियत इति त्राता नैवास्ति साम्प्रतं कश्चित्।
   किं शरणं मे स्यादिह दुष्कृतचरितस्य पापस्य? ॥

६. चूर्णि, पृ० ७२ : इत्तरमिति अल्पकालमित्यर्थः।

७. वृत्ति, पत्र ७४ : साम्प्रतं सुबह्वप्यायुर्वर्षशतं तच्च तस्य तदन्ते त्रुट्यति, तच्च सागरोपमापेक्षया कतिपयनिमेषप्रायत्वात् इत्वरवास-कल्पं वर्तते—स्तोकनिवासकल्पम्।

अपने आपको भी दंडित करता है, इसलिए हिंसक आत्मदंड कहलाता है, हिंसक का न इहलोक होता है और न परलोक होता है—न वर्तमान का जीवन अच्छा होता है और न भविष्य का जीवन अच्छा होता है। इस दृष्टि से भी उसे आत्मदंड कहा गया है।[1]

८७. विजन में लूटने वाले (एगंतलूसगा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—एकान्त हिंसक किया है।[2] वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—१. एकान्ततः प्राणियों की हिंसा करने वाले, २. सद् अनुष्ठान के ध्वंसक।[3]

चूर्णिकार और टीकाकार के अर्थ स्पष्ट भावना को प्रस्तुत नहीं करते। इसका अर्थ—'विजन में लूटने वाले' उपयुक्त लगता है। हिंसा की बात 'आरंभनिस्सिया' में आ चुकी है। अतः यहां हिंसा का अर्थ समीचीन नहीं लगता। 'लूषक' के दो अर्थ हैं—अवयवों का छेदन करने वाला और लूट-खसोट करने वाला।[4]

८८. नरक में (पावलोगयं)

चूर्णि और वृत्ति में पापलोक का अर्थ नरक किया है।[5]

८९. आसुरी दिशा में (आसुरियं)

असुर शब्द का संबंध क्रोध और रौद्र कर्म से है। जिसके क्रोध की परंपरा लम्बी होती है, उसकी भावना को आसुरिका भावना कहा जाता है।[6] देवों के चार निकाय हैं—भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष्क और वैमानिक। इनमें भवनपति और व्यंतर—इन दोनों को असुर कहा गया है। असुर भवनपति देवों की एक जाति है, किन्तु सुर और असुर के विभाग में असुर का अर्थ व्यापक हो जाता है। इसी आधार पर अभयदेवसूरि ने असुर का अर्थ भवनपति और व्यंतर दोनों किया है।[7] भवनपति और व्यंतर देवों से संबंधित दिशा को भी आसुरी या आसुरिका दिशा कहा जाता है। यहां आसुरिका दिशा का तात्पर्य नारकीय दिशा है। क्रोधी और रौद्रकर्म-कारी मनुष्य असुर होते हैं और वे अपनी आसुरी वृत्ति के कारण उस दिशा में जाते हैं जहां क्रोध और रौद्र कर्म के परिणाम भुगतने की परिस्थितियां होती हैं। उत्तराध्ययनसूत्र (७/५-१०) में हिंसा करने वाले, झूठ बोलने वाले, लूटपाट करने वाले, मांस खाने वाले आदि-आदि क्रूर कर्म करने वाले को आसुरी दिशा में जाने वाला बतलाया है।

चूर्णिकार ने आसुरिका के दो प्रकार किए हैं[8]—

१. द्रव्यतः असूर्या—जहां सूर्य न हो—नरक आदि।

२. भावतः असूर्या—जिन जीवों के चक्षु न हों—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीव।

वृत्तिकार के अनुसार अज्ञान-तप आदि के कारण उस प्रकार के देवत्व की प्राप्ति होती है तो भी वे आसुरी दिशा की ओर ही जाते हैं।[9]

इसका तात्पर्य है कि वैसे लोग देव बनकर भी दूसरे देवों के कर्मकर और किल्विषिक देव—अधमदेव होते हैं।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ७२ : परदण्डप्रवृत्ता आत्मानमपि दण्डयन्ति, अथवा ण तेसिं इमो लोगो न परलोगो तेनाऽऽत्मानं दण्डयन्ति।

२. चूर्णि, पृष्ठ ७२ : एगंतलूसगा एगंतहिंसगा इत्यर्थः।

३ वृत्ति, पत्र ७४ : एकान्तेनैव जन्तूनां लूषकाः—हिंसकाः सदनुष्ठानस्य वा ध्वंसकाः।

४. आप्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी : To hurt, to plunder.

५. (क) चूर्णि, पृ० ७२ : पापानि पापो वा लोकः नरकः।
   (ख) वृत्ति, पत्र ७४ : पापं लोकं पापकर्मकारिणां यो लोको नरकादिः।

६ उत्तरज्झयणाणि ३६/२६६।

७. स्थानांगवृत्ति, पत्र २० : असुराः भवनपतिव्यन्तराः।

८. चूर्णि, पृष्ठ ७२, ७३ : आसुरिका दव्वे भावे य। आसूरियाणि न तत्थ सूरो विद्यते, अथवा एगिंदियाणं सूरो णत्थि जाव तेइंदिया असुरा वा भवंति।

९. वृत्ति, पत्र ७४ : तथा बालतपश्चरणादिना यद्यपि तथाविधदेवत्वावाप्तिस्तथाऽप्यसुराणामियमासुरी तां दिशं यन्ति।

श्लोक ६५ :

९०. श्लोक ६४-६५ :

इन दो श्लोकों में सूत्रकार ने एक चिरंतन प्रश्न की चर्चा की है। मनुष्य दो प्रकार की दृष्टि वाले होते हैं। कुछ मनुष्य इहलोक के साथ-साथ परलोक को भी स्वीकार करते हैं—वर्तमान और भावी—दोनों जन्मों के प्रति आस्थावान् होते हैं। कुछ मनुष्य अपने अस्तित्व को वर्तमान जीवन तक ही सीमित मानते हैं। जिनमें पारलौकिक जीवन की आस्था होती है वे वर्तमान जीवन के प्रति जागरूक होते हैं। वे जीवन की नश्वरता को समझते हैं और वर्तमान जीवन में किए गए असद् आचरणों का परिणाम अगले जन्म में भी भुगतना होता है, इसलिए हिंसा आदि के आचरण में ढीठ नहीं बनते। आगामी जीवन में आस्था न रखने वाले निश्चित भाव से हिंसा आदि के आचरणों में प्रवृत्त हो सकते हैं। इसलिए उनमें ढीठता आ जाती है। उनका स्पष्ट तर्क होता है—हमें वर्तमान से मतलब है, परलोक की कोई चिंता नहीं है। किसने देखा है परलोक !

परलोक साक्षात् दृश्यमान नहीं है। फिर उसे कैसे माना जाए ? यह प्रश्नचिन्ह परलोक में आस्था रखने वालों के सामने भी है। इस प्रश्न का उत्तर सूत्रकार ने ६५ वें श्लोक में दिया है। कोई अंधा आदमी सूर्य के प्रकाश को नहीं देख पाता। इसका अर्थ यह नहीं होता कि प्रकाश नहीं है। इसी प्रकार मोह से अंध मनुष्य आत्मा के पारलौकिक अस्तित्व को नहीं देख पाता, इसका अर्थ यह नहीं होता है कि वह नहीं है। सूत्रकार अपने अनुभव के आधार पर कहते हैं कि जैसे अंधा मनुष्य प्रकाश के अस्तित्व को स्वीकार करता है, वैसे ही अचाक्षुष पदार्थों को साक्षात् देखने वाले अन्तर्दर्शी और अन्तर्ज्ञानी पुरुषों ने जो कहा है, उस पर तुम भरोसा करो।[1]

श्लोक ६६ :

९१. सहिष्णु (सहिए)

चूर्णिकार ने 'सहित' का अर्थ—ज्ञान आदि से युक्त किया है।[2] वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—हित सहित तथा ज्ञान आदि से युक्त।[3] ज्ञान आदि से युक्त के लिए केवल 'सहित' शब्द का प्रयोग ठीक नहीं लगता। केवल 'सहित' शब्द का प्रयोग किए गए अर्थों से भिन्न अर्थ की सूचना देता है। सहित शब्द का एक अर्थ है—सहनशील, सहिष्णु।[4] यह अर्थ समुचित प्रतीत होता है।

देखें—२।५१, ५२ के टिप्पण।

श्लोक ६७ :

९२. श्लोक ६७ :

धर्म की आराधना के लिए गृहवास और गृहत्याग—दोनों अवस्थाएं मान्य हैं। गृहवास में रहने वाला व्यक्ति भी धर्म का क्रमिक विकास कर सकता है। सबसे पहले धर्म का श्रवण, फिर ज्ञान, विज्ञान और संयमासंयम (श्रावक के बारह व्रत) को स्वीकार किया जाता है। यह गृहस्थ के लिए धर्म की आराधना का क्रम है। सामायिक व्रत के द्वारा सर्वत्र समता का अनुशीलन करने वाला गृहस्थ दिव्य उत्कर्ष को उपलब्ध होता है।

उत्तराध्ययन के ५।२३, २४ वें श्लोक में यह विषय कुछ विस्तार से चर्चित है। प्रस्तुत सूत्र में 'देवाणं गच्छे सलोगयं'—यह पद है। उत्तराध्ययन में 'गच्छे जक्ख सलोगयं'—यह पद मिलता है। प्राचीन काल में 'यक्ष' शब्द देव के अर्थ में प्रयुक्त होता था।

देखें—उत्तराध्ययन ५।२४ का टिप्पण।

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ७३।
   (ख) वृत्ति, पत्र ७४।

२. चूर्णि, पृ० ७३ : सहितो णाम ज्ञानादिभिः।

३. वृत्ति, पत्र ७५ : सह हितेन वर्तत इति सहितो ज्ञानादियुक्तो वा।

४. आप्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी : सहित—Borne, endured.

श्लोक ६८ :

९३. अनुशासन को (अणुसासणं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—श्रुतज्ञान अथवा श्रावक धर्म।[1] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—आज्ञा, आगम या संयम किया है।[2] अनुयोगद्वार सूत्र में शासन को आगम का पर्यायवाची बताया गया है।[3]

९४. मात्सर्य......... (मच्छरे.........)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—अभिमान पूर्वक किया जाने वाला रोष। इसकी उत्पत्ति के चार कारण हैं—(१) क्षेत्र (२) वस्तु (३) उपधि (४) शरीर। जो जाति, लाभ, तप, ज्ञान आदि से सम्पन्न है उसके प्रति भी मात्सर्य न रखे। यह अनुभव न करे कि यह इन गुणों से युक्त है, मैं नहीं हूं अथवा गुणों की समानता में भी मात्सर्य न करे।[4]

वृत्तिकार के अनुसार क्षेत्र, वस्तु, उपधि और शरीर के प्रति राग-द्वेष रखना मात्सर्य है। इनके प्रति निष्पिपासित होना अमात्सर्य है।[5]

९५. उंछ (माधुकरी) (उंछं)

चूर्णिकार ने इसके दो प्रकार किए हैं—

(१) द्रव्य उंछ—नीरस पदार्थ।

(२) भाव उंछ—अज्ञात चर्या। भिक्षु अपनी जाति, कुल वंश आदि के आधार पर भिक्षा प्राप्ति का प्रयत्न न करे। वह अज्ञात रूप से भिक्षा ले।[6]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—भिक्षा से प्राप्त वस्तु किया है।[7]

देखें—दसवेआलियं ८।२३ का टिप्पण।

९६. समाधिस्थ (जुत्ते)

इसका अर्थ है—समाधिस्थ। चूर्णिकार ने इसका अर्थ ज्ञान, दर्शन और चारित्र सहित अथवा तप, संयम में प्रवृत्त किया है।[8] वृत्ति में भी यही अर्थ है।[9] ज्ञान, दर्शन और चारित्र—यह समाधित्रिक है। इससे मनुष्य समाधिस्थ या समाहित होता है। गीता के अनुसार 'युक्त' चित्त की एक विशेष अवस्था का नाम है। जब एकाग्रताप्राप्तचित्त बाह्य चिंतन को छोड़कर केवल आत्मा में ही स्थित होता है, दृष्ट और अदृष्ट सभी कामभोगों के प्रति निस्पृह हो जाता है, तब वह 'युक्त' कहलाता है।[10]

---

१. चूर्णि, पृ० ७४ : अनुशास्यते येन तदनुशासनम्, श्रुतज्ञानमित्यर्थः। अथवा अनुशासनस्य श्रावकधर्मस्य।

२. वृत्ति, पत्र ७५ : शासनम्—आज्ञामागमं वा .... तदुक्ते संयमे वा।

३. अणुओगद्दाराइं, सूत्र ५१, गाथा १; बृहत्कल्पभाष्य गाथा १७४, पीठिका पृ० ५८ :

सुय-सुत्त-गंथ-सिद्धंत, सासणे आण-वयण-उवएसे।
पण्णवण-आगमे य, एगट्ठा पज्जवा सुत्ते॥

४. चूर्णि, पृ० ७४ : मत्सरो नाम अभिमानपुरस्सरो रोषः। स चतुर्द्धा भवति, तं जधा—खेत्तं पडुच्च, वत्थुं पडुच्च, उवधिं पडुच्च, सरीरं पडुच्च। एतेसु सव्वेसु उप्पत्तिकारणेसु विनीतमत्सरेण भवितव्वं। तथा जाति-लाभ-तपो-विज्ञानादिसम्पन्ने च परे न मत्सरः कार्यः—यथाऽवमेभिर्गुणैर्युक्तोऽहं नेति, तद्गुणसमाणे वा।

५. वृत्ति, पत्र ७५ : विणीयमच्छरे...........सर्वत्रापनीतो मत्सरो येन स तथा सोऽरक्तद्विष्टः क्षेत्रव (वा) स्तूपधिशरीरनिष्पिपासः।

६. चूर्णि, पृ० ७४ : दव्वुंछं उक्खलि-खलगादि, भावुंछं अज्ञातचर्या।

७. वृत्ति, पत्र ७४ : उंछंति भैक्ष्यम्।

८. चूर्णि पृ० ७४ : जुत्तो णाम णाणादीहिं तव-संजमेसु वा।

९. वृत्ति, पत्र ७६ : युक्तो ज्ञानादिभिः।

१०. गीता ६।१८ : यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

९७. मोक्षार्थी (आयतट्ठिए)

दशवैकालिक सूत्र में दो स्थानों (५।२।३४, ६।४।सू ४) में 'आययट्ठिए' पाठ का प्रयोग मिलता है। चूर्णिकार अगस्त्यसिंह स्थविर ने इसका अर्थ—भविष्य में हित चाहने वाला किया है। उनके अनुसार आयति+अर्थिक शब्द बनता है।[1] चूर्णिकार जिनदास ने आयत अर्थी शब्द मानकर 'आयत' का अर्थ मोक्ष किया है। आयतार्थी—मोक्ष चाहने वाला।[2]

प्रस्तुत सूत्र की चूर्णि में आयत का अर्थ—दृढ़ ग्रहण किया है।[3] इसकी व्याख्या आयति+अर्थिक और आयत+अर्थिक—दोनों के आधार पर की जा सकती है। आयति-अर्थिक—भविष्य का हित चाहने वाला और आयत-अर्थिक—दूर का हित चाहने वाला।

श्लोक ७० :

९८. धन (वित्त)

वित्त का अर्थ है धन, धान्य और हिरण्य—सोना चांदी आदि।[4]

श्लोक ७१ :

९९. अभ्यागमिक ···औपक्रमिक (अब्भागमियम्मि ······ओवक्कमिए)

चूर्णिकार ने अभ्यागमिक का मुख्य अर्थ धातुक्षोभ से होने वाला व्याधि-विकार और वैकल्पिक अर्थ—आगन्तुक रोग (चोट आदि) किया है।[5]

वृत्तिकार के अनुसार पूर्वार्जित असातवेदनीय कर्म के उदय से होने वाला दुःख अभ्यागमिक कहलाता है।[6]

चूर्णिकार और वृत्तिकार के अनुसार औपक्रमिक का अर्थ अनानुपूर्वी से होने वाला कर्मोदय है—जो कर्मोदय विपक्व नहीं है किन्तु प्रयत्न के द्वारा उसका विपाक किया गया है।[7]

प्रज्ञापना में आभ्युपगमिकी और औपक्रमिकी—दो प्रकार की वेदना बतलाई गई है। मलयगिरी ने आभ्युपगमिकी वेदना का अर्थ—अपनी इच्छा से स्वीकृत पीड़ा किया है। सूर्य का आतप सहन करने से जो शारीरिक पीड़ा होती है वह आभ्युपगमिकी वेदना है। स्वतः या प्रयत्न के द्वारा उदयप्राप्त वेदनीय कर्म के विपाक से होने वाला कष्ट का अनुभव औपक्रमिकी वेदना है।[8]

श्लोक ७२ :

१००. प्राणी अपने-अपने कर्मों से विभक्त हैं (सयकम्मकप्पिया)

जैन दर्शन में ईश्वरकर्तृत्व मान्य नहीं है। ऐसी कोई परम सत्ता नहीं है जो हमारे भाग्य का नियमन करती हो। प्रत्येक

---

१. दशवैकालिक, ५।२।३४ अगस्त्यचूर्णि पृ० १३३ : आयतट्ठी आगामिणि काले हितमायतीहितं, आततिहितेण अत्थी आयत्थाभिलासी।

२. दशवैकालिक, ५।२।३४ जिनदासचूर्णि पृ० २०२ : आयतो—मोक्खो भण्णइ, तं आययं अत्थयतीति आययट्ठी।

३. चूर्णि, पृ० ७४ : आयतार्थिकत्वम्, अत्थो णाम णाणादि, आयतो णाम दृढग्राहः, आयतविहारकमित्यर्थः।

४. (क) चूर्णि, पृ० ७४ : वित्तं हिरण्णादि।
   (ख) वृत्ति पत्र ७६ : वित्तं धनधान्यहिरण्यादि।

५. चूर्णि, पृ० ७५ : अभिमुखं आगमिकं अब्भागमिकं व्याधिविकारः, स तु धातुक्षोभांदागन्तुको वा।

६. वृत्ति, पत्र ७६ : पूर्वोपात्तासातवेदनीयोदयेनाभ्यागते दुःखे।

७. (क) चूर्णि, पृ० ७५ : उपक्रमाज्जातमिति औपक्रमिकम्, अनानुपूर्व्या इत्यर्थः, निरुपक्रमायुःकरणम्।
   (ख) वृत्ति, पत्र ७६ : उपक्रमकारणैरुपक्रान्ते स्वायुषि स्थितिक्षयेण वा।

८. प्रज्ञापना पद ३५, वृत्ति पत्र ५५७ : तत्राभ्युपगमिकी नाम या स्वयमभ्युपगम्यते, तथा साधुभिः केशोल्लुञ्चनातापनादिभिः शरीर-पीडा, अभ्युपगमेन—स्वयमङ्गीकारेण निर्वृत्ता आभ्युपगमिकीति व्युत्पत्तेः, उपक्रमणमुपक्रमः—स्वयमेव समीपे भवनमुदीरणाकरणेन वा समीपानयनं तेन निर्वृत्ता औपक्रमिकी, स्वयमुदीर्णस्य उदीरणाकरणेन वा उदयमुपनीतस्य वेदनीयकर्मणो विपाकानुभवनेन निर्वृत्ता इत्यर्थः।

मनुष्य अपने कृतकर्म के अनुसार नाना अवस्थाओं को प्राप्त होता है। पृथ्वी, पानी आदि जीवों का विभाग भी अपने किए हुए कर्मों के कारण ही है। सत्तर से बहत्तरवें श्लोक तक 'अशरण भावना' प्रतिपादित है। ईश्वरवादी किसी को शरण मान सकता है किन्तु कर्मवादी किसी को शरण नहीं मानता। प्रत्येक कार्य और उसके परिणामों के प्रति अपने दायित्व का अनुभव करता है। उस दायित्व के अनुभव का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र है—अशरण अनुप्रेक्षा। इसका प्रतिपादन 'आयारो' में भी हुआ है। देखें आयारो २।४-२६।

१०१. (तपश्चरण) में आलसी (सढ)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[1]—

१. तपश्चरण में उद्यम नहीं करने वाला।

२. तपस्या में माया करने वाला।

उन्होंने तात्पर्यार्थ में पापकर्मों से ओतप्रोत को शठ माना है।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ मायावी किया है।[2]

१०२. जन्म, जरा और मरण से (जाइजरामरणेहि)

चूर्णिकार ने 'जाइ' के स्थान पर 'वाहि' (व्याधि) पाठ मानकर व्याख्या की है। उन्होंने सूचित किया है कि नरक, तिर्यञ्च और मनुष्य—इन तीन गतियों के जीव व्याधि का अनुभव करते हैं। जरा—बुढ़ापा केवल तिर्यञ्च और मनुष्य गति में ही होता है और मरण—चारों गतियों में होता है।[3]

श्लोक ७३ :

१०३. क्षण को (खणं)

क्षण का अर्थ होता है—उपलब्धि का क्षण। चूर्णिकार ने क्षण का मूल्यांकन करते हुए चार प्रकार के क्षणों की चर्चा की है—सम्यक्त्व सामायिक क्षण, श्रुत सामायिक क्षण, गृहस्थ सामायिक क्षण और मुनि सामायिक क्षण।[4] इनमें सम्यक्त्व सामायिक और श्रुत सामायिक के क्षण दुर्लभ हैं। चारित्र सामायिक (गृहस्थ सामायिक और मुनि सामायिक) के क्षण दुर्लभतर हैं। इसीलिए सूत्रकार ने कहा है—'वर्तमान में उपलब्ध मुनि-सामायिक के क्षण का मूल्यांकन करो। इस बोधि—चारित्र के क्षण का मिलना सुलभ नहीं है।

वृत्तिकार ने क्षण का अर्थ अवसर किया है। उन्होंने क्षण के चार प्रकारों की चर्चा की है—द्रव्यक्षण, क्षेत्रक्षण, कालक्षण और भावक्षण।[5]

१०४. बोधि (बोधि)

बोधि तीन प्रकार की होती है—ज्ञान बोधि, दर्शन बोधि और चारित्र बोधि।[6] वृत्तिकार के अनुसार बोधि का अर्थ है—सम्यक् दर्शन की प्राप्ति।[7] जो धर्म का आचरण नहीं करते उन्हें बोधि प्राप्त नहीं होती। किन्तु यहां बोधि चारित्र के अर्थ में विवक्षित है। चूर्णिकार ने चारित्रबोधि की दुर्लभता प्रतिपादित की है।[8] आवश्यक निर्युक्ति में कहा है—जो बोधि को प्राप्त कर उसके अनुसार

---

१. चूर्णि, पृ० ७५ : सढा नाम तपश्चरणे निरुद्यमाः शठीभूता वा पापकर्मभिः ओतप्रोता इत्यर्थः।

२. वृत्ति, पत्र ७६ : शठकर्मकारित्वात् शठाः।

३. चूर्णि, पृ० ७५ : वाधि-जरा-मरणेहऽभिद्दुता, नारक-तिर्यग् मनुष्येषु व्याधिः, जरा—तिर्यग्-मनुष्येषु, मरणं चतुर्ष्वपि गतिषु।

४. चूर्णि, पृ० ७५ : क्षीयत इति क्षण :, स तु सम्मत्तसामाइयादि चतुर्विधस्यापि एक्केक्कस्स चतुर्विधो खणो भवति, तं जधा—खेत्तखणो कालखणो कम्मखणो रिक्ख (वक) खणो।

५. वृत्ति, पत्र ७७ : द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणं क्षणम् अवसरम्।

६. ठाणं ३/१७६ : तिविहा बोधी पण्णत्ता, तं जहा—णाणबोधी, दंसणबोधी, चरित्तबोधी।

७. वृत्ति, पत्र ७७ : बोधिं च सम्यग्दर्शनावाप्तिलक्षणाम्।

८. चूर्णि, पृ० ७५।

आचरण नहीं करता और अनागत बोधि की आकांक्षा करता है, उसे भला किस मूल्य पर बोधि प्राप्त होगी ? किसी मूल्य पर नहीं।[1] इसलिए साधक को प्राप्त बोधि का उपयोग करना चाहिए। जो व्यक्ति श्रामण्य से च्युत हो गया है, उसे बोधि की प्राप्ति सुदुर्लभ है। वह अर्द्धपुद्गल परावर्त तक (उत्कृष्ट रूप से) संसार में परिभ्रमण करता रहता है।[2]

१०५. काश्यप (भगवान् ऋषभ) के द्वारा (कासवस्स)

चूर्णिकार[3] और वृत्तिकार[4]—दोनों ने काश्यप शब्द से भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर का ग्रहण किया है। भगवान् ऋषभ और भगवान् महावीर—दोनों कश्यपगोत्रीय हैं। भगवान् ऋषभ आद्य-काश्यप और भगवान् महावीर अन्त्य-काश्यप कहलाते हैं।

किन्तु संदर्भ की दृष्टि से यहां काश्यप का अर्थ केवल भगवान् ऋषभ ही होना चाहिए, क्योंकि अगला शब्द 'अणुधम्मचारिणो' यही द्योतित करता है।

देखें—२/४७ में 'कासवस्स' का टिप्पण।

श्लोक ७३-७४ :

१०६. श्लोक ७३-७४ :

भगवान् ऋषभ अष्टापद (हिमालय की एक शाखा) पर्वत पर विहार कर रहे थे। वह उनकी तपोभूमि थी। वहां ऋषभ के अठानवें पुत्र आए। भगवान् ने उन्हें संबोधि का उपदेश दिया[5] और अन्त में कहा—वर्तमान क्षण ही संबोधि को प्राप्त करने का क्षण है। भगवान् का उपदेश सुन उनके सभी पुत्र संबुद्ध हो गए।

सूत्रकार का मत है कि भगवान् ऋषभ ने जिस संबोधि का प्रतिपादन किया, सभी तीर्थंकर उसी संबोधि का प्रतिपादन करते हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि संबोधि एक ही है।[6] वस्तुतः सत्य एक ही है, वह दो हो नहीं सकता। प्रतिपादन की पद्धति और संदर्भ देश-काल के अनुसार बदल जाते हैं, किन्तु सत्य नहीं बदलता। प्रस्तुत आगम के एक श्लोक में इसी सत्य का प्रतिपादन हुआ है—अतीत में जो बुद्ध (बोधिप्राप्त) हुए हैं और जो होंगे उन सबका आधार है शांति। उन सबने शांति को आधार मानकर धर्म का प्रतिपादन किया।[7]

आचारांग के अहिंसा-सूत्र से भी यह मत समर्थित होता है—'जो अर्हत् भगवान् अतीत में हुए हैं, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे—वे सब ऐसा आख्यान करते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा प्रज्ञापना करते हैं और ऐसा प्ररूपण करते हैं—किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना चाहिए, उन पर शासन नहीं करना चाहिए, उन्हें दास नहीं बनाना चाहिए, उन्हें परिताप नहीं देना चाहिए, उनका प्राण-वियोजन नहीं करना चाहिए। यह (अहिंसा) धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है।[8]

---

१. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ११९० : लद्धेल्लियं च बोधिं अकरेंतो अणागतं च पत्थितो।
अण्णं दाइं बोधिं लब्भिसि कयरेण मोल्लेणं ?॥

२. चूर्णि, पृ० ७५ : विराहित सामण्णस्स हि दुल्लभा बोधी भवति, अवड्ढं पोग्गलपरियट्टं उक्कोसेणं हिंडति।

३. चूर्णि, पृ० ७६ : काश्यपः उसभस्वामी वद्धमाणस्वामी वा।

४. वृत्ति, पत्र ७७ : काश्यपस्य ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा।

५. (क) चूर्णि, पृ० ७५ : रिसभसामी भगवं अट्ठावए पुत्तसंबोधणत्थं एवमाह।
(ख) वृत्ति, पत्र ७७ : नाभेयोऽष्टापदे स्वान् सुतानुद्दिश्य।

६. वृत्ति, पत्र ७७ : अनेनेदमुक्तं भवति—तेषामपि जिनत्वं सुव्रतत्वादेवायातमिति, ते सर्वेऽप्येतान्—अनन्तरोदितान् गुणान् 'आहुः' अभिहितवन्तः, नात्र सर्वज्ञानां कश्चिन्मतभेद इत्युक्तं भवति, ते च 'कश्यपस्य' ऋषभस्वामिनो वर्द्धमानस्वामिनो वा सर्वेऽप्यनुचीर्ण-धर्मचारिण इति, अनेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मक एक एव मोक्षमार्ग इत्यावेदितं भवतीति।

७. सूयगडो—१/११/३६ जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संती तेसिं पइट्ठाणं भूयाण जगई जहा॥

८. आयारो ४/१ : से बेमि—जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

तइयं अज्झयणं

उवसग्गपरिण्णा

तीसरा अध्ययन

उपसर्गपरिज्ञा

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'उपसर्गपरिज्ञा' है।[1] जब मुनि अपनी संयम-यात्रा प्रारम्भ करता है तब उसके समक्ष अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्ग उपस्थित होते हैं। उन उपसर्गों को समतापूर्वक सहने की क्षमता वाला मुनि अपने लक्ष्य को पा लेता है और उनसे पराजित हो जाने वाला मुनि लक्ष्यच्युत होकर विनष्ट हो जाता है। इसलिये मुनि को उपसर्गों के प्रकारों, उनकी उत्पत्ति के सामान्य-विशेष निमित्तों तथा उपसर्ग-विजय के उपायों का ज्ञान होना चाहिए।

इस अध्ययन में उपसर्ग और परीसह—दोनों का निरूपण है। चूर्णिकार ने बताया है उपसर्ग और परीसह की एकत्व की विवक्षा कर, दोनों के लिये 'उपसर्ग' शब्द व्यवहृत किया है।[2] उपसर्ग का अर्थ है—उपद्रव। स्वीकृत मार्ग पर अविचल रहने तथा निर्जरा के लिये कष्ट सहना परीसह है।

उत्तराध्ययन सूत्र के दूसरे अध्ययन में बावीस परीसहों (उपसर्गों) का उल्लेख है। प्रस्तुत अध्ययन में इस संख्या का उल्लेख नहीं है, किन्तु अनेक उपसर्गों का विस्तार से वर्णन प्राप्त है—

- शीत (श्लोक ४)
- उष्ण (श्लोक ५)
- याचना (श्लोक ६,७)
- वध (श्लोक ८)
- आक्रोश (श्लोक ६-११)
- स्पर्श (श्लोक १२)
- केशलुंचन-ब्रह्मचर्य (श्लोक १३)
- वध-बंध (श्लोक १४-१६)

इन शारीरिक उपसर्गों के अतिरिक्त सूत्रकार ने मानसिक उपसर्गों के प्रसंग में इस तथ्य का सांगोपांग निरूपण किया है कि संयम में आरूढ मुनि को उसके ज्ञातिजन या अन्य व्यक्ति किस प्रकार भोग भोगने के लिये निमन्त्रित करते हैं और किस प्रकार उसे संयमच्युत कर पुनः गृहवास में आने के लिये प्रेरित करते हैं।[3] जो मुनि उन ज्ञातिजनों के इस भोगनिमन्त्रण रूप अनुकूल उपसर्ग के जाल में फंस जाते हैं, वे कामनाओं के वशवर्ती होकर संसार की वृद्धि करते हैं।

बौद्ध साहित्य में भी परीसहों के वर्जन का उल्लेख है। सारिपुत्र ने भगवान् बुद्ध से भिक्षु-जीवन का मार्ग-दर्शन मांगा। बुद्ध ने उस प्रसंग में अनेक परीसहों (पालि० परिस्सया) का उल्लेख किया है। उनमें रोग, क्षुधा, शीत, उष्ण, अरति, परिदेवन, अलाभ, याचना, शय्या, चर्या आदि मुख्य हैं।[4]

प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक तथा बयासी श्लोक हैं। उनकी विषयगत मार्गणा इस प्रकार है—

- पहला उद्देशक—प्रतिलोम उपसर्गों का निरूपण। (श्लोक ४-१६)
- दूसरा उद्देशक—अनुलोम उपसर्गों का निरूपण। (श्लोक १८-३९)
- तीसरा उद्देशक—अध्यात्म में होने वाले विषाद के कारण और निवारण का निरूपण तथा परतीर्थिकों की कुछेक मान्यताओं का प्रतिपादन। (श्लोक ४३ आदि)

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ७७ : इदाणिं उवसग्गपरिण्णत्ति अज्झयणं।
   (ख) वृत्ति, पत्र १०२ : उपसर्गपरिज्ञायाः......... ।

२. चूर्णि, पृ० ७६ : तत्थोवसग्गा परीसहा य एगं चेव काउं उवदिस्संति।

३. सूयगडो, अध्ययन २, उद्देशक २।

४. सुत्तनिपात ५४, सारिपुत्त सुत्तं, ६-१८। प्रस्तुत प्रसंग में बाधा—विघ्न के अर्थ में 'परिस्सय' शब्द प्रयुक्त हुआ है'—कति परिस्सया (६)। विक्खंभये तानि परिस्सयानि (१५)।

० चौथा उद्देशक—कुतीर्थिकों के कुतर्कों से पथच्युत होने वाले व्यक्तियों की यथार्थ अवस्था का निरूपण।[1] (श्लोक ४७-६०)

सूत्रकृतांग की निर्युक्ति में उपसर्गों के छह प्रकार निर्दिष्ट हैं[2]—

१. नाम उपसर्ग	४. क्षेत्र उपसर्ग
२. स्थापना उपसर्ग	५. काल उपसर्ग
३. द्रव्य उपसर्ग	६. भाव उपसर्ग।

द्रव्य उपसर्ग

चेतन द्रव्य उपसर्ग—तिर्यञ्च और मनुष्य द्वारा अपने अवयवों से चोट लगाना।

अचेतन द्रव्य उपसर्ग— मनुष्य द्वारा किसी को लाठी आदि से पीटना।

द्रव्य उपसर्ग के दो वैकल्पिक प्रकार ये हैं— आगन्तुक और पीड़ाकर।[3]

चूर्णिकार के अनुसार तिर्यञ्चों और मनुष्यों द्वारा उत्पादित उपसर्ग आगन्तुक कहलाते हैं और वात, पित्त तथा कफ से उत्पन्न उपसर्ग पीड़ाकर कहलाते हैं।[4]

वृत्तिकार ने 'आगन्तुको च पीलाकरो' की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। उन्होंने 'पीड़ाकर' शब्द को 'आगन्तुक' का विशेषण मानकर इसका अर्थ—देव आदि से उत्पन्न उपसर्ग जो शरीर और संयम के लिये पीड़ाकर होता है—किया है।[5] किन्तु यह विमर्शनीय है।

क्षेत्र उपसर्ग

क्षेत्र से होने वाला उपसर्ग। जैसे किसी क्षेत्र में क्षेत्र सम्बन्धी भय उत्पन्न होता है। चूर्णिकार ने लिखा है कि जब भगवान् महावीर छद्मस्थ अवस्था में 'लाट' (लाड) क्षेत्र में गये तब वहां कुत्तों के अनेक उपसर्ग हुए।[6] यह उदाहरण चेतन द्रव्य उपसर्ग के अन्तर्गत भी आ सकता है।

काल उपसर्ग

काल से संबंधित अनेक प्रकार के उपसर्ग उत्पन्न होते हैं। जैसे काल-चक्र के छठे अर—एकांत दुष्षमा में सदा दुःख प्रवर्तमान रहता है। इस अर में उत्पन्न होने वाले प्राणी अत्यन्त दुःख का अनुभव करते हैं। अथवा शीतकाल में अत्यधिक सर्दी का और ग्रीष्मकाल में अत्यधिक गर्मी का उपसर्ग सदा बना रहता है।[7]

भाव उपसर्ग

इसके दो प्रकार हैं—

---

१. निर्युक्ति गाथा, ४१-४२ : पढमम्मि य पडिलोमा मायादि अणुलोयगा य बितियम्मि।
तितए अज्झत्थुवदंसणा य परवादिवयणं च॥
हेउसरिसेहिं अहेउएहिं ससमयपडितेहिं णिउणेहिं।
सीलखलितपण्णवणा कया चउत्थम्मि उद्देसे॥

२. निर्युक्ति गाथा, ४३-४४।

३. निर्युक्ति गाथा, ४३ : आगंतुको य पीलाकरो य जो सो उवस्सग्गो।

४. चूर्णि, पृ० ७७ : आगंतुको चतुप्पदलउडादीहि। पीलाकरो वातिय-पेत्तियादि।

५. वृत्ति, पत्र ७८ : अपरस्माद् दिव्यादेः आगच्छतीत्यागन्तुको योऽसावुपसर्गो भवति, स च देहस्य संयमस्य वा पीडाकारीति।

६. चूर्णि, पृ० ७७-७८ : जधा बहूपसग्गो लाढाविषयो जहिं भट्टारगो पविट्ठो आसि छदुमत्थकाले, सुणगादिहिं तत्थ णिद्धम्मा खावेंति।

७. चूर्णि, पृ० ७८ : कालोवसग्गो एगंतदूसमा। सीतकाले वा सीतपरिसहो वा णिदाघकाले उसिणपरीसहो वा, एवमादि कालोवसग्गो भवति।

(क) औधिक भाव उपसर्ग—ज्ञानावरणीय, दर्शनमोहनीय, अशुभनामकर्म, नीचगोत्र, अन्तराय कर्म के उदय से होने वाला उपसर्ग ।

(ख) औपक्रमिक भाव उपसर्ग—दंड, शस्त्र आदि से उदीरित वेदनीय कर्म द्वारा उत्पन्न उपसर्ग ।[1]

स्थानांग सूत्र में उपसर्गों के चार मुख्य भेद माने हैं—

(१) दैविक (२) मानुषिक (३) तैरश्चिक (४) आत्मसंवेदनीय ।

इन चारों के अवान्तर भेद चार-चार हैं ।[2]

उपसर्ग का यह अन्तिम विभाग 'आत्म-संवेदनीय' बहुत महत्त्वपूर्ण है । मनुष्य के दुःखों का हेतु बाहर ही नहीं है, वह उसके भीतर भी है । कर्मों के उदय से उसके कर्मशरीर में अनेक प्रकार के रासायनिक परिवर्तन होते हैं और वे वात, पित्त और कफ को प्रभावित करते हैं । उनसे ग्रन्थियां प्रभावित होती हैं । उस प्रभावित अवस्था में होने वाले ग्रन्थियों के स्राव मनुष्य में विविध प्रकार की अवस्थाएं पैदा करते हैं । उनसे मनुष्य का सारा व्यवहार प्रभावित होता है ।

आत्म-संवेदनीय उपसर्ग के वैकल्पिक रूप में वातिक, पैत्तिक, श्लेष्मिक और सान्निपातिक—ये चार प्रकार बन जाते हैं ।[3]

इस अध्ययन में अनुकूल परीसहों का सुन्दर चित्रण हुआ है । कोई व्यक्ति प्रव्रजित होने के लिये उद्यत है अथवा कोई पहले ही प्रव्रजित हो चुका है, उसके समक्ष माता-पिता, बन्धु या स्नेहिल व्यक्ति इस प्रकार स्नेह और अनुराग प्रदर्शित करते हैं कि उसके मन में करुणा का भाव जाग जाता है और वह उनके स्नेहसूत्र में बंध जाता है । इस प्रसंग में सूत्रकार ने 'सुहुमा संगा' शब्दों का प्रयोग किया है । संग, विघ्न और व्याक्षेप—तीनों एक हैं । ये सूक्ष्म होते हैं, प्राणीवध की भांति स्थूल नहीं होते । यहां सूक्ष्म का अर्थ है—निपुण । ये अनुलोम उपसर्ग व्यक्ति को धर्म-च्युत करते हैं । पूजा, प्रतिष्ठा स्नेह—इन उपसर्गों से बच पाना अत्यन्त कठिन होता है । चूर्णिकार ने इन्हें "पाताला व दुरुत्तरा"—पाताल की भांति दुरुत्तर माना है ।[4]

अनुकूल उपसर्ग मानसिक विकृति पैदा करते हैं और प्रतिकूल उपसर्ग शरीर-विकार के कारण बनते हैं । अनुकूल उपसर्ग सूक्ष्म होते हैं और प्रतिकूल उपसर्ग स्थूल होते हैं ।[5]

प्रस्तुत अध्ययन में आजीवक, बौद्ध तथा वैदिक परंपरा की अनेक मान्यताओं का उल्लेख है । चूर्णिकार और वृत्तिकार ने उन मान्यताओं का वर्णन किया है । हमने उनको तुलनात्मक टिप्पणों के माध्यम से विस्तार दिया है ।

श्लोक इक्कीस में "एवं लोगो भविस्सई" से लौकिक मान्यता का उल्लेख हुआ है ।

श्लोक ५१-५५ में आजीवक परंपराभिमत कुछ तथ्य हैं—आजीवक भिक्षु गृहस्थों की थालियों में और कांस्य के बर्तनों में भोजन करते थे । वे अपने पात्रों के प्रति आसक्त रहते थे । जो आजीवक भिक्षु रुग्ण हो जाते, भिक्षा लाने में असमर्थ होते, उन्हें अन्य भिक्षु भिक्षा लाकर नहीं देते थे । वे गृहस्थों द्वारा भोजन मंगवाते थे ।

श्लोक ६१-६४ में अनेक ऋषि-परंपराओं का उल्लेख है । इनमें सात ऋषिओं के नाम हैं—वैदेही नमि, रामगुप्त, बाहुक, तारागण, आसिल-देविल, द्वैपायन और पाराशर ।

---

१. चूर्णि, पृ० ७८ : भावोवसग्गो कम्मोदयो । सो पुण दुविधो—ओहतो उवक्कमतो वा । ओहतो जधा णाणावरणं दंसणमोहणीयं असुभणामं णियागोतं अंतरायिकं कम्मोदयं ति । उवक्कमियं जं वेदणिज्जं कम्मं उदिज्जति । दंड-कस-सत्थ-रज्जू………… ।

२. (क) ठाणं ४/५९७-६०१ ।
(ख) सूत्रकृतांगचूर्णि, पृ० ७८ ।

३. चूर्णि, पृ० ७८ : आयसंवेतणीया चउव्विधा……, अधवा वातिता पेत्तिया संभिया सन्निवाइया ।

४. वही, पृ० ८३ : सुहुमा णाम णिउणा, न प्राणव्यपरोपणवत् स्थूरमूर्त्तयः, उपायेन धर्मात् च्यावयन्ति ।……अणुलोमा पुण पूजा-सत्कारादयः……दुरुत्तरा भवंति । वक्ष्यति हि—'पाताला व दुरुत्तरा ।'……संगो त्ति वा वग्घो त्ति वा वक्खोडो त्ति वा एगट्ठं ।

५. वृत्ति, पत्र ८५ : ते च सूक्ष्माः प्रायश्चेतोविकारकारित्वेनान्तराः न प्रतिकूलोपसर्गा इव बाहुल्येन शरीरविकारकारित्वेन प्रकटतया बादरा इति ।

'इह संमया'—इस वाक्य द्वारा सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि ये महापुरुष जैन ग्रन्थों में वर्णित हैं तथा 'अणुस्सुयं' पद के द्वारा यह सूचित होता है कि इनका वर्णन प्राचीन परंपरा में भी प्राप्त है।

चूर्णिकार ने इन सबको राजर्षि माना है और प्रत्येक बुद्ध की श्रेणी में गिना है।[1] उन्होंने लिखा है कि वैदेही नमि का वर्णन उत्तराध्ययन (नौवें अध्ययन) में प्राप्त है और शेष ऋषियों का वर्णन जैन ग्रन्थ 'ऋषिभाषित' में है।[2]

किन्तु वर्तमान में प्राप्त ऋषिभाषित ग्रन्थ में 'पाराशर' ऋषि का नाम नहीं है।

औपपातिक (९६-११४) आगम में आठ ब्राह्मण परिव्राजकों तथा आठ क्षत्रिय परिव्राजकों का उल्लेख मिलता है। उसमें पराशर और द्वीपायन को ब्राह्मण परिव्राजक में गिनाया है।

७०-७२ वें श्लोक में स्त्री-परिभोग का समर्थन करने वालों का दृष्टिकोण तथा उसका निरसन सुन्दर उदाहरणों द्वारा किया गया है।

७९ वें श्लोक में मृषावाद और अदत्तादान को त्यागने का उल्लेख है—'मुसावायं विवज्जेजा अदिण्णादाणं च वोसिरे'—चूर्णिकार ने यहां एक प्रश्न उपस्थित किया है कि मूलगुण की व्यवस्था में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का क्रम उपलब्ध है, फिर यहां प्रारंभ में हिंसा का वर्जन न कर मृषावाद के वर्जन की बात क्यों कही गई? उन्होंने इसका समाधान इस प्रकार किया है—सत्यनिष्ठ व्यक्ति के ही व्रत होते हैं, महाव्रत होते हैं, असत्यनिष्ठ व्यक्ति के नहीं होते। असत्यनिष्ठ व्यक्ति अन्य व्रतों का लोप करके भी कह देता है कि वह व्रतों का पालन कर रहा है। उसके मृषा बोलने का त्याग नहीं है। इस प्रकार उसके कोई व्रत बचता नहीं।[3]

एक व्यक्ति ने मृषावाद को छोड़कर शेष व्रत ग्रहण किये। कालान्तर में मानसिक कमजोरी आई और वह एक-एक कर सभी व्रतों का लोप करने लगा। सत्य का व्रत न होने के कारण पूछने पर कहता मैंने व्रतों का लोप कहां किया है। इस प्रकार वह संपूर्ण व्रतों का लोप कर बैठा। इसलिये मृषावाद का त्याग करना अन्यान्य व्रतों का कारण बन सकता है।

आचार्य विनोबा भावे का अभिमत था कि जैन धर्म में अहिंसा का स्थान मुख्य है, सत्य का स्थान गौण है, किन्तु प्रस्तुत उल्लेख से उसका समर्थन नहीं होता। जैन धर्म में अहिंसा और सत्य दोनों का सापेक्ष स्थान है, कहीं अहिंसा की मुख्यता प्रतिपादित है तो कहीं सत्य की मुख्यता प्रतिपादित है। प्रस्तुत प्रसंग में यह स्पष्ट है।

छासठवें श्लोक में बौद्धों का एक बहुमान्य सिद्धान्त—'सातं सातेण विज्जई'—सुख से सुख प्राप्त होता है—का प्रतिपादन कर आगे के दो श्लोकों में उसका निरसन किया गया है।

बौद्ध कहते हैं—हम यहां (वर्तमान में) सुखपूर्वक जी रहे हैं, मौज कर रहे हैं। यहां से मरकर हम मोक्षसुख को प्राप्त करेंगे। सुख से ही सुख प्राप्त होता है। उनकी प्रसिद्ध उक्ति है—

मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे।
द्राक्षाखंडं शर्करा चार्द्धरात्रे, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः॥

बुद्ध ने इस प्रसंग पर निर्ग्रन्थों पर आक्षेप करते हुए कहा—निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र तपस्या आदि कायक्लेश से मोक्ष की प्राप्ति, सुख की प्राप्ति बतलाते हैं। इसका तात्पर्य है कि दुःख से सुख मिलता है। यह मिथ्यावचन है। सुख से ही सुख मिल सकता है।

निर्ग्रन्थ परंपरा न सुख से सुख प्राप्ति को स्वीकार करती है और न दुःख से सुख प्राप्ति की बात कहती है।

यदि सुख से सुख प्राप्त हो तो फिर राजा, अमीर आदि पुरुष सदा सुखी ही होंगे। यदि दुःख से सुख मिलता है तो फिर अनेक प्रकार के दुःख झेलने वाले लोग अगले जन्मों में सुखी होंगे। किन्तु ऐसा होता नहीं है।

इसलिये सुख से सुख प्राप्त होता है या दुःख से सुख प्राप्त होता है—ये दोनों मिथ्या सिद्धान्त हैं। सुख की प्राप्ति कर्म-निर्जरा से होती है। भगवान् महावीर ने कहा है—'जे निज्जिण्णे से सुहे।'[4]

---

१. चूर्णि, पृ० ९५-९६ : राजानो भूत्वा वनवासं गताः .... एतेसिं पत्तेयबुद्धाणं।

२. चूर्णि, पृ० ९६ : इह सम्मत त्ति इहापि ते इसिभासितेसु पढिज्जंति। णमी ताव णमिपव्वज्जाए सेसा सव्वे अण्णे इसिभासितेसु।...

३. वही, पृ० १०० : कस्मान्मृषावादः पूर्वमुपदिष्टः? न प्राणातिपातः? इति, उच्यते, सत्यवतो हि व्रतानि भवन्ति, नासत्यवतः, अनृतिको हि प्रतिज्ञालोपमपि कुर्यात्, प्रतिज्ञालोपे च सति किं व्रतानामवशिष्टम्?

४. भगवती, ७/१६०।

कुछेक व्यक्ति (अन्य यूथिक या स्वयूथिक) कष्टों से घबराकर कहते हैं—

'सर्वाणि सत्वानि सुखे रतानि, सर्वाणि दुःखाच्च समुद्विजन्ते।
तस्मात् सुखार्थी सुखमेव दद्यात्, सुखप्रदाता लभते सुखानि॥'

सभी प्राणी सुख चाहते हैं, दुःख से घबराते हैं। इसलिये सुखेच्छु व्यक्ति सदा सुख देने का प्रयत्न करे, क्योंकि जो सुख देता है, वह सुख पाता है।

'मणुण्णं भोयणं भोच्चा, मणुण्णं झायए सयणासणं।
मणुण्णंसि अगारंसि, मणुण्णं झायए मुणी॥'

मनोज्ञ भोजन, मनोज्ञ शयनासन और घर-मकान से चित्त प्रसन्न होता है, उससे समाधि मिलती है और समाधि से मुक्ति प्राप्त होती है। इसलिये स्वतः सिद्ध है कि सुख से सुख मिलता है।[1]

इसका निरसन करते हुये वृत्तिकार ने अनेक सुन्दर श्लोक उद्धृत किये हैं।[2]

'सातं सातेण विज्जई'—इस प्रसंग में भगवान् बुद्ध द्वारा धर्म समादान के चार विभागों का वर्णन द्रष्टव्य है। एक वार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती नगरी के जेतवन में अनाथ पिण्डक के आराम में विहरण कर रहे थे। उन्होंने भिक्षुओं को आमंत्रित कर कहा—धर्म समादान चार प्रकार का है[3]—

१. वर्तमान में सुख, भविष्य में दुःख।
२. वर्तमान में दुःख, भविष्य में दुःख।
३. वर्तमान में दुःख, भविष्य में सुख।
४. वर्तमान में सुख, भविष्य में सुख।

उक्त विभागों में चौथे विभाग को 'सातं सातेण विज्जई' का आधार बनाया जा सकता है, किन्तु भावना की दृष्टि से और बौद्ध मान्यता की दृष्टि से यह सही नहीं है। यहां चौथे विभाग की भावना यह है—जो भिक्षु वर्तमान जीवन में तीव्र राग, तीव्र द्वेष, तीव्र मोह वाला नहीं होता, वह उनसे होने वाले दुःख और दौर्मनस्य का प्रतिसंवेदन नहीं करता। वह अनुकूल धर्मों से निवृत्त होकर अध्यात्म में लीन रहता है। वह यहां भी सुख पाता है और मरकर भी सुगति और स्वर्ग लोक में उत्पन्न होता है।[4]

इसलिये 'सातं सातेण विज्जइ' उन्हीं बौद्धों की मान्यता हो सकती है जो वर्तमान में इन्द्रिय विषयों के भोगों को भोगते हुए साधना करते हैं और मरने के पश्चात् मोक्षगमन का विश्वास रखते हैं।

---

१. वृत्ति, पत्र ९७।
२. देखें—वृत्ति, पत्र ९७।
३. मज्झिमनिकाय ४५/१-६ : चत्तारिमानि भिक्खवे धम्मसमादानानि—
अत्थि भिक्खवे धम्मसमादानं पच्चुप्पन्नसुखं आयतिं दुक्खविपाकं।
अत्थि भिक्खवे धम्मसमादानं पच्चुप्पन्नदुक्खं आयतिं दुक्खविपाकं।
अत्थि भिक्खवे धम्मसमादानं पच्चुप्पन्नदुक्खं आयतिं सुखविपाकं।
अत्थि भिक्खवे धम्मसमादानं पच्चुप्पन्नसुखं आयतिं सुखविपाकं॥
४. मज्झिमनिकाय : ४५/५/६।

तइयं अज्झयणं : तीसरा अध्ययन

उवसग्गपरिण्णा : उपसर्गपरिज्ञा

पढमो उद्देसो : पहला उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. सूरं मण्णइ अप्पाणं जाव जेयं ण पस्सई। जुज्झंतं दढधम्मा [न्ना ?] णं सिसुपालो व महारहं ।१।	शूरं मन्यते आत्मानं, यावज्जेतारं न पश्यति। युध्यमानं दृढधर्माणं (धन्वानं), शिशुपाल इव महारथम् ॥	१. जब तक जूझते हुए दृढ़ सामर्थ्य (धनुष्य) वाले[1] विजेता को नहीं देखता तब तक (कायर मनुष्य भी) अपने आपको शूर मानता है, जैसे कि कृष्ण को[2] देखने से पूर्व शिशुपाल[3]।
२. पयाया सूरा रणसीसे संगामम्मि उवट्ठिए। माया पुत्तं ण जाणाइ जेएण परिविच्छए ।२।	प्रयाता. शूराः रणशीर्षे, संग्रामे उपस्थिते। माता पुत्रं न जानाति, जेत्रा परिविक्षतः ॥	२. अपने आपको शूर मानने वाले वे युद्ध के उपस्थित होने पर उसकी अग्रिम पंक्ति में जाते हैं। (जिसके आतंक से भयभीत) माता अपने पुत्र को नहीं जान पाती,[4] (ऐसे भयंकर युद्ध में) विजेता के द्वारा क्षत-विक्षत होने पर (वे दीन हो जाते हैं।)
३. एवं सेहे वि अप्पुट्ठे भिक्खुचरिया-अकोविए। सूरं मण्णइ अप्पाणं जाव लूहं ण सेवए ।३।	एवं सेधोऽपि अपुष्टः, भिक्षुचर्या-अकोविदः । शूरं मन्यते आत्मानं, यावत् रूक्षं न सेवते ॥	३. इसी प्रकार अपुष्टधर्मा,[5] भिक्षु की चर्या में अनिपुण शैक्ष (नव दीक्षित) भी तब तक अपने आपको शूर मानता है[6] जब तक वह रूक्ष (संयम) का[7] सेवन नहीं करता।
४. जया हेमंतमासम्मि सीयं फुसइ सवायगं। तत्थ मंदा विसीयंति रज्जहीणा व खत्तिया ।४।	यथा हेमन्तमासे, शीतं स्पृशति सवातकम्। तत्र मन्दाः विषीदन्ति, राज्यहीना इव क्षत्रियाः ॥	४. जब जाड़े के महीनों में[8] बर्फीली हवा और सर्दी लगती है तब मंद मनुष्य वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे राज्य से च्युत राजा[9]।
५. पुट्ठे गिम्हाहितावेणं विमणे सुपिवासिए। तत्थ मंदा विसीयंति मच्छा अप्पोदए जहा ।५।	स्पृष्टो ग्रीष्माभितापेन, विमनाः सुपिपासितः। तत्र मन्दाः विषीदन्ति, मत्स्याः अल्पोदके यथा ॥	५. जब गर्मी में धूप से स्पृष्ट होकर विमनस्क और बहुत प्यासे हो जाते हैं तब वे मंद मनुष्य वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे थोड़े पानी में मछली।
६. सया दत्तेसणा दुक्खं जायणा दुप्पणोल्लिया। कम्मंता दुब्भगा चेव इच्चाहंसु पुढोजणा ।६।	सदा दत्तैषणा दुःखं, याचना दुष्प्रणोद्या। कर्मान्ता दुर्भगाश्चैव, इत्याहुः पृथग्जनाः ॥	६. निरंतर दत्त भोजन की एषणा करना कष्टकर है। याचना दुष्कर है। साधारण जन भी यह कहते हैं—ये अभागे कर्म से पलायन किए हुए हैं।[10]
७. एए सद्दे अचायंता गामेसु णगरेसु वा। तत्थ मंदा विसीयंति संगामम्मि व भीरुणो ।७।	एतान् शब्दान् अशक्नुवन्तः, ग्रामेषु नगरेषु वा। तत्र मन्दाः विषीदन्ति, संग्रामे इव भीरवः ॥	७. गावों और नगरों में इन (जन साधारण द्वारा कहे गये) शब्दों को सहन न करते हुये मंद मनुष्य वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे संग्राम में भीरू।

८. अप्पेगे खुज्झियं भिक्खुं
सुणी डंसइ लूसए।
तत्थ मंदा विसीयंति
तेउपुट्ठा व पाणिणो ।८।

अप्येकः क्षुधितं भिक्षुं,
श्वा दशति लूषकः।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति,
तेजःस्पृष्टा इव प्राणिनः ॥

८. कोई क्रूर कुत्ता क्षुधित (भिक्षा के लिए पर्यटन करते हुए) भिक्षु को काट खाता है, उस समय मंद व्यक्ति वैसे ही विषाद को प्राप्त होता है जैसे अग्नि के छू जाने पर प्राणी।

९. अप्पेगे पडिभासंति
पाडिपंथियमागया।
पडियारगया एए
जे एए एवं-जीविणो ।९।

अप्येके प्रतिभाषन्ते,
प्रातिपथिकत्वमागताः।
प्रतिकारगता एते,
ये एते एवं-जीविनः ॥

९. (साधु-चर्या से) प्रतिकूल पथ पर चलने वाले[११] कुछ लोग कहते हैं—इस प्रकार का जीवन जीने वाले ये कृत का प्रतिकार कर रहे हैं[१२]। (अपने किये हुये कर्मों का फल भोग रहे हैं।)

१०. अप्पेगे वइं जुंजंति
णिगिणा पिंडोलगाहमा।
मुंडा कंडू-विणट्ठंगा
उज्जल्ला असमाहिया ।१०।

अप्येके वाचं युञ्जन्ति,
नग्नाः पिण्डोलकाधमाः।
मुण्डाः कण्डूविनष्टाङ्गाः,
उज्जल्लाः असमाहिताः ॥

१०. कुछ लोग कहते हैं—ये नग्न, पिंड मांग कर खाने वाले,[१३] अधम, मुंड, खुजली के कारण विकृत शरीर वाले,[१४] मैले,[१५] और दुःखी हैं।[१६]

११. एवं विप्पडिवण्णेगे
अप्पणा उ अजाणया।
तमाओ ते तमं जंति
मंदा मोहेण पाउडा ।११।

एवं विप्रतिपन्ना एके,
आत्मना तु अज्ञाः।
तमसस्ते तमो यन्ति,
मन्दा मोहेण प्रावृताः ॥

११. कुछ भिक्षु स्वयं अजान होने के कारण उक्त वचनों से मिथ्या धारणा बना लेते हैं। वे मंद मनुष्य मोह से[१७] आच्छन्न होकर अन्धकार से (और भी घने) अन्धकार में जाते हैं।[१८]

१२. पुट्ठो य दंसमसगेहिं
तणफासमचाइया।
ण मे दिट्ठे परे लोए
किं परं मरणं सिया? ।१२।

स्पृष्टश्च दंशमशकैः,
तृणस्पर्शमशक्नुवन्।
न मया दृष्टः परो लोकः,
किं परं मरणं स्यात्? ॥

१२. मुनि डांस और मच्छरों के[१९] काटने पर तथा तृण-स्पर्श (घास के बिछौने) को न सह सकने के कारण (सोचने लगता है)—परलोक मैंने नहीं देखा, (तो फिर इस कष्टमय जीवन का) मृत्यु के अतिरिक्त और क्या (फल) होगा?

१३. संतत्ता केसलोएणं
बंभचेरपराइया।
तत्थ मंदा विसीयंति
मच्छा पविट्ठा व केयणे ।१३।

सन्तप्ताः केशलोचेन,
ब्रह्मचर्यपराजिताः।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति,
मत्स्याः प्रविष्टा इव केतने ॥

१३. केशलोच[२०] से संतप्त और ब्रह्मचर्य में पराजित मंद मनुष्य वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे जाल में[२१] फंसी हुई मछलियां।

१४. आयदंडसमायारा
मिच्छासंठियभावणा।
हरिसप्पओसमावण्णा
केई लूसंतिऽणारिया ।१४।

आत्मदण्डसमाचाराः,
मिथ्यासंस्थितभावनाः।
हर्षप्रदोषं आपन्नाः,
केचिद् लूषयन्ति अनार्याः ॥

१४. आत्मघाती चेष्टा करने वाले[२२], मिथ्यात्व से ग्रस्त भावना वाले, हर्ष (क्रीडाभाव)[२३] और द्वेष से युक्त कुछ अनार्य मनुष्य मुनियों को कष्ट देते हैं।

१५. अप्पेगे पलियंतंसि
चारो चोरो त्ति सुव्वयं।
बंधंति भिक्खुयं बाला
कसायवसणेहि य ।१५।

अप्येके पर्यन्ते,
चारः चोर इति सुव्रतम्।
बध्नन्ति भिक्षुकं बालाः,
कषायवसनैश्च ॥

१५. सीमान्त प्रदेश में रहने वाले[२४] कुछ अज्ञानी मनुष्य सुव्रती भिक्षु को 'यह गुप्तचर है, यह चोर है'—ऐसा कहकर लाल वस्त्रों से[२५] बांधते हैं।

१६. तत्थ दंडेण संवीते
मुट्ठिणा अदु फलेण वा।
णाईणं सरई बाले
इत्थी वा कुद्धगामिणी ।१६।

तत्र दण्डेन संवीतः,
मुष्टिना अथवा फलेन इव।
ज्ञातीनां स्मरति बालः,
स्त्री वा क्रुद्धगामिनी ॥

१६. वहां डंडे, घूंसे या थप्पड़ से[२६] पीटे जाने पर अज्ञानी भिक्षु वैसे ही अपने ज्ञातिजनों को याद करता है[२७] जैसे रूठ कर घर से भाग जाने वाली स्त्री।[२८]

१७. एए भो कसिणा फासा
फरुसा दुरहियासया ।
हत्थी वा सरसंवीता
कीवा वसगा गया गिहं ।१७।

एते भोः! कृत्स्नाः स्पर्शाः,
परुषाः दुरध्यासकाः ।
हस्तिनः इव शरसंवीताः,
क्लीबाः वशकाः गताः गृहम् ॥

१७. हे वत्स ! ये सारे स्पर्श (परिषह) कठोर और दुःसह हैं । इनसे विवश होकर पौरुषहीन भिक्षु वैसे ही घर लौट आता है जैसे (संग्राम में) बाणों से बींधा हुआ हाथी ।

—त्ति बेमि ॥

इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूं ।

बीओ उद्देसो : दूसरा उद्देशक

१८. अहिमे सुहुमा संगा
भिक्खूणं जे दुरुत्तरा ।
जत्थ एगे विसीयंति
ण चयंति जवित्तए ।१।

अथ इमे सूक्ष्माः संगाः,
भिक्षूणां ये दुरुत्तराः ।
यत्र एके विषीदन्ति,
न शक्नुवन्ति यापयितुम् ॥

१८. ये सूक्ष्म संग (ज्ञाति-संबंध)[९] भिक्षुओं के लिये दुस्तर होते हैं । वहां कुछ विषाद को प्राप्त होते हैं, इन्द्रिय और मन का संयम करने में समर्थ नहीं होते ।

१९. अप्पेगे णायओ दिस्स
रोयंति परिवारिया ।
पोस णे तात ! पुट्ठो सि
कस्स तात ! जहासि णे ।२।

अप्येके ज्ञातीः दृष्ट्वा,
रुदन्ति परिवार्य ।
पोषय नः तात ! पुष्टोऽसि,
कस्मै तात ! जहासि नः ॥

१९. कुछ ज्ञातिजन (प्रव्रजित होने वाले या पूर्व-प्रव्रजित को) देखकर उसे घेर लेते हैं और रोते हुये कहते हैं—हे तात ! हमने तुम्हारा पोषण किया है, अब तुम हमारा पोषण करो ।[१०] फिर तात ! तुम हमें क्यों छोड़ रहे हो ?

२०. पिया ते थेरओ तात !
ससा ते खुड्डिया इमा ।
भायरो ते सगा तात !
सोयरा किं जहासि णे ? ।३।

पिता ते स्थविरकस्तात !,
स्वसा ते क्षुद्रिका इयम् ।
भ्रातरस्ते श्रवास्तात !,
सोदराः किं जहासि नः ॥

२०. 'तात ! तुम्हारा पिता स्थविर[११] है । तुम्हारी यह बहिन छोटी है । तात ! तुम्हारे वे सगे भाई आज्ञाकारी[१२] हैं, फिर तुम हमें क्यों छोड़ रहे हो ?'

२१. मायरं पियरं पोस
एवं लोगो भविस्सइ ।
एवं खु लोइयं तात !
जे पालेंति उ मायरं ।४।

मातरं पितरं पोषय,
एवं लोको भविष्यति ।
एवं खलु लौकिकं तात !,
ये पालयन्ति तु मातरम् ॥

२१. 'तात ! तुम माता-पिता का पोषण करो, इस प्रकार तुम्हारा लोक (यह और पर सफल) हो जायेगा ।[१३] तात ! लौकिक आचार[१४] भी यही है—माता-पिता का पालन करना ।'

२२. उत्तरा महुरुल्लावा
पुत्ता ते तात ! खुड्डया ।
भारिया ते णवा तात !
मा सा अण्णं जणं गमे ।५।

उत्तरा मधुरोल्लापाः,
पुत्रास्ते तात ! क्षुद्रकाः ।
भार्या ते नवा तात !,
मा सा अन्यं जनं गच्छेत् ॥

२२. 'तात ! तुम्हारे उत्तम[१५] और मधुरभाषी ये छोटे-छोटे[१६] पुत्र हैं । तात ! तुम्हारी पत्नी नवयौवना[१७] है । वह दूसरे मनुष्य के पास न चली जाये ।'[१८]

२३. एहि तात ! घरं जामो
मा तं कम्म सहा वयं ।
बीयं पि ताव पासामो
जामु ताव सयं गिहं ।६।

एहि तात ! गृहं यामः,
मा त्वं कर्मसहाः वयम् ।
द्वितीयमपि तावत् पश्यामः,
यामः तावत् स्वकं गृहम् ॥

२३. 'आओ तात ! घर चलें । तुम काम मत करना । हम काम करने में समर्थ हैं ।[१९] हम पुनः तुम्हें घर में देखना चाहते हैं । आओ, अपने घर चलें ।'

२४. गंतुं तात ! पुणाऽगच्छे
ण तेणाऽसमणो सिया ।
अकामगं परक्कमंतं
को तं वारेउमरहइ ? ।७।

गत्वा तात ! पुनरागच्छेः,
न तेन अश्रमणः स्यात् ।
अकामकं पराक्रमन्तं,
कस्त्वां वारयितुमर्हति ? ॥

२४. 'तात ! घर जाकर तुम पुनः आ जाना । इतने मात्र से तुम अ-श्रमण नहीं हो जाओगे । निष्काम पराक्रम करने वाले तुमको कौन रोक सकेगा ?'

२५. जं किंचि अणगं तात !
तं पि सव्वं समीकतं ।
हिरण्णं ववहाराइ
तं पि दाहामु ते वयं ।८।

यत् किञ्चिद् ऋणकं तात!,
तदपि सर्वं समीकृतम् ।
हिरण्यं व्यवहाराय,
तदपि दास्यामः ते वयम् ॥

२५. 'तात ! तुम्हारा जो कुछ ऋण था उस सबको हमने चुका दिया है।[४०] व्यापार आदि के लिये तुम्हें जो धन की आवश्यकता होगी, वह भी हम तुम्हें देंगे।

२६. इच्चेव णं सुसेहंति
कालुणीयउवट्ठिया ।
विबद्धो णाइसंगेहिं
तओऽगारं पहावइ ।९।

इत्येव तं सुसेधन्ति,
कारुण्यमुपस्थिताः ।
विबद्धो ज्ञातिसंगैः,
ततः अगारं प्रधावति ॥

२६. इस प्रकार वे करुण क्रन्दन करते हुये उसे विपरीत शिक्षा देते हैं।[४१] ज्ञातिजनों के सम्बन्धों से बंधा हुआ वह घर लौट आता है।

२७. जहा रुक्खं वणे जायं
मालुया पडिबंधइ ।
एवं णं पडिबंधंति
णायओ असमाहिए ।१०।

यथा रूक्षं वने जातं,
मालुका प्रतिबध्नाति ।
एवं तं प्रतिबध्नन्ति,
ज्ञातयः असमाधिना ॥

२७. जिस प्रकार वन में उत्पन्न वृक्ष को मालुका लता[४२] वेष्टित कर लेती है, उसी प्रकार ज्ञातिजन उसको असमाधि में[४३] जकड़ देते हैं।

२८. विबद्धो णाइसंगेहिं
हत्थी वा वि णवग्गहे ।
पिट्ठओ परिसप्पंति
सूती गो व्व अदूरगा ।११।

विबद्धो ज्ञातिसंगैः,
हस्ती वापि नवग्रहे ।
पृष्ठतः परिसर्पन्ति,
सूतिका गौरिव अदूरगा ॥

२८. जैसे नया पकड़ा हुआ हाथी (उचित उपायों से) बांधा जाता है वैसे ही वह ज्ञातियों के संग से बंध जाता है।[४४] ज्ञातिजन उसके पीछे वैसे ही चलते हैं जैसे नई ब्याई हुई गाय अपने बछड़े के पीछे।[४५]

२९. एए संगा मणुस्साणं
पायाला व अतारिमा ।
कीवा जत्थ य किस्संति
णाइसंगेहिं मुच्छिया ।१२।

एते संगा मनुष्याणां,
पाताला इव अतार्याः ।
क्लीबा यत्र च क्लिश्यन्ति,
ज्ञातिसंगैः मूर्च्छिताः ॥

२९. मनुष्यों के लिये ये ज्ञाति-संबंध पाताल (समुद्र[४६]) की भांति दुस्तर हैं। ज्ञाति-संबंधों में मूर्च्छित पौरुषहीन व्यक्ति वहां क्लेश पाते हैं।

३०. तं च भिक्खू परिण्णाय
सव्वे संगा महासवा ।
जीवियं णावकंखेज्जा
सोच्चा धम्ममणुत्तरं ।१३।

तं च भिक्षुः परिज्ञाय,
सर्वे संगाः महाश्रवाः ।
जीवितं नावकांक्षेत्,
श्रुत्वा धर्ममनुत्तरम् ॥

३०. सभी संग महान् आश्रव (कर्म-बंध के हेतु) हैं—इसे जानकर तथा अनुत्तर धर्म को सुनकर भिक्षु गृहवासी-जीवन की आकांक्षा न करे।

३१. अहिमे संति आवट्टा
कासवेण पवेइया ।
बुद्धा जत्थावसप्पंति
सीयंति अबुहा जहिं ।१४।

अथ इमे सन्ति आवर्ताः,
काश्यपेन प्रवेदिताः ।
बुद्धाः यत्र अपसर्पन्ति,
सीदन्ति अबुधा यत्र ॥

३१. ये (वक्ष्यमाण) आवर्त्त हैं—ऐसा काश्यप (भगवान् महावीर) ने कहा है। बुद्ध उनसे दूर रहते हैं और अ-बुद्ध उनमें फंस जाते हैं।

३२. रायाणो रायऽमच्चा य
माहणा अदुव खत्तिया ।
णिमंतयंति भोगेहिं
भिक्खुयं साहुजीविणं ।१५।

राजानो राजामात्याश्च,
ब्राह्मणा अथवा क्षत्रियाः ।
निमन्त्रयन्ति भोगैः,
भिक्षुकं साधुजीविनम् ॥

३२. राजा, राजमंत्री,[४८] ब्राह्मण[४९] अथवा क्षत्रिय[५०] संयमजीवी भिक्षु को भोगों के लिये निमन्त्रित करते हैं—[५१]

३३. हत्थस्स-रह-जाणेहिं
विहारगमणेहि य ।
भुंज भोगे इमे सग्घे
महरिसी ! पूजयामु तं ।१६।

हस्त्यश्वरथयानैः,
विहारगमनैश्च ।
भुङ्क्ष्व भोगान् इमान् श्लाघ्यान्,
महर्षे ! पूजयामस्त्वाम् ॥

३३. तुम हाथी, घोड़े, रथ और यान[५२] तथा उद्यानक्रीड़ा के द्वारा[५३] इन श्लाघनीय भोगों को भोगो। महर्षे ! हम (इन वस्तुओं का उपहार देकर) तुम्हारी पूजा करते हैं।

३४. वत्थगंधमलंकारं
इत्थीओ सयणाणि य।
भुंजाहिमाइं भोगाइं
आउसो ! पूजयामु तं ।१७।

वस्त्रगंधालंकारं,
स्त्रियः शयनानि च।
भुङ्क्ष्व इमान् भोगान्,
आयुष्मन्! पूजयामस्त्वाम् ॥

३४. वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्रियां और पलंग—इन भोगों को भोगो। आयुष्मन् ! हम (इन वस्तुओं का उपहार देकर) तुम्हारी पूजा करते हैं।

३५. जो तुमे णियमो चिण्णो
भिक्खुभावम्मि सुव्वया ! ।
अगारमावसंतस्स
सव्वो संविज्जए तहा ।१८।

यस्त्वया नियमः चीर्णः,
भिक्षुभावे सुव्रत ! ।
अगारमावसतः,
सर्वः संविद्यते तथा ॥

३५. हे सुव्रत ! तुमने भिक्षु-जीवन में जिस नियम का आचरण किया है, वह सब घर में बस जाने पर भी वैसे ही विद्यमान रहेगा।[५४]

३६. चिरं दूइज्जमाणस्स
दोसो दाणि कुओ तव ? ।
इच्चेव णं णिमंतेंति
णीवारेण व सूयरं ।१९।

चिरं द्रवतः,
दोष इदानीं कुतस्तव ? ।
इत्येवं तं निमन्त्रयन्ति,
नीवारेण इव सूकरम् ॥

३६. तुम चिरकाल से (मुनिचर्या में) विहार कर रहे हो, अब तुममें दोष कहां से आयेगा ?' वे भिक्षु को इस प्रकार निमंत्रित करते हैं जैसे चारा[५५] डालकर सूअर को।[५६]

३७. चोइया भिक्खुचरियाए
अचयंता जवित्तए।
तत्थ मंदा विसीयंति
उज्जाणंसि व दुब्बला ।२०।

चोदिताः भिक्षुचर्यया,
अशक्नुवन्तः यापयितुम् ।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति,
उद्याने इव दुर्बलाः ॥

३७. भिक्षुचर्या में चलने वाले किन्तु उसका निर्वाह करने में असमर्थ मंद पुरुष वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे ऊंची चढाई में[५७] दुर्बल (बैल)।

३८. अचयंता व लूहेण
उवहाणेण तज्जिया।
तत्थ मंदा विसीयंति
पंकंसि व जरग्गवा ।२१।

अशक्नुवन्तः वा रूक्षेण,
उपधानेन तर्जिताः ।
तत्र मन्दाः विषीदन्ति,
पंके इव जरद्गवाः ॥

३८. संयम-पालन में असमर्थ तथा तपस्या से[५८] तर्जित मंद पुरुष वैसे ही विषाद को प्राप्त होते हैं जैसे कीचड़ में बूढ़ा बैल।

३९. एवं णिमंतणं लद्धुं
मुच्छिया गिद्ध इत्थिसु।
अज्झोववण्णा कामेहिं
चोइज्जंता गिहं गय ।२२।

एवं निमन्त्रणं लब्ध्वा,
मूर्च्छिताः गृद्धाः स्त्रीषु ।
अध्युपपन्नाः कामेषु,
चोद्यमानाः गृहं गताः ॥

३९. विषयों में मूर्च्छित, स्त्रियों में गृद्ध और कामों में आसक्त भिक्षु इस प्रकार का निमंत्रण पाकर, समझाने-बुझाने पर भी घर चले जाते हैं।

—त्ति बेमि ॥

इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

तइओ उद्देसो : तीसरा उद्देशक

४०. जहा संगामकालम्मि
पिट्ठओ भीरु वेहइ।
वलयं गहणं णूमं
को जाणइ पराजयं ? ।१।

यथा संग्रामकाले,
पृष्ठतः भीरुः प्रेक्षते ।
वलयं गहनं 'णूमं',
को जानाति पराजयम् ? ॥

४०. जैसे युद्ध के समय डरपोक सैनिक पीछे की ओर गढे,[५९] खाई[६०] और गुफा[६१] को देखता है, कौन जाने पराजय हो जाये ?

४१. मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स
मुहुत्तो होइ तारिसो।
पराजियाऽवसप्पामो
इति भीरू उवेहई ।२।

मुहूर्त्तानां मुहूर्त्तस्य,
मुहूर्त्तो भवति तादृशः ।
पराजिता अवसर्पामः,
इति भीरूः उपेक्षते ॥

४१. घड़ी और घड़ियों में कोई एक घड़ी ऐसी होती है (जिसमें जय या पराजय होती है)। पराजित होने पर हम पीछे भागेंगे, इसलिए वह डरपोक सैनिक (पीछे की ओर छिपने के स्थान को) देखता है।

४२. एवं तु समणा एगे
अबलं णच्चाण अप्पगं ।
अणागयं भयं दिस्स
अवकप्पंतिमं सुयं ।३।

एवं तु श्रमणा एके,
अबलं ज्ञात्वा आत्मकम् ।
अनागतं भयं दृष्ट्वा,
अवकल्पयन्ति इदं श्रुतम् ॥

४२. इसी प्रकार कुछ श्रमण अपने को दुर्बल जानकर, भविष्य के भय को देखकर इस श्रुत[६१] (निमित्त, ज्योतिष आदि) का अध्ययन करते हैं ।[६२]

४३. को जाणइ वियोवातं
इत्थीओ उदगाओ वा ? ।
चोइज्जंता पवक्खामो
ण णे अत्थि पकप्पियं ।४।

को जानाति व्यवपातं,
स्त्रीतः उदकाद् वा ।
चोद्यमानाः प्रवक्ष्यामः,
न नः अस्ति प्रकल्पितम् ॥

४३. 'कौन जाने स्त्री या जल के (परीसह न सह सकने के) कारण संयम से पतन हो जाये !' हमारे पास धन अर्जित नहीं है इसलिए प्रश्न पूछने पर हम (निमित्त आदि विद्या का) प्रयोग करेंगे ।[६३]

४४. इच्चेवं पडिलेहंति
वलयाइ पडिलेहिणो ।
वितिगिंछसमावण्णा
पंथाणं व अकोविया ।५।

इत्येवं प्रतिलिखन्ति,
वलयादिप्रतिलेखिनः ।
विचिकित्सासमापन्नाः,
पन्थानं इव अकोविदाः ॥

४४. गढ़ों को देखने वाले इसी प्रकार सोचा करते हैं । पथ को नहीं जानने वाले जैसे पथ के प्रति संदिग्ध होते हैं, वैसे ही वे श्रमण (अपने श्रामण्य के प्रति) संदिग्ध रहते हैं ।

४५. जे उ संगामकालम्मि
णाया सूरपुरंगमा ।
ण ते पिट्ठमुवेहिंति
किं परं मरणं सिया ? ।६।

ये तु संग्रामकाले,
ज्ञाताः शूरपुरङ्गमाः ।
न ते पृष्ठं उपेक्षन्ते,
किं परं मरणं स्यात् ॥

४५. जो लोग प्रसिद्ध, शूरों में अग्रणी हैं वे संग्राम-काल में पीछे मुड़कर नहीं देखते । (वे यह सोचते हैं) मरने से अधिक क्या होगा ?[६४]

४६. एवं समुट्ठिए भिक्खू
वोसिज्जा गारबंधणं ।
आरंभं तिरियं कट्टु
अत्तत्ताए परिव्वए ।७।

एवं समुत्थितः भिक्षुः,
व्युत्सृज्य अगारबन्धनम् ।
आरम्भं तिर्यक् कृत्वा,
आत्मत्वाय परिव्रजेत् ॥

४६. इस प्रकार घर के बन्धन को छोड़कर (संयम में) उपस्थित भिक्षु आरंभ (हिंसा) को छोड़कर[६५] आत्म-हित के लिसे[६६] परिव्रजन करे ।

४७. तमेगे परिभासंति
भिक्खुयं साहुजीविणं ।
जे एवं परिभासंति
अंतए ते समाहिए ।८।

तमेके परिभाषन्ते,
भिक्षुकं साधुजीविनम् ।
ये एवं परिभाषन्ते,
अन्तके ते समाधेः ॥

४७. कुछ अन्यतीर्थिक साधु-वृत्ति से जीने वाले उस भिक्षु की निंदा करते हैं । जो इस प्रकार निंदा करते हैं वे समाधि से दूर हैं ।

४८. संबद्धसमकप्पा हु
अण्णमण्णेसु मुच्छिया ।
पिंडवायं गिलाणस्स
जं सारेह दलाह य ।९।

सम्बद्धसमकल्पाः खलु,
अन्योन्यं मूर्च्छिताः ।
पिण्डपातं ग्लानस्य,
यद् सारयत दत्त च ॥

४८. (वे कहते हैं —) आप एक-दूसरे में मूर्च्छित होकर गृहस्थों[६७] के समान आचरण करते हैं । आप रोगी के लिये पिंडपात (आहार) लाकर उन्हें देते हैं ।[६८]

४९. एवं तुब्भे सरागत्था
अण्णमण्णमणुव्वसा ।
णट्ठ-सप्पह-सब्भावा
संसारस्स अपारगा ।१०।

एवं यूयं सरागस्थाः,
अन्योन्यं अनुवशाः ।
नष्टसत्पथसद्भावाः,
संसारस्य अपारगाः ॥

४९. इस प्रकार आप रागी, एक-दूसरे के वशवर्ती, सत्पथ की उपलब्धि से दूर तथा संसार का पार नहीं पाने वाले हैं ।

५०. अह ते पडिभासेज्जा
भिक्खू मोक्खविसारए ।
एवं तुब्भे पभासंता
दुपक्खं चेव सेवहा ।११।

अथ तान् प्रतिभाषेत,
भिक्षुः मोक्षविशारदः ।
एवं यूयं प्रभाषमाणाः,
द्विपक्षं चैव सेवध्वे ॥

५०. मोक्ष-विशारद[६९] भिक्षु उन तीर्थिकों से कहे—'इस प्रकार आप (हम पर) आरोप लगाते हैं, (और स्वयं) द्विपक्ष[७०] का सेवन करते हैं ।

५१. तुब्भे भुंजह पाएसु
गिलाणाभिहडं ति य।
तं च बीओदगं भोच्चा
तमुद्देस्सादि जं कडं।१२।

यूयं भुङ्ग्ध्वे पात्रेषु,
ग्लानाभिहृतं इति च।
तच्च बीजोदकं भुक्त्वा,
तदुद्देशकादि यत्कृतम्॥

५१. आप धातुपात्रों में[७१] खाते हैं और रोगी के लिये भोजन मंगवाते हैं। आप कन्द-मूल खाते हैं, कच्चा जल[७२] पीते हैं और मुनि के निमित्त वना भोजन लेते हैं।

५२. लित्ता तिव्वाभितावेणं
उज्झिया असमाहिया।
णाइकंडूइयं सेयं
अरुयस्सावरज्झई।१३।

लिप्ताः तीव्राभितापेन,
उज्झिताः असमाहिताः।
नातिकण्डूयितं श्रेयः,
अरुषः अपराध्यति॥

५२. आप तीव्र कषाय से[७३] लिप्त, (विवेक) शून्य[७४] और असमाहित हैं।[७५] व्रण को अधिक खुजलाना ठीक नहीं है (क्योंकि उससे) कठिनाई पैदा होती है।'

५३. तत्तेण अणुसिट्ठा ते
अपडिण्णेण जाणया।
ण एस णियए मग्गे
असमिक्खा वई किई।१४।

तत्त्वेन अनुशिष्टाः ते,
अप्रतिज्ञेन जानता।
न एष नियतो मार्गः,
असमीक्ष्या वाग् कृतिः॥

५३. अप्रतिज्ञ (विषय के संकल्प से अतीत[७६]) और ज्ञानी भिक्षु उन्हें तत्त्व से अनुशासित करते हुये कहते हैं—'आपका यह मार्ग युक्तिसंगत[७७] नहीं है। आपकी कथनी और करनी भी सुचिन्तित नहीं है।

५४. एरिसा जा वई एसा
अग्गे वेणु व्व करिसिया।
गिहिणं अभिहडं सेयं
भुंजिउं ण उ भिक्खुणं।१६।

ईदृशी या वाग् एषा,
अग्रे वेणुरिव कर्षिता।
गृहिणां अभिहृतं श्रेयः,
भोक्तुं न तु भिक्षूणाम्॥

५४. 'गृहस्थ द्वारा लाया हुआ भोजन खाना ठीक है, भिक्षु द्वारा लाया हुआ भोजन ठीक नहीं है'—आपका इस प्रकार कहना बांस की फुनगी की तरह[७८] कृश है—निश्चय तक पहुंचाने वाला नहीं है।

५५. धम्मपण्णवणा जा सा
सारम्भाण विसोहिया।
ण उ एयाहि दिट्ठीहि
पुव्वमासि पगप्पियं।१७।

धर्मप्रज्ञापना या सा,
सारम्भाणां विशोधिका।
न तु एताभिः दृष्टिभिः,
पूर्वमासीत् प्रकल्पितम्॥

५५. यह धर्म-प्रज्ञापना (ग्लान मुनि के लिये आहार लाकर देने से) गृहस्थों के पाप की विशुद्धि होती है। (सूत्रकार पूर्वपक्ष के प्रति कहते हैं) तुम्हारी पूर्व परम्परा में इन दृष्टियों की प्रकल्पना नहीं है।[७९]

५६. सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं
अचयंता जवित्तए।
तओ वायं णिराकिच्चा
ते भुज्जो वि पगब्भिया।१८।

सर्वाभिः अनुयुक्तिभिः,
अशक्नुवन्तः यापयितुम्।
ततः वादं निराकृत्य,
ते भूयोऽपि प्रगल्भिताः॥

५६. वे जब सभी अनुयुक्तियों के द्वारा[८०] अपने पक्ष की स्थापना करने में असमर्थ हो जाते हैं तब वाद को[८१] छोड़कर फिर धृष्ट हो जाते हैं।[८२]

५७. रागदोसाभिभूयप्पा
मिच्छत्तेण अभिद्दुया।
अक्कोसे सरणं जंति
टंकणा इव पव्वयं।१९।

रागदोषाभिभूतात्मानः,
मिथ्यात्वेन अभिद्रुताः।
आक्रोशान् शरणं यान्ति,
तङ्गणा इव पर्वतम्॥

५७. राग-द्वेष से अभिभूत और मिथ्या धारणाओं से भरे हुए वे गाली-गलौज की[८३] शरण में चले जाते हैं, जैसे तंगण[८४] पर्वत की शरण में।

५८. बहुगुणप्पकप्पाइं
कुज्जा अत्तसमाहिए।
जेणण्णे ण विरुज्झेज्जा
तेणं तं तं समायरे।२०।

बहुगुणप्रकल्पानि,
कुर्यात् आत्मसमाहितः।
येनान्यः न विरुध्येत,
तेन तत् तत् समाचरेत्॥

५८. आत्म-समाहित मुनि[८५] (वादकाल में) बहुगुण-उत्पादक चर्चा करे। वैसा आचरण (हेतु आदि का प्रयोग) करे जिससे कोई विरोधी न बने।

५९. इमं च धम्ममायाय
कासवेण पवेइयं।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स
अगिलाए समाहिए।२१।

इमं च धर्ममादाय,
काश्यपेन प्रवेदितम्।
कुर्याद् भिक्षुः ग्लानस्य,
अग्लानया समाहितः॥

५९. काश्यप (भगवान् महावीर) के द्वारा वताये गये इस धर्म को स्वीकार कर शान्तचित्त भिक्षु *अग्लानभाव* से[८६] रुग्ण भिक्षु की सेवा करे।

६०. संखाय पेसलं धम्मं
दिट्ठिमं परिणिव्वुडे।
उवसग्गे णियामित्ता
आमोक्खाए परिव्वएज्जासि।२२।

संख्याय पेशलं धर्मं,
दृष्टिमान् परिनिर्वृतः।
उपसर्गान् नियम्य,
आमोक्षाय परिव्रजेत्।

६०. दृष्टिसंपन्न और प्रशान्त भिक्षु पवित्र[८३] धर्म को जान, मोक्ष-प्राप्ति तक उपसर्गों को सहता हुआ परिव्रजन करे।

—त्ति बेमि॥

इति ब्रवीमि॥

—ऐसा मैं कहता हूं॥

चउत्थो उद्देसो : चौथा उद्देशक

६१. आहंसु महापुरिसा
पुव्वि तत्ततवोधणा।
उदएण सिद्धिमावण्णा
तत्थ मंदो विसीयइ।१।

आहुः महापुरुषाः,
पूर्वं तप्ततपोधनाः।
उदकेन सिद्धिमापन्नाः,
तत्र मन्दो विषीदति॥

६१. कहा जाता है कि अतीत काल में[८] तप्त तपोधन महापुरुष[९] सचित्त जल से स्नान आदि करते हुए सिद्धि को प्राप्त हुए हैं।[१०] यह सोचकर मंद भिक्षु (अस्नान आदि व्रतों में) विषण्ण (संदिग्ध) हो जाता है।

६२. अभुंजिया णमी वेदेही
रामउत्ते य भुंजिया।
बाहुए उदगं भोच्चा
तहा तारागणे रिसी।२।

अभुक्त्वा नमिः वैदेही,
रामपुत्रश्च भुक्त्वा।
बाहुकः उदकं भुक्त्वा,
तथा तारागणः ऋषिः॥

६२. विदेह जनपद के राजा नमि ने भोजन छोड़कर, (राजर्षि) रामपुत्र ने भोजन करते हुए तथा बाहुक और तारागण ऋषि ने केवल जल पीते हुए (सिद्धि प्राप्त की।)

६३. आसिले देविले चेव
दीवायण महारिसी।
पारासरे दगं भोच्चा
बीयाणि हरियाणि य।३।

आसिलः देविलश्चैव,
द्वीपायनो महर्षिः।
पाराशरः दकं भुक्त्वा,
बीजानि हरितानि च॥

६३. तथा आसिल-देविल, द्वैपायन और पाराशर महर्षियों ने सचित्त जल, बीज और हरित का सेवन करते हुए (सिद्धि प्राप्त की।)[११]

६४. एए पुव्वं महापुरिसा
आहिया इह संमया।
भोच्चा बीयोदगं सिद्धा
इइ मेयमणुस्सुयं।४।

एते पूर्वं महापुरुषाः,
आहृताः इह सम्मताः।
भुक्त्वा बीजोदकं सिद्धाः,
इति ममैतद् अनुश्रुतम्॥

६४. अतीत में हुए ये महापुरुष (भारत आदि पुराणों में) आख्यात हैं और यहां (ऋषिभाषित आदि जैन ग्रन्थों में) भी सम्मत हैं। इन्होंने सचित्त बीज और जल का सेवन कर सिद्धि प्राप्त की—यह मैंने परम्परा से सुना है।

६५. तत्थ मंदा विसीयंति
वाहच्छिण्णा व गद्दभा।
पिट्ठओ परिसप्पंति
पीढसप्पीव संभमे।५।

तत्र मन्दा विषीदन्ति,
वाहच्छिन्ना इव गर्दभाः।
पृष्ठतः परिसर्पन्ति
पीठसर्पिणः इव सम्भ्रमे॥

६५. (यह सोचकर) मंद भिक्षु विषाद को प्राप्त होते हैं। भार को बीच में ही डाल देने वाले[१२] गधे की भांति वे (अस्नान आदि व्रतों को) बीच में ही छोड़ देते हैं। वे कठिनाई के समय[१३] मोक्ष की ओर प्रस्थान करने वाले मुमुक्षुओं से पंगु[१४] की भांति पीछे रह जाते हैं।

६६. इहमेगे उ भासंति
सातं सातेण विज्जई।
जे तत्थ आरियं मग्गं
परमं च समाहियं।६।

इह एके तु भाषन्ते,
सातं सातेण विद्यते।
यस्तत्र आर्यो मार्गः,
परमश्च समाधिकः॥

६६. कुछ दार्शनिक कहते हैं—'सुख से सुख प्राप्त होता है[१५]।' जो आर्य मार्ग है[१६] (वह सुखकर है) उससे परम समाधि (प्राप्त होती है।)[१७]

६७. मा एयं अवमण्णंता
अप्पेणं लुंपहा बहुं।
एयस्स अमोक्खाए
अयोहारि व्व जूरहा।७।

मा एतं अपमन्यमानाः,
अल्पेन लुम्पथ बहुम्।
एतस्य अमोक्षे,
अयोहारी इव खिद्यध्वे॥

६७. इस अप-सिद्धांत को मानते हुते आप थोड़े के लिये बहुत को न गवाएं। इस अप-सिद्धान्त को न छोड़ने के कारण कहीं आप लोहवणिक् की भांति[९८] खेद को प्राप्त न हों।[९९]

६८. पाणाइवाए वट्टंता
मुसावाए असंजया।
अदिण्णादाणे वट्टंता
मेहुणे य परिग्गहे।८।

प्राणातिपाते वर्तमानाः,
मृषावादे असंयताः।
अदत्तादाने वर्तमानाः,
मैथुने च परिग्रहे॥

६८. [इस अप-सिद्धान्त के कारण ही आप] हिंसा करते हैं, मृषावाद के प्रति संयत नहीं हैं, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह में भी प्रवृत्त हैं।[१००]

६९. एवमेगे उ पासत्था
पण्णवेंति अणारिया।
इत्थीवसं गया बाला
जिणसासणपरंमुहा ।९।

एवमेके तु पार्श्वस्थाः,
प्रज्ञापयन्ति अनार्याः।
स्त्रीवशं गताः बालाः,
जिनशासनपराङ्मुखाः॥

६९. कुछ अनार्य[१०१], स्त्री के वशवर्ती, अज्ञानी और जिन शासन के पराङ्मुख पार्श्वस्थ[१०२] इस प्रकार कहते हैं—

७०. जहा गंडं पिलागं वा
परिपीलेत्ता मुहुत्तगं।
एवं विण्णवणित्थीसु
दोसो तत्थ कओ सिया?।१०।

यथा गण्डं पिटकं वा,
परिपीड्य मुहूर्त्तकम्।
एवं विज्ञापना स्त्रीषु,
दोषस्तत्र कुतः स्यात्?॥

७०. जैसे कोई गांठ या फोड़े को दबाकर कुछ समय के लिये (मवाद को निकाल देता है) वैसे ही स्त्री के साथ भोग कर[१०३] (कोई वीर्य का विसर्जन करता है) उसमें दोष कैसा?

७१. जहा मंधादए णाम
थिमियं पियति दगं।
एवं विण्णवणित्थीसु
दोसो तत्थ कओ सिया?।११।

यथा 'मन्धादकः' नाम,
स्तिमितं पिवति दकम्।
एवं विज्ञापना स्त्रीषु,
दोषस्तत्र कुतः स्यात्?॥

७१. जैसे मेंढा जल को गुदला किये विना[१०४] धीमे से उसे पी लेता है, वैसे ही (चित्त को कलुषित किये विना) स्त्री के साथ कोई भोग करता है, उसमें दोष कैसा?

७२. जहा विहंगमा पिंगा
थिमियं पियति दगं।
एवं विण्णवणित्थीसु
दोसो तत्थ कओ सिया?।१२।

यथा विहंगमा पिंगा,
तिमितं पिवति दकम्।
एवं विज्ञापना स्त्रीषु,
दोषस्तत्र कुतः स्यात्?॥

७२. जैसे पिंग[१०५] नामक पक्षिणी आकाश में तैरती हुई (जल को क्षुब्ध किये विना) धीमे से चोंच से जल पी लेती है, वैसे ही (राग से अलिप्त रह कर) स्त्री के साथ कोई भोग करता है, उसमें दोष कैसा?[१०६]

७३. एवमेगे उ पासत्था
मिच्छादिट्ठी अणारिया।
अज्झोववण्णा कामेहिं
पूयणा इव तरुणए।१३।

एवमेके तु पार्श्वस्थाः,
मिथ्यादृष्टयः अनार्याः।
अध्युपपन्नाः कामेषु,
पूतना इव तरुणके॥

७३. इस प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि, अनार्य, पार्श्वस्थ काम-भोगों में वैसे ही आसक्त होते हैं जैसे भेड़[१०७] अपने बच्चे में।

७४. अणागयमपस्संता
पच्चुप्पण्णगवेसगा।
ते पच्छा परितप्पंति
झीणे आउम्मि जोव्वणे।१४।

अनागतं अपश्यन्तः,
प्रत्युत्पन्नगवेषकाः।
ते पश्चात् परितप्यन्ते,
क्षीणे आयुषि यौवने॥

७४. भविष्य में होने वाले दुःख को दृष्टि से ओझल कर वर्तमान सुख को खोजने वाले वे आयुष्य और यौवन के क्षीण होने पर परिताप करते हैं।[१०८]

७५. जेहिं काले परक्कंतं
ण पच्छा परितप्पए।
ते धीरा बंधणुम्मुक्का
णावकंखंति जीवियं।१५।

यैः काले पराक्रान्तं,
न पश्चात् परितप्यते।
ते धीराः बन्धनोन्मुक्ताः,
नावकांक्षंति जीवितम्॥

७५. जिन्होंने ठीक समय पर[१०९] पराक्रम किया है वे बाद में परिताप नहीं करते।[११०] वे धीर पुरुष (कामासक्ति के) बंधन से मुक्त होकर (काम-भोगमय) जीवन की[१११] आकांक्षा नहीं करते।

७६. जहा णई वेयरणी
दुत्तरा इह सम्मता।
एवं लोगंसि णारीओ
दुत्तरा अमईमया ।१६।

यथा नदी वैतरणी,
दुस्तरा इह सम्मता।
एवं लोके नार्यः,
दुस्तराः अमतिमता ।।

७६. जैसे वैतरणी नदी[112] (तेज प्रवाह और विषम तट-बंध के कारण) दुस्तर मानी गई है, वैसे ही अबुद्धिमान् पुरुष के लिये इस लोक में स्त्रियां दुस्तर होती हैं।

७७. जेहिं णारीण संजोगा
पूयणा पिट्ठओ कया।
सव्वमेयं णिराकिच्चा
ते ठिया सुसमाहीए ।१७।

यैः नारीणां संयोगाः,
पूतनाः पृष्ठतः कृताः।
सर्वमेतत् निराकृत्य,
ते स्थिताः सुसमाधौ ॥

७७. जिन्होंने विकृति पैदा करने वाले[113] स्त्रियों के संयोगों को पीठ दिखा दी है और जिन्होंने इस समग्र (अनुकूल परीसह) को निरस्त कर दिया है, वे समाधि में स्थित हैं।

७८. एए ओघं तरिस्संति
समुद्दं व ववहारिणो।
जत्थ पाणा विसण्णासी
किच्चंती सयकम्मुणा ।१८।

एते ओघं तरिष्यन्ति,
समुद्रं इव व्यवहारिणः।
यत्र प्राणाः विषण्णासीनाः,
कृत्यन्ते स्वककर्मणा ॥

७८. ये (काम-वासना को जीतने वाले) संसार-समुद्र का पार पा जायेंगे, जैसे व्यापारी समुद्र का पार पा जाता है, जिस (संसार-समुद्र) में प्राणी विषण्ण होकर रहते हैं और अपने कर्मों के कारण छिन्न होते हैं।

७९. तं च भिक्खू परिण्णाय
सुव्वए समिए चरे।
मुसावायं विवज्जेज्जा
ऽदिण्णादाणं च वोसिरे ।१९।

तच्च भिक्षुः परिज्ञाय,
सुव्रतः समितश्चरेत्।
मृषावादं विवर्जयेत्,
अदत्तादानं च व्युत्सृजेत् ॥

७९. इसे जानकर भिक्षु सुव्रत और समित होकर विहरण करे। वह झूठ बोलना छोड़े[114] और चोरी को त्यागे।

८०. उड्ढमहे तिरियं वा
जे केई तसथावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा
संति णिव्वाणमाहियं ।२०।

ऊर्ध्वमधस्तिर्यक् वा,
ये केचित् त्रसस्थावराः।
सर्वत्र विरतिं कुर्यात्,
शान्तिः निर्वाणमाहृतम् ॥

८०. [115] ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में जो कोई त्रस और स्थावर प्राणी हैं, सब अवस्थाओं में[116] उनकी हिंसा से विरत रहे। (विरति ही) शांति है[117] और शांति ही निर्वाण है।

८१. इमं च धम्ममायाय
कासवेण पवेइयं।
कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स
अगिलाए समाहिए ।२१।

इमं च धर्ममादाय,
काश्यपेन प्रवेदितम्।
कुर्यात् भिक्षुः ग्लानस्य,
अगिलया समाहितः ॥

८१. काश्यप (भगवान् महावीर) के द्वारा बताये गये इस धर्म को स्वीकार कर शांतचित्त भिक्षु अग्लान-भाव से रुग्ण भिक्षु की सेवा करे।

८२. संखाय पेसलं धम्मं
दिट्ठिमं परिणिव्वुडे।
उवसग्गे णियामित्ता
आमोक्खाए परिव्वएज्जासि ।२२।

संख्याय पेशलं धर्मं,
दृष्टिमान् परिनिर्वृत.।
उपसर्गान् नियम्य,
आमोक्षाय परिव्रजेत् ॥

८२. दृष्टि-संपन्न और प्रशान्त भिक्षु पवित्र धर्म को जान, मोक्ष-प्राप्ति तक उपसर्गों को सहता हुआ परिव्रजन करे।

—त्ति बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन ३

श्लोक १ :

१. दृढ सामर्थ्य वाले (दढधम्माणं)

इसका संस्कृत रूप होगा 'दृढधर्माणम्'। वृत्तिकार ने इसका अर्थ—समर्थ स्वभाव वाला अर्थात् युद्ध को दृढ़ता से लड़ने के स्वभाव वाला किया है।[1] चूर्णिकार ने 'दढधन्नाणं' पाठ मानकर उसका अर्थ दृढ़ धनुष्यवाला किया है।[2] इसका संस्कृत रूप होगा 'दृढधन्वानम्'। यह महारथ का विशेषण है।

२. कृष्ण को (महारहं)

चूर्णिकार और टीकाकार—दोनों ने इसका अर्थ कृष्ण किया है।[3]

३. शिशुपाल (सिसुपालो)

एक नगर में दमघोष नाम का राजा था। उसकी रानी का नाम माद्री था। वह कृष्ण की बहिन थी। उसके पुत्र का जन्म हुआ। उसके चार भुजाएं थीं। वह बहुत बल-संपन्न था। चतुर्भुज पुत्र को देख माता को बहुत आश्चर्य हुआ। एक ओर उसके मन में पुत्र-प्राप्ति का हर्ष था तो दूसरी ओर पुत्र के चतुर्भुज होने के कारण भय। उसने नैमित्तिकों को बुला भेजा। नैमित्तिक आये, पुत्र को देखकर बोले—'यह शिशु महान् पराक्रमी और संग्राम में दुर्जेय होगा। जिसको देखकर इसकी दो अतिरिक्त भुजायें नष्ट हो जायेंगी, उसी व्यक्ति से इसको भय होगा, इसमें कोई संदेह नहीं है।' यह सुनकर माता का मन भय से भर गया। माद्री को पुत्र-जन्म की वधाई देने के लिये अनेक लोग आये। माद्री सबको अपना पुत्र दिखलाती और यथायोग्य सबके चरणों में उसे लुटाती। कृष्ण भी वहां आये। माद्री ने उनके चरणों में पुत्र को लुटाया। कृष्ण के देखते ही शिशु की दो अतिरिक्त भुजाएं विलीन हो गई। यह देख माद्री कृष्ण के पास गई और पुत्र को अभय देने की प्रार्थना की। कृष्ण ने कहा—'मैं इसके सौ अपराधों को क्षमा कर दूंगा। आगे नहीं।' दिन वीते। शिशुपाल युवा हुआ। वह अपने यौवन के मद से अन्धा होकर कृष्ण की असभ्य वचनों से अवहेलना करने करने लगा। समर्थ होते हुए भी कृष्ण उसे सहते रहे। शिशुपाल वैसे ही करता रहा। जब सौ बार अपराध हो चुके तब कृष्ण ने उसे सावधान किया। किन्तु शिशुपाल नहीं माना। अन्त में कृष्ण ने अपने चक्र से उसका शिर काट डाला।[4]

श्लोक २ :

४. माता अपने पुत्र को नहीं जान पाती (माया पुत्तं ण जाणाइ)

इस चरण के द्वारा संग्राम की भीषणता प्रदर्शित की गई है। जब योद्धाओं द्वारा आयुधों का परस्पर प्रहार होता है और उनके द्वारा नागरिक भी क्षत-विक्षत होते हैं तब माताएं भी भयभ्रांत होकर अपने नन्हें-नन्हें बच्चों को छोड़कर भाग जाती हैं अथवा उनके हाथ या कटि से बच्चों के गिर जाने पर भी उन्हें पता नहीं चलता। इस प्रकार का आतंकपूर्ण संग्राम 'माता-पुत्रीय-

---

१. वृत्ति, पत्र ८० : दृढः—समर्थो धर्मः—स्वभावः सङ्ग्रामाभङ्गरूपो यस्य स तथा तम्।

२. चूर्णि, पृ० ७१ : दढं धनुर्यस्य स भवति दढधन्वा तं दढधन्वानम्।

३. (क) चूर्णि, पृ० ७१ : मधारघो केसवो।
   (ख) वृत्ति, पत्र ८० : महान् रथोऽस्येति महारथः, स च प्रक्रमादत्र नारायणः।

४. (क) चूर्णि, पृ० ७८,७९।
   (ख) वृत्ति, पत्र ८२।

संग्राम' कहलाता है।[1]

श्लोक ३ :

५. अपुष्टधर्मा (अपुट्ठे)

चूर्णिकार ने इसका मुख्य अर्थ—अपुष्टधर्मा और विकल्प में परीषहों से अस्पृष्ट या अदृष्टधर्मा किया है।[2] वृत्तिकार केवल 'अस्पृष्ट' अर्थ ही करते हैं।[3] प्रसंगवश चूर्णिकार द्वारा स्वीकृत पहला अर्थ ही संगत लगता है।

देखें १/१४/३ का टिप्पण।

६. अपने आपको शूर मानता है (सूरं मण्णइ अप्पाणं)

वह प्रव्रजित होते समय सोचता है—प्रव्रज्या में दुष्कर है ही क्या ? जिसने निश्चय कर लिया है उसके लिए कौन-सा कार्य दुष्कर होता है। आदमी सिंह, बाघ आदि के साथ भी लड़ सकता है, संग्राम में जा सकता है, आग में कूद सकता है—इस प्रकार संयम के कष्टों को न जानने वाला व्यक्ति अपने आपको शूर मानता है।[4]

७. रूक्ष (संयम) का (लूहं)

संयम रूक्ष होता है, क्योंकि उसमें कर्म-बंध नहीं होता। जैसे रूक्ष पट र रजें नहीं चिपकतीं, वैसे ही संयम में कर्मों का श्लेप नहीं होता। अतः रूक्ष शब्द का अर्थ है—संयम।[5]

संयम का पालन कष्टकर होता है। कुछ अधीर व्यक्ति साधुओं को मैले-कुचैले देखकर संयम से च्युत हो जाते हैं। कुछ आधे केशलुंचन में और कुछ केशलुंचन की समाप्ति पर, उससे घवड़ा कर भाग खड़े होते हैं। कुछ व्यक्ति केशों के परिष्ठापन के लिए जाते हैं और वहीं से घर चले जाते हैं। इस प्रकार संयम का पालन कष्टकर होता है।[6]

श्लोक ४ :

८. जाड़े के महीनों में (हेमंतमासम्मि)

इस शब्द के द्वारा पौष और माघ—ये दो महीने गृहीत हैं। चूर्णिकार के अनुसार इन महीनों में भयंकर ठंड पड़ती है, आकाश में वर्षा के बादल उमड़ आते हैं और वायु भी तीव्र हो जाती है।[7]

---

१ (क) चूर्णि, पृ० ७६ : माता पुत्तं ण याणाति, अमाता-पुत्रो यदा सङ्ग्रामो भवति। का भावना ? तस्यामवस्थायां माता पुत्रं मुक्तं उत्तानशयं क्षीराहारमजङ्गमं भयोद्भ्रान्तलोचना अप्पा (च्चा) दण्णा ण याणाति, नो (ना) पेक्खते, न त्राणायोद्यमते हस्तात् कटीतो वा भ्रश्यमानं भ्रष्टं वा न जानीते।

(ख) वृत्ति, पत्र ८० : ततः सङ्ग्रामे समुपस्थिते पतत्परानीकसुभटमुक्तहेतिसङ्कुले सति तत्र च सर्वस्याकुलीभूतत्वात् 'माता पुत्रं न जानाति' कटीतो भ्रश्यन्ते स्तनन्धयमपि न सम्यक् प्रतिजागर्त्तीत्येवं मातापुत्रीये सङ्ग्रामे।

२. चूर्णि पृ० ७६ : अपुट्ठो णाम अप्पुट्ठधम्मो, अस्पृष्टो वा परीषहैः, अदृष्टधर्मा इत्यर्थः।

३. वृत्ति पत्र ८१ : परीषहैः 'अस्पृष्टः' अच्छुप्तः।

४. चूर्णि, पृ० ७६ : सो पव्वयंतो चिंतेइ भणति य—किं पव्वजाए दुक्करं कातुं ति ?, किं णिच्छियस्स दुक्करं ? णणु सीहवग्घेहिं वि समं जुज्झिज्जति, संगामे य पविसिज्जति, अग्गिपडणं च कीरइ।

५. (क) चूर्णि, पृ० ७६ : रूक्षः संयम एव, रूक्षत्वात् तत्र कर्माणि न श्लिष्यन्ति रजोवत्।

(ख) वृत्ति, पत्र ८१ : रूक्षं संयमं कर्मसंश्लेषकारणाभावात्।

६. चूर्णि, पृ० ७६ : तत्र केचिद् दृष्ट्वैव साधून् जल्लादीहिं लिप्ताङ्गान् केचिदर्द्धकृते लोचे केचित् परिसमाप्ते केशान् स्रष्टुं गताः, तत एव यान्ति।

७. चूर्णि, पृ० ७६ : यत्रातीव शीतं भवति, वर्ष-वर्दलादयो वा तीव्रवाता भवन्ति, वातग्रहणात् सीह-वग्घ-विरालोपाख्यानं, यधा पोसे वा माहे वा।

हुआ। अर्थात् जो भिक्षा के पीछे लगा हुआ है, भिक्षा से ही जीवन यापन करता है वह 'पिंडोलग' कहलाता है।[1]

देखें—उत्तरज्झयणाणि ५/२२ का टिप्पण।

१४. खुजली के कारण विकृत शरीर वाले (कंडू-विणट्ठंगा)

पसीने, मैल या मांकड के काटने पर व्यक्ति शरीर को अंगुली, नख, शुक्ति या शलाका आदि से खुजलाता है। धीरे-धीरे उसका शरीर विकृत होता जाता है, विनष्ट होता जाता है।[2]

खुजली करने से शरीर में कहीं घाव और कहीं रेखायें उभर आती हैं। इनसे शरीर विकृत हो जाता है। कुछ व्यक्ति अपने शरीर की सार-संभाल नहीं करते। शरीर कभी रोगग्रस्त हो जाता है और उससे कोई न कोई शरीर का अंग विकृत होकर नष्ट हो जाता है।[3]

सनत्कुमार चक्रवर्ती थे। उन्हें संसार की असारता का बोध हुआ। वे प्रव्रजित हो गये। उन्होंने शरीर का परिकर्म छोड़ दिया। बेले-बेले की तपस्या करने लगे। एक बार पारणे में उन्हें बकरी की छाछ मिली। उससे पारणा किया। फिर बेले की तपस्या की। पारणे में प्रान्त और नीरस आहार लेने के कारण उनके शरीर में कण्डू आदि सात व्याधियां उत्पन्न हुई। सात सौ वर्षो तक वे इन्हें सहते रहे। तपस्या का क्रम चलता रहा। शरीर विकृत हो गया।

१५. मैले (उज्जल्ला)

उत् अर्थात् ऊपर आ गया है, जल्ल अर्थात् सूखा पसीना, उसे 'उज्जल्ल' कहा जाता है। तात्पर्य में इसका अर्थ होगा—मैला।[4]

१६. दुःखी हैं (असमाहिया)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—असुन्दर अथवा दुःखी।[5] वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जो मनुष्य असुन्दर, बीभत्स या दुष्ट होता है वह दूसरों में असमाधि उत्पन्न करता है।[6]

श्लोक ११ :

१७. मोह से (मोहेण)

चूर्णिकार ने मोह का अर्थ अज्ञान[7] और वृत्तिकार ने 'मिथ्यादर्शन' किया है।[8]

१८. अन्धकार से (और भी घने) अंधकार में जाते हैं (तमाओ ते तमं जंति)

तम का अर्थ है—अज्ञान। अज्ञान से घोर अज्ञान में जाते हैं अर्थात् वे मनुष्य उत्कृष्ट स्थिति वाले मोहनीय, ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय कर्म का बंध करते हैं। वे एकेन्द्रिय आदि एकान्त तमोमय योनियों में जन्म लेते हैं तथा सदा अन्धकार से व्याप्त

---

१. (क) चूर्णि पृष्ठ ८१ : पिंडेसु दीयमानेसु उल्लेंति पिंडोलगा।
(ख) वृत्ति, पत्र ८२ : 'पिंडोलग' त्ति परपिण्डप्रार्थकाः।

२. चूर्णि, पृ० ८१ : स्वेद-मल-मत्कुणादिभिः खाद्यमाना अङ्गुल-नखशुक्ति-शलाकादीनां कण्डूकितमार्गैः विणट्ठंगा।

३. वृत्ति, पत्र ८२ : तथा—क्वचित्कण्डूकृतक्षतैः रेखाभिर्वा विनष्टाङ्गाः—विकृतशरीराः, अप्रतिकर्मशरीरतया वा क्वचिद्रोगसम्भवे सनत्कुमारवद्विनष्टाङ्गाः।

४. (क) वृत्ति, पत्र ८२ : तथोद्गतो जल्लः—शुष्कप्रस्वेदः।
(ख) चूर्णि, पृष्ठ ८१ : उज्जल्ल त्ति उवचितजल्ला मलसकटाच्छादिताङ्गाः।

५. चूर्णि पृ० ८१ : असमाहित त्ति अशोभना विवृताङ्गत्वात् अथवा असमाहिता दुक्खिता।

६. वृत्ति, पृ० ८२, ८३ : असमाहिता अशोभना बीभत्सा दुष्टा वा प्राणिनामसमाधिमुत्पादयन्तीति।

७. चूर्णि, पृ० ८१ : मोहो अण्णाणं।

८. वृत्ति, पत्र ८३ : मोहेन मिथ्यादर्शनरूपेण।

नरक में उत्पन्न होते हैं।[1]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं।

(१) प्राणी अज्ञान रूपी अन्धकार से घोर अन्धकार में जाते हैं।

(२) निम्नतम गति में जाते हैं।[2]

श्लोक १२ :

१९. डांस और मच्छरों के (दंसमसगेहिं)

सिन्धु, ताम्रलिप्ति (तामलिप्त), कोंकण आदि देशों में दंश, मशक बहुत होते थे। ये देश मुनियों के विहार-क्षेत्र थे। इन देशों में विहरण करने वाले मुनियों को दंश-मशक परीषह का सामना करना पड़ता था।[3]

श्लोक १३ :

२०. केश (केस)

जिनको खींचने से मनुष्य को क्लेश होता है, इसलिये बालों को केश कहा जाता है।[4]

२१. जाल में (केयणे)

इसका अर्थ है—मछली पकड़ने का जाल।

चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—'केतन' चलनी के आकार का एक जाल होता है। ज्वार के लौटते समय पानी चला जाता है, मछलियां उस जाल (केतन) में फंस जाती हैं।[5]

श्लोक १४ :

२२. आत्मघाती चेष्टा करने वाले (आयदंडसमायारा)

जिनका आत्मा को दंडित करने का स्वभाव है वे आत्मदंड-समाचार कहलाते हैं।[6]

२३. हर्ष (क्रीड़ा भाव) (हरिस)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—राग या क्रीड़ाभाव।[7]

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ८५ : अज्ञानं हि तमः ते ततो अण्णाणतमातो तमंतरं कायाइ उक्कासकालट्ठितीयं मोहणिज्जं कम्मं बंधंति, एवं णाणावरणिज्जं दंसणावरणिज्जं, एगिंदियादिसु वा एगंततमासु जोणीसु उववज्जंति, णिच्चंधकारेसु वा णरएसु।

२. वृत्ति, पत्र ८३ : तमसः अज्ञानरूपादुत्कृष्टं तमो यान्ति गच्छन्ति, यदिवा—अधस्तादप्यधस्तनीं गतिं गच्छन्ति।

३. (क) चूर्णि, पृ० ८१ : सिंधु-तामलित्तिगादिसु विसएसु अतीव दंसगा भवंति, अप्रावृतास्ते भृशं बाध्यमानाः शीतेन च अत्थरण-पाउरणट्ठताए तणाइं सेवमाणा तेहिं विज्झंति।

(ख) वृत्ति, पत्र ८३ : क्वचित्सिन्धु ताम्रलिप्तकोङ्कणादिके देशे अधिका दंशमशका भवन्ति।

४. चूर्णि, पृ० ८२ : क्लिश्यन्त एभिराकृष्टा इति केशाः।

५. चूर्णि, पृ० ८२ : केयणं णाम कडवल्लसंठितं, मच्छा पाणिए पडिणियत्ते उत्तारिज्जंति इत्यर्थः।

६. (क) चूर्णि पृ० ८२ : आत्मानं दण्डयितुं शीलं येषां ते भवन्ति आत्मदण्डसमाचाराः।

(ख) वृत्ति, पत्र ८३ : आत्मा दण्ड्यते हितात् भ्रश्यते येन स आत्मदण्डःसमाचाराः अनुष्ठानम्।

७. वृत्ति, पत्र ८३।

श्लोक १५ :

२४. सीमान्त प्रदेश में रहने वाले (पलियंतंसि)

पर्यन्त का अर्थ है—सीमान्त प्रदेश।[1] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—अनार्य देश का सीमान्त प्रदेश किया है।[2]

२५. लाल वस्त्रों से (कसायवसणेहि)

चूर्णिकार ने 'कषाय' और 'वसन' इन दोनों पदों के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। कुछ लोग साधुओं को देखकर स्वभाव से क्रुद्ध हो जाते हैं और कुछ लोगों का यह व्यसन होता है कि वे कार्पटिक और पाषंडियों को बाधित करते हैं और उन्हें नचाते हैं।[3]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—कषायवचन—क्रोध प्रधान कटुक वचन किया है।[4] वस्तुतः 'कषायवसन' का अर्थ लाल वस्त्र होना चहिये। प्राचीन काल में गुप्तचरों या चोरों को लाल वस्त्र से बांधने की प्रथा थी।

श्लोक १६ :

२६. थप्पड़ से (फलेण)

चूर्णिकार ने फल का अर्थ—चपेटा किया है।[5] वृत्तिकार ने इसका अर्थ बिजौरे के फल या खड्ग आदि किया है।[6]

२७. अज्ञानी भिक्षु वैसे ही अपने ज्ञातिजनों को याद करता है (णाईणं सरई बाले)

पीटे जाने पर भिक्षु अपने ज्ञातिजनों को याद करता है। वह सोचता है—यदि यहां मेरा भाई, बन्धु, मित्र या कोई संबंधी होता तो मुझे इस प्रकार की कदर्थना का सामना नहीं करना पड़ता। मेरे पर यह विपत्ति नहीं आती।[7]

२८. रूठकर घर से भाग जाने वाली स्त्री (इत्थी वा कुद्धगामिणी)

कोई स्त्री क्रुद्ध होकर अपने घर से निकल जाती है, किन्तु उसे कहीं भी आश्रय नहीं मिलता। लोग उसके पीछे लग जाते हैं। वे उसे पीड़ित करते हैं। चोर आदि लुटेरे भी उसे सताते हैं, तब उसे अपने कृत्य पर पश्चात्ताप होता है और वह अपने ज्ञातिजनों का स्मरण करती है। वह सोचती है, यदि मैं अपना घर छोड़कर नहीं आती तो मुझे आज इस कष्ट का सामना नहीं करना पड़ता।[8]

चूर्णिकार ने यहां 'अचंकारिय भट्टा' के उदाहरण का संकेत किया है।[9] वह उदाहरण इस प्रकार है—

एक गांव में एक सेठ रहता था। उसके आठ पुत्र थे। बाद में एक पुत्री हुई। उसका नाम अचंकारिय भट्टा रखा। वह युवती हुई तब अमात्य ने उसकी याचना की। सेठ ने कहा - मुझे पुत्री देने में कोई बाधा नहीं है। किन्तु एक शर्त है कि इसके अपराध कर देने पर भी आप इसे उपालंभ नहीं दे सकेंगे। अमात्य ने इस बात को स्वीकार कर लिया। वह अमात्य की पत्नी हो

१. चूर्णि, पृ० ८२ : पडियंतं समन्तादन्तं परियन्तं। कस्य ? देशस्य।

२. वृत्ति, पत्र ८४ : पलियंते सि ति अनार्यदेशपर्यन्ते।

३. चूर्णि पृ० ८२ : कसाय-वसणेहि य त्ति, तत्पुरुष. समासः द्वन्द्वो वाऽयम्, सभावत एव केचित् साधून् दृष्ट्वा कसाइज्जंति, वसणं केसिंच भवति—कप्पडिग-पासंडिया वाहेंति णच्चावेंति वा।

४. वृत्ति, पत्र ८४ : कषायवचनैश्च क्रोधप्रधानकटुकवचनैर्निर्भर्त्सयन्तीति।

५. चूर्णि, पृ० ८२ : फलं चवेडाप्रहारः।

६ वृत्ति, पत्र ८४ : फलेन वा मातुलिङ्गादिना खड्गादिना वा।

७. (क) चूर्णि, पृ० ८४ : जइ णाम णातयो केयि एत्थ होत्या (होंता) भाति-मित्तादयो णाहमेवंविधां आवंति पावेंतो।
(ख) वृत्ति, पत्र ८४ : कश्चिदपरिणतः बालः अज्ञो 'ज्ञातीनां' स्वजनानां स्मरति, तद्यथा—यदत्र मम कश्चित् सम्बंधी स्यात् नाहमेवम्भूतां कदर्थनामवाप्नुयामिति।

८. वृत्ति, पत्र, ८४ : यथा स्त्री क्रुद्धा सती स्वगृहात् गमनशीला निराश्रया मांसपेशीव सर्वस्पृहणीया तस्करादिभिरभिद्रुता सती जातपश्चात्तापा ज्ञातिनां स्मरति एवमसावपीति।

९. चूर्णि, पृ० ८२ : इत्थी वा कुद्धगामिणी, जधा सा अचंकारितभट्टा कुद्धा गच्छतीति कुद्धगामिणी।

गई। अमात्य राजकार्य से निवृत्त होकर विलम्ब से घर पहुंचता था। वह प्रतिदिन उसकी प्रतीक्षा में बैठी रहती। कुछ दिन बीते। वह कुपित हो गई। एक दिन उसने दरवाजे बन्द कर दिये। अमात्य आया। उसने कहा—द्वार खोल। उसने द्वार नहीं खोला। अमात्य प्रतीक्षा में बैठा रहा। अन्त में वह बोला—केवल तू ही इस घर की स्वामिनी नहीं है। यह सुनकर उसका अहं फुफकार उठा। वह उठी, द्वार खोला और अटवी की ओर चली गई। अटवी में उसे चोर मिले। चोरों ने उसे अपने सेनापति के समक्ष उपस्थित किया। सेनापति ने उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा। वह ऐसा नहीं चाहती थी। चोर-सेनापति ने उसे जलोकवैद्य के हाथ बेच डाला। वह भी उसे अपनी पत्नी बनाना चाहता था। वह ऐसा नहीं चाहती थी। तब वैद्य ने रोषवश उसके शरीर पर मक्खन चुपड़ा और फिर जलोकों को छोड़ा। वे काटने लगे। शरीर लहुलुहान हो गया। फिर भी उसने वैद्य के साथ विवाह करना नहीं चाहा।············ उसका रूप और लावण्य बिगड़ गया। उसका भाई ढूंढते-ढूंढते वहां आ पहुंचा। अपनी बहिन को पहचान कर घर ले गया। वमन-विरेचन आदि चिकित्सा पद्धति से उसको नीरोग कर पुनः लावण्यवती और रूपवती बनाकर अमात्य को सौंपा। अब वह पूर्ण शांत हो चुकी थी। उसका अहं नष्ट हो चुका था। एक बार उसने घर पर लक्षपाक तैल बनाया। परीक्षा करने एक देव मुनि का वेष बनाकर उसके घर आया और लक्षपाक तैल मांगा। उसने दासी से लाने के लिये कहा। मार्ग में ही वह भांड फूट गया। दूसरा, तीसरा और चौथा भांड भी फूट गया। अचंकारिय भट्टा फिर भी रुष्ट नहीं हुई। फिर पांचवीं बार वह स्वयं भांड लाने गई।[1]

श्लोक १८ :

२९. सूक्ष्म संग (ज्ञाति-सम्बन्ध) (सुहुमा संगा)

चूर्णिकार ने संग, विघ्न और व्याक्षेप को एकार्थक माना है।[2] सूक्ष्म का अर्थ हैं—निपुण। संग सूक्ष्म होते हैं। वे प्राणवध की भांति स्थूल नहीं होते। वे व्यक्ति को किसी उपाय के द्वारा धर्मच्युत करते हैं। ये अनुलोम उपसर्ग हैं। यह कहा जाता है कि जीवन में बाधा डालने वाले उदीर्ण उपसर्गों में भी मनुष्य मध्यस्थ रह सकता है, किन्तु पूजा, सत्कार आदि अनुलोम उपसर्गों का पार पाना बहुत कठिन है। ये पाताल की भांति दुरुत्तर हैं।[3]

वृत्तिकार के अनुसार संग का अर्थ है—माता, पिता आदि ज्ञातिजनों का संबंध।[4] ये संग प्रायः मानसिक विकृति को उत्पन्न करते हैं। ये संग आन्तरिक हैं, इसलिये इन्हें सूक्ष्म कहा है। प्रतिकूल उपसर्ग प्रायः शरीर-विकार के कारण बनते हैं, अतः वे स्थूल हैं।[5]

श्लोक १९ :

३०. पोषण करो (पोस)

ज्ञातिजन प्रव्रजित होने वाले या पूर्व-प्रव्रजित अपने व्यक्ति को कहते हैं—हे तात! हमने इसी आशा से तुम्हारा पोषण किया है कि तुम बड़े होकर हम बूढ़ों का पोषण करोगे। अब इस अवस्था में हम काम करने में असमर्थ हैं। अब तुम हमारा पोषण करो।[6]

---

१. दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति गाथा १०४-१०७, चूर्णि।

२. चूर्णि, पृ० ८३ : संगो त्ति वा विग्घो त्ति वा वक्खोडो त्ति वा एगट्ठं।

३. वही, पृ० ८३ : सुहुमा णाम णिउणा, न प्राणव्यपरोपणवत् स्थूरमूर्त्तयः, उपायेन धर्माच्च्यावयन्ति। उक्तं हि—शक्यं जीवित विघ्नकरैरप्युपसर्गैरुदीर्णैः माध्यस्थ्यं भावयितुम्। अनुलोमा पुण पूजा-सत्कारादय······वक्ष्यति हि—पाताला व दुरुत्तरा (अतारिमा ३।२९)।

४. वृत्ति, पत्र ८५ : सङ्गाः मातापित्रादिसम्बन्धाः।

५. वही, पत्र ८५ : ते च सूक्ष्माः प्रायश्चेतोविकारकारित्वेनान्तराः, न प्रतिकूलोपसर्गा इव बाहुल्येन शरीरविकारित्वेन प्रकटतया बादरा इति।

६. (क) चूर्णि, पृ० ८३ : ज्ञातयो माता-पित्रावि पव्वयंतं पुव्वपव्वइतं वा दट्ठूणं रुयंति। किधं ?, किवण-करुणाणि—नाथ ! पिय ! कंत ! सामिय !" परिवारिया दव्वतो भावतो य। वयं वृद्धा कर्मासहिष्णवः, तदिदानीं पोसाहि णे, आबाल्यात् पुट्ठो मादादिभिः।

(ख) वृत्ति, पत्र ८५ : स्वजना मातापित्रादयः प्रव्रजन्तं प्रव्रजितं वा दृष्ट्वा उपलभ्य परिवार्य वेष्टयित्वा रुदन्ति रुदन्तो वदन्ति च दीनं, यथा—बाल्यात् प्रभृति त्वमस्माभिः पोषितो वृद्धानां पालको भविष्यतीति कृत्वा, ततोऽधुना नः अस्मानपि त्वं तात ! पुत्र ! पोषय पालय, कस्य कृते—केन कारणेन कस्य वा बलेन तातास्मान् त्यजसि ?, नास्माकं भवन्तमन्तरेण कश्चित्त्राता विद्यत इति।

श्लोक २० :

३१. स्थविर (थेरओ)

जो अन्तिम दशा को प्राप्त है और जो लकड़ी के सहारे चलता है, वह स्थविर है ।[1]

वृत्तिकार ने स्थविर उसे माना है जिसका आयुष्य सौ वर्षों से अधिक है ।[2]

३२. आज्ञाकारी (सवा)

इसका संस्कृत रूप है—श्रवाः । चूर्णिकार ने इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—शृण्वंतीति श्रवाः । जो आज्ञा, वचन और निर्देश का पालन करते हैं—जो आज्ञाकारी होते हैं वे श्रवा कहलाते हैं ।[3]

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'स्वका' और अर्थ—अपना, निजी किया है ।[4]

प्रस्तुत प्रसंग में चूर्णिकार का अर्थ ही उचित लगता है, क्योंकि अन्तिम दो चरणों में 'भायरो' 'सवा' और 'सोयरा'—ये तीन शब्द आये हैं । यदि हम 'सवा' का अर्थ स्वका—निजी करते हैं तो 'सोयरा' शब्द का कोई औचित्य नहीं रहता । अतः 'सवा' का अर्थ आज्ञाकारी ही उचित लगता है । शब्दकोष में भी आज्ञाकारी के अर्थ में आ+श्रवः शब्द मिलता है ।[5]

श्लोक २१ :

३३. इस प्रकार तुम्हारा लोक (यह और पर सफल) हो जाएगा (एवं लोगो भविस्सइ)

इसका शाब्दिक अर्थ है—इस प्रकार लोक हो जायेगा । इसका तात्पर्य है कि सेवा-योग्य माता-पिता की सेवा करने से यह लोक और परलोक दोनों सफल होते हैं । सेवा करने वाले की इस लोक में कीर्ति होती है, यश और मंगल होता है । कहा भी है—

> गुरवो यत्र पूज्यन्ते, यत्र धान्यं सुसंभृतम् ।
> अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ॥

कीर्त्ति ने कहा—'इन्द्र ! मेरा निवास वहां होता है जहां गुरुजन पूजे जाते हैं, जहां धान्य का भंडार भरा रहता है और दांतों की कटकटाहट नहीं होती, जहां दंत-कलह नहीं होता ।

गुरुजनों की सुश्रूषा से परलोक सफल होता है । श्रमण माता-पिता की सेवा करने की प्रतिकूल स्थिति में होते हैं । इसलिये जो गुरुजन के प्रत्यनीक होते हैं उनका लोक कैसे सुधरेगा और कैसे उनके जीवन में धर्म उतरेगा ?[6]

३४. लौकिक आचार (लोइयं)

इसका अर्थ है—लौकिक आचार, लौकिक मार्ग । वृद्ध माता-पिता का प्रतिपालन करना लौकिक मार्ग है ।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० ८४ : थेरगो दंडधरित्तग्गहत्यो अत्यन्तदशां प्राप्तः ।

२. वृत्ति, पत्र ८५ : स्थविरो वृद्धः शतातीकः (वर्षशतमानः) ।

३. चूर्णि, पृ० ८४ : शृण्वन्तीति श्रवाः आणा-उववाय-वयण-णिद्देसे य चिट्ठंति ।

४. वृत्ति, पत्र ८५ : स्वका निजाः ।

५. अभिधान चिंतामणि कोश ३।९६ : आश्रवो वचने स्थितः ।

६. (क) चूर्णि, पृ० ८४ : मातापितरौ हि शुश्रूषार्हौ ताविदानीं पुण्णाहि । एवं लोको भविष्यतीति अयं परश्च । अस्मिंस्तावद् यशः कीर्त्तिश्च भवति मङ्गलं च । उक्तं हि—गुरवो यत्र .... ।
परलोकश्च भवति गुरुशुश्रूषया । एते हि पदीवसत्थिया समणगा भवंति जे माया-पितरं ण सुस्सूयंति, तेण तेसिं गुरुपडिणीयाणं कतो लोगो धम्मो वा भविस्सति ।

(ख) वृत्ति, पत्र ८५ : एवं च कृते तवेहलोकः परलोकश्च भविष्यति ।

७. वृत्ति, पत्र ८५ : लौकिकं लोकाचीर्णम् अयमेव लौकिकः पन्था यदुत—वृद्धयोर्मातापित्रोः प्रतिपालनमिति ।

श्लोक २२ :

३५. उत्तम (उत्तरा)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये है—प्रधान (उत्तम) और उत्तरोत्तर उत्पन्न।[1]

चूर्णिकार ने प्रतिवर्ष एक के वाद एक उत्पन्न होन वाले को 'उत्तर' माना है।[2]

३६. छोटे-छोटे (क्षुल्लक)

इसके दो अर्थ हैं—अप्राप्तवय वाले और कर्म करने में अयोग्य।[3]

३७. नवयौवना (णवा)

यह भार्या का विशेषण है। चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं—(१) नववधू, (२) जिसके प्रसव न हुआ हो, (३) गर्भिणी।[4]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—नवयौवना, नवपरिणीता।[5]

३८. वह दूसरे मनुष्य के पास न चली जाए (मा सा अण्णं जणं गमे)

वह नवोढ़ा पत्नी परित्यक्त होने पर दूसरे के पास न चली जाये। ऐसा होने पर महान् जनापवाद होगा। तुम्हारे जीवित रहते हुये यदि वह दूसरे मनुष्य को अपना पति चुन ले या मार्ग-भ्रष्ट हो जाये तो तुम्हें अधृति होगी, हमारी कीर्ति नष्ट होगी और लोग हमारी निन्दा करेंगे।[6]

श्लोक २३ :

३९. श्लोक २३ :

चूर्णिकार ने इस श्लोक के प्रथम दो चरणों की व्याख्या इस प्रकार की है—

'तात ! हम जानते हैं कि तुमने कार्य के अधिक भार से डरकर प्रव्रज्या ग्रहण की है। अब हम काम करने में समर्थ हैं। हम तुम्हारा सहयोग करेंगे। अव कुमार ! तुम किसी काम के हाथ मत लगाना। काम की ओर आंख उठाकर भी मत देखना। एक तिनका भी इधर से उधर उठाकर मत रखना। हम सव कुछ कर लेंगे। तुम घर चलो'।[7]

श्लोक २५ :

४०. चुका दिया है (समीकतं)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—'(१) जो कुछ तुम्हारे पर ऋण था उसको हम सबने सम्यक् प्रकार से विभाजित

---

१. वृत्ति, पत्र ८५ : उत्तराः प्रधानाः उत्तरोत्तरजाता वा।

२. चूर्णि, पृ० ८४ : उत्तरा नाम प्रतिवर्षमुत्तरोत्तरजातका। समघटच्छिन्नगाः।

३. चूर्णि, पृ० ८४ : खुड्डग त्ति अप्राप्तवयसः अकर्मयोग्या वा।

४. चूर्णि, पृ० ८४ : नवा नाम नववधूः अप्रसूतागर्भिणी वा।

५. वृत्ति, पत्र ८६ : नवा प्रत्यग्रयौवना अभिनवोढा वा।

६. (क) चूर्णि, पृ० ८४ : मा सा अण्णं जणं गमेज्ज उब्भामए वा करेज्ज, जीवंत एव तुमम्मि अण्णं पतिं गेण्हेज्जा ततो तुज्झ वि अद्धिती भविस्सति, अम्ह वि य जणे छायाघातो अवण्णओ य भविस्सतीति।

(ख) वृत्ति, पत्र ८६ : मा असौ त्वया परित्यक्ता सती अन्यं जनं गच्छेदुन्मार्गयायिनी स्याद्, अयं च महान् जनापवाद इति।

७. चूर्णि, पृ० ८४ : जाणामो—जधा तुमं अतिकम्मा भीतो पव्वइतो, इदाणिं वयं कम्मसमत्था कम्मसहा कम्मसहायकत्वं प्रति भवतः, तदिदानीं कुमार ! (किं) अतियणिएणं ? चंपगाणि वि हत्थेण मा छिवाहि, तणं वा उक्खिवाहित्ति, दूरगतं च णं दट्ठूण भणंति। आसण्णं वा गृहम्-आगच्छ।

८. वृत्ति, पत्र ८६ : यत्किमपि भवदीयमृणजातमासीत्तत्सर्वमस्माभिः सम्यग्विभज्य समीकृतं समभागेन व्यवस्थापितं, यदिवोत्कटं सत् समीकृतं—सुदेयत्वेन व्यवस्थापितम्।

कर अपने अपने हिस्से में ले लिया है। (२) जो ऋण अधिक था उसे अब सहजतया देने योग्य बना दिया है।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—ऋण चुकाना किया है। उन्होंने समीकृत, उत्तारित और विमुक्त को एकार्थक माना है।[1]

श्लोक २६ :

४१. विपरीत शिक्षा देते हैं (सुसेहंति)

इसका अर्थ है—विपरीत शिक्षा देना।[2] वृत्तिकार ने इस अर्थ के साथ एक अर्थ और भी किया है—अच्छी शिक्षा देना। यह व्यंग है।[3]

श्लोक २७ :

४२. मालुकालता (मालुया)

मालुका नाम की लता,[4] जो पेड़ों से लिपटती है। वह शोभा के लिये बगीचों में लगाई जाती है। इसकी शाखाएं लंबी होती हैं और सैकड़ों फुट तक पहुंच जाती हैं।

४३. असमाधि में (असमाहिए)

वृत्तिकार ने इस प्रसंग में एक सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है—

अमित्तो मित्तवेसेणं, कंठे घेत्तूण रोयइ।
मा मित्ता सोग्गइ जाहि, दोवि गच्छामु दुग्गइं॥

एक अमित्र मित्र के वेष में अपने मित्र को गले से लगाकर रोते हुये कहता है—मित्र! तुम सुगति में मत जाओ। हम दोनों दुर्गति मे साथ-साथ चलेंगे।[5]

श्लोक २८ :

४४. जैसे नया पकड़ा हुआ हाथी ··· ·····बन्ध जाता है (हत्थी वा वि·········)

नये पकड़े हुये हाथी में धीरज उत्पन्न करने के लिये उसके स्वामी ईख आदि के द्वारा उसकी सेवा करते हैं और फिर अंकुश के प्रहार के द्वारा उसे पीड़ित करते हैं। इसी प्रकार जो उत्प्रव्रजित हो जाता है, प्रारंभ में ज्ञातिजन भी समस्त अनुकूल उपायों से उसकी सेवा करते हैं (कुछ समय बाद वे उससे दूर हो जाते हैं)।[6]

४५. (पिट्ठओ ····· · ···अदूरगा)

तत्काल उत्पन्न हुआ बछड़ा, स्तनपान कर लड़खड़ाते हुए इधर-उधर दौड़ता है तब उसकी मां गाय पूंछ को ऊपर उठाकर, ग्रीवा को झुकाये हुये, रंभाती हुई उसके पीछे-पीछे चलती है, उसके बैठ जाने पर वह उसे चाटती है, उसके समीप बैठकर उसे स्नेहभरी दृष्टि से देखती है, उसी प्रकार उत्प्रव्रजित व्यक्ति का नया जन्म मानकर वह कहीं दौड़ न जाये इस दृष्टि से वह जहां भी जाना है ज्ञातिजन उसके पीछे-पीछे जाते हैं, वह जो कुछ मांगता है वह उसे देते हैं और स्नेहमयी दृष्टि से उसके

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ८५ : समीकतं ति वा उत्तारितं ति वा विमोक्खितं (ति) वा एगट्ठं।
२. (क) चूर्णि पृष्ठ ८५ : सुसेहिंति वा ओसिक्खावेंतीत्यर्थः।
   (ख) वृत्ति पत्र ८६ : 'सुसेहंति' त्ति···············व्युद्ग्राहयन्ति।
३. वृत्ति पत्र ८६ : 'सुसेहंति' त्ति सुष्ठु शिक्षयन्ति।
४. वृत्ति, पत्र ८६ : मालुया वल्ली।
५. वृत्ति, पत्र ८६।
६. (क) चूर्णि, पृष्ठ ८५ : कञ्चित् कालं कासारोच्छुखण्डादिभिरनुवृत्य पश्चाद् आराप्रहारैर्बाध्यते।
   (ख) वृत्ति, पत्र ८७ : धृत्युत्पादनार्थमिक्षुशकलादिभिरुपचर्यते, एवमसावपि सर्वानुकूलैरुपायैरुपचर्यते।

आसपास रहते हैं।[1]

श्लोक २९ :

४६. पाताल (समुद्र) (पायाला)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—वलयामुख[2] आदि (महापाताल) अथवा समुद्र। प्रथम अर्थ को उन्होंने सामयिक (आगमिक) और दूसरे अर्थ को लौकिक और आगमिक—दोनों माना है।[3] वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल समुद्र किया है।[4]

श्लोक ३१ :

४७. आवर्त्त (आवट्टा)

इसके दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य आवर्त्त—नदि आदि में होने वाला गोलाकार भ्रमर।

२. भाव आवर्त्त—उत्कट मोह कर्म के उदय से व्यक्ति में काम-भोग की अभिलाषा उत्पन्न होती है। तब व्यक्ति उसकी पूर्ति के लिये साधनों को जुटाने का प्रयत्न करता है। यह भाव आवर्त्त है।[5]

श्लोक ३२ :

४८. राजमन्त्री (रायऽमच्चा)

इसका अर्थ है—राजमंत्री। चूर्णिकार ने ईश्वर-सामंत राजा, तलवर—कोटपाल और मडंब (ऐसा गांव जिसके चारों ओर एक योजन तक कोई गांव न हो) के अधिपति को राज-अमात्य माना है।[6] वृत्तिकार ने इसका अर्थ मंत्री, पुरोहित आदि करते हैं।[7] दशवैकालिक की अगस्त्यसिंह स्थविर कृत चूर्णि तथा जिनदास महत्तरकृत चूर्णि में अमात्य का अर्थ दण्डनायक, सेनापति आदि किया है।[8] टीकाकार हरिभद्र ने इसका अर्थ मंत्री किया है।[9]

विशेष विवरण के लिये देखें—दसवेआलियं ६/२ का टिप्पण।

---

१. चूर्णि, पृष्ठ ८५-८६ : यथा तद्दिनसूतिका गृष्टिः स्तनन्धकस्य पीतक्षीरस्य इतश्चेतश्च परिधावतो ईषदुन्नतवावधि सन्नतग्रीवा रम्भायमाणा पृष्ठतोऽनुसर्पति, स्थितं चैनं उल्लिखति, अदूरतोऽस्यावस्थिता स्निग्धया दृष्ट्या निरीक्षते, एवं बंधवा अप्यस्य उदकसमीपं वाऽन्यत्र वा गच्छन्तं मा णासिस्सेहिति त्ति पिठ्ठतो परिसप्पंति, चेडरूवं वा से मग्गतो देन्ति, शयानमासीनं चैनं स्नेहमिवोद्गिरन्त्या दृष्ट्या अदूरतो निरीक्षमाणा अवतिष्ठन्ते।

२. देखें—ठाणं ४/३२९ : जंबुद्दीवस्स णं दीवस्स············चत्तारि महापायाला पण्णत्ता, तं जहा—वलयामुहे, केउए, जूवए, ईसरे।

३. चूर्णि, पृष्ठ ८३ : पाताला नाम वलयामुखाद्याः, सामयिकोऽयं दृष्टान्तः। उभयाविरुद्धस्तु पातालो समुद्र इत्यपदिश्यते।

४. वृत्ति, पत्र ८७ : पाताला इव समुद्रा इवाप्रतिष्ठितभूमितलत्वात्।

५. (क) वृत्ति, पत्र ८७ : आवर्तयन्ति—प्राणिनं भ्रामयन्तीत्यावर्ताः, तत्र द्रव्यावर्ता नद्यादेः भावावर्तास्तूत्कटमोहोदयापादितविषयाभिलाषसंपादकसंपत्पार्थनाविशेषाः।

(ख) चूर्णि, पृ० ८६ : द्रव्यावर्त्ता नदीपूरो, भावावर्त्ता यैः प्रकारैरावर्त्यन्ते संयमभीरवः।

६. चूर्णि, पृ० ८६ : रायमच्चा इस्सर-तलवर-माडंबियादि।

७. वृत्ति, पत्र ८७ : राजामात्याश्च मन्त्रीपुरोहितप्रभृतयः।

८. (क) दसवेआलियं, ६/२ : अगस्त्यसिंह चूर्णि, पृ० १३८ : रायमत्ता अमच्चसेणावतिपभितयो।

(ख) जिनदासचूर्णि, पृ० २०८ : रायमच्चा अमच्चा डंडणायगा सेणावइप्पभितयो।

९. दसवेआलियं, ६/२, हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र १९१ : राजामात्याश्च मन्त्रिणः।

४६. ब्राह्मण (माहणा)

चूर्णिकार ने 'माहण' शब्द का अर्थ भट्ट किया है।[1] आज भी भट्ट ब्राह्मणों की एक जाति है। प्रस्तुत प्रसंग में माहन शब्द का प्रयोग राज्य से संबंधित ब्राह्मणों के लिये किया गया है। राजा, राजामात्य, माहन और क्षत्रिय—ये सभी राज्य से सम्बन्धित हैं।

५०. क्षत्रिय (खत्तिया)

चूर्णिकार के अनुसार गणपालक, गणराज्य में सम्मिलित होने के कारण जो राज्यच्युत हो गये हैं वे अथवा जो न राजा हैं और न राजवंशीय हैं उन्हें क्षत्रिय कहा गया है।[2] वृत्तिकार ने इक्ष्वाकु आदि वंशों में उत्पन्न व्यक्ति को क्षत्रिय माना है।[3] दशवैकालिक सूत्र के व्याख्या ग्रन्थों में इसके अनेक अर्थ प्राप्त हैं।

देखें—दसवेआलियं ६/२ का टिप्पण।

५१. निमन्त्रित करते हैं (णिमंतयंति)

राजा निमंत्रित करते हैं—इस प्रसंग में चूर्णिकार और वृत्तिकार ने उत्तराध्ययन सूत्रगत ब्रह्मदत्त और चित्त के कथानक की ओर संकेत दिया है।[4] चित्त और संभूत दोनों भाई थे। दोनों मुनि बने। दोनों ने अनशन किया। संभूत ने निदान किया। उसके फलस्वरूप वह मरकर ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती हुआ। चित्त का जीव एक सेठ के घर में पुत्ररूप में उत्पन्न हुआ। बड़े होने पर वह दीक्षित हो गया। ब्रह्मदत्त और चित्त दोनों पूर्वभव के भाई थे। एक बार मुनि चित्त कांपिल्यपुर में आये। ब्रह्मदत्त को भाई की स्मृति हो आई। वह मुनि के पास आया। उन्हें पुनः गृहवास में लौट आने के लिये निमंत्रण देते हुये बोला—'मुने! ये विभिन्न प्रासाद हैं। पंचाल देश की विशिष्ट वस्तुओं से युक्त और प्रचुर एवं विचित्र हिरण्य आदि से पूर्ण यह घर है, इसका तुम उपभोग करो। तुम नाट्य, गीत और वाद्यों के साथ नारीजनों से परिवृत होकर इन भोगों को भोगो।[5]

पूरे कथानक के लिये देखें—उत्तराध्ययन के तेरहवें अध्ययन का आमुख।

श्लोक ३४ :

५२. यान के द्वारा (जाणेहिं)

चूर्णिकार ने 'यान' को जल और स्थल—इन दोनों से सम्बन्धित माना है। नौका आदि जलयान हैं। शिविका आदि स्थलयान हैं।[6]

५३. उद्यानक्रीडा (विहारगमणेहि)

इसका अर्थ है—उद्यानिकागमन—उद्यानक्रीड़ा।[7] उत्तराध्ययन में इस अर्थ में विहारयात्रा का प्रयोग मिलता है।[8]

---

१. चूर्णि, पृ० ८६ : माहणा भट्टा।

२. चूर्णि, पृ० ८६ : खत्तिया नाम गणपालगा, गणभुत्तीए वा भ्रष्टराज्या:, जे वा अरायाणो अरायवंसिया।

३. वृत्ति, यत्र ८७ : क्षत्रिया इक्ष्वाकुवंशजप्रभृतयः।

४. (क) चूर्णि पृ० ८६ : तत्थ बंभदत्तेण चित्तो निमंतिओ।
   (ख) वृत्ति, पत्र ८८ : यथा ब्रह्मदत्तचक्रवर्तिना नानाविधैर्भोगैश्चित्रसाधुरूपनिमन्त्रित इति।

५. उत्तरज्झयणाणि १३।१३,१४ : उच्चोयए महु कक्के य बम्भे, पवेइया आवसहा य रम्मा।
इमं गिहं चित्तधणप्पभूयं पसाहि पंचालगुणोववेयं ॥
नट्टेहि गीएहि य वाइएहि नारीजणाइं परिवारयन्तो।
भुंजाहि भोगाइ इमाइ भिक्खू! मम रोयई पव्वज्जा हु दुक्खं ॥

६. चूर्णि, पृ० ८७ : जाणाणि सीदा-संदमाणियादीणि। तं पुण थले य, जले णावादि, थले सीता-संदमाणियादी।

७. (क) चूर्णि, पृ० ८७ : विहारगमणा इति उज्जाणियागमणाइं।
   (ख) वृत्ति, पत्र ८८ : विहारगमनैः विहरणं क्रीडनं विहारस्तेन गमनानि विहारगमनानि—उद्यानादौ क्रीडया गमनानीत्यर्थः।

८. उत्तरज्झयणाणि, २०/२ विहारजत्तं निज्जाओ।

श्लोक ३५ :

५४. श्लोक ३५ :

भोगों के लिये भिक्षु को निमंत्रित करते हुए कहते हैं—भिक्षो ! यदि तुम आज गृहवास में भी आ जाओगे तो भी प्रव्रज्या ग्रहण करते समय जो महाव्रत अंगीकार किये थे, वे वैसे ही रहेंगे। उनका फल नष्ट नहीं होगा। वह तो तुमको अवश्य ही प्राप्त होगा, क्योंकि किये हुये सुकृत या दुष्कृत का कभी नाश नहीं होता।[1]

श्लोक ३६ :

५५. चारा (णीवार)

इसका अर्थ है—चावलों की भूसी, चारा। उत्तराध्ययन १/५ में 'कणकुंडग' शब्द आया है। 'णीवार' और 'कणकुंडग' एकार्थक प्रतीत होते हैं। चूर्णिकार ने णीवार का अर्थ—कुंडग आदि किया है। उन्होंने लिखा है कि सूअर नीवार को पाकर घर में ही बैठा रहता है, वह जंगल में चरने नहीं जाता। अंत में वह मारा जाता है।[2]

वृत्तिकार ने 'नीवार' का अर्थ—विशेष प्रकार के चावल के कण किया है।[3] यह संभव है कि चावलों कि भूसी के साथ चावलों के कुछ कण भी मिश्रित कर सूअरों को दिये जाते थे। निशीथ भाष्य गाथा १५८८ की चूर्णि में कुक्कुस मिश्रित कणिका को 'कुंडक' कहा गया है।[4] शब्दकोष में नीवार का अर्थ वनव्रीहि—जंगली चावल मिलता है।[5]

विशेष विवरण के लिये देखें—उत्तरज्झयणाणि, १/५ का टिप्पण।

५६. श्लोक ३६ :

तुम्हें प्रव्रजित हुये लंबा समय बीत चुका है। तुमने धर्म की आराधना चिरकाल तक की है। विहार करते हुये तुमने अनेक प्रकार के देश, तपोवन और तीर्थ देखे हैं। ऐसी स्थिति में अब तुममें दोष ही क्या रह गया है? यदि कोई व्यक्ति चोरी या व्यभिचार करता तो उसके दोष बढ़ते जाते किन्तु तुमने तो धर्म की आराधना की है, अतः तुम्हारे सारे दोप निःशेष हो गये हैं। तुमने महान् तपस्याएं की हैं, जिनके फलस्वरूप तुम्हारे सारे दोष नष्ट हो गये हैं। अब तुम यदि श्रामण्य का परित्याग कर गृहवास में लौट आते हो तो भी लोग तुम्हारी निन्दा नहीं करेंगे। देखो, जो व्यक्ति तीर्थयात्रा के लिये घर से निकलता है, वह भी उचित अवधि के बाद पुनः घर लौट आता है। अतः तुम घर चलो, किसी बात की आशंका मत करो।[6]

श्लोक ३७ :

५७. ऊंची चढाई में (उज्जाणंसि)

नदी, तीर्थस्थल और पर्वत की भूमि चढ़ाई युक्त होती है, अतः उसे उद्यान कहा जाता है।[7] वृत्तिकार ने मार्ग के उन्नत भाग को उद्यान कहा है।[8]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ८७।
   (ख) वृत्ति, पत्र ८८।

२. चूर्णि, पृ० ८७ : णीयारो नाम कुंडगादि, स तेण णीयारेण ट्ठितो घरसूयरगो अडविं ण वच्चति, मारिज्जति य।

३. वृत्ति पत्र ८८ : नीवारेण व्रीहिविशेषकणदानेन।

४. निशीथ भाष्य, गाथा १५८८-चूर्णि : तुसमुहीकणिया कुक्कुसमीसा कुंडगं भण्णति।

५. अभिधानचिन्तामणि, ४।२४२ : नीवारस्तु वनव्रीहिः।

६. चूर्णि, पृष्ठ ८७ : चिरं तुमे धम्मो कतो, दूइज्जता य णाणा पगारा देसा दिट्ठा तवोवणाणि तित्थाणि य। दोष इदानीं कुतस्तव ? किं त्वया चौरत्वं कृतं पारदारिकत्वं वा ? । अथवा दोसो पावं अधर्म इत्यर्थः, स कुतस्तव ?, क्षपितस्त्वया, कृतं सुमहत् तपः, ण य ते उप्पव्वयंतस्स वयणिज्जं भविस्सति, किं भवं चोरो पारदारिगो वा ? ननु तीर्थयात्रा अपि कृत्वा पुनरपि गृहमागम्यते।

७. चूर्णि पृ० ८७ : ऊर्ध्वं यानं उद्यानम्, तत्र (तच्च) नदी तीर्थस्थलं गिरिपब्भारो वा।

८. वृत्ति, पत्र ८८। ऊर्ध्वं यानमुद्यानं— मार्गस्योन्नतो भाग उट्टङ्कमित्यर्थः।

श्लोक ३८ :

५८. तपस्या से (उवहाणेण)

चूर्णिकार ने 'उवाहाणेण' के लिये 'तवोवहाणेण' का प्रयोग किया है। उत्तराध्ययन (२/४३) में भी 'तवोवहाण' का प्रयोग मिलता है। उपधान शब्द का प्रयोग तप के साथ भी मिलता है और स्वतंत्ररूप में भी मिलता है। यहां इसका प्रयोग संयम को सहारा देने वाले तप के अर्थ में हुआ है। जैसे तकिया सिर को सहारा देता है वैसे ही तप संयम को सहारा देता है। उपधान का एक अर्थ 'तकिया' भी है। प्रस्तुत सूत्र के ११/३५ में उपधानवीर्य का अर्थ तपोवीर्य किया है।[1]

देखें—६/२० का टिप्पण।

श्लोक ४० :

५९. गढ़ा (वलय)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—एक द्वार वाला गर्ता—परिक्षेप (खाई का घेरा)। वह वलय के आकार का होता है इसलिए 'वलय' कहलाता है।[2]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—ऐसी वलयाकार खाई जिसमें पानी भरा हो या ऐसा जलरहित गढ़ा जिसमें प्रवेश या निर्गम कठिन हो।[3]

६०. खाई (गहन)

चूर्णिकार ने वृक्ष, लता, गुल्म आदि के झुरमुट को 'गहन' माना है।[4] वृत्तिकार ने कटिसंस्थानीय धव आदि वृक्षों से युक्त स्थान को 'गहन' माना है।[5]

६१. गुफा (णूम)

णूम का अर्थ है—गुफा। चूर्णिकार के अनुसार 'नूम' का अर्थ है अप्रकाश (अन्धकार)। जहां व्यक्ति अपने आपको छिपाता है, उस गढ़े, गुफा आदि को 'नूम' कहा जाता है।[6] वृत्तिकार ने प्रच्छन्न पर्वतीय गुफा को 'नूम' माना है।[7]

श्लोक ४२ :

६२. श्लोक ४२ :

अर्थोपार्जन और अर्थ-संग्रह का एक कारण है भविष्य की चिन्ता और आश्वासन। मनुष्य बुढ़ापे, बीमारी आदि कठिन परिस्थितियों में अपने आपको सुरक्षित रखने के लिये अर्थ का संग्रह करता है। मुनि की आत्मा भी दुर्बल होती है तब उसे भी भविष्य का भय सताने लग जाता है और वह भविष्य की चिंता से संत्रस्त होकर अर्थकरी विद्या—गणित, निमित्त, ज्योतिष, न्यायशास्त्र और शब्दशास्त्र का अध्ययन करता है।[8] वृत्तिकार ने श्रुत की कुछ अन्य शाखाओं का भी उल्लेख किया है। जैसे—

---

१. सूयगडो ११।३५, चूर्णि पृष्ठ २०३ : उपधानवीर्यं नाम तपोवीर्यं।

२. चूर्णि पृ० ८८ : वलयं णाम एक्कदुवारो गड्डापरिक्खेवो वलयसंठितो वलयं भण्णति।

३. वृत्ति, पत्र ८९ : 'वलय' मिति यत्रोदकं वलयाकारेण व्यवस्थितम् उदकरहिता वा गर्ता दुःखनिर्गमप्रवेशा।

४. चूर्णि, पृ० ८६ : गृह्यते यत् तद् गहनं वृक्षगहनं लता-गुल्म-वितानादि च।

५. वृत्ति, पत्र ८९ : गहनं धवादिवृक्षैः, कटिसंस्थानीयम्।

६. चूर्णि, पृष्ठ ८८ : नूमं नाम अप्रकाशं जत्थ णूमेति अप्पाणं गड्डाए दरीए वा।

७. वृत्ति, पत्र ८९ : 'णूमं' ति प्रच्छन्नं गिरिगुहादिकम्।

८. चूर्णि, पृष्ठ ८९ : इमानीति अर्थोपार्जनसमर्थानि गणिय-णिमित्त-जोइस-वाय-सद्दसत्थाणि।

वैद्यकशास्त्र, होराशास्त्र, मंत्र-विद्या आदि।[1]

श्लोक ४३ :

६३. श्लोक ४३ :

मुनि-धर्म से विचलित होने वाले व्यक्ति सोचते हैं कि न तो हमने पहले धन अर्जित किया था और न पैतृक धन प्राप्त है, इसलिये घर में जाने के बाद हम प्रवक्ता बनेंगे—जादू-टोना, विद्या-मंत्र आदि का प्रयोग करेंगे। इस दृष्टि से वे पापश्रुत का अध्ययन करने लग जाते हैं।[2]

श्लोक ४५ :

६४. श्लोक ४५ :

'ज्ञात' का अर्थ है—लोक-प्रसिद्ध। जो व्यक्ति नाम, कुल, शौर्य और शिक्षा के आधार पर विश्रुत होता है उसे 'ज्ञात' कहते हैं। जैसे चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, माण्डलिक राजा आदि।[3] वृत्तिकार ने अगले श्लोक में 'एवं' पद की व्याख्या में यही अर्थ किया है।[4]

इस प्रकार के योद्धा एक दृढ़ संकल्प के साथ चलते हैं। उनका संकल्प होता है—शत्रु सेना को जीतेंगे अथवा मर जायेंगे, किन्तु पीछे नहीं हटेंगे। चूर्णिकार ने इस प्रसंग में आवश्यक निर्युक्ति की गाथा उद्धृत की है—

'तरितव्वा व पइण्णिया, मरितव्वं वा समरे समत्थएणं।
असरिसजणउल्लावया, ण हु सहितव्वा कुले पसूयएणं।'

प्रतिज्ञा का निर्वाह करेंगे अथवा समरांगण में प्राण दे देंगे। कुलीन पुरुष युद्ध में पीठ दिखाकर लोगों का ताना नहीं सह सकता।[5]

श्लोक ४६ :

६५. छोड़कर (तिरियं कट्टु)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—प्रतिकूल[6] और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—छोड़कर[7] किया है। आयारो (२/१३३) में

---

१. वृत्ति, पत्र ९० : निष्किञ्चनोऽहं किं मम वृद्धावस्थायां ग्लानाद्यवस्थायां दुर्भिक्षे वा त्राणाय स्यादित्येवमाजीविकाभयमुत्प्रेक्ष्य 'अवकल्पयन्ति' परिकल्पयन्ति मन्यन्ते—इदं व्याकरणं, गणितं, जोतिष्कं, वैद्यकं, होराशास्त्रं, मन्त्रादिकं वा श्रुतमधीतं ममावमादौ त्राणाय स्यादिति।

२. (क) चूर्णि, पृ० ८९ : परिसहजिता अमुकेण चेव लिंगेण कोंटल-वेंटलादीहिं कज्जेहिं अट्टज्झाणेण चोदिज्जंता पवक्खामो, चोदिज्जंता, पुच्छिज्जंता, प्रायशः कुण्टलट्टीओ लोगो समणे पुच्छति तत्थ चरेस्सामो विज्जा-मंते य पउंजिस्सामो। ण णे अत्थि पकप्पियं ति ण किंचि अम्हेहिं पुव्वोवज्जितं धणं पेइयं वा। एवं णच्चा पावसुतपसंगं करेंति।

(ख) वृत्ति, पत्र ९० : इत्येवं ते वराकाः प्रकल्पयन्ति, न नः अस्माकं किञ्चन प्रकल्पितं पूर्वोपार्जितद्रव्यजातमस्ति यत्तस्यावस्थायामुपयोगं यास्यति, अतः 'चोद्यमानाः' परेण पृच्छ्यमाना हस्तिशिक्षाधनुर्वेदादिकं कुटिलविण्टलादिकं वा प्रवक्ष्यामः कथयिष्यामः प्रयोक्ष्यामः।

३. चूर्णि, पृष्ठ ८९ : ज्ञाता णाम प्रत्यभिज्ञाता नामतः कुलतः शौर्यतः शिक्षातः। तद्यथा—चक्रवर्त्ति-बलदेव-वासुदेव-माण्डलीकादयः।

४. वृत्ति, पत्र ९१ : एवं इत्यादि यथा सुभटा ज्ञाता नामतः कुलतः शौर्यतः शिक्षातश्च तथा सन्नद्धबद्धपरिकराः करगृहीतहेतयः प्रतिभटसमितिभेदिनो न पृष्ठतोऽवलोकयन्ति।

५. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १२५६, चूर्णि, पृ० ८९ : ते तु संपहारेंति—तरितव्वा व पइण्णिया·········परबलं जेतव्वं वा मरितव्वं वा।

६. चूर्णि, पृ० ९० : वितिरियं णाम वितिरिच्छं वोलेंति, अनुलोमेहिं दुक्खमतिक्राम्यन्ते नदीश्रोतोवत्।

७. वृत्ति, पत्र ९१ : 'तिर्यक्कृत्वा' अपहस्त्य।

'तिरिच्छ' शब्द आया है। आचारांग के चूर्णिकार और वृत्तिकार शीलांकसूरी ने उसका अर्थ प्रतिकूल किया है।[1] हमने पूर्वापर संबंध के आधार पर आयारो के प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ 'मध्य' किया है।[2]

६६. आत्महित के लिए (अत्तत्ताए)

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किये हैं[3]—

१. आत्महित के लिए।
२. मोक्ष या संयम के लिए।
३. आप्तात्मा—इष्ट या वीतराग की तरह।

वृत्तिकार के अनुसार इसके तीन अर्थ ये हैं[4]—

१. आत्मत्व—समस्त कर्म-मल से रहित आत्मत्व के लिए।
२. मोक्ष के लिए।
३. संयम के लिए।

श्लोक ४८ :

६७. गृहस्थों... (संबद्ध...)

पुत्र-स्त्री आदि के बंधन से बंधे व्यक्ति संबद्ध कहलाते हैं। यहां संबद्ध शब्द का प्रयोग गृहस्थ के अर्थ में किया गया है।[5]

६८. श्लोक ४८ :

वे अन्यतीर्थक कहते हैं—आपका सारा व्यवहार गृहस्थों जैसा है। जैसे माता पुत्र में मूर्च्छित होती है और पुत्र माता में, उसी प्रकार आपकी परंपरा में आचार्य शिष्य में मूर्च्छित होते हैं और शिष्य आचार्य में। जैसे गृहस्थ रोगी की परिचर्या करता है वैसे ही आप भी आचार्य, वृद्ध और रोगी की परिचर्या करते हैं। उन्हें आहार, वस्त्र-पात्र तथा स्थान की सुविधाएं देते हैं। यह तो गृहस्थ-नीति है कि परस्पर में एक दूसरे का दान आदि से उपकार किया जाये। ये कार्य साधु के योग्य नहीं हैं।[6]

श्लोक ५० :

६९. मोक्ष-विशारद (मोक्खविसारए)

मोक्ष-विशारद का अर्थ है—मोक्षमार्ग का प्ररूपक। चूर्णिकार ने विशारद का अर्थ 'सिद्धान्त विज्ञायक'[7] और वृत्तिकार

---

१. (क) आचारांग चूर्णि पृ० ८५ : पडिकूलेणं तिरिच्छेण वा।
(ख) आचारांग वृत्ति पत्र १२५ : प्रतिकूलेन वा तिरश्चीनेन वा।

२ आयारो, पृ० ९७············मध्य में············।

३ चूर्णि, पृ० ९० : अत्तत्ताए आत्महिताय सर्वतो संव्रजेत्, सिद्धिगमनोद्यतेन मनसा। अथवा—आतो मोक्षः सञ्जमो वा अस्यार्थः 'आतत्थाए'। अथवा आप्तस्याऽऽत्मा आप्तात्मा, आप्तामेव आत्मा यास्य स भवति आप्तात्मा इष्टः वीतराग इव।

४. वृत्ति, पत्र ९१ : आत्मनो भाव आत्मत्वम्—अशेषकर्मकलङ्करहितत्वं तस्मै आत्मवत्ताय, यदिवा—आत्मा—मोक्षः संयमो वा तद्भावस्तस्मै तदर्थम्।

५. (क) चूर्णि, पृ० ९० : समस्तं बद्धाः संबद्धा पुत्रदाराविभिर्ग्रन्थैर्गृहस्थाः।
(ख) वृत्ति, पत्र ९१ : सम्—एकीभावेन परस्परोपकार्योपकारितया च 'बद्धाः' पुत्र-कलत्रादिस्नेहपाशैः सम्बद्धाः—गृहस्थाः।

६. (क) चूर्णि, पृष्ठ ९० : माता पुत्ते मुच्छिता पुत्तो वि मातरि, एवं भवन्तो ऽपि शिष्या-ऽऽचार्यादिभिः परस्परं संबद्धाः। अन्यच्चेदं कुर्वीत—············भैक्षम्, एवं पिंडवायं गिलाणस्स आणेत्ता देध, यच्च परस्परतः सारेव वारेध पडिचोदेध सेज्जातो उट्ठवेध त्ति, जं च गिलाणस्स आयरिय-वुड्ढ-मामाएसु आहार-उवधि-वसधिमादिएहि य उवग्गहं करेह।
(ख) वृत्ति, पत्र ९१, ९२।

७. चूर्णि, पृ० ९१ : विसारदो नाम सिद्धान्तविज्ञायकः।

ने 'प्ररूपक' किया है ।[1]

७०. द्विपक्ष (दुपक्खं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—सांपरायिक-कर्म तथा गृहस्थत्व ।[2]

वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिये हैं—'दुष्पक्षः' और 'द्विपक्षः' और उनके भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं । असत् प्रतिज्ञा का स्वीकरण होने के कारण आप दुप्पक्ष हैं तथा दो पक्षों-राग और द्वेष-का सेवन करने के कारण द्विपक्ष हैं । अपने सदोष सिद्धान्त का समर्थन करने के कारण आपमें राग और हमारे निर्दोष अभ्युपगम को दूषित करने के कारण आपमें द्वेष का सद्भाव है ।

अथवा संन्यास और गृहस्थ— इन दोनों पक्षों का सेवन करने के कारण आप द्विपक्षसेवी हैं । कन्द-मूल, दण्डित भोजन, कच्चा जल आदि लेने के कारण आप गृहस्थ पक्ष का सेवन करते हैं और साधुवेष को धारण करने के कारण आप संन्यासपक्ष का सेवन करते हैं ।

अथवा आप स्वयं असद्-अनुष्ठान करते हैं और दूसरे के सद्-अनुष्ठान की निन्दा करते हैं—इस प्रकार द्विपक्षसेवी हैं ।[3]

हमने द्विपक्ष से संन्यास और गृहस्थ का ग्रहण किया है ।

श्लोक ५१ :

७१. धातुपात्रों में (पाएसु)

हमने इसका अर्थ—धातुपात्र किया है । वृत्तिकार ने इसका अर्थ कांसी का पात्र किया है ।[4] चूर्णिकार का कथन है कि आजीवक श्रमण गृहस्थ के कांसी के पात्रों में भोजन करते हैं ।[5]

चूर्णिकार ने प्रस्तुत श्लोक का अर्थ-विस्तार किया है । जैन श्रमण अन्यतीर्थिकों को कहते हैं—आप जिन भिक्षा-पात्रों में भिक्षा लेते हैं, उनके प्रति आसक्त होते हैं । आहार, उपकरण और स्वाध्याय, ध्यान में मूर्च्छा करते हैं । जो रुग्ण संन्यासी भिक्षा के लिए जाने में असमर्थ होता है, उसके लिए भक्त-उपासकों द्वारा, कुलक या दूसरे पात्रों में लाया हुआ भोजन आप स्वीकार करते हैं । इस प्रकार आप दूसरों के पात्र का उपभोग करते हैं । इससे बंध होता है । जो व्यक्ति भोजन लाता है, मार्ग में उससे जीववध भी होता है । वह आपके लिए भोजन लाता है । वह आपका उपासक होते हुए भी कर्मबंध से लिप्त होता है । यदि पात्र रखना दोष है तो पाणिपात्र होना भी दोषप्रद है । वह आपको भोजन देता हुआ क्या सत्पथ का अनुगामी है या उत्पथ का ? आप सब मृग की भांति अज्ञानी हैं । जैसे मृग शंकास्पद स्थानों के प्रति निःशंक और निःशंक स्थानों के प्रति शंकाशील होता है, वैसे ही आप हैं ।[6]

---

१. वृत्ति, पत्र ९२ : विशारदो मोक्षमार्गस्य—सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपस्य प्ररूपकः ।

२. चूर्णि, पृ० ९१ : दुपक्खो णाम संपराइयं कम्मं भण्णति गृहस्थत्वं वा ।

३. वृत्ति, पत्र ९२ : दुष्टः पक्षो दुष्पक्षः—असत्प्रतिज्ञाभ्युपगमस्तमेव सेवध्वं यूयं, यदिवा—रागद्वेषात्मकं पक्षद्वयं सेवध्वं यूयं, तथाहि—सदोषस्याप्यात्मीयपक्षस्य समर्थनाद्रागो, निष्कलङ्कस्याप्यस्मदभ्युपगमस्य दूषणाद्द्वेषः, अथै (थवं) वं पक्षद्वयं सेवध्वं यूयं, तद्यथा—वक्ष्यमाणनीत्या बीजोदकोद्दिष्टकृतभोजित्वाद्गृहस्थाः यतिलिङ्गाभ्युपगमात्किल प्रव्रजिताश्चेत्येवं पक्षद्वयासेवनं भवतामिति, यदिवा—स्वतोऽसदनुष्ठानमपरञ्च सदनुष्ठायिना निन्दनमितिभावः ।

४. वृत्ति, पत्र ९२ : पात्रेषु—कांस्यपात्र्यादिसु गृहस्थभाजनेषु ।

५. चूर्णि, पृ० ९१ : आजीवका परातकेसु कंसपादेसु भुजंति ।

६. चूर्णि, पृ० ९१ । तुब्भे जेहिं भिक्खाभायणेहिं भिक्खं गेण्हध तेहि आसंगं करेध,······ आधारोवकरण-सज्झाय-ज्झाणेसु य मुच्छं करेध, गिलाणस्स य पिंडवातपडियाए गंतुमसमत्थस्स भत्तं मत्तेहिं कुलगेण वा अण्णतरेण वा मत्तेहिं अभिहडं भुंजध, एवं तुब्भेहिं पायपरिभोगेहिं बंधोऽणुण्णातो भवति, अन्तरा य कायवधो सो य तुध णिमित्तं, आणंतो भत्तिमंतो वि कम्मबंधेण लिप्पति, पाणिपायं पि ण य कायव्वं जति पादे दोसो, स च किं तुज्ज देंतो णट्ठसप्पधसब्भावो ? उदाहु सप्पधि वट्टति ? । अविण्णाण य मिगसरिसा तुब्भे जेण असंकिताइं संकध संकितट्ठाणाइं ण संकध त्ति ।

७२. कंदमूल····· कच्चा जल (बीओदगं)

यहां 'बीज' से कन्दमूल का तथा 'उदग' से कच्चे जल का ग्रहण किया है।[1]

श्लोक ५२ :

७३. तीव्र कषाय से (तिव्वाभितावेण)

चूर्णिकार ने 'अभिताव' का अर्थ अमर्ष—दर्शनमोहनीय कर्म के उदय से होने वाला क्रोध, मानरूपी कषाय का उदय किया है।[2] वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल कर्म-बंध किया है।[3] चूर्णिकार का अर्थ तर्क-संगत लगता है।

७४. (विवेक) शून्य (उज्झिय)

इसका अर्थ है—विवेक-शून्य। अन्यतीर्थिक विवेकशून्य हैं क्योंकि भिक्षापात्र न रखने के कारण उन्हें गृहस्थों के घर गृहस्थों के पात्रों में खाना पड़ता है और वहां अपने निमित्त बनाए भोजन का स्वीकरण होता है।[4]

७५. असमाहित (असमाहिया)

चूर्णिकार[5] ने इसका अर्थ—आतुरीभूत और वृत्तिकार[6] ने शुभ अध्यवसाय से रहित किया है।

श्लोक ५३ :

७६. अप्रतिज्ञ (विषय के संकल्प से अतीत) (अपडिण्णेण)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—विषय और कषाय से निवृत्त किया है।[7] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—राग-द्वेष से अतीत किया है। 'मुझे असत् का भी समर्थन करना चाहिए'—जिसके ऐसी प्रतिज्ञा नहीं होती वह अप्रतिज्ञ है।[8]

७७. युक्तिसंगत (णियए)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ नित्य—अव्याहत किया है।[9] वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—निश्चित और युक्तिसंगत।[10]

श्लोक ५४:

७८. बांस की फुनगी की तरह (अग्गे वेणुव्व)

मुनि ग्लान मुनि को आहार लाकर न दे—यह आपकी सिद्धान्त वाणी वंश के अग्रभाग की भांति बहुत कृश है। वह युक्ति को झेलने में सक्षम नहीं है। इस व्याख्या का आधार वृत्ति है।[11] चूर्णिकार ने मूल पाठ 'अग्गि वेलल्व करिसिता' माना है। उसका अर्थ किया है—बिल्व मूल में स्थूल और अग्रभाग में कृश होता है। वैसे ही आपकी वाणी अग्रभाग में कृश होने के कारण निश्चय

१. चूर्णि, पृ० ९१ : बीओदगं·········कंदमूलाणि ताव सयं भुंजध, सीतोदगं पिबध।

२. चूर्णि, पृ० ९१ : तिव्वाभितावो णाम तीव्रोऽमर्षः : दंसणमोहणिज्जकम्मोदएणं कोध-माण-कसायोदएण य लित्ता।

३. वृत्ति, पत्र ९२ : तीव्रोऽभितापःकर्मबंधरूपः।

४. वृत्ति, पत्र ९२ : उज्झिय त्ति सद्विवेकशून्या भिक्षापात्रादित्यागात्परगृहभोजितयोद्देशकादिभोजित्वात् :

५. चूर्णि, पृ० ९१ : असमाहिता आतुरीभूता।

६. वृत्ति, पत्र ९३ : असमाहिताः शुभाध्यवसायरहिताः सत्साधुप्रद्वेषित्वात्।

७. चूर्णि, पृ० ९२ : अपडिण्णेणं ति विसय-कसायणियत्तेण।

८. वृत्ति, पत्र ९३ : अप्रतिज्ञेन नास्य ममेदमसदपि समर्थनीयमित्येवं प्रतिज्ञा विद्यते इत्यप्रतिज्ञो—रागद्वेषरहितः।

९. चूर्णि, पृ० ९२ : णितिओ णाम णाम नित्यः अव्याहतः एषः।

१०. वृत्ति, पत्र ९३ : नियतो, ···निश्चितो ···युक्तिसङ्गतः।

११. वृत्ति, पत्र ९३ : यतिना ग्लानस्यानीय न देयमित्येषा अग्रे वेणुवद्—वंशवत् कर्षिता तन्वी युक्त्यक्षमत्वात् दुर्बलेत्यर्थः।

तक ले जाने वाली नहीं है।[1]

चूर्णिकार ने 'अग्गे वेणुव्व' की पाठान्तर के रूप में व्याख्या की है। जैसे—बांस के झुरमुट में कोई बांस मूल से कट जाने पर भी, परस्पर संबद्ध होने के कारण उसे ऊपर से या नीचे से नहीं खींचा जा सकता। वह भूमि तक नहीं पहुंच पाता। इसी प्रकार आपकी बात निश्चय तक नहीं पहुंच पा रही है। आप गृहस्थ के द्वारा आनीत आहार को खाना श्रेय बतलाते हैं और मुनि के द्वारा आनीत आहार को खाना अश्रेय बतलाते हैं। यह सिद्धान्त युक्तिक्षम नहीं है।[2]

व्यवहार भाष्य में भी वंश की उपमा प्राप्त है। जैसे वांसों की झुरमुट में मूल से कटा हुआ बांस भी, परस्पर संबद्ध होने के कारण भूमि तक नहीं पहुंचता, बीच में ही स्खलित हो जाता है।[3]

श्लोक ५५ :

७६. श्लोक ५५ :

'रुग्ण श्रमण की सेवा करने वाला गृहस्थ के समान आचार वाला होता है'—आजीवक जैन श्रमणों पर यह आरोप लगाते थे। ४७वें श्लोक में 'परिभासंति' शब्द की व्याख्या में आरोप लगाने वालों के रूप में आजीवक और दिगम्बर का उल्लेख किया है।[4] दिगंबर का उल्लेख स्वाभाविक नहीं है। प्रस्तुत सूत्र की रचना के समय श्वेताम्बर-दिगम्बर जैसा कोई विभाग नहीं था। यह आरोप आजीवकों का हो सकता है। इस प्रकरण से ज्ञात होता है कि जैन श्रमण रुग्ण श्रमण की परिचर्या करते थे, उसे भोजन लाकर देते थे और पात्र रखते थे। आजीवक ऐसा नहीं करते थे। वे रुग्ण अवस्था में गृहस्थों से परिचर्या करवाते थे। उनके द्वारा लाया हुआ भोजन लेते थे। आजीवकों का आरोप था जो श्रमण है, उसे दूसरे श्रमण को दान देने का अधिकार नहीं है। श्रमण को दान देने का अधिकार गृहस्थ को है। जो श्रमण रुग्ण श्रमण को आहार लाकर देते हैं वे गृहस्थ के समान हो जाते हैं। इस आरोप के उत्तर में जैन श्रमणों ने कहा—'ये दो विकल्प हैं—(१) श्रमण के द्वारा लाया हुआ आहार लेना (२) गृहस्थ के द्वारा लाया हुआ आहार लेना – इन दोनों में हम प्रथम विकल्प को श्रेष्ठ मानते हैं।' अजीवकों ने कहा—हम दूसरे विकल्प को श्रेष्ठ मानते हैं। जैन श्रमणों ने कहा—आपका यह वचन निश्चय तक पहुंचाने वाला नहीं है। जैसे बांस जड़ में स्थूल और अग्रभाग में पतला होता है वैसे ही आपका यह वचन संकल्प में स्थूल है किन्तु निश्चायक नहीं है। आप लोग गृहस्थों का लाया हुआ खाते हैं किन्तु भिक्षु के द्वारा लाया हुआ नहीं खाते। क्या गृहस्थ देखकर चलता है? क्या वह चलते हुए हिंसा नहीं करता? क्या वह भिक्षु के लिये भोजन तैयार नहीं करता? वह इन सब दोषों का सेवन करता है, फिर भी आप लोग उसके द्वारा लाया हुआ भोजन स्वीकार करते हैं और एक भिक्षु अहिंसा पूर्वक भोजन लाकर देता है, उसे आप सदोष मानते हैं, इसलिए आपका वचन अहिंसा की दृष्टि से निश्चायक नहीं है।[5]

---

१. चूर्णि, पृ० ६२ : बिल्वो हि मूले स्थिरः अग्रे कर्षितः, एवमियं वाग् भवतां संकल्पस्थूरा, निश्चयाकृता न हि भवन्तः, न सम्बद्धकल्पाः।

२ चूर्णि पृ० ६२ : अथवा—एरिसा मे वई एसा अग्गे वेलु व्व करिसिति' त्ति, जधा व वंसीकडिल्ले वंसो (ऽ) मूलच्छिण्णो न शक्यते अन्योन्यसम्बंधत्वान्न शक्यतेऽधस्तादुपरिष्टाद्वा कर्षितुम्। यथाऽसौ वंसो ण णिव्वहति एवं भवतामपि इयं वाग् न निर्वाहिका, तत्र अनिर्वाहिका गिहिणो अभिहडं सेयं, भवन्तो हि सम्प्रतिपन्ना निर्मुक्तत्वात् संसारान्तं करिष्यामः तन्न निर्वहति, कथम्? यद् भवतां ग्लायतामग्लायतां गृहस्थः कन्दादीनां मात्रेणाऽऽनयित्वा ददाति तत् किल भोक्तुं श्रेयः न तु यद् भिक्षुणाऽऽनीतमिति, एषा हि वाग् भवतां न निर्वाहिका।

३. व्यवहार भाष्य २४६ : वृत्ति पत्र ४५ : वंसकडिल्ले—वंशगहने छिन्नोऽपि वेणुको वंशो महीं न प्राप्नोति। अन्यैरन्यैर्वंशैरपान्तराले ऽस्खलितत्वात्।

४. (क) सूयगडो ३।४७ : परिभासंति, चूर्णि पृ० ९० : आजीविकप्रायाः अन्यतीर्थिकाः, सुत्तं अणागतोभासियं च काऊण बोडिगा।
(ख) वृत्ति, पत्र ९१ : ते च गोशालकमतानुसारिण आजीविका दिगम्बरा वा·········परि—समन्ताद्भाषन्ते।

५. (क) चूर्णि, पृ० ६२।
(ख) वृत्ति, पत्र ९३।

श्लोक ५६ :

८०. अनुयुक्तियों के द्वारा (अणुजुत्तीहिं)

चूर्णिकार ने हेतु और तर्क की युक्तियों को अनुयुक्ति माना है।[1] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—प्रमाणभूत हेतु और दृष्टान्त—किया है।[2]

८१. वाद को (वायं)

जो छल, जाति, निग्रहस्थान आदि से रहित हो[3] तथा जो सम्यग् हेतु और दृष्टान्तों से युक्त हो[4] वह वाद है।

८२. धृष्ट हो जाते हैं (पगब्भिया)

वे तीर्थिक धृष्ट होकर कहते हैं—पुराण, मनुस्मृति, अंगों सहित वेद तथा चिकित्सा शास्त्र—ये चारों आज्ञा-सिद्ध हैं। इनमें जो कहा है उसे वैसा ही मान लेना चाहिए। उसके विषय में कोई तर्क नहीं होना चाहिए। युक्ति और अनुमान—ये धर्म-परीक्षण के बहिरंग साधन हैं। इनका प्रयोजन ही क्या है? हमारे द्वारा स्वीकृत या अभिमत धर्म ही श्रेय है, दूसरा नहीं। क्योंकि हमारे इस अभिमत के प्रति बहुसंख्यक लोग तथा राजा आदि विशिष्ट व्यक्ति आकृष्ट हैं। इस कथन के प्रत्युत्तर में जैन श्रमण कहते हैं—बहुसंख्यक अज्ञानियों से कौन-सा प्रयोजन सिद्ध होता है?[5]

एरंडकट्ठरासी, जहा य गोसीसचंदनपलस्स।
मोल्ले न होज्ज सरिसो, कित्तियमेत्तो गणिज्जंतो ॥१
तहवि गणणातिरेगो, जह रासी सो न चंदनसरिच्छो।
तह निव्विण्णाणमहाजणोवि, सोज्झे विसंवयति ॥२
एक्को सचक्खुगो जह अंधलयाणं सएहिं बहुएहिं।
होइ वरं दट्ठव्वो, ण हु ते बहुगा अपेच्छंता ॥३
एवं बहुगावि मूढा, ण पमाणं जे गइं ण याणंति।
संसारगमणगुविलं, णिउणस्स य बंधमोक्खस्स ॥४

१.२. एक ओर एरंड वृक्ष के काठ का भारा है और एक ओर गोशीर्ष चन्दन का एक पल। दोनों का मूल्य समान नहीं हो सकता। गिनती में एरंड के काष्ठ के टुकड़े अधिक हो सकते हैं, पर उनका मूल्य चन्दन तक नहीं पहुंच सकता। इसी प्रकार अज्ञानी लोगों की संख्या अधिक हो सकती है, पर उसका मूल्य ही क्या?

३. हजारों अन्धों से एक आंख वाला अच्छा होता है। हजार अन्धे भी एकत्रित होकर कुछ भी नहीं देख पाते। अकेला आंख वाला सब कुछ देख लेता है।

४. इसी प्रकार मूढ़ व्यक्ति बहुसंख्यक होने पर भी प्रमाण नहीं होते, क्योंकि वे बंध और मोक्ष के उपायों को नहीं जानते और संसार से पार होने की गति के अजान होते हैं।[6]

---

१. चूर्णि, पृ० ९३ : योजनं युक्तिः, अनुयुज्यत इति अनुयुक्तिः, अनुगता अनुयुक्ता वा युक्तिः अनुयुक्तिः। सर्वैः हेतु-युक्तिभिः सतर्कयुक्तिभिर्वा।

२. वृत्ति पत्र ९३ : सर्वाभिरर्थानुगताभिर्युक्तिभिः सर्वैरेव हेतुदृष्टान्तैः प्रमाणभूतैः।

३. चूर्णि, पृ० ९३ : वादो णाम छल-जाति-निग्रहस्थानवर्जितः।

४. वृत्ति, पत्र ९३, ९४ : सम्यग्हेतुदृष्टान्तैर्यो वादो-जल्पः।

५. वृत्ति, पत्र ९४ : प्रगल्भिताः—धृष्टतां गता इदमूचुः, तद्यथा—'पुराणं मानवो धर्मः साङ्गो वेदश्चिकित्सितम्। आज्ञासिद्धानि चत्वारि, न हन्तव्यानि हेतुभिः ॥' अन्यच्च किमनया बहिरङ्गया युक्त्याऽनुमानादिकयाऽत्र धर्मपरीक्षणे विधेये कर्त्तव्यमस्ति, यतः प्रत्यक्ष एव बहुजनसंमतत्वेन राजाद्याश्रयणाच्चायमेवास्मदभिप्रेतो धर्मः श्रेयान्नपर इत्येवं विवदन्ते, तेषामिदमुत्तरम्—न ह्यत्र ज्ञानादि-साररहितेन बहुनाऽपि प्रयोजनमस्तीति।

६. चूर्णि, पृ० ९३। वृत्ति, पत्र ९४।

श्लोक ५७ :

८३. गाली गलौज की (अक्कोसे)

इसका अर्थ है—गाली-गलौज, असभ्य वचन, दंड-मुष्टि आदि से मारना-पीटना।[1]

दुर्बल व्यक्ति हर बात का उत्तर क्रोध या गाली-गलौज में ही देते हैं। स्त्री और बालक जहां पराजय का अनुभव करते हैं, वहां रोना ही उनका उत्तर है। साधु प्रत्येक बात का उत्तर क्षमा से देते हैं।[2]

८४. तंगण (तंगण)

इसका अर्थ है—टंकण देश में रहने वाले म्लेच्छ जाति के लोक। ये लोग पर्वतों पर रहते थे और बहुत शक्तिशाली होते थे। जब शत्रु इन पर आक्रमण करता तब ये उसकी बड़ी से बड़ी हाथी-सेना और अश्व-सेना को पराजित कर देते थे। ये पराजित होने लगते तब आयुधों से लड़ने में असमर्थ होकर शीघ्र ही पर्वतों में जा छिपते थे।[3]

उत्तरापथ के म्लेच्छ देशों में यत्र-तत्र टंकण नाम के म्लेच्छ लोग निवास करते थे। दक्षिणापथ के व्यापारी वहां कुछ वस्तुएं बेचने को आते थे। उस समय सारा लेनदेन वस्तु-विनिमय से ही होता था। उत्तरापथ में स्वर्ण और हाथीदांत की बहुलता थी। वहां के लोग इनके बदले में और-और वस्तुएं प्राप्त करते थे। दोनों देशों के लोग एक-दूसरे की भाषा से अनभिज्ञ थे। इस अनभिज्ञता के कारण परस्पर वस्तु-विनिमय कुछ कठिन होता था। वे लोग संकेतों से काम लेते थे। दक्षिणापथ के लोग अपनी वस्तुओं का एक स्थान पर ढेर कर देते और उत्तरापथ के टंकण लोग अपनी वस्तुओं (सोना, हाथीदांत आदि) का ढेर कर देते। वे दोनों पक्ष अपनी-अपनी वस्तुओं के ढेर पर हाथ रख खड़े हो जाते। जब दोनों की इच्छापूर्ति हो जाती, तब वे अपने हाथ उन वस्तुओं के ढेर से खींच लेते। जब एक पक्ष भी उस विनिमय से संतुष्ट नहीं होता तब तक वह अपना हाथ नहीं खींचता। इसका यह अर्थ समझा जाता कि अभी वह पक्ष वस्तु-विनिमय से संतुष्ट नहीं है। व्यापार तभी संपन्न होता जब दोनों पक्ष संतुष्ट होते। उनके व्यवसाय का यह प्रकार परस्पर वस्तु-विनिमय की विधि पर अवलंबित था।[4]

प्राकृत प्रोपर नेम्स के अनुसार टंकण लोग गंगा के पूर्वी किनारे पर बसे हुए थे। उनका प्रदेश रामगंगा नदी से सरयू तक फैला हुआ था। मध्य एशिया में वे कशगर में भी व्याप्त थे।[5]

विशेषावश्यक भाष्य में टंकणविणक् की उपमा प्राप्त है[6]— ० टंकण वणिओवमा समए। ० टंकण वणिओवमा जोग्गा॥

---

१. (क) वृत्ति, पत्र ९४ : आक्रोशान् असभ्यवचनरूपांस्तथा दण्डमुष्ट्यादिभिश्च।
(क) चूर्णि, पृ० ९३ : आक्रोशयन्ति यष्टि-मुष्टिभिश्चोत्तिष्ठन्ति।

२. चूर्णि, पृ० ९३ : प्रायेण दुर्बलस्य रोषो उत्तरं भवति आक्रोशश्च, रुदितोत्तरा हि स्त्रियः बालकाश्च, क्षान्त्युत्तराः साधवः।

३. (क) चूर्णि पृ० ९३ : टंकणा णाम म्लेच्छजातयः पार्वतेयाः, ते हि पर्वतमाश्रित्य सुमहन्तमवि अस्सबलं वा हत्थिबलं वा प्रारभन्ते आगलिन्ति, पराजिताः सुशीघ्रं पर्वतमाश्रयन्ति।
(ख) वृत्ति पत्र ९४ : 'टङ्कणा' म्लेच्छविशेषा दुर्जया यदा परेण बलिना हस्त्यनीकादिनाऽभिद्रूयन्ते तदा ते नानाविधैरप्यायुधैर्योद्धुमसमर्थाः सन्तः पर्वतं शरणमाश्रयन्ति।

४. (क) आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० १२० : उत्तरावहे टंकणा णाम मेच्छा, ते सुवन्नदंतमादीहिं दक्खिणावहगाइं भंडाइं गेण्हंति, ते य अवरोप्परं भासं न जाणंति, पच्छा पुंजे करेंति, हत्थेणं उच्छादेंति, जाव इच्छा ण पूरेंति ताव ण अवणेंति। पुन्ने अवणेंति, एवं तेसिं इच्छियपडिच्छितो ववहारो।
(ख) विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १४४४, १४४५, वृत्ति : इहोत्तरापथे म्लेच्छदेशे क्वचिद् टङ्कणाभिधाना म्लेच्छाः। ते च सुवर्णसट्टन (प्र०···सट्टेन) दक्षिणापथयायातानि गृह्णन्ति, परं वाणिज्यकारकास्तद्भाषां न जानन्ति, तेऽपीतरभाषां नावगच्छन्ति। ततश्च कनकस्य क्रयाणकानां च तावत् पुञ्जः क्रियते, यावदुभयपक्षस्यापीच्छापरिपूर्तिः यावच्चैकस्यापि पक्षस्येच्छा न पूर्यते, तावत् कनकपुञ्जात् क्रयाणकपुञ्जाच्च हस्तं नापसारयन्ति, इच्छापरिपूर्तौ तु तमपसारयन्ति। एवं तेषां परस्परमीप्सितप्रतीप्सितो व्यवहारः।

५. प्राकृत प्रोपर नेम्स, पृष्ठ २९४।

६. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १४४४, १४४५।

श्लोक ५८ :

८५. आत्म-समाहित मुनि (अत्तसमाहिए)

चूर्णिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं[1]—

१. अपने आपको द्रव्य, क्षेत्र और काल के अनुरूप समर्थ जानकर वाद में उतरने वाला मुनि।

२. परिषद् में प्रवचन करते समय प्रवचन सुनने वाले कौन हैं? वे किस मत को मानने वाले हैं? इस प्रकार का विवेक कर आत्म-समाधि का अनुभव हो ऐसा प्रवचन करने वाला मुनि।

३. ऐसा वर्णन करने वाला मुनि जिससे दूसरे के लिए कोई घात या बाधा उपस्थित न हो।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—चित्त की स्वस्थता किया है। इसका आशय स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं—वादकाल में हेतु, दृष्टान्त आदि के द्वारा स्वपक्ष की सिद्धि तथा माध्यस्थ्ययुक्त वचन आदि के द्वारा पर-पक्ष का उपघात न होना आत्म-समाधि है। ऐसे प्रतिज्ञा, हेतु और दृष्टान्त का प्रयोग करना चाहिए जिससे दूसरे विरोधी न बने, किन्तु उनमें समन्वय का भाव जागे।[2]

श्लोक ५९ :

८६. शान्त चित्त भिक्षु अग्लानभाव से (अगिलाए समाहिए)

गिला का अर्थ है—ग्लानि। जो ग्लानि से रहित है, वह अगिला होता है। अगिलाए का अर्थ है—अग्लानभाव से।[3]

हमने समाहिए को भिक्षु का विशेषण मानकर उसका अर्थ शान्तचित्त किया है। चूर्णिकार ने '*अगिलाणेण*' पाठ मानकर उसका अर्थ अपीड़ित, अव्यथित[4] किया है और 'समाहिए' का अर्थ समाधि के लिए[5] किया है।

वृत्तिकार ने 'अगिलाए' का अर्थ अग्लानतया[6] (यथाशक्ति) और समाहिए का अर्थ समाधि-प्राप्त[7] किया है। यह भिक्षु का विशेषण है।

श्लोक ६० :

८७. पवित्र (पेसलं)

पेशल दो प्रकार का होता है—

१. द्रव्य पेशल—प्रीति उत्पन्न करने वाले आहार आदि पदार्थ।

२. भाव पेशल—समस्त दोषों से रहित वस्तु। भव्य पुरुषों के लिए वह धर्म ही है।[8]

---

१. चूर्णि, पृ० ९४ : आत्मसमाधिर्नाम दव्वं खेत्तं कालं सामत्थं चऽप्पणो वियाणित्ता। इति, अथवा के अयं पुरिसे? कं च णते? त्ति, एवं तथा तथा यथाऽऽत्मनो समाधिर्भवति। उक्तं हि—पडिपक्खो णायव्वो। अथवा आत्मसमाधिर्नाम यथा परस्रो न घातो भवति बाधा वा।

२. (क) वृत्ति, पत्र ९४, ९५ : आत्मनः समाधिः चित्तस्वास्थ्यं यस्य स भवत्यात्मसमाधिकः एतदुक्तं भवति—येन येनोपन्यस्तेन हेतु-दृष्टान्तादिना आत्मसमाधिः—स्वपक्षसिद्धिलक्षणो माध्यस्थ्यवचनादिना वा परानुपघातलक्षणः समुत्पद्यते तत् तत् कुर्यादिति।

(ख) चूर्णि, पृ० ९४ : लौकिक-परीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः हेतु-प्रतिज्ञादयः।

३. व्यवहार, विभाग ४, वृत्ति पत्र २२ : गिला-ग्लानिः गिलायाः प्रतिषेधोऽगिला।

४. चूर्णि, पृ० ९४ : अगिलाणे अनार्दितेन अव्यथितेन।

५. चूर्णि, पृ० ९४ : समाधिए त्ति आत्मनः समाधिहेतोः कर्त्तव्यम्।

६. वृत्ति, पत्र ९५ : अग्लानतया यथाशक्ति।

७. वृत्ति, पत्र ९५ : समाहितः समाधिं प्राप्त इति।

८. चूर्णि, पृ० ९४ : पेसलं दव्वे भावे य, दव्वे जं दव्वं पीतिमुत्पादेति आहारादि, भावपेसलस्तु सर्ववचनीय दोषापेतो भव्यानां धर्म एव।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ सुश्लिष्ट किया है। जो अहिंसा आदि की प्रवृत्ति के द्वारा प्राणियों में प्रीति उत्पन्न करता है वह पेशल होता है।[1]

श्लोक ६१ :

८८. अतीतकाल में (पुव्विं)

चूर्णिकार ने मतान्तर का उल्लेख करते हुए अतीतकाल से त्रेता और द्वापर युग का ग्रहण किया है।[2] वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल पूर्वकाल किया है।[3]

८९. महापुरुष (महापुरिसा)

वे प्रधान पुरुष जो राजा होकर वनवास में गए और फिर निर्वाण को प्राप्त हुए।[4]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ प्रधान पुरुष किया है और उदाहरण के रूप में वल्कलचीरी, तारागण आदि ऋषियों का उल्लेख किया है।[5]

९०. सचित्त जल से स्नान आदि करते हुए सिद्धि को प्राप्त हुए हैं (उदएग सिद्धि मावण्णा)

कुछेक ऋषि सचित्त जल का व्यवहार करते हुए सिद्ध हो गए—ऐसा परंपरा से सुना जाता है। वे सचित्त जल से शौच-कार्य करते, स्नान करते तथा हाथ-पैर आदि बार-बार उसी से धोते, वे सचित्त जल पीते और जल के बीच खड़े होकर (नदी आदि में) अनुष्ठान करते।[6]

श्लोक ६२,६३ :

९१. श्लोक ६२,६३ :

प्रस्तुत दो श्लोकों में ७ ऋषियों के नाम गिनाए हैं। वे ये हैं—(१) वैदेही नमि (२) रामगुप्त (३) बाहुक (४) तारागण (५) आसिल-देविल (६) द्वैपायन और (७) पाराशर। 'इह संमया' [३/६४]—इस वाक्य के द्वारा सूत्रकार ने यह सूचित किया है कि ये महापुरुष ऋषिभाषित आदि जैन-ग्रन्थों में वर्णित हैं तथा 'अणुस्सुयं' पद के द्वारा यह सूचित किया है कि भारत आदि पुराणों में भी इनका वर्णन प्राप्त है। चूर्णिकार के अनुसार ये सब राजर्षि और प्रत्येक-बुद्ध थे। इनमें से वैदेही नमि की चर्चा उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन में प्राप्त है और शेष राजर्षियों की चर्चा ऋषिभाषित नामक ग्रन्थ में है।[7] किन्तु वर्तमान में उपलब्ध ऋषिभाषित ग्रन्थ में पाराशर ऋषि का नाम प्राप्त नहीं है। इस ग्रन्थ मे सबके नाम से एक-एक अध्ययन है और उन अध्ययनों में उनके विशिष्ट विचार संगृहीत हैं।

१. वैदेही नमि—विदेह राज्य में दो नमि हुए हैं। दोनों अपने-अपने राज्य को छोड़कर अनगार बने। एक तीर्थंकर हुए और एक प्रत्येक बुद्ध। प्रस्तुत प्रकरण में प्रत्येक बुद्ध नमि का कथन है। ये किस के तीर्थकाल में हुए यह ज्ञात नहीं है। उत्तराध्ययन के नौवें अध्ययन में 'नमि-प्रव्रज्या' में अभिनिष्क्रमण के समय ब्राह्मण वेशधारी इन्द्र और नमि के बीच हुए वार्तालाप

---

१. वृत्ति, पत्र ९५ : पेशलम् इति सुश्लिष्टं प्राणिनामहिंसादिप्रवृत्त्या प्रीतिकारणम्।

२. चूर्णि, पृ० ९५ : पुव्विमिति अतीते काले केचित् त्रेतायां द्वापरे च।

३. वृत्ति, पत्र ९५ : पूर्वं—पूर्वस्मिन् काले।

४. चूर्णि, पृ० ९५ : महापुरिसा पहाणा पुरिसा, राजानो भूत्वा वनवासं गता पच्छा णिव्वाणं गता:।

५. वृत्ति, पत्र ९५ : महापुरुषा :—प्रधानपुरुषा वल्कलचीरितारागणर्षिप्रभृतय:।

६. चूर्णि, पृ० ९५ : सीतोदगं णाम अपरिणतं, तेण सोयं आयरंता ण्हाण-पाण-हत्थादीणि अभिक्खणं सोएंता तथाऽन्तर्जले वसन्त: सिद्धिं प्राप्ता: सिद्धा:।

७. चूर्णि, पृ० ९६ : णमी ताव णमिपव्वज्जाए, सेसा सव्वे अण्णे इसिभासितेसु।

का सुन्दर संकलन है। इनके पिता का नाम 'युगवाहु' और माता का नाम 'मदनरेखा' था।[1]

२. रामपुत्र—ये पार्श्वनाथ के तीर्थकाल में होने वाले प्रत्येक-बुद्ध हैं।[2] ऋषिभाषित के तीसवें अध्ययन में रामपुत्र अर्हर्तर्षि के वचन संकलित हैं।[3] इस गद्यात्मक अध्ययन में केवल तीन गद्यांश हैं। वृत्तिकार ने 'रामउत्ते' का संस्कृत रूप 'रामगुप्तः' दिया है[4]। प्राकृत 'उत्त' शब्द के तीन संस्कृत रूप हो सकते हैं—उप्त, गुप्त, पुत्र।

३. वाहुक—ये अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में होने वाले एक प्रत्येक-बुद्ध हैं।[5] ऋषिभाषित के चौदहवें अध्ययन में इनके सुभाषित संकलित हैं।[6] यह अध्ययन भी गद्यात्मक है। नल का एक नाम वाहुक भी है।[7]

४. तारागण—ऋषिभाषित के छत्तीसवें अध्ययन में इनके विचार संकलित हैं।[8] इसमें १७ पद्य हैं। प्रारंभ में उनके नाम के आगे 'वित्तण' शब्द है।[9] ऋषिभाषित की संग्रहणी गाथा में इनका उल्लेख 'वित्त' नाम से किया है।[10] किन्तु 'वित्त' शब्द उनका विशेषण होना चाहिए। वित्त का अर्थ है—संपदा। मुनि की संपदा है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र। वृत्तिकार ने 'नारायण' पाठ माना है।[11]

५. आसिल-देविल—ऋषिभाषित के तीसरे अध्ययन का नाम 'दविलज्झयणा' है। प्रारंभ में 'असिएण दविलेणं अरहता इसिणा बुइतं—ऐसा पाठ है। यहां ऋषि का नाम 'दविल' है और 'असिय' (असित) उनका गौत्र हो सकता है, ऐसा मुनि पुण्यविजयजी ने माना है।[12] वृत्तिकार ने 'आसिल' और 'देविल' को पृथक्-पृथक् ऋषि माना है।[13] ये अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में होने वाले प्रत्येक वुद्ध हैं।[14] महाभारत के अनेक स्थलों में 'असितदेवल' नामक प्रसिद्ध ऋषि का नामोल्लेख प्राप्त है।[15] इससे संभावना की जा सकती है कि 'असितदेविल'—यह एक ऋषि का नाम था।

याज्ञवल्क्यस्मृति की अपरादित्य रचित व्याख्या[16] में देवल ऋषि का संवाद उद्‌धृत है। महाभारत के शान्तिपर्व में देवल-नारद संवाद का भी उल्लेख प्राप्त है। वृद्ध देवल के सम्मुख उपस्थित होकर नारद ने भूतों की उत्पत्ति और प्रलय के विषय में जिज्ञासा प्रगट की थी। महर्षि देवल ने उनका समाधान दिया। इसी प्रकार वायुपुराण[17] में भी देवल के उद्धरण प्राप्त होते हैं। ये सांख्य दर्शन के एक आचार्य के रूप में प्रसिद्ध थे जो सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण से पहले हो चुके थे।[18]

---

१. विशेष विवेचन के लिए देखें— उत्तरज्झयणाणि, नौंवा अध्ययन।

२. उत्तरज्झयाणाणि भाग १, पृ० १०६।

३. इसिभासियाइं २३ वां अध्ययन·········रामपुत्तेण अरहता इसिणा बुइतं।

४. वृत्ति, पत्र ९६ : रामगुप्तश्च।

५. उत्तरज्झयाणाणि, भाग १, पृ० १०६।

६. इसिभासियाइं, १४ वां अध्ययन ·········वाहुकेण अरहता इसिणा बुइतं।

७. महाभारत, वनखंड ६६।२०।

८. ९. इसिभासियाइं, अध्ययन ३६ : वित्तेण तारायणेण अरहता इसिणा बुइतं।

१०. इसिभासियाइं संगहिणी गाथा ५ :·········अद्दालए य वित्ते य।

११. वृत्ति पत्र ९६ : नारायणो नम महर्षि।

१२. चूर्णि, पृ० ९५, फुटनोट नं ८ : अत्र पाठे असिएणं इति गोत्रोक्तिर्वर्तते न पृथगृषिनाम।

१३. वृत्ति, पत्र ९६ : आसिलो नाम महर्षिस्तया देविलः।

१४. उत्तरज्झयणाणि, भाग १, पृ० १०६।

१५. महाभारत की नामानुक्रमणिका, पृ० २९।

१६. याज्ञवल्क्यस्मृति, प्रायश्चित्ताध्याय, श्लोक १०९ पर।

१७. वायुपुराण, अध्ययन ६६, श्लोक १५१, १५२।

१८. सांख्यकारिका ७१, माठरवृत्ति : कपिलादासुरिणा प्राप्तमिदं ज्ञानं ततः पञ्चशिखेन तस्माद् भार्गवोलूकवाल्मीकि-हारित-देवल-प्रभृतीनामागतम्। ततस्तेभ्य ईश्वरकृष्णेन प्राप्तम्।

कुछ इनको विक्रम की तीसरी शताब्दी के मानते हैं और कुछ इनको महाभारत युद्ध-काल से भी अधिक प्राचीन मानते हैं ।[1]

६. द्वीपायन—ये महावीर के तीर्थकाल में होनेवाले प्रत्येक-बुद्ध थे ।[2] ऋषिभाषित के चालीसवें अध्ययन में इनके वचन गाथाओं में संकलित हैं ।[3] महाभारत के अनुसार यह माना गया है कि महर्षि पराशर के द्वारा सत्यवती के गर्भ से उत्पन्न मुनिवर वेदव्यास यमुना के द्वीप में छोड़ दिए गए, इसलिए इनका नाम द्वैपायन (द्वीपायन) पड़ा ।[4]

७. पाराशर—ऋषिभाषित में इनका नामोल्लेख प्राप्त नहीं है । महाभारत में पाराशर्य और पराशर नाम के ऋषियों का वर्णन प्राप्त है ।[5]

औपपातिक सूत्र में आठ ब्राह्मण परिव्राजकों और आठ क्षत्रिय परिव्राजकों का उल्लेख मिलता है—

१. कण्डू २. करकण्ट ३. अंवड ४. पराशर ५. कृष्ण ६. द्वीपायन ७. देवगुप्त और ८. नारद—ये आठ ब्राह्मण परिव्राजक हैं ।

१. शीलकी २. मसिहार ३. नग्नजित् ४. भग्नजित ५. विदेह ६. राजा ७. राम और ८. बल—ये आठ क्षत्रिय परिव्राजक हैं ।

वहां इनकी तपश्चर्या का विस्तार से निरूपण है । इन परिव्राजकों को सांख्य, योगी, कापिल, भार्गव, हंस, परमहंस, बहुउदक, कुलीव्रत और कृष्ण परिव्राजक—इन संप्रदायों के अन्तर्गत माना गया है ।[6] इनमें पराशर, द्वीपायन, विदेह—ये तीन नाम प्रस्तुत चर्चा से सम्बद्ध हैं । राम रामपुत्र का संक्षिप्त रूप हो सकता है ।

चूर्णिकार ने प्रस्तुत श्लोकों की चूर्णि में सबको राजर्षि माना है ।[7] किन्तु औपपातिक सूत्र के संदर्भ में यह मीमांसनीय है । पराशर और द्वीपायन—ये ब्राह्मण ऋषि ही प्रतीत होते हैं ।

चूर्णिकार ने बताया है कि 'ये सब प्रत्येक-बुद्ध वनवास में रहते थे और बीज तथा हरित का भोजन करते थे । वहां रहते हुए उन्हें विशिष्ट प्रकार के ज्ञान प्राप्त हुए ।'

उस समय के लोग इन ऋषियों की ज्ञानोपलब्धि की तुलना चक्रवर्ती भरत को आदर्शगृह में उत्पन्न ज्ञानोपलब्धि से करते थे ।[8]

चूर्णिकार ने इस तर्क के समाधान में लिखा है—भरत चक्रवर्ती को गृहस्थावस्था में ज्ञान तभी उत्पन्न हुआ था जब वे भावसाधु बन गए थे तथा उनके चार घात्यकर्म क्षीण हो गए थे । प्रश्नकार यह नहीं जानते कि किस अवस्था में विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न होता है ? मुक्ति किस संहनन में होती है ? इसलिए वे यह कह देते हैं कि ये ऋषि कंद-मूल आदि खाते हुए तथा अग्नि का समारंभ करते हुए सिद्ध हुए हैं ।[9]

---

१. सांख्यदर्शन का इतिहास, उदयवीरशास्त्रीकृत, पृ० ५०५ ।

२. उत्तरज्झयणाणि, भाग १, पृ० १०७ ।

३. इसिभासियाइं, चालीसवां अध्ययन,········दीवायणेण अरहता इसिणा बुइतं ।

४. महाभारत, आदिपर्व ६३।८६; महाभारत नामानुक्रमणिका पृ० १६२ ।

५. महाभारत, सभापर्व ४।१३; ७।१३; आदिपर्व १७७।१ ।

६. औपपातिक, सूत्र ९६-११४ ।

७. चूर्णि, पृ० ९५ : राजानो भूत्वा वनवासं गताः पच्छा णिव्वाणं गताः ।

८. चूर्णि, पृ० ९६ : एतेसिं पत्तेयबुद्धाणं वणवासे चेव वसंताणं बीयाणि हरिताणि य भुंजंताणं ज्ञानान्युत्पन्नानि, यथा भरतस्य आदंसगिहे णाणमुप्पण्णं ।

९ चूर्णि पृ० ९६ : तं तु तस्स भावलिंगं पडिवण्णस्स खीणचउकम्मस्स गिहवासे उप्पण्णमिति । ते तु कुतित्थ्या ण जाणंति—कस्मिन् भावे वर्तमानस्य ज्ञानमुत्पद्यते ? कतरेण वा संघतरेण सिज्झति ? अजानानास्तु ब्रुवते—ते नमी आद्या महर्षयः भोच्चा सीतोदगं सिद्धा, भोच्च त्ति भुञ्जाना एव सीतोदगं कन्दमूलाणि च जोइं च समारम्भन्ता ।

श्लोक ६५ :

६२. भार को बीच में डाल देने वाले (वाहच्छिण्णा............)

'वाह' का अर्थ है—भारोद्‌वहन और छिण्ण का अर्थ है—टूटे हुए या दबे हुए —भार से दबे हुए गधे की भांति। गधे अधिक भार को न सह सकने के कारण भार को मार्ग के बीच में ही डाल कर गिर जाते हैं, वैसे ही ये मंद भिक्षु संयम-भार को छोड़कर शिथिल हो जाते हैं। यह वृत्तिकार की व्याख्या है।[1]

६३. कठिनाई के समय (संभमे)

संभ्रम का अर्थ है – कठिनाई के समय। चूर्णिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—वह कष्ट जिसमें व्यक्ति संभ्रांत हो जाता है, दिग्मूढ हो जाता है।[2] वृत्तिकार ने अग्नि आदि के उपद्रव को संभ्रम माना है।[3]

६४. पंगु (पीढसप्पीव)

इसका संस्कृत रूप 'पीठसर्पिन्' होगा। वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'पृष्ठसर्पिन्' किया है।[4]

आप्टे की डिक्शनरी में 'पीठसर्प' का अर्थ पंगु किया है।[5]

श्लोक ६६ :

६५. सुख से सुख प्राप्त होता है (सातं सातेण विज्जई)

सुख से सुख प्राप्त होता है—यह पक्ष चूर्णि और वृत्ति के अनुसार बौद्धों का है।[6] जैन विचारधारा इससे भिन्न है। सुख से सुख प्राप्त होता है या दुःख से सुख प्राप्त होता है—ये दोनों सिद्धान्त वास्तविक नहीं हैं। यदि सुख से सुख प्राप्त हो तो राजा आदि अमीर आदमी अगले जन्म में भी सुखी होंगे, किन्तु ऐसा होता नहीं है। दुःख से सुख प्राप्त हो तो अनेक दुःख झेलने वाले गरीब लोग अगले जन्म में सुखी होंगे, किन्तु ऐसा भी होता नहीं है।[7]

बौद्ध साहित्य में निर्ग्रन्थों के मुंह से यह कहलाया गया है कि सुख से सुख प्राप्य नहीं है, दुःख से सुख प्राप्य है। इसका पूरा संदर्भ इस प्रकार है—

एक समय महानाम! मैं राजगृह में गृध्रकूट पर्वत पर रहता था। उस समय बहुत से निर्ग्रंथ ऋषिगिरि की कालशिला पर खड़े रहने का व्रत ले, आसन छोड़, तप करते हुए दुःख, कटु, तीव्र वेदना झेल रहे थे।.........कारण पूछने पर निर्ग्रन्थों ने कहा—निर्ग्रन्थ नातपुत्र सर्वज्ञ, सर्वदर्शी ....हैं। वे ऐसा कहते हैं—निर्ग्रन्थों! जो तुम्हारे पहले का किया हुआ कर्म है, उसे इस कड़वी दुष्कर-क्रिया (तपस्या) से नाश करो और जो यहां तुम काय-वचन-मन से संयमयुक्त हो, यह भविष्य के लिए पाप का

---

१. वृत्ति, पत्र ६६ : वहनं वाहो—भारोद्वहनं तेन छिन्नाः—कर्षितास्त्रुटिता रासभा इव विषीदन्ति, यथा—रासभा गमनपथ एव प्रोज्झितभारा निपतन्ति, एवं तेऽपि प्रोज्झ्य संयमभारं शीतलविहारिणो भवन्ति।

२. चूर्णि, पृ० ६६ : सम्भ्रमन्ति तस्मिन्निति सम्भ्रमः।

३. वृत्ति, पत्र ६६ : अग्न्यादिसम्भ्रमे।

४. वृत्ति, पत्र ६६ : पृष्ठसर्पिणः।

५. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृष्ठ १०२४ में उद्धृत—महाभारत ३।३५।२२ : कर्त्तव्ये पुरुषव्याघ्र किमास्से पीठसर्पवत्, Lame, Crippled.

६. (क) चूर्णि, पृ० ६६ : इदानीं शाक्याः परामृश्यन्ते.........

(ख) वृत्ति, पत्र ६७।

७. (क) चूर्णि पृ० ६६,६७ : इह नैर्ग्रन्थ्यशासने सातं साते न विद्यते। का भावना?—न हि सुखं सुखेन लभ्यते। यदि चेतमेवं तेनेह राजादीनामपि सुखिनां परत्र सुखेन भाव्यम्। नरकाणां तु दुःखितानां पुनर्नरकेनैव भाव्यम्।

(ख) वृत्ति पत्र ६७ : आर्यं मार्गं सजैनेन्द्रप्रवचनं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रमोक्षमार्गप्रतिपादकं सुखं सुखेनैव विद्यते इत्यादिमोहेन मोहिताः।

न करना होगा। इस प्रकार तपस्या द्वारा पुराने कर्मों के अन्त होने और नए कर्मों के न करने से भविष्य में चित्त निर्मल हो जाएगा। भविष्य में मल न होने से कर्म का क्षय, कर्मक्षय से दुःखक्षय, दुःखक्षय से वेदनाक्षय और वेदनाक्षय से सभी दुःख नष्ट हो जाएंगे।'

बुद्ध ने इस प्रकार निर्ग्रन्थों से पूछा कि क्या तुम्हें अपना होना ज्ञात है? क्या तुमने उस समय पापकर्म किए थे? क्या तुम्हें मालूम है कि इतना दुःख नष्ट हो गया, इतना बाकी है? क्या तुम्हें मालूम है कि किस जन्म में पाप का नाश और पुण्य का लाभ प्राप्त करना है? इसका उत्तर निर्ग्रन्थों ने 'नहीं' में दिया। इस प्रकार बुद्ध ने कहा—'ऐसा होने से ही तो निर्ग्रन्थों! जो दुनियां में रुद्र, खून रंगे हाथों वाले, क्रूरकर्मा मनुष्यों में नीच हैं, वे निर्ग्रन्थों में साधु बनते हैं।' निर्ग्रन्थों ने फिर कहा—गोतम! सुख से सुख प्राप्य नहीं है, दुःख से सुख प्राप्य है।'[1]

९६. जो आर्यमार्ग है (आरियं मग्गं)

वृत्तिकार ने आर्यमार्ग का अर्थ—जैनेन्द्र शासन में प्रतिपादित मोक्षमार्ग किया है।[2] चूर्णिकार ने बौद्ध मत में सम्मत आर्यमार्ग का ग्रहण किया है।[3]

९७. उससे परम समाधि (प्राप्त होती है) (परमं च समाहियं)

वृत्तिकार ने 'परमं च समाधि' से ज्ञान, दर्शन और चारित्र समाधि का ग्रहण किया है।[4] चूर्णिकार ने बौद्धों के अनुसार मनः समाधि को परम माना है।[5]

श्लोक ६७ :

९८. लोह-वणिक् की भांति (अयोहारि व्व)

कुछ व्यक्ति व्यापार करने के लिए देशान्तर के लिए प्रस्थित हुए। जाते-जाते एक महान् अटवी आई। वहां उन्हें एक लोह की खान मिली। सबने लोह लिया और आगे चल पड़े। कुछ दूर जाने पर उन्हें एक तांबे की खान मिली। सबने लोहा वहीं डालकर तांबा भर लिया, किन्तु एक व्यक्ति ने लोहे को छोड़ तांबे को लेने से इन्कार कर दिया। बहुत समझाने पर भी वह नहीं माना। सब आगे चले। कुछ ही दूरी पर चांदी की खान आ गई। सबने तांबे तो छोड़कर चांदी भर ली, किन्तु लोहभार वाले ने लोहा ही रखा। आगे सोने की खान आई सबने चांदी का भार वहीं छोड़कर सोने को भर लिया। आगे रत्नों की खान पर सबने रत्न भर लिए और सोना छोड़ दिया। उस लोहभार वाले ने लोहा ही रखा और अपनी दृढ़ता पर प्रसन्नता का अनुभव करने लगा।

सब अपने-अपने घर पहुंचे। रत्नों के भरने वाले जीवन भर सुखी हो गए और लोहभार वाला जीवन भर निर्धनता का जीवन बिताता हुआ दुःख और पश्चात्ताप करता रहा।[6]

९९. श्लोक ६७ :

चूर्णिकार ने प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या पहले बौद्ध सिद्धान्तपरक और बाद में जैन सिद्धान्तपरक की है।

देखें— चूर्णि पृष्ठ ९६, ९७।

---

१. मज्झिम निकाय १४।२।६-८ राहुल सांकृत्यायन का अनुवाद, दर्शन दिग्दर्शन पृ० ४९६, ४९७।

२. वृत्ति, पत्र ९७ : आर्यो मार्गो जैनेन्द्रशासनप्रतिपादितो मोक्षमार्गः।

३. चूर्णि, पृ० ९६ : तेनास्मदीयार्यमार्गेण।

४. वृत्ति, पत्र ९५ : 'परमं च समाधिं' ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकम्।

५. चूर्णि, पृ० ९६ : मनःसमाधिः परमा।

६. रायपसेणइय ७४४।

श्लोक ६८ :

१००. श्लोक ६८ :

प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य है कि शाक्य आदि श्रमण 'सातं सातेण विज्जई'—इस सिद्धान्त को मानते हुए पचन-पाचन आदि क्रियाओं में संलग्न रहते हैं। पचन-पाचन आदि सावद्य अनुष्ठानों से प्राणातिपात का सेवन करते हैं। जिन जीवों के शरीर का उपयोग किया जाता है, उनका ग्रहण उनके स्वामी की आज्ञा के बिना होता है, अतः अदत्तादान का आचरण होता है। गाय, भैंस, बकरी, ऊंट आदि को रखने और उनकी वंशवृद्धि करने के कारण मैथुन का अनुमोदन होता है। हम प्रव्रजित हैं—ऐसा कहते हुए भी गृहस्थोचित अनुष्ठान में संलग्न रहते हैं, अतः मृषावाद का सेवन होता है तथा धन, धान्य, द्विपद, चतुष्पद आदि रखने के कारण परिग्रह का प्रसंग आता है।[1]

श्लोक ६९ :

१०१. कुछ अनार्य (एगे)

चूर्णिकार ने इसके द्वारा शाक्य तथा उसी प्रकार के अन्य दार्शनिकों का ग्रहण किया है।[2]

वृत्तिकार ने इस शब्द के माध्यम से विशेष बौद्ध तथा नीलपट धारण करने वाले और नाथवादिक मंडल में प्रविष्ट शैव विशेष का ग्रहण किया है।[3]

१०२. पार्श्वस्थ (पासत्था)

यहां चूर्णिकार ने इसका अर्थ—अहिंसा आदि गुणों तथा ज्ञान-दर्शन से दूर रहने वाला किया है।[4]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[5]—

१. सद् अनुष्ठान से दूर रहने वाला।

२. जैन परंपरा के शिथिल साधु—पार्श्वस्थ, अवसन्न, कुशील आदि जो स्त्री परीषह से पराजित हैं।

यह शब्द इसी अध्ययन के ७३ वें श्लोक में भी आया है। वहां वृत्तिकार ने इस पद से नाथवादिक मंडलचारियों का ग्रहण किया है।[6]

विशेष विवरण के लिए देखें—१।३२ का टिप्पण।

श्लोक ७० :

१०३. स्त्री का परिभोग कर (विण्णवणित्थीसु)

इसमें दो शब्द हैं—विण्णवणा और इत्थीसु। चूर्णिकार ने विज्ञापना का अर्थ परिभोग, आसेवना किया है। पूरे पद का अर्थ होगा—स्त्री का परिभोग।[7]

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'स्त्रीविज्ञापनायां' किया है और इसका अर्थ 'युवती की प्रार्थना में' किया है।[8]

हमने चूर्णिकार का अर्थ स्वीकार किया है।

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ९७।
   (ख) वृत्ति, पत्र ९८।

२. चूर्णि, पृ० ९७ : एते इति एते शाक्याः अन्ये च तद्विधाः।

३. वृत्ति, पत्र ९८ : एके इति बौद्धविशेषा नीलपटादयो नाथवादिकमण्डलप्रविष्टा वा शैवविशेषाः।

४. चूर्णि, पृ० ९७ : पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः, केषाम् ?—अहिंसादीनां गुणानां णाणादीण वा सम्मद्दंसणस्स वा।

५. वृत्ति, पत्र, ९८ : पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्थाः स्वयूथ्या वा पार्श्वस्थावसन्नकुशीलादयः स्त्रीपरीषहपराजिताः।

६. वृत्ति, पत्र ९९ : सदनुष्ठानात् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था नाथवादिकमण्डलचारिणः।

७. चूर्णि, पृ० ९७ : विज्ञापना नाम परिभोगः·········आसेवना।

८. वृत्ति, पत्र ९८ : स्त्रीविज्ञापनायां युवतिप्रार्थनायाम्।

श्लोक ७१ :

१०४. गुदला किए बिना (थिमियं)

इसका अर्थ है—हिलाए बिना। मेंढा घुटने के बल पर बैठकर गोष्पद में स्थित थोड़े से जल को भी बिना हिलाए-डुलाए, बिना गुदला किए, पी लेता है।[1]

१०५. पिंग (पिंग)

इसका अर्थ है—कपिञ्जल पक्षिणी।

पिंग पक्षिणी आकाश में उड़ते-उड़ते नीचे उड़ान भरती है और तालाब आदि से चोंच में पानी भर पी लेती है। वह अपने शरीर से न पानी को छूती है और न उस पानी को हिलाती-डुलाती है।[2]

१०६. श्लोक ७०-७२ :

इन तीन श्लोकों में स्त्री-परिभोग का तीन दृष्टिकोणों से समर्थन किया गया है—

१. स्त्री-परिभोग गांठ या फोड़े को दबाकर मवाद निकालने जैसा निर्दोष है।
२. स्त्री-परिभोग मेंढे के जल पीने की क्रिया की तरह निर्दोष है। इसमें दूसरे को पीड़ा नहीं होती और स्वयं को भी सुख की अनुभूति होती है।
३. स्त्री-परिभोग कपिंजल पक्षिणी के उदकपान की तरह है। पुरुष राग-द्वेष से मुक्त होकर, पुत्र की प्राप्ति के लिए, ऋतुकाल में शास्त्रोक्त विधि से मैथुन सेवन करता है तो उसमें दोष नहीं है। कपिंजल पक्षिणी आकाश से नीचे उड़ान भरकर, पानी की सतह से चोंच में पानी भर प्यास मिटा लेती है। उसकी पानी पीने की इस प्रक्रिया से न पानी से उसका स्पर्श होता है और न पानी गुदला होता है।

इस प्रकार उदासीन भाव से किए जाने वाले स्त्री मैथुन में दोष नहीं है। उपर्युक्त तीनों उदाहरणों का निरसन करते हुये निर्युक्तिकार कहते हैं—

१. जैसे कोई व्यक्ति मंडलाग्र (तलवार) से किसी मनुष्य का शिर काट पराङ्मुख होकर बैठ जाए तो भी क्या वह अपराधी के रूप में पकड़ा नहीं जाएगा ?
२. कोई विष का प्याला पीकर शान्त होकर बैठ जाए और यह सोचे कि मुझे किसीने नहीं देखा, तो भी क्या वह नहीं मरेगा ?
३. कोई राजा के खजाने से रत्न चुराकर निश्चिन्त भाव से बैठ जाए, तो भी क्या वह राजपुरुषों द्वारा नहीं पकड़ा जाएगा ?

इन तीनों क्रियाओं में कोई उदासीन होकर बैठ जाए, फिर भी वह तद्-तद् विषयक परिणामों से नहीं बच सकता। सारे परिणाम उसे भुगतने ही पड़ते हैं।

इसी प्रकार कितनी ही उदासीनता या निर्लेपता से मैथुन का सेवन क्यों न किया जाए, उसमें रागभाव अवश्यंभावी है। वह निर्दोष हो ही नहीं सकता।[3]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ९८ : सो जधा उदगं अकलुसेन्तो यण्णुएहिं णिसोढितुं (णिसीदितुं) गोप्पए वि जलं अणाडुआलेंतो पियति।
(ख) वृत्ति, पत्र ९८ : यथा मेषः तिमितम् अनालोडयन्नुदकं पिबत्यात्मानं प्रणियति, न च तथाऽन्येषां किञ्चनोपघातं विधत्ते।

२. (क) चूर्णि, पृ० ९८ : पिंगा पक्खिणी आगासेणऽवचरंती उदगे अभिलीयमाना अविक्खोभयंती तज्जलं चंचूए पिवति।
(ख) वृत्ति, पत्र ९९ : पिंगे ति कपिञ्जला साऽऽकाश एव वर्तमानाः तिमितं निभृतमुदकमापिबति!

३. (क) वृत्ति, पत्र ९९ : एवमुदासीनत्वेन व्यवस्थितानां दृष्टान्तेनैव निर्युक्तिकारो गाथात्रयेणोत्तरदानायाह—

जह णाम मंडलग्गेण सिरं छेत्तू ण कस्सइ मणुस्सो।
अच्छेज्ज पराहुत्तो किं नाम ततो ण घिप्पेज्जा ? ॥५१॥
जह वा विसगंडूसं कोई घेत्तूण नाम तुण्णिहक्को।
अण्णेण अदीसंतो किं नाम ततो न व मरेज्जा ! ॥५२॥

श्लोक ७३ :

१०७. भेड (पूयणा)

इसके दो अर्थ हैं—भेड़ और डाकिन ।[1] चूर्णिकार ने केवल पहला अर्थ ही स्वीकार किया है ।[2] वृत्तिकार ने डाकिन को मुख्य अर्थ माना है और वैकल्पिक अर्थ भेड़ किया है । हमने इसका अर्थ भेड़ स्वीकार किया है ।

वृत्तिकार के अनुसार 'पूयणा इव तरुणए' के दो अर्थ हैं[3]—

(१) जैसे डाकिन छोटे बच्चों में आसक्त होती है, वैसे ।

(२) जैसे गड्डुरिका अपने बच्चे में आसक्त होती है वैसे ।

चूर्णिकार ने केवल दूसरा विकल्प ही स्वीकार किया है ।[4] इस प्रसंग में एक सुन्दर कथानक चूर्णि और वृत्ति में उद्धृत हैं[5]—

एक बार कुछ मनुष्यों के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि किस जाति के जीव अपने बच्चों के प्रति अत्यन्त स्नेहिल होते हैं ? इसकी परीक्षा के लिए एक उपाय ढूंढ़ा गया । एक बिना पानी के कूए में सभी जाति के जीवों के बच्चे डाल दिए गए । अपने-अपने बच्चों को विरह में कुछेक पशु कूए के पास आकर बैठ गए और अपने बच्चों के शब्दों को सुन-सुनकर रोने लगे किन्तु किसी ने कूए में कूदने का साहस नहीं किया । एक भेड़ वहां कूए के पास आई । कूए में गिरे हुए अपने बच्चे का शब्द सुनकर वह बिना किसी उपाय की चिन्ता किए कूए में कूद पड़ी । परीक्षकों ने जान लिया कि भेड़ अपने बच्चे के प्रति कितनी आसक्त होती है ।

श्लोक ७४ :

१०८. परिताप करते हैं (परितप्पंति)

मरण-काल के प्राप्त होने पर अथवा यौवन के बीत जाने पर मनुष्य परिताप करते हैं ।[6] चूर्णिकार ने एक श्लोक के द्वारा परिताप या शोक का चित्र प्रस्तुत किया है—

'हतं मुष्टिभिराकाशं, तुषाणां कुट्टनं कृतम् ।
यन्मया प्राप्य मानुष्यं, सदर्थे नादरः कृतः ।'

जह नाम सिरिघराओ कोइ रयणाणि णाम घेत्तूणं ।
अच्छेज्ज पराहुत्तो किं णाम ततो न घेप्पेज्जा ? ।।५३।।

(ख) चूर्णि, पृ० ९८ : चूर्णिकार ने निर्युक्ति का उल्लेख किए बिना इन्हीं तीन गाथाओं का उल्लेख किया है ।

१. वृत्ति, पत्र ९९ : पूतना डाकिनी ········यदिवा पूयण त्ति गड्डुरिका ।

२. चूर्णि, पृ० ९८ : पूयणा णाम औरणीया ।

३. वृत्ति, पत्र ९९ : यथा वा पूतना डाकिनी तरुणके स्तनन्धयेऽध्युपपन्ना ········यदि वा पूयण त्ति गड्डुरिका आत्मीयेऽपत्येऽध्युपपन्नाः ।

४. चूर्णि, पृ० ९८ : तस्या अतीव तण्णगे छावके स्नेहः ।

५. (क) चूर्णि, पृ० ९८ : जतो जिज्ञासुभिः कतरस्यां कतरस्यां जातौ प्रियतराणि स्तन्यकानि ? सर्वजातीनां छावकानि अनुदके कूपे प्रक्षिप्तानि । ताश्च सर्वाः पशुजातय कूपतटे स्थित्वा सच्छावकानां शब्दं श्रुत्वा रम्भायमाणास्तिष्ठन्ति, नाऽऽत्मानं कूपे मुञ्चन्ति, तत्रैकया पूतनया आत्मा मुक्तः ।

(ख) वृत्ति, पत्र ९९ : यथा किल सर्वपशूनामपत्यादि निरुदके कूपेऽपत्यस्नेहपरीक्षार्थं क्षिप्तानि, तत्र चापरा मातरः स्वकीयस्तनन्धयशब्दाकर्णनेऽपि कूपतटस्था रुदन्त्यास्तिष्ठन्ति, उरभ्री त्वपत्यातिस्नेहेनान्धा अपायमनपेक्ष्य तत्रैवात्मानं क्षिप्तवतीत्यतोऽपरपशुभ्यः स्वापत्येऽध्युपपन्नेति ।

६. वृत्ति, पत्र १०० : क्षीणे स्वायुषि जातसंवेगा यौवने वाऽपगते 'परितप्यन्ते' शोचन्ते पश्चात्तापं विदधति ।

मैंने मनुष्य जन्म पाकर यदि उत्तम अर्थ के प्रति आदर प्रदर्शित नहीं किया, मेरा यह आचरण वैसा ही हुआ है जैसे मैंने मुक्कों से आकाश को पीटा और तुषों का खलिहान रचने का सांग किया।[1]

श्लोक ७५ :

१०९. ठीक समय पर (काले)

चूर्णिकार ने 'काल' का अर्थ—तारुण्य—मध्यमवय किया है। उन्होंने वैकल्पिकरूप में जिसके ध्यान, अध्ययन और तप का जो काल हो, उसका ग्रहण किया है।[2]

वृत्तिकार ने 'काल' का तात्पर्य धर्मार्जन करने का समय किया है। उनके अनुसार धर्मार्जन करने का समय या अवस्था निश्चित नहीं होती। विवेकी व्यक्ति के लिए सभी समय और सभी अवस्थाएं धर्मार्जन के लिए उपयुक्त होती हैं। चार पुरुषार्थों में धर्म ही प्रधान पुरुषार्थ है और प्रधान तत्त्व का आचरण सदा उपयुक्त होता है। इसलिए बाल्य, तारुण्य और बुढ़ापा—ये तीनों अवस्थाएं इसमें गृहीत हैं।[3]

११०. परिताप····· करते (परितप्पए)

यहां एकवचन का निर्देश छन्द की दृष्टि से हुआ है।[4]

१११. जीवन की (जीवियं)

इसका अर्थ है—असंयममय जीवन। चूर्णिकार ने इसका अर्थ पूर्वभुक्त भोगमय असंयम जीवन किया है।[5] वृत्तिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ जीवन-मरण भी किया है।[6]

श्लोक ७६ :

११२. वैतरणी नदी (वेयरणी)

चूर्णि और वृत्ति के अनुसार इस नदी का प्रवाह अत्यन्त वेगवान् और इसके तट विषम हैं, इसीलिए इसे तरना बहुत कठिन होता है।[7]

नरक की एक नदी का नाम भी वैतरणी है, किन्तु प्रस्तुत श्लोक में निर्दिष्ट यह नदी नरक की नहीं है। उड़ीसा में आज भी वैतरणी नदी उपलब्ध है। वह बाढ़ के लिए प्रसिद्ध है। उसका प्रवाह बहुत वेगवान् है और उसके तटबंध भी विषम हैं। अतः प्रस्तुत प्रसंग में यही वैतरणी होनी चाहिए।

आधुनिक विद्वानों ने उड़ीसा के अतिरिक्त गढ़वाल और कुरुक्षेत्र में भी वैतरणी नदी की खोज की है।

जातक में अनेक स्थलों पर इस नदी का उल्लेख हुआ है किन्तु बौद्ध विद्वानों ने उसको इस लोक की नदी न मानकर उसे यमलोक की नदी ही माना है।[8] बौद्ध साहित्य में आठ ताप नरक माने हैं। प्रत्येक नरक के सोलह-सोलह उत्सद (यातना स्थान) हैं। चौथा उत्सद वैतरणी नदी है। इसका जल सदा उबलता रहता है। इसमें प्रज्वलित राख होती है। दोनों तीरों पर हाथ में

---

१. चूर्णि, पृ० ९८।

२. चूर्णि, पृ० ९९ : कालो नाम तारुण्यं मध्यमं वयः, यो वा यस्य कालो ध्यानस्याध्ययनस्य तपसो वा।

३. वृत्ति, पत्र १०० : काले धर्मार्जनावसरे·········· धर्मार्जनकालस्तु विवेकिनां प्रायशः सर्व एव, यस्मात् स एव प्रधानपुरुषार्थः, प्रधान एव च प्रायशः क्रियमाणो घटां प्राञ्चति, ततश्च ये बाल्यात्प्रभृत्यकृतविषयासङ्गतया कृततपश्चरणाः।

४. वृत्ति, पत्र १०० : एकवचननिर्देशस्तु सौत्रश्छान्दसत्वादिति।

५. चूर्णि, पृ० ९९ : जीवितं पुव्वरत-पुव्वकीलितादिअसंजमजीवितं।

६. वृत्ति, पत्र १०० : असंयमजीवितं, यदिवा—जीविते मरणे वा।

७. (क) चूर्णि, पृष्ठ ९९ : सा हि तीक्ष्णश्रोतस्त्वाद् विषमतटत्वाच्च दुःखमुत्तीर्यते।
   (ख) वृत्ति, पत्र १०० : वैतरणी नदीनां मध्येऽत्यन्तवेगवाहित्वात् विषमतटत्वाच्च।

८. बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृ० १३६।

असि, शक्ति और प्रास लिए हुए पुरुष होते हैं जो उन अपाय (नैरयिक) सत्वों को, जो उससे बाहर आना चाहते हैं, उसमें फिर ढ़केल देते हैं। वे कभी वैतरणी के जल में मग्न होते हैं……।[1]

श्लोक ७७ :

११३. विकृति पैदा करने वाले (पूयणा)

चूर्णिकार के अनुसार अन्न, पान, वस्त्र आदि से तथा स्नान, विलेपन आदि से शरीर की पूजा करना 'पूतना' है। वैकल्पिक रूप में उनका मत है कि जो धर्म से नीचे गिराए या जो चारित्र का हनन करे वह 'पूतना' है अर्थात् विकृति है।[2] हमने इस वैकल्पिक अर्थ को स्वीकार किया है। वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'पूजना' कर, अर्थ काम-विभूषिता किया है।[3]

श्लोक ७६ :

११४. झूठ बोलना छोड़े (मुसावायं विवज्जेज्जा)

मूलगुण की व्यवस्था में अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—यह क्रम उपलब्ध होता है, फिर यहां मृषावाद के वर्जन का उपदेश क्यों दिया गया? चूर्णिकार ने यह प्रश्न उपस्थित किया है और इसका उत्तर भी दिया है। उनका उत्तर बहुत ही मनोवैज्ञानिक है। सत्यनिष्ठ के ही व्रत होते हैं, असत्यनिष्ठ के नहीं होते। असत्यनिष्ठ मनुष्य प्रतिज्ञा का लोप भी कर सकता है। प्रतिज्ञा का लोप होने पर कोई व्रत नहीं बचता, इसलिए सर्व प्रथम मृषावाद के वर्जन का उपदेश बहुत महत्त्वपूर्ण है।[4]

श्लोक ८० :

११५. श्लोक ८० :

चूर्णिकार और वृत्तिकार के अनुसार प्रस्तुत श्लोक में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर प्राणातिपात को ग्रहण किया गया है[5]—

१. ऊर्ध्व, अधः और तिर्यक्—इनसे क्षेत्र प्राणातिपात।

२. त्रस और स्थावर—इनसे द्रव्य प्राणातिपात।

३. सव्वत्थ (सर्वत्र)—इनसे काल और भाव प्राणातिपात।

प्रस्तुत श्लोक ८/१९ और ११/११ में भी है।

११६. सब अवस्थाओं में (सव्वत्थ)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—सभी अवस्थाओं में[6] और वृत्तिकार ने—सर्वत्र काल में सब अवस्थाओं में—दिया है।[7]

---

१. अभिधर्मकोश, पृ० ३७४ (आचार्य नरेन्द्रदेव)

२. चूर्णि, पृ० ९९ : पूयणा नाम वस्त्रा-ऽन्न-पानादिभिः स्नाना-ऽङ्गरागादिभिश्च शरीरपूजना।………अथवा त एव नारीसंयोगाः पूतनाः पातयन्ति धर्मात् पातयन्ति वा चारित्रमिति पूतनाः, पूतीकुर्वन्तीत्यर्थः।

३. वृत्ति पत्र १०० : पूजना कामविभूषा।

४. चूर्णि, पृ० १०० : कस्मान्मृषावादः पूर्वमुपदिष्टः? न प्राणातिपातः? इति, उच्यते, सत्यवतो हि व्रतानि भवन्ति, नासत्यवतः, अनृतिको हि प्रतिज्ञालोपमपि कुर्यात्, प्रतिज्ञालोपे च सति किं व्रतानामवशिष्टम्?

५. (क) चूर्णि, पृ० १०० : ऊर्ध्वमधस्तिर्यगिति क्षेत्रप्राणातिपातो गृहीतः। जे केई तसथावरा इति द्रव्यप्राणातिपातः सर्वत्रेति प्राणातिपातभावश्च सर्वावस्थासु।

(ख) वृति, पत्र १०१।

६. चूर्णि, पृ० १०० : सर्वत्रेति प्राणातिपातभावश्च सर्वावस्थासु।

७. वृत्ति, पत्र १०१ : सर्वत्र काले सर्वास्ववस्थासु।

११७. शांति है (संति)

चूर्णिकार ने शान्ति का अर्थ निर्वाण किया है। शान्ति, निर्वाण, मोक्ष और कर्मक्षय—ये एकार्थक हैं।[1] वृत्तिकार ने इसका अर्थ कर्मदाह का उपशमन किया है।[2]

विरति ही शान्तिरूप निर्वाण है या विरति से शान्तिरूप निर्वाण प्राप्त होता है या जो विरत है वह स्वयं शान्तिरूप निर्वाण है।[3]

यही श्लोक ८/११ में है।

---

१. चूर्णि, पृ० १०० : शान्तिरेव निर्वाणम्……अहवा संति त्ति वा णेव्वाणं ति वा मोक्खो त्ति वा कम्मखयो त्ति वा एगट्ठं।
२. वृत्ति, पत्र १०१ : शान्ति इति कर्मदाहोपशमः।
३. चूर्णि, पृ० १०० विरति एव हि संतिणेव्वाणमाहितं, विरतीओ वा विरतस्स वा संतिणेव्वाणमाहितं।

चउत्थं अज्झयणं
इत्थीपरिण्णा

चौथा अध्ययन
स्त्री-परिज्ञा

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—स्त्रीपरिज्ञा। तीसरे अध्ययन में अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों के प्रकार और उनको सहने के उपाय निर्दिष्ट थे। अनुकूल उपसर्गों को सहना कठिन होता है। उनमें भी स्त्रियों द्वारा उत्पादित उपसर्ग अत्यन्त दुःसह होते हैं। हर कोई व्यक्ति उनको सहने में समर्थ नहीं हो सकता। इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है—स्त्री संबंधी उपसर्गों की उत्पत्ति के कारणों का कथन और सुसमाहित मुनि द्वारा उनके निरसन के उपायों का निदर्शन।

इसके दो उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में ३१ और दूसरे में २२ श्लोक हैं। पहले उद्देशक में कहा गया है कि मुनि को स्त्री-संसर्ग का वर्जन करना चाहिए। जो मुनि स्त्रियों के साथ परिचय करता है, उनके साथ संलाप करता है, उनके अंग-प्रत्यंग को आसक्तदृष्टि से देखता है, वह मुनि पथच्युत हो जाता है, संयमच्युत हो जाता है।

दूसरे उद्देशक में कहा गया है कि जो मुनि (या गृहस्थ) स्त्रियों के वशवर्ती होते हैं वे अनेक विडम्बनाओं को प्राप्त होते हैं। किस प्रकार स्त्रियां उन पर अनुशासन करती हैं और दास की तरह उन्हें नानाविध कार्यों में व्यापृत रखती हैं—यह भी सुन्दर रूप से वर्णित है।

वह आचार से भ्रष्ट साधु अपने वर्तमान जीवन में स्वजनों से तथा दूसरे लोगों से तिरस्कार को प्राप्त होता है और घोर कर्म-बन्धन करता है। इस कर्म-बंधन के फल स्वरूप वह संसार-भ्रमण से छुटकारा नहीं पा सकता।

स्त्री का विपक्ष है पुरुष। साध्वी के लिए प्रस्तुत अध्ययन को 'पुरुष परिज्ञा' के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। निर्युक्तिकार ने पुरुष के दस निक्षेप निर्दिष्ट किए हैं। वे इस प्रकार हैं[1]—

१. नाम-पुरुष—जिसकी संज्ञा पुल्लिग हो, जैसे घट, पट आदि। अथवा जिसका नाम 'पुरुष' हो।
२. स्थापना-पुरुष- लकडी या प्रस्तर से बनी प्रतिमा में किसी का आरोपण कर देना, जैसे—यह महावीर की प्रतिमा है।
३. द्रव्य-पुरुष—धन प्रधान पुरुष, धनार्जन की अति लालसा रखने वाला पुरुष, जैसे—मम्मण सेठ।
४. क्षेत्र-पुरुष—क्षेत्र से संबोधित होने वाला पुरुष, जैसे—सौराष्ट्रिक, मागधिक आदि।
५. काल-पुरुष—जो जितने काल तक 'पुरुष वेद' का अनुभव करता है।

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—'भंते! पुरुष कितने समय तक पुरुष होता है?' भगवान् ने कहा—गौतम! जघन्यतः एक समय तक और उत्कृष्टतः कुछ न्यून सौ सागर तक।[2] अथवा कोई पुरुष एक अपेक्षा से पुरुष होता है और दूसरी अपेक्षा से नपुंसक।[3]

६. प्रजनन-पुरुष—जिसके केवल पुरुष का चिह्न—शिश्न है, किन्तु जिसमें पुंस्त्व नहीं है, वह प्रजनन पुरुष है।
७. कर्म-पुरुष—जो अत्यन्त पौरुषयुक्त कार्य करता है।[4] वृत्तिकार ने कर्मकर-नौकर को कर्मपुरुष माना है।[5]
८. भोग-पुरुष—भोग प्रधान पुरुष।

---

१. निर्युक्ति गाथा ४६ : णामं ठवणा दविए, खेत्ते काले य पजणणे कम्मे।
भोगे गुणे य भावे, दस एते पुरिसणिक्खेवा॥
—चूर्णि, पृ० १०१, १०२।

२. चूर्णि, पृ० १०१ : पुरिसे णं भंते पुरिसो त्ति कालतो केवचिरं होति?
जघण्णेणं एगं समयं उक्कोसेणं सागरसयपुहुत्तं॥
वृत्तिकार ने (वृत्ति पत्र १०३) इस प्रसंग में भिन्न पाठ उद्धृत किया है—यथा—पुरिसेणं भंते! पुरिसोत्ति कालओ केवच्चिरं होइ? गो० जहन्नेणं एगं समयं उक्कोसेणं जो जम्मि काले पुरिसो भवइ।

३. (क) चूर्णि, पृ० १०२ : (जहा कोई एगम्मि पक्खे पुरिसो) एगम्मि पक्खे णपुंसगो।
(ख) वृत्ति, पत्र १०३।

४. चूर्णि, पृ० १०२ : कम्मपुरुसो नाम यो हि अतिपौरुषाणि कम्माणि करोति, ·········· स कर्मपुरुषः।

५. वृत्ति पत्र १०३ : कर्म—अनुष्ठानं तत्प्रधानः पुरुषः कर्मपुरुषः कर्मकरादिकः।

९. गुण-पुरुष—पुरुष के चार गुण होते हैं—व्यायाम, विक्रम, वीर्य और सत्त्व।[1] इन गुणों से युक्त पुरुष गुण-पुरुष कहलाता है। वृत्तिकार ने 'वीर्य' गुण के स्थान पर 'धैर्य' गुण माना है।[2]

१०. भाव-पुरुष—वर्तमान में 'पुरुष वेदनीय' कर्म को भोगने वाला।

बल तीन प्रकार का होता है—

१. बुद्धिबल
२. शारीरिक बल
३. तपोबल

जो व्यक्ति इन बलों से युक्त होते हैं, वे भी स्त्री के वश होकर नष्ट हो जाते हैं। उनका शौर्य शून्य हो जाता है। इस प्रसंग में निर्युक्तिकार ने तीनों बलों के तीन दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं[3]—

(क) अभयकुमार—बुद्धिबल का धनी।
(ख) चंडप्रद्योत—शरीरबल का धनी।
(ग) कूलबाल—तपोबल का धनी।[4]

अभयकुमार

महाराज चंडप्रद्योत अभयकुमार को बंदी बनाना चाहते थे। उन्होंने इस कार्य के लिए एक गणिका को चुना। गणिका ने सारी योजना बनाई और शहर की दो सुन्दर और चतुर षोडशियों को तैयार किया। वे तीनों राजगृह में आईं और अपने आपको धर्मनिष्ठ श्राविकाओं के रूप में विख्यात कर दिया। प्रतिदिन मुनि-दर्शन, धर्मश्रवण तथा अन्यान्य धार्मिक क्रियाकाण्डों को करने का प्रदर्शन कर जनता का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर दिया। अभयकुमार भी इनकी धार्मिक क्रियाओं और तत्वज्ञान की प्रवणता को देखकर आकृष्ट हुआ। एक दिन अभयकुमार ने तीनों को भोजन के लिए आमंत्रित किया। तीनों गईं। भोजन से निवृत्त होकर, धार्मिक चर्चा की और उन तीनों ने अभयकुमार को अपने निवास-स्थान पर आमंत्रित किया। उसने स्वीकार कर लिया।

अभयकुमार ठीक समय पर उनके निवास-स्थान पक पहुंचा। तीनों ने भावभरा स्वागत किया, भोजन कराया और चन्द्रहार सुरा के मिश्रण से निष्पन्न मधुर पेय पिलाया। तत्काल अभय को नींद आने लगी। सुकोमल शय्या तैयार थी। अभयकुमार सो गया। वह बेसुध-सा हो गया। गणिकाएं उसे रथ में डालकर अवन्ती ले गईं। चंडप्रद्योत को सौंप गणिकाएं अपने घर चली गईं। अभय का बुद्धिबल पराजित हो गया।

चंडप्रद्योत

अभयकुमार चंडप्रद्योत से बदला लेना चाहता था। चंडप्रद्योत वीर था। उसको आमने-सामने लड़कर पराजित कर पाना असंभव था। अभयकुमार ने गुप्त योजना बनाई। वह बनिए का रूप बनाकर उज्जयिनी आया। दो सुन्दर गणिकाएं साथ में थीं। बाजार में एक विशाल मकान किराए पर ले वहीं रहने लगा। चंडप्रद्योत उसी मार्ग से आता जाता था। उस समय वे स्त्रियां गवाक्ष में बैठकर हावभाव दिखाती थीं। चंडप्रद्योत उनके प्रति आकृष्ट हुआ और अपनी दासी के साथ प्रणय-प्रस्ताव भेजा। एक दो बार वह दासी निराश लौट आई। तीसरी बार गणिकाओं ने महाराज को अपने घर आने का निमंत्रण दे दिया।

इधर अभयकुमार ने एक व्यक्ति को अपना भाई बनाकर उसका नाम प्रद्योत रख दिया। उसे पागल का अभिनय करने का प्रशिक्षण दिया। लोगों में यह प्रचारित कर दिया कि यह पागल है और सदा कहता है कि मैं प्रद्योत राजा हूं। मुझे जबरदस्ती पकड़ कर ले जा रहा है।

निर्धारित दिन के अपरान्ह में चंडप्रद्योत गणिका के द्वार पर आया। गणिका ने स्वागत किया। चंडप्रद्योत एक पलंग पर लेट गया। इतने में ही अभय के सुभटों ने उसे धर-दबोचा। उसे रस्सी से बांध कर चार आदमी अपने कंधों पर उठाकर बीच

---

१ चूर्णि, पृ० १०२ : व्यायामो विक्रमो वीर्यं सत्त्वं च पुरुषे गुणाः।

२. वृत्ति, पत्र १०३ : गुणाः—व्यायामविक्रमधैर्यसत्त्वादिकाः।

३ निर्युक्ति, गाथा ५० : सूरा मो मण्णंता कइतवियाहि उवहि-नियडिप्पहाणाहि।
गहिता तु अभय-पज्जोत-कूआधारादिणो बहवे॥

४. वृत्ति, पत्र १०३ : कथानकत्रयोपन्यासस्तु यथाक्रमं अत्यन्तबुद्धिविक्रमतपस्वित्वख्यापनार्थं इति।

बाजार से ले चले। उसका मुंह ढंका हुआ था। वह चिल्ला रहा था, 'मुझे बचाओ। मैं प्रद्योत राजा हूं। मुझे जबरदस्ती पकड़कर ले जा रहे हैं।' लोग इस चिल्लाहट को सुनने के आदी हो गए थे। किसी ने ध्यान नहीं दिया।

उसे बंदी अवस्था में लाकर अभयकुमार ने श्रेणिक को सौंप दिया।

कूलबाल

महाराज अजातशत्रु वैशाली के प्राकारों को भंग करने की प्रतिज्ञा कर चुके थे। अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी प्रतिज्ञा सफल नहीं हो रही थी। एक व्यन्तरी ने महाराज ने कहा—राजन् ! यदि मागधिका वेश्या तपस्वी कूलबाल को अपने फंदे में फंसा ले तो आपकी प्रतिज्ञा पूरी हो सकती है। मागधिका वेश्या चंपा में रहती थी। महाराजा अजातशत्रु ने उसे बुला भेजा और अपनी बात बताई। वेश्या ने कार्य करने की स्वीकृति दे दी।

कूलवाल तपस्वी का अता-पता किसी को ज्ञात नहीं था। गणिका ने श्राविका का कपटरूप बनाया। आचार्य के पास आने जाने से उसका परिचय बढ़ा और एक दिन मधुर वाणी से आचार्य को लुभा कर तपस्वी का पता जान ही लिया।

वह तपस्वी कुलवाल अपने शाप को अन्यथा करने के लिए एक नदी के किनारे कायोत्सर्ग में लीन रहता था। जब कभी आहार का संयोग होता, भोजन कर लेता, अन्यथा तपस्या करता रहता। कायोत्सर्ग और तपस्या ही उसका कर्म था।

गणिका उसी जंगल में पहुंची जहां तपस्वी तपस्या में लीन थे। उनकी सेवा-सुश्रुषा का बहाना बनाकर उसने वहीं पड़ाव डाला। मुनि को पारणे के लिए निमंत्रित कर, औषधि मिश्रित मोदक बहराए। उनको खाने से मुनि अतिसार से पीड़ित हो गए। यह देखकर मागधिका ने कहा—मुनिवर ! अब मैं आपको छोड़कर कहीं नहीं जाऊंगी। आप मेरे आहार से रोगग्रस्त हुए हैं। मैं आपको स्वस्थ करके ही यहां से हटूंगी।" अब वह प्रतिदिन मुनि का वैयावृत्य, अंगमर्दन और भिन्न-भिन्न प्रकार से सेवा करने लगी। मुनि का अनुराग बढ़ता गया। दोनों का प्रेम पति-पत्नी के रूप में विकसित हुआ और मुनि अपने मार्ग से च्युत हो गए।

ये तीनों दृष्टान्त इस बात के द्योतक हैं कि स्त्री-परवशता सबको पराजित कर देती है।

वृत्तिकार ने "सुसमत्थाऽवऽसमत्था ········[निर्युक्तिगाथा ५९][1] की व्याख्या के अन्तर्गत पन्द्रह श्लोकों में स्त्रियों के उन गुणों की चर्चा की है जिनके कारण वे अविश्वसनीय होती हैं।[2]

ग्रन्थकार यहां तक कहते है—'गंगा के वालुकणों को गिना जा सकता है, सागर के पानी का माप हो सकता है, और हिमालय का परिमाण जाना जा सकता है, उसे तोला जा सकता है, परन्तु महिलाओं के हृदय को जान पाना विचक्षण व्यक्तियों के लिए भी अशक्य है।[3]

निर्युक्तिकार ने अंत में यह भी प्रतिपादित किया है कि स्त्रियों के संसर्ग से जो-जो दोष पुरुषों में आपादित होते हैं, वे ही दोष पुरुषों के संसर्ग से स्त्रियों में भी आपादित होते हैं।[4]

प्रस्तुत अध्ययन में उपमाओं के द्वारा समझाया गया है कि किस प्रकार स्त्रियां पुरुषों को (मुनियों को) अपने फंदे में फसाती हैं—

१. सीहं जहा व कुणिमेणं (श्लोक ८)
२. अह तत्थ पुणो णमयंति, रहकारो व णेमिं अणुपुव्वीए (श्लोक ९)
३. बद्धे मिए व पासेणं (श्लोक ९)
४. भोच्चा पायसं वा विसमस्सं (श्लोक १०)
५. विसलित्तं व कंटगं णच्चा (श्लोक ११)
६. जउकुम्भे जोइसुवगूढे (श्लोक २७)
७. णीवारमेवं बुज्झेज्जा (श्लोक ३१)

प्रस्तुत अध्ययन की चूर्णि और वृत्ति में कामशास्त्र संबंधी अनेक प्राचीन श्लोक संगृहीत हैं। उनका संकलन भी बहुत

---

१. वृत्तिकार के अनुसार यह निर्युक्ति का उनसठवां श्लोक है और चूर्णिकार के अनुसार यह बावनवां श्लोक है।

२. वृत्ति, पत्र १०३-१०४।

३. वृत्ति, पत्र १०४ : गंगाए वालुया सागरे जलं हिमवओ य परिमाणं।
जाणंति बुद्धिमंता महिलाहिययं ण जाणंति ॥

४. निर्युक्ति गाथा ५४ : एते चेव य दोसा पुरिसपमादे वि इत्थियाणं पि।

चउत्थं अज्झयणं : चौथा अध्ययन

इत्थीपरिण्णा : स्त्रीपरिज्ञा

पढमो उद्देसो : पहला उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. जे मायरं च पियरं च विप्पजहाय पुव्वसंजोगं। एगे सहिए चरिस्सामि आरतमेहुणो विवित्तेसी ।१।	यो मातरं च पितरं च, विप्रहाय पूर्वसंयोगम्। एकः सहितः चरिष्यामि, आरतमैथुनो विविक्तैषी ॥	१. जो भिक्षु माता, पिता और पूर्व-संयोग को[1] छोड़कर (संकल्प करता है—) मैं अकेला[2], आत्मस्थ[3] और मैथुन से विरत होकर एकान्त में विचरूंगा।[4]
२. सुहुमेणं तं परक्कम्म छण्णपएण इत्थीओ मंदा। उवायं पि ताओ जाणंति जह लिस्संति भिक्खुणो एगे ।२।	सूक्ष्मेण तं पराक्रम्य, छन्नपदेन स्त्रियः मन्दाः। उपायं अपि ताः जानन्ति, यथा श्लिष्यन्ते भिक्षवः एके ॥	२. मंद स्त्रियां निपुण[5] और गूढ वाच्य वाले पदों का[6] प्रयोग करती हुई मुनि के पास आती हैं।[7] वे उस उपाय को भी जानती हैं जिससे कोई भिक्षु उनके संग में फंसता है।
३. पासे भिसं णिसीयंति अभिक्खणं पोसवत्थं परिहिंति। कायं अहे वि दंसंति बाहु मुद्धट्टु कक्खमणुव्वजे ।३।	पार्श्वे भृशं निषीदन्ति, अभीक्ष्णं पोषवस्त्रं परिदधति। कायं अधोऽपि दर्शयन्ति, बाहुमुद्धृत्य कक्षामनुवादयन्ति ॥	३. वे उस भिक्षु के अत्यन्त[8] निकट बैठती हैं, अधोवस्त्र को[9] बार-बार ढीला कर उसे बांधती हैं,[10] शरीर के अधोभाग को दिखलाती हैं और भुजाओं को ऊपर उठाकर कांख को बजाती हैं।
४. सयणासणेहिं जोग्गेहिं इत्थीओ एगया णिमंतेंति। एयाणि चेव से जाणे पासाणि विरूवरूवाणि ।४।	शयनासनेषु योग्येषु, स्त्रियः एकदा निमन्त्रयन्ति। एतान् चैव स जानीयात्, पाशान् विरूपरूपान् ॥	४. वे स्त्रियां कालोचित[11] शयन[12] और आसन के लिए कभी[13] उसे निमंत्रित करती हैं।[14] उस मुनि को जानना चाहिए कि ये (निमंत्रण आदि) नाना प्रकार के उपक्रम उसके लिए बंधन हैं।[15]
५. णो तासु चक्खु संधेज्जा णो वि य साहसं समणुजाणे। णो सद्धियं पि विहरेज्जा एवमप्पा सुरक्खिओ होइ ।५।	नो तासु चक्षुः सन्दध्यात्, नो अपि च साहसं समनुजानीयात्। नो सार्धकं अपि विहरेत्, एवमात्मा सुरक्षितो भवति ॥	५. मुनि उनसे (स्त्रियों से) आंख न मिलाए।[16] उनके साहस (मैथुन-भावना) का[17] अनुमोदन न करे। उनके साथ विहार भी[18] न करे। इस प्रकार आत्मा सुरक्षित रहता है।[19]
६. आमंतिय ओसवियं वा भिक्खुं आयसा णिमंतेंति। एयाणि चेव से जाणे सद्दाणि विरूवरूवाणि ।६।	आमन्त्र्य उपशम्य वा, भिक्षुं आत्मना निमन्त्रयन्ति। एतान् चैव स जानीयात्, शब्दान् विरूपरूपान् ॥	६. स्त्रियां भिक्षु को आमंत्रित कर (संकेत देकर)[20] तथा उसकी आशंकाओं को शांत कर स्वयं सहवास का निमंत्रण देती हैं।[21] उस मुनि को जानना चाहिए कि ये नाना प्रकार के (निमंत्रण रूप) शब्द[22] उसके लिए बंधन हैं।

७. मणबंधणेहि णेगेहिं
कलुणविणीयमुवगसित्ताणं ।
अदु मंजुलाइं भासंति
आणवयंति भिण्णकहाहिं ।७।

मनोबन्धनैः अनेकैः,
करुणविनीतं उपकृष्य ।
अथवा मंजुलानि भाषन्ते,
आज्ञापयन्ति भिन्नकथाभिः ॥

७. वे मन को बांधने वाले अनेक (शब्दों के द्वारा) दीन भाव प्रदर्शित करती हुई विनयपूर्वक भिक्षु के समीप आकर मीठी बोलती हैं[13] और संयम से विमुख करने वाली कथा के द्वारा[14] उसे वशवर्ती बना आज्ञापित करती हैं।[15]

८. सीहं जहा व कुणिमेणं
णिब्भयमेगचरं पासेणं ।
एवित्थियाओ बंधंति
संवुडमेगतियमणगारं ।८।

सिंहं यथा वा कुणपेन,
निर्भयं एकचरं पाशेन ।
एवं स्त्रियः बध्नन्ति,
संवृतं एककं अनगारम् ॥

८. जैसे (सिंह को पकड़ने वाले लोग) निर्भय और अकेले रहने वाले सिंह को मांस का प्रलोभन दे पिंजड़े में बांध देते हैं[16] वैसे ही स्त्रियां संवृत और अकेले भिक्षु को (शब्द आदि विषयों का प्रलोभन देकर) बांध लेती हैं।

९. अह तत्थ पुणो णमयंति
रहकारो व णेमिं अणुपुव्वीए ।
बद्धे मिए व पासेणं
फंदंते वि ण मुच्चई ताहे ।९।

अथ तत्र पुनः नमयन्ति,
रथकारः इव नेमिं अनुपूर्व्या ।
बद्धो मृग इव पाशेन,
स्पन्दमानोऽपि न मुच्यते तदा ॥

९. फिर वे उस भिक्षु को वैसे ही झुका देती हैं जैसे बढई क्रमशः चक्के की पुट्ठी को। उस समय वह पाश से बंधे हुए मृग की भांति स्पंदित होता हुआ भी बंधन से छूट नहीं पाता।

१०. अह सेऽणुतप्पई पच्छा
भोच्चा पायसं व विसमिस्सं ।
एवं विवागमायाए
संवासो ण कप्पई दविए ।१०।

अथ स अनुतपति पश्चात्,
भुक्त्वा पायसं इव विषमिश्रम् ।
एवं विपाकं आदाय,
संवासः न कल्पते द्रव्यस्य ॥

१०. वह (स्त्री के बंधन में फंसा हुआ भिक्षु) पीछे वैसे ही अनुताप करता है[17] जैसे विषमिश्रित खीर को खाकर मनुष्य पछताता है। इस प्रकार अपने आचरण का विपाक[18] जानकर राग-द्वेष रहित भिक्षु[19] स्त्री के साथ संवास न करे।[20]

११. तम्हा उ वज्जए इत्थी
विसलित्तं व कंटगं णच्चा ।
ओए कुलाणि वसवत्ती
आघाए ण से वि णिग्गंथे ।११।

तस्मात् तु वर्जयेत् स्त्रियं
विषलिप्तं इव कण्टकं ज्ञात्वा ।
ओजः कुलानि वशवर्ती,
आख्याति न सोऽपि निर्ग्रन्थः ॥

११. भिक्षु स्त्री को विष-बुझे कांटे के समान जान कर[21] उसका वर्जन करे। राग-द्वेष रहित[22] और जितेन्द्रिय भिक्षु[23] भी घरों में जाकर केवल स्त्रियों में धर्मकथा करता है वह भी निर्ग्रन्थ नहीं होता (तब फिर दूसरे सामान्य भिक्षु का कहना ही क्या !)।[24]

१२. जे एयं उंछं तऽणुगिद्धा
अण्णयरा हु ते कुसीलाणं ।
सुतवस्सिए वि से भिक्खू
णो विहरे सहणमित्थीसु ।१२।

ये एतद् उञ्छं तदनुगृद्धाः,
अन्यतराः खलु ते कुशीलानाम् ।
सुतपस्विकोऽपि सः भिक्षुः,
नो विहरेत् सह स्त्रीभिः ॥

१२. जो भिक्षु आसक्त होकर विषयों की खोज करते हैं[25] वे कुशील व्यक्तियों की[26] श्रेणी में आते हैं। सुतपस्वी भिक्षु भी स्त्रियों के साथ[27] न रहे।

१३. अवि धूयराहिं सुण्हाहिं
धाईहिं अदुवा दासीहिं ।
महतीहिं वा कुमारीहिं
संथवं से ण कुज्जा अणगारे ।१३।

अपि दुहितृभिः स्नुषाभिः,
धात्रीभिः अथवा दासीभिः ।
महतीभिः वा कुमारीभिः,
संस्तवं स न कुर्यात् अनगारः ॥

१३. भिक्षु बेटी, बहू, दाई अथवा दासियों,[28] फिर वे बड़ी हों या कुमारी, के साथ[29] भी परिचय[30] न करे।[31]

१४. अदु णाइणं व सुहिणं वा
अप्पियं दट्ठुं एगया होइ।
गिद्धा सत्ता कामेहिं
रक्खणपोसणे मणस्सोऽसि ।१४।

अथवा ज्ञातीनां वा सुहृदां वा,
अप्रियं दृष्ट्वा एकदा भवति ।
गृद्धाः सक्ताः कामेषु,
रक्षणपोषणे मनुष्योऽसि ॥

१४. किसी समय स्त्री के साथ परिचय करते हुए भिक्षु को देखकर उसके ज्ञातियों[४३] और मित्रों में अप्रियभाव उत्पन्न होता है। (वे सोचते हैं—) ये भिक्षु कामभोगों में गृद्ध हैं, आसक्त हैं। (फिर उस भिक्षु से कहते हैं—) 'तुम ही इसके पुरुष (स्वामी) हो। इसका रक्षण और पोषण तुम ही करो।'[४३]

१५. समणं पि दट्ठूदासीणं
तत्थ वि ताव एगे कुप्पंति।
अदु भोयणेहिं णत्थेहिं
इत्थीदोससंकिणो होंति ।१५।

श्रमणं अपि दृष्ट्वा उदासीनं,
तत्रापि तावत् एके कुप्यन्ति ।
अथ भोजनेषु न्यस्तेषु,
स्त्रीदोषशंकिनः भवन्ति ॥

१५. श्रमण को स्त्रियों के समीप बैठा हुआ[४४] देखकर भी कुछ लोग कुपित हो जाते हैं। श्रमण को देने के लिए रखे हुए भोजन को देखकर स्त्री के प्रति दोष की शंका करने लग जाते हैं।[४५]

१६. कुव्वंति संथवं ताहिं
पब्भट्ठा समाहिजोगेहिं।
तम्हा समणा ण समेंति
आयहियाए सण्णिसेज्जाओ ।१६।

कुर्वन्ति संस्तवं ताभिः,
प्रभ्रष्टाः समाधियोगेभ्यः ।
तस्मात् श्रमणाः न समायन्ति,
आत्महिताय सन्निषद्याः ॥

१६. समाधि योग से[४६] भ्रष्ट श्रमण स्त्रियों के साथ परिचय करते हैं। इसलिए आत्महित की दृष्टि से श्रमण गृहस्थ की शय्या पर नहीं बैठते।

१७. बहवे गिहाइं अवहट्टु
मिस्सीभावं पत्थुया एगे।
धुवमग्गमेव पवयंति
वायावीरियं कुसीलाणं ।१७।

बहूनि गृहाणि अपहृत्य,
मिश्रीभावं प्रस्तुता एके ।
ध्रुवमार्गमेव प्रवदन्ति,
वाग्वीर्यं कुशीलानाम् ॥

१७. कुछेक लोग अपने-अपने घरों को छोड़कर गृहस्थ और साधु—दोनों का जीवन जीते हैं। वे इसी को ध्रुवमार्ग[४९] बतलाते हैं। कुशील लोग केवल वाग्वीर होते हैं[५०] (कर्मवीर नहीं।)

१८. सुद्धं रवइ परिसाए
अह रहस्सम्मि दुक्कडं कुणइ।
जाणंति य णं तहावेदा
माइल्ले महासढेऽयं ति ।१८।

शुद्धं रवति पर्षदि,
अथ रहस्ये दुष्कृतं करोति ।
जानन्ति च तं तथावेदाः,
मायावी महाशठोऽयं इति ॥

१८. कुशील मनुष्य परिषद् में अपने आपको शुद्ध[५१] बतलाता है और एकान्त में पाप करता है। यथार्थ को जानने वाले[५२] जान लेते हैं—[५३] यह मायावी है, महाशठ है।[५४]

१९. सयं दुक्कडं ण वयइ
आइट्ठो वि पकत्थइ बाले।
वेयाणुवीइ मा कासी
चोइज्जंतो गिलाइ से भुज्जो ।१९।

स्वयं दुष्कृतं न वदति,
आदिष्टोऽपि प्रकत्थते बालः ।
वेदानुवीचिं मा कार्षीः,
चोद्यमानो ग्लायति स भूयः ॥

१९. वह स्वयं अपना दुष्कृत नहीं बतलाता। कोई उसे (प्रमाद न करने के लिए) प्रेरित करता है[५५] तब वह अपनी प्रशंसा करने लग जाता है।[५६] 'मैथुन की कामना[५७] मत करो'—यह कहने पर वह बहुत खिन्न होता है।

२०. उसिया वि इत्थिपोसेसु
पुरिसा इत्थिवेयखेत्तण्णा।
पण्णासमण्णिया वेगे
णारीणं वसं उवकसंति ।२०।

उषिता अपि स्त्रीपोषेषु,
पुरुषाः स्त्रीवेदक्षेत्रज्ञाः ।
प्रज्ञासमन्विता वा एके,
नारीणां वशं उपकषन्ति ।

२०. कुछ पुरुष स्त्री का सहवास कर चुके हैं, स्त्रियों के हावभाव[५८] जानने में निपुण हैं, प्रज्ञा से समन्वित हैं, फिर भी वे स्त्रियों के वशीभूत हो जाते हैं।[५९]

२१. अवि हत्थपायछेयाए अदुवा वद्धमंस उक्कंते। अवि तेयसाभितावणाइं तच्छिय खारसिंचणाइं च ।२१।	अपि हस्तपादच्छेदाय, अथवा वर्ध्रमांसः उत्कृत्तः । अपि तेजसा अभितापनानि, तष्ट्वा क्षारसेचनानि च ।।	२१. व्यभिचारी मनुष्यों के हाथ-पैर काटे जाते हैं, चमड़ी छीली जाती है और मांस निकाला जाता है। उन्हें आग में जलाया जाता है। उनके शरीर को काटकर नमक छिड़का जाता है।
२२. अदु कण्णणासियाछेज्जं कंठच्छेयणं तितिक्खंती। इति एत्थ पाव-संतत्ता ण य वेंति पुणो ण काहिंति ।२२।	अथ कर्णनासिकाच्छेद्यं, कण्ठच्छेदनं तितिक्षन्ते । इति अत्र पापसंतप्ताः, न च ब्रुवन्ति पुनर्न करिष्यामः ।	२२. अथवा उनके नाक-कान काटे जाते है, कंठ-छेदन किया जाता है। वे इन सब कष्टों को सहते हैं। इस प्रकार पाप (परदारगमन)[६०] से संतप्त होने पर भी वे नहीं कहते—हम फिर ऐसा काम नहीं करेंगे।[६१]
२३. सुयमेयमेवमेगेसिं इत्थीवेदे वि हु सुयक्खायं। एयं पि ता वइत्ताणं अदुवा कम्मुणा अवकरेंति ।२३।	श्रुतं एतद् एवं एकेषां, स्त्रीवेदेऽपि खलु स्वाख्यातम् । एतद् अपि तावत् उक्त्वा, अथवा कर्मणा अपकुर्वन्ति ।।	२३. (लोकश्रुति) में सुना गया है और स्त्री-वेद (कामशास्त्र)[६२] में भी कहा गया है[६३] कि स्त्री किसी बात को वाणी से स्वीकार करती है किन्तु कर्म से उसका पालन नहीं करती (यह उसका स्वभाव है।[६४]
२४. अण्णं मणेण चिंतेंति अण्णं वायाए कम्मुणा अण्णं। तम्हा ण सद्दहे भिक्खू बहुमायाओ इत्थिओ णच्चा ।२४।	अन्यद् मनसा चिन्तयन्ति, अन्यद् वाचा कर्मणा अन्यत् । तस्मात् न श्रद्दधीत भिक्षुः, बहुमायाः स्त्रियः ज्ञात्वा ।।	२४. वह मन से कुछ और ही सोचती है, वचन से कुछ और ही कहती है तथा कर्म से कुछ और ही करती है। इस-लिए भिक्षु स्त्रियों को बहुमायाविनी जान, उन पर विश्वास न करे।[६५]
२५. जुवती समणं बूया चित्तवत्थालंकारविभूसिया । विरया चरिस्सहं रुक्खं धम्माइक्ख णे भयंतारो! ।२५।	युवतिः श्रमणं ब्रूयात्, चित्रवस्त्रालंकार - विभूषिता । विरता चरिष्यामि रूक्षं, धर्म आचक्ष्व नः भदन्त! ।।	२५. विचित्र वस्त्र और आभूषण से विभूषित स्त्री श्रमण से कहती है—भदन्त ! मुझे धर्म का उपदेश दें। मैं विरत हूं, संयम का पालन करूंगी।
२६. अदु सावियापवाएणं अहगं साहम्मिणी य तुब्भं ति। जउकुम्भे जहा उवज्जोई संवासे विऊ विसीदेज्जा ।२६।	अथ श्राविकाप्रवादेन, अहकं साधर्मिणी च युष्माकं इति । जतुकुम्भो यथा उपज्योतिः, संवासे विद्वान् विषीदेत् ।।	२६. अथवा श्राविका होने के बहाने वह कहती है—मैं तुम्हारी साधर्मिकी (समान-धर्म को मानने वाली) हूं। किन्तु मुनि इन बातों में न फंसे।) विद्वान् मनुष्य भी आग के पास रखे हुए लाख के घड़े की भांति स्त्री के संवास से विषाद को प्राप्त होता है।
२७. जउकुम्भे जोइसुवगूढे आसुभितत्ते णासमुवयाइ। एवित्थियाहिं अणगारा संवासेण णासमुवयंति ।२७।	जतुकुम्भो ज्योतिषोपगूढः, आशु अभितप्तो नाशमुपयाति । एवं स्त्रीभिः अनगाराः, संवासेन नाशमुपयन्ति ।।	२७. आग से लिपटा हुआ लाख का घड़ा शीघ्र ही तप्त होकर नष्ट हो जाता है, इसी प्रकार अनगार स्त्रियों के संवास से नष्ट हो जाते हैं।

२८. कुव्वंति पावगं कम्मं
पुट्ठा वेगेवमाहंसु ।
णा हं करेमि पावं ति
अंकेसाइणी ममेस त्ति ।२८।

कुर्वन्ति पापकं कर्म,
पृष्टाः वा एके एवमाहुः ।
नाहं करोमि पापं इति,
अंकेशायिनी ममैषा इति ॥

२८. कुछ भिक्षु पाप-कर्म (अब्रह्मचर्य-सेवन) करते हैं और पूछने पर कहते हैं—मैं पाप (अब्रह्मचर्य-सेवन) नहीं करता।[67] यह स्त्री (बचपन से ही) मेरी गोद में सोती रही है।

२९. बालस्स मंदयं बीयं
जं च कडं अवजाणई भुज्जो ।
दुगुणं करेइ से पावं
पूयणकामो विसण्णेसी ।२९।

बालस्य मान्द्यं द्वितीयं,
यच्च कृतं अपजानाति भूयः ।
द्विगुणं करोति स पापं,
पूजनकामः विषण्णैषी ॥

२९. मूढ की यह दूसरी मंदता है[68] कि वह किए हुए पाप को नकारता है। वह पूजा का इच्छुक[69] और असंयम का आकांक्षी[70] होकर दूना पाप करता है।

३०. संलोकणिज्जमणगारं
आयगयं णिमंतणेणाहंसु ।
वत्थं वा ताइ ! पायं वा
अण्णं पाणगं पडिग्गाहे ।३०।

संलोकनीयं अनगारं,
आत्मगतं निमन्त्रणेन आहुः ।
वस्त्रं वा तायिन् ! पात्रं वा,
अन्नं पानकं प्रतिगृण्हीयाः ॥

३०. (अपनी सुन्दरता के कारण) दर्शनीय और आत्मस्थ अनगार को वह निमंत्रण की भाषा में कहती है—हे तायिन् ! आप वस्त्र, पात्र और अन्न-पान को (मेरे घर से) स्वीकार करें।

३१. णीवारमेवं बुज्झेज्जा
णो इच्छे अगारमागंतुं ।
बद्धे विसयपासेहिं
मोहमावज्जइ पुणो मंदे ।३१।

नीवारमेव बुध्येत,
नो इच्छेत् अगारमागन्तुम् ।
बद्धो विषयपाशैः,
मोहं आपद्यते पुनर्मन्दः ॥

३१. भिक्षु इसे नीवार[71] ही समझे। उनके घर जाने की इच्छा न करे। जो विषय-पाश से बद्ध हो जाता है वह मंद मनुष्य फिर मोह में[72] फंस जाता है।

—त्ति बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

बीओ उद्देसो : दूसरा उद्देशक

३२. ओए सया ण रज्जेज्जा
भोगकामी पुणो विरज्जेज्जा ।
भोगे समणाण सुणेहा
जह भुंजंति भिक्खुणो एगे ।१।

ओजः सदा न रज्येत,
भोगकामी पुनः विरज्येत ।
भोगान् श्रमणानां शृणुत,
यथा भुञ्जते भिक्षवः एके ॥

३२. राग-द्वेष से मुक्त[73] होकर अकेला रहने वाला भिक्षु कामभोग में कभी आसक्त न बने। भोग की कामना उत्पन्न हो गई हो तो उससे फिर विरक्त हो जाए। कुछ श्रमण-भिक्षु जैसे भोग भोगते हैं, उनके भोगों को तुम सुनो।

३३. अह तं तु भेयमावण्णं
मुच्छियं भिक्खुं काममइवट्टं ।
पलिभिंदियाण तो पच्छा
पादुद्धट्टु मुद्धि पहणंति ।२।

अथ तं तु भेदमापन्नं,
मूर्च्छितं भिक्षुं काममतिवृत्तम् ।
परिभिद्य ततः पश्चात्,
पादौ उद्धृत्य मूर्ध्नि प्रहन्ति ॥

३३. चारित्र से भ्रष्ट,[74] मूर्छित और कामासक्त[75] भिक्षु को वश में[76] करने के बाद स्त्री उसके सिर पर पैर से प्रहार करती है।

३४. जइ केसियाए मए भिक्खु !
णो विहरे सहणमित्थीए ।
केसे वि अहं लुंचिस्सं
णण्णत्थ मए चरेज्जासि ।३।

यदि केशिकया मया भिक्षो !,
नो विहरेः सार्धं स्त्रिया ।
केशानपि अहं लुञ्चिष्यामि,
नान्यत्र मया चरेः ॥

३४- (भिक्षु को वश में करने के लिए कोई स्त्री कहती है—) मैं केश रखती हूं। भिक्षु ! यदि तुम मेरे साथ विहार करना नहीं चाहते तो मैं केशलुंचन करा लूंगी। तुम मुझे छोड़ अन्यत्र मत जाओ।

३५. अह णं से होइ उवलद्धे
तो पेसेंति तहाभूएहिं।
अलाउच्छेयं पेहेहि
वग्गुफलाइं आहराहि त्ति।४।

अथ सः भवति उपलब्धः,
ततः प्रेषयन्ति तथाभूतैः।
अलाबुच्छेदं प्रेक्षस्व,
वल्गुफलानि आहर इति॥

३५. जब वह भिक्षु पकड़ में आ जाता है[७७] तब उससे नौकर का[७८] काम कराती है— कद्दू काटने के लिए चाकू ला। अच्छे फल[७९] ला।

३६. दारूणि सागपागाए
पज्जोओ वा भविस्सई राओ।
पायाणि य मे रयावेहि
एहि य ता मे पट्ठि उम्मद्दे।५।

दारूणि शाकपाकाय,
प्रद्योतो वा भविष्यति रात्रौ।
पादौ च मे रञ्जय,
एहि च तावत् मे पृष्ठिं उन्मर्दय॥

३६. शाकभाजी पकाने के लिए लकड़ी ला। उससे रात को प्रकाश भी हो जाएगा।[८०] मेरे पैर रचा।[८१] आ, मेरी पीठ मल दे।[८२]

३७. वत्थाणि य मे पडिलेहेहि
अण्णं पाणमाहराहि त्ति।
गंधं च रओहरणं च
कासवगं च समणुजाणाहि।६।

वस्त्राणि च मे प्रतिलिख
अन्नं पानं आहर इति।
गन्धं च रजोहरणं च,
काश्यपं च समनुजानीहि॥

३७. मेरे वस्त्रों को देख (वे फट गए हैं, नए वस्त्र ला)।[८३] अन्न-पान ले आ। सुगंध चूर्ण और कूंची ला। बाल काटने के लिए नाई को बुला।

३८. अदु अंजणि अलंकारं
कुक्कययं मे पयच्छाहि।
लोद्धं च लोद्धकुसुमं च
वेणुपलासियं च गुलियं च।७।

अथ अञ्जनीं अलंकारं,
'कुक्कययं' मे प्रयच्छ।
लोध्रं च लोध्रकुसुमं च,
'वेणुपलासियं' च गुटिकां च॥

३८. अंजनदानी,[८४] आभूषण[८५] और तुंबवीणा[८६] ला। लोध, लोध के फूल, बांसुरी[८७] और (औषध की) गुटिका[८८] ला।

३९. कोट्ठं तगरं अगरुं च
संपिट्ठं सह उसीरेणं।
तेल्लं मुहे भिलिंगाय
वेणुफलाइं सण्णिहाणाए।८।

कोष्ठं तगरं अगरुं च,
संपृष्टं सह उशीरेण।
तैलं मुखे 'भिलिंगाय',
वेणुफलानि सन्निधानाय।

३९. कूठ,[८९] तगर,[९०] अगर,[९१] खस के[९२] साथ पीसा हुआ चूर्ण, मुंह पर मलने के लिए[९३] तेल[९४] तथा वस्त्र आदि रखने के लिए बांस की पिटारी[९५] ला।

४०. णंदीचुण्णगाइं पाहराहि
छत्तोवाहणं च जाणाहि।
सत्थं च सूवच्छेयाए
आणीलं च वत्थं रावेहि।९।

नन्दीचूर्णकानि प्राहर,
छत्रोपानहं च जानीहि।
शस्त्रं च सूपच्छेदाय,
आनीलं च वस्त्रं रञ्जय॥

४०. (होठों को मुलायम करने के लिए) नंदी चूर्ण,[९६] छत्ता और जूते ला। भाजी[९७] छीलने के लिए छुरी ला। वस्त्र को हल्के नीले रंग से रंगा दे।[९८]

४१. सुफणिं च सागपागाए
आमलगाइं दगाहरणं च।
तिलगकरणिं अंजणसलागं
घिंसु मे विहुयणं विजाणाहि।१०।

'सुफणिं' च शाकपाकाय,
आमलकानि दकाहरणं च।
तिलककरणीं अञ्जनशलाकां,
ग्रीष्मे मे विधुवनं विजानीहि॥

४१. शाक पकाने के लिए तपेली,[९९] आंवले,[१००] कलश, तिलककरनी,[१०१] अंजनशलाका[१०२] तथा गरमी के लिए पंखा ला।

४२. संडासगं च फणिहं च
सीहलिपासगं च आणाहि।
आयंसगं च पयच्छाहि
दंतपक्खालणं पवेसेहि।११।

संदशकं च 'फणिहं' च,
'सीहलिपासगं' च आनय।
आदर्शकं च प्रयच्छ,
दन्तप्रक्षालनं प्रवेशय॥

४२. (नाक के केशों को उखाड़ने के लिए) संदशक,[१०३] कंघी[१०४] और केश-कंकण[१०५] ला। दर्पण दे और दतवन[१०६] ला।

४३. पूयफलं तंबोलं च
सूई-सुत्तगं च जाणाहि।
कोसं च मोयमेहाए
सुप्पुक्खल-मुसल-खारगलणं च।१२

पूगफलं ताम्बूलं च,
सूचि-सूत्रकं च जानीहि।
कोशं च 'मोयमेहाय',
सूपोदूखलमशलक्षारगालनकञ्च॥

४३. सुपारी,[१०७] पान, सुई, धागा, मूत्र के लिए पात्र,[१०८] सूप, ओखली, मुसल और सज्जी गलाने का वर्तन ला।

४४. वंदालगं च करगं च
वच्चघरगं च आउसो ! खणाहि ।
सरपायगं च जायाए
गोरहगं च सामणेराए ।१३।

'वंदालगं' च करकं च,
वर्चोगृहं च आयुष्मन् ! खन ।
शरपातकं च जाताय,
गोरथकं च श्रामणेराय ।।

४४. आयुष्मान् ! पूजा-पात्र[109] और लघुपात्र[110] ला । संडास के लिए गढा खोद दे ।[111] पुत्र के लिए धनुष्य[112] और श्रामणेर (श्रमण-पुत्र) के लिए[113] तीन वर्ष का बैल[114] ले आ ।

४५. घडिगं सह डिंडिमएणं
चेलगोलं कुमारभूयाए ।
वासं इममभिआवण्णं
आवसहं जाणाहि भत्ता ! ।१४।

घटिकां सह डिण्डिमयेन,
चेलगोलं कुमारभूताय ।
वर्षा इयं अभ्यापन्ना,
आवसथं जानीहि भर्त्तः ! ।।

४५. बच्चे के लिए[115] घंटा,[116] डमरू[117] और कपड़े की गेंद[118] ला । हे भर्त्ता ! वर्षा शिर पर मंडरा रही है, इसलिए घर की ठीक व्यवस्था कर ।[119]

४६. आसंदियं च णवसुत्तं
पाउल्लाइं संकमट्ठाए ।
अदु पुत्तदोहलट्ठाए
आणप्पा हवंति दासा वा ।१५।

आसन्दिकां च नवसूत्रां,
'पाउल्लाइं' संक्रमार्थम् ।
अथ पुत्रदोहदार्थं,
आज्ञाप्याः भवन्ति दासा इव ।।

४६. नई सुतली की खटिया[120] और चलने के लिए काष्ठ-पादुका[121] ला । तथा गर्भकाल में स्त्रियां अपने दोहद (लालसा) की पूर्ति के लिए अपने प्रियतम पर दास की भांति शासन करती हैं ।[122]

४७. जाए फले समुप्पण्णे
गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि ।
अह पुत्तपोसिणो एगे
भारवहा हवंति उट्टा वा ।१६।

जाते फले समुत्पन्ने,
गृहाण वा अथवा जहाहि ।
अथ पुत्रपोषिणः एके,
भारवहा भवन्ति उष्ट्रा इव ।।

४७. पुत्र रूपी फल के उत्पन्न होने पर[123] (वह कहती है) इसे (पुत्र को) ले अथवा छोड़ दे ।[124] (स्त्री के अधीन होने वाले) कुछ पुरुष पुत्र के पोषण में लग जाते हैं और वे ऊंट की भांति भारवाही हो जाते हैं ।

४८. राओ वि उट्ठिया संता
दारगं संठवेंति धाई वा ।
सुहिरीमणा वि ते संता
वत्थधुवा हवंति हंसा वा ।१७।

रात्रावपि उत्थिताः सन्तः,
दारकं संस्थापयन्ति धात्री इव ।
सुह्रीमनसोऽपि ते सन्तः,
वस्त्रधाविनो भवन्ति हंसा इव ।।

४८. वे रात में भी उठकर (रोते हुए) बच्चे को धाई की भांति लोरी गाकर सुला देते हैं ।[125] वे लाजयुक्त मन वाले होते हुए भी धोबी[126] की भांति (स्त्री और बच्चे के) वस्त्रों को धोते हैं ।

४९. एवं बहूहि कयपुव्वं
भोगत्थाए जेऽभियावण्णा ।
दासे मिए व पेस्से वा
पसुभूए व से ण वा केई ।१८।

एवं बहुभिः कृतपूर्वं,
भोगार्थाय ये अभ्यापन्नाः ।
दासः मृग इव प्रेष्य इव,
पशुभूत इव स न वा कश्चित् ।।

४९. बहुतों ने पहले ऐसा किया है । जो कामभोग के लिए भ्रष्ट हुए हैं वे दास की भांति समर्पित, मृग की भांति परवश, प्रेष्य की भांति कार्य में व्यापृत[127] और पशु की भांति भारवाही[128] होते हैं । वे अपने आप में कुछ भी नहीं रहते ।[129]

५०. एवं खु तासु विण्णप्पं
संथवं संवासं च चएज्जा ।
तज्जातिया इमे कामा
वज्जकरा य एव मक्खाया ।१९।

एवं खलु तासु विज्ञाप्यं,
संस्तवं संवासं च त्यजेत् ।
तज्जातिका इमे कामाः,
वर्ज्यकराश्च एवं आख्याताः ।।

५०. इस प्रकार स्त्रियों के विषय में जो कहा गया है (उन दोषों को जानकर) उनके साथ परिचय[130] और संवास का[131] परित्याग करे । ये काम-भोग सेवन करने से बढ़ते हैं ।[132] तीर्थंकरों ने उन्हें कर्म-बन्धन कारक[133] बतलाया है ।

५१. एवं भयं ण सेयाए
इइ से अप्पगं णिरुंभित्ता।
णो इत्थिं णो पसुं भिक्खू
णो सयं पाणिणा णिलिज्जेज्जा ।२०।

एवं भयं न श्रेयसे,
इति स आत्मकं निरुध्य।
नो स्त्रियं नो पशुं भिक्षुः,
नो स्वयं पाणिना निलीयेत॥

५१. ये कामभोग भय उत्पन्न करते हैं। ये कल्याणकारी नहीं हैं। यह जानकर भिक्षु मन का निरोध करे—कामभोग से अपने को बचाए।[114] वह स्त्रियों और पशुओं से बचे तथा अपने गुप्तांगों को हाथ से न छुए।[115]

५२. सुविसुद्धलेसे मेहावी
परकिरियं च वज्जए णाणी।
मणसा वयसा काएणं
सव्वफाससहे अणगारे ।२१।

सुविशुद्धलेश्यः मेधावी,
परक्रियां च वर्जयेत् ज्ञानी।
मनसा वाचा कायेन,
सर्वस्पर्शसहः अनगारः॥

५२. शुद्ध अन्तःकरण वाला[116] मेधावी, ज्ञानी भिक्षु परक्रिया न करे—स्त्री के पैर आदि न दबाए।[117] वह अनिकेत भिक्षु मन, वचन और काया से सब स्पर्शों (कष्टों) को सहन करे।

५३. इच्चेवमाहु से वीरे
धुयरए धुयमोहे से भिक्खू।
तम्हा अज्झत्थविसुद्धे
सुविमुक्के आमोक्खाए
परिव्वएज्जासि ।२२।

इत्येवं आह स वीरः,
धुतरजाः धुतमोहः स भिक्षुः।
तस्मात् अध्यात्मविशुद्धः,
सुविमुक्तः आमोक्षाय परिव्रजेत्॥

५३. भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है—जो राग और मोह को धुन डालता है वह भिक्षु होता है। इसलिए वह शुद्ध अन्तःकरण वाला[118] भिक्षु काम-वांछा से मुक्त होकर बन्धन-मुक्ति के लिए परिव्रजन करे।

—त्ति बेमि॥

—इति ब्रवीमि॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन ४

श्लोक १ :

१. पूर्व संयोग को (पुव्वसंजोगं)

चूर्णिकार ने इसके अर्थ निम्न प्रकार से किए हैं[1]—

१. गृहसंयोग।

२. भार्या, श्वसुर, पुत्र, धेवते आदि से होने वाला पश्चात् संबंध।

३. सारे संबंध—पहले के या बाद के।

४. द्रव्य से पूर्व-संयोग—स्वजन संस्तव या नो-स्वजन संस्तव।

५. भाव से पूर्व-संयोग—मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान आदि।

वृत्तिकार ने माता, पिता, भाई, पुत्र आदि के संबंध को पूर्व संयोग और सास-ससुर आदि के संबंध को पश्चात् संयोग माना है। यहां दोनों प्रकार के संयोग गृहीत हैं।[2]

२. अकेला (एगे)

इसका अर्थ है—अकेला। अकेला वह होता है जो माता-पिता आदि स्वजनों की आसक्ति को अथवा कषायों को छोड़ देता है।[3]

३. आत्मस्थ (सहिए)

देखें—२।५२ का टिप्पण।

४. एकान्त में विचरूंगा (विवित्तेसी)

चूर्णिकार ने इसके चार अर्थ किए हैं[4]—

१. द्रव्य से विविक्त का अर्थ है—शून्यागार-स्त्री पशु से वर्जित स्थान।

२. भाव से विविक्त का अर्थ है—काम के संकल्प का वर्जन।

३. साधुओं के मार्ग की एषणा करने वाला।

४. कर्म से विविक्त अर्थात् मोक्ष की एषणा करने वाला।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—ऐसा स्थान जो संयमचर्या का अवरोधक न हो—किया है।[5]

---

१. चूर्णि, पृ० १०३ : पूर्वसंयोगो गृहसंयोगः, अथवा जातः सन् यैः सह पश्चात् संयुज्यते स संयोगः, स तु भार्या-श्वशुर-पुत्र-दुहित्रादि, अथवा सर्व एव पूर्वापरसहसम्बन्धः पूर्वसंयोगो भवति। अथवा द्रव्य-भावतः पूर्वसंयोगः। द्रव्ये स्वजनसंस्तवो नोस्वजनसंस्तवश्च। ········ भावेमिच्छत्ता-ऽविरति-अण्णाणादि।

२. वृत्ति पत्र १०५ : भ्रातृपुत्रादिकं पूर्वसंयोगं तथा श्वश्रूश्वशुरादिकपश्चात्संयोगं च।

३. वृत्ति, पत्र १०५ : एको मातापित्राद्यभिष्वङ्गवर्जितः कषायरहितो वा।

४. चूर्णि, पृ० १०३ : विवित्तेसी, विवित्तं द्रव्ये शून्यागारं स्त्री-पशुवर्जितम्, भावे तत्सङ्कल्पवर्जनता, विविक्तान्येषतीति विवित्तेषी मार्गयतीत्यर्थः, विविक्तानां—साधूनां मार्गमेषतीति विवित्तेसी। अथवा—कर्मविवित्तो मोक्खो तमेवमेषतीति विवित्तमेसी।

५. वृत्ति, पत्र १०५ : विविक्तं—स्त्रीपण्डकादिरहितं स्थानं संयमानुपरोध्येषितुं शीलमस्य तथेति।

श्लोक २ :

५. निपुण (सुहुमेण)

चूर्णिकार ने सूक्ष्म का अर्थ 'निपुण' किया है। उपाय का अध्याहार करने पर इसका अर्थ होता है—सूक्ष्म उपाय के द्वारा।[1]

वृत्तिकार का अर्थ भिन्न है। उनके अनुसार यह 'छण्णपएण' का विशेषण है और इसका अर्थ है—बहाना कर।[2]

६. गूढ़ वाच्यवाले पदों का (छण्णपएण)

चूर्णिकार ने छन्नपद के दो अर्थ किए हैं[3]—

१. अन्यापदेश—दूसरे के मिष से अपनी बात कहना।

२. गुप्तपदों और संकेतों के द्वारा अपना आन्तरिक भाव प्रगट करना।

वृत्तिकार को भी ये दोनों अर्थ मान्य हैं।[4] चूर्णि और वृत्ति में इन दोनों को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट किया है[5]—

पियपुत्त भाइकिडगा णत्तूकिडगा य सयणकिडगा य।
एते जोव्वणकिडगा पच्छन्नपई महिलियाणं॥

स्त्रियां पुत्र, भाई, पौत्र या देवरा तथा स्वजन आदि संबंधों के बहाने उनके साथ प्रच्छन्न क्रीड़ा करती हैं। वे लोगों को दूसरा संबंध बताती हैं और उस पुरुष के साथ दूसरा संबंध रखती हैं यह अन्यापदेश का उदाहरण है।

'काले प्रसुप्तस्य जनार्दनस्य, मेघान्धकारासु च शर्वरीषु।
मिथ्या न भाषामि विशालनेत्रे! ते प्रत्यया ये प्रथमाक्षरेषु॥'

इस श्लोक के चारों चरणों के प्रथम अक्षरों—'कामेमि ते'—मैं तुम्हारी कामना करती हूं के द्वारा स्त्री ने अपनी भावना व्यक्त की है।

यह गूढ़पद का उदाहरण है।

७. पास आती है (परक्कम्म)

इसका अर्थ है—निकट आकर।[6] वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप से इसका अर्थ इस प्रकार किया है—अपने शील को खंडित करने की योग्यता से मुनि को अभिभूत कर।[7]

श्लोक ३ :

८. अत्यन्त (भिसं)

इसको स्पष्ट करने के लिए चूर्णिकार और वृत्तिकार ने लिखा है कि वे स्त्रियां मुनि के ऊरु से ऊरु सटाकर आवे आसन

१. चूर्णि, पृष्ठ १०३ : सुहुमेनेति निपुणेन, उपायेनेति वाक्यशेषः।

२. वृत्ति, पत्र १०५ : सूक्ष्मेण अपरकार्यव्यपदेशभूतेन छन्नपदेनेति।

३. चूर्णि, पृ० १०३ : छन्नपदेनेति अन्यापदेशेन·········अथवा छन्नपदेनेति छन्नतरैरभिधानैराकारैश्चैनं अभिसर्पति।

४. वृत्ति, पत्र १०५ : छन्नपदेनेति छद्मना—कपटजालेन·········यदिवा—छन्नपदेनेति—गुप्ताभिधानेन।

५. (क) चूर्णि, पृ० १०३।
(ख) वृत्ति, पत्र १०५।

६. चूर्णि, पृ० १०३ : परक्कम्म त्ति पराक्रम्य अभ्यासमेत्य।

७. वृत्ति, पत्र १०५ : पराक्रम्य तत्समीपमागत्य, यदिवा—पराक्रम्येति शीलस्खलनयोग्यतापत्त्या अभिभूय।

पर आकर बैठ जाती हैं।[1]

९. अधोवस्त्र को (पोसवत्थं)

'पोस' का अर्थ उपस्थ (जननेन्द्रिय) है। स्थानांग ९।२४ में शरीर के नौ स्रोत बतलाएं हैं— दो कान, दो आंख, दो नासाएं, मुंह, पोष और पायुः।[2] वृत्तिकार अभयदेवसूरी ने भी इसका यही अर्थ किया है।[3] इससे 'पोसवत्थं' का अर्थ अधोवस्त्र फलित होता है।[4]

१०. ढीला कर उसे बांधती है (परिहिंति)

इसका अर्थ है—धारण करना या बांधना। स्त्रियां अपनी काम-भावना प्रगट करने के लिए तथा साधु को ठगने के लिए कसे हुए वस्त्र को ढ़ीला कर पुनः उसे बांधने का दिखावा करती हैं।[5]

श्लोक ४ :

११. कालोचित (जोग्गेहिं)

जिस स्थान में उच्चार, प्रस्रवण, चंक्रमण, कायोत्सर्ग, ध्यान और अध्ययन की भूमियां हों, वह स्थान योग्य—कालोचित होता है।[6]

१२. शयन (सयण)

इसका प्रचलित अर्थ है—शयन, शय्या, बिछौना। इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है—जिस पर सोया जाता है वह पलंग आदि।[7] चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किये हैं—संस्तारक और उपाश्रय।[8]

वे स्त्रियां भिक्षु से कहती हैं—मुने! अन्दर ठंड है, बाहर बहुत गर्मी है, उपाश्रय में चलें। इस प्रकार वे उसे निमंत्रित करती हैं। वे उपाश्रय से धूल या कचरे को निकाल कर या उसे झाड़-पोंछ कर साफ करती हैं। यह भी लुभाने का एक उपाय है।[9]

१३. कभी (एगया)

चूर्णिकार ने एकदा का अर्थ—जिस समय वह अकेला या सहयोगी के लिए व्याकुल होता है—किया है।[10] वृत्तिकार ने इसके द्वारा एकान्त स्थान और एकान्त समय का ग्रहण किया है।[11]

---

१ (क) चूर्णि, पृ० १०४ : भृशं नाम अत्यर्थे प्रकर्षे, ऊरुणा ऊरुं अक्कमित्ता, दूरगता, हि नातिस्नेहमुत्पादयन्ति विश्रम्भदा तेण अद्धासणे णिसीदंति सन्निकृष्टा वा।

(ख) वृत्ति, पत्र १०६ : भृशम् अत्यर्थमूरूपपीडमतिस्नेहमाविष्कुर्वन्त्यः।

२. ठाणं ९।२४ : णव सोत-परिस्सवा बोंदी पण्णत्ता, तं जहा—दो सोत्ता, दो णेत्ता, दो घाणा, मुहं, पोसए, पाऊ।

३. स्थानांग वृत्ति. पत्र ४२७ पोसेएत्ति—उपस्था।

४. चूर्णि, पृ० १०४ : पोसवत्थं णाम णिवसणं।

५. (क) चूर्णि, पृ० १०४ : तमभीक्ष्णमभीक्ष्णमायरबद्धमपि शिथिलीकृत्वा परिहिंति।

(ख) वृत्ति, पत्र १०६ : तेन शिथिलादिव्यपदेशेन परिदधति, स्वाभिलाषमावेदयन्त्यः साधुप्रतारणार्थं परिधानं शिथिलीकृत्य पुनर्निबध्नन्तीति।

६. चूर्णि, पृ० १०४ योग्यग्रहणाद उच्चार-पासवण-चंकमण-ट्ठाण-ज्झाणऽज्झयणभूमीओ घेप्पंति।

७ वृत्ति, पत्र १०६ : शय्यतेऽस्मिन्निति शयनं—पर्यङ्कादि।

८ चूर्णि, पृ० १०४ : सयणं णाम उवस्सयं ········सयणाणि वा।

९ चूर्णि, पृ० १०४ : सीतं इदाणि साहुं अंतो, अतीव गिम्हे वा पवाएण णिमंतेंति, धूलिं वा कतवरं वा उवस्सगाउ णीणंति, अण्णतरं वा सम्मज्जणा-ऽऽवरिसीयणाति उवस्सगपकम्मं करेंति।

१०. चूर्णि, पृ० १०४ : एकस्मिन् काले एकदा, यदा यदा स एकाकी भवति व्याकुलसखायो वा।

११ वृत्ति, पत्र १०६ : एकदा इति विविक्तदेशकालादौ।

१४. निमन्त्रित करती हैं (णिमंतेंति)

प्रश्न उपस्थित हुआ कि स्त्रियों के लिए कामतंत्र को जानने वाले अथवा काम के प्रयोजन की पूर्ति करने वाले बहुत लोग हैं, फिर वे भिक्षु को क्यों निमंत्रित करेंगी ? इस प्रश्न के उत्तर में सूत्रकार ने एक मनोवैज्ञानिक रहस्य का उद्‌घाटन किया है। उन्होंने कहा—निरुद्ध स्त्रियां चाहे सधवा हो या विधवा आसपास रहने वाले व्यक्ति, फिर चाहे वह कुबड़ा हो या अन्धा, की कामना करने लग जाती हैं।[1] उदाहरण की भाषा में एक गाथा प्रस्तुत है[2]—

अंबं वा निंबं वा अब्भासगुणेण आरुहइ वल्ली।
एवं इत्थीतोवि य जं आसन्नं तमिच्छन्ति ॥

१५. बन्धन है (पासाणि)

स्त्रियां प्रियता के द्वारा मनुष्यों को अपने वश में करती हैं।[3] यहां एक मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रगट हुआ है कि किसी को बांधना हो तो उसे अनुकूलता के पास से बांधो। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने यहां एक गाथा उद्‌धृत की है[4]—

जं इच्छसि घेत्तुं जे पुव्विं तं आमिसेण गिण्हाहि।
आमिसपासनिबद्धो काहिइ कज्जं अकज्जं वा ॥

श्लोक ५ :

१६. उनसे (स्त्रियों से) आंख न मिलाए (णो तासु चक्खु संधेज्जा)

इसका अर्थ है—स्त्रियों के साथ आंख न मिलाए। चक्षु-संधान का अर्थ है—दृष्टि का दृष्टि के साथ समागम।[5] मुनि स्त्री के साथ चक्षु-संधान न करे। स्त्री के साथ बात करने का अवसर आए तो मुनि उसे अस्निग्ध—रूखी और अस्थिर दृष्टि से देखे तथा अवज्ञाभाव से कुछ समय तक (एकवार) देखकर निवृत्त हो जाए।[6] वृत्तिकार ने इसी भाव का एक श्लोक उद्धृत किया है[7]—

कार्येऽपीषन्मतिमान्निरीक्षते, योषिदङ्गमस्थिरया।
अस्निग्धया दृशाऽवज्ञया, ह्यकुपितोऽपि कुपित इव ॥

१७. साहस (मैथुन भावना) का (साहसं)

चूर्णिकार के अनुसार 'साहस' का अर्थ 'परदारगमन' है। असाहसिक व्यक्ति वैसा कर नहीं सकता। यह संग्राम में उतरने जैसा है। वहां मृत्यु भी हो सकती है, हाथ पैर आदि कट सकते हैं, व्यक्ति बांधा जा सकता है, पीटा जा सकता है। प्रव्रजित व्यक्ति के लिए अपनी त्यक्त पत्नी के साथ समागम करना भी साहसिक कार्य है तो भला परस्त्री-गमन साहसिक कैसे नहीं होगा ?

---

१. चूर्णि, पृ० १०४ : स्यात्-किमासां भिक्षुणा प्रयोजनम् ? नन्वासामन्ये कामतन्त्रविदः तत्प्रयोजनिनश्च गृहस्था विद्यन्ते .... ता हि सन्निरुद्धा सधवा विधवा वा, आसन्नगतो हि निरुद्धाःभिः कुब्जोऽन्धयोऽपि च काम्यते, किमु यो सकोविदः ?

२. (क) चूर्णि, पृ० १०४।
(ख) वृत्ति, पत्र १०६।

३. चूर्णि, पृ० १०४ : पासयन्तीति पासा, त एव हि पासा दुश्छेद्याः, न केवलं हाव-भाव-भ्रूविभ्रमेङ्गितादयः न हि शक्यमुल्लङ्घयितुम्, न तु ये दान-मान-सत्कारा: शक्यन्ते छेत्तुम्।

४. (क) चूर्णि, पृ० १०४।
(ख) वृत्ति, पत्र १०६।

५. (क) चूर्णि, पृ० १०५ : चक्खुसंधणं णाम दिट्ठीए दिट्ठिसमागमो।
(ख) वृत्ति पत्र १०६ : चक्षुः नेत्रं सन्दध्यात् सन्धयेद्वा, न तद्‌दृष्टौ स्वदृष्टिं निवेशयेत्।

६. चूर्णि, पृ० १०५ : अकुट्ठओ विकुट्ठओ विय तासु णिच्चं भवेज्जा, कार्येऽपि सति अस्निग्धया दृष्ट्या अस्थिरया अवज्ञया चैनामीषन्निरीक्षेत।

७. वृत्ति, पत्र १०६।

उन्होंने इसका वैकल्पिक अर्थ 'मरण' किया है। इसका तीसरा अर्थ है—स्त्री अपनी चपलता के कारण साहस करे तो भी मुनि उसका अनुमोदन न करे।[1]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ अकार्यकरण किया है।[2] दशवैकालिक में साहसिक का अर्थ 'अविमृश्यकारी' मिलता है।[3]

१८. साथ············भी (सद्धियं पि)

चूर्णिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं[4]—

१. स्त्री के साथ ग्रामानुग्राम विहार न करे।

२. जहां स्त्रियां बैठी हो वहां न बैठे।

३. जहां मुनि बैठा हो वहां अचानक स्त्रियां आ जाएं तो मुनि वहां से निर्गमन कर दे, क्षण भर के लिए भी वहां न बैठे।

वृत्तिकार ने इसके द्वारा स्त्री के साथ ग्राम आदि में विहार करने का निषेध किया है और 'अपि' शब्द से स्त्री के साथ एक आसन पर बैठने का निषेध किया है। उन्होंने एक सुन्दर श्लोक उद्धृत किया है—

'मात्रा स्वस्रा दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति॥'

मुनि मां, बहिन या पुत्री के साथ भी एक आसन पर न बैठे। इन्द्रिय-समूह बहुत बलवान् होता है। पंडित व्यक्ति भी यहां मूढ़ हो जाता है।[5]

१९. इस प्रकार आत्मा सुरक्षित रहता है (एवमप्पा सुरक्खिओ होइ)

वृत्तिकार के अनुसार समस्त अपायों (दोषों) का मूल कारण है—स्त्री के साथ संबंध। जो साधक स्त्री-संग का वर्जन करता है वह समस्त अपाय-स्थानों से बच जाता है, अपनी आत्मा को दोषाविल होने से बचा लेता है। इसलिए मुनि को स्त्री-संग का दूर से ही परिहार कर देना चाहिए।[6]

चूर्णिकार ने आत्मा के दो अर्थ किए हैं—शरीर और आत्मा। जो मैथुन से विरत होते हैं वे अपनी शरीर और आत्मा—दोनों की रक्षा दोनों लोकों में करते हैं।[7]

श्लोक ६ :

२०. आमन्त्रित कर (संकेत देकर) (आमंतिय)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है[8]—पति को पूछकर।

---

१. चूर्णि, पृ० १०५ : साहसमिति परदारगमनम्, न ह्यसाहसिकस्तत् करोति, सङ्ग्रामावतरणवत् तत्र हि सद्यो मरणमपि स्यात्, हस्तादिच्छेद-बन्ध-घातो वा, स्वदारमपि तावद् दीक्षितस्य साहसम्, किमु परदारगमनम्? । अथवा साहसं मरणम्, प्राणान्तिकेऽपि न कुर्यात्। अथवा यदसौ स्त्री चापल्यात् साहसं कुर्यात्।

२. वृत्ति, पत्र १०६ : साहसम्—अकार्यकरणम्।

३. देखें—दसवेआलियं ६।२।२२ में 'साहस' शब्द का टिप्पण।

४. चूर्णि, पृ० १०५ : सद्धियं ति ताहिं सह गामाणुगामं (ण) विहरेज्ज, जत्थ वा ताओ ठाणे अच्छंति तत्थ ण चिट्ठितव्वं, कयाइ पुव्वि ठितस्स रत्ति एज्जं ततो णिग्गतव्वं, क्षणमात्रमपि न संवस्याः।

५. वृत्ति, पत्र १०६ : तथा नैव स्त्रीभिः सार्धं ग्रामादौ 'विहरेत्' गच्छेत्, अपिशब्दात् न ताभिः सार्धं विविक्तासनो भवेत्, ततो महापापस्थानमेतत् यतीनां यत् स्त्रीभिः सह साङ्गत्यमिति।

६. वृत्ति, पत्र १०६ : एवमनेन स्त्रीसङ्गवर्जनेनात्मा समस्तापायस्थानेभ्यो रक्षितो भवति, यतः—सर्वापायानां स्त्रीसम्बंधः कारणम्, अतः स्वहितार्थी तत्सङ्गं दूरतः परिहरेदिति।

७. चूर्णि पृ० १०५ : आत्मेति सरीरमात्मा च, स इह परे च लोके अतिरक्षितो भवति।

८. चूर्णि, पृ० १०५ : भर्तारं आमन्त्र्य नाम पुच्छितुं तत्प्रयोजनावसितं वा स्थापयित्वा।

वृत्तिकार ने दो अर्थ किए हैं[1]—

(१) संकेत देकर

(२) पूछकर।

२१. (आमंतिय ....णिमंतेंति)

चूर्णिकार ने इन दो चरणों का अर्थ-विस्तार इस प्रकार किया है[2]—

कोई निकट के घर की रहने वाली अथवा शय्यातर की पत्नी अथवा पड़ोसिन भिक्षु के पास आकर कहती है—'मुने ! दिन में मुझे अवकाश या एकांत नहीं मिलता। मैं आपके पास रात में आऊंगी।' वह चाहे धर्म सुनने के लिए कहे या कोई दूसरा प्रयोजन बताए तो भी भिक्षु उसको स्वीकार न करे। वह आगे कहती है—'भिक्षो ! यदि आप मेरे पति के विषय में शंका करते हैं तो मैं उन्हें पूछकर अपने प्रयोजन की बात बताकर आऊंगी।'

अथवा वह कहती है—'मेरे पति दिन में कृषि आदि का काम निपटा कर जब घर आते हैं तब अत्यन्त श्रान्त हो जाते हैं, थक कर चूर हो जाते हैं। वे भोजन कर तत्काल सो जाते हैं। सोते ही उन्हें नींद आ जाती है और तब वे मृत की तरह पड़े रहते हैं। वे बहुत भद्र है। मेरे पर कभी कुपित नहीं होते। यदि वे मुझे पर-पुरुष के साथ आती-जाती देख भी लेते हैं तो भी कभी रुष्ट नहीं होते, शंका नहीं करते।'

भिक्षु पूछता है—'क्या तेरा पति तेरा विरोध नहीं करता ?' वह कहती है—'मैं उन्हें पूछकर तथा विश्वास दिलाकर आती हूं। आप विश्वस्त रहें।'

भिक्षु पूछता है—'तुम असमय में क्यों आई हो ?'

वह कहती है—'भिक्षो ! मैं धर्म सुनने के लिए आई हूं। आप आज्ञा दें कि मुझे क्या करना चाहिए ? क्या मैं आपकी सेवा करूं ? क्या मैं आपके चरण पखारूं ? क्या मैं आपका पादमर्दन करूं ? मुने ! मेरे घर में जो कुछ है वह सब और मैं स्वयं आपकी हूं। यह शरीर आपका है। मैं तो आपके चरणों की दासी हूं।'

इस प्रकार मीठी बातें करती हुई वह मुनि के पैर दबाए, आलिंगन—उपगूहन करे, गले पर हाथ रखे तब साधु उसे निवारित करे तो वह दीन होकर कहती है—भिक्षो ! अब आपके अतिरिक्त मेरा कौन सहारा है ?

वृत्तिकार ने इन दो चरणों का अर्थ-विस्तार इस प्रकार किया है[3]—

स्त्रियां स्वभाव से ही अकर्त्तव्य-परायण होती हैं। वे मुनि को अपने आने का स्थान और समय का संकेत देती हुई उसे विश्वास भरी बातों से विश्वस्त कर अकार्य करने के लिए निमंत्रण देती हैं तथा अपना उपभोग करने के लिए साधु से स्वीकृति ले लेती है। वे स्त्रियां मुनि की आशंका को दूर करने के लिए कहती हैं—'मैं पतिदेव को पूछकर यहां आई हूं। मैं उनके भोजन, पद-धावन तथा शयन आदि की पूरी व्यवस्था करने के पश्चात् ही यहां आई हूं, अतः आप मेरे पति से संबंधित आशंकाओं को छोड़कर निर्भय हो जाए'—इस प्रकार वह मुनि में विश्वास पैदाकर कहती है—'भिक्षो ! यह शरीर मेरा नहीं है, आपका ही है। इस शरीर में जिस छोटे-बड़े कार्य की क्षमता हो, उसी में आप इसे योजित करें।'

२२. (निमन्त्रण रूप) शब्द (सद्दाणि)

इन्द्रियों के पांच विषयों में 'शब्द' एक विषय है। मुनि केवल गीत आदि शब्दों का ही वर्जन न करे, किन्तु निमंत्रणरूप शब्दों का भी वर्जन करे। ये शब्द दुस्तर होते हैं। ये निमंत्रणरूप शब्द अनेक प्रकार के होते हैं।[4] चूर्णिकार ने एक श्लोक उद्धृत किया है—

---

१. वृत्ति, पत्र १०६ : आमंतिय..........सङ्केतं ग्राहयित्वा..........भर्तारमामन्त्र्यापृच्छ्य।

२. चूर्णि, पृ० १०५।

३. वृत्ति, पत्र १०६, १०७।

४. चूर्णि पृ० १०५ : शब्दा नाम ये शब्दादिविषयाः कथिताः, न केवलं गीताऽऽतोद्यशब्दा वर्ज्याः, आत्मनिमन्त्रणादयो हि सुदुस्तराः शब्दाः। अथवा यानि सीत्कारादीनि सद्दाणि कज्जंति तान्येवैतानि विद्धि निमन्त्रणादीनि शब्दानि।

णाह ! पिय ! कंत ! सामिय ! दयित ! वसुला ! होलगोल ! गुललेहि !
जेणं जियामि तुब्भं पभवसि तं मे सरीरस्स ॥

—हे नाथ ! प्रिय ! कान्त ! स्वामिन् ! दयित ! वसुल ! होलगोल ! गुलल ! मैं आपके लिए ही जी रही हूं। आप ही मेरे शरीर के स्वामी हैं।[1]

वृत्तिकार ने इस शब्द के द्वारा शब्द आदि पांचों विषयों को स्वीकार किया है।[2]

श्लोक ७ :

२३. मीठी बोलती है (मंजुलाइं)

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं[3]—

१. मन में लीन होने वाली।

२. मनोनुकूल।

३. काम-वासना पैदा करने वाली।

वृत्तिकार ने भी कुछ भिन्नता के साथ इसके तीन अर्थ किए हैं—सुन्दर, विश्वास पैदा करने वाली, काम-वासना पैदा करने वाली।[4]

२४. संयम से विमुख करने वाली कथा के द्वारा (भिण्णकहाहिं)

संयम का भेद करने वाली कथा को 'भिन्नकथा' कहा जाता है। जैसे स्त्री भिक्षु के पास आकर कहती है—'क्या आपने विवाह करने के पश्चात् प्रव्रज्या ली है या अविवाहित हैं? यदि आप विवाहित हैं और पत्नी को छोड़कर प्रव्रजित हुए हैं तो वह आपकी स्त्री आपके बिना कैसे जीवन यापन कर रही है? यदि आप कुमार अवस्था में प्रव्रजित हुए हैं तो आपकी इस कुमारावस्था की प्रव्रज्या से क्या लाभ? क्योंकि जो सन्तान उत्पन्न नहीं करता उसका जन्म निरर्थक है। देखें, आप किसी बाला के साथ विवाह कर लें अथवा मेरे साथ कामभोग भोगें। आपको वैराग्य कैसे हुआ? क्या आप कामभोग की परम्परा के जानकार हैं? क्या आप भुक्तभोगी हैं या कुमारक?[5]

वृत्तिकार ने स्त्री के साथ की जाने वाली एकान्त बातचीत और मैथुन संबंधी बातचीत को भिन्नकथा माना है।[6]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १०५।
(ख) वृत्तिकार ने अगले श्लोक 'मणबंधणेहिं णेगेहिं' की व्याख्या में इसी प्रकार का एक श्लोक उद्धृत किया है। वह श्लोक इस प्रकार है—

णाह पिय कंत सामिय दइय जियाओ तुमं मह पिओत्ति।
जीए जीयामि अहं पहवसि तं मे सरीरस्स ॥

नाथ! प्रिय! कान्त! स्वामिन्! दयित! जीवन से भी आप मुझे प्रिय हैं। आप जी रहे हैं, इसीलिए मैं जीवित हूं। आप ही मेरे शरीर के स्वामी हैं। (वृत्ति पत्र १०७)

२. वृत्ति, पत्र १०७ : शब्दादीन् विषयान्।

३. चूर्णि, पृ० १०६ : मणसि लीयते मनोऽनूकुलं वा मञ्जुलम्, मदनीयं वा मञ्जुलम्।

४. वृत्ति, पत्र १०७ : मञ्जुलानि पेशलानि विश्रम्भजनकानि कामोत्कोचकानि वा।

५. चूर्णि, पृ० १०६ : भेदकरी कधा भिण्णकधा। तं जहा—तुमं सि किं वत्तवीवाहो पव्वइतो ण व? त्ति, वृत्तवीवाह इति चेत् कथं सा जीवति त्वया विनैवंविधरूपेण? इति, कुमार इति चेद् अनपत्यस्य लोका न सन्ति, किं ते तरुणगस्स पव्वज्जाए? दारिका वरिज्जासु, मया वा सह भुञ्ज भोए, स्यात् कथं वैराग्यं वा?

६. वृत्ति, पत्र १०७ : 'भिन्नकथाभी' रहस्याऽऽलापैर्मैथुनसम्बद्धैर्वचोभिः।

२५. वशवर्ती बना आज्ञापित करती हैं (आणवयंति)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—झुकाना किया है।[1] वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अकार्य करने के लिए प्रवर्तित करना तथा अपने वशवर्ती जानकर नौकर की भांति आज्ञा का पालन करवाना।[2]

श्लोक ८ :

२६. (सीहं जहा······पासेणं)

अकेला सिंह हजारों योद्धाओं के शिविर को नष्ट कर देता है। वह सदा अकेला रहता है। उसका कोई सहायक नहीं होता। वह अकेला घूमता है। उसका समूह नहीं होता। कहा भी है—'न सिंहवृन्दं भुवि दृष्टपूर्वम्'—कभी किसी ने सिंह का टोला नहीं देखा।

सिंह को जीवित पकड़ने के अनेक उपाय हैं। प्रस्तुत श्लोक में एक उपाय निर्दिष्ट है। चूर्णिकार ने इसको इस प्रकार स्पष्ट किया है—एक दुर्ग की गुफा में एक सिंह रहता था। उसके आतंक के कारण दुर्ग का मार्ग सूना हो गया था। कोई भी मनुष्य उस मार्ग पर आने से डरता था। एक बार सिंह को पकड़ने के उपाय जानने वाले विज्ञ पुरुषों ने एक बकरे को मारकर एक पिंजड़े में डाल दिया। सिंह आया, मांसपिंड को देखकर पिंजरे में घुसा और उसे खाने लगा। लोगों ने उसे पकड़ लिया।[3]

श्लोक १० :

२७. अनुताप करता है (अणुतप्पई)

वह सोचता है—

"मया परिजनस्यार्थे, कृतं कर्म सुदारुणम्।
एकाकी तेन दह्येऽहं, गतास्ते फलभोगिनः॥"

मैंने अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए कठोर कर्म अर्जित किए हैं। अब मैं अकेला ही उन कर्मों का परिणाम भोग रहा हूं। परिणाम भोगने के समय वे कुटुम्बी कहीं भाग गए, वे मेरा हिस्सा नहीं बंटा रहे हैं।[4]

२८. विपाक (विवाग)

चूर्णिकार ने विपाक का अर्थ—स्त्री, पुत्र आदि के भरण-पोषण से होने वाला परिक्लेश किया है।[5] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—अपने अनुष्ठान से फलित परिणाम किया है।[6]

२९. राग-द्वेष रहित भिक्षु (दविए)

इसका अर्थ है—राग-द्वेष रहित मुनि।[7] वृत्तिकार ने इस अर्थ के साथ-साथ मुक्तिगमन योग्य मुनि को भी 'दविय' माना है।[8]

---

१. चूर्णि, पृ० १०६ :············आनम्यते।

२. वृत्ति, पत्र १०७ : आज्ञापयन्ति प्रवर्तयन्ति स्ववशं वा ज्ञात्वा कर्मकरवदाज्ञां कारयन्तीति।

३. चूर्णि, पृ० १०६ : येन प्रकारेण यथा सहस्तिकोऽपि स्कन्धवारः सिंहेनैकेन भज्यते, क्वचिच्च पन्थाः सिंहेन दुर्गाश्रयेण निःसञ्चरः कृतः, स च तद्ग्रहणोपायविद्भिः पुरुषैश्छगलकं मारयित्वा तद्गोचरे निक्षिप्य पाशं च दद्यात्, तेन कुणिमकेन बध्यते, एकचरो नाम एक एवासौ चरति, न तस्य सहायकृत्यमस्ति। उक्तं च—न सिंहवृन्दं भुवि दृष्टपूर्वम्।

४. वृत्ति, पत्र १०७।

५. चूर्णि, पृ० १०६ : विवागो (वि) पाकः दारभरणादिपरिक्लेशः।

६. वृत्ति, पत्र १०८ : विपाकं स्वानुष्ठानस्य।

७. चूर्णि, पृ० १०६ : दविओ नाम राग-दोसरहितो।

८. वृत्ति, पत्र १०८ : द्रव्यभूते मुक्तिगमनयोग्ये रागद्वेषरहिते वा साधौ।

३०. स्त्री के साथ संवास न करे (संवासो ण कप्पई)

चूर्णिकार का कथन है कि काठ से बनी जड़ स्त्री के साथ भी भिक्षु को रहना उचित नहीं है तो भला सचेतन स्त्री के साथ भिक्षु का संवास कैसे उचित हो सकता है ? संवास से चार दोष उत्पन्न होते हैं—(१) परिचय बढ़ता है। (२) आलाप-संलाप होता है। (३) अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं। (४) संयम से विमुख करने वाली कथाएं होने लगती हैं।[1]

श्लोक ११ :

३१. विष-बुझे कांटे के समान जानकर (विसलित्तं व कंटगं णच्चा)

विष से लिप्त कांटा जब शरीर के किसी अवयव में लग जाता है तब वह अनर्थकारी होता है, किन्तु स्त्रियां तो स्मरण मात्र से अनर्थ उत्पन्न करने वाली होती हैं।[2] कहा भी है—

विषस्य विषयाणां च, दूरमत्यन्तमन्तरम् ।
उपभुक्तं विषं हन्ति, विषयाः स्मरणादपि ।।

विष और विषय में बहुत बड़ा अन्तर है। विष तो खाने पर ही मारता है किन्तु विषय स्मरण मात्र से मार डालते हैं।

वारि (वरं) विस खइयं न विसयसुहु इक्कसि विसिण मरंति ।
विसयामिस पुण घारिया नर णरएहि पडंति ।।

विषय सुख को भोगने के बदले विष खाना अच्छा है। विष केवल एक बार ही मारता है। विषयों से मारे जाने वाले पुरुष नरकों में पड़ते हैं।[3]

३२. राग-द्वेष रहित (भिक्षु) (ओए)

ओज का अर्थ है—अकेला, असहाय।[4] चूर्णिकार ने इसका अर्थ—राग-द्वेष रहित किया है।[5]

३३. जितेन्द्रिय भिक्षु (वसवत्ती)

चूर्णिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—

१. घर जिसके वश में है। पहले गृहवास में रहे हुए होने के कारण वह जो-जो कहता है घर के सदस्य वैसा ही करते हैं। वह जो मांगता है, वे देते हैं।

२. स्त्रियां जिसके वशवर्ती हैं।

३. इन्द्रियां जिसके वश में हैं।

४. जो गुरु के वश में है।[6]

वृत्तिकार ने 'वसवत्ती' का अर्थ—स्त्रियों का वशवर्ती किया है।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० १०६ : स्त्रीभिः सङ्गमो न कार्यः, काष्ठकर्मादिस्त्रीभिरपि तावत् संवासो न कल्पते, किमु सचेतनाभिः ? एगतो वासः संवासः, तदासण्णे वा संवसतो संथव-संलावादिदोसा असुभभावदर्शनं भिन्नकथा वा स्यात् ।

२. वृत्ति, पत्र १०८ : विषदिग्धकण्टकः शरीरावयवे भग्नः सन्ननर्थमापादयेत् स्त्रियस्तु स्मरणादपि, तदुक्तम्—विषस्य विषयाणां च······।

३. वृत्ति, पत्र १०८ ।

४. वृत्ति, पत्र १०८ : ओजः एकः असहायः ।

५. चूर्णि, पृ० १०७ : ओयो णाम रागद्दोसरहितो ।

६. चूर्णि, पृ० १०७ : वसे वर्त्तत इति वशवर्त्तीति, पूर्वाध्युषितत्वाद् यदुच्यते तत् कुर्वन्ति ददति वा, स्त्रियो वा येषां वशे वर्त्तन्ते, किं पुनः स्वैरस्त्रीजनेषु, वश्येन्द्रियो वा यः स वशवर्त्ती, गुरूणां वा वशे वर्त्तते इति वशवर्त्ती ।

७. वृत्ति, पत्र १०८ : स्त्रीणां वशवर्तः ।

३४. श्लोक ११ :

प्रस्तुत श्लोक में केवल स्त्रियों में धर्मकथा करने का वर्जन किया गया है। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इस औत्सर्गिक नियम में अपवाद का कथन भी किया है। यदि कोई उपासिका किसी कारणवश उपाश्रय में आकर धर्म सुनने में असमर्थ हो या वृद्ध हो तो मुनि, अन्य सहायक साधु के अभाव में, अकेला ही उपासिका के घर जाए और दूसरी स्त्रियों के साथ बैठी हुई उस उपासिका को धर्म का उपदेश करे। वे स्त्रियां पुरुषों के साथ हों तो भी धर्म का उपदेश करे। वह वहां स्त्रियों के निन्द्य कर्म, विषय-वासना के प्रति जुगुप्सा पैदा करने वाली तथा वैराग्य उत्पन्न करने वाली कथा करे।[1]

कदाचित् कोई स्त्री आकर कहे—भिक्षो ! यदि आप घर आकर धर्मकथा करने में असमर्थ हैं तो भिक्षाचर्या या पानक लेने या अन्य किसी कारण से मेरे घर आएं। आपको वहां देख कर हम अपनी दृष्टि को तृप्त करेंगी। आपको देखे विना हमारा हृदय सूना-सूना सा लगता है।[2]

श्लोक १२ :

३५. विषयों की खोज करते हैं (उंछं)

चूर्णिकार ने उंछंति पाठ मानकर उसका अर्थ 'गवेषणा करना' किया है।[3] वृत्तिकार ने उंछं का अर्थ 'जुगुप्सनीय', गर्ह्य किया है और प्रस्तुत प्रसंग में स्त्री से संबंध करना अथवा एकाकी स्त्री परिषद् में कथा करना जुगुप्सनीय माना है।[4]

३६. कुशील व्यक्तियों की (कुसीलाणं)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने कुशीलों का दो प्रकार से वर्गीकरण किया है[5]—

पांच प्रकार के कुशील—

१. पार्श्वस्थ २. अवसन्न ३. कुशील ४. संसक्त ५. यथाछंद।

अथवा नौ प्रकार के कुशील—पांच उपरोक्त तथा १. काथिक २. प्राश्निक ३. संप्रसारक ४. मामक।

३७. साथ (सहणं)

चूर्णिकार के अनुसार यह देशी शब्द 'सह' के अर्थ में प्रयुक्त है।[6] वृत्तिकार ने 'सह' और 'णं' को अलग-अलग मानकर 'णं' को वाक्यालंकार के रूप में स्वीकृत किया है।[7]

---

१. वृत्ति, पत्र १०८ : एकः असहायः सन् कुलानि गृहस्थानां गृहाणि गत्वा स्त्रीणां वशवर्ती तन्निर्दिष्टवेलागमनेन तदानुकूल्यं भजमानो धर्ममाख्याति योऽसावपि न निर्ग्रन्थो न सम्यक् प्रव्रजितो निषिद्धाचरणसेवनादवश्यं तत्रापायसम्भवादिति, यदा पुनः काचित् कुतश्चिन्निमित्तादागन्तुमसमर्था वृद्धा वा भवेत्तदाऽपरसहायसाध्वभावे एकाक्यपि गत्वा अपरस्त्रीवृन्दमध्यगतायाः पुरुषसमन्विताया वा स्त्रीनिन्दाविषयजुगुप्साप्रधानं वैराग्यजननं विधिना धर्मं कथयेदपीति।

२. चूर्णि, पृ० १०७ : आख्याति गत्वा गत्वा धर्मं निक्केवलानां स्त्रीणां सहितानां पुंसाम् असावपि तावन्न निर्ग्रन्थो भवति, किमु यस्ताभिर्भिन्नकथां कथयति? यदा पुनर्वृद्धा सहागता पुरुषमिश्रा वा वृन्देन वाऽऽगच्छेयुः तदा स्त्रीनिन्दां विषयजुगुप्सां अन्यतरां वा वैराग्यकथां कथयति। कदाचित् ब्रूयात्—यदि वा गृहमागन्तुं न कथयसि तो भिक्ख-पाणगादिकारणेणं एज्जध, दृष्टिविश्रामतामपि तावत् त्वां दृष्ट्वा करिष्यामः, अपश्यन्त्या हि मे त्वां शून्यमेव हृदयं भवति।

३. चूर्णि, पृ० १०७ : जे वा एवंविधाणि इच्छन्ति (? उञ्छन्ति) गवेसंतेत्यर्थः।

४. वृत्ति, पत्र १०८ : उंछन्ति जुगुप्सनीयं गर्ह्यं तदत्र स्त्रीसम्बन्धादिकं एकाकिस्त्रीधर्मकथनादिकं वा द्रष्टव्यम्।

५. (क) चूर्णि, पृ० १०७ : कुत्सितसीला कुसीला पासत्थादयः पंच णव वा। पंच ति—पासत्थ-ओसण्ण-कुसील-संसत्त-आधाछंदा। णव त्ति—एते य पंच, इमे च चत्तारि—काधिय-पासणिय-संपसारग-मामगा।

(ख) वृत्ति, पत्र १०८।

६. चूर्णि, पृ० १०७ : सहणं ति देसीभासा सहेत्यर्थः।

७. वृत्ति, पत्र १०८ : सह ....णमिति वाक्यालङ्कारे।

श्लोक १३ :

३८. दासियों (के साथ) (दासीहिं)

मुनि दासियों के सम्पर्क से भी बचे। दासियां घर के काम के क्लेश से उत्तप्त रहती हैं। सूत्रकार उनसे भी बचने का निर्देश देते हैं तो फिर स्वतंत्र और अत्यन्त सुखमय जीवन बिताने वाली स्त्रियों के संपर्क का तो कहना ही क्या ?[1] वृत्तिकार ने दासी से घट-स्त्री अर्थात् पानी लाने वाली घटदासी का ग्रहण किया है और उसे अत्यन्त निन्दनीय माना है।[2]

३९. बड़ी हों या कुमारी के साथ (महतीहिं वा कुमारीहिं)

चूर्णिकार ने इन दोनों शब्दों को भिन्न मानकर 'महती' का अर्थ वृद्धा और 'कुमारी' का अर्थ अवयस्क भद्रकन्या किया है।[3]

४०. परिचय (संथवं)

संस्तव का अर्थ है—परिचय, घनिष्टता।[4] प्रस्तुत प्रसंग में चूर्णिकार ने स्त्रियों के साथ किए जाने वाले ध्वनिविकार युक्त आलाप-संलाप, हास्य, कन्दर्पक्रीड़ा आदि को संस्तव माना है।[5]

चूर्णिकार ने इस प्रसंग में एक श्लोक उद्धृत किया है—

मातृभिर्भगिनीभिश्च, नरस्यासंभवो भवेत्।
बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति॥

'यह सच है कि माता, भगिनी आदि के साथ मनुष्य का कुसंबंध नहीं होता, फिर भी इन्द्रियां बलवान् होती हैं। उनके समक्ष पंडित भी मूढ़ हो जाता है।'[6]

वृत्तिकार ने संस्तव का अर्थ परिचय किया है। उनका कथन है—यद्यपि पुत्र, पुत्रवधू आदि के प्रति मुनि का चित्त कलुषित नहीं होता फिर भी एकान्त या एक आसन पर उनके साथ रहने से देखने वाले दूसरे व्यक्तियों के मन में शंका उत्पन्न हो जाती है। अतः उस प्रकार की शंका उत्पन्न न हो, इसलिए मुनि को अपने स्वजनवर्गीय स्त्रियों के साथ घनिष्टता नहीं करनी चाहिए।[7]

४१. श्लोक १३ :

प्रस्तुत श्लोक में स्त्रियों के साथ जाने या बैठने का निषेध किया गया है। प्रश्न होता है कि भिक्षु कौनसी स्त्रियों का वर्जन करे ? चूर्णिकार कहते हैं कि जब अशंकनीय स्त्रियों का भी वर्जन करना विहित है तब भला शंकनीय स्त्रियों का तो कहना ही क्या ? जो भिक्षु की स्वजन स्त्रियां हैं, वे अशंकनीय होती हैं, किन्तु भिक्षु को उनका भी वर्जन करना चाहिए तब फिर दूसरी स्त्रियों का वर्जन तो स्वतः प्राप्त है।[8]

---

१. चूर्णि, पृ० १०७ : दासीग्रहणं व्यापारक्लेशोवतप्ताः दास्योऽपि वर्ज्याः, किमु स्वतंत्राः स्वैरसुखापेताः।

२. वृत्ति, पत्र १०९ : दास्यो घटयोषितः सर्वापसदाः।

३. चूर्णि, पृ० १०७ : महल्ली वयोऽतिक्रान्ताः वृद्धाः, कुमारी अप्राप्तवयसा भद्रकन्यकाः।

४. वृत्ति पत्र १०९ : संस्तवं परिचयं प्रत्यासत्तिरूपम्।

५. चूर्णि, पृ० १०७ : संथवो उल्लाव-समुल्लाव-हास्य-कन्दर्प-क्रीडादि।

६. चूर्णि, पृ० १०७।

७. वृत्ति, पत्र १०९ : यद्यपि तस्यानगारस्य तस्यां दुहितरि स्नुषादौ वा न चित्तान्यथात्वमुत्पद्यते तथापि च तत्र विविक्तासनादावपरस्य शङ्कोत्पद्यते अतस्तच्छङ्कानिरासार्थं स्त्रीसम्पर्कः परिहर्तव्य इति।

८. चूर्णि, पृ० १०७ : एवं ज्ञात्वा स्त्रीसम्बद्धा वसधी वर्ज्या······ 'कतराः स्त्रियो वर्ज्याः ?, उच्यते, असङ्कनीया अपि तावद वर्ज्याः किमु शङ्कनीयाः ?

भेदाद्वाच्यभेद इति; न; प्रकाश्याद्भिन्नानामेव प्रमाण-प्रदीप-सूर्य-मणीन्द्वादीनां प्रकाशकत्वोपलम्भात्, सर्वथैकत्वे तदनुपलम्भात्। ततो भिन्नोऽपि शब्दोऽर्थप्रतिपादक इति प्रतिपत्तव्यम्।

समाधान–नहीं, क्योंकि जिसप्रकार प्रमाण, प्रदीप, सूर्य, मणि और चन्द्रमा आदि पदार्थ घट पट आदि प्रकाश्यभूत पदार्थोंसे भिन्न रहकर ही उनके प्रकाशक देखे जाते हैं, तथा यदि उन्हें सर्वथा अभिन्न माना जाय तो उनमें प्रकाश्यप्रकाशकभाव नहीं बन सकता है उसीप्रकार शब्द अर्थसे भिन्न होकर भी अर्थका वाचक होता है ऐसा समझना चाहिये। इसप्रकार जब शब्द अर्थका वाचक सिद्ध हो जाता है तो वाचक शब्दके भेदसे उसके वाच्यभूत अर्थमें भेद होना ही चाहिये।

विशेषार्थ–समभिरूढनय पर्यायवाची शब्दोंके भेदसे अर्थमें भेद स्वीकार करता है। इस पर शङ्काकारका कहना है कि शब्द अर्थका धर्म नहीं है, क्योंकि शब्द और अर्थमें भेद है। यदि शब्दका और अर्थका एकसाथ एक इन्द्रियसे ग्रहण होता, दोनों ही एक कार्य करते, दोनों ही एक प्रकारके कारणसे उत्पन्न होते, और दोनोंमें उपाय-उपेयभाव न होता तो शब्दको अर्थसे अभिन्न भी माना जा सकता था। पर ऐसा है नहीं, क्योंकि शब्दका ग्रहण श्रोत्र इन्द्रियसे होता है और अर्थका ग्रहण चक्षु इन्द्रियसे। शब्द श्रोत्रप्रदेशमें पहुँचकर भिन्न अर्थक्रियाको करता है और घटादि अर्थ जलधारणादिरूप भिन्न अर्थक्रियाको करते हैं। शब्द तालु आदि कारणोंसे उत्पन्न होता है और घटादि अर्थ मिट्टी कुम्हार और चक्र आदि कारणोंसे उत्पन्न होते हैं। शब्द उपाय है और अर्थ उपेय। तथा शब्द और अर्थमें विशेषण-विशेष्यभाव होनेसे शब्दभेदसे अर्थभेद बन जायगा यह कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि भिन्न दो पदार्थोंमें विशेषण-विशेष्यभाव भी नहीं बन सकता है। इसप्रकार शब्दका अर्थसे भेद सिद्ध हो जाने पर शब्दभेदसे अर्थभेद मानना युक्त नहीं है। इसका यह समाधान है कि यद्यपि शब्द अर्थसे भिन्न है, फिर भी शब्द अर्थका वाचक है ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है। प्रमाण, प्रदीप, सूर्य, मणि और चन्द्रमा आदि पदार्थ यद्यपि अपने प्रकाश्यभूत घटादि पदार्थोंसे भिन्न पाये जाते हैं फिर भी वे घटादि पदार्थोंके प्रकाशक हैं। अतः जब मणि आदि पदार्थ अपनेसे भिन्न घटादि पदार्थोंके प्रकाशक हो सकते हैं तो शब्द अपनेसे भिन्न अर्थके वाचक रहें इसमें क्या आपत्ति है? सर्वथा अभेदमें वाच्यवाचकभाव और प्रकाश्यप्रकाशकभाव बन भी नहीं सकता है, क्योंकि वाच्यवाचक और प्रकाश्यप्रकाशकभाव दोमें होता है। अतः शब्द अर्थसे भिन्न होता हुआ भी

साधनत्वात् भिन्नार्थक्रियाकारित्वात् उपायोपेयरूपत्वात् त्वगिन्द्रियग्राह्याग्राह्यत्वात् क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य घटनपूरणप्रसङ्गात् वैयधिकरण्यात्।"–ध० आ० प० ५४४।

(१)-कत्वं त-अ०। -कत्व त-आ०, स०।

आगमन से आकुल-व्याकुल होकर वह स्त्री श्वसुर आदि को जो भोजन देना है उसके बदले दूसरा ही देने लगती है या अधूरा परोस कर चली जाती है। कभी चावल परोस कर व्यंजन नहीं परोसती या केवल व्यंजन ही परोस कर रह जाती है। अति संभ्रम के कारण एक को देने की वस्तु दूसरे को दे देती है तथा करना कुछ होता है और करती कुछ है।

एक गांव में एक वधू रहती थी। एक दिन नटमंडली वहां आई। नटों ने गांव के मध्य खेल प्रारंभ किया। वधू का मन नटों का खेल देखने के लिए आकुल हो गया। इतने में उसके श्वसुर और पति भोजन के लिए आ गए। उसने दोनों को भोजन के लिए बैठाया और जल्दी-जल्दी में तन्दुल के बदले राई को छौंक कर परोस दिया। श्वसुर ने देख लिया, किन्तु वह चुप बैठा रहा। पति ने उसे पकड़ कर पीटा। इसका चित्त दूसरे पुरुष में रमा रहता है—यह सोचकर उसे घर से निकाल दिया।[1]

श्लोक १६ :

४६. समाधियोग से (समाहिजोगेहिं)

चूर्णिकार ने ज्ञान, दर्शन और चारित्र के योग को समाधियोग माना है।[2] वृत्तिकार ने समाधि का अर्थ धर्मध्यान और धर्मध्यान के लिए या धर्मध्यानमय मन, वचन और काया की प्रवृत्ति को योग माना है।[3] चूर्णि का अर्थ स्वाभाविक है।

४७. परिचय (संथवं)

स्त्री के घर बार-बार जाना, उसके साथ बातचीत करना, उसको कुछ देना-लेना, उसको आसक्तदृष्टि से देखना आदि आदि संस्तव है, परिचय है। चूर्णिकार और वृत्तिकार दोनों ने संस्तव का यही अर्थ किया है।[4]

देखें—श्लोक १३ में प्रयुक्त 'संस्तव' शब्द का टिप्पण।

श्लोक १७ :

४८. गृहस्थ और साधु—दोनों का जीवन जीते हैं (मिस्सीभावं)

इसका अर्थ है—द्रव्यलिंग। ऐसे अनगार जो केवल वेष से मुनि होते हैं और भावना से गृहस्थ के समान, वे न एकान्ततः गृहस्थ होते हैं और न एकान्ततः साधु। वे गृहस्थ और साधु—दोनों का जीवन जीते हैं।[5]

४९. ध्रुवमार्ग (धुवमग्ग)

ध्रुव शब्द के तीन अर्थ हैं—संयम, वैराग्य और मोक्ष।[6]

---

१. (क) वृत्ति, पत्र १०९ : साध्वर्थमुपकल्पितैरैतदर्थमेव संस्कृतैरियमेनमुपचरति तेनायमहर्निशमिहागच्छतीति, यदि वा—भोजनैः श्वसुरादीनां न्यस्तैः अर्धदत्तैः सद्भिः सा वधूः साध्वागमनेन समाकुलीभूता सत्यन्स्मिन् दातव्येऽन्यद्दद्यात्, ततस्ते स्त्रीदोषाशङ्किनो भवेयुर्यथेयं दुःशीलाऽनेनैव सहास्त इति। निदर्शनमत्र यथा—कयाचिद्वध्वा ग्राममध्यप्रारब्धनटप्रेक्षणैकगतचित्तया पतिश्वशुरयोर्भोजनार्थमुपविष्टयोस्तयोस्तण्डुला इतिकृत्वा राइकाः संस्कृत्य दत्ताः, ततोऽसौश्वशुरेणोपलक्षिता, निजपतिना क्रुद्धेव ताडिता, अन्यपुरुषगतचित्तेत्याशंक्य स्वगृहान्निर्धाटितेति।
   (ख) चूर्णि, पृ० १०८।

२. चूर्णि, पृ० १०९ : णाण-दंसण-चरित्तजोगेहिं।

३. वृत्ति, पत्र ११० : समाधियोगेभ्यः समाधिः—धर्मध्यानं तदर्थं तत्प्रधाना वा योगा—मनोवाक्कायव्यापारास्तेभ्यः।

४. (क) चूर्णि, पृ० १०९ : संथवो णाम गमणाऽऽगमण-दास-सम्प्रयोग-प्रेक्षणादिपरिचयः।
   (ख) वृत्ति, पत्र ११० : संस्तवं तद्गृहगमनालापदानसम्प्रेक्षणादिरूपं परिचयम्।

५. (क) चूर्णि, पृ० १०९ : मिश्रीभावो नाम द्रव्यलिङ्गमिति, न तु भावः, अथवा पव्वज्जाः गिहवासो वि।
   (ख) वृत्ति, पत्र ११० : मिश्रीभावं इति द्रव्यलिङ्गमात्रसद्भावाद्भावतस्तु गृहस्थसमकल्पा इत्येवम्भूता मिश्रीभावम्।

६. (क) चूर्णि, पृ० १०९ : धुवमग्गो णाम संजमो विरागमग्गो वा।
   (ख) वृत्ति, पत्र ११० : ध्रुवो—मोक्षः संयमो वा।

५०. वाग्वीर होते है (वायावीरियं)

वृत्तिकार के अनुसार द्रव्यलिंगी वाग्मात्र से यह प्ररूपणा करते हैं कि हम साधु हैं। वे सातागौरव और सुख-सुविधा में प्रतिबद्ध होकर शिथिल आचार वाले होते हैं अतः उनका अनुष्ठानगत कोई वीर्य नही होता। वे कहते हैं—'हम जिस मार्ग पर चल रहे हैं वही मध्यम-मार्ग श्रेयस्कर है। इस मार्ग पर चलने से प्रव्रज्या का निर्वहन होता है।' यह वाग्वीर्य है, अनुष्ठानगत वीर्य नहीं है।[1]

श्लोक १८ :

५१. शुद्ध (सुद्धं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—वैराग्य-पूर्ण अथवा विशुद्ध।[2] वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—दोपरहित आत्मा, आत्मीय अनुष्ठान।[3]

५२. यथार्थ को जाननेवाले (तथावेदा)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—कामतंत्रविद् और प्रत्यक्षज्ञानी।[4] वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ इंगित और आकार को जानने में कुशल व्यक्ति तथा वैकल्पिक अर्थ सर्वज्ञ किया है। पाप करने वाला व्यक्ति अपने पाप को छुपाना चाहता है। दूसरे उसके पाप को न भी जान सकें किन्तु सर्वज्ञ से वह पाप छुपा नहीं रह सकता।[5]

५३. जान लेते हैं (जाणंति)

कामतंत्र को जानने वाले मनुष्य व्यक्ति के आकार-विकारों से तथा नख, दशन आदि के घावों से जान लेते हैं कि यह मनुष्य अकृत्यकारी है, व्यभिचारी है।

जैसे मल-मूत्र विसर्जन करने वाला अन्धा मनुष्य दूसरों के द्वारा देखा जाता हुआ भी सोचता है कि उसे कोई नहीं देखता, वैसे ही राग-द्वेष से अन्धा बना हुआ मनुष्य यही सोचता है कि उसके पाप को कोई नहीं जानता, देखता। किन्तु प्रत्यक्षज्ञानी से कुछ भी छिपा नहीं रहता। वह प्रगट या एकान्त में किए हुए सभी कार्यों को जान लेता है।[6]

५४. यह मायावी है, महाशठ है (माइल्ले महासढेऽयं)

तथाविद्—यथार्थ को जानने वाले जान लेते हैं कि अमुक मायावी है[7] और अमुक महासठ है। व्यक्ति का आचरण स्वयं उसका स्वरूप प्रगट कर देता है। उसके लिए दूसरे की साक्षी आवश्यक नहीं होती। नीतिकार कहते हैं—

---

१. वृत्ति, पत्र ११० : ते द्रव्यलिङ्गधारिणो वाङ्मात्रेणैव वयं प्रव्रजिता इति ब्रुवते न तु तेषां सातगौरवविषयसुखप्रतिबद्धानां शीतलविहारिणां सदनुष्ठानकृतं वीर्यमस्तीति।

ते वक्तारो भवन्ति यथाऽयमेवास्मदारब्धो मध्यमः पन्थाः श्रेयान् तथा हि—अनेन प्रवृत्तानां प्रव्रज्यानिर्वहणं भवतीति, तदेतत्कुशीलानां वाचा कृतम्।

२. चूर्णि, पृ० १०६ : सुद्धमिति वेरग्गं अथवा शुद्धमिति शुद्धमात्मानम्।

३. वृत्ति, पत्र ११० : शुद्धम् अपगतदोषमात्मानमात्मीयानुष्ठानं वा।

४. चूर्णि, पृ० १०६ : तथा वेदयन्तीति तथावेदाः, कामतन्त्रविद् इत्यर्थः। ······तथावेदाः प्रत्यक्षज्ञानिनः।

५. वृत्ति पत्र ११० : तथारूपमनुष्ठानं विदन्तीति तथाविदः—इङ्गिताकारकुशला निपुणास्तद्विद इत्यर्थः यदिवा सर्वज्ञाः। एतदुक्तं भवति—यद्यप्यपरः कश्चिदकर्त्तव्यं तेषां न वेत्ति तथापि सर्वज्ञा विदन्ति।

६. चूर्णि, पृ० १०६ : ते हि कामयमानं आकार-विकारैर्जानन्ति·········नख-दशनच्छेदनैर्वा सूच्यन्ते यथैतेऽकृत्यकारिणः। यथा अंधो उच्चाराद्युत्सृजन् दृश्यमानोऽपि परैर्मन्यते न मां कश्चित् पश्यति एवमसावपि राग-द्वेषान्धो जानीते न मां कश्चित् पश्यति ज्ञायते च परिव्रजन्नूनजलभृतवत्। अथवा यो यथावस्थितो भावतः तं तथावेदाः प्रत्यक्षज्ञानिनं ते हि आवीकम्मं रहोकम्मं सव्वं जाणंति।

७. (क) वृत्ति, पत्र ११० : मायावी महाशठश्चायमित्येवं तथाविदस्तद्विदो जानन्ति, तथाहिप्रच्छन्नाकार्यकारी न मां कश्चिज्जानात्येवं रागान्धो मन्यते, अथ च तं तद्विदो विदन्ति, तथा चोक्तम्—न य लोणं··············।

(ख) चूर्णि, पृ० १०६।

न य लोणं लोणिज्जइ, ण य तुप्पिज्जइ घयं व तेल्लं वा ।
किह सक्को वंचेउं, अत्ता अणुहूय कल्लाणो ॥[1]

नमक को नमकीन नहीं बनाया जा सकता। घी और तेल को स्निग्ध नहीं किया जा सकता। जिस आत्मा ने अपने कल्याण का अनुभव कर लिया है उसे कैसे ठगा जा सकता है?

श्लोक १९ :

५५. (प्रमाद न करने के लिए) प्रेरित करता है (आइट्ठो)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ आदिष्ट—प्रेरित किए जाने पर किया है।[2] चूर्णिकार ने 'आकुट्ठ' शब्द देकर उसके तीन अर्थ किए हैं—प्रेरित, तृप्त और अभिशप्त।[3]

५६. प्रशंसा करने लग जाता है (पकत्थइ)

इसका अर्थ है—अपनी प्रशंसा करना। जब मुनि को प्रमाद न करने के लिए कहा जाता है तब वह कहता है—मैं अमुक कुल में जन्मा हूं। मैं अमुक हूं। क्या मैं ऐसा अकार्य कर सकता हूं? मैंने वायु से प्रेरित होने वाली कनकलता की भांति कामदेव की वश्यता से कंपित होनी वाली भार्या को छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण की है। क्या मैं ऐसा कर सकता हूं?

यदि सम्भाव्यपापोऽहमपापेनापि किं मया।
निर्विषस्यापि सर्पस्य भृशमुद्विजते जनः॥

यदि लोग मुझे पापी के रूप में देखते हैं तो भला मैं अपापी होकर भी क्या करूंगा! सर्प, चाहे निर्विष ही क्यों न हो, लोग तो उससे भय खाते ही हैं।[4]

५७. मैथुन की कामना (वेयाणुवीइ)

वेद का अर्थ है—पुरुष वेद का उदय और अनुवीचि का अर्थ है—अनुलोम गमन। इसका तात्पर्यार्थ है—मैथुन का सेवन।[5]

श्लोक २० :

५८. स्त्रियों के हावभाव (इत्थिवेय)

स्त्रीवेद का अर्थ है—स्त्री की कामवासना।

चूर्णिकार ने स्त्री की कामवासना को करीषाग्नि की भांति अतृप्त बताया है।[6] इसको पुष्ट करने के लिए उन्होंने एक श्लोक उद्धृत किया है—

---

१. यह गाथा निशीथ भाष्य गाथा (१३४२ चूर्णि पृ० १७७) में इस प्रकार प्राप्त है—
ण वि लोणं लोणिज्जति, ण वि तुप्पिज्जति घतं व तेल्लं वा ।
किह णाम लोडंभग ! वट्टम्मि ठविज्जते वट्टो ॥

२. वृत्ति, पत्र १११ : आदिष्टः चोदितः ।

३. चूर्णि प्र० ११० : आक्रुष्टो नाम चोदितः आघ्रातः अभिशप्तो वा ।

४ (क) चूर्णि, पृ० ११० : कत्थ श्लाघायाम् भृशं कत्थयति श्लाघत्यात्मानमित्यर्थः, अहं नाम अमुगकुलप्पसूतो अमुगो वा होंतओ एवं करेस्सामि ? येन मया कनकलता इव वातेरिता मदनवशविकम्पमाना भार्या परित्यक्ता सोऽहं पुनरेवं करिष्यामि ? यदि सम्भाव्यपापो………… ॥

(ख) वृत्ति, पत्र १११ ।

५. (क) चूर्णि, पृ० ११० : वेदः प्रवेदः तस्य अनुवीचिः अनुलोमगमनं मैथुनगमनमित्यर्थः ।

(ख) वृत्ति, पत्र १११ : वेदः पुंवेदोदयस्तस्य अनुवीचि आनुकूल्यं मैथुनाभिलाषम् ।

६. चूर्णि, पृ० ११० : इत्थिवेदो हि फुफुमअग्गिसमाणो अवितृप्तः ।

नाग्निस्तृप्यति काष्ठानां, नापगानां महोदधिः ।
नांतकृत्सर्वभूतानां, न पुंसां वामलोचनाः ॥

अग्नि लकड़ी से कभी तृप्त नहीं होती । समुद्र नदियों से कभी तृप्त नहीं होता । मौत प्राणियों से तृप्त नहीं होती । इसी प्रकार स्त्रियां पुरुषों से तृप्त नहीं होतीं ।

स्त्रीवेद का दूसरा अर्थ है—वैशिकतंत्र । तेवीसवें श्लोक में चूर्णिकार ने इसका यही अर्थ किया है ।[1] यह स्त्रियों के व्यवहार सम्बन्धी जानकारी देने वाला एक प्राचीन ग्रन्थ था । इसका अनुयोगद्वार[2] और नंदी[3] में भी उल्लेख मिलता है । वैशिकतंत्र में कहा है—

'स्त्रियां हंसती हैं, रोती है धन के लिए । वे पुरुष को अपने विश्वास में लेती है किन्तु उन पर विश्वास नहीं करतीं । कुल और शील संपन्न पुरुष उनको वैसे ही छोड़ दे जैसे श्मशान पर ले जाई जाने वाली हंडियां वहीं छोड़ दी जाती है ।'

'स्त्रियां समुद्र की लहरों की भांति चंचल स्वभाववाली और सन्ध्या के मेघ की तरह अल्पकालीन अनुरागवाली होती हैं । अपना काम बन जाने पर स्त्रियां निरर्थक पुरुष को वैसे ही छोड़ देती हैं जैसे बिना पिसा हुआ अलक्तक छोड़ दिया जाता है ।'

'स्त्रियां सामने कुछ और कहती हैं और पीठ पीछे कुछ और ही । उनके हृदय में कुछ और ही होता है । उनको जो करना होता है, वे कर लेती हैं ।'[4]

५६. श्लोक २० :

स्त्री के स्वभाव का परिज्ञान दुर्लभ है—इस विषय में चूर्णिकार और वृत्तिकार ने एक कथा प्रस्तुत की है । वह इस प्रकार है—

एक युवक कामशास्त्र का अध्ययन करने के लिए घर से निकला । उस समय पाटलिपुत्र में वैशिक (कामशास्त्र) का अध्ययन होता था । वह पाटलिपुत्र की ओर प्रस्थित हुआ । मध्यवर्ती एक गांव में वह विश्राम के लिए ठहरा । उस नगर की एक स्त्री उससे मिली । उसने पूछा—'युवक ! तुम आकृति से बहुत ही सुन्दर हो । तुम्हारे शरीर के अवयव बहुत कोमल हैं । कहां जा रहे हो ?' उसने कहा—'तरुणी ! मैं कामशास्त्र का अध्ययन करने के लिए पाटलिपुत्र जा रहा हूं ।' वह बोली—'अध्ययन पूरा कर जब तुम घर लौटो तब मुझे मत भूल जाना । इस गांव में पुनः आना ।' उसने स्त्री की प्रार्थना स्वीकार कर ली । वह पाटलिपुत्र पहुंचा । कामशास्त्र का अध्ययन प्रारंभ हुआ ।

कुछ ही वर्षों में अध्ययन पूरा कर वह पुनः उसी गांव में आया और उसी स्त्री के घर गया । वह स्त्री उसे देखते ही संभ्रम से उठी और उसे ठहरने का स्थान दिया । अब वह विविध प्रकार से उसकी सेवा करने लगी । उसके लिए उचित भोजन, स्नान आदि की व्यवस्था कर उसने युवक का हृदय जीत लिया । वह उसके इंगित और आकार के अनुसार वर्तन करने लगी । युवक ने सोचा—'यह मुझे चाहती है । यह मेरे में अनुरक्त है ।' उसने उस स्त्री का हाथ पकड़ा । स्त्री ने जोर से चिल्लाया । लोगों के एकत्रित होने से पूर्व ही उसने उस युवक के मस्तक पर पानी से भरा एक छोटा घड़ा फेंका । घड़ा फूट गया । घड़े का

१. चूर्णि, पृ० १११ : इत्थिवेदो नाम वैशिकम् ।

२. अनुयोगद्दाराइं, सू० ४९ : लोइयं भावसुयं—जं इमं······भारहं······ वेसियं ।

३. नंदी, सू० ७२ : मिच्छसुत्तं जं इमं······भारहं······वेसितं ।

४. चूर्णि, पृ० ११० : वैशिकतन्त्रेऽप्युक्तम्—

एता हसन्ति च रुदन्ति च अर्थहेतोः, विश्वासयन्ति च नरं न च विश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण कुल-शीलसमन्वितेन, नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः ॥
समुद्रवीचीव चलस्वभावाः, सन्ध्याभ्ररेखेव मुहूर्त्तरागाः ।
स्त्रियः कृतार्थाः पुरुषं निरर्थकं, निष्पीडितालक्तकवत् त्यजन्ति ॥
तथा—

अण्णं भणंति पुरतो अण्णं पासे णिवज्जमाणीओ ।
अण्णं च तासि हियए जं च खमे तं करेंति महिलाओ ॥

कंठ-भाग युवक के गले में लगा रहा। लोग आए। स्त्री ने कहा—मैंने इसकी मूर्च्छा मिटाने के लिए जल सींचा और ऐसा घटित हो गया। सारे लोग चले गए। तब वह युवक से बोली—'युवक! क्या तुमने वैशिक (कामशास्त्र) के अध्ययन से स्त्री-स्वभाव का पूरा ज्ञान कर लिया? स्त्री-स्वभाव को जानने में कौन समर्थ हो सकता है? स्त्री का चरित्र दुर्विज्ञेय होता है। उसमें कभी विश्वास नहीं करना चाहिए। युवक वहां से चला गया।[1]

श्लोक २२ :

६०. पाप—परदारगमन (पाव)

चूर्णिकार ने यहां पाप का अर्थ मैथुन या परदारगमन किया है।[2] वृत्तिकार ने पाप का अर्थ पापकारी कर्म किया है[3] और अठाइसवें श्लोक में पाप का अर्थ मैथुन का आसेवन किया है।[4]

६१. श्लोक २१, २२ :

इन दोनों श्लोकों की व्याख्या में चूर्णिकार ने तीन विकल्प प्रस्तुत किए हैं। प्रथम विकल्प में व्यभिचारी स्त्री और पुरुष—दोनों को अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता है, यह प्रतिपाद्य है।

दूसरी वैकल्पिक व्याख्या इस प्रकार है—

कोई पुरुष व्यभिचारिणी स्त्री से कहता है—'तूने यह काम किया।' वह कहती है—मेरे जीवित अवस्था में ही हाथ-पैर काट लो, किन्तु ऐसा आरोपात्मक वचन मत बोलो। चाहे तुम मेरी चमड़ी उधेड़ दो, मेरा मांस नोंच लो, किन्तु अयथार्थ बात मत कहो। मुझे चाहे तुम उबलते हुए तेल के कडाह में डाल दो, या मेरे शरीर को तप्त संडासी से दाग दो या मुझे कड़ाही में पका दो या मेरे शरीर को काटकर उस पर नमक छिड़क दो या मेरे कान, नाक या कंठ काट दो, किन्तु दूसरी बार ऐसी बात मत कहना। मेरे पर लगाया जाने वाला यह झूठा आरोप सभी वेदनाओं से बढ़कर है।

तीसरा विकल्प इस प्रकार है—

अभिशप्त होने पर वह कहती है—चाहे मेरे हाथ-पैर काट लो, चाहे मेरी चमड़ी उधेड़ दो, मांस काट लो, मुझे कड़ाह में उबाल दो, तृणों में मुझे लपेट कर अग्नि लगा दो, शस्त्र से या अन्य प्रकार से मेरे शरीर को काटकर उसमें नमक भर दो और चाहो मेरे कान, नाक ओठ, काट दो। मैं इस पुरुष को नहीं छोडूंगी। यह मेरे लिए बहुत मनोनुकूल है। मैं भी इसके लिए मनोनुकूल हूं। मैं इसके बिना एक क्षण भी नही जी सकती। वह मेरे वश में है, तुम जो चाहो करो।[5]

श्लोक २३ :

६२. स्त्रीवेद (कामशास्त्र) (इत्थीवेदे)

इसका अर्थ है—वैशिकशास्त्र। वह शास्त्र जिसमें स्त्री के स्वभाव आदि का वर्णन हो।[6]

देखें ४।१६ में 'इत्थीवेय' का टिप्पण।

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ११०, १११।
   (ख) वृत्ति, पत्र १११।

२. चूर्णि, पृ० १११ : पापं तदेव परदारगमनं तत्राऽऽसक्ताः।

३. वृत्ति, पत्र ११२ : पापेन—पापकर्मणा।

४. वृत्ति, पत्र ११३ : मैथुनासेवनादिकम्।

५. चूर्णि, पृ० १११।

६. (क) चूर्णि, पृ० १११ : इत्थिवेदो नाम वैशिकम्।
   (ख) वृत्ति, पत्र ११२ : स्त्रियं यथावस्थितस्वभावतस्तत्सम्बन्धविपाकतश्च वेदयति—ज्ञापयतीति स्त्रीवेदो—वैशिकादिकं स्त्रीस्वभावाविर्भावकं शास्त्रमिति।

६३. कहा गया है (सुयक्खायं)

वैशिकशास्त्र में स्त्री के विषय में कहा गया है[1]—'दर्पण में प्रतिविम्बित बिम्ब जिस प्रकार दुर्गाह्य होता है, उसी प्रकार स्त्री का हृदय भी दुर्गाह्य होता है। पर्वत-मार्ग पर स्थित दुर्ग जिस प्रकार विषम होता है, वैसी ही विषम होती है स्त्री की भावना। उसका चित्त कमल पत्र पर स्थित पानी की बूंद की भांति चंचल होता है। वह कहीं एक स्थान पर स्थिर नहीं होता। जिस प्रकार विष-लताएं विषांकुरों के साथ बढ़ती हैं, वैसे ही स्त्रियां दोषों के साथ बढ़ती हैं।'

'अच्छी तरह से परिचित, अच्छी तरह से प्रिय और अच्छी तरह से विस्तृत होने पर भी अटवी और महिला में कभी विश्वास नहीं करना चाहिए।'

'समूचे संसार में ऐसा कोई भी आदमी हो जो स्त्री की कामना करते हुए दुःखी न हुआ हो, वह अपनी अंगुली ऊंची करे।'

'स्त्रियों की यह प्रकृति है कि वे सभी में वैमनस्य पैदा कर देती हैं। जिससे इनकी कामना पूरी होती है, उसके साथ वैमनस्य नहीं करतीं।'

६४. (एयं पि ता·········अवकरेंति)

स्त्री वाणी से यह स्वीकार करती है कि मैं ऐसा अकार्य आगे नहीं करूंगी, किन्तु आचरण में फिर वैसा ही करती है। अथवा अनुशास्ता के सम्मुख वैसा अकार्य न करने का वादा करती है और फिर उसी अकार्य में रस लेने लगती है। यही स्त्री-स्वभाव है।[2]

श्लोक २४ :

६५. विश्वास न करे (ण सद्दहे)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने यहां एक कथा प्रस्तुत की है[3]—

एक गांव में दत्त नाम का व्यक्ति रहता था। वह कामशास्त्र का ज्ञाता था। एक गणिका ने उसे अपने फंदे में फसाना

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ११२ : दुर्ग्राह्यं हृदयं यथैव वदनं यद् दर्पणान्तर्गतं,
भावः पर्वतमार्गदुर्गविषमः स्त्रीणां न विज्ञायते।
चित्तं पुष्करपत्रतोयचपलं नैकत्र सन्तिष्ठते,
नार्यो नाम विषाङ्कुरैरिव लता दोषैः समं वर्द्धिताः ॥१॥
सुट्ठु वि जितासु सुट्ठु वि पियासु सुट्ठु वि य लद्धपसरासु।
अडईसु य महिलासु य वीसंभो भे ण कायव्वो ॥२॥
हक्खुवउ अंगुलिं ता पुरिसो सव्वम्मि जीवलोअम्मि।
कामेंतएण लोए जेण ण पत्तं तु वेमणसं ॥३॥
अह एताण पगतिया सव्वस्स करेंति वेमणस्साइं।
तस्स ण करेज्ज मंतुअं जस्स अलं चेय कामतंतएण ॥४॥
(ख) वृत्ति, पत्र ११२।

२. (क) चूर्णि, पृ० ११२ : यदा तु प्रस्थिता निवारिया भवति—मैवं कार्षीः तदा न भूयः करिष्यामि इति एवं पि वदित्ताणं अध पुण कम्मुणा अवकरेंति, अपकृतं नाम यद् यथोक्तं यथा प्रतिपन्नं वा न कुर्वन्ति।
(ख) वृत्ति, पत्र ११२ : अकार्यमहं न करिष्यामीत्येवमुक्त्वापि वाचा 'अदुव' त्ति तथापि कर्मणा—क्रियया. 'अपकुर्वन्ति' इति विरूपमाचरन्ति, यदि वा अग्रतः प्रतिपद्यापि शास्तुरेवापकुर्वन्तीति।

३. चूर्णि, पृ० ११२ : दत्तो वैशिकः किल एकया गणिकया तैस्तैः प्रकारैर्निमन्त्रीयमाणोऽपि नेष्टवान् तदाऽसावुक्तवती—त्वत्कृतेऽग्निं प्रविशामीति। तदाऽसौ यद् तद् तयोच्यते तत्र तत्रोत्तरमाह एतदप्यस्ति वैशिके। तदाऽसौ पूर्वसुरङ्गामुखे काष्ठ-समूहं कृत्वा तं प्रज्वाल्य तत्रानुप्रवेश्य सुरङ्गया स्वगृहमागता। दत्तकोऽपि च—एतदप्यस्ति वैशिके। एवं विल-पन्नपि धूर्तैर्वातिकैश्चितकायां प्रक्षिप्तः।
(ख) वृत्ति, पत्र ११२।

चाहा। अनेक प्रकार के प्रलोभन दिए जाने पर भी दत्त उस गणिका में आसक्त नहीं हुआ। उस गणिका ने कहा—'मैं दुर्भागिनी हूं। मेरे जीने का प्रयोजन ही क्या है? तुम मुझे नहीं चाहते अतः मैं अग्नि में प्रविष्ट होकर अपने आपको भस्म कर दूंगी।' दत्त ने कहा—'यह माया है। यह कामतंत्र में उल्लिखित है।' वह जो कहती, दत्त यही कहता कि यह सारा चरित्र कामशास्त्र में उल्लिखित है। गणिका ने कहा- मैं अग्नि में प्रविष्ट होकर जल मरूंगी।' चिता तैयार की गई। गणिका उस चिता के बीच बैठ गई। चिता में आग लगा दी। सबने समझा कि गणिका जल गई। किन्तु जिस स्थान पर चिता रची गई थी, वहां पहले से ही एक सुरंग खुदवा दी थी। गणिका उस सुरंग से अपने घर पहुंच गई। दत्त ने कहा—यह कामशास्त्र में आ चुका है। मैं पहले से ही जानता था। दत्त यह कहता रहा। धूर्तों ने उसे उठाकर चिता में डाल दिया।

श्लोक २६ :

६६. श्राविका होने के बहाने (सावियापवाएणं)

इसका अर्थ है—श्राविका के मिष से। श्राविकाओं का विश्वास होता है। कुछ स्त्रियां नीषिधिका का उच्चारण कर उपाश्रय में प्रवेश करती हैं और साधु को वन्दन कर पास में बैठ जाती हैं। अथवा कोई संन्यासिनी या सिद्धपुत्री वहां मुनि के पास आकर कहती है— आप संन्यासी हैं, मैं संन्यासिनी हूं। इस प्रकार मैं आपकी साधर्मिका हूं। यह कहकर वह मुनि के निकट बैठती है और फिर मुनि का स्पर्श करने लगती है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार—कोई स्त्री श्राविका के मिष से मुनि के निकट आकर कहती है मैं श्राविका हूं इसलिए आप श्रमणों की मैं साधर्मिका हूं। यह कहकर वह मुनि के अति निकट आती है और उसे संयमच्युत कर देती है। यह कहा गया है कि ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-संग महान् अनर्थकारी होता है—

तज्ज्ञानं तच्च विज्ञानं, तत् तपः स च संयमः।
सर्वमेकपदे भ्रष्टं, सर्वथा किमपि स्त्रियः॥

ज्ञान, विज्ञान, तप और संयम—ये सब स्त्री के सहवास से सहसा भ्रष्ट हो जाते हैं।[2]

श्लोक २८ :

६७. (पुट्ठा......... पावं ति)

जब आचार्य शिष्य को पाप-कर्म से उपरत रहने की प्रेरणा देते हैं तब शिष्य कहता है—मैं ऊंचे कुल में उत्पन्न हुआ हूं। मैं ऐसा पापकारी कार्य नहीं कर सकता। यह स्त्री मेरी बेटी के समान है। यह मेरी बहिन या पौत्री है। मेरी प्रव्रज्या से पूर्व तक यह मेरी गोद में ही सोती थी। पूर्व अभ्यास के कारण यह पर्यंक को छोड़कर मेरे पास सो रही है। मैं संसार के स्वरूप को जानता हूं। मैं ऐसा अकार्य कभी नहीं करूंगा, चाहे फिर मेरे प्राण ही क्यों न निकल जाएं।[3]

---

१. चूर्णि, पृ० ११३ : श्राविकासु विश्रम्भ उत्पद्यते, नीषिधिकयाऽनुप्रविश्य वन्दित्वा विश्रामणालक्षेण सम्बाधनादि कूयवारकवत्। काइ तु लिंगत्थिगा सिद्धपुत्ती वा भणति—अहं साधम्मिणी तुब्भं ति, स एवमासन्नवर्तिनीभिः श्लिष्यते।

२. वृत्ति, पत्र ११३ : साविया—अनेन प्रवादेन व्याजेन साध्वन्तिकं योषिदुपसर्पेत् यथाऽहं श्राविकेतिकृत्वा युष्माकं श्रमणानां साधर्मिणीत्येव प्रपञ्चेन नेदीयसी भूत्वा कूलवालुकमिव साधुं धर्माद् भ्रंशयति, एतदुक्तं भवति—योषित्सान्निध्यं ब्रह्मचारिणां महतेऽनर्थाय, तथा चोक्तम्—तज्ज्ञानं तच्च विज्ञानं..... ......।

३. (क) चूर्णि, पृ० ११३ : एषा हि मम दुहिता भगिनी नप्ता वा। अङ्के शेत इति अङ्कशायिनी, पूर्वाभ्यासादेवैषा मम अङ्के शेते निवार्यमाणा पर्यङ्के वा।

(ख) वृत्ति, पत्र ११३ : आचार्यादिना चोद्यमाना एवमाहु वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः तद्यथा—नाहमेवम्भूतकुलप्रसूतः एतदकार्यं पापोपादानभूतं करिष्यामि, ममैषा दुहितृकल्पा पूर्वम् अङ्केशयिनी आसीत् तदेषा पूर्वाभ्यासेनैव मय्येवमाचरति न पुनरहं विदितसंसारस्वभावः प्राणात्ययेऽपि व्रतभङ्गं विधास्य इति।

श्लोक २९ :

६८. मूढ़ की यह दूसरी मंदता है (बालस्स मंदयं बीयं)

मूढ़ व्यक्ति की यह दूसरी मंदता है। मंदता का अर्थ है—अल्पबौद्धिकता। जो व्यक्ति ब्रह्मचर्य व्रत का भंग करता है—यह उसकी पहली मंदता है और वह उस पाप को नकारता है—यह उसकी दूसरी मंदता है।[1]

६९. पूजा का इच्छुक (पूयणकामो)

इसका अर्थ है—सत्कार-पुरस्कार का अभिलाषी। यह अकार्य के अपलाप का एक मुख्य कारण है। वह सोचता है कि मेरा अकार्य प्रगट हो जाने से लोगों में मेरी निन्दा होगी, अतः इसका अपलाप करना ही अच्छा है। वह अपने अकार्य पर पर्दा डाल देता है।[2]

७०. असंयम का आकांक्षी (विसण्णेसी)

विषण्ण का अर्थ है—असंयम। जो असंयम की एषणा करता है, वह 'विसण्णेसी' कहलाता है।।[3]

श्लोक ३१ :

७१. नीवार (णीवार)

चूर्णिकार ने यहां 'निकिर' शब्द को स्वीकार कर उसका अर्थ प्रलोभन में डालने वाली वस्तु किया है। जैसे—गाय के लिए घास, सूअर के लिए कणमिश्रित भूसा और मछली के लिए खाद्य-युक्त कांटा प्रलोभन का हेतु होता है, वैसे ही मनुष्य के लिए वस्त्र आदि पदार्थ प्रलोभनकारी होते हैं।[4]

देखें—३।३६ का टिप्पण।

७२. मोह में (मोहं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—संसार किया है।[5] वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—चित्त की व्याकुलता, किंकर्त्तव्यमूढ़ता।[6]

---

१. (क) वृत्ति, पत्र ११३ : बालस्य—अज्ञस्य रागद्वेषाकुलितस्यापरमार्थदृश एतद्द्वितीयं मान्द्यं अज्ञत्वम् एक तावदकार्यकरणेन चतुर्थव्रतभङ्गो द्वितीयं तदपलपनेन मृषावादः।

(ख) चूर्णि, पृ० ११३ : द्वाभ्यामाकलितो बालो। मंदो दव्वे य भावे य, दव्वे शरीरेण उपचयाऽपचये, भावमन्दो मन्दबुद्धी अल्पबुद्धिरित्यर्थः। मन्दता नाम अबलतैव। कोऽर्थः ? तस्य बालस्य बितिया बालता यदसौ कृत्वाऽवजानाति नाहमेवंकारीति, ण वा एवं जाणामि।

२. वृत्ति, पत्र ११३ : पूजनं—सत्कारपुरस्कारस्तत्कामः—तदभिलाषी मा मे लोके अवर्णवादः स्यादित्यकार्यं प्रच्छादयति।

३. (क) चूर्णि, पृ० ११३ : विसण्णो असंजमो तमसेति विसण्णेसी।

(ख) वृत्ति, पत्र ११४ : विषण्णः— असंयमस्तमेषितुं शीलमस्येति विषण्णैषी।

४. (क) चूर्णि, पृष्ठ ११४ : निकरणं निकीर्यते वा निकिरः, यदुक्तं भवति निकीर्यते गोरिव चारी, जधा वा सूकरस्स धण्णकुंडगं कूडादि णिगिरिज्जति पुट्ठो य वहिज्जति, गलो वा मत्स्यस्य यथा क्रियते, एवमसावपि मनुष्यशूकरकः वस्त्रादिनिकिरणेन णिमंतिज्जति।

(ख) वृत्ति, पत्र ११४ : णीवार इत्यादि, एतद्योषितां वस्त्रादिकमामन्त्रणं नीवारकल्पं बुध्येत जानीयात् यथा हि नीवारेण केनचिद्भक्ष्यविशेषेण सूकरादिर्वशमानीयते एवमसावपि तेनामन्त्रणेन वशमानीयते।

५. चूर्णि, पृष्ठ ११४ : मोहः संसारः।

६. वृत्ति, पत्र ११४ : मोहं चित्तव्याकुलत्वमागच्छति—किंकर्त्तव्यतामूढो भवति।

श्लोक ३२ :

७३. राग-द्वेष से मुक्त (ओए)

ओज दो प्रकार का है—द्रव्य ओज और भाव ओज। परमाणु असहाय या अकेला होने के कारण द्रव्य ओज कहलाता है। भिक्षु राग-द्वेष से रहित और अकेला होने के कारण भाव ओज कहलाता है।[1] 'ओज' पद का शाब्दिक अर्थ 'विषम' है।[2] प्रस्तुत प्रकरण में इसका अर्थ अकेला है।

श्लोक ३३ :

७४. चारित्र से भ्रष्ट (भेयमावण्णं)

भेद चार प्रकार का होता है—१. चारित्र-भेद २. जीवित-भेद ३. शरीर-भेद और ४. लिंग-भेद।

प्रस्तुत प्रकरण में चारित्र-भेद गृहीत है।[3]

७५. कामासक्त (काममइवट्टं)

वृत्तिकार के अनुसार इसमें तीन शब्द हैं—काम, मति और वर्त्त। काम का अर्थ है—इच्छारूप काम या मदनरूप काम। मति का अर्थ है—बुद्धि या मन। वर्त्त का अर्थ है—वर्तन करना, प्रवृत्ति करना। पूरे पद का अर्थ है—कामाभिलापुक।[4] किन्तु हमने 'अइवट्टं' पद की व्याख्या की है। चूर्णिकार ने 'अतिवट्ट' का अर्थ—अविगत अथवा अति वर्तमान किया है।[5]

७६. वश में (पलिभिंदियाण)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—याद दिलाकर।[6] वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ—जानकर और वैकल्पिक अर्थ—याद दिलाकर किया है। वृत्तिकार का कथन है कि वह स्त्री यह जान लेती है कि यह पुरुष मेरा वशवर्ती हो गया है। मैं काला कहूंगी तो यह भी काला कहेगा और मैं श्वेत कहूंगी तो यह भी श्वेत कहेगा।[7]

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने अपने अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया है—वह स्त्री उस पुरुष से कहती है—देखो, मैंने अपना सर्वस्व तुम्हें दे डाला। अपने आपको भी समर्पित कर दिया। मैंने तुम्हारे लिए स्वजन वर्ग की अवहेलना की। अब मैं न इधर की रही और न उधर की। मेरा इहलोक भी बिगड़ा और परलोक भी बिगड़ा। तुम भी कोरे ठूंठ जैसे हो। तुम अपनी मर्यादा और जाति को भी ध्यान में नहीं रखते। अपने आपको स्वयं जानो। मैंने तुम्हें छोड़कर क्या कभी किसी दूसरे का कोई काम किया है?

तुम लुंचित शिर हो। तुम्हारा शरीर पसीने और मैल से भरा हुआ है। वह दुर्गन्धमय है। तुम्हारे कांख, छाती और वस्तिस्थान में जूंओं का निवास है। मैंने कुल, शील, मर्यादा और लज्जा को छोड़कर तुम्हें अपना शरीर अर्पित किया, फिर भी तुम मेरी उपेक्षा करते हो। यह सुनकर उस स्त्री को कुपित जानकर वह विषयासक्त मनुष्य उसको विश्वास दिलाने के लिए उसके पैरों में गिर पड़ता है। तब वह कुछ दूर हटती हुई—दूर हटो, मेरा स्पर्श मत करो—ऐसा कहती हुई अपने बांएं पैर से उसके सिर पर प्रहार करती है।

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ११४ : द्रव्योजो हि असहायत्वात् परमाणुः। भावोजो राग-दोसरहितो।
   (ख) वृत्ति, पत्र ११४ : एको रागद्वेषवियुतः।

२. चूर्णि, पृष्ठ ११४ : ओजो विषमः।

३. चूर्णि, पृष्ठ ११५ : भावभेदं चरित्रभेदमावण्णं, ण तु जीवितभेदं शरीरभेदं लिंगभेदं वा।

४. वृत्ति, पत्र ११५ : कामेषु—इच्छामदनरूपेषु मतेः—बुद्धेर्मनसो वा वर्त्तो—वर्तनं प्रवृत्तिर्यस्यासौ काममतिवर्तः—कामाभिलाषुक इत्यर्थः।

५. चूर्णि, पृष्ठ ११५ : अतिअट्टं…………अतिगतं…………अतिवत्तमाणं।

६. चूर्णि, पृष्ठ ११५ : पलिभिंदियाण पडिसारेऊण।

७. वृत्ति पत्र ११५ : परिभिद्य मदभ्युपगतः…………यदि वा—परिभिद्य परिसार्य।

नीतिकार ने कहा है—

> व्याभिन्नकेसरबृहच्छिरसश्चसिंहाः,
> नागाश्च दानमदराजिकृशैः कपोलैः।
> मेधाविनश्च पुरुषाः समरे च शूराः,
> स्त्रीसन्निधौ क्वचन कापुरुषा भवन्ति ॥[1]

श्लोक ३५ :

७७. पकड़ में आ जाता है (उवलद्धे)

इसका अर्थ है—पकड़ में आ जाना। जब स्त्री यह जान लेती है कि यह पुरुष मेरे में अनुरक्त है और मेरे द्वारा निर्भर्त्स्यित किए जाने पर भी भाग नहीं जाएगा'—तब वह निश्चित हो जाती है।[2] वह पुरुष के आकार, इंगित और चेष्टाओं से उसे वशवर्ती जानकर फिर मनचाहा काम कराने लगती है। यह उपलब्ध का तात्पर्यार्थ है।

७८. नौकर का (तहाभूएहिं)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—१. नौकर और २. लिंगस्थ के अनुरूप कार्य (साधुलिंग के योग्य कार्य)।[3] चूर्णिकार ने 'तच्चा रूवेहिं' पाठ मानकर उसका यही अर्थ किया है। वह स्त्री अपने वशवर्ती मुनि से गृहस्थ योग्य कृषि आदि नहीं करवाती, मुनि वेष में जो कार्य किया जा सकता है, वही करवाती है।[4] सूत्रकार ने उन कार्यों का उल्लेख आगे किया है।

७९. अच्छे फल (वग्गुफलाइं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—धर्मकथा रूप वाणी से प्राप्त फल, वस्त्र आदि किया है।[5]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[6]—

१. अच्छे फल—नारियल, अलाबु आदि।

२. धर्मकथारूप वाणी से प्राप्त फल—वस्त्र आदि।

स्त्री आसक्त भिक्षु से कहती है—तुम दिन भर गला फाड़कर, बोल-बोल कर लोगों को धर्म का उपदेश देते हो, क्या तुम उनसे कुछ मांग नहीं सकते? अथवा तुम ज्योतिष, जादू-टोना आदि करते हो, उसके फलस्वरूप प्राप्त वस्त्र आदि क्यों नहीं लाते?[7]

इस प्रकार चूर्णिकार ने 'वग्गु' का अर्थ वाणी किया है और वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ—अच्छा या सुन्दर तथा गौण अर्थ—वाणी किया है।

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ ११५।
   (ख) वृत्ति, पत्र ११५।

२. (क) चूर्णि, पृष्ठ ११५ : उवलद्धो नाम यथैवो मामनुरक्तो णिच्छुभंतो वि ण णस्सइ त्ति।
   (ख) वृत्ति, पत्र ११५ : उपलब्धो भवति—आकारैरिङ्गितैश्चेष्टया वा मद्वशग इत्येवं परिज्ञातो भवति ताभिः कपटनाटकनायिकाभिः स्त्रीभिः।

३. वृत्ति, पत्र ११५ : तथाभूतैः कर्मकरव्यापारैः............यदि वा—तथाभूतैरिति लिङ्गस्थयोग्यैर्व्यापारैः।

४. चूर्णि, पृष्ठ ११५: तधारूवाइं णाम जाइं लिंगत्थाणुरूवाइं, न तु कृष्यादिकर्माणि गृहस्थानुरूपाणि।

५. चूर्णि, पृ० ११५ : वग्गू णाम वाचा तस्याः फलाणि वग्गुफलाणि, धर्मकथाफलानीत्यर्थः।

६. वृत्ति, पत्र ११५ : वल्गूनि—शोभनानि फलानि नालिकेरादीनि अलाबुकानि वा त्वम् आहर आनयेति, यदि वा—वाक्फलानि च धर्मकथारूपाया व्याकरणादिव्याख्यानरूपाया वा वाचो यानि फलानि वस्त्रादिलाभरूपाणि।

७. चूर्णि, पृ० ११५ : तुमं दिवसं लोगस्स बोल्लेण गलएण धम्मं कहेसि, जेसिं च कहेसि ते ण तरसि मग्गितुणं? अथवा जोइस-कोंटल-वागरणफलाणि वा।

श्लोक ३६ :

८०. (दारूणि ·····भविस्सई राओ)

स्त्री उस कामासक्त भिक्षु से कहती है—तुम जंगल में जाकर लकड़ी ले आओ। बाजार में जाकर उसे बेचो। कुछ लकड़ी बचा लो। उससे भोजन तथा नाश्ता पकालेंगे तथा जो रसोई ठंडी हो गई है, उसे पुनः गरम कर लेंगे। घर में तेल भी नहीं है, अतः दीपक नहीं जलेंगे। लकड़ियों के उस प्रकाश में हम सुख से रहेंगे।[1]

८१. मेरे पैर रचा (पायाणि य मे रयावेहि)

इसके दो अर्थ हैं[2]—

१. पात्रों को रंग दो।

२. पैरों को महावर से रंग दो।

८२. पीठ मल दे (पट्ठि उम्मद्दे)

अधिक बैठे रहने के कारण मेरा शरीर टूट रहा है। बहुत पीड़ित कर रहा है। अतः तुम जोर-जोर से पीठ का मर्दन कर दो।[3] छाती आदि का तो मैं स्वयं मर्दन कर लूंगी। पीठ तक मेरा हाथ नहीं पहुंचता, अतः तुम उसका मर्दन कर दो।[4]

श्लोक ३७ :

८३. (वत्थाणि य मे पडिलेहेहि)

चूर्णिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं[5]—

१. तुम इन वस्त्रों को देखो, ये फट गए हैं, मैं नग्न सी हो गई हूं।

२. क्या तुम नहीं देखते, ये वस्त्र कितने मैले हो गए हैं? मैं इन्हें स्वयं धोऊंगी या तुम इनको धोबी के पास ले जाओ और धुलाकर ले आओ।

३. तुम इन वस्त्रों को ठीक से देख लो, ताकि मुझे दूसरे मिल सकें।

४. गठरी में बंधे हुए इन वस्त्रों का तुम निरीक्षण करो, जिससे कि उन्हें चूहे न काट खाएं। अथवा इन कपड़ों को गठरी में बांध लो, ताकि इन्हें चूहे न काट सके।

वृत्तिकार ने भी इसी प्रकार के विकल्प प्रस्तुत किए हैं।[6]

श्लोक ३८ :

८४. अंजनदानी (अंजणि)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ काजल को रखने की नलिका किया है। संभव है उस जमाने में काजल छोटी-छोटी नलिकाओं में

१. चूर्णि, पृ० ११५ : दारुगाणि आणय, आनीय विक्रीणीहि अण्णपाणाय पढमालिया वा उवक्खडिज्जिहित्ति, दोच्चगं वा परिताविज्जिहिति सीतलीभूतं, तेहिं पज्जोतो वा भविस्सति रातो भृशमुद्योतः, दीवतेल्लं पि णत्थि, तेहिं उज्जोते सुहं हत्थी-(च्छी)हामो वियावेहामो वा।

२. वृत्ति, पत्र ११६ : पात्राणि पतद्ग्रहादीनि 'रञ्जय' लेपय, येन सुखेनैव भिक्षाटनमहं करोमि, यदि वा—पादावलक्तकादिना रञ्जयेति।

३. वृत्ति, पत्र ११६ : मम पृष्ठिम् उत्—प्राबल्येन मर्दय बाधते ममाङ्गमुपविष्टाया अतः संबाधय, पुनरपरं कार्यशेषं करिष्यसीति।

४. चूर्णि, पृ० ११६ : पट्ठि उम्मद्दे, पुरिल्लं कायं अहं सक्केमि उव (म्म) हेतुं पिट्ठं पुण ण तरामि।

५. चूर्णि पृष्ठ ११६ : वत्थाणि पेच्छ सुत्तदरिद्दयं गयाणि, णग्गिया हं जाया। अहवा किण्ण पस्ससि मइलीभूताणि तेण धोवेमि? रयगस्स वा णं णेहि। अहवा वत्थाणि मे पेहाहि त्ति जतो लभेज्ज। अहवा एयाइं वत्थाइं वेंटियाए पडिलेहेहि, मा से पुगारियाइ खज्जेज्ज।

६. वृत्ति, पत्र ११६।

रखा जाता रहा हो।[1]

८५. आभूषण (अलंकारं)

हार तथा केश के कुछ अलंकरण।[2] वृत्तिकार ने अलंकार के अन्तर्गत कंकण, बाजूबंद आदि का ग्रहण किया है।[3]

८६. तुंबवीणा (कुक्कययं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ तुंबवीणा किया है।[4] वृत्तिकार ने इस शब्द के समकक्ष 'खुंखुणक' शब्द का प्रयोग किया है।[5] देशी नाममाला में 'खुंखुणय' का अर्थ 'नाक का अग्रभाग' (नाक का छेद—पाइयसद्दमहण्णव) किया है।[6] इसके अनुसार यह कोई नाक का आभूषण प्रतीत होता है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ-विस्तार इस प्रकार दिया है—[7]

वह स्त्री कहती है—तुम मुझे 'खुंखुणक' दो, जिससे कि मैं सभी प्रकार के अलंकारों से विभूषित होकर वीणा बजाकर तुम्हारा मनोविनोद कर सकूं। संभव है यह एक प्रकार की वीणा भी रही हो। चूर्णिकार ने इसका अर्थ वीणा ही किया है।

८७. बांसुरी (वेणुपलासियं)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसको इस प्रकार समझाया है—बांस की कोमल छाल से बनी हुई बांसुरी जिसे दांतों में बाएं हाथ से पकड़कर दाएं हाथ से वीणा की भांति बजाया जाता है। चूर्णिकार ने इसका दूसरा नाम 'पिच्छोला' बताया है।[8]

८८. गुटिका (गुलियं)

चूर्णिकार ने तीन प्रकार की गुटिकाओं का उल्लेख किया है[9]—

(१) औषधगुटिका—यौवन को स्थिर रखने वाली गुटिका।
(२) अर्थगुटिका—स्वर्ण आदि का निर्माण करने वाली गुटिका।
(३) अगदगुटिका—रोग को मिटाने वाली गुटिका।

प्राचीन-काल में यौवन को यथावत् बनाए रखने के लिए औषधियों से गुटिकाओं का निर्माण किया जाता था। तरुण स्त्री-पुरुष इन गुटिकाओं का सेवन करते थे।

वृत्तिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में केवल औषधगुटिका का ही उल्लेख किया है।[10]

श्लोक ३९ :

८९. कूठ (कोट्ठं)

इसका अर्थ है—कूठ। वृत्तिकार के अनुसार यह गंधद्रव्य उत्पल से बनाया जाता है।[11]

---

१. वृत्ति, पत्र ११६ : अंजणिमि ति अज्जणिकां कज्जलाधारभूतां नलिकाम्।
२. चूर्णि, पृ० ११६ : अलंकारे हार-नृकेशाद्यलङ्कारं वा सकेसियाण।
३. वृत्ति, पत्र ११६ : कटककेयूरादिकमलङ्कारं वा।
४. चूर्णि, पृ० ११६ : कुक्कुहगो णाम तंबवीणा।
५. वृत्ति, पत्र ११६ : कुक्कययं ति खुंखुणकम्।
६. देशी नाममाला, २।७६ : खुंखुणिखुंखुणय············।
खुंखुणओ घ्राणसिरा।
७. वृत्ति, पत्र ११६ : खुंखुणकं मे मम प्रयच्छ येनाहं सर्वालङ्कारविभूषिता वीणाविनोदेन भवन्तं विनोदयामि।
८. (क) चूर्णि, पृ० ११६ : वेलुपलासी णाम वेलुमयी सण्हिका कंबिगा, सा दंतेहि य वामहत्थेण य घेत्तूणं दाहिणहत्थेण य वीणा इव वाइज्जइ, पिच्छोला इत्यर्थः।
(ख) वृत्ति, पत्र ११६ : वेणुपलासियं ति वंशात्मिका श्लक्ष्णत्वक् काष्ठिका, सा दन्तैर्वामहस्तेन प्रगृह्य दक्षिणहस्तेन वीणावद्वाद्यते।
९. चूर्णि, पृ० ११६ : गुलिया णाम एक्का ताव ओसहगुलिया अत्थगुलिया अगतगुलिया वा।
१०. वृत्ति, पत्र ११६ : तथौषधगुटिकां तथाभूतामानय येनाहमविनष्टयौवना भवामीति।
११. वृत्ति, पत्र ११६ : कुष्ठम्—कुट्ठं इत्यादि उत्पलकुष्ठम्।

९०. तगर (तगरं)

यह वृक्ष कोंकण, अफगानिस्तान आदि में होता है। इसकी जड़ गन्ध-द्रव्य के रूप में काम आती है। इसे मदनवृक्ष भी कहते हैं।[1]

९१. अगर (अगरुं)

अगरु नाम का वृक्ष जिसकी लकड़ी सुगंधयुक्त होती है।

९२. खस के (साथ) (उसीरेण)

चूर्णिकार और वृत्तिकार— दोनों ने कुष्ठ, तगर और अगर को खस के साथ पीसने की बात कही है। इनको खस के साथ पीसने से सुगन्ध होती है।[2]

९३. मलने के लिए (भिलिंगाय)

चूर्णिकार ने चुपड़ने के अर्थ में इसे देशी शब्द माना है।[3]

९४. तेल (तेल्लं)

वृत्तिकार ने लोध, कुंकुम आदि से संस्कारित तेल को मुख की कांति बढ़ाने वाला माना है।[4]

९५. बांस की पिटारी (वेणुफलाइं)

चूर्णिकार ने इसके चार अर्थ किए हैं—बांस की बनी हुई संबलिका (छाबड़ी), संकोशक, पेटी, करंडक।[5]

वृत्तिकार ने दो अर्थ दिए हैं—बांस से बनी पेटी, करंडक।[6]

श्लोक ४० :

९६. नंदीचूर्ण (णंदीचुण्ण)

होठों को मुलायम करने के लिए अनेक द्रव्यों के मिश्रण से बनाया गया चूर्ण।[7] तुन के वृक्ष को नंदी वृक्ष कहा जाता है।[8] संभव है इस वृक्ष की छाल से यह चूर्ण निष्पादित होता है।

९७. भाजी (सूव)

पत्रशाक को सूप कहा जाता है।[9]

---

१. बृहद् हिंदी कोष।

२. (क) चूर्णि, पृ० ११६ : एतानि हि प्रत्येकशः गंधंगाणि भवंति।
(ख) वृत्ति, पृ० ११६ : एतत्कुष्ठादिकम् उशीरेण वीरणीमूलेन सम्पिष्टं सुगन्धि भवति।

३. चूर्णि, पृ० ११६ : भिलिंगाय त्ति देसीभासाए मक्खणमेव।

४. वृत्ति, पत्र ११६ : तैलं लोध्रकुङ्कुमादिना संस्कृतं मुखमाश्रित्य।

५. चूर्णि, पृ० ११६ : वेणुफलाइं ति वेलुमयी संबलिका संकोसको पेलिया करण्डको वा।

६. वृत्ति, पत्र ११६ : वेणुफलाइं ति वेणुकार्याणि करण्डकपेटुकादीनि।

७. (क) चूर्णि, पृ० ११६ : णंदीचुण्णगं नाम जं संजोइमं ओट्ठमक्खणगं।
(ख) वृत्ति, पत्र ११६ : नन्दीचुण्णगाइं ति द्रव्यसंयोगनिष्पादितोष्ठम्रक्षणचूर्णोऽभिधीयते।

८. बृहद् हिंदी कोष।

९. (क) चूर्णि, पृ० ११७ : सूवं णाम पत्रशाकम्।
(ख) वृत्ति, पत्र ११७ : सूपच्छेदनाय पत्रशाकच्छेदनार्थम्।

९८. वस्त्र को हल्के नीले रंग से रंगा दे (आणीलं च वत्थं रावेहि)

चूर्णिकार कहते हैं—आनील गुटिका से शाटक, सूत अथवा कैंचुली रंगा दे। नीले रंग से इस वस्त्र को रंग। मैं कुसुंभे से वस्त्रों को रंगना जानती हूं, तुम रंग ला दो। मैं अपने वस्त्र भी रंग लूंगी तथा मूल्य लेकर दूसरों के वस्त्र भी रंग दूंगी।[1]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—पहनने के कपड़े गुटिका आदि से ऐसे रंग दो जिससे वे हल्के नीले या पूरे नीले हो जाएं।[2]

श्लोक ४१ :

९९. तपेली (सुफणिं)

चूर्णिकार के अनुसार 'फणितं' का अर्थ है—पकाना, रांधना। जिस वर्तन में सरलरूप से पकाया या रांधा जा सके, उस वर्तन को 'सुफणि' कहा जाता है। लाट देशवासियों के अनुसार कढ़ाई सुफणि कहलाती है

वराडअ (?), पत्तुल्लअ (?) स्थाली, पिठर आदि को सुफणि माना गया है। इन वर्तनों में थोड़े इन्धन से भी ठंडे को गरम किया जा सकता है।[3]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—तपेली, बटलोई, बहुगुना (भगोना) आदि ऐसे वर्तन जिनमें छाछ आदि पदार्थ सुखपूर्वक पकाए (उबाले) जाते हैं। ये वर्तन ऊंडे होते हैं, अतः तरल पदार्थ के उबलकर बाहर आने का भय नहीं रहता।[4]

१००. आंवले (आमलगाइं)

चूर्णिकार ने आंवले के दो प्रयोजन बतलाएं हैं—शिर के बाल धोने के लिए तथा खाने के लिए।[5]

वृत्तिकार ने आंवले के तीन प्रयोजन दिए हैं—१. स्नान के लिए, २. पित्त को शान्त करने के लिए तथा ३. खाने के लिए।[6]

१०१. तिलककरनी (तिलगकरणी)

चूर्णिकार ने इसके चार अर्थ किए हैं—

१. हाथीदांत या सोने की बनी हुई शलाका जिससे गोरोचन आदि का तिलक किया जाता है।
२. गोरोचन आदि पदार्थ जिनसे तिलक किया जाता है।
३. ऐसा ठप्पा (Block) जिसको गोरोचन आदि में डालकर ललाट पर लगाने से तिलक उठ जाता है।
४. जहां तिल तैयार किए जाते हैं या पीसे जाते हैं।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० ११७ : आनीलो नाम गुलिया सावलिया, एतेण साडिगा सुत्तं कंचुगं वा रावेहि णीलीरागे वा इमं वत्थं छुहाहि। अथवा सा सयमेव कसुंभगादिरागेण जाणति वत्थाणि रावेतुं तेण अप्पणो वा कज्जे वत्थरागं मग्गाति, जेसिं वा रइस्सति मोल्लेण।

२. वृत्ति, पृ० ११७ : वस्त्रम् अम्बरं परिधानार्थं गुलिकादिना रञ्जय यथा आनीलम्—ईषन्नीलं सामस्त्येन वा नीलं भवति, उपलक्षणार्थत्वाद्रक्तं वा यथा भवतीति।

३. चूर्णि, पृ० ११७ : फणितं णाम पक्कं रद्धं वा, सुखं फणिज्जति जत्थ सा भवति सुफणी, लाडाणं जहिं कड्ढत्ति तं सुफणि त्ति वुच्चति, सुफणी वराडओ पत्तुल्लओ थाली पिहुडगो वा। तत्थ अप्पेण वि इंधणेणं सुहं सीतकुसुणं उप्फणेहामो।

४. वृत्ति, पत्र ११७ : सुफणिं च इत्यादि सुष्ठु सुखेन वा फण्यते—क्वाथ्यते तक्रादिकं यत्र तत्सुफणि—स्थालीपिठरादिकं भाजनमभिधीयते।

५. चूर्णि, पृ० ११७ : आमलगा सिरोधोवणादी—भक्खणार्थं वा।

६. वृत्ति, पत्र ११७ : आमलकानि धात्रीफलानि स्नानार्थं पित्तोपशमनायाभ्यवहारार्थं वा।

७. चूर्णि, पृ० ११७ : तिलकरणी णाम दंतमइया सुवण्णगादिमइया वा, सा रोयणाए अण्णतरेण वा जोएणं तिलगो कीरइ, तत्थ छोढुं भमुगासंगतगस्स उवरिं ठविज्जति तत्थ तिलगो उट्ठेति, अथवा रोचनया तिलकः क्रियते, स एव तिलककरणी भवति, तिला वा जत्थ कोरंति पिस्संति वा।

वृत्तिकार ने तीन अर्थ (१, २, ४) किए हैं।[1]

१०२. अंजनशलाका (अंजणसलागं)

इसका अर्थ है—आंख में अंजन आंजने की शलाका। चूर्णिकार ने अंजन के तीन अर्थ किए हैं—श्रोतांजन, जात्यंजन और काजल।[2] वृत्तिकार ने अंजन का अर्थ सौवीरक अंजन किया है।[3]

श्लोक ४२ :

१०३. संदशक (संडासगं)

चूर्णिकार ने इसका मुख्य अर्थ इस प्रकार किया है—जिस व्यक्ति की जितनी संपन्नता होती है, वह उसके अनुसार मान-दंड के रूप में सोने का कल्पवृक्ष बनाता है, उसे संदंशक कहा जाता है। इसका वैकल्पिक अर्थ है—नाक के केश उखाड़ने का उपकरण—संडसी, चिमटी।[4]

वृत्तिकार ने यह वैकल्पिक अर्थ ही स्वीकार किया है।[5]

१०४. कंघी (फणिहं)

चूर्णिकार ने कंघी के तीन प्रयोजन बताए हैं—बालों को जमाना, बालों को सुलझाना और बालों में पड़ी हुई जूओं को निकालना।[6]

१०५. केश-कंकण (सोहलिपासगं)

चूर्णिकार के अनुसार 'सीहली' का अर्थ है—चोटी। यह देशी शब्द है।[7] उसको बांधने के उपकरण को 'सीहलीपासग' कहा जाता है। यह एक प्रकार का केश-कंकण है, जो अपने-अपने वैभव के अनुसार स्वर्ण आदि से बनाया जाता था।[8]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ चोटी को बांधने के लिए काम में आने वाला ऊन का कंकण किया है।[9]

१०६. दतवन (दंतपक्खालणं)

दांतों को साफ करने के लिए दतवन।[10]

---

१. वृत्ति, पत्र ११७।

२. चूर्णि, पृ० ११७ : अञ्जनं अञ्जनमेव श्रोताञ्जनं जात्यञ्जनं कज्जलं वा, अंजनसलागा तु जाए अक्खि अंजिज्जंति।

३. वृत्ति, पत्र ११७ : अञ्जनं—सौवीरकादि शलाका—अक्ष्णोरञ्जननार्थं शलाका अञ्जनशलाका।

४. चूर्णि, पृ० ११७ : संडासओ कप्परुक्खओ कज्जति सोवण्णिओ, जस्स वा जारिसो विभवो। अथवा संडासगो जेण णासारोमाणि उक्खणंति।

५. वृत्ति, पत्र ११७ : संडासकं नासिकाकेशोत्पाटनम्।

६. चूर्णि, पृ० ११७ : फणिगाए वाला जमिज्जंति ओलिहिज्जंति जूगाओ वा उद्धरिज्जंति।

७. देशीनाममाला ८।५५ : ……………सिहणोमालिआसु सीहलिआ॥

सीहलिआ—शिखा नवमालिका चेति द्व्यर्था।

८. चूर्णि, पृ० ११७ : सीहलिपासगो णाम कंकणं, तं पुण जधाविभवेण सोवण्णियं पि कीरति। सिहली णाम सिहंडओ, तस्स पासगो सिहलीपासगो।

९. वृत्ति, पत्र ११७ : सीहलिपासगं ति वेणीसंयमनार्थमूर्णामयं कङ्कणं।

१०. वृत्ति, पत्र ११७ : दन्तप्रक्षालनं—दन्तकाष्ठम्।

श्लोक ४३ :

१०७. सुपारी (पूयफलं)

इसका सामान्य अर्थ है—सुपारी। चूर्णिकार ने इससे पांच सुगंधित द्रव्यों का ग्रहण किया है। वे पांच द्रव्य हैं[1]—

१. पान
२. सुपारी
३. इलायची
४. लौंग
५. कपूर।

१०८. (कोसं च मोयमेहाए)

स्त्री कहती है—रात में मुझे भय लगता है। मैं प्रस्रवण करने के लिए बाहर नहीं जा सकती। इसलिए तुम मुझे प्रस्रवण-पात्र ला दो, जिससे कि मुझे बाहर न जाना पड़े।[2]

श्लोक ४४ :

१०९. पूजा-पात्र (वंदालगं)

देवताओं की पूजा करने के लिए प्रयुक्त होने वाला ताम्रमय पूजा-पात्र। चूर्णिकार और वृत्तिकार के अनुसार मथुरा में इस पूजा-पात्र को 'वंदालक' या 'चंदालक' कहा जाता है।[3]

११०. लघु पात्र (करकं)

चूर्णिकार ने 'करक' के तीन प्रकार बतलाए हैं[4]—

शौचकरक।
मद्यकरक।
चक्करिककरक।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ पानी या मदिरा रखने का लघुपात्र किया है।[5]

१११. संडास के लिए गढा खोद दे (वच्चघरगं च आउसो ! खणाहि)

इस चरण में 'खणाहि' शब्द का प्रयोग हुआ है। यह संडास-गृह की विशेष स्थिति की ओर निर्देश करता है। चूर्णिकार के अनुसार घर के एकान्त में एक कूई या गड़ा खोदा जाता था और घर के सदस्य वहीं शौच-कार्य करते थे।[6] यह आज के 'सर्वोदय' संडासों से तुलनीय है।

वृत्तिकार ने 'खणाहि' का अर्थ 'संस्कारित कर' किया है।[7] किन्तु यह प्रस्तुत अर्थ को स्पष्ट नहीं करता।

---

१. चूर्णि, पृ० ११७ : पूयफलग्रहणात् पञ्चसौगन्धिकं गृह्यते।

२. वृत्ति, पत्र ११७ : तत्र मोचः—प्रस्रवणं कायिकेत्यर्थः तेन मेहः—सेचनं तदर्थं भाजनं ढौकय, एतदुक्तं भवति—बहिर्गमनं कर्तुमहमसमर्था रात्रौ भयाद् अतो मम यथा रात्रौ बहिर्गमनं न भवति तथा कुरु।

३. (क) चूर्णि, पृ० ११८ : वंदालको नाम तंबमओ करोडओ येनाऽर्हदादि देवतानां अच्चणियं करेहामि, सो मधुराए वंदालओ वुच्चति।
(ख) वृत्ति, पत्र ११७ : वन्दालकम् इति देवतार्चनिकाद्यर्थं ताम्रमयं भाजनं, एतच्च मथुरायां चन्दालकत्वेन प्रतीतमिति।

४. चूर्णि, पृ० ११८ : करकः करक एव सोयकरको मद्यकरको वा चक्करिककरको वा।

५. वृत्ति, पत्र ११७ : करको जलाधारो मदिराभाजनं वा।

६. चूर्णि, पृ० ११८ : वच्चघरगं ण्हाणिमा, तं वच्चघरं पच्छन्नं करेहि कूविं चऽस्य खणाहि।

७. वृत्ति, पत्र ११७ : खन संस्कुरु।

११२. धनुष्य (सरपायगं)

इसका अर्थ है—धनुष्य। बच्चे इसका उपयोग खेलने के लिए करते थे। वे इससे एक-दूसरे पर तीर चलाते और प्रसन्न होते थे।[1]

११३. श्रामणेर (श्रमण-पुत्र) (सामणेराए)

यहां श्रामणेर का प्रयोग श्रमणपुत्र के अर्थ में किया गया है।[2]

११४. तीन वर्ष का बैल (गोरहग)

तीन वर्ष का बैल जो रथ में जुतने योग्य हो जाता है उसे 'गोरथक' कहा जाता है।[3]

विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं ७।२४ का टिप्पण।

श्लोक ४५ :

११५. बच्चे के लिए (कुमारभूयाए)

इसके दो अर्थ हैं—छोटे बच्चे के लिए अथवा राजकुमार रूप मेरे बच्चे के लिए।[4]

वह पुरुष स्त्री से पूछता है—तू अपने बेटे के लिए इतनी चीजें मंगा रही है, क्या वह राजपुत्र है? वह कहती है—राजपुत्र की मां तो मर चुकी। यह मेरा लाडला देवकुमार है। देवता की कृपा से मैंने ऐसे देवकुमार सदृश बेटे को जन्म दिया है। मुझे तुम फिर ऐसा कभी मत कहना।[5]

११६. घंटा (घडिगं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ— बच्चे का खिलौना किया है।[6] वृत्तिकार ने इसे मिट्टी की कुल्लडिका माना है।[7] यह एक प्रकार का घंटा होना चाहिए जिससे बच्चे खेलते हैं।

११७. डमरू (डिंडिमएणं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—छोटा पटह और डमरू।[8] वृत्तिकार ने इसे पटह आदि बाजे का वाचक माना है।[9]

११८. कपड़े की गेंद (चेलगोलं)

इसका अर्थ है—वस्त्र या धागे से बना गेंद।[10]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ११८ : सरो अनेन पात्यत इति शरपातकं धणुहुल्लकम्।
(ख) वृत्ति, पत्र ११७ : शरा—इषवः पात्यन्ते—क्षिप्यन्ते येन तच्छरपातं—धनुः।

२. (क) चूर्णि, पृ० ११८ : श्रमणस्यापत्यं श्रामणेरः तस्मै श्रामणेराय।
(ख) वृत्ति, पत्र ११७ : सामणेराए त्ति श्रमणस्यापत्यं श्रामणिस्तस्मै श्रमणपुत्राय।

३. वृत्ति, पत्र ११७ : गोरहगं ति त्रिहायणं बलीवर्दम्।

४. वृत्ति, पत्र ११७, ११८ : कुमारभूताय क्षुल्लकरूपाय राजकुमारभूताय वा मत्पुत्राय।

५. चूर्णि, पृ० ११८ : स तेनापदिश्यते—किमेसो रायपुत्तो ? । सा भणति—माता हता रायपुत्तस्स, एसो मम देवकुमारभूतो, देवता-पसादेण चेवाहं देवकुमारसच्छहं पुत्तं पसूता, मा हु मे एवं भणेज्जासु।

६. चूर्णि, पृ० ११८ : घडिगा णाम कुंडिल्लगा चेडरूवरमणिका।

७. वृत्ति, पत्र ११७ : घटिकां मृन्मयकुल्लडिकाम्।

८. चूर्णि, पृ० ११८ : डिण्डिमगो णाम पडहिका डमरुगो वा।

९. वृत्ति, पत्र ११७ : डिण्डिमेन पटहकादिवादित्रविशेषेण।

१०. (क) चूर्णि, पृ० ११८ : चेलगोलो णाम चेलमओ गोलओ तन्तुमओ।
(ख) वृत्ति, पत्र ११७ : चेलगोलं ति वस्त्रात्मकं कन्दुकम्।

११९. घर की ठीक व्यवस्था कर (आवसहं जाणाहि भत्ता !)

स्त्री कहती है—'भर्त्ता ! वर्षा ऋतु शिर पर मंडरा रही है। यह घर स्थान-स्थान पर टूटा-फूटा हुआ है। अनेक स्थानों पर पानी चू रहा है। तुम इसको ठीक कर दो। इसे निर्वात बना दो। कहीं भी पानी न चूए, ऐसा कर दो, जिससे कि हम वर्षा-काल के चार महीने सुखपूर्वक बिता सकें।'[1]

प्रस्तुत चरण में चूर्णिकार ने 'भत्ता' को संबोधन मानकर अर्थ किया है। वृत्तिकार ने 'भत्तं' शब्द मानकर इसका अर्थ तंदुल आदि किया है।[2] संभव है लिपिकारों ने 'भत्ता' के स्थान पर 'भत्तं च' पाठ लिख दिया हो।

श्लोक ४६ :

१२०. खटिया (आसंदियं)

बैठने के योग्य मंचिका तीन प्रकार की होती थी—

१. सूत के धागों से गूंथी हुई।

२. चमड़े की डोरी से गूंथी हुई।

३. चमड़े से मढ़ी हुई।[3]

१२१. काष्ठपादुका (पाउल्लाइं)

चूर्णिकार के अनुसार स्त्री कहती है—वर्षाकाल में चारों ओर कीचड़ हो जाता है। खड़ाऊ से कीचड़ को सुखपूर्वक पार किया जा सकता है। इसे पहन कर रात या दिन में भी कीचड़ पर चला जा सकता है।[4]

वृत्तिकार ने काठ की या मूंज की बनी पादुकाओं का उल्लेख किया है। स्त्री कहती है—पर्यटन करने के लिए मुझे खड़ाऊ ला दो। मैं बिना पादुकाओं के एक पैर भी नहीं चल सकती।[5]

१२२. (अदु······दासा वा)

उस गर्भवती स्त्री के तीसरे महीने में दोहद उत्पन्न होता है, तब वह उस पुरुष को दास की भांति आज्ञा देती है और विविध प्रकार की वस्तुएं मंगाती है। वह कहती है—मुझे चावल रुचिकर नहीं लगते, कोई और चीज ला दो। यदि अमुक चीज नहीं मिलेगी तो मैं मर जाऊंगी अथवा मेरे गर्भपात हो जाएगा।' वह आसक्त पुरुष उसकी आज्ञा का अक्षरशः पालन करता है।[6]

---

१. चूर्णि, पृ० ११८ : तेण णिवायं णिप्पगलं च आवसधं जाणाहि भत्ता ! जेण चत्तारि मासा चिक्खल्लं अच्छंदमाणा सुहं अच्छामो·········इधइं वा इमो आवसहो सडिल-पडितो एतं संठवेहि त्ति।

२. वृत्ति, पत्र ११८ : आवसथं गृहं प्रावृट्कालनिवासयोग्यं तथा भक्तं च तन्दुलादिकं तत्कालयोग्यं जानीहि निरूपय निष्पादय येन सुखेनैवानागतपरिकल्पितावसथादिना प्रावृट्कालोऽतिवाह्यते इति।

३. (क) चूर्णि, पृ० ११८ : आसंदिगा णाम वेसणगं। णवसुत्तगो णवएण सुत्तेण उणट्ठिया (उण्णुट्टिया)—पट्टेण चम्मेण वा।

(ख) वृत्ति, पत्र ११८ : आसंदियं इत्यादि आसन्दिकामुपवेशनयोग्यां मञ्चिकां···········सा नवसूत्रा ताम् उपलक्षणार्थत्वाद् वध्रचर्मावनद्धाम्।

४. चूर्णि, पृ० ११८ : पाउल्लगाइं ति कट्ठपाउगाओ, ताहि सुहं चिक्खल्ले संकमिज्जत्ति, रत्तिविरत्तेसु संकमं वा करेसि चिक्खल्लस्स उवरिं।

५. वृत्ति, पत्र ११८ : एवं च—मौञ्जे काष्ठपादुके वा संक्रमणार्थं पर्यटनार्थं निरूपय, यतो नाहं निरावरणपादा भूमौ पदमपि दातुं समर्थेति।

६. चूर्णि, पृ० ११८ : जाहे सा गब्भिणी तइयमासे दोहिलणिगा भवति तो णं दासमिव आणवेति, आगलफलाणि वि मग्गइ त्ति, भत्तं मे ण रुच्चइ, अमुगं मे आणेहि, जइ णाऽऽणेहि तो मरामि गब्भो वा पडेति, स चापि दासवत् सर्वं करोति आणत्तियं।

श्लोक ४७ :

१२३. पुत्र रूपी फल के उत्पन्न होने पर (जाए फले समुप्पण्णे)

फल का अर्थ है—प्रधानकार्य। मनुष्यों के कामभोगों की प्रधान निष्पत्ति है—पुत्र का जन्म। नीतिकारों का कथन है—

'पुत्र जन्म स्नेह का सर्वस्व है। यह धनवान् और दरिद्र—दोनों के लिए समान है। यह चन्दन और खस से बना हुआ न होने पर भी हृदय को शीतलता देने वाला अनुपम लेप है।'

तुतली बोली बोलने वाले बालक ने 'शयनिका' के स्थान पर 'शपनिका' कह डाला। सांख्य और योग को छोड़कर वह शब्द मेरे मन में रम रहा है।

संसार में पुत्र का मुख अपना दूसरा मुख है। इस प्रकार पुरुषों के लिए पुत्र परम अभ्युदय का कारण है।[1]

१२४. इसे (पुत्र को) ले अथवा छोड़ दे (गेण्हसु वा णं अहवा जहाहि)

पुत्र के उत्पन्न हो जाने पर स्त्रियां पुरुषों की किस प्रकार से विडंबना करती हैं, उसका दिग्दर्शन इस चरण में हुआ है। वे कहती हैं—'तुम इस बालक को संभालो। मैं कार्य में व्यस्त हूं। मुझे क्षण मात्र का भी अवकाश नहीं है। चाहे तुम इस बच्चे को छोड़ दो। मैं इसकी बात भी नहीं पूछूंगी।' कभी कुपित होने पर कहती है—'मैंने इस बालक को नौ महीने तक गर्भ में रखा। तुम इसे कुछ समय तक गोद में उठाने के लिए भी उद्विग्न हो रहे हो!'

दास अपने स्वामी के आदेश का पालन उद्विग्नता से भय के कारण करता है, किन्तु स्त्री का वशवर्ती मनुष्य स्त्री के आदेश को अनुग्रह मानता है और उसके निष्पादन में प्रसन्नता का अनुभव करता है। कहा है[2]—

मेरी स्त्री मुझे जो रुचिकर है, वही करती है। ऐसा वह मानता है। किन्तु वह यह नहीं जानता कि वह स्वयं वही कार्य करता है जो अपनी प्रिया को रुचिकर हो।

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ११६ : फलं किल मनुष्यस्य कामभोगाः तेषामपि पुत्रजन्म। उक्तं च—

इदं तु स्नेहसर्वस्वं सममाढ्य-दरिद्रिणाम्।
अचन्दनमनौशीरं हृदयस्यानुलेपनम् ॥१॥
यत् तत् थ-प-न केत्युक्तं बालेनाव्यक्तभाषिणा।
हित्वा साङ्ख्यं च योगं च तन्मे मनसि वर्त्तते ॥२॥

लोके पुत्रमुखं नाम द्वितीयं मुखमात्मनः।......

साऽथ जाधे किंचि आणत्ता भवति ताधे भणति—दारके वामहत्थे तुमं चेव करेहि। अतिणिब्बंधे वा तस्स अप्पेतुं भणति—एस ते।

(ख) वृत्ति, पत्र ११८ :

२. वृत्ति, पत्र ११८ : जाते तदुद्देशेन या विडम्बनाः पुरुषाणां भवन्ति ता दर्शयति—अमुं दारकं गृहाण त्वम्, अहं तु कर्माक्षणिका न मे ग्रहणावसरोऽस्ति, अथ चैनं जहाहि परित्यज नाहमस्य वार्तामपि पृच्छामि, एवं कुपिता सती ब्रूते, मयाऽयं नव मासानुदरेणोढः त्वं पुनरुत्सङ्गेनाप्युद्वहन स्तोकमपि कालमुद्विजस इति, दासदृष्टांतस्त्वादेशदानेनैव साम्यं भजते, नादेशनिष्पादनेन, तथाहि—दासो भयादुद्विजन्नादेशं विधत्ते, स तु स्त्रीवशगोऽनुग्रहं मन्यमानो मुदितश्च तदादेशं विधत्ते, तथा चोक्तम्—

यदेव रोचते मह्यं, तदेव कुरुते प्रिया।
इति वेत्ति न जानाति, तत्प्रियं यत्करोत्यसौ ॥१॥

ददाति प्रार्थितः प्राणान्, मातरं हंति तत्कृते।
किं न दद्यात् न किं कुर्यात्स्त्रीभिरभ्यर्थितो नरः ॥२॥

ददाति शौचपानीयं, पादौ प्रक्षालयत्यपि।
श्लेष्माणमपि गृह्णाति, स्त्रीणां वशगतो नरः ॥३॥

याचना करने पर वह अपने प्राणों को भी दे देता है। प्रिया के लिए मां की हत्या भी कर डालता हैं। स्त्रियों के द्वारा मांगने पर वह क्या नहीं देता या क्या नहीं करता ? (सब कुछ कर डालता है।)

वह प्रिया को शौच का पानी ला देता है। उसके पैर पखारता है। उसके श्लेष्म को भी हाथ में ले लेता है। (उसे हाथों में थुकाता है।)

श्लोक ४८ :

१२५. (राओ वि.........धाई वा)

जब वह स्त्री विश्रान्त होकर सो जाती है, या सोने का बहाना कर आंखें मूंद लेती है या अहं या मजाक में रोते हुए बच्चे को नहीं उठाती, तब वह पुरुष उठता है और अंकधात्री की भांति बच्चे को गोद में उठाकर, अनेक प्रकार के उल्लापकों के द्वारा उसे सुलाने का प्रयत्न करता है। वह लोरी गाते हुए कहता है—तुम इस नगर के, हस्तिकल्प, गिरिपत्तन, सिंहपुर, ऊंचे-नीचे भू भाग वाले कुक्षिपुर, कान्यकुब्ज और आत्ममुख सौर्यपुर के स्वामी हो।

इस प्रकार असंबद्ध आलापकों से वह बच्चे को सुलाता है।[1]

१२६. धोबी (हंसा)

इसका अर्थ है—धोबी।[2] गृहस्थाश्रम में वह पुरुष शौचवादी था। प्रव्रज्या लेने के बाद वह आत्मस्थित हुआ। किन्तु प्रव्रज्या से च्युत होकर वह स्वयं अपनी प्रेयसी और बच्चे के सूतकवस्त्र धोने में लज्जा का अनुभव नहीं करता। वह धोबी की तरह उसके कपड़े धोता है।[3]

श्लोक ४९ :

१२७. (दासे मिए व पेस्से वा)

चूर्णिकार की व्याख्या इस प्रकार है[4]—

कामभोग के लिए प्रव्रज्या को छोड़कर जो भ्रष्ट हो गए हैं, उन पुरुषों के साथ स्त्रियां दास की भांति व्यवहार करती हैं, पालतू पशु की भांति मारती-पीटती है तथा प्रेष्य की भांति उसे अनेक प्रकार के कार्यों में नियोजित करती हैं।

वृत्तिकार की व्याख्या इस प्रकार है[5]—

---

१. (क) चूर्णि, पृ० ११९ : यदा सा रतिभरश्रान्ता वा प्रसुप्ता भवति, इतरधा वा पसुत्तलक्खेण वा अच्छति, चेएन्तिया वा गव्वेण लीलाए वा दारगं रुअंतं पि णण्णति (ण गेण्हति) ताधे सो तं दारगं अंकधावी विव णाणाविधेहिं उल्लापएहिं परियंदन्तो ओसोवेति—
सामिओ मे णगरस्स य, हत्थकप्प-गिरिपट्टण-सीहपुरस्स य।
अण्णतस्स भिण्णस्स य कंचिपुरस्स य, कण्णउज्ज-आयामुह-सोरिपुरस्स य॥
(ख) वृत्ति, पत्र ११९।

२. (क) चूर्णि, पृ० ११९ : हंसो नामा रजकः।
(ख) वृत्ति, पत्र ११९ : हंसा इव रजका इव।

३. चूर्णि, पृ० ११९ : शौचवादिका गृहवासे प्रव्रज्यायां वा सुट्ठु वि आतट्ठिया होऊण एगंतसीला वा सूयगवत्थाणि धोयमाणा वत्थाधुवा भवंति।

४. चूर्णि, पृ० ११९ : दासवद् भुज्यते, मृगवच्च भवति, यथा मृगो वशमानीतः पच्यते मार्यते वा मुच्यते वा, प्रेष्यवच्च प्रेष्यते णाणाविधेसु कम्मेसु।

५. वृत्ति, पत्र ११९ : तथा यो रागान्धः स्त्रीभिर्वशीकृतः स दासवदशङ्किताभिस्ताभिः प्रत्यपरेऽपि कर्मणि नियोज्यते, तथा वागुरापतितः परवशो मृग इव धार्यते, नात्मवशो भोजनादिक्रिया अपि कर्तुं लभते, तथा प्रेष्य इव कर्मकर इव क्रयक्रीत इव वर्चःशोधनादावपि नियोज्यते।

जो पुरुष स्त्रीवशवर्ती है उसे स्त्रियां निःशंक होकर दास की भांति अनेक कार्यों में नियोजित करती हैं। जैसे जाल में फंसा हुआ मृग परवश होता है, वैसे ही वह पुरुष स्त्री के जाल में फंसकर परवश हो जाता है। वह भोजन आदि करने में भी स्वतंत्र नहीं होता। स्त्रियां उससे क्रीतदास की भांति शौचालय साफ करना आदि अनेक काम करवाती हैं।

१२८. पशु की भांति भारवाही (पसुभूए)

वह पशु की भांति हो जाता है। पशु कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से शून्य होता है। उसमें हित की प्राप्ति और अहित का परिहार करने का विवेक नहीं होता। वैसे ही स्त्रीवशवर्ती मनुष्य भी विवेकशून्य होता है। जैसे पशु आहार, भय, मैथुन और परिग्रह की संज्ञा में ही रत रहता है, वैसे ही वह पुरुष भी कामभोग में ही रत रहता है, इसलिए वह पशुतुल्य होता है।[1]

१२९. अपने आपमें कुछ भी नहीं रहते (ण वा केई)

वह पुरुष अपने आप में कुछ भी नहीं रहता। वृत्तिकार ने इसके अनेक विकल्प प्रस्तुत किए हैं—

१. वह स्त्रीवशवर्ती मनुष्य दास, मृग, प्रेष्य और पशुओं से भी अधम होता है, इसलिए वह कुछ भी नहीं होता। वह सब में अधम होता है, कोई उसकी तुलना नहीं कर सकता, अतः वह अनुपमेय होता है।

२. दोनों ओर से भ्रष्ट होने के कारण वह कुछ भी नहीं होता। वह सद् आचरण से शून्य होने के कारण न साधु रहता है और तांबूल आदि का परिभोग न करने तथा लोच आदि करने के कारण न गृहस्थ ही रहता है।

३. इहलोक या परलोक के लिए अनुष्ठान करने वालों में से वह कोई भी नहीं है।[2]

श्लोक ५० :

१३०. परिचय का (संथवं)

इसका अर्थ है—परिचय। स्त्रियों के साथ उल्लाप, समुल्लाप करना, उन्हें कुछ देना, उनसे कुछ लेना आदि संस्तव के ही प्रकार हैं।[3]

१३१. संवास का (संवासं)

स्त्रियों के साथ एक घर में या स्त्रियों के निकट रहना 'संवास' है।[4]

१३२. ये कामभोग सेवन करने से बढ़ते हैं (तज्जातिया इमे कामा)

चूर्णिकार ने इसका एक अर्थ यह किया है—उस जाति के। उनके अनुसार काम चार प्रकार के हैं—शृंगार, करुण, रौद्र और बीभत्स।

इसका दूसरा अर्थ है— वे काम जिनका सेवन उसी प्रकार के कामों को पैदा करता है, जैसे—मैथुन का सेवन करने से पुनः पुनः मैथुन-सेवन की कामना उत्पन्न होती है। कहा भी है—

---

१. वृत्ति, पत्र ११६ : कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकरहिततया हिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यत्वात् पशुभूत इव, यथा हि पशुराहारभयमैथुनपरिग्रहाभिज्ञ एवं केवलम्, एवमसावपि सदनुष्ठानरहितत्वात् पशुकल्पः।

२ (क) वृत्ति, पत्र ११६ : स स्त्रीवशगो दासमृगप्रेष्यपशुभ्योऽप्यधमत्वात् न कश्चित्, एतदुक्तं भवति—सर्वाधमत्वात्तस्य तत्तुल्यं नास्त्येव येनासावुपमीयते, अथवा—न स कश्चिदिति, उभयभ्रष्टत्वात्, तथाहि—न तावत्प्रव्रजितोऽसौ सदनुष्ठानरहितत्वात्, नापि गृहस्थः ताम्बूलादिपरिभोगरहितत्वाल्लोचिकामात्रधारित्वाच्च, यदि वा ऐहिकामुष्मिकानुष्ठायिनां मध्ये न कश्चिदिति।

(ख) चूर्णि, पृ० १२०।

३. चूर्णि, पृ० १२० : संथवो णाम उल्लाव-समुल्लावा-ऽऽदाण-ग्गहण-संपयोगादि।

४. चूर्णि, पृ० १२० : संवासो एगगिहे तदासन्ने वा।

'आलस्यं मैथुनं निद्रा, सेवमानस्य वर्द्धते ।'

—आलस्य, मैथुन और निद्रा—ये सेवन करने से बढ़ते रहते हैं ।[1]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ रमणियों के संपर्क से उत्पन्न कामभोग किया है ।[2]

१३३. कर्मबन्ध कारक (वज्जकरा)

चूर्णिकार ने 'वज्ज' के चार अर्थ किए हैं—कर्म, वज्र, पाप और चौर्य ।[3] वृत्तिकार ने इस शब्द के संस्कृतरूप दो दिए हैं—'अवद्यकरा:' और 'वज्रकारा:' । अवद्य का अर्थ पाप है और वज्र का अर्थ है—भारी भरकम वज्र ।[4]

श्लोक ५१ :

१३४. यह जानकर भिक्षु मन का निरोध करे—कामभोग से अपने को बचाए (इइ से अप्पगं निरुंभित्ता)

कामभोगों से अपने आपको बचाना ही श्रेयस्कर है । इहलोक में भी वही व्यक्ति सुखी होता है जो अपनी कामेच्छा का निरोध करता है, फिर परलोक की तो बात ही क्या ? कहा भी है—

'जो मुनि लौकिक व्यापार से मुक्त है, उसके जो सुख होता है वह सुख चक्रवर्ती या इन्द्र के भी नहीं होता ।'

'तृण-संस्तारक पर निविष्ट मुनि राग-द्वेष रहित क्षण में जिस मुक्ति-सुख का अनुभव करता है वह चक्रवर्ती को भी उपलब्ध नहीं होता ।'[5]

१३५. (णो इत्थिं··· ··णिलिज्जेज्जा)

वृत्तिकार ने 'णिलिज्जेज्जा' क्रिया को दोनों चरणों में प्रयुक्त कर अर्थ किया है । उनके अनुसार तीसरे चरण का अर्थ होगा—मुनि स्त्री और पशु का आश्रय न ले अर्थात् स्त्री और पशु के संवास का परित्याग करे । चौथे चरण का अर्थ होगा—मुनि अपने हाथ से गुप्तांगों का संबाधन न करे । उन्होंने दोनों चरणों का संयुक्त अर्थ इस प्रकार किया है[6]—मुनि स्त्री या पशु आदि को अपने हाथ से न छूए ।

चूर्णिकार ने चौथे चरण का अर्थ—हस्तकर्म न करना किया है । उन्होंने 'णिलिज्जेज्जा' का अर्थ 'करना' किया है । उनके अनुसार—मुनि अपने हाथ से उस प्रदेश का स्पर्श भी न करे । हस्त-स्पर्श से होने वाली सुखानुभूति के निषेध कर देने से उस

---

१. चूर्णि, पृ० १२० : तज्जातिया णामा तव्विधजातिगा । चतुर्विधा कामा , तं जधा सिंगारा १ कलुणा २ रोद्दा ३ बीभच्छा तिरिक्ख जोणियाणं पासंडीणं च ४ । एतदुक्तं भवति—बीभच्छवेसानां तेषां बीभच्छा एव कामा, आकारीहि वि समं तं चेव, अथवा तदेव जनयन्तीति तज्जातिया मैथुनं ह्यासेवते तदिच्छा एव पुनर्जायते । उक्तं हि—आलस्यं मैथुनं निद्रा सेवमानस्य वर्द्धते ।

२. वृत्ति, पत्र ११६ : यतस्ताभ्यो रमणीभ्यो जातिः—उत्पत्तिर्येषां तेऽमी कामास्तज्जातिका—रमणीसम्पर्कोत्थाः ।

३. चूर्णि पृ० १२० : वज्जमिति कम्मं, वज्जं ति वा पावं ति वा चोण्णं ति वा ।

४. वृत्ति, पत्र ११६ : अवद्यं पापं वज्रं वा गुरुत्वादधः पातकत्वेन पापमेव तत्करणशीला अवद्यकरा वज्रकरा वेत्येवम् ।

५. चूर्णि, पृ० १२० : इहलोकेऽपि तावद् निरुद्धकामेच्छस्स श्रेयो भवति, कुतस्तर्हि परलोकः? । उक्तं हि—

नैवास्ति राजराजस्य तत् सुखं नैव देवराजस्य ।
यत् सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ।।
[प्रशमरति आह्निक १२८]

तणसंथारणिवण्णो वि मुणिवरो भग्गराग-मय-दोसो ।
जं पावति मुत्तिसुहं ण चक्कवट्टी वि तं लभति ।।
[संस्तारक प्रकीर्णक गा० ४८]

६. वृत्ति, पत्र १२० : न स्त्रियं नरकवीथीप्रायां नापि पशु लीयेत आश्रयेत स्त्रीपशुभ्यां सह संवासं परित्यजेत्, 'स्त्रीपशुपण्डकविर्जिता शय्येतिवचनात्, तथा स्वकीयेन 'पाणिना' हस्तेनावाच्यस्य 'न णिलिज्जेज्ज' त्ति न सम्बाधनं कुर्यात्, यतस्तदपि हस्तसम्बाधनं चारित्रं शबलीकरोति, यदि वा—स्त्रीपश्वादिकं स्वेन पाणिना न स्पृशेदिति ।

क्रिया को कायिकरूप से करने की बात ही प्राप्त नहीं होती ।[1]

श्लोक ५२ :

१३६. शुद्ध अन्तःकरण वाला (सुविसुद्धलेसे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—शुक्ललेश्या वाला मुनि किया है ।[2] वृत्तिकार ने लेश्या का अर्थ—अन्तःकरण की वृत्ति किया है। इसका अर्थ होगा—शुद्ध अन्तःकरण वाला भिक्षु ।[3]

१३७. परक्रिया न करे—स्त्री के पैर आदि न दबाए (परकिरियं)

चूर्णिकार ने 'परक्रिया' शब्द के द्वारा स्त्री के पैरों का आमार्जन-प्रमार्जन— इस आलापक का निर्देश किया है ।[4] परक्रिया का पूरा प्रकरण आयारचूला के तेरहवें अध्ययन में उपलब्ध है ।

श्लोक ५३ :

१३८. शुद्ध अन्तःकरण वाला (अज्झत्थविसुद्धं)

अज्झत्थ का अर्थ है—संकल्प । जो मुनि राग-द्वेष से विमुक्त होता है, मान और अपमान तथा सुख और दुःख में सम होता है, जो स्व और पर को तुल्य मानता है, वह अध्यात्म-विशुद्ध होता है ।[5]

वृत्तिकार ने विशुद्ध अन्तःकरण वाले को अध्यात्म-विशुद्ध माना है ।[6]

---

१. चूर्णि, पृ० १२० : णो सयपाणिणा णिलेज्जं ति हत्थकम्मं न कुर्यात्, निलंजनं नाम करणं, अथवा स्वेन पाणिना तं प्रदेशमपि न लीयते जहा पाणिसंहरिसो वि न स्यादिति, कुतस्तर्हि करणम् ।

२ चूर्णि, पृ० १२० : सुविसुद्धलेस्से नाम सुक्कलेस्से ।

३. वृत्ति, पत्र १२० : सुष्ठु—विशेषेण शुद्धा—स्त्रीसम्पर्कपरिहाररूपतया निष्कलङ्का लेश्या—अन्तःकरणवृत्तिर्यस्य स तथा स एवम्भूतः ।

४. चूर्णि, पृ० १२० : परकिरिया नाम नो इत्थीपाए आमज्जेज्ज वा पमज्जेज्ज वा संवाहण त्ति जाव छत्तमउडं ति ।

५. चूर्णि, पृ० १२१ : अज्झत्थविसुद्धे, अज्झत्थं णाम संकप्पातो विसुद्धं, संकप्पविसुद्धं राग-द्वेषविप्रमुक्तम्, समो माना-ऽवमानेषु समदुःख-सुखं पश्यति आत्मानं च परं च मन्यते तुल्यम् । तथा चोक्तम्—

कस्य माता पिता चैव ? स्वजनो वा कस्य जायते ? ॥
न तेन कल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ॥

६. वृत्ति, पत्र १२० : अध्यात्मविशुद्धः सुविशुद्धान्तःकरणः ।

पंचमं अज्झयणं

णरयविभत्ती

पांचवां अध्ययन

नरक-विभक्ति

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'नरक-विभक्ति'—नरकवास का विभाग है। चूर्णिकार ने 'नरक' का निरुक्त इस प्रकार दिया है[1]—

'नीयन्ते तस्मिन् पापकर्माण इति नरकाः।'
'न रमन्ति तस्मिन् इति नरकाः।'

निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन का प्रतिपाद्य बतलाते हुए नरक-उत्पति के अनेक कारणों में से दो कारणों—उपसर्ग-भीरुता तथा स्त्री-वशवर्तिता—का उल्लेख किया है।[2] स्थानांग सूत्र में नरकगमन के चार हेतु बतलाए हैं—महा-आरंभ, महा-परिग्रह, पंचेन्द्रियवध और मांस-भक्षण।[3]

तत्त्वार्थ सूत्र में नारकीय आयुष्य के दो कारण निर्दिष्ट हैं[4]—

१. बहु आरंभ—महान् हिंसा।

२. बहु परिग्रह—महान् परिग्रह।

मूल सूत्रकार ने प्रथम दो श्लोकों में अध्ययन का प्रतिपाद्य और आगे के तीन श्लोकों (३, ४, ५) में नरक गति के हेतुओं का दिग्दर्शन कराया है।

जम्बूकुमार ने सुधर्मा से पूछा—'नरकों का स्वरूप क्या है? किन-किन कर्मों के कारण जीव नरक में जाता है? नरकों में नैरयिक किन-किन वेदनाओं का अनुभव करते हैं?'

सुधर्मा ने कहा—'आर्य जम्बू! जैसे तुम मुझे पूछ रहे हो, वैसे ही मैंने भगवान् महावीर से पूछा था—भंते! मैं नहीं जानता कि जीव किन-किन कर्मों से और कैसे नरक में उत्पन्न होता है? आप मुझे बताएं।'

भगवान् ने तब मुझे कहा—मैं तुमको उन जीवों के पापकर्म का दिग्दर्शन कराऊंगा, जिनसे वे उन विषम और चंड स्थानों में जाकर उत्पन्न होते हैं और भयंकर वेदनाओं को भोगते हैं। नरक के मुख्य हेतु हैं—

१. क्रूर पापकर्मो का आचरण।

२. महान् हिंसा का आचरण।

३. असंयम में रति।

४. आस्रवों के सेवन में व्यग्रता।

नरक पद के छह निक्षेप प्रस्तुत करते हुए निर्युक्तिकार, चूर्णिकार और वृत्तिकार ने निश्चित नरकावासों में उत्पन्न होना ही नारकीय जीवन नहीं माना है, किन्तु वे कहते हैं कि जिस जीवन में जो प्राणी नरक सदृश वेदनाओं, पीड़ाओं और दुःखों को भोगता है, वह स्थान या जन्म भी नरक ही है।

१. नाम-नरक—किसी का नाम 'नरक' रख दिया।

२. स्थापना-नरक—किसी पदार्थ या स्थान में 'नरक' का आरोपण कर दिया।

---

१. चूर्णि, पृ० १२६।

२. निर्युक्ति गाथा २३, चूर्णि, पृ० १६ : उवसग्गभीरुणो थीवसस्स णरएसु होज्ज उववाओ।

३. ठाणं ४।६२८।

४. तत्त्वार्थ ६।१५ : बह्वारम्भपरिग्रहत्वं च नरकस्यायुषः।

३. द्रव्य-नरक—मनुष्य अथवा पशु जीवन में बंदीगृह, यातनास्थान आदि स्थानों का आसेवन करना, जहां नरकतुल्य वेदनाएं भोगनी पड़ती हैं। जैसे कालसौकरिक कसाई को मरणावस्था में अत्यन्त घोर वेदनाएं सहनी पड़ी थीं।[1]

द्रव्य-नरक के दो प्रकार हैं—

१. कर्मद्रव्य-द्रव्यनरक—नरक में वेदने योग्य कर्म-बंध।

२. नोकर्मद्रव्यद्रव्य-नरक—वर्तमान जीवन में अशुभ रूप, रस, गंध, वर्ण, शब्द और स्पर्श का संयोग।

४. क्षेत्र-नरक—चौरासी लाख नरकवासों का निर्धारित भूविभाग।

५. काल-नरक—नारकों की कालस्थिति।

६. भाव-नरक—नरक आयुष्य का अनुभव, नरकयोग्य कर्मों का उदय।

चूर्णिकार ने वर्तमान जीवन में नरकतुल्य कष्टों के अनुभव को भाव-नरक माना है। जैसे—कालसौकरिक ने अपने जीवन-काल में ही नरक का अनुभव कर लिया था।[2]

इसी प्रकार से 'विभक्ति' शब्द के निक्षेपों का चूर्णिकार और वृत्तिकार से विस्तार से वर्णन किया है।[3] वृत्तिकार ने क्षेत्र-विभक्ति के अन्तर्गत आर्यक्षेत्रों को विस्तार से समझाया है। उन्होंने छह प्राचीन श्लोकों को उद्धृत कर साढे पच्चीस आर्य देशों तथा उनकी राजधानियों का नामोल्लेख किया है।[4]

इसी प्रकार उन्होंने अनार्य देशों के नाम तथा अनार्य देशवासी लोगों के स्वभाव का सुन्दर चित्रण किया है।[5]

चूर्णिकार ने उनका केवल नामोल्लेख किया है।

सात नरक माने जाते हैं। स्थानांग में उनके सात नाम और गोत्रों का उल्लेख है।[6] वे नरक गोत्रों के नाम से ही पहचाने जाते हैं।

नरकों के नाम—

१. धर्मा २. वंशा ३. शैला ४. अंजना ५. रिष्टा ६. मघा ७. माघवती।

नरकों के गोत्र—

१. रत्नप्रभा २. शर्कराप्रभा ३. बालुकाप्रभा ४. पंकप्रभा ५. धूमप्रभा ६. तमा ७. तमस्तमा।

अधोलोक में सात पृथिवियां (नरक) हैं। इन पृथ्वियों के एक दूसरे के अन्तराल में सात तनुवात (पतली वायु) और सात अवकाशान्तर हैं। इन अवकाशान्तरों पर तनुवात, तनुवातों पर घनवात, घनवातों पर घनोदधि और इन सात घनोदधियों पर फूल की टोकरी की भांति चौड़े संस्थान वाली पृथ्वियां (नरक) हैं।[7]

प्रस्तुत आगम के २।२।६० में समुच्चय में नरकावासों के संस्थान—आकार-प्रकार, उनकी अशुचिता तथा भयंकर वेदना का

---

१. चूर्णि, पृ० १२२ : दव्वणिरओ तु इहेव जे तिरिय-मणुएसु असुद्धठाणा चारगादि खडा-कडिल्लग-कंटगा-वंसकरिल्लादीणि असुभाइं ठाणाइं, जाओ य णरगपडिरूवियाओ वेयणाओ दीसंति जधा सो कालसोअरिओ मरितुकामो वेदणासमण्णागओ अट्ठारसकम्मकम्मकारणाओ वा वाधि-रोग-परपीलणाओ वा एवमादि············।

२ चूर्णि, पृ० १२२ : भावणरगा··· ·····अधवा (सद्द-) रूव-रस-गंध-फासा इहेव कम्मुदयो णेरइयपायोग्गो, जधा कालसोअरियस्स इहभवे चेव ताइं कम्माइं नेरइयभाव-भाविताइं भावनरकः।

३. (क) चूर्णि, पृ० १२२-१२३।
(ख) वृत्ति, पत्र १२१-१२३।

४. वृत्ति, पत्र १२२।

५. वही, पत्र १२२।

६. ठाणं ७।२३-२४।

७. ठाणं, ७।१४-२२।

कथन है। वे नारकीय जीव न सोकर नींद ले सकते हैं, न बैठकर विश्राम कर सकते हैं, न उनमें स्मृति होती है, न रति, न धृति और न मति। वे वहां प्रगाढ़ और विपुल, चंड और रौद्र, असह्य वेदना का अनुभव करते हुए काल-यापन करते हैं।

बौद्ध साहित्य में भी नारकीय वेदना का यही रूप है। वहां कहा गया है—वे अधमजीव नरक में उत्पन्न होकर अत्यन्त दुःखप्रद, तीव्र, दारुण और कटुक वेदना को भोगते हैं।[1]

नारकीय जीव तीन प्रकार की वेदना का अनुभव करते हैं—

१. परमाधार्मिक देवों द्वारा उत्पादित वेदना।

२. परस्परोदीरित वेदना।

३. नरक के क्षेत्र-विशेष में स्वाभाविकरूप से उत्पन्न वेदना।

इन सात पृथ्वियों में प्रथम तीन—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा—में पनरह परमाधार्मिक-देवों द्वारा उत्पादित कष्टों का अनुभव नारकजीव करते हैं। चार पृथिवियों—पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमा और तमस्तमा—में नारकीयजीव अत्यधिक वेदना का अनुभव करते हैं। यह क्षेत्रविपाकी वेदना है। उन नरकावासों का ऐसा ही अनुभाव है कि वहां रहने वाले प्राणी अत्यन्त दुःसह कष्टों का अनुभव करते हैं।[2]

उन नरकावासों में नारकीयजीव परस्पर लड़ते हैं, एक दूसरे को मारते हैं, पीटते हैं, अंगच्छेद करते हैं—यह वेदना भी वहां प्रचुरता से प्राप्त है।

प्रथम तीन नरकों में तीनों प्रकार की वेदनाएं प्राप्त होती हैं और शेष चार में केवल दो प्रकार की वेदनाएं—क्षेत्रविपाकी वेदना और परस्परोदीरित वेदना—प्राप्त होती हैं।[3]

आगमकार के अनुसार छठी-सातवीं नरक में नैरयिक बहुत बड़े-बड़े रक्त कुंथुओं को पैदा कर परस्पर एक-दूसरे के शरीर को काटते हैं, खाते हैं।[4]

स्थानांग सूत्र में नारकीय जीवों द्वारा भोगी जाने वाली दस प्रकार की वेदना का उल्लेख प्राप्त है[5]—

१. शीत २. उष्ण ३. क्षुधा ४. पिपासा ५. खुजलाहट ६. परतंत्रता ७. भय ८. शोक ९. जरा १०. व्याधि।

छतीसवें श्लोक में प्रयुक्त 'संजीवनी' शब्द से चूर्णिकार ने नरकावासों की स्वाभाविकता का वर्णन किया है। उन नरकावासों में नारकीय जीवों को सतत कष्ट पाना होता है। वे अपनी स्थिति से पहले मरते नहीं। वे छिन्न-भिन्न, क्वथित या मूर्च्छित होकर भी भयंकर वेदना का अनुभव करते हैं। पारे की तरह उनका सारा शरीर बिखर जाता है, पर पानी के छींटे पड़ते ही वे पुनः जीवित हो जाते हैं। इसलिए उन नरकावासों को 'संजीवन' कहा गया है।

बौद्ध परम्परा में आठ ताप नरक माने जाते हैं। आठवें नरक 'संजीव' का वर्णन भी उपरोक्त वर्णन की तरह ही है। संजीव नरक में पहले शरीर भग्न होते हैं, फिर रजःकण जितने सूक्ष्म हो जाते हैं। पश्चात् शीतलवायु से वे पुनः सचेतन हो जाते हैं।[6]

प्रस्तुत अध्ययन में अग्नि के विषय में कुछ विशेष जानकारी प्राप्त होती है। नरक में बादर अग्नि नहीं होती। वहां के कुछ स्थानों के पुद्गल भट्टी की आग से भी अधिक ताप वाले होते हैं। वे अचित्त अग्निकाय के पुद्गल हैं।

---

१. मज्झिमनिकाय ४५।२।२ : निरयं उपपज्जंति ते तत्थ दुक्खा तिब्बा खरा कटुका वेदना वेदयन्ति।

२. चूर्णि, पृ० १२३। ते पुण जाव तच्चा पुढवी, सेसासु णत्थि। सेसासु पुण अणुभाववेदणा चेव वेदेंति।

३. चूर्णि पृ० १२३। वृत्ति, पत्र १२३।

४. जीवाजीवाभिगम ३।१११।

५. ठाणं १०।१०८।

६. अभिधम्मकोश पृ० ३७२, आचार्य नरेन्द्रदेव कृत।

ग्यारहवें श्लोक में काली आभा वाले अचित्त अग्निकाय का उल्लेख है।

पैंतीसवें श्लोक में सूत्रकार ने अग्नि के साथ 'विधूम' शब्द का प्रयोग किया है। वह निर्धूम अग्नि का वाचक है। इंधन के विना धूम नहीं होता। नरक में इंधन से प्रज्ज्वलित अग्नि नहीं होती। निर्धूम अग्नि की तुलना आज के विद्युत् से की जा सकती है। वह अग्नि वैक्रिय से उत्पन्न होती है। वह पाताल में उत्पन्न और अनवस्थित रहती है। उसमें संघर्षण प्रक्रिया की कोई आवश्यकता नहीं रहती।[1]

एक प्रश्न होता है कि नरकावासों में उत्पन्न जीवों की वेदना का आधार क्या है? वर्तमान जीवन में वे जिस प्रकार का पापाचार करते है, उसी प्रकार के व्यवहार से उन्हें पीड़ित किया जाता हैं, अथवा दूसरे प्रकार से?

नारकीय जीव अपने-अपने कर्मो की मंदता, तीव्रता और मध्यम अवस्था के आधार पर मंद, तीव्र या मध्यम परिणाम वाली वेदना भोगते हैं। उनको पूर्व जीवन के पापाचरणों की स्मृति कराई जाती है। उनको उसी प्रकार से न छेदा जाता है, न मारा जाता है और न उनका वध किया जाता है। पूर्वाचरित सारे पाप-कर्मो की स्मृति कराकर उन्हें पीड़ित किया जाता है।[2]

नारकीय जीवों की वेदना तीन प्रकार से उदीर्ण होती है—स्वतः, परतः और उभयतः। उभयतः उदीर्ण होने वाली वेदना के कुछेक प्रकारों की सूचना चूर्णिकार ने छवीसवें श्लोक की चूर्णि में प्रस्तुत की है[3]—

जो जीव पूर्वभव में मांस खाते थे उन्हें उन्हीं के शरीर का मांस खिलाया जाता है।

झूठ वोलने वालों की जीभ निकाल ली जाता है।

चारों के अंगोपांग काट दिए जाते हैं।

परस्त्रीगामी जीवों के वृषण छेदे जाते हैं तथा अग्नि में तपे लोहस्तंभों से आलिंगन करने के लिए वाध्य किया जाता है।

जो क्रोधी स्वभाव के थे उनमें क्रोध उत्पन्न कर पीटते हैं।

जो मानी स्वभाव के थे उनकी अवहेलना की जाती है।

जो मायावी थे उनको नानाप्रकार से ठगा जाता है।

प्रथम तीन नरकावासों—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा और वालुकाप्रभा—में परमाधार्मिक देव नारकीयजीवों को वेदना देते हैं। वे देव पनरह प्रकार के हैं। उनके नामों का और कर्मो का विवरण निर्युक्तिकार ने प्रस्तुत किया है। उनके कार्यानुरूप नाम हैं। उनका विवरण इस प्रकार है—

१. अंब—अपने निवास-स्थान से ये देव आकर अपने मनोरंजन के लिए नारकीय जीवों को इधर-उधर दौड़ाते हैं, पीटते हैं, उनको ऊपर उछालकर शूलों में पिरोते हैं। उन्हें पृथ्वी पर पटक-पटक कर पीड़ित करते हैं। उन्हें पुनः अंवर—आकाश में उछालते हैं, नीचे फेंकते हैं।

२. अंबरिखी—मुद्‌गरों से आहृत, खड्‌ग आदि से उपहत, मूर्च्छित उन नारकियों को ये देव करवत आदि से चीरते हैं, उनके छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं।

३. श्याम—ये देव जीवों के अंगच्छेद करते हैं, पहाड़ से नीचे गिराते है, नाक को वींधते हैं, रज्जु से वांधते हैं।

४. शबल—ये देव नारकीय जीवों की आंतें वाहर निकाल लेते हैं, हृदय को नष्ट कर देते हैं, कलेजे का मांस निकाल लेते हैं, चमड़ी उधेड़ कर उन्हें कष्ट देते हैं।

५. रौद्र—ये अत्यन्त क्रूरता से नारकीय जीवों को दुःख देते हैं।

६. उपरौद्र—ये देव नारकों के अंग-भंग करते हैं, हाथ-पैरों को मरोड़ देते हैं। ऐसा एक भी क्रूरकर्म नहीं, जो ये न करते हों।

---

१. चूर्णि, पृ० १३७ : बिना काष्ठैः अकाष्ठा वैक्रियकालभवा अगनयः अघट्टिता पातालस्था अप्यनवस्था।

२. वही, पृ० १३१। वृत्ति, पत्र १३२।

३. वही, पृष्ठ १३३।

७. **काल**—ये देव नारकियों को भिन्न-भिन्न प्रकार के कडाहों में पकाते हैं, उबालते हैं और उन्हें जीवित मछलियों की तरह सेंकते हैं।

८ **महाकाल**—ये देव नारकों के छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं, पीठ की चमड़ी उधेड़ते हैं और जो नारक पूर्वभव में मांसाहारी थे उन्हें वह मांस खिलाते हैं।

९. **असि**—ये देव नारकीय जीवों के अंग-प्रत्यंगों के बहुत छोटे-छोटे टुकड़े करते हैं, दुःख उत्पादित करते हैं।

१०. **असिपत्र (या धनु)**—ये देव असिपत्र नाम के वन की विकुर्वणा करते हैं। नारकीय जीव छाया के लोभ से उन वृक्षों के नीचे आकर विश्राम करते हैं। तब हवा के झोंकों से असिधारा की भांति तीखे पत्ते उन पर पड़ते हैं और वे छिद जाते हैं।

११. **कुंभि (कुंभ)**—ये देव विभिन्न प्रकार के पात्रों में नारकीय जीवों को डालकर पकाते हैं।

१२. **बालुक**—ये देव गरम बालू से भरे पात्रों में नारकों को चने की तरह भुनते हैं।

१३. **वैतरणी**—ये नरकपाल वैतरणी नदी की विकुर्वणा करते हैं। वह नदी पीव, लोही, केश और हड्डियों से भरी-पूरी होती है। उसमें खारा गरम पानी बहता है। उस नदी में नारकीय जीवों को बहाया जाता है।

१४. **खरस्वर**—ये नरकपाल छोटे-छोटे धागों की तरह सूक्ष्म रूप से नारकों के शरीर को चीरते हैं। फिर उनके और भी सूक्ष्म टुकड़े करते हैं। उनको पुनः जोड़कर सचेतन करते हैं। कठोर स्वर में रोते हुये नारकों को शाल्मली वृक्ष पर चढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं। वह वृक्ष वज्रमय तीखे कांटों से संकुल होता है। नारक उस पर चढ़ते हैं। नरकपाल पुनः उन्हें खींचकर नीचे ले आते हैं। यह क्रम चलता रहता है।

१५. **महाघोष**—ये सभी असुरदेवों में अधम जाति के माने जाते हैं। ये नरकपाल नारकों को भीषण वेदना देकर परम मुदित होते हैं।

यह पनरह परमाधार्मिक देवों—नरकपालों का संक्षिप्त विवरण है।

निर्युक्तिकार ने सतरह गाथाओं में नरकपालों के नाम और उन नामों के अनुरूप कार्यों का निर्देश दिया है।[1] चूर्णिकार ने इन गाथओं की विशेष व्याख्या नहीं की है।[2] वृत्तिकार ने इनका विस्तार से वर्णन किया है।[3]

प्रस्तुत अध्ययन के दो उद्देशक हैं। पहले उद्देशक में २७ और दूसरे में २५ श्लोक हैं। इन श्लोकों में नरकों में प्राप्त वेदनाओं का सांगोपांग वर्णन है। पचासवें श्लोक में कहा गया है कि प्राणी अपने पूर्वभव में तीव्र, मंद और मध्यम अध्यवसायों से पापकर्म करता है और उसी के अनुरूप उत्कृष्ट, जघन्य और मध्यम स्थिति वाले कर्मों का बन्ध कर उस कालस्थिति तक कर्मों का वेदन करता है।[4] उन नरकों में **'अच्छिणिमीलियमेत्तं णत्थि सुहं किंचि कालमणुबद्धं'**[5]—आंख की पलकें झपके उतने समय का भी सुख नहीं है।

वस्तुतः यह अध्ययन अठारह पापों के आचरण के प्रति विरक्ति पैदा करता है।

सूत्रकार के अनुसार नारकीय वेदना से मुक्त होने के उपाय हैं—

१. हिंसा-निवृत्ति २. सत्य आदि का आचरण ३. असंग्रह का पालन ४. कषाय-निग्रह ५. अठारह पापों से निवृत्ति ६. चारित्र का अनुपालन।[6]

---

१. निर्युक्ति गाथा ५९-७५।
२. चूर्णि, पृ० १२३-१२६।
३. वृत्ति, पत्र १२३-१२६।
४. चूर्णि, पृ० १३९ : जारिसाणि तिव्व-मंद-मज्झिम-अज्झवसाएहिं जघण्णमज्झिमुक्किट्ठठितीयाणी कम्माणि कताणि तं तधा अणुभवंति।
५. चूर्णि, पृ० १३० में उद्धृत।
६. सूयगडो ५।५१,५२।

पंचमं अज्झयणं : पांचवां अध्ययन

णरयविभत्ती : नरक-विभक्ति

पढमो उद्देसो : पहला उद्देशक

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. पुच्छिसुहं केवलियं महेसिं कहंऽभितावा णरगा पुरत्था ? अजाणओ मे मुणि बूहि जाणं कहं णु बाला णरगं उवेंति ? ।१।	अप्राक्षमहं कैवलिकं महर्षिं कथमभितापा नरकाः पुरस्तात् । अजानतो मे मुने ! ब्रूहि जानन्, कथं नु बाला नरकमुपयन्ति ? ॥	१. (सुधर्मा ने जंबू से कहा) मैंने केवलज्ञानी महर्षि[1] महावीर से पूछा था[2] कि नरक में कैसा ताप (कष्ट) होता है ? हे मुने ! मैं नहीं जानता, आप जानते हैं इसलिए मुझे बताएं कि अज्ञानी जीव नरक में कैसे जाते हैं ?
२. एवं मए पुट्ठे महाणुभावे इणमब्बवी कासवे आसुप्पण्णे । पवेयइस्सं दुहमट्ठदुग्गं आदीणियं दुक्कडिणं पुरत्था ।२।	एवं मया पृष्टो महानुभावः, इदमब्रवीत् काश्यपः आशुप्रज्ञः । प्रवेदयिष्यामि दुःखार्थं दुर्गं, आदीनिकं दुष्कृतिनं पुरस्तात् ॥	२. मेरे द्वारा ऐसा पूछने पर महानुभाव,[3] आशुप्रज्ञ,[4] कश्यपगोत्रीय महावीर ने यह कहा—'दुःखदायी,[5] विषम,[6] अत्यन्त दीन[7] और जिसमें दुराचारी जीव रहते हैं, उस नरक के विषय में मैं तुम्हें बताऊंगा ।
३. जे केइ बाला इह जीवियट्ठी पावाइं कम्माइं करेंति रुद्दा । ते घोररूवे तिमिसंधयारे तिव्वाभितावे णरए पडंति ।३।	ये केचिद् बाला इह जीवितार्थिनः, पापानि कर्माणि कुर्वन्ति रुद्राणि । ते घोररूपे तमिस्रान्धकारे, तीव्राभितापे नरके पतन्ति ॥	३. कुछ अज्ञानी मनुष्य जीवन के आकांक्षी होकर रौद्र पापकर्म करते हैं । वे महाघोर, सघन अंधकारमय,[8] तीव्र ताप वाले नरक में जाते हैं ।
४. तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य जे हिंसई आयसुहं पडुच्चा । जे लूसए होइ अदत्तहारी ण सिक्खई सेयवियस्स किंचि ।४।	तीव्रं त्रसान् प्राणिनः स्थावरांश्च, यो हिनस्ति आत्मसुखं प्रतीत्य । यो लूषको भवति अदत्तहारी, न शिक्षते सेव्यस्य किञ्चित् ॥	४. जो अपने सुख के लिए[9] क्रूर अध्यवसाय से[10] त्रस और स्थावर जीवों की हिंसा करते हैं, अंगच्छेद करते हैं, चोरी करते हैं और सेवनीय (आचरणीय) का अभ्यास नहीं करते (वे नरक में जाते हैं ।)
५. पागब्भि पाणे बहुणं तिवाई अणिव्वुडे घायमुवेइ बाले । णिहो णिसं गच्छइ अंतकाले अहोसिरं कट्टु उवेइ दुग्गं ।५।	प्रागल्भी प्राणानां बहूनां अतिपाती, अनिर्वृतः घातमुपैति बालः । न्यक् निशां गच्छति अन्तकाले, अधः शिरः कृत्वा उपैति दुर्गम् ॥	५. जो ढीठ मनुष्य[11] अनेक प्राणियों को मारते हैं, अशान्त है, वे अज्ञानी आघात को प्राप्त होते हैं । वे जीवन का अन्तकाल होने पर नीचे अंधकारपूर्ण रात्री को प्राप्त होते हैं और नीचे सिर हो[12] दुर्गम नरक में उत्पन्न होते हैं ।

६. हण छिंदह भिंदह णं दहेह सद्दे सुणेत्ता परधम्मियाणं । ते णारगा ऊ भयभिण्णसण्णा कंखंति कं णाम दिसं वयामो ? ।६।	हत छिन्त भिन्त दहत, शब्दान् श्रुत्वा पराधार्मिकाणाम् । ते नारकाः तु भयभिन्नसंज्ञाः, कांक्षन्ति कां नाम दिशं व्रजामः ? ॥	६. वे नैरयिक परमाधार्मिक देवों के 'मारो, काटो, टुकड़े करो, जलाओ'—ये शब्द सुन कर भय से संज्ञाहीन हो जाते हैं और यह आकांक्षा करते हैं कि हम किस दिशा में जाएं ?[१६]
७. इंगालरासिं जलियं सजोइं तओवमं भूमिमणुक्कमंता । ते डज्झमाणा कलुणं थणंति अरहस्सरा तत्थ चिरट्ठिईया ।७।	अङ्गारराशिः ज्वलितः सज्योतिः, तदुपमां भूमिं अनुक्रामन्तः । ते दह्यमानाः करुणं स्तनन्ति, अरहःस्वराः तत्र चिरस्थितिकाः ॥	७. वे जलती हुई ज्योति सहित अंगार-राशि[१४] के समान भूमि पर चलते हैं। उसके ताप से जलते हुए वे चिल्ला-चिल्ला कर[१६] करुण क्रन्दन करते हैं।[१६] वे चिरकाल तक[१७] उस नरक में रहते हैं।
८. जइ ते सुया वेयरणीऽभिदुग्गा णिसिओ जहा खुर इव तिक्खसोया । तरंति ते वेयरणीऽभिदुग्गं उसुचोइया सत्तिसु हम्ममाणा ।८।	यदि ते श्रुता वैतरणी अभिदुर्गा, निशितो यथा क्षुर इव तीक्ष्णश्रोताः । तरन्ति ते वैतरणीमभिदुर्गां, इषुचोदिताः शक्तिभिर्हन्यमानाः ॥	८. तेज छुरे जैसी तीक्ष्ण धार वाली अति-दुर्गम[१८] वैतरणी नदी[१९] के बारे में तुमने सुना होगा। वे नैरयिक बाणों से बींधे और भाले से[२०] मारे जाते हुए उस वैतरणी नदी में उतरते हैं।
९. कोलेहिं विज्झंति असाहुकम्मा णावं उवेंते सइविप्पहूणा । अण्णे तु सूलाहि तिसूलियाहि दीहाहि विद्धूण अहे करेंति ।९।	'कोलेहिं' विध्यन्ति असाधुकर्माणः, नावमुपयतः स्मृतिविप्रहीनान् । अन्ये तु शूलैः त्रिशूलैः, दीर्घैः विद्ध्वा अधः कुर्वन्ति ॥	९. क्रूरकर्मा परमाधार्मिक देव (वैतरणी नदी से डर कर) नाव के पास आते हुए उन स्मृतिशून्य[२१] नैरयिकों की गरदन को[२२] बींध डालते हैं। कुछ परमाधार्मिक उन्हें लम्बे शूलों और त्रिशूलों से बींध कर नीचे भूमि पर गिरा देते हैं।
१०. केसिं च बंधित्तु गले सिलाओ उदगंसि बोलेंति महालयंसि । कलंबुयावालुयमुम्मुरे य लोलेंति पच्चंति य तत्थ अण्णे ।१०।	केषाञ्च बध्वा गले शिलाः, उदके ब्रोडयन्ति महति । कलम्बुकावालुकामुर्मुरे च, लोलयन्ति पचन्ति च तत्र अन्ये ॥	१०. कुछ परमाधार्मिक देव किन्हीं के गले में शिला बांधकर उन्हें अथाह पानी में डुबो देते हैं। (वहां से निकाल कर) तुषाग्नि की भांति (वैतरणी के) तीर की[२३] तपी हुई[२४] वालुका में उन्हें लोट-पोट करते हैं और भूनते हैं।
११. असूरियं णाम महाभितावं अंधं तमं दुप्पतरं महंतं । उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु समाहिओ जत्थगणी झियाइ ।११।	असूर्यं नाम महाभितापं, अन्धंतमः दुष्प्रतरं महत् । ऊर्ध्वमधश्च तिर्यग्दिशासु, समाहितो यत्राग्निः धमति ॥	११. असूर्य[२५] नाम का महान् संतापकारी एक नरकावास है। वहां घोर अंधकार है[२७]। जिसका पार पाना कठिन हो इतना विशाल है। वहां ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में निरंतर[२८] आग[२९] जलती है।
१२. जंसी गुहाए जलणेऽतिवट्टे अविजाणओ डज्झइ लुत्तपण्णो । सया य कलुणं पुण घम्मठाणं गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं ।१२।	यस्मिन् गुहायां ज्वलनेऽतिवृत्तः, अविजानन् दह्यते लुप्तप्रज्ञः । सदा च करुणं पुनर्घर्मस्थानं, गाढोपनीतमतिदुःखधर्मम् ॥	१२. उसकी गुफा में नारकीय जीव ढकेला जाता है। वह प्रज्ञाशून्य नैरयिक[३०] निर्गम-द्वार को नहीं जानता हुआ[३१] उस अग्नि में जलने लग जाता है।

नैरयिकों के रहने का वह स्थान सदा तापमय[११] और करुणा उत्पन्न करने वाला है। वह कर्म के द्वारा[११] प्राप्त और अत्यन्त दुःखमय है।[१४]

१३. चत्तारि अगणीओ समारभेत्ता
जहि कूरकम्मा भितवेंति बालं।
ते तत्थ चिट्ठंतऽभितप्पमाणा
मच्छा व जीवंतुवजोइपत्ता ।१३।

चतुरोग्नीन् समारभ्य,
यस्मिन् क्रूरकर्माणोऽभितापयन्ति बालम्।
ते तत्र तिष्ठन्त्यभितप्यमानाः,
मत्स्या इव जीवन्त उपज्योतिःप्राप्ताः ।।

१३. क्रूरकर्मा नरकपाल नरकावास में चारों दिशाओं में अग्नि जलाकर उन अज्ञानी नारकों को तपाते हैं।[१५] वे ताप सहते हुए वहां पड़े रहते हैं, जैसे अग्नि के समीप ले जाई गई जीवित मछलियां[१६]।

१४. संतच्छणं णाम महाभितावं
ते णारगा जत्थ असाहुकम्मा।
हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं
फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था ।१४।

सन्तक्षणं नाम महाभितापं,
तान् नारकान् यत्र असाधुकर्माणः।
हस्तयोः पादयोश्च बध्वा
फलकमिव तक्ष्णुवन्ति कुठारहस्ताः ।।

१४. संतक्षण[१७] नाम का महान् संतापकारी एक नरकावास है, जहां हाथ में कुठार लिए हुए नरकपाल अशुभकर्म वाले उन नैरयिकों के[१८] हाथों और पैरों को[१९] बांध कर उन्हें फलक की भांति छील डालते हैं।

१५. रुहिरे पुणो वच्च-समुस्सियंगे
भिण्णुत्तिमंगे परिवत्तयंता।
पयंति णं णेरइए फुरंते
सजीवमच्छे व अयो-कवल्ले ।१५।

रुधिरे पुनः वर्चःसमुच्छ्रिताङ्गान्,
भिन्नोत्तमाङ्गान् परिवर्त्तयन्तः।
पचन्ति नैरयिकान् स्फुरतः,
सजीवमत्स्यानिवायस्-'कवल्ले' ।।

१५. वे नरकपाल खून से सने, मल से लथपथ, सिर फूटे, तड़फते नैरयिकों को उलट-पुलट करते हुए[२०] उन्हें जीवित मछलियों की भांति लोहे की कडाही में पकाते हैं।

१६. णो चेव ते तत्थ मसीभवंति
ण मिज्जई तिव्वभिवेयणाए।
तमाणुभागं अणुवेययंता
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ।१६।

नो चैव ते तत्र मषीभवन्ति,
न म्रियन्ते तीव्राभिवेदनया।
तमनुभागमनुवेदयन्तः,
दुःखन्ति दुःखिन इह दुष्कृतेन ।।

१६. वे वहां (पकाने पर भी) जल कर राख नहीं होते। तीव्र वेदना से पीड़ित होकर भी वे नहीं मरते।[२१] वे अपने किए हुए कर्मों का फल भोगते हैं और अपने ही दुष्कृत से दुःखी बने हुए दुःख का अनुभव करते हैं।

१७. तहिं च ते लोलणसंपगाढे
गाढं सुतत्तं अगणिं वयंति।
ण तत्थ सायं लभंतीऽभिदुग्गे
अरहियाभितावे तह वी तवेंति ।१७।

तस्मिश्च ते लोलनसंप्रगाढे,
गाढं सुतप्तमग्निं व्रजन्ति।
न तत्र सातं लभन्तेऽभिदुर्गे,
अरहिताभितापे तथापि तापयन्ति ।।

१७. वे शीत से व्याप्त[२२] नरकावास में (शीत से पीड़ित होकर) घनी धधकती आग की ओर जाते हैं। किन्तु उस दुर्गम स्थान में वे सुख को प्राप्त नहीं होते। वे निरंतर ताप वाले स्थान में चले जाते हैं, फिर नरकपाल (गरम तेल डाल कर) उन्हें जलाते हैं।[२३]

१८. से सुव्वई णगरवहे व सद्दे
दुहोवणीताण पदाण तत्थ।
उदिण्णकम्माण उदिण्णकम्मा
पुणो पुणो ते सरहं दुहेंति ।१८।

अथ श्रूयते नगरवध इव शब्दः,
दुःखोपनीतानां पदानां तत्र।
उदीर्णकर्मणां उदीर्णकर्माणः,
पुनः पुनस्ते सरभसं दुःखयन्ति ।।

१८. वहां दुःख से निकले हुए शब्दों का कोलाहल, नगर के सामूहिक हत्याकांड के समय होने वाले कोलाहल की भांति सुनाई देता है। उदीर्ण कर्म वाले नरकपाल,[२४] बड़े उत्साह के साथ, उदीर्ण कर्म वाले नैरयिकों को बार-बार सताते हैं।

१६. पाणेहि णं पाव विओजयंति तं भे पवक्खामि जहातहेणं। दंडेहि तत्था सरयंति बाला सव्वेहि दंडेहि पुराकएहिं ।१६।	प्राणैः पापा वियोजयन्ति, तद् भवद्भ्यः प्रवक्ष्यामि यथातथेन । दण्डैस्त्रस्तान् स्मारयन्ति बालाः, सर्वैः दण्डैः पुराकृतैः ।।	१६. "दुष्ट नरकपाल नारकियों के प्राणों (शरीर के अवयवों और इन्द्रियों) का[३] वियोजन करते हैं। (वे ऐसा क्यों करते हैं,) उसका यथार्थ कारण मैं तुम्हें बताऊंगा। वे विवेकशून्य नरकपाल दंड से संत्रस्त नैरयिकों को उनके पहले किए हुए सब पापों की याद दिलाते हैं।
२०. ते हम्ममाणा णरगे पडंति पुण्णे दुरूवस्स महाभितावे। ते तत्थ चिट्ठंति दुरूवभक्खी तुट्टंति कम्मोवगया किमीहिं ।२०।	ते हन्यमाना नरके पतन्ति, पूर्णे 'दुरूवस्स' महाभितापे । ते तत्र तिष्ठन्ति 'दुरूव'भक्षिणः, तुद्यन्ते कर्मोपगताः कृमिभिः ।।	२०. वे नारकीय जीव नरकपालों द्वारा पीटे जाने पर, छुपने के लिए इधर-उधर दौड़ते हुए, महान् संतापकारी, मल से भरे हुए,[७] नरकावास में जा पड़ते हैं।[८] वे अपने कर्म के वशीभूत होकर मल खाते हैं और कृमियों द्वारा काटे जाते हैं।[९]
२१. सया कसिणं पुण घम्मठाणं गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं। अंदूसु पक्खिप्प विहत्तु देहं वेहेण सीसं सेऽभितावयंति ।२१।	सदा कृत्स्नं पुनर्घर्मस्थानं, गाढोपनीतमतिदुःखधर्मम् । अन्दूषु प्रक्षिप्य विहत्य देहं, वेधेन शीर्षं तस्याभितापयन्ति ।।	२१. नैरयिकों के रहने का संपूर्ण स्थान सदा तापमय[१०] होता है। वह कर्म के द्वारा प्राप्त और अत्यन्त दुःखमय है। नरकपाल उनके शरीर को हत-प्रहत कर, बेड़ियों में डाल, सिर को बींध, उन्हें सताते हैं।
२२. छिंदंति बालस्स खुरेण णक्कं ओट्ठे वि छिंदंति दुवे वि कण्णे। जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमेत्तं तिक्खाहि सूलाहि भितावयंति ।२२।	छिन्दन्ति बालस्य क्षुरेण नक्रं, औष्ठौ अपि छिन्दन्ति द्वावपि कर्णौ । जिह्वां विनिष्कास्य वितस्तिमात्रां, तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्ति ।।	२२. वे नरकपाल उस अज्ञानी नैरयिक का छुरे से नाक, होठ और दोनों कान काटते हैं और जीभ को वित्ता भर बाहर निकाल कर तीखे शूलों से बींधते हैं।
२३. ते तिप्पमाणा तलसंपुड व्व राइंदियं तत्थ थणंति बाला। गलंति ते सोणियपूयमंसं पज्जोइया खारपदिद्धियंगा ।२३।	ते तिप्यमानास्तलसंपुट इव, रात्रिंदिवं तत्र स्तनन्ति बालाः । गलन्ति ते शोणितपूयमांसं, प्रद्योतिताः क्षारप्रदिग्धाङ्गाः ।।	२३. ताडपत्रों के संपुट की भांति[११] हाथों और पैरों को संपुटित कर देने पर वे अज्ञानी नैरयिक वहां रात-दिन चिल्लाते हैं। जले हुए तथा खार छिड़के हुए शरीर से लोही, पीव और मांस गिरते रहते हैं।
२४. जइ ते सुया लोहियपूयपाई बालागणी तेयगुणा परेणं। कुंभी महंताऽहियपोरुसीया समूसिया लोहियपूयपुण्णा ।२४।	यदि तव श्रुता लोहितपूयपाचिनी, बालाग्नितेजोगुणा परेण । कुम्भी महत्यधिकपौरुषीया, समुच्छ्रिता लोहितपूयपूर्णा ।।	२४. यदि तुमने सुना हो,[१२] नरक में पुरुष से बड़ी[१३], ऊंची एक महान् कुंभी[१४] है। वह रक्त और पीव को पकाने वाली, अभिनव प्रज्वलित अग्नि से अत्यन्त तप्त और रक्त तथा पीब से भरी हुई है।

३१. अयं व तत्तं जलियं सजोइं
तओवमं भूमिमणुक्कमंता।
ते डज्झमाणा कलुणं थणंति
उसुचोइया तत्तजुगेसु जुत्ता।४।

अय इव तप्तां ज्वलितां सज्योतिषं,
तदुपमां भूमिमनुक्रामन्तः।
ते दह्यमानाः करुणं स्तनन्ति,
इषुचोदितास्तप्तयुगेषु युक्ताः॥

३१. तप्त लोह की भांति जलती हुई अग्नि जैसी[६८] भूमि पर चलते हुए वे जलने पर[६९] करुण रुदन करते हैं। वे बाण से[७०] बींधे जाते हैं और तपे हुए जुए से जुते रहते हैं।

३२. बाला बला भूमिमणुक्कमंता
पविज्जलं लोहपहं व तत्तं।
जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा
पेसे व दंडेहि पुरा करेंति।५।

बाला बलाद् भूमिमनुक्रामन्तः,
'प्रविज्जलां' लोहपथमिव तप्ताम्।
यस्मिन् अभिदुर्गे प्रपद्यमानाः,
प्रेष्यानिव दण्डैः पुरः कुर्वन्ति॥

३२. नरकपाल उन अज्ञानी नैरयिकों को रक्त और पीव से सनी, लोहपथ की भांति तप्त भूमि पर बलात्[७१] चलाते हैं। उस दुर्गम स्थान में[७२] चलते हुए उन नैरयिकों को प्रेष्यों[७३] की भांति डंडों से पीट-पीट कर आगे ढकेलते हैं।

३३. ते संपगाढंमि पवज्जमाणा
सिलाहि हम्मंति भिपातिणीहिं
संतावणी णाम चिरट्ठिईया
संतप्पई जत्थ असाहुकम्मा।६।

ते संप्रगाढे प्रपद्यमानाः,
शिलाभिर्हन्यन्तेऽभिपातिनीभिः।
संतापनी नाम चिरस्थितिका,
सन्तप्यते यत्रासाधकर्मा॥

३३. वे पथरीले मार्ग पर[७४] चलते हुए सामने से गिराई जाने वाली[७५] शिलाओं से मारे जाते हैं। 'संतापनी'[७६] नाम की चिरकालीन स्थिति वाली[७७] कुंभी में, अशुभ कर्म वाले वे संतप्त किए जाते हैं।

३४. कंदूसु पक्खिप्प पयंति बालं
तओ विदड्ढा पुण उप्पतंति।
ते उड्ढकाएहि पखज्जमाणा
अवरेहि खज्जंति सणप्फएहिं।७।

कन्दुषु प्रक्षिप्य पचन्ति बालं,
ततो विदग्धाः पुनरुत्पतन्ति।
ते 'उड्ढ' काकैः प्रखाद्यमानाः,
अपरैः खाद्यन्ते सनखपदैः॥

३४. नरकपाल अज्ञानी नैरयिकों को कडाही में[७८] डाल कर पकाते हैं। वे भुने जाते हुए ऊपर उछलते हैं तब उन्हें द्रोण (बड़े कौए)[७९] खाने लगते हैं। भूमि पर गिरे हुए टुकड़ों को दूसरे सिंह व्याघ्र आदि[८०] खा जाते हैं।[८१]

३५. समूसियं णाम विधूमठाणं
जं सोयतत्ता कलुणं थणंति।
अहोसिरं कट्टु विगत्तिऊणं
अयं व सत्थेहि समूसवेंति।८।

समुच्छ्रितं नाम विधूमस्थानं।
यत् शोकतप्ताः करुणं स्तनन्ति।
अधः शिरः कृत्वा विकर्त्य,
अजमिव शस्त्रेषु समुच्छ्राययन्ति॥

३५. वहां एक बहुत ऊंचा[८२] विधूम अग्नि का स्थान[८३] है, जिसमें जाकर वे नैरयिक शोक से तप्त होकर करुण रुदन करते हैं।[८४] नरकपाल उन्हें बकरे[८५] की भांति ओंधे शिर कर,[८६] उनके शिर को काटते हैं और शूल पर लटका देते हैं।

३६. समूसिया तत्थ विसूणियंगा
पक्खीहि खज्जंति अओमुहेहिं।
संजीवणी णाम चिरट्ठिईया
जंसी पया हम्मइ पावचेया।९।

समुच्छ्रितास्तत्र विशूनिताङ्गाः,
पक्षिभिः खाद्यन्तेऽयोमुखैः।
संजीवनी नाम चिरस्थितिका,
यस्यां प्रजाः हन्यन्ते पापचेतसः॥

३६. शूल पर लटकते[८७], चमड़ी उकेले हुए वे नैरयिक लोहे की चोंच वाले पक्षियों द्वारा खाए जाते हैं। नरकभूमी 'संजीवनी'[८८] (बार-बार जिलाने वाली) होने के कारण चिरस्थिति वाली[८९] है। उसमें पापचेता[९०] प्रजा प्रताडित की जाती है।

३७. तिक्खाहि सूलाहि ऽभितावयंति वसोवगं सावययं व लद्धुं । ते सूलविद्धा कलुणं थणंति एगंतदुक्खं दुहओ गिलाणा ।१०।	तीक्ष्णाभिः शूलाभिरभितापयन्ति, वशोपगं श्वापदकमिव लब्ध्वा । ते शूलविद्धाः करुणं स्तनन्ति, एकान्तदुःखं द्वितः ग्लानाः ॥	३७. नरकपाल हाथ में आए श्वापद की भांति नैरयिकों को पाकर उनको तीखे शूलों से पीड़ित करते हैं। वे शूलों से विद्ध होकर करुण रुदन करते हैं, एकांत दुःख तथा शारीरिक और मानसिक ग्लानि का अनुभव करते हैं।[91]
३८. सयाजलं ठाण णिहं महंतं जंसी जलंतो अगणी अकट्ठो । चिट्ठंति तत्था बहुकूरकम्मा अरहस्सरा केइ चिरट्ठिईया ।११।	सदाज्वलं स्थानं निहं महत्, यस्मिन् ज्वलन्नग्निरकाष्ठः । तिष्ठन्ति तत्र बहुक्रूरकर्माणः, अरहस्वराः केऽपि चिरस्थितिकाः ॥	३८. सदा जलने वाला एक महान् वध-स्थान[92] है। उसमें बिना काठ की आग जलती है।[93] वहां बहुत क्रूर कर्म वाले नैरयिक[94] जोर-जोर से चिल्लाते हुए[95] लंबे समय तक रहते हैं।
३९. चिया महंतीउ समारभित्ता छुब्भंति ते तं कलुणं रसंतं । आवट्टई तत्थ असाहुकम्मा सप्पी जहा छूढं जोइमज्झे ।१२।	चिताः महतीः समारभ्य, क्षिपन्ति ते तं करुणं रसन्तम् । आवर्तते तत्रासाधुकर्मा, सर्पिर्यथा क्षिप्तं ज्योतिर्मध्ये ॥	३९. बड़ी[96] चिता बना नरकपाल करुण स्वर से रोते हुए नैरयिक को उसमें डाल देते हैं। वहां अशुभ कर्म वाला नैरयिक वैसे ही गल जाता है जैसे आग में पड़ा हुआ घी।
४०. सया कसिणं पुण घम्मठाणं गाढोवणीयं अइदुक्खधम्मं । हत्थेहि पाएहि य बंधिऊणं सत्तुं व दंडेहि समारभंति ।१३।	सदा कृत्स्नं पुनर्घर्मस्थानं, गाढोपनीतं अतिदुःखधर्मम् । हस्तयोः पादयोश्च बध्वा, शत्रुमिव दण्डैः समारभन्ते ॥	४०. नैरयिकों के रहने का संपूर्ण स्थान सदा तापमय होता है। वह कर्म के द्वारा प्राप्त और अत्यन्त दुःखमय है। वहां नरकपाल उनके हाथों और पैरों को बांध उन्हें शत्रु की भांति दंडों से पीटते हैं।[97]
४१. भंजंति बालस्स वहेण पट्ठिं सीसं पि भिंदंति अयोघणेहिं । ते भिण्णदेहा फलगा व तट्ठा तत्ताहि आराहि णियोजयंति ।१४।	भञ्जन्ति बालस्य व्यथेन पृष्ठिं, शीर्षमपि भिन्दन्ति अयोघनैः । ते भिन्नदेहाः फलका इव तष्टाः, तप्ताभिः आराभिर्नियोज्यन्ते ॥	४१. नरकपाल लकड़ी आदि के प्रहार से[98] अज्ञानी नैरयिक की पीठ को तोड़ते हैं और लोह के घनों से उसके शिर को फोड़ते हैं। दोनों ओर से छीले हुए फलकों की भांति[99] भग्न अंग-प्रत्यंग वाले नैरयिक तप्त आराओं से[100] आगे ढकेले जाते हैं।[101]
४२. अभिजुंजिया रुद्द असाहुकम्मा उसुचोइया हत्थिवहं वहंति । एगं दुरूहित्तु दुवे तओ वा आरुस्स विज्झंति ककाणओ से ।१५।	अभियुक्ताः रुद्रं असाधुकर्माणः, इषुचोदिता हस्तिवहं वहन्ति । एकमारुह्य द्वौ त्रयो वा, आरुष्य विध्यन्ति 'ककाणओ' तस्य ॥	४२. असाधु कर्म वाले नैरयिक नरकपालों द्वारा क्रूरतापूर्वक कार्य में व्यापृत होते हैं[102] और बाण से प्रेरित होकर हाथी-योग्य भार ढोते हैं।[103] दो-तीन नरकपाल उस बेचारे की पीठ पर चढ, क्रुद्ध हो, उसकी गरदन को[104] वींध डालते हैं।

४३. बाला बला भूमिमणुक्कमंता
पविज्जलं कंटइलं महंतं ।
विवद्धतप्पेहिं विसण्णचित्ते
समीरिया कोट्टबलिं करेंति ।१६।

बाला बलाद् भूमिमनुक्रामन्तः,
'प्रविज्जलां' कण्टकितां महतीम् ।
विबध्य 'तप्पेहिं' विषण्णचित्तान्,
समीर्य कोट्टबलिं कुर्वन्ति ।।

४३. नरकपाल अज्ञानी नैरयिकों को रक्त और पीव से सनी, कंटकाकीर्ण विशाल भूमी पर बलात् चलाते हैं, फिर जल में प्रवाहित कर बांस के जालों में[१०५] फंसाते हैं। जब वे मूर्च्छित हो जाते हैं तब उन्हें जल से निकाल[१०६], खंड-खंड कर, नगरबलि की भांति चारों ओर बिखेर देते हैं।[१०७]

४४. वेयालिए णाम महाभितावे
एगायए पव्वयमंतलिक्खे ।
हम्मंति तत्था बहूकूरकम्मा
परं सहस्साण मुहुत्तगाणं ।१७।

वैतालिको नाम महाभितापः,
एकायतः पर्वतः अन्तरिक्षे ।
हन्यन्ते तत्र बहुक्रूरकर्माणः,
परं सहस्राणि मुहूर्तकानि ।।

४४. नरक में 'वैतालिक'[१०८] नाम का बहुत ऊंचा[१०९] और अधर में झूलता हुआ[११०] महान् संतापकारी एक पर्वत है। (नरकपालों द्वारा उस पर्वत पर चढने के लिए प्रेरित) बहुत क्रूर कर्म करने वाले नैरयिक जब उस पर्वत पर चढने का प्रयत्न करते हैं, (तब उस पर्वत के सिकुड़ जाने पर) वे हत-प्रहत होते हैं। यह क्रम दीर्घकाल[१११] तक चलता रहता है।

४५. संबाहिया दुक्कडिणो थणंति
अहो य राओ परितप्पमाणा ।
एगंतकूडे णरए महंते
कूडेण तत्था विसमे हया उ ।१८।

संबाधिताः दुष्कृतिनः स्तनन्ति,
अहनि च रात्रौ परितप्यमानाः ।
एकान्तकूटे नरके महति,
कूटेन तत्र विषमे हतास्तु ।।

४५. दुष्कृतकारी नैरयिक अत्यन्त पीड़ित होकर[११२] दिन-रात परितप्त होते हुए आक्रन्दन करते हैं। अत्यन्त ऊबड़-खाबड़ भूमि वाले[११३] विषम और विशाल नरक में वे नैरयिक गलपाश के द्वारा[११४] बांधे जाते हैं।

४६. भंजंति णं पुव्वमरी सरोसं
समुग्गरे ते मुसले गहेउं ।
ते भिण्णदेहा रुहिरं वमंता
ओमुद्धगा धरणितले पडंति ।१९।

भञ्जन्ति पूर्वारयः सरोषं,
समुद्गरान् ते मुसलान् गृहीत्वा ।
ते भिन्नदेहाः रुधिरं वमन्तः,
अवमूर्द्धकाः धरणीतले पतन्ति ।।

४६. [११५]"पूर्वजन्म के शत्रु"[११६] नरकपाल हाथ में मुद्गर और मूसल लेकर, रुष्ट हो नैरयिकों के टुकड़े-टुकड़े कर देते हैं। वे भग्न शरीर होकर रक्त का वमन करते हुए औंधे शिर धरणी तल पर गिर जाते हैं।

४७. अणासिया णाम महासियाला
पगब्भिया तत्थ सयावकोवा ।
खज्जंति तत्था बहुकूरकम्मा
अदूरया संकलियाहि बद्धा ।२०।

अनशिता नाम महाशृगालाः,
प्रगल्भितास्तत्र सदावकोपाः ।
खाद्यन्ते तत्र बहुक्रूरकर्माणः,
अदूरगाः शृंखलाभिर्बद्धाः ।।

४७. भूखे, ढीठ और सदा कुपित रहने वाले[११७] महाकाय शृगाल, एक दूसरे से सटे तथा सांकलों से बंधे हुए[११८] बहुत क्रूर कर्म वाले[११९] नैरयिकों को खाते हैं।

४८. सयाजला णाम णईऽभिदुग्गा
पविज्जला लोहविलीणतत्ता ।
जंसीऽभिदुग्गंसि पवज्जमाणा
एगायताऽणुक्कमणं करेंति ।२१।

सदाज्वला नाम नदी अभिदुर्गा,
'प्रविज्जला' लोहविलीनतप्ता ।
यस्यामभिदुर्गायां प्रपद्यमाना,
एकका: अनक्रमणं कुर्वन्ति ।।

४८. सदाज्वला[१२०] नाम की एक नदी है। वह अति दुर्गम, पंकिल[१२१] और अग्नि के ताप से पिघले हुए लोह के समान गरम जल वाली है।[१२२] उस अति दुर्गम नदी में अकेले चलते हुए[१२३] नैरयिक उसे पार करते हैं।

. एयाइं फासाइं फुसंति बालं
णिरंतरं तत्थ चिरट्ठिईयं ।
ण हम्ममाणस्स उ होइ ताणं
एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं ।२२।

एते स्पर्शाः स्पृशन्ति बालं,
निरंतरं तत्र चिरस्थितिकम् ।
न हन्यमानस्य तु भवति त्राणं,
एकः स्वयं प्रत्यनुभवति दुःखम् ।।

४९. ये स्पर्श (दुःख)[124] लंबी स्थिति वाले अज्ञानी नैरयिक को निरंतर पीड़ित करते हैं। मार पड़ने पर उसे कोई त्राण नहीं देता। वह स्वयं अकेला ही दुःख का अनुभव करता है।[125]

. जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं
तमेव आगच्छइ संपराए ।
एगंतदुक्खं भवमज्जिणित्ता
वेदेंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ।२३।

यत् यादृशं पूर्वमकार्षीत् कर्म,
तदेव आगच्छति सम्पराये ।
एकान्तदुःखं भवमर्जयित्वा,
वेदयन्ति दुःखिनः तद् अनन्तदुःखम् ।।

५०. जिसने जो जैसा[126] कर्म पहले किया है वैसा ही परलोक में[127] फल पाता है। दुःखी प्राणी[128] एकान्त दुःख वाले भव (नरक) का अर्जन कर अनन्त दुःखों को भोगते हैं।

१. एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे
ण हिंसए कंचण सव्वलोए ।
एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ
बुज्झेज्ज लोगस्स वसं ण गच्छे ।२४।

एतानि श्रुत्वा नारकाणि धीरः,
न हिन्स्यात् कञ्चन सर्वलोके ।
एकान्तदृष्टिः अपरिग्रहस्तु,
बुध्येत लोकस्य वशं न गच्छेत् ।।

५१. धीर मनुष्य इन नारकीय दुःखों को सुनकर संपूर्ण लोकवर्ती किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। लक्ष्य के प्रति निश्चित दृष्टि वाला[129] और अपरिग्रही होकर स्वाध्यायशील रहे।[130] वह कषाय का वशवर्ती न बने।[131]

२. एवं तिरिक्खमणुयामरेसुं
चउरंतणंतं तयणूविवागं ।
स सव्वमेयं इइ वेयइत्ता
कंखेज्ज कालं धुयमायरंते ।२५।

एवं तिर्यङ्मनुजामरेसु,
चतुरन्तमनन्तं तदनुविपाकम् ।
स सर्वमेतद् इति विदित्वा,
कांक्षेत् कालं धुतमाचरन् ।।

५२. इस प्रकार तिर्यञ्चों, मनुष्यों और देवताओं (नैरयिकों)—इन चारों गतियों में कर्म के अनुरूप अनन्त विपाक होता है। वह धीर पुरुष 'यह चतुर्गतिक संसार कर्म का विपाक है'—ऐसा जानकर धुत का[132] आचरण करता हुआ कर्मक्षय के काल की[133] आकांक्षा करे।

—त्ति बेमि ।।

—इति ब्रवीमि ।।

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन ५

श्लोक १ :

१. महर्षि (महेसि)

इसके दो संस्कृत रूप बनते हैं—महर्षि और महैषी। इनका अर्थ है—महान् ऋषि और महान् अर्थात् मोक्ष की एषणा करने वाला। चूर्णिकार ने इसका अर्थ तीर्थंकर भी किया है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—उग्र तपस्वी तथा अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को सहने में सक्षम।[2]

२. पूछा था (पुच्छिसुहं)

एक बार जंबूस्वामी ने सुधर्मा से पूछा—भंते ! नरक कैसे हैं ? किन-किन कर्मों के कारण जीव नरक में जाता है ? नरक की वेदनाओं का स्वरूप क्या है ?' इन प्रश्नों के उत्तर में सुधर्मा ने कहा—जम्बू ! जैसे तुम मुझे ये प्रश्न पूछ रहे हो वैसे ही मैंने भी केवलज्ञानी भगवान् महावीर से ये प्रश्न पूछे थे।[3]

श्लोक २ :

३. महानुभाव (महाणुभावे)

अनुभाव का अर्थ है—माहात्म्य। वह दो प्रकार का होता है[4]—

१. द्रव्य अनुभाव—सूर्य आदि का प्रकाश। चक्षुष्मान् व्यक्ति प्रकाश में सांप, कंटक, अग्निपात आदि से अपना बचाव कर लेता है।

२. भाव अनुभाव—केवलज्ञान, श्रुतज्ञान आदि। इनसे मनुष्य अकुशल का परिहार करता है और मोक्ष-सुख की प्राप्ति कर लेता है।

प्रस्तुत प्रकरण में भगवान् महावीर को 'महानुभाव' कहा है। उनके ज्ञान, दर्शन आदि महान् थे।[5]

वृत्तिकार ने चौतीस अतिशयरूप माहात्म्य को महानुभाव माना है।[6]

४. आशुप्रज्ञ (आसुपण्णे)

प्रस्तुत आगम में सात बार 'आशुप्रज्ञ' का प्रयोग मिलता है।[7] चूर्णि और वृत्ति में इसके सात अर्थ किए गए हैं—

---

१. चूर्णि, पृ० १२६ : महरिसी तित्थगरो।

२. वृत्ति, पत्र १२६ : महर्षिम् उग्रतपश्चरणकारिणमनुकूलप्रतिकूलोपसर्गसहिष्णुम्।

३. (क) चूर्णि, पृ० १२६ : सुधम्मसामी किल जंबु सामिणा णरगे पुच्छितो—केरिसा णरगा ? केरिसेहिं वा कम्मेहिं गम्मति ? केरिसाओ वा तत्थ वेदणाओ ? । ततो भणति—पुच्छिंसु हं पृष्ठवानहं भगवन्तं यथैव भवन्तो मां पृच्छन्ति।

(ख) वृत्ति पत्र १२६ : जम्बूस्वामिना सुधर्मस्वामी पृष्टः तद्यथा—भगवन् ! किं भूता नरकाः ? कैर्वा कर्मभिरसुमतां तेषूत्पादः ? कीदृश्यो वा तत्रत्या वेदना ? इत्येवं पृष्टः सुधर्मस्वाम्याह—यदेतद्भवताऽहं पृष्टस्तदेतद्······· श्रीमन्महावीरवर्धमानस्वामिनं पुरस्तात् पूर्वं पृष्टवानहमस्मि।

४. चूर्णि, पृ० १२६ : भावानुभागस्तु केवलज्ञानं श्रुतं वा, तदनुभावादेव च साधवोऽकुशलानि परिहरन्ति मोक्षसुखं चानुभवन्ते।

५. चूर्णि, पृ० १२६ : अनुभवनमनुभावः, महान्ति वा ज्ञानादीनि भजति सेवत इत्यर्थः।

६. वृत्ति, पत्र १२६ : महांश्चतुस्त्रिंशदतिशयरूपोऽनुभावो—माहात्म्यं यस्य स तथा।

७. सूयगडो १।५।२, १।६।७, १।६।२५ १।१४।४, १।१४।२२, २।५।१, २।६।१८।

१. प्रश्न करने पर जिसको चिन्तन नहीं करना पड़ता, तत्काल सब कुछ समझ में आ जाता है, ऐसी शीघ्र प्रज्ञा से संपन्न व्यक्ति।[1]

२. जो सदा-सर्वत्र उपयोगवान् होता है।[2]

३. केवलज्ञानी।[3]

४. सर्वज्ञ।[4]

५. तीर्थंकर।[5]

६. क्षिप्रप्रज्ञ—प्रतिक्षण जागरूक।[6]

७. पटुप्रज्ञ।[7]

५. दुःखदायी (दुहमट्ठ)

'दुहमट्ठ' शब्द में मकार अलाक्षणिक है। इसका संस्कृतरूप 'दुःखार्थ' है। 'जिसका अर्थ दुःख होता है, जिसका प्रयोजन दुःख होता है अथवा जो दुःख का निमित्त होता है, वह दुःखार्थ है। यह इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है। इसका तात्पर्यार्थ है—नरक।[8]

वृत्तिकार ने निम्नोक्त अर्थ भी किए हैं—

१. असद् अनुष्ठान दुःख का हेतु है, इसलिए वह दुःख है।

२. नरकावास दुःख है।

३. असातावेदनीय कर्म से तीव्र पीड़ा होती है, इसलिए वह दुःख है।[9]

६. विषम (दुग्गं)

इसका शाब्दिक अर्थ है—दुर्ग। वह विषम होता है, अतः नरक को दुर्ग माना है।[10]

---

१. (क) सूयगडो १।५।२ चूर्णि पृ० १२६ : आसुपण्णे त्ति न पुच्छितो चिंतेति, आशु एव प्रजानीते आशुप्रज्ञः।
(ख) सूयगडो १।६।७ चूर्णि पृ० १४४ : आशुप्रज्ञः आशुरेव, प्रजानीते, न चिंतयित्वेत्यर्थः।
(ग) सूयगडो १।६।२५ वृत्ति, पत्र १५१ : आशुप्रज्ञः न छद्मस्थवत् मनसा पर्यालोच्य पदार्थपरिच्छित्ति विधत्ते।

२. (क) सूयगडो १।५।२ वृत्ति पत्र १२६ : आशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगात्।
(ख) सूयगडो १।६।२५ वृत्ति, पत्र १५१ : आशुप्रज्ञः सर्वत्र सदोपयोगात्।

३. (क) सूयगडो १।६।७ चूर्णि, पृ० १४४ : केवलज्ञानित्वाद् आशुप्रज्ञः।
(ख) सूयगडो २।५।१ चूर्णि पृ० ४०३ : आसुप्रज्ञो केवली............एव।

४. सूयगडो २।६।१८ वृत्ति, पत्र १४५ : आशुप्रज्ञः सर्वज्ञः।

५. सूयगडो २।५।१ चूर्णि पृ० ४०३ : आसुप्रज्ञः तीर्थंकर एव।

६. (क) सूयगडो १।१४।४ चूर्णि पृ० २२६ : आसुप्रज्ञ इति क्षिप्रप्रज्ञः क्षण-लव-मुहूर्त्तप्रतिबुद्ध्यमानता।
(ख) सूयगडो १।१४।४ वृत्ति पत्र २५०।

७. सूयगडो २।५।१ वृत्ति, पत्र ११६ : आशुप्रज्ञः पटुप्रज्ञः।

८. चूर्णि, पृ० १२६ : दुहमट्ठ ....दुःखस्यार्थं दुखमेवार्थः दुःखप्रयोजनो वा दुःखनिमित्तो वा अर्थः दुहमट्ठं। तस्य दुःखस्य कोऽर्थः ? वेदना, शरीरादि सुखार्था हि देवलोकाः, दुःखार्था नरकाः।

९. वृत्ति, पत्र १२६ : दुःखम् इति नरकं दुःखहेतुत्वात् असदनुष्ठानं यदि वा—नरकावास एव दुःखयतीति दुःखं अथवा—असातावेदनीयोदयात् तीव्रपीडात्मकं दुःखमिति। यदि वा—दुहमट्ठदुग्गं ति दुःखमेवार्थो यस्मिन् दुःखनिमित्तो वा दुःखप्रयोजनो वा स दुःखार्थो—नरकः।

१०. (क) चूर्णि, पृ० १२६ : दुर्गम् नाम विषमम्।
(ख) वृत्ति, पत्र १२६ : स (नरकः) च दुर्गो—विषमो दुरुत्तरत्वात्।

७. अत्यन्त दीन (आदीणियं)

जिसमें चारों ओर दीनता ही दीनता हो वैसा स्थान ।[1]

चूर्णिकार ने 'आदीन' का अर्थ 'पाप' किया है ।[2]

श्लोक ३ :

८. सघन अंधकारमय (तिमिसंधयारे)

ऐसा सघन अंधकार जहां अपनी आंखों से अपना शरीर भी न देखा जा सके । जहां अवधिज्ञानी भी दिन में उलूक पक्षी की भांति केवल थोड़ा ही देख सके, ऐसा सघन अंधकार ।[3]

श्लोक ४ :

९. अपने सुख के लिए (आयसुहं)

आत्मसुख, अपना सुख । व्यक्ति अपने लिए तथा अपने परिवार आदि के लिए भी हिंसा करता है । दूसरे के लिए की जाने वाली हिंसा भी उसके मन को सुख देती है, अतः वह भी उसका ही सुख है ।[4]

वृत्तिकार ने आत्मा का अर्थ स्व-शरीर किया है ।[5]

१० क्रूर अध्यवसाय से (तिव्वं)

तीव्र शब्द का तात्पर्य—तीव्र अध्यवसाय-पूर्वक है । जो व्यक्ति प्राणियों की हिंसा कर अनुताप नहीं करता वह तीव्र अध्यवसित माना जाता है ।[6]

श्लोक ५ :

११. जो ढीठ मनुष्य (पागब्भि)

जो हिंसा करने का इच्छुक है या हिंसा कर डालने पर भी जिसके मन में कोई मृदुता पैदा नहीं होती, वह ढीठ होता है। जैसे—सिंह और कृष्ण सर्प ।[7]

वृत्तिकार के अनुसार ढीठ वह होता है जो हिंसा करता हुआ भी ढिठाई के कारण उसको अन्यान्य प्रमाणों से सिद्ध करने का प्रयत्न करता है ।[8]

---

१. वृत्ति, पत्र १२६ : आ—समन्ताद्दीनमादीनं तद्विद्यते यस्मिन् स आदीनिकः—अत्यन्तदीनसत्त्वाश्रयः ।

२. चूर्णि, पृ० १२६ : आदीनं नाम पापम् ।

३. (क) चूर्णि, पृ० १२७ : तिमिसंधकारो नाम जत्थ घोरविरूविणं पस्संति, जं किंचि ओहिणा पेक्खंति तं पि कागदूसणियासरिसं पेच्छं पेच्छंति तैमिरिका वा ।

(ख) वृत्ति, पत्र १२७ : तमिसंधयारे त्ति बहलतमोऽन्धकारे यत्रात्मापि नोपलभ्यते चक्षुषा केवलमवधिनापि मन्दं मन्दमुलूका इवाह्नि पश्यन्ति ।

४. चूर्णि, पृ० १२७ : आत्मसुखार्थमात्मसुखं पडुच्च, यद्यपि हि परार्थं हिंसंति तत्रापि तेषां मनः सुखमेवोत्पद्यते पुत्रदारे सुखिन्यपि ।

५. वृत्ति, पत्र १२७ : आत्मसुखं प्रतीत्य स्वशरीरसुखकृते ।

६. चूर्णि, पृ० १२७ : तीव्राध्यवसिता जे तस-थावरे पाणे हिंसंति न चानुतप्यन्ते । ये तु मन्दाध्यवसायाः तत्र स्थावरान् प्राणान् हिंसंति ते त्रिषु नरकेषूपपद्यन्ते । अथवा तीव्रमिति तीव्राध्यवसायाः तीव्रमिथ्यादर्शननिनश्चातीव्रमिथ्याध्यवसिताश्च ।

७ चूर्णि, पृ० १२७ : न तस्य कर्तुकामस्य कृत्वा वा किंचन मार्दवमुत्पद्यन्ते, यथा सिंहस्य कृष्णसर्पस्य वा ।

८. वृत्ति, पत्र १२८ : प्रागल्भ्यं धाष्ट्यं तद्विद्यते यस्य स प्रागल्भी ·· ······ अतिधाष्ट्याद्वदति यथा—वेदाभिहिता हिंसा हिंसैव न भवति, तथा राज्ञामयं धर्मो यदुत आखेटकेन विनोदक्रिया, यदि वा—न मांसभक्षणे दोषो, न मद्ये न च मैथुने । प्रवृत्तिरेषा भूतानां, निवृत्तिस्तु महाफला । इत्यादि, तदेवं क्रूरसिंहकृष्णसर्पवत् प्रकृत्यैव प्राणातिपातानुष्ठायी ।

१२. नीचे सिर हो (अहीसिरं)

यह एक औपचारिक प्रयोग है। मृत्यु के पश्चात् शिर नहीं होता, फिर भी ऊंचाई से गिरने वाले को 'शिर नीचे लटकाए गिरा' कहा जाता है। वही उपचार यहां किया गया है।[१]

श्लोक ६ :

१३. श्लोक ६ :

तिर्यञ्च और मनुष्य भव में मरकर कुछ प्राणी नरक में उत्पन्न होते हैं। वे एक, दो या तीन समय वाली विग्रहगति से वहां उत्पन्न होते हैं। वहां एक अन्तर्मुहूर्त्त में, अशुभ कर्मों के उदय से अपने-अपने शरीर का उत्पादन करते हैं। वे शरीर अण्डे से निकले हुए रोम और पंखविहीन पक्षियों के शरीर जैसे होते हैं। तत्पश्चात् पर्याप्तियों को प्राप्त कर वे नरकपालों के शब्दों को सुनते हैं।[२]

श्लोक ७ :

१४. अंगारराशि (इंगालरासिं)

नरक में बादर अग्नि नहीं होती। वहां के कुछ स्थानों के पुद्गल स्वतः उष्ण होते हैं। वे भट्टी की आग से भी अधिक ताप वाले होते हैं। वे अचित्त अग्निकाय के पुद्गल हैं। हमारी अग्नि से उस अग्नि की तुलना नहीं की जा सकती क्योंकि वहां की अग्नि का ताप महानगरदाह की अग्नि से उत्पन्न ताप से भी बहुत तीव्र होता है।[३]

पेंतीसवें तथा अड़तीसवें श्लोक में भी बिना काठ की अग्नि का उल्लेख है। उसकी उत्पत्ति वैक्रिय से होती है। यह अचित्त अग्नि है।[४]

प्रस्तुत अध्ययन में अनेक स्थानों पर नारकीय अग्नि का उल्लेख हुआ है—देखें श्लोक ११, १२, १३ आदि।

१५. चिल्ला-चिल्ला कर (अरहस्सरा)

अनुबद्ध स्वर,[५] जोर-जोर से चिल्लाना।[६]

---

१. चूर्णि, पृ० १२७, १२८ : अधोशिरा इति, उक्तं हि—
जयतु वसुमती नृपैः समग्रा, व्यपगतचौरभया वसन्तु देशाः।
जगति विधुरवादिनः कृतघ्नाः, नरकमवाङ्शिरसः पतन्तु शाक्याः।
दूरात् पतने हि शिरसो गुरुत्वाद् अवाङ्शिरसः पतन्ति, स एवोपचारः इहानुगम्यते, न तेषां तस्यामवस्थायां शिरोविद्यत इति।

२. (क) चूर्णि, पृ० १२८ : एकसमयिक-दुसमयिग-तिसमएण वा विग्गहेण उववज्जंति, अंतोमुहुत्तेण अशुभकर्मोदयात् शरीराण्युत्पादयन्ति, निर्लूनाण्डजसन्निभा निजपर्याप्तिभावमागताश्च शब्दान् शृण्वन्ति।
(ख) वृत्ति, पत्र १२८ : तिर्यङ्मनुष्यभवात् सत्वा नरकेषूत्पन्ना अन्तर्मुहूर्तेन निर्लूनाण्डजसन्निभानि शरीराण्युत्पादयन्ति, पर्याप्तिभावमागताश्चातिभयानकान् शब्दान् परमाधार्मिकजनितान् शृण्वन्ति।

३. (क) चूर्णि, पृ० १२८ : जधा इंगालरासी जलितो धगधगेति एवं ते नरकाः स्वभावोष्णा एव, ण पुण तत्थ बादरो अग्गी अत्थि, णऽण्णत्थ विग्गहगति समावण्णएहिं। ते पुण उसिणपरिणता पोग्गला जंतवाडचुल्लीओ वि उसिणतरा।
(ख) वृत्ति, पत्र १२९ : तत्र बादराग्नेरभावात्तदुपमां भूमिमित्युक्तम्, एतदपि दिग्दर्शनार्थमुक्तम्, अन्यथा नारकतापस्येहत्याग्निना नोपमा घटते, ते च नारका महानगरदाहाधिकेन तापेन दह्यमाना।

४. (क) चूर्णि, पृ० १३६ : विधूमो नामाग्निरेव, विधूमग्रहणाद् निरिन्धनोऽग्निः स्वयं प्रज्वलितः सेन्धनस्य ह्यग्नेरवश्यमेव धूमो भवति।
(ख) चूर्णि, पृ० १३७ : वैक्रियकालभवा अग्नयः अघट्टिता पातालस्था अप्यनवस्था।

५. चूर्णि, पृ० १२८ : अरहस्सरा णाम अरहतस्वराः अनुबद्धा सरा इत्यर्थः।

६. वृत्ति, पत्र १२९ : अरहस्वरा प्रकटस्वरा महाशब्दाः।

१६. क्रन्दन करते हैं (थणंति)

छोटा श्वास और कुछ-कुछ शब्द हो उसे लाट देश में निस्तनि-स्तनित कहा जाता है—ऐसा चूर्णिकार ने उल्लेख किया है।[1]

१७. चिरकाल तक (चिरट्ठिईया)

नरक में जघन्य आयु दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरोपम की होती है, इसलिए वहां चिरकाल तक रहना होता है।[2]

श्लोक ८ :

१८. अति दुर्गम (अभिदुग्गा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'गंभीर तट वाली' नदी किया है। कुछ इसे परमाधार्मिक देवों द्वारा गहरी की हुई नदी मानते हैं और कुछ इसे स्वाभाविक रूप से गहरी नदी मानते हैं।[3]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ दुःख उत्पन्न करने वाली नदी किया है।[4]

१९. वैतरणी नदी (वेयरणी)

देखें—३।७६ का टिप्पण।

२०. भाले से (सत्तिसु)

यहां तृतीया विभक्ति के अर्थ में सप्तमी विभक्ति है।[5] शक्ति का अर्थ है—भाला।[6]

श्लोक ९ :

२१. स्मृति-शून्य (सइविप्पहूणा)

चूर्णिकार का कथन है कि नैरयिकों की स्मृति सब स्रोतों में गरम पानी डालने के कारण पहले ही नष्ट हो जाती है और जब वे गले से बींधे जाते हैं तब उनकी स्मृति और अधिक नष्ट हो जाती है।[7]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—'कर्त्तव्य के विवेक से शून्य' किया है।[8]

२२. गर्दन को (कोलेहिं)

'कोल' देशी शब्द है। इसका अर्थ है—गला।[9] चूर्णिकार ने भी इसका अर्थ 'गला' किया है। उन्होंने समझाने के लिए

---

१. चूर्णि, पृ० १२८ : स्तनितं नामं अप्रततश्वासमीषत्कूजितं यद् लाडानां निस्तनिस्तनितम्।

२. (क) चूर्णि, पृ० १२८ : चिरं तेषु चिट्ठंतीति चिरट्ठितीया, जहण्णेणं दस वाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीसं सागरोवमाइं।
(ख) वृत्ति, पत्र १२९।

३. चूर्णि, पृ० १२८ : अभिमुखं भृशं वा दुर्गा अभिदुर्गा गम्भीरतटा परमाधार्मिककृता, केचिद् ब्रुवते—स्वाभाविकैवेति।

४. वृत्ति, पत्र १२९ : आभिमुख्येन दुर्गा अभिदुर्गा—दुःखोत्पादिका।

५. वृत्ति, पत्र १२९ : शक्तिभिश्च············तृतीयार्थे सप्तमी।

६. चूर्णि, पृ० १२८ : शक्तिभिः कुन्तैश्च।

७. चूर्णि, पृ० १२८ : तेसिं तेण चेव पाणिएण कलकलकलभूतेण सव्वसोत्ताणुपवेसणा स्मृतिः पूर्वमेव नष्टा, पुनः कोलैर्विद्धानां भृशतरं नश्यति।

८. वृत्ति, पत्र १२९ : स्मृत्या विप्रहीणा अपगतकर्तव्यविवेकाः।

९. देशीनाममाला २।४५ :·········कोलो गीवा कोप्पो·········।
कोलो ग्रीवा।

इसकी तुलना 'विल' से की है।[1]

वृत्तिकार ने 'कील' शब्द मानकर उसका अर्थ 'कंठ' किया है।[2] संभव है यह भी देशी शब्द हो। 'कील' एक प्रकार का अस्त्र भी होता है।[3]

२३. नीचे भूमि पर गिरा देते हैं (अहे करेंति)

नीचे भूमि पर गिरा देते हैं।[4] चूर्णिकार ने—'जल के नीचे या औंधे मुंह कर देते हैं'—यह अर्थ किया है।[5]

श्लोक १० :

२४. तीर की (कलंबुया)

संस्कृत शब्दकोष में 'कलम्ब' शब्द का अर्थ—नदी का तीर है।[6]

२५. तपी हुई (मुम्मुरे)

देखें—दसवेआलियं ४। सूत्र २० का टिप्पण।

श्लोक ११ :

२६. असूर्य (असूरियं)

'असूर्य' नाम का नरकावास। ऐसा भी माना जाता है कि सभी नरकावास सूर्य से शून्य होते हैं, अतः उन सबको 'असूर्य' कहा जाता है।[7]

२७. वहां घोर अंधकार है (अंधं तमं)

जैसे जन्मांध व्यक्ति के लिए रात और दिन—दोनों अंधकारपूर्ण होते हैं, वैसे ही उस नरक में नैरयिकों के लिए सदा अंधकार ही रहता है।[8]

२८. निरन्तर (समाहिओ)

इसका अर्थ है—एकीभूत, निरंतर।[9] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—व्यवस्थापित किया है।[10]

२९. आग (अगणी)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—काली आभा वाला अग्निकाय किया है। वह अचेतन होता है।[11]

---

१. चूर्णि, पृ० १२८ : कोलं नाम गलओ। उक्तं हि—कोलेनानुगतं विलम्। भुजङ्गवद्।

२. वृत्ति, पत्र १२९ : कीलेषु कण्ठेषु।

३. पाइयसद्दमहण्णवो।

४. वृत्ति, पत्र १२९ : अधोभूमौ कुर्वन्तीति।

५. चूर्णि, पृ० १२८ : अधे हेट्ठतो जलस्स अधोमुखे वा।

६. आप्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

७. (क) चूर्णि, पृ० १२९ : यत्र सूरो नास्ति, अथवा सर्व एव नरकाः असूरिकाः।
(ख) वृत्ति, पत्र १३० : न विद्यते सूर्यो यस्मिन् सः असूर्यो—नरको बहलान्धकारः कुम्भिकाकृतिः सर्व एव वा नरकावासोऽसूर्य इति व्यपदिश्यते।

८. चूर्णि, पृ० १२९ : यथा जात्यन्धस्य अहनि रात्रौ च सर्वकालमेव तम एवं तत्रापि स तु अगाधगुहासदृशः।

९. चूर्णि, पृ० १२९ : समाहितो सम्यग् आहितः समाहितः एकीभूतः निरन्तर इत्यर्थः।

१०. वृत्ति, पत्र १३० : समाहितः सम्यगाहितो व्यवस्थापितः।

११. चूर्णि, पृ० १२९ : तत्थ कालोभासी अचेयणो अगणिक्कायो।

श्लोक १० :

३०. प्रज्ञाशून्य नैरयिक (लुत्तपण्णो)

प्रज्ञाशून्य नैरयिक नहीं जान पाता कि उस दुर्गम स्थान से निकलने का मार्ग कौनसा है। वेदना की अधिकता के कारण उसकी सारी प्रज्ञा नष्ट हो जाती है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—उस समय अवधिज्ञान का विवेक लुप्त हो जाता है।[2]

३१. नहीं जानता हुआ (अविजाणओ)

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं[3]—

१. उस गुहा में प्रविष्ट नैरयिक नहीं जानता कि द्वार कहां है।

२. वह जानता है कि यहां मेरा उष्णता से परित्राण होगा।

३. मनुष्य-लोक में वह अज्ञानी था इसलिए उसने ऐसा कर्म किया।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ यह किया है—नैरयिक वेदना से अत्यन्त अभिभूत हो जाता है। अतः उसे अपने पूर्वकृत दुश्चरित याद नहीं रहते।[4]

३२. तापमय (घम्मठाणं)

तापमय स्थान, उष्णस्थान।[5] उष्ण वेदना वाले सारे नरक घर्मस्थान ही होते हैं। नरकपाल विशेष तापमय स्थानों की विकुर्वणा करते हैं। उन स्थानों में प्रवेश और निर्गम—दोनों दुःखद होते हैं।[6]

देखें—टिप्पण ५०।

३३. कर्म के द्वारा (गाढ)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[7]—

१. ऐसे कर्म जिनसे छुटकारा पाना बहुत कठिन होता है, दुर्मोक्षणीय कर्म।

२. निरन्तर।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'अत्यर्थ' किया है।[8]

३४. अत्यन्त दुःखमय है (अइदुक्खधम्मयं)

वह स्थान ऐसा है जहां एक निमेष भर के लिए भी दुःख से विश्राम नहीं मिलता।[9] कहा भी है—

अच्छिणिमीलणमेत्तं णत्थि सुहं दुक्खमेव पडिबद्धं।
णिरए णेरइयाणं अहोणिसं पच्चमाणाणं॥

---

१. चूर्णि, पृ० १२६ : लुप्ता प्रज्ञा यस्य स भवति लुत्तपण्णो न जानाति कुतो निर्गन्तव्यम् ? इति वेदनाभिर्वाऽस्य प्रज्ञा सर्वा हृता।

२. वृत्ति, पत्र १३० : लुप्तप्रज्ञः अपगतावधिविवेकः।

३. चूर्णि, पृ० १२६ : अविजाणतो णाम नासौ तस्यां विजानाति 'कुतो द्वारम् ? इति। अथवा ऽसौ जानाति अध (? इध) मे उसिण-परित्राणं भविष्यति इह चासौ अविज्ञायक आसीद् यस्तद्विधानि कर्माण्यकरोत्।

४. वृत्ति, पत्र १३० अतिवृतः अतिगतो वेदनाभिभूतत्वात् स्वकृतं दुश्चिरितमजानन्।

५. वृत्ति, पत्र १३० : घर्मस्थानम् उष्णस्थानं तापस्थानमित्यर्थः।

६. चूर्णि, पृ० १२६ : घर्मणः स्थानं घर्मस्थानम्, सर्वं एव हि उण्हवेदना नरकाः घर्मस्थानानि, विशेषतस्तु विकुर्वितानि स्थानानि दुःखनिष्क्रमणप्रवेशानि।

७. चूर्णि पृ० १२६ : गाढं उण्हं दुक्खोवणितं गाढैर्वा दुर्मोक्षणीयैः कर्मभिः।.........अथवा गाढमिति निरन्तरमित्यर्थः।

८. वृत्ति, पत्र १३० : गाढं ति अत्यर्थम्।

९. वृत्ति, पत्र १३० : अतिदुःखरूपो धर्मः—स्वभावो यस्मिन्निति, इदमुक्तं भवति—अक्षिनिमेषमात्रमपि कालं न तत्र दुःखस्य विश्राम इति।

नरक में नैरयिकों को निरन्तर दुःख में पकना पड़ता है। निमेषभर के लिए भी उन्हें सुख की अनुभूति नहीं होती। वे निरन्तर दुःख ही भोगते रहते हैं।[1]

चूर्णिकार ने भी 'धर्म' का अर्थ स्वभाव किया है। वे नरक स्वभाव से ही प्रतप्त होते हैं।[2]

श्लोक १३ :

३५. क्रूरकर्मा नरकपाल............तपाते हैं (कूरकम्मा भितवेंति बालं)

चूर्णिकार ने इस शब्द को नैरयिक और नरकपाल— दोनों का विशेषण माना है। पहले जिन्होंने क्रूरकर्म किए हैं वे नैरयिक अथवा वे नरकपाल जो सदा क्रूरकर्म करते रहते हैं, नरक की भीषणतम अग्नि से तप्त नैरयिकों को और अधिक तपाते हैं। वे मंद-बुद्धि नरकपाल नरकप्रायोग्य कर्मों का उपचय करते हैं।[3]

वृत्तिकार ने इस शब्द को नरकपाल से ही संबद्ध माना है।[4]

३६. जैसे अग्नि के समीप......... जीवित मछलियां (मच्छा व जीवंतुवजोइपत्ता)

मछलियां शीत-योनिक जीव हैं। वे नहीं जानतीं कि ताप क्या होता है? वे ताप सहन नहीं कर सकतीं। गर्म हवा से भी वे तप उठतीं हैं। अग्नि के समीप तो उन्हें अत्यन्त दुःख होता है। वे तड़फ-तड़फ कर मर जाती हैं। इसीलिए यहां नैरयिकों की तुलना मछलियों से की गई है।[5]

श्लोक १४ :

३७. संतक्षण (संतच्छणं)

इस नाम का एक नरकावास है, जहां नैरयिकों को खदिर काष्ठ की भांति छीला जाता है।[6] इस छीलने के कारण ही इसका नाम 'संतक्षण' पड़ा है।

३८. (ते णारगा............असाहुकम्मा)

वृत्तिकार ने नारक शब्द का अर्थ नरकपाल किया है और 'असाहुकम्मा' को उसका विशेषण माना है।[7] हमने 'नारक' शब्द से नैरयिक अर्थ ग्रहण किया है। 'असाहुकम्मा' उसका विशेषण है।

---

१. वृत्ति, पत्र १३०।

२. चूर्णि, पृ० १२६ : धर्मः स्वभाव इत्यर्थः, स्वभावप्रतप्तेष्वेव तेषु।

३. चूर्णि, पृ० १२६ : क्रूराणि कर्माणि यैः पूर्वं कृतानि ते क्रूरकर्माणः नारकाः अथवा ते क्रूरकर्माणोऽपि णयरपाला जे णरयग्गितत्ते वि पुनरपि अभितापयन्ति, यत एव हि मंदा नरकपाला मन्दबुद्धय इत्यर्थः नरकप्रायोग्यान्येव कर्माण्युपचिन्वन्ति।

४. वृत्ति, पत्र १०३ : क्रूरकर्माणो नरकपालाः।

५. (क) चूर्णि, पृ० १२६ : जीवं नाम जीवन्त एव। ज्योतिषः समीपे उपजोति पत्ता समीपगताभितापवद् मत्स्यास्तप्यन्ते, किमंग पुण तत्ते त एव छूढा अग्गीकवल्ले वा, सीतयोनित्वाद्धि मत्स्यानां उष्णदुःखानभिज्ञत्वाच्च अतीवाग्नौ दुःखमुत्पद्यते इत्यतो मत्स्यग्रहणम्।

(ख) वृत्ति, पत्र १३० : यथा जीवन्तो मत्स्या मीना उपज्योतिः अग्नेः समीपे प्राप्ताः परवशत्वादन्यत्र गन्तुमसमर्थास्तत्रैव तिष्ठन्ति, एवं नारका अपि, मत्स्यानां तापासहिष्णुत्वादग्नावरयन्तं दुःखमुत्पद्यत इत्यतस्तद्ग्रहणमिति।

६. चूर्णि, पृ० १३० : समस्तं तच्छणं संतच्छणं णाम जत्थ विउव्वियाणि वासि-परसु-पट्टिसाणि, तंबलिओ जहा खइरकट्ठं तच्छेति एवं ते वि वासीहिं तच्छिज्जंति अण्णे कुहाडएहिं कट्ठमिव तच्छिज्जंति।

७. वृत्ति, पत्र १३० : नारका नरकपाला यत्र नरकावासे स्वभवनादागताः असाधुकर्माणः क्रूरकर्माणो निरनुकम्पाः।

३९. हाथों और पैरों को (हत्थेहि पाएहि)

वे नरपाल उन नैरयिक जीवों के हाथ-पैर रस्सी से या लोह की सांकलों से बांध देते हैं, जिससे कि वे कहीं भागकर न जा सकें, न उठ सकें और न चल सकें।[1]

श्लोक १५ :

४०. उलट-पुलट करते हुए (परिवत्तयंता)

जो नैरयिक उस लोहे की कड़ाही में औंधे पड़े हैं, उनको सीधा कर तथा जो सीधे पड़े हैं उन्हें औंधे कर, वे नरकपाल उन्हें पकाते हैं।[2]

श्लोक १६ :

४१. तीव्र वेदना से ········नहीं मरते (ण मिज्जई तिव्वभिवेयणाए)

वृत्तिकार ने 'मिज्जई' के दो संस्कृतरूप दिए हैं—'मीयते' और 'म्रियन्ते'। इनके आधार पर इस चरण के दो अर्थ हो जाते हैं—

१. आग में डाली हुई मछली की वेदना से भी नैरयिकों द्वारा अनुभूत तीव्र वेदना को उपमित नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह उससे तीव्रतम है।

२. तीव्र वेदना को भोगते हुए भी, कर्मों का भोग शेष रहने के कारण वे नैरयिक नहीं मरते।[3]

चूर्णिकार ने 'तिव्वऽतिवेयणाए' पाठ माना है और उन्होंने बताया है कि वास्तव में 'अतितिव्ववेदणाए—ऐसा पाठ चाहिए था। किन्तु छन्द-रचना की दृष्टि से 'तिव्वऽतिवेयणाए' पाठ उपलब्ध है। उन्होंने 'मिज्जई' का संस्कृत रूप म्रियन्ते किया है।[4]

श्लोक १७ :

४२. शीत से व्याप्त (लोलणसंपगाढे)

चूर्णिकार ने संप्रगाढ़ का अर्थ निरन्तर किया है। जहां शीत के दुःख से निरन्तर उछलकूद करने वाले नैरयिक होते हैं, उस नरकावास के लिए 'लोलनसंप्रगाढ' का प्रयोग किया गया है। चूर्णि में 'लोलुअसंपगाढे' पाठ है।[5] 'लोलुअ'—यह एक नरकावास का नाम है।[6]

वृत्तिकार ने संप्रगाढ़ का अर्थ—व्याप्त, भृत किया है।[7]

४३. वे निरन्तर··········जलाते हैं (अरहियाभितावे तह वी तवेंति)

'अरहित' का अर्थ है निरन्तर और अभिताप का अर्थ है महादाह। वे नैरयिक निरंतर महादाह में तपते रहते हैं फिर भी

---

१. चूर्णि, पृ० १३० : रज्जूहि य णियलेहि य अंदुआहि य किडिकिडिगाबधेणं बंधिऊणं मा पलाइस्संति उद्ठेस्सेंति वा चलेस्सेंति वा।

२. (क) चूर्णि, पृ० १३० : अयकवल्लेसु तम्मि चेव णियए रुधिरे उव्वत्तेमाणा परियत्तेमाणा।
   (ख) वृत्ति, पत्र १३१ : कथं पचन्तीत्याह—परिवर्तयन्तः उत्तानानवाङ्मुखान् वा कुर्वन्तः।

३. वृत्ति, पत्र १३१ : तथा तत्तीव्राभिवेदनया नापरमग्निप्रक्षिप्तमत्स्यादिकमप्यस्ति यन्मीयते—उपमीयते अनन्यसदृशीं तीव्रां वेदनां वाचामगोचरामनुभवन्तीत्यर्थः, यदि वा—तीव्राभिवेदनयाऽप्यननुभूतस्वकृतकर्मत्वान्न म्रियन्त इति।

४. चूर्णि, पृ० १३० : न वा म्रियन्ते, तिव्वा अतीव वेदणा, बन्धानुलोम्यादेवं गतम्, इतरधा तु अतितिव्ववेदणाइ त्ति पठ्येत।

५. चूर्णि पृ० १३० : भृशं गाढं प्रगाढं निरन्तरमित्यर्थः··········अथवा सामाविगअगणिणा तत्तं सीतवेदणिज्जा वि लोलुगा तेसु वि णेरइया सीएण हिमुक्कडअहुणपक्खित्ताइं व भुजंगा लल्लक्कारेण सीतेणं लोलाविज्जंति।

६. ठाणं, ६।७०,७१।

७. वृत्ति, पत्र १३१ : सम्यक् प्रगाढो—व्याप्तो भृतः।

लिए उपदेश नहीं करते। जैसे वे संपन्न को उपदेश देते हैं, वैसे ही विपन्न को उपदेश देते हैं और जैसे विपन्न को उपदेश देते हैं वैसे ही संपन्न को उपदेश देते हैं।[1] यह धर्म का सम्यक् प्रतिपादन है।

श्लोक ५ :

२२. (से सव्वदंसी अभिभूय णाणी)

इसका तात्पर्यार्थ है कि भगवान् महावीर आवरण का निरसन कर सर्वदर्शी और सर्वज्ञ बने थे।

दर्शन चार हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदशन। जो तीनों दर्शनों को अभिभूत कर, अतिक्रान्त कर केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है वह सर्वदर्शी या केवलदर्शी हो जाता है।

ज्ञान पांच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। जो मति आदि चार ज्ञानों को अभिभूत कर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह अभिभूतज्ञानी कहलाता है। एक शब्द में वह निरावरणज्ञानी है।

आचारांग में 'अभिभूय' के साथ 'दिट्ठं'[2] और 'अदक्खू'[3] का प्रयोग हुआ है। उससे भी 'आवरण को अभिभूत कर' यह अर्थ फलित होता है। आचारांग ९।१।१० में 'अरइं रइं अभिभूय रीयई'—का प्रयोग मिलता है। भगवान् महावीर अरति और रति को अभिभूत कर विहार करते थे। अरति और रति का अभिभव करने वाला ही ज्ञानी होता है।

जैसे सूर्य समस्त प्रकाशवान् पदार्थों को अभिभूत कर जगत् में अकेला प्रकाशित होता है, वैसे ही केवलज्ञानी और केवलदर्शी लौकिक अज्ञानों को अभिभूत कर केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा प्रकाशित होता है।[4]

२३. विशुद्ध-भोजी (णिरामगंधे)

इसका अर्थ है—विशुद्ध-भोजी। जो आहार संबंधी सभी दोषों का वर्जन कर आहार करता है, यह विशुद्ध-भोजी होता है। आहार संबंधी दोष दो प्रकार के होते हैं—अविशोधिकोटिक और विशोधिकोटिक। जो मूल दोष होते हैं वे अविशोधिकोटिक होते हैं और जो उत्तर दोष होते हैं वे विशोधिकोटिक होते हैं।[5] चूर्णिकार ने यह सूचना देने के लिए शब्द को 'निराम' और निर्गन्ध—इन दो भागों में बांटा है।[6] आचारांग २।१०८ में 'सव्वामगंधं परिण्णाय, णिरामगंधो परिव्वए' पाठ है। इसका अर्थ है—श्रमण सब प्रकार के अशुद्ध भोजन का परित्याग कर शुद्धभोजी रहता हुआ परिव्रजन करे।[7]

२४. धृतिमान् (धिइमं)

भगवान् की संयम में धृति थी, इसलिए उन्हें धृतिमान् कहा गया है।[8] आचारांग में उनकी धृति का विशद वर्णन मिलता है।[9]

---

१. आयारो २।१७४ : जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥

२. आयारो, १।६८ : वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं।

३. आयारो, ५।१११ : अभिभूय अदक्खू।

४. चूर्णि, पृ० १४३-१४४ : सव्वं पासति त्ति सव्वदंसी, केवलदर्शनीत्युक्तं भवति, चत्वारि ज्ञानानि त्रीणी दर्शनानि, भास्कर इव सर्व-तेजांस्यभिभूय केवलदर्शनेन जगत् प्रकाशयति। ज्ञानीति एवं केवलज्ञानेनापि अभिभूय इति वर्तते, उभाभ्या-मपि कृत्स्नं लोकाऽलोकमवभासते। अथवा लौकिकानि अज्ञानान्यभिभूय केवलज्ञान-दर्शनाभ्यां खद्योत-कानिवाऽऽदित्यः एकः प्रकाशते।

५. वृत्ति, पत्र १४४ : निर्गतः—अपगत आमः—अविशोधिकोट्याख्यः तथा गन्धो विशोधिकोटिरूपो यस्मात् स भवति निरामगन्धः, मूलोत्तरगुणभेदभिन्नां चारित्रक्रियां कृतवानित्यर्थः।

६. चूर्णि, पृ० १४४ : णिरामगंधे—निरामोऽसौ निर्गन्धश्च, आम इति उद्गमकोटिः।

७. आयारो, पृ० ९३।

८. चूर्णि, पृ० १४४ : धृतिरस्यास्तीति धृतिमान् संयमे धृतिः।

९. आयारो, नौवां अध्ययन; आयारचूला, सोलहवां अध्ययन।

वृत्तिकार के अनुसार वे नरकपाल कहते हैं—अरे, तू प्रसन्नता से प्राणियों के मांस को काट-काट कर खाता था, उनका रस पीता था, मद्य पीता था, परस्त्री-गमन करता था। अब तू उन पाप-कर्मों का विपाक भोगते हुए क्यों रो रहा है? इस प्रकार वे उसे पूर्वाचरित सारे पाप-कर्मों की याद दिलाते हैं।[1]

४६. प्राणों (शरीर के अवयवों और इन्द्रियों का (पाणेहि)

नरकपाल नारकीय जीवों के शरीर और इन्द्रिय-बल प्राण का वियोजन करते हैं।[2]

श्लोक २० :

४७. मल से भरे हुए (दुरूवस्स)

'दुरूव' देशी शब्द है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ—उच्चार और प्रस्रवण का कर्दम किया है।[3] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—विष्ठा, रक्त, मांस आदि का कर्दम किया है।[4]

४८. नरकावास में जा पड़ते हैं (णरगे पडंति)

नरकपालों द्वारा पीटे जाते हुए वे नैरयिक इधर-उधर दौड़ते हुए छुपने के लिए स्थान ढूंढ़ते हैं। किन्तु वे ऐसे स्थान में चले जाते हैं जहां उनकी वेदना और भयंकर हो जाती है।

जैसे चर-पुरुष चोर का पीछा करते हैं वैसे ही नरकपाल उनका पीछा करते हैं। जैसे चोर दौड़ते-दौड़ते किसी घने जंगल में चले जाते हैं और वहां उन्हें सिंह, व्याघ्र, अजगर आदि हिंस्र पशु खा जाते हैं वैसे ही वे नैरयिक पहले से भी अधिक भयंकर पीड़ा वाले स्थान में जा पड़ते हैं।[5]

४६. काटे जाते हैं (तुद्दंति)

नरकपाल विष्ठा में होने वाले कृमियों के आकार वाले कृमियों की विकुर्वणा करते हैं। वे बड़े-बड़े कृमी उन नैरयिकों को काटते हैं। नैरयिक उनको हटाने का प्रयत्न करते हैं, पर वे बड़े कष्ट से दूर होते हैं। वे नैरयिक परिश्रान्त हो जाते हैं। कृमी उनको काटना नहीं छोड़ते।[6]

आगमकार का कथन है कि छठी, सातवीं नरक में नैरयिक बहुत बड़े रक्त कुंथुओं की विकुर्वणा कर परस्पर एक दूसरे के शरीर को काटते हैं, खाते हैं।[7]

---

१. वृत्ति पत्र १३२ : तदा हृष्टस्त्वं खादसि समुत्कृत्योत्कृत्य प्राणिनां मांसं तथा पिबपि तद्रसं मद्यं च गच्छसि परदारान् साम्प्रतं तद्विपाकापादितेन कर्मणाऽभितप्यमानः किमेवं रारटीषीत्येवं सर्वैः पुराकृतैः दण्डैः दुःखविशेषैः स्मारयन्तस्तादृशभूतमेव दुःखविशेषमुत्पादयन्तो नरकपालाः पीडयन्तीति।

२. चूर्णि, पृ० १३१ : प्राणाः शरीरेन्द्रिय-बलप्राणाः,............विश्लेषयन्तीत्यर्थः।

३. चूर्णि पृ० १३१ : दुरुयं णाम उच्चार-पासवणकद्दमो।

४. वृत्ति, पत्र १३२ : दुष्टं रूपं यस्य तद्दूरूपं— विष्ठासृग्मांसादिकलमलम्।

५. चूर्णि, पृ० १२१ : त एवं बालाः हन्यमाना इतश्चेतश्च पलायमाणा णिलुक्कणपधं मग्गंता नरकमेवान्यं भीमतरवेदनं प्रविशन्ति, जध इह चोरेहिं चोरा चारिज्जंता कडिल्लमनुप्रविशन्ति, तत्रापि सिंह-व्याघ्रा-ऽजगरादिभिः खाद्यन्ते, एवं ते बाला पलायमाणा नरकपालभया तं नरकं पतंति।

६. (क) चूर्णि, पृ० १३१ : तुद्यन्त इति तुद्यमानाः खाद्यमानाः कृमिभिः कम्मोवसगा णाम कर्मयोग्या कर्मवशगा वा, तत्थ दुरूवे विण्ठा-कृमिसंस्थाना विउव्विया किमिगा तेहिं खज्जमाणा चिट्ठंति, गुणमाणा य तत्थ किच्छाहिं गच्छंति, परिस्संता य तत्थेव लोलमाणा किमिगेहिं खज्जंति।

(ख) वृत्ति, पत्र १३२।

७. जीवाजीवाभिगम ३।१११ : छट्ठसत्तमासु णं पुढवीसु नेरइया बहू महंताइं लोहियकुंथुरूवाइं वइरामयतुंडाइं गोमयकीडसमाणाइं विउव्वंति, विउव्वित्ता अण्णमण्णस्स कायं समतुरंगेमाणा-समतुरंगेमाणाखायमाणा-खायमाणा सयपोरागकिमिया विव चालेमाणा-चालेमाणा अंतो-अंतो अणुप्पविसमाणा-अणुप्पविसमाणा वेदणं उदीरेंति—उज्जलं जाव दुरहियासं।

श्लोक २१ :

५० तापमय (घम्मठाणं)

नरक के कुछ स्थान उष्णता प्रधान होते हैं। वहां की उष्णता कुंभीपाक से भी अनंतगुण अधिक होती है। वहां की वायु लुहार की धमनी से निकलने वाली वायु से भी अनन्तगुण अधिक उष्ण होती है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार वहां वायु आदि पदार्थ प्रलयकाल की अग्नि से भी अधिक गरम होते हैं।[2]

देखें—टिप्पण ३२।

श्लोक २३ :

५१. ताड़पत्रों के संपुट की भांति (तलसंपुड व्व)

इसका अर्थ है—ताड़पत्रों के संपुट की भांति हाथों और पैरों को संपुटित कर देना।

चूर्णिकार के अनुसार तालसंपुटित का अर्थ है—हाथों को इस प्रकार बांधना कि दोनों करतल मिल जाएं और पैरों को भी इस प्रकार से बांधना कि दोनों पगतल मिल जाएं।[3]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ सर्वथा भिन्न प्रकार से किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ है—ताड़वृक्ष के सूखे पत्तों का समूह।[4]

श्लोक २४ :

५२. यदि तुमने सुना हो (जइ ते सुया)

सुधर्मा जम्बू से कहते हैं—यदि तुमने सुना हो।[5] चूर्णिकार का कथन है कि लोकश्रुति भी ऐसा ही कहती है कि नरक में कुंभियां हैं।[6]

५३. पुरुष से बड़ी (अहियपोरुसीया)

इसका अर्थ है—पुरुष से बड़ी, पुरुष की ऊंचाई से ऊंची। इसमें डाला हुआ नैरयिक बाहर देख नहीं सकता। वह इतनी बड़ी होती है कि उसके किनारों को पकड़कर नैरयिक बाहर नहीं आ सकता।[7]

५४. कुंभी (कुंभी)

कुंभ एक प्रकार का माप है। तीन प्रकार के मापों के लिए इसका प्रयोग होता है—२४० सेर, ३२० सेर अथवा ४०० सेर। इस प्रमाण वाले वर्तन को कुंभी कहा जाता है।[8]

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—१. जो कुंभ से बड़ी होती है वह कुंभी। इसका दूसरा अर्थ है—उष्ट्रिका—ऊंट के आकार का बड़ा वरतन।[9]

---

१. चूर्णि, पृ० १३२ : घम्मठाणं कुंभीपागअणंतगुणाधियं। जो वि तत्थ वातो सो वि लोहारधमणी व अणंतगुणउसिणाधिको।

२. वृत्ति, पत्र १३२ : घर्मप्रधानं उष्णप्रधानं स्थितिः स्थानं नारकाणां भवति, तत्र हि प्रलयातिरिक्ताग्निता वातादीना-मत्यन्तोष्णरूपत्वात्।

३. चूर्णि, पृ० १३२ : तलसंपुलिता णाम अयतबंधता हस्तयोः कृता, यथैषां करतलं चैकत्र मिलति एवं पादयोरपि।

४. वृत्ति, पत्र १३३ : तालसम्पुटा इव पवनेरितशुष्कतालपत्रसंचया इव।

५. वृत्ति, पत्र १३३ : पुनरपि सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य भगवद्वचनमाविष्करोति—यदि ते—त्वया, श्रुता—आकर्णिता।

६. चूर्णि, पृ० १३३ : यदि त्वया कदाचित् लोकेऽपि ह्येषा श्रुतिः प्रतीता तत्र कुंभीओ विज्जंति।

७. चूर्णि, पृ० १३३ : महंति-महंतीओ पुरुषप्रमाणातीता अधियपोरुसीया, यथाऽस्यां प्रक्षिप्तो नारकः पश्यतीति, ण वा सक्केइ कण्णेसु अवलंबिउं उत्तरित्तए।

८. पाइयसद्दमहण्णवो।

९. चूर्णि, पृ० १३३ : कुंभी महंता कुम्भप्रमाणाधिकप्रमाणा कुम्भी भवति ………… अथवा कुंभी उष्ट्रिगा।

श्लोक २६ :

५५. अधम भवों में (भवाहमे)

हमने इसको सप्तमी विभक्ति मानकर इसका अर्थ 'अधम भवों में'—किया है।

चूर्णिकार ने भी इसे सप्तम्यंत पद माना है किन्तु इसका अर्थ 'अधम में' किया है।[1]

वृत्तिकार ने इसे द्वितीया विभक्ति का बहुवचन मानकर मच्छीमार तथा व्याध आदि के भवों को अधम माना है।[2]

५६. स्वयं से (अप्पेण)

वृत्तिकार ने इसका संस्कृतरूप 'अल्पेन' देकर इसका अर्थ—परोपघात करने से उत्पन्न थोड़े से सुख से—किया है।[3] हमने इसका संस्कृतरूप 'आत्मना' किया है। इसका अर्थ है—स्वयं से।

५७. ठग कर (वंचइत्ता)

कूट तोल आदि से अपने को ठग कर अथवा परोपघात के सुख से अपने को ठग कर।[4]

५८. जैसा कर्म········ ·· उसका भार (दुःख परिमाण) होता है (जहाकडे कम्म तहा से भारे)

क्रूर कर्म करने वाले प्राणी घोर नरक में दीर्घकाल तक पड़े रहते है। जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही उसका भार होता है।

चूर्णिकार ने यहां एक शंका उपस्थित की है कि नरक में कर्मानुरूप वेदना, विपत्ति होती है। वहां कैसा भार? भार कहने का तात्पर्य क्या है? इसके समाधान में वे कहते हैं—भार के कथन की भावना यह है कि जिस अध्यवसाय से प्राणी कर्मों का उपचय करता है वैसा ही उसकी वेदना का भार होता है। कर्मों की तीन स्थितियां है—उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य। स्थिति के अनुरूप वेदना होती है। प्राणी संसार में जैसे कर्म करता है वैसी ही वेदना नरक में भोगनी पड़ती है। वह वेदना तीन प्रकार से उदीर्ण होती है—स्वतः, परतः और उभयतः। उभयतः उदीर्ण होने वाली वेदना के ये कुछ प्रकार है—

मांस खाने वालों को उन्हीं के शरीर का अग्निवर्ण मांस खिलाया जाता है।

मांसरस का पान करने वालों को उन्हीं का मांसरस अथवा तपा हुआ तांवा या शीशा पिलाया जाता है।

शिकारी तथा कसाई को उसी प्रकार छेदा जाता है, मारा जाता है।

झूठ बोलने वाले की जीभ निकाल दी जाती है या टुकड़े-टुकड़े कर दी जाती है।

चोरों के अंगोपांग काट डाले जाते है अथवा चोरों को एकत्रित कर, ग्रामवध की भांति उन्हें मारा जाता है।

परस्त्रीगमन करने वालों के वृषण छेदे जाते है, तथा अग्नि में तपे हुए लोहस्तंभों से आलिंगन करने के लिए बाध्य किया जाता है।

महापरिग्रह और महाआरंभ करने मे जिन-जिन प्रकारों से प्राणियों को दुःखित किया है, उनका निरोध किया है, यातना दी है, उन्हें सेवा में व्यापृत किया है, उन्हीं के अनुसार वेदना प्राप्त होती है।

जो क्रोधी स्वभाव के थे, उनके लिए ऐसी क्रियाएं की जाती हैं जिससे उनमें क्रोध उत्पन्न हो। जब वे रुष्ट हो जाते हैं तब नरकपाल कहता है—अब कुपित क्यों नहीं हो रहे हो? अब तुम क्रुद्ध होकर क्या कर सकोगे?

जो मानी थे, उनकी अवहेलना की जाती है।

---

१. चूर्णि, पृ० १३३ : भवाधमे भवानामधमः अतस्तस्मिन् भवाधमे।

२. वृत्ति, पत्र १३४ : भवानां मध्ये अधमा भवाधमाः मत्स्यबन्धलुब्धकादीनां भवास्तान्।

३. वृत्ति, पत्र १३४ : अल्पेन स्तोकेन परोपघातसुखेन।

४. चूर्णि, पृ० १३३ : वंचइत्ता कूडतुलादीहिं अधवा अप्पाण परोवघातसुहेण।

जो मायावी थे उन्हें ठगा जाता है, जैसे—गर्मी से संतप्त नैरयिकों को असिपत्र आदि पेड़ों की ठंडी छाया में ले जाया जाता है। वहां वृक्ष के पत्ते नीचे गिरते हैं और शरीर छिन्न-भिन्न हो जाता है। प्यास लगने पर वे नैरयिक पानी मांगते हैं तब उन्हें गरम सीसा और तांवा पिलाते हैं।

जो लोभी थे, उन्हें भी इसी प्रकार से पीड़ित किया जाता है।

इसी प्रकार अन्यान्य आश्रवद्वारों में भी यथायोग्य वेदना दी जाती है।

अतः श्लोक के इस चरण में उचित ही कहा गया है कि जैसा कर्म किया जाता है, वैसा ही उसका भार होता है।

वृत्तिकार भी इस वर्णन से सहमत हैं। उपरोक्त चरण में प्रयुक्त 'भार' शब्द वेदना का द्योतक है। वेदना कर्म से उत्पन्न होती है। अतः यथार्थ कर्म भार ही है।[1]

श्लोक २७ :

५६. पाप का (कलुसं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'कर्म'[2] और वृत्तिकार ने 'पाप' किया है।[3]

६०. अनिष्ट (कसिणे)

इसके संस्कृतरूप दो बनते हैं—कृष्ण और कृत्स्न। हमने प्रथमरूप मानकर इसका अर्थ अनिष्ट किया है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—'संपूर्ण' किया है।[4]

६१. अपवित्र स्थान में (कुणिमे)

जहां का सारा स्थान मांस, रुधिर, पीव आदि के कर्दम से भरा पड़ा है, जो वीभत्स है, हाहाकर से गूंज रहा है और जहां 'कष्ट मत दो'—ऐसे शब्दों से सारी दिशाएं वधिर हो रही हैं, ऐसे परम अधम नरकावास में।[5]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १३३ : यथा चैषां कृतानि कर्माणि तथैवैषां भारो वोढव्य इत्यर्थः, बिभर्त्ति ध्रियते वाऽसौ भारः। का तर्हि भावना ? —यादृशेनाध्यवसायेन कर्माण्युपचिनोति तथैवैषां वेदनाभारो भवति, उत्कृष्टस्थितिर्वा मध्यमा जघन्या वा, ठितिअणुरूवा चेव वेदना भवति, अथवा यादृशानीह कर्माण्युपचिनोति तथा तत्रापि वेदनोदीर्यते तेषां स्वयं वा परतो वा उभयतो वा। उभयकरणेण तद्यथा—मांसादाः स्वमांसान्येवाग्निवर्णानि भक्ष्यन्ते। रसकपायिनः पूय-रुधिरं कलकलीकृतं तउ-तंबादीणि य द्रवीकृतानि। व्याध-घात-सौकरिकादयस्तु तथैव छिद्यन्ते मार्यन्ते च। चारकपाला अष्टादशकर्मकारिणः कार्यन्ते च। आनृतिकानां जिह्वास्तक्ष्यन्ते तुद्यन्ते च। चौराणां अङ्गोपाङ्गान्यपह्रियन्ते पिण्डीकृत्य चैनान् ग्रामघातेष्विव वधयन्ति। पारदारिकाणां वृषणाश्छिद्यन्ते अग्निवर्णाश्च लोहमय्यः स्त्रियः अवगाहाविज्जंति। महापरिग्रहारम्भैश्च येन येन प्रकारेण जीवा दुःखापिता सन्निरुद्धा जातिता अभियुक्ताश्च तधा तधा वेयणाओ पविज्जंति। क्रोधनशीलानां तत् तत् क्रियते येन येन क्रोध-उत्पद्यते—ण एवं रुसिज्जति, एवं रुसिज्जति, इदानीं वा किं न कुप्यसे ? किं वा क्रुद्धः करिष्यसि ? माणिणो हीलिज्जंति। मायिणो असिपत्तमादीहिं शीतलच्छायासरिसेहिं य तउअतंबएहिं प्रवंचिज्जंति। लोभे जधा परिग्गहे। एवमन्येष्वपि आश्रवेष्वा-योज्यमिति। अतः साधूक्तं जधा कडे कम्मे तधा से भारे इति।

(ख) वृत्ति, पत्र १३४।

२. चूर्णि, पृ० १३४ : कलुषमिति कर्मैव।

३. वृत्ति, पत्र १३४ : कलुषं पापम्।

४. (क) चूर्णि, पृ० १३४ : कसिणे संपुण्णे।

(ख) वृत्ति, पत्र १३४ : कृत्स्ने संपूर्णे।

५. (क) चूर्णि, पृ० १३४ : कुणिमे त्ति न कश्चित् तत्र मेध्यो देशः, सव्वे चेव मेद-वसा-मंस-रुधिरपुव्वाणुलेवणतला।

(ख) वृत्ति, पत्र १३४ : कुणिमे त्ति मांसपेशीरुधिरपूयान्त्रफिप्फिसकश्मलाकुले सर्वस्मिन्नधमे बीभत्सदर्शने हाहारवाक्रन्देन कष्टं मा तावदित्यादिशब्दबधिरितदिगन्तराले परमाधमे नरकावासे।

श्लोक २८ :

६२. यथार्थरूप में (जहातहेणं)

सर्वज्ञ यथार्थ द्रष्टा होता है। वह जैसा है वैसा ही देखता है और वैसा ही उसका प्रतिपादन करता है। उसके कथन में न उपचार होता है और न अतिशयोक्ति।[1]

६३. अज्ञानी प्राणी (बाल)

वृत्तिकार ने यहां इस शब्द के चार अर्थ किए हैं[2] —

१. परमार्थ को न जानने वाला।

२. विषय सुख का आकांक्षी।

३. वर्तमान को ही देखने वाला।

५. कर्म के विपाक की उपेक्षा न करने वाला।

श्लोक २९ :

६४. पीठ की (पिट्ठउ)

यहां 'ऊकार' में ह्रस्वत्व छंदोदृष्टि से किया गया है।

६५. सुदृढ़ (थिरं)

चूर्णिकार ने इस शब्द का अर्थ—'चमड़ी को बीच में विना तोड़े'— किया है[3] और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—बलवत्—सुदृढ़ किया है।[4]

श्लोक ३० :

६६. उसके मुंह को............जलाते (थूलं वियासं मुहे आडहंति)

नरकपाल नैरयिकों के मुंह फाड़कर चार अंगुल से बड़ी लोहे की कीलों से उसे कील देते हैं ताकि वे मुंह को बंद न कर सकें, तथा न चिल्ला सकें। फिर भी वे चिल्लाकर कहते हैं—'अरे! हमारा मुंह जलाया जा रहा है।'[5]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है। नरकपाल नैरयिकों के मुंह को फाड़कर उसमें लोहे के तपे हुए बड़े गोले डालकर चारों ओर से जलाते हैं।[6]

६७. उस अज्ञानी को............कोडे मारते हैं (रहंसि जुत्तं ....तुदेण पट्ठे)

इन दो चरणों के अर्थ के विषय में चूर्णिकार और वृत्तिकार एकमत नहीं हैं। चूर्णिकार के अनुसार इनका अर्थ है—

वे नरकपाल वड़े-वड़े रथों की विकुर्वणा करते हैं और उन नैरयिकों को उन रथों में जोड़कर चलाते हैं। जब वे नैरयिक

---

१. (ख) वृत्ति, पत्र १३५ : याथातथ्येन यथा व्यवस्थितं तथैव कथयामि, नात्रोपचारोऽर्थवादो वा विद्यत इत्यर्थः।
(ख) चूर्णि, पृ० १३४ : यथेति येन सर्वज्ञो हि यथैवावस्थितो भावः तथैवैनं पश्यति भाषते च।

२. वृत्ति, पत्र १३५ : बालाः परमार्थमजानाना विषयसुखलिप्सवः साम्प्रतेक्षिणः कर्मविपाकमनपेक्षमाणा।

३. चूर्णि, पृ० १३४ : स्थिरो नाम अवोडयन्तः।

४. वृत्ति, पत्र १३५ : स्थिरं बलवत्।

५. चूर्णि, पृ० १३५ : लोहकीलएणं चतुरंगुलप्रमाणाधिकेणं थूलं मुहं विगसावेतूणं। थूलमिति महत्, मा संवुडेहिंति वा रडिहिंति व त्ति, आरसतोऽपि न तस्य परित्राणमस्ति, तथाप्यातुरत्वादारसंति। आडहंति त्ति वु (? ड) ज्झंति।

६. वृत्ति, पत्र १३५ : मुखे विकाशं कृत्वा स्थूलं बृहत्तप्तायोगोलादिकं प्रक्षिपन्त आ—समन्ताद्दहन्ति।

चलने में स्खलित होते हैं तब उन्हें आरों से बींधते हैं या पीठ पर कोड़े मारते हैं।

वृत्तिकार के अनुसार इनका अर्थ है—

नरकपाल नैरयिकों को एकान्त में ले जाते है और उनके द्वारा दी जाने वाली वेदना के अनुरूप उनके द्वारा किए गए कार्यों की स्मृति कराते हैं। वे कहते हैं—हम तुझे तांबा या शीशा इसीलिए पिला रहे है कि तू पूर्वजन्म में मद्यपायी था। हम तुझे तेरे शरीर का मांस इसीलिए खिलाते है कि तू पूर्वजन्म में मांस खाता था। इस प्रकार दुःखानुरूप अनुष्ठान का स्मरण दिलाते हुए उनकी कदर्थना करते हैं और निष्कारण ही उन पर रुष्ट होकर पीठ पर कोड़े मारते है।

चूर्णिकार ने 'सरयंति' के दो अर्थ किए हैं—चलना और स्मरण कराना। वृत्तिकार ने केवल एक ही अर्थ किया है—स्मरण दिलाना।

चूर्णिकार ने 'रहंसि' का अर्थ 'रथ में' और वृत्तिकार ने 'एकान्त' में किया है।[1]

श्लोक ३१ :

६८. अग्नि जैसी (तओवमं)

यह भूमि का विशेषण है। इसका संस्कृतरूप है 'तदुपमाम्'। वह भूमि केवल उष्ण ही नहीं है किन्तु अग्नि से भी अनन्त-गुण अधिक उष्ण है।[2]

बौद्ध साहित्य में नरकभूमि के विवरण में लिखा है—'तेषां अयोमयी भूमिर्ज्वलिता तेजसा युता'। इसकी व्याख्या देते हुए आचार्य नरेन्द्रदेव ने अभिधर्म-कोश (पृ० ३७३) के फुट नोट में जे० प्रिजिलुस्की को उद्धृत किया है। उनके अनुसार ज्वलित लोहे की भूमि तप्त होने पर एक ज्वाला बन जाती है।

६९. वे जलने पर (ते डज्झमाणा)·········

नरकपाल धधकते अंगारे जैसी उष्ण भूमि पर नैरयिकों को जाने-आने के लिए विवश करते हैं। उन पर अतिभार लादकर उस भूमि पर चलाते हैं। उस समय जलते हुए वे नैरयिक करुण स्वर में चिल्लाते हैं।[3]

७०. बाण से (उसु)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—प्रदीप्त मुख वाले बाण और चाबुक।[4] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—चाबुक आदि किया है।[5]

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ १३५ : सरयंति त्ति गच्छंति वाहेंतीत्यर्थः पापकर्माणि च स्मारयन्ति। त एव च बालास्तत्र युक्ता ये चैनां वाहयन्ति त्रिविध करणेनापि तेयस्सरूविणो रधे सगडे वा, गुरुगं विउव्वितं रधं अवधंता य तत्तारैरिव आरुब्भ विधंति आरुह्य विधंति। तुदन्तीति तुदा तुत्रकाः, गलिबलीवर्दवत् पृष्ठे।

(ख) वृत्ति, पत्र १३५, रहसि एकाकिनं युक्तम् उपपन्नं युक्तियुक्तं स्वकृतवेदनानुरूपं तत्कृतजन्मान्तरानुष्ठानं तं बालम् अज्ञं नारकं स्मारयन्ति, तद्यथा— तप्तत्रपुपानावसरे मद्यपस्त्वमासीस्तथा स्वमांसभक्षणावसरे पिशिताशी त्वमासीरित्येवं दुःखानुरूपमनुष्ठानं स्मारयन्तः कदर्थयन्ति, तथा—निष्कारणमेव आरुष्य कोपं कृत्वा प्रतोदादिना पृष्ठदेशे तं नारकं परवशं विध्यन्तीति।

२. (क) चूर्णि, पृ० १३५ : सा तु भूमि............ .....न तु केवलमेवोष्णा। ज्वलितज्योतिषाऽपि अणंतगुणं हि उष्णा सा, तदस्या औपम्यं तदोपमा।

(ख) वृत्ति पत्र १३५ : तदेवंरुपां तदुपमां वा भूमिम्।

३. चूर्णि, पृ० १३५ : ते तं इंगालतुल्लं भूमिं पुणो पुणो खुंदाविज्जंति, आगत-गताणि कारविज्जंता य अतिभारोक्कंता डज्झमाणा कलुणाणि रसंति।

४. चूर्णि, पृ० १३५ : इषुभिः तुत्तकैश्च प्रदीप्तमुखैः.

५. वृत्ति, पत्र १३५ : इषुणा प्रतोदादिरूपेण।

श्लोक ३२ :

७१. बलात् (बला)

इसका अर्थ है—बलात्, इच्छा न होते हुए भी। चूर्णिकार ने इसका एक अर्थ और किया है—घोर बल वाले।[1]

७२. दुर्गम स्थान में (अभिदुग्गंसि)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—अति विषम स्थान किया है।[2] वृत्तिकार ने कुंभी, शाल्मली आदि को विषम स्थान माना है।[3]

७३. प्रेष्यों (पेसे)

जिन्हें बार-बार काम में नियोजित किया जाता है, वे दास, नौकर आदि कर्मकर प्रेष्य कहलाते हैं।[4]

श्लोक ३३ :

७४. पथरीले मार्ग पर (संपगाढंमि)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[5]—

१. निरंतर वेदनामय मार्ग।

२. पथरीला मार्ग।

वृत्तिकार ने भी दो अर्थ किए हैं[6]—

१. बहु वेदनामय असह्य नरक।

२. बहुत पीड़ाकारक मार्ग।

७५. सामने से गिराई जाने वाली (अभिपातिणीहिं)

नरकपालों द्वारा सामने से गिराई जाने वाली शिलाएं सामने ही आकर गिरती हैं, अन्यत्र नहीं।[7]

७६. संतापनी (संतावणी)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'संतापनी' नामक नरक किया है। सभी नरक संताप उत्पन्न करने वाले होते है। वैक्रियलब्धि से उत्पन्न अग्नि से नैरयिक जीव विशेष रूप से संतापित किए जाते है।[8] वृत्तिकार इसे 'संतापनी' नामक कुंभी मानते हैं।[9]

७७. चिरकालीन स्थितिवाली (चिरट्ठिईया)

नरक में जघन्य अवधि दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट अवधि तेतीस सागर की होती है। वहां वे जीव चिरकाल तक रहते हैं।[10]

---

१. चूर्णि, पृ० १३५ : बलाद्............बलात्कारेण, अथवा बला घोरबला इत्यर्थः।

२. चूर्णि, पृ० १३५ : अभिदुग्गं भृशं दुर्गं वा।

३. वृत्ति, पत्र १३६ : अभिदुर्गे कुम्भीशाल्मल्यादौ।

४ चूर्णि, पृ० १३५ : पुनः पुनः प्रेष्यन्त इति प्रेस्याः दासा भृत्या वा।

५. चूर्णि, पृ० १३५ : नानाविधाभिर्वेदनाभिर्भृशं गाढं गाढं सम्प्रगाढं निरन्तरवेदनमिति वा। अथवा सम्बाधः पथः सम्प्रगाढः ....शर्करा-पाषाणपथं।

६. वृत्ति, पत्र १३६ : सम्प्रगाढं मिति बहुवेदनमसह्यं नरकं मार्गं वा।

७. चूर्णि, पृ० १३५ : शिलाभिर्विस्तीर्णाभिर्वैक्रियादिभिरभिमुखं पतन्तीभिः अभिपातमाना नान्यत्र पतन्तीत्यर्थ.।

८ चूर्णि, पृ० १३५ : सर्वे एव नरकाः सन्तापयन्ति, विशेषेण तु वैक्रियाग्निसन्ता(पिता)।

९. वृत्ति, पत्र १३६ : सन्तापयतीति सन्तापनी कुम्भी।

१०. चूर्णि, पृ० १३५ : चिरं तिष्ठन्ति ते हि चिरट्ठितीया, जघण्णेण दस वाससहस्साइं उक्कोसेणं तेत्तीससाउरोवमाणि।

श्लोक ३४ :

७८. कड़ाही में (कंदूसु)

इसका अर्थ है—पकाने का पात्र ।[1]

७९. द्रोण (बड़े कौए) (उड्ढकाएहिं)

वस्तुतः यह पाठ 'उड्डकाएहिं' होना चाहिए था । 'उड्ड' देशी शब्द है । इसका अर्थ है दीर्घ या बड़ा । 'उड्डकाएहिं' का अर्थ है—द्रोणकाक या बड़ा कौआ । चूर्णिकार के अनुसार इनकी चोंच लोहमयी होती है । ये अपने भक्ष्य को उड़ते-उड़ते ही पकड़कर खा डालते हैं ।[2]

८०. सिंह-व्याघ्र आदि (सणप्फएहिं)

इसका अर्थ है—वैसे जानवर जिनके पैरों में बड़े-बड़े तीखे नाखून हों । चूर्णिकार ने इस पद से सिंह, व्याघ्र, वृक, शृगाल आदि का ग्रहण किया है ।[3]

८१. श्लोक ३४ :

प्रस्तुत श्लोक में चूर्णिकार ने 'उप्पतंति' के स्थान में 'उप्फिडंति' तथा 'पखज्जमाणा' के स्थान में 'विलुप्पमाणा' पाठ मानकर इसका अर्थ इस प्रकार किया है—

नरकपाल अज्ञानी नैरयिक जीवों को पाक-भाजन में डालकर पकाते है । वे भुने जाते हुए ऊपर उछलते है । (नैरयिक पांच सौ योजन तक ऊपर उछलते हैं) तब ऊपर उड़ने वाले विविध द्रोणकाक, (जिनकी चोंच लोहे की होती है) उन्हें खाते है। खाते समय कुछ टुकड़े नीचे पृथ्वी पर पड़ते हैं । उन्हें सिंह, व्याघ्र, मृग, शृगाल आदि पशु खा डालते है ।[4]

श्लोक ३५ :

८२. बहुत ऊंचा (समूसियं)

चूर्णिकार के अनुसार यह स्थान ऐसा है जहां नैरयिक जीवों को विनष्ट किया जाता है ।[5]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—चिता के आकार वाला (स्थान) किया है । चिता की रचना उच्छ्रित होती है । वह नरक का स्थान भी उच्छ्रित है, ऊंचा है ।[6]

८३. विधूम अग्नि का स्थान (विधूमठाणं)

यहां अग्नि के लिए विधूम शब्द का प्रयोग किया गया है । मनुष्य लोक में अग्नि दो प्रकार की होती है—धूम सहित और निर्धूम । नरक में इंधन से प्रज्वलित अग्नि नहीं होती । वह निरंधन ही होती है । चूर्णिकार ने बताया है जो अग्नि इंधन से ही प्रज्वलित होती है, उससे धुंआ अवश्य ही निकलता है । नरक की अग्नि निरंधन होती है । चूर्णिकार ने इसका दूसरा अर्थ यह किया है—वहां केवल निर्धूम अंगारे हैं । निर्धूम अंगारों का ताप बहुत अधिक होता है ।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० १३६ : अयकोट्ठ-पिट्ठ-पयणगमादीसु पयणगेसु ।

२. चूर्णि, पृ० १३६ : उड्डकाया णाम द्रौणिकाकाः ते उप्फिडिता वि सन्ता उड्डकाएहिं विविधेहिं अयोमुहेहिं खज्जंति ।

३. चूर्णि, पृ० १३६ : सिंघव्याघ्र-मृ (? वृ) ग-शृगालादयः विविधाः ।

४. चूर्णि, पृ० १३६ ।

५. चूर्णि, पृ० १३६ : तत्थ ते णेरइया समूसविज्जंति, ओसवितं विनाशितमित्यर्थः ।

६. वृत्ति, पत्र १३६ : समूसियं नाम इत्यादि सम्यगुच्छ्रितं चितिकाकृतिः ।

७. चूर्णि, पृ० १३६ : विधूमो नामाग्निरेव, विधूमग्रहणाद् निरिन्धनोऽग्निः स्वयं प्रज्वलितः सेन्धनस्य ह्यग्नेरवश्यमेव धूमो भवति । अथवा विधूमवद्, विधूमानां हि अङ्गाराणामतीव तापो भवति ।

वृत्तिकार ने भी विधूम का अर्थ अग्नि किया है।[1] इसे वर्तमान के विद्युतीय युग में सम्यग् प्रकार से समझा जा सकता है। नरक की अग्नि विद्युत् है, जिसे इंधन की अपेक्षा नहीं है। हजार योजन से ऊपर या नीचे अग्नि नहीं होती। ऑक्सीजन के बिना अग्नि नहीं जलती। बिजली अग्नि नहीं है।

देखें—५।७, ३८ का टिप्पण।

८४. करुण रुदन करते हैं (कलुणं थणंति)

यहां करुण का अर्थ—अपरित्राण, निराक्रन्दन। वे नैरयिक करुण रुदन करते हैं, क्योंकि उनका परित्राण करने वाला कोई वहां नहीं होता। वे असहाय होते हैं, अतः उनका रुदन करुण होता है। जिनको परित्राण प्राप्त है, वे यद्यपि रुदन करते हैं, परन्तु उनका वह रुदन अतिकरुणाजनक नहीं होता।[2]

वृत्तिकार ने करुण का अर्थ दीन किया है।[3]

८५. बकरे (अयं)

इसके दो अर्थ हैं—अज—बकरा और अयस्—लोह। चूर्णिकार ने मूल अर्थ 'अज' और वैकल्पिक अर्थ 'लोह' किया है।[4]

८६. ओंधे सिर कर (अहोसिरं कट्टु)

कुछ नरकपाल उन नैरयिक जीवों को ओंधा लटकाकर काटते हैं और कुछ नरकपाल उनको काटकर फिर ओंधा लटकाते हैं।[5]

तुलना—एते पतन्ति निरये उद्धपादा अवंसिरा।
इसीनं अतिवत्तारो संयतानं तपस्सिनं॥
(जातक ५।२६६ तथा संयुक्तनिकाय २७।५)

—जो पुरुष ऋषि, संयत और तपस्वियों का अपवाद करते हैं, वे सिर नीचे और पैर ऊपर कर नरक में पड़ते हैं।

श्लोक ३६ :

८७. शूल पर लटकते (समूसिया)

जैसे चांडाल मृत शरीर को लटकाते हैं, वैसे ही नरकपाल उन नैरयिक जीवों को खंभों पर ओंधा लटकाते हैं।[6]

८८. संजीवनी (संजीवणी)

वह नरकभूमि बार-बार जिलाने वाली होने के कारण उसका नाम 'संजीवनी' है। वहां के नैरयिक जीव नरकपालों के द्वारा दी गई, परस्पर उदीरित तथा स्वाभाविक रूप से उत्पन्न वेदना से छिन्न-भिन्न, क्वथित या मूर्च्छित होकर वेदना का अनुभव करते हैं, परन्तु मरते नहीं। उनका खंड-खंड कर देने पर भी वे नहीं मरते क्योंकि उनकी आयु अवशेष होती है। जैसे मूर्च्छित व्यक्ति पर पानी के छींटे डालने से वे सचेत हो जाते हैं, वैसे ही वे नैरयिक भी पुनः पुनः जीवित होते रहते हैं। वह स्थान संजीवनी की भांति—

---

१. वृत्ति, पत्र १३६। विधूमस्य अग्नेः स्थानम्।

२. चूर्णि, पृ० १३६ : कलुणं थणंति, कलुणमिति अपरित्राणं निराक्रन्दमित्यर्थः, सपरित्राणा हि यद्यपि स्तनन्ति वा तथापि तन्नाति-करुणम्।

३. वृत्ति, पत्र १३६ : करुणं दीनम्।

४. चूर्णि, पृ० १३६ : अयो छगलगो, अयेन तुल्यं अयवत्।

५. चूर्णि, पृ० १३६ : अधोसिरं काउं केइ विगिसंति, केइ विगंतिऊण पच्छा अधोसिरं बंधंति।

६. वृत्ति, पत्र १३७ : तत्र नरके स्तम्भादौ ऊर्ध्वबाहवोऽधःशिरसो वा श्वपाकैर्बस्तवल्लम्बिताः।

जीवनदात्री होने के कारण उसे 'संजीवनी' कहा गया है।[1] यह किसी नरक विशेष का नाम नहीं है।

बौद्ध साहित्य में 'संजीव' नामक नरक का यही वर्णन मिलता है। बौद्ध परंपरा में आठ ताप-नरक माने जाते हैं। पहला नरक है अवीचि और आठवां है संजीव। दूसरे नरक से आठवें नरक तक दुःख निरंतर नहीं होता। संजीव नरक में पहले शरीर भग्न होते हैं। वे रजकण जितने सूक्ष्म हो जाते हैं। पश्चात् शीतल वायु से वे पुनः सचेतन हो जाते हैं। इसलिए इस नरक का नाम 'संजीव' है।[2]

८९. चिरस्थिति वाली (चिरट्ठिईया)

नरक की जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की और उत्कृष्ट स्थिति तेतीस सागर की है। वह चिरस्थिति वाली है, अर्थात् वहां के नैरयिकों का आयुष्य तेतीस सागर का है।

चूर्णिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया है—नरक तथा कर्म के अनुभाव से नैरयिक जीव हजारों बार पीसे जाते हैं, उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिए जाते हैं, फिर भी वे पुनः संध जाते हैं, पारे की भांति एकत्रित हो जाते हैं, पूर्ववत् हो जाते हैं। अतिवेदना के कारण वे नैरयिक मृत्यु की कामना करते हैं, फिर भी वे मर नहीं पाते। इसलिए उन्हें वहां चिरकाल तक रहना पड़ता है।[3]

९०. पापचेता (पावचेया)

पूर्वजन्म में पाप करने के कारण प्राणी नरक में जाता है। वहां सब पापचित्त वाले ही होते हैं। कोई कुशलचेता वहां उत्पन्न नहीं होता, जिससे कि वहां के प्राणी अपापचेता हो जाएं।[4]

श्लोक ३७ :

९१. ग्लानि का अनुभव करते हैं (गिलाणा)

वे नैरयिक जीव सदा ग्लान रहते हैं। कहां कोई आश्वासन नहीं है। जैसे महाज्वर से अभिभूत रोगी निष्प्राण और निर्बल हो जाता है, वैसे ही वे सदा दस प्रकार की वेदना को भोगते हैं।[5] दस प्रकार की वेदना का उल्लेख स्थानांग में मिलता है[6]—

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १३६ : एवं यथोद्दिष्टैर्वेदनाप्रकारैर्भक्ष्यमाणाश्च स्वाभाविकैर्निरयपालकृतैर्वा पक्ष्यादिभिः छिन्नाः क्वथिता वा सन्तो वेदनासमुद्घातेन समोहता सन्तो मृतवदवतिष्ठन्ति। यथेह मूर्च्छिता उदकेन सिक्ताः पुनरुज्जीविता इत्यपदिश्यन्ते एवं ते मूर्च्छिताः सन्तः पुनः पुनः सञ्जीवन्तीति सञ्जीविवः सर्व एव नरका संजीवणा।

(ख) वृत्ति, पत्र १३७।

२. अभिधर्मकोश, पृ० ३७२, आचार्य नरेन्द्र देव।

३ (क) चूर्णि, पृ० १३६ : चिरट्ठितीया णाम जघण्णेण दस वाससहस्साणि उक्कोसेणं तेत्तीससागरोवमाणि। अथवा चिरं मृता हि ठंतीति चिरट्ठितीया, नरकानुभावात् कर्मानुभावच्च यद्यपि पिष्यन्ते सहस्रशः क्रियन्ते तथापि पुनः संहन्यन्ते, इच्छन्तोऽपि मर्त्तुं तथापि न म्रियन्ते।

(ख) वृत्ति, पत्र १३७।

४. चूर्णि, पृ० १३६ : पावचेत त्ति पूर्वं पापचेता आसीत् सा प्रजा, साम्प्रतमपि न तत्र किञ्चित् कुशलचेता उत्पद्यते येनापापचेता सा प्रजा स्यादिति।

५. चूर्णि, पृ० १३७ : जमकाइएहिं नेरइएहिं च न तत्र समाश्वासोऽस्ति। नित्यग्लाना इति महाज्वराभिभूता इव निष्प्राणा निर्बला नित्यमेव च नारका दसविधं वेयणं वेदेंति।

६. ठाणं, १०।१०८ : णेरइया णं दसविधं वेयणं पच्चणुभवमाणा विहरंति, तं जहा—सीतं, उसिणं, खुधं, पिवासं, कंडुं, परज्झं, भयं, सोगं, जरं, वाहिं।

१. शीत	६. परतंत्रता
२. उष्ण	७. भय
३. क्षुधा	८. शोक
४. पिपासा	९. जरा
५. खुजलाहट	१०. व्याधि

श्लोक ३८ :

६२. वधस्थान (णिहं)

जहां बहुत प्राणी मारे जाते हैं उस स्थान को 'निहं' कहा गया है।[1]

६३. बिना काठ की आग जलती है (जलंतो अगणी अकट्ठो)

वहां विना काठ की अग्नि जलती है। वह अग्नि वैक्रिय से उत्पन्न होती है। वे नीचे पाताल में होती हैं, अनवस्थित होती हैं। वे विना संघर्षण से उत्पन्न होने वाली हैं।[2]

देखें—५।७, ३५ का टिप्पण।

६४. बहुत क्रूर कर्म करने वाले नैरयिक (बहुकूरकम्मा)

क्रूर का अर्थ है—दयाहीन। वैसा हिंसा आदि का कार्य जिसको करने के पश्चात् भी कर्त्ता पश्चात्ताप नहीं करता, वह कर्म क्रूर कहलाता है।[3]

६५. जोर-जोर से चिल्लाते हुए (अरहस्सरा)

'रह' का अर्थ है एकान्त या शून्य। जो शून्य नहीं है, वह 'अरह' स्वर होता है। भावार्थ में इसका अर्थ होगा—जोर-जोर से चिल्लाना।[4]

श्लोक ३९ :

६६. वड़ी (महंतीउ)

छन्द की दृष्टि से यहां ओकार के स्थान पर ह्रस्व उकार का प्रयोग है।

इसका अर्थ है—वड़ी। नरकपाल नैरयिकों को जलाने के लिए वड़ी-वड़ी चिताएं वनाते हैं। वे नैरयिकों के शरीर प्रमाण से वहुत विशाल होती हैं। उनमें अनेक नैरयिक एक साथ समा जाते हैं[5]।

श्लोक ४० :

६७. पीटते हैं (समारभंति)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—पीटना किया है।[6]

---

१. (क) वृत्ति, पत्र १३७ : निहन्यन्ते प्राणिनः कर्मवशगा यस्मिन् तन्निहम्—आघातस्थानम्।
   (ख) चूर्णि, पृ० १३७ : अधिकं तस्यां हन्यत इति निहं ज्वरोदुपानवस्थितम्।
२. चूर्णि, पृ० १३७।
३. चूर्णि, पृ० १३७ : कूरं णाम निरनुक्रोशं हिंसादि कर्म, यत् कृत्वा कृते च नानुतप्यन्ते।
४. वृत्ति, पत्र १३७ : अरहस्वरा वृहदाक्रन्दशब्दाः।
५. चूर्णि, पृ० १३७ : महंतीओ नाम नारकशरीरप्रमाणाधिकमात्राः यत्र चानेके नारका मायन्ते।
६. चूर्णि, पृ० १३७ : समारभंति त्ति पिट्टेंति।

श्लोक ४१ :

९८. लकड़ी आदि के प्रहार से (वहेण)

इसका संस्कृतरूप है—'व्यथेन'। चूर्णिकार और वृत्तिकार को इस शब्द से डंडा आदि का प्रहार अभिप्रेत है।[1] डंडा आदि का प्रहार व्यथा उत्पन्न करता है, इसलिए साध्य में साधन का आरोप कर उसे व्यथा-उत्पादक माना गया है।

९९. दोनों ओर से छीले हुए फलकों की भांति (फलगा व तट्ठा)

जैसे लकड़ी के तख्ते को करवत आदि से दोनों ओर से छीलते हैं, उसी प्रकार नैरयिक भी करवत आदि से छीले जाते हैं।[2]

देखें—आयारो ६।११३ : फलगावयट्ठी।

१००. आराओं से (आराहि)

इसका अर्थ है—चाबुक के अन्त में लगी हुई नुकीली कील।[3] पशुओं को हांकने के लिए लकड़ी के चाबुक में एक सिरे पर तीखी कील लगी रहती है। उसे पशु के मर्म-स्थान—गुदा में चुभाया जाता है। उसे 'आरा' कहते हैं।

१०१. ढकेले जाते हैं (णियोजयन्ति)

इसका अर्थ है—कार्य में व्यापृत करना।[4] नरकपाल नैरयिकों को तपी हुई लंबी आराओं से बींधते हैं और 'उठ, उठ, चल, चल,' इस प्रकार उन्हें आगे ढकेलते हैं।[5]

वृत्तिकार के अनुसार नरकपाल नैरयिकों को तपा हुआ तांबा आदि पीने के व्यापार में व्यापृत करते हैं।[6]

श्लोक ४२ :

१०२. नरकपालों द्वारा क्रूरतापूर्वक कार्यों में व्यापृत होते हैं (अभिजुंजिया रुद्द)

चूर्णिकार के अनुसार वे नैरयिक दो प्रकार से रौद्र कार्य में व्यापृत होते हैं[7]—

१. पूर्वजन्मों में भी वे रौद्र कर्मकारी थे।

२. यहां भी वे परस्पर रौद्र वेदना की उदीरणा करते हैं।

वृत्तिकार ने इस के दो अर्थ किए हैं[8]—

१. दूसरे नैरयिक को मारने के रौद्र कार्य में व्यापृत होते हैं।

---

१ (क) चूर्णि, पृ० १३७ : वधेण...............लउडादिघातैः।
(ख) वृत्ति, पत्र १३८ : व्यथयतीति व्यथो—लकुटादिप्रहारस्तेन।

२. (क) चूर्णि, पृ० १३७ : फलगावतट्ठी त एवं भग्नाङ्ग-प्रत्यङ्ग फलका इव उभयया प्रकृष्टाः करकयमादीहिं तच्छिता।
(ख) वृत्ति, पत्र १३८ : फलकमिवोभाभ्यां क्रकचादिना अवतष्टाः तनूकृताः।

३. आप्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

४. वृत्ति, पत्र १३८ : विनियोज्यन्ते व्यापार्यन्त इति।

५. चूर्णि, पृ० १३७ : तप्ताभिः दीर्घाभिराराभिर्विध्यन्ते, उत्तिष्ठोत्तिष्ठेति गच्छ गच्छेति।

६. वृत्ति, पत्र १३८ : तप्तत्रपुपानादिके कर्मणि विनियोज्यन्ते व्यापार्यन्त इति।

७. चूर्णि, पृ० १३८ : अभियुंजिता तिविधेण वि रौद्रादीनि कर्माणि... ....ते च रौद्राः पूर्वमभवन्, तत्रापि रौद्रा एव परस्परतो वेदनां उदीरयन्तः।

८. वृत्ति, पत्र १३८ : अभिजुंजिया इत्यादि, रौद्रकर्मण्यपरनारकहननादिके अभियुज्य व्यापार्य यदि वा—जन्मान्तरकृतं रौद्रं सत्त्वोपघातकार्यम् अभियुज्य स्मारयित्वा।

२. पूर्वजन्म में किए जीव-हिंसा आदि रौद्र कार्यों की स्मृति दिलाते हैं।

यहां 'रुद्द' शब्द में कोई विभक्ति नहीं है। यहां द्वितीया विभक्ति होनी चाहिए।

१०३. हाथीयोग्य भार ढोते हैं (हत्थिवहं वहंति)

हाथीयोग्य भार ढोते हैं अर्थात् हाथी जितना भार ढोता है उतना भार वे नैरयिक ढोते हैं।

इसका वैकल्पिक अर्थ है कि नरकपाल नैरयिकों को हाथी बनाकर उनको भार ढोने के लिए प्रेरित करते हैं अथवा घोड़ा, ऊंट, गधा आदि बनाकर उनसे भार ढुलाते हैं। जिन्होंने अपने पूर्वजन्म में जिन-जिन पशुओं को अधिक भार ढोने के लिए बाध्य किया था, उनको उन-उन पशुओं के रूप में परिवर्तित कर भार ढुलाया जाता है।[1]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[2]—

१. जैसे हाथी सवारी के काम आता है वैसे ही नरकपाल उस पर चढ़कर सवारी करते हैं।

२. जैसे हाथी बहुत भार ढोता है, वैसे ही नरकपाल नैरयिकों से बहुत भार ढुलाते हैं।

१०४. गर्दन को (ककाणओ)

यह देशी शब्द है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ मर्म-स्थान किया है।[3]

चूर्णिकार ने 'किकाणतो' पाठ मानकर इसका अर्थ—कृकाटिका (गरदन का पिछला भाग) किया है।[4]

श्लोक ४३ :

१०५. बांस के जालों में (तप्पेहि)

नदी के मुहानों पर बांस की खपचियों से बने हुए 'तप्प' पानी के नीचे रखे जाते हैं। पानी के प्रवाह के साथ-साथ अनेक मत्स्य आते हैं। पानी का बहाव चला जाता है और वे मत्स्य वहीं फंस जाते हैं। फिर उन सब मत्स्यों को एकत्रित कर लिया जाता है।[5]

वृत्तिकार ने इसे नैरयिकों का विशेषण मानकर 'तर्पकाकारान्' किया है। किन्तु 'तर्पक' का कोई अर्थ नहीं दिया है।[6]

१०६. जल से निकाल (समीरिया)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'संपीण्ड्य'—इकट्ठा कर दिया है।[7]

वृत्तिकार ने इसका संस्कृतरूप 'समीरिताः' कर इसका अर्थ 'पाप-कर्मों से प्रेरित' किया है।[8]

हमने इसका संस्कृतरूप 'समीर्य' किया है। इसका अर्थ है—जल से बाहर निकालकर।

---

१. चूर्णि, पृ० १३८ : हस्तितुल्यं वहन्तीति हस्तिवत्, हस्तितुल्यं भारं वहन्तीत्यर्थः, हस्तिरूपं वा कृत्वा वाह्यन्ते, अश्वोष्ट्रखरादिरूपं वा यैर्यथा वाहिताः।

२. वृत्ति, पत्र १३८ : हस्तिवाहं वाहयन्ति नरकपालाः, यथा हस्ती वाह्यते समारुह्य एवं तमपि वाहयन्ति, यदि वा—यथा हस्ती महान्तं भारं वहत्येवं तमपि नारकं वाहयन्ति।

३ वृत्ति पत्र १३८ : ककाणओ त्ति मर्माणि।

४. चूर्णि, पृ० १३८ : किकाणतो सि त्ति कृकाटिकाए।

५. चूर्णि, पृ० १३८ : त्रप्पका नदीमुखेषु विदलया वशकालीमया पिडगासंठिता कज्जंति, ताधे ओसरंते उदगे ठविज्जंति हेट्ठाहुत्ता, पच्छा मच्छगा जे तेहिं अक्कंता ते गलिते उदगे संपुंजिता घेप्पंति।

६. वृत्ति, पत्र १३८।

७. चूर्णि, पृ० १३८ : समीरिता नाम सम्पिण्ड्य।

८. वृत्ति, पत्र १३८ : समीरिताः पापेन कर्मणा चोदिताः।

१०७. खंड-खंड कर नगर-बलि············बिखेर देते हैं (कोट्टबलिं करेंति)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने प्रधानरूप से 'कोट्ट' और 'बलि' को पृथक्-पृथक् मानकर, कोट्ट का अर्थ—तलवार आदि से टुकड़े-टुकड़े कर, कूट कर और 'बलि' का अर्थ— बलि देना किया है। वैकल्पिकरूप में 'कोट्टबलि' को एक मानकर 'कोट्ट' का अर्थ नगर और 'बलि' का अर्थ बलि किया है।[1] 'कोट्ट' शब्द देशी है। इसका अर्थ है—नगर।[2]

श्लोक ४४ :

१०८. वैतालिक (वेयालिए)

वृत्तिकार ने इसे परमाधार्मिक देवों द्वारा निष्पादित 'वैक्रिय' पर्वत माना है।[3]

१०९. बहुत ऊंचा (एगायए)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—एकशिला से निर्मित बहुत ऊंचा पर्वत-किया है।[4]

११०. अधर में झूलता हुआ (अंतलिक्खे)

चूर्णिकार का अभिमत है कि वह पर्वत आकाश-स्फटिक से निर्मित होने के कारण अथवा अंधकार की अधिकता के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। उस पर चढ़ने का केवल मार्ग ही दिखाई देता है। नैरयिक हाथ के स्पर्श से उस मार्ग की खोज करते हैं और मार्ग हाथ लगते ही वे पर्वत पर चढ़ने का प्रयत्न करते हैं। तब पर्वत सिकुड़ने लगता है और वे नैरयिक हतप्रहत होकर नीचे गिर जाते हैं।

चूर्णिकार ने एक मतान्तर का उल्लेख किया है। उसके अनुसार—वह पर्वत भूमि से संबद्ध लगता है, पर जब नैरयिक उसकी ओर जाते हैं तब वह असंबद्ध लगता है, सिकुड़ जाता है।[5]

१११. काल (मुहुत्तगाणं)

मुहूर्त्त का अर्थ है—अड़चालीस मिनट का काल। प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ—सामान्य काल है। उत्तराध्ययन सूत्र ४।६ की सुखबोधावृत्ति में मुहूर्त्त का अर्थ—दिवस आदि से उपलक्षित काल किया है।[6]

श्लोक ४५ :

११२. अत्यन्त पीड़ित होकर (संबाहिया)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—स्पृष्ट[7] और वृत्तिकार ने—अत्यन्त पीड़ित किया है।[8]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १३८ : कुट्टयित्वा कल्पनीभिः खण्डसो बलिं क्रियन्ते। अथवा कोट्टं णगरं वुच्चति, णगरबली वि क्रियन्ते।
(ख) वृत्ति, पत्र १३८ : तान्नारकान् कुट्टयित्वा खण्डशः कृत्वा बलिं करिंति त्ति नगरबलिवदितश्चेतश्च क्षिपन्तीत्यर्थः, यदि वा कोट्टबलिं कुर्वन्तीति।

२. देशीनाममाला २।४५ : केआरबाणकोट्टा................ ।
कोट्टं नगरम्।

३. वृत्ति, पत्र १३९ : वेयालिए'त्ति वैक्रियः परमाधार्मिकनिष्पादितः पर्वतः।

४. वृत्ति, पत्र १३९ : एगायए—एकशिलाघटितो दीर्घः।

५. चूर्णि, पृ० १३८ : अन्तरिक्षः छिन्नमूल इत्यर्थः, आकाशस्फाटिकत्वाद् न दृश्यते, अन्धकारत्वाद्वा न दृश्यते, केवलमारुभणमार्गो दृश्यते, हत्थपरिमोसका एव ततस्ते नाऽऽरुभन्ति, आरुभणपधेण विलग्गाश्चेत् स च पर्वतः संहन्यते। अन्ये पुनः ब्रुवते—दृश्यत एवासौ, भूमिबद्ध एव चोपलक्ष्यते, न च सम्बद्धः।

६. सुखबोधा वृत्ति, पत्र ९४ : मुहूर्त्ताः—कालविशेषाः दिवसाद्युपलक्षणमेतत्।

७. चूर्णि, पृ० १३८ : सम्बाधिताः नाम स्पृष्टाः।

८. वृत्ति, पत्र १३९ : सम्—एकीभावेन बाधिताः पीडिताः।

११३. अत्यन्त उबड़-खाबड़ भूमि वाले (एगंतकूडे)

एकान्त विषम-स्थान, ऐसा स्थान जहां कोई भी समतल भूमि न हो।[1]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—एकान्त दुःखोत्पत्ति का स्थान किया है।[2]

११४. गलपाश के द्वारा (कूडेन)

'कूट' का अर्थ है—मृग को पकड़ने का पिंजड़ा।[3] चूर्णिकार के अनुसार स्थान-स्थान पर 'कूटों का निर्माण किया जाता है। वे अदृश्य रहते हैं। मृग उन्हें नहीं देख पाते। वे उधर से भागने का प्रयत्न करते हैं और बार-बार उसमें बंध जाते हैं।[4]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—गलयंत्रपाश किया है। संभव है वह रस्सी से बना हुआ गले का फंदा हो, जिससे पशु आदि को बांधा जाता है।[5] वैकल्पिकरूप में इसका अर्थ—पाषाणसमूह भी है।

प्रस्तुत सूत्र के १।३४ में 'पासयाणि' शब्द का प्रयोग है। वह भी 'पाशयंत्र'—मृगबंधन रज्जु का ही वाचक है। संभव है—'कूट और पाश' एकार्थक हों।

कूट का एक अर्थ—मुद्गर भी है।[6]

श्लोक ४६ :

११५. श्लोक ४६ :

यह श्लोक चूर्णि में व्याख्यात नहीं है।

११६. पूर्वजन्म के शत्रु (पुव्वमरी)

इसका अर्थ है—पूर्वभव के शत्रुओं की तरह आचरण करने वाले नरकपाल अथवा जन्म-जन्म में अपकार करने वाले नैरयिक।[7]

श्लोक ४७ :

११७. सदा कुपित रहने वाले (सयावकोपा)

इसका अर्थ है—सदा कुपित रहने वाले। चूर्णिकार ने 'अकोप्पा' पाठ मानकर उसका अर्थ—अनिवार्य, अप्रतिषेध्य किया है। वे शृगाल ऐसे हैं जिनको हटाया नहीं जा सकता।[8]

११८. सांकलों से बंधे हुए (संकलियाहि बद्धा)

कुछ नैरयिक लोहे की सांकलों से बंधे हुए होते हैं और कुछ नहीं होते। शृगाल सांकलों से बंधे हुए नैरयिकों को खाने लगते हैं। यह देखकर मुक्त नैरयिक अपने बचाव के लिए वहां से भागते है। तब शृगाल उनके पीछे दौड़कर उन्हें खा जाते है।[9]

---

१. चूर्णि पृ० १३८ : एगंतकूडो णाम एकान्तविषमः, न तत्र काचित् समा भूमिर्विद्यते यत्र ते गच्छन्तो न स्खलेयुरिति न प्रपतेयुर्वा।

२. वृत्ति, पत्र १३६ : एकान्तेन कूटानि दुःखोत्पत्तिस्थानानि।

३. आप्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

४. चूर्णि, पृ० १३८ : तधावि तम्मि विसये कूडाणि तत्थ देसे से उत्तारोतार-णिग्गम-पवेसेसु य अद्दश्यानि यत्र ते बध्यन्ते।

५ वृत्ति, पृ० १३६ : कूटेन गलयन्त्रपाशादिना पाषाणसमूहलक्षणेन वा।

६. आप्टे संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

७. वृत्ति, पत्र १३६ : पूर्वमरय इवारयो जन्मान्तरवैरिण इव परमाधार्मिका यदि वा—जन्मान्तरापकारिणो नारकाः।

८. चूर्णि, पृ० १३६ : सदा वा अकोप्पा अनिवार्या अप्रतिषेध्या इत्यर्थः, कर्षापणो अकोप्पा इत्यपदिश्यते। अथवा—अकोप्पं ति (न) कुप्पितुं इत्युक्तं भवति।

९. चूर्णि, पृ० १३६ : लोहसंकलाबद्धाः खादन्ति के वि स्वैरा। प्रधावन्तोऽनुधावन्तो, अनुधावितुं पाटयित्या खादन्ति।

११९. बहुत क्रूर कर्म वाले (बहुकूरकम्मा)

चूर्णिकार ने इसे जो खाते हैं और जो खाए जाते हैं—दोनों के लिए प्रयुक्त माना है। इस प्रकार यह शब्द शृगाल तथा नैरयिक—दोनों के लिए प्रयुक्त है।[1]

श्लोक ४८ :

१२०. सदाज्वला (सयाजला)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—सदा जलने वाली नदी किया है।[2]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—ऐसी नदी जिसमें सदा जल रहता हो या इस नाम की एक नदी।[3]

१२१. पंकिल (पविज्जला)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—विस्तृत जल वाली, उत्तान जल वाली, सपाट जल वाली—किया है। वह नदी वैतरणी की तरह गंभीर जल वाली नहीं है।[4]

वृत्तिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—[5]

१. अत्यन्त उष्ण रक्त और पीव से मिश्रित जल वाली।

२. रुधिर और पीव से पंकिल।

३. विस्तीर्ण और ऊंडे जल वाली।

४. प्रदीप्त जल वाली।

१२२. अग्नि के ताप से··· जल वाली हैं (लोहविलीणतत्ता)

अतिताप से लोह गल जाता है। वह पिघला हुआ लोह बहुत गरम होता है। उसके समान गरम जल वाली।[6]

१२३. अकेले चलते हुए (एगायता)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—अकेले, अत्राण, असहाय किया है।[7] चूर्णिकार ने 'एकाणिका' पाठ मानकर उसका अर्थ—असहाय या अद्वितीय किया है।[8]

श्लोक ४९ :

१२४. स्पर्श (दुःख) (फासाइं)

चूर्णिकार ने 'स्पर्श' शब्द को शब्द, रूप रस और गंध का संग्राहक माना है। नरक में ये इन्द्रिय-विषय दुःखमय और उत्कट

---

१. चूर्णि, पृ० १३९ : बहुकूरकम्मा इत्युभयावधारणार्थम्, ये च खादयन्ति ये च खाद्यन्ते।

२. चूर्णि, पृ० १३९ : सदा ज्वलतीति सदाज्वला।

३. वृत्ति, पत्र १३९ : सदा—सर्वकालं, जलम्—उदकं यस्यां सा तथा सदाजलाभिधाना वा।

४. चूर्णि, पृ० १४० : प्रविसृतजला पविजला, विस्तीर्णजला उत्तानजलेत्यर्थः, न तु यथा वैतरणी गम्भीरजला वेगवती च।

५. वृत्ति, पत्र १३९ : प्रकर्षेण विविधमत्युष्णं क्षारपूयरुधिराविलं जलं यस्यां सा प्रविजला यदि वा 'पविज्जले' ति रुधिराविलत्वात् पिच्छिला, विस्तीर्णगम्भीरजला वा अथवा प्रदीप्तजला वा।

६. (क) वृत्ति, पत्र १४० : अग्निना तप्तं सत् विलीनं द्रवतां गतं यल्लोहम्—अयस्तद्वत्तप्तः, अतितापविलीनलोहसदृशजलेत्यर्थः।
(ख) चूर्णि, पृ० १३९ : लोहविलीनसदृशोदका। लोहानि पञ्च काललोहादीनि।

७. वृत्ति, पत्र १४० : 'एगाय' त्ति एकाकिनोऽत्राणाः।

८. चूर्णि, पृ० १३९ : एकानिका असहाया इत्युक्तम्, अल्पसहाया इत्यर्थः अद्वितीया वा।

होते हैं, इसलिए स्पर्श शब्द का प्रयोग हुआ है।[1]

प्राचीन साहित्य में इसका बहुलता से प्रयोग मिलता है। गीता में इसका अनेक वार प्रयोग हुआ है—'स्पर्शान् कृत्वा वहिर्वाह्यान्।' (गीता ५।२७)। 'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय!' (गीता २।१४)। 'वाह्यस्पर्शेष्वासक्तात्मा' (गीता ५।२१) 'ये हि संस्पर्शजा भोगाः' (गीता ५।२२)।

वृत्तिकार ने स्पर्श का अर्थ—दुःख किया है। ये दुःख तीन प्रकार से आते हैं—नरकपालों द्वारा कृत, परस्पर उदीरित और स्वाभाविक रूप से प्राप्त।[2]

१२५. (एगो सयं…………)

वह अकेला ही दुःख का अनुभव करता है। वह असहाय हो जाता है क्योंकि, जिन-जिनके लिए उसने पाप-कर्म किए थे, वे दुःख के अनुभव में हाथ नहीं बंटाते। कहा भी है—मैंने अपने परिजनों के लिए अनेक दारुण कर्म किए हैं। फल-भोग के समय वे सब भाग गए। मैं अकेला ही उनको भोग रहा हूं।[3]

श्लोक ५० :

१२६. जिसने जो जैसा (जं जारिसं)

यहां 'यत्' कर्म का द्योतक है और 'यादृश' उस कर्म के अनुभाव और स्थिति का। मंद, मध्यम और तीव्र अध्यवसायों से जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मो का वंध होता है।[4]

१२७. परलोक में (संपराए)

इसका अर्थ है—परलोक। चूर्णिकार ने इसका मुख्य अर्थ संसार और वैकल्पिक अर्थ 'परलोक' किया है।[5] वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल 'संसार' किया है।[6]

१२८. दुःखी प्राणी (दुक्खी)

इसका अर्थ है—कर्मयुक्त प्राणी। दुःख का अनुभव दुःखी प्राणी ही करता है। अदुःखी प्राणी कभी दुःख का अनुभव नहीं करता।

---

१. चूर्णि, पृ० १३६ : फुसंतीति फासाणि, एगग्गहणे गहणं, सद्दाणि वि रूव-रस-गंध-फासाणीति। स्पर्श ग्रहणं तु ते तत्रोत्कटा दुःखतमाश्च।

२. वृत्ति, पत्र १४० : स्पर्शाः दुःखविशेषाः परमाधार्मिकजनिताः परस्परापादिताः स्वाभाविका वेति अतिकटवो रूपरसगंधस्पर्शशब्दाः अत्यंतदुःसहाः।

३. वृत्ति, पत्र १४० : एकः—असहायो यदर्थं तत्पापं समर्जितं तै रहितस्तत्कर्मविपाकजं दुःखमनुभवति, न कश्चिद् दुःखसंविभागं गृह्णातीत्यर्थः, तथा चोक्तम्—

मया परिजनस्यार्थे, कृतं कर्म सुदारुणम्।
एकाकी तेन दह्योऽहं, गतास्ते फलभोगिनः॥

४ (क) चूर्णि, पृ० १३६ : जारिसाणि तिव्व-मंद-मज्झिमअज्झवसाएहिं जघण्णमज्झिमुक्किट्ठटितीयाणि कम्माणि कताणि तं तधा अणुभवंति।

(ख) वृत्ति, पत्र १४०।

५. चूर्णि, पृ० १३६, १४० : संपरागो णाम संसारः, संपरीत्यस्मिन्निति सम्परायः, कर्मफलोदयेन वा नरगं संपरागिज्जतीति सम्परागः।

६. वृत्ति, पत्र १४० : सम्पराये—संसारे।

श्लोक ५१ :

१२९. लक्ष्य के प्रति निश्चित दृष्टि वाला (एगंतदिट्ठी)

आगमों में मुनि के लिए 'अहीव एगंतदिट्ठी'—सांप की भांति एकान्तदृष्टि'—यह विशेषण प्रयुक्त हुआ है।[1] सांप अपने लक्ष्य पर ही दृष्टि रखता है, वैसे ही मुनि अपने लक्ष्य—मोक्ष को ही दृष्टि में रखे। जो इस प्रकार निश्चित दृष्टि वाला होता है, वह एकान्तदृष्टि कहलाता है।

चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या में कहा है—जिस श्रमण में यह सत्यनिष्ठा होती है कि 'इदमेव णिग्गंथं पावयणं सच्चं'— यही निर्ग्रन्थ प्रवचन सत्य है, वह एकान्तदृष्टि होता है।[2]

वृत्तिकार ने निष्प्रकंप सम्यक्त्व वाले को एकान्तदृष्टि माना है। जीव आदि तत्त्व के प्रति जिसकी निश्चल दृष्टि होती है, वह एकान्तदृष्टि है।[3]

१३०. स्वाध्यायशील रहे (बुज्झेज्ज)

इस पद का अर्थ है—अध्ययनशील रहे, स्वाध्यायशील रहे।[4]

१३१. कषाय का वशवर्ती न बने (लोगस्स वसं न गच्छे)

'लोक' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं—जगत्, शरीर, कषाय और प्राणी-गण। जीव और अजीव—इन दोनों के समवाय को उत्तराध्ययन सूत्र में 'लोक' कहा गया है।[5] आचारांग के द्वितीय अध्ययन का नाम 'लोक विचय' है। उसकी निर्युक्ति में लोक विचय के अनेक अर्थ मिलते हैं। उनमें 'लोक का एक अर्थ कषाय लोक भी है।[6] आचारांग में 'लोक' का एक अर्थ शरीर भी मिलता है।[7] लोक का अर्थ 'प्राणी-गण' प्रस्तुत श्लोक के 'सव्वलोए' इस पद की चूर्णि में मिलता है।[8] यहां 'लोक' शब्द का अभिप्रेत अर्थ कषाय है।

चूर्णिकार ने 'लोग' के स्थान में 'लोभ' शब्द मानकर शेष तीनों कषायों का ग्रहण किया है। इसके द्वारा अठारह पाप भी गृहीत हैं।[9]

वृत्तिकार ने इस पद का मुख्य अर्थ—अशुभकर्मकारी अथवा उसके फल को भोगने वाला व्यक्ति के वश में न जाए—ऐसा किया है। वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ—कषाय लोक है।[10]

देखें—१।८१ का टिप्पण।

श्लोक ५२ :

१३२. धुत का (धुयं)

आचारांग के छठे अध्ययन का नाम 'धुत' है। उसके पांच उद्देशक हैं। प्रत्येक उद्देशक में प्रमुख रूप से एक-एक धुत

---

१. (क) अंतगडदसाओ ३।७२ : अहीव एगंतदिट्ठिए।
   (ख) प्रश्नव्याकरण, १०।११ : अहा अही चेव एगदिट्ठी।
२. चूर्णि, पृ० १४० : एकान्तदृष्टिरिति इदमेव णिग्गंथं पावयणं।
३. वृत्ति, पत्र १४१ : तथैकान्तेन निश्चला जीवादितत्त्वेषु दृष्टिः—सम्यग्दर्शनं यस्य स एकान्तदृष्टिः निष्प्रकम्पसम्यक्त्व इत्यर्थः।
४. चूर्णि, पृ० १४० : बुज्झेज्ज त्ति अधिज्जेज्ज, अधीतुं च सुणेज्ज, सोतुं बुज्झेज्ज।
५. उत्तरज्झयणाणि, ३६।२ : जीवा चेव अजीवा य, एस लोए वियाहिए।
६. आचारांग निर्युक्ति, गाथा १७७ : विजिओ कसायलोगो...... ।
७. आयारो २।१२५ का टिप्पण, पृ० ११२, ११३।
८. चूर्णि, पृ० १४० : सव्वलोके त्ति छज्जीवणिकायलोके।
९. चूर्णि, पृ० १४० : लोभस्स वसं ण गच्छेज्ज त्ति कसायणिग्गहो गहितो सेसाण वि कोधादीणं वसं ण गच्छेज्जा। अट्ठारस वि ट्ठाणाइं।
१०. वृत्ति, पत्र १४१ : 'लोकम्' अशुभकर्मकारिणं तद्विपाकफलभुजं वा यदि वा—कषायलोकम्।

प्रतिपादित है। उनके अन्तर्गत अनेक धुत और हैं। धुत अनेक हैं। धुत का अर्थ है—प्रकम्पित, पृथक्कृत। कुछेक धुत ये हैं—स्वजन परित्याग धुत, कर्म परित्याग धुत, उपकरण और शरीर परित्याग धुत आदि, आदि।

चूर्णिकार ने 'धुत' का अर्थ कर्म को प्रकंपित करने वाला चारित्र किया है।[1]

वृत्तिकार ने 'धुत' के स्थान पर 'ध्रुव' शब्द मानकर उसका अर्थ—मोक्ष या संयम किया है।[2]

१३३. कर्मक्षय के काल की (कालं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[3]—

१. समस्त कर्मों के क्षम का काल।

२. पंडित मरण का काल।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—मृत्युकाल किया है।[4]

मुनि को जीवन या मरण की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए—यह जैन परंपरा सम्मत तथ्य है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत प्रसंग में 'कंखेज्ज कालं' का अर्थ मरण की आकांक्षा न होकर, कर्मक्षय की आकांक्षा अथवा पंडित-मरण (समाधि मरण) की आकांक्षा—ये दोनों हो सकते हैं।

---

१. चूर्णि, पृ० १४० : धूयतेऽनेन कर्म इति धुतं चरित्रमित्युक्तम्।
२. वृत्ति, पत्र १४१ : ध्रुवो—मोक्षः संयमो वा।
३. चूर्णि, पृ० १४१ : कालं............सर्वकर्मक्षयकालं, यो वाऽन्यो पण्डितमरणकालः।
४. वृत्ति, पत्र १४१ : कालं—मृत्युकालम्।

छट्ठं अज्झयणं
महावीरत्थुई

छठा अध्ययन
महावीर स्तुति

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'महावीर स्तुति' है। चूर्णिकार ने इसका नाम 'महावीर स्तव' माना है।[1] चूर्णिकार[2] द्वारा स्वीकृत निर्युक्तिगाथा (७७) में 'थव' शब्द है और वृत्तिकार द्वारा स्वीकृत निर्युक्ति गाथा (८४) में 'थुइ' शब्द है।[3] यही नामभेद का कारण है।

समवायांग में इसका नाम 'महावीर स्तुति' उपलब्ध है।[4] 'स्तव' और 'स्तुति' दोनों एकार्थक हैं।

निर्युक्तिकार ने 'महावीर स्तव' में निहित महा+वीर+स्तव—इन तीनों शब्दों के चार-चार निक्षेपों—द्रव्य, क्षेत्र काल और भाव—का निर्देश किया है।[5] चूर्णिकार और वृत्तिकार ने उनकी विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है।[6] उससे अनेक तथ्य प्रगट होते हैं।

चूर्णिकार ने महत् शब्द के दो अर्थ किए हैं—प्रधान और बहुत।[7] वृत्तिकार इसके चार अर्थ करते हैं[8]—

१. बहुत्व—जैसे महाजन।

२. बृहत्व—जैसे महाघोष।

३. अत्यर्थ—जैसे महाभय।

४. प्राधान्य—जैसे महापुरुष।

महत् शब्द यहां प्राधान्य अर्थ में गृहीत है। उसके निक्षेप इस प्रकार हैं—[9]

१. द्रव्य महत्—इसके तीन प्रकार हैं—सचित्त, अचित्त और मिश्र।

(क) सचित्त के तीन प्रकार—

- द्विपद—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव।
- चतुष्पद—सिंह, हस्तिरत्न, अश्वरत्न।

अपद (परोक्ष अपद)—कूट शाल्मली वृक्ष, कल्पवृक्ष।

(प्रत्यक्ष अपद) जो यहां वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से उत्कृष्ट हैं, जैसे कमल (वर्ण से), गोशीर्षचंदन (गंध से), पनस (रस से), बालकुमुदपत्र, शिरीष कुसुम (स्पर्श से)।

(ख) अचित्त—वैडूर्य आदि प्रभावान् मणियों के प्रकार। वनस्पति से निष्पन्न द्रव्य जो वर्ण, गंध, रस और स्पर्श से उत्कृष्ट हों।

(ग) मिश्र—सचित्त-अचित्त दोनों के योग से बने द्रव्य या अलंकृत और विभूषित तीर्थंकर।

---

१. चूर्णि, पृ० १४२ : इदाणीं महावीरत्थवो त्ति अज्झयणं।

२. वही, पृ० १४२ : थवणिक्खेवो······।

३. वृत्ति, पत्र १४२ : थुइणिक्खेवो······।

४. समवाओ, १६।१।

५. निर्युक्ति गाथा, ७६।

६. (क) चूर्णि, पृ० १४१। (ख) वृत्ति, पत्र १४१, १४२।

७. चूर्णि, पृ० १४१ : महदिति प्राधान्ये बहुत्वे च।

८ वृत्ति, पत्र १४१ : महच्छब्दो बहुत्वे, यथा—महाजन इति; अस्ति बृहत्वे, यथा—महाघोष:; अस्त्यत्यर्थे, यथा—महाभयमिति; अस्ति प्राधान्ये, यथा—महापुरुष इति, तत्रेह प्राधान्ये वर्तमानो गृहीत।

९. चूर्णि पृ० १४१।

२. क्षेत्र महत्—सिद्धि क्षेत्र। धर्माचरण की अपेक्षा से महाविदेह क्षेत्र प्रधान होता है तथा मनुष्य के लिए स्वतन्त्र सुख तथा वैषयिक सुखों की दृष्टि से देवकुरु आदि क्षेत्र प्रधान होते हैं।

३. काल महत्—काल की दृष्टि से 'एकांत सुषमा' आदि काल प्रधान होता है अथवा जो काल धर्माचरण के लिए उपयुक्त होता है वह प्रधान होता है।

४. भाव महत्—पांच भावों में 'क्षायिकभाव' प्रधान होता है। तीर्थंकर के शरीर की अपेक्षा से औदयिक भाव भी प्रधान होता है। प्रस्तुत प्रसंग में दोनों भाव गृहीत हैं।

वीर का अर्थ है वीर्यवान् शक्तिशाली। इसके चार निक्षेप इस प्रकार हैं—[1]

१. द्रव्यवीर—सचित्त, अचित्त और मिश्र द्रव्य के वीर्य—शक्ति को द्रव्य वीर्य कहा जाता है।

(क) सचित्त के तीन प्रकार हैं—

द्विपद—तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव का शारीरिक वीर्य।

चूर्णिकार ने आवश्यक निर्युक्ति की पांच गाथाओं (७१ से ७५) को उद्धृत कर शलाकापुरुषों के बल का वर्णन किया है। प्रस्तुत गाथाओं में तीर्थंकर को अपरिमित बलशाली माना है। चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—तीर्थंकर अपने शारीरिक बल का प्रदर्शन नहीं करते, किन्तु उनमें इतनी शारीरिक शक्ति है कि वे लोक को उठाकर एक गेंद की भांति अलोक में फेंक सकते हैं। वे मन्दर पर्वत को छत्र का दंड बनाकर रत्नप्रभा पृथ्वी को छत्र की तरह धारण कर सकते हैं।[2] यह असद्भावस्थापना—वास्तविकता का काल्पनिक निदर्शन है। ऐसा न होता है, न कोई करता है। पर तीर्थंकर में इतनी शक्ति होती है। भगवान् महावीर पर संगमदेव ने कालचक्र फेंका। भगवान् ने अपने शारीरिक बल के आधार पर ही उसे झेला था।

चक्रवर्ती

चक्रवर्ती कूप के तट पर स्थित हैं। उनको सांकल से बांधकर, बत्तीस हजार राजा अपनी चतुरंगिणी सेना के सहारे खींचते हैं, फिर भी वे उन्हें टस से मस नहीं कर सकते। प्रत्युत चक्रवर्ती अपने वामहस्त से सांकल को खींचकर सबको गिरा देते हैं।

वासुदेव

वासुदेव कूप के तट पर स्थित हैं। उनको सांकल से बांधकर सोलह हजार राजा अपनी चतुरंगिणी सेना के सहारे खींचते हैं, फिर भी वे उन्हें एक रेखा मात्र भी आगे नहीं ला सकते। प्रत्युत बलदेव अपने वामहस्त से सांकल को खींचकर सबको गिरा देते हैं। चक्रवर्ती से बलदेव की शारीरिक शक्ति आधी होती है।

बलदेव

वासुदेव के बल से बलदेव का बल आधा होता है। इस प्रकार बलदेव की शारीरिक शक्ति से वासुदेव की शक्ति दुगुनी और वासुदेव की शक्ति से चक्रवर्ती की शक्ति दुगुनी होती है। तीर्थंकर की शक्ति चक्रवर्ती की शक्ति से भी अधिक होती है, अपरिमित होती है।[3]

० चतुष्पद द्रव्यवीर्य—सिंह, अष्टापद आदि का बल।

० अपद द्रव्यवीर्य—

अप्रशस्त—विष आदि की शक्ति।

प्रशस्त—संजीवनी औषधि आदि की शक्ति।

मिश्र-द्रव्य-वीर्य—औषधि का वीर्य।

---

१. चूर्णि, पृ० १४१ : वीरः वीर्यमस्यास्तीति वीर्यवान्। वीरस्स पुण णिक्खेवो चतुविधो।

२. वही पृ० १४१ : असद्भावस्थापनातः स हि तिन्दुकमिव लोकं अलोके प्रक्षिपेत्, मन्दरं वा दण्डं कृत्वा रत्नप्रभां पृथिवीं छत्रकवद् धारयेत्।

३. वही, पृ० १४१।

क्षेत्र वीर्य—जिस क्षेत्र विशेष में शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

३. कालवीर—जिस काल विशेष में वीर्य उत्पन्न होता है।

४. भाववीर—क्षायिक वीर्य से संपन्न व्यक्ति जो उपसर्ग और परीसहों से कभी पराजित नहीं होता।[1]

वृत्तिकार ने कषायविजयी को भी भाववीर माना है।[2]

प्रस्तुत अध्ययन में बावन श्लोक हैं।

निर्युक्तिकार ने इस अध्ययन की अंतिम निर्युक्ति गाथा में अध्ययन की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है। उसके अनुसार जम्बूस्वामी ने आर्य सुधर्मा से भगवान् महावीर के गुणों के विषय में प्रश्न किया और आर्य सुधर्मा ने इस अध्ययन के माध्यम से महावीर के गुणों का प्रतिपादन किया। साथ-साथ उन्होंने कहा—जैसे महावीर ने उपसर्गों और परीसहों पर विजय प्राप्त की वैसे ही मुनि को उपसर्गों और परीसह पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। इसका वैकल्पिक अर्थ यह हो सकता है कि जैसे महावीर ने संयम साधना की वैसे ही मुनि को संयम की साधना करनी चाहिए।[3]

सूत्रकार ने प्रथम तीन श्लोकों में अध्ययन की पृष्ठभूमि का स्पष्ट प्रतिपादन करते हुए आर्य सुधर्मा और जम्बू स्वामी के मध्य हुए वार्तालाप को सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। उसका विस्तृत वर्णन इस प्रकार है—

आर्य सुधर्मा ने परिषद् के बीच नारकीय जीवों की वेदना का सजीव वर्णन किया और उनकी उत्पत्ति के हेतुओं का स्पष्ट दिग्दर्शन कराया। नारकीय यातनाओं को सुनकर वे सब पार्षद उद्विग्न हो गए। 'हम नरक में न जाएं'—इसका उपाय पूछने के लिए वे सब आर्य सुधर्मा के समक्ष उपस्थित हुए। प्रश्न करने वालों में वे सब थे जिन्होंने महावीर को साक्षात् देखा था या जिन्होंने उन्हें साक्षात् नहीं देखा था। उन प्रश्नकर्ताओं में जंबू स्वामी आदि श्रमण, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि सभी जाति के लोग तथा चरक आदि अनेक परतीर्थिक भी थे। उन्होंने पूछा—आर्यवर। आपने जो धर्म कहा है, वह श्रुतपूर्व है या अनुभूतिगम्य? सुधर्मा ने कहा—श्रुतपूर्व है। महावीर ने जो कहा है उसीका मैंने प्रतिपादन किया है। तब जम्बू आदि श्रोताओं ने कहा – भगवान् महावीर अतीत में हो चुके है। वे हमारे साक्षात् नहीं है। हम उनके गुणों को जानना चाहते हैं। उन्होंने इन सब तत्त्वों को कैसे जाना? उनका ज्ञान, दर्शन और शील कैसा था? हे आर्यवर! आप उनके निकट रहे है। आपने उनके साथ संभाषण किया है इसलिए उनके गुणों के आप यथार्थ ज्ञाता हैं। जैसे आपने देखा है और अवधारित किया है, वैसे ही आप हमें बताएं।[4]

इन सभी प्रश्नों के उत्तर में आर्य सुधर्मा ने भगवान् महावीर के यशस्वी जीवन का दिग्दर्शन कराया, उनके अनेक गुणों का उत्कीर्तन किया। यह सभी इन आगे के श्लोकों में प्रतिपादित है।

प्रस्तुत अध्ययन ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। भगवान् महावीर से पूर्व की परम्परा चातुर्याम की परम्परा थी। उसके प्रवर्तक थे भगवान् पार्श्व। पार्श्व ने संघ में सामायिक चारित्र का प्रतिपादन किया था। उसके चार अंग थे—अहिंसा, सत्य, अचौर्य और बाह्यदान-विरमण। भगवान् महावीर ने केवलज्ञान प्राप्त किया और तीर्थ चतुष्टय की स्थापना कर तीर्थंकर हुए और पार्श्वापत्यीय परम्परा का वृहद् संघ भगवान् महावीर के संघ में विलीन हो गया। अनेक मुनि महावीर के शासनकाल में सम्मिलित हो गए और कुछ स्वतन्त्र विहरण करने लगे। तब महावीर ने अपने संघ में परिष्कार, परिवर्द्धन और सम्वर्धन किया। उनकी नई स्थापनाओं के कुछेक बिन्दु ये हैं—

१. चातुर्याम की परम्परा को बदलकर पांच महाव्रतों की परम्परा का प्रवर्तन किया।[5] भगवान् महावीर ने 'बहिद्धादान-विरमण महाव्रत का विस्तार कर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन दो स्वतन्त्र महाव्रतों की स्थापना की। अब्रह्मचर्य की

---

१. वही, पृ० १४१।

२. वृत्ति, पत्र १४२।

३. निर्युक्ति गाथा ७८ : पुच्छिसु जंबुणामो अज्जसुधम्मो ततो कहेसी य।
एव महप्पा वीरो जतमाहु तधा जतेज्जाध॥

४ सूयगडो ६।१-३, चूर्णि, पृ० १४२,१४३।

५. उत्तरज्झयणाणि, २३।२३ : चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महामुणी॥

वृत्ति को प्रश्रय देने के लिए जिन कुतर्कों का प्रयोग किया जाता था, उसका इस स्थापना के द्वारा समूल उन्मूलन हो गया।

२. भगवान् पार्श्व की परम्परा सचेल थी। भगवान् महावीर ने सचेल और अचेल—दोनों परम्पराओं को मान्यता दी

३. रात्रि-भोजन-विरमण को व्रत का रूप देकर महाव्रतों के अनन्तर स्थान दिया।

४. अहिंसा की अंगभूत पांच प्रवचन माताओं—समितियों तथा तीन गुप्तियों की स्वतन्त्र व्यवस्था की।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने पार्श्व के चातुर्याम धर्म का विस्तार कर त्रयोदशांग धर्म की प्रतिष्ठा की—पांच महाव्रत, पांच समितियां और तीन गुप्तियां।

इन सभी ऐतिहासिक तथ्यों का बीजरूप निरूपण इसी अध्ययन के अठावीसवें श्लोक में हुआ है—

'से वारिया इत्थि सराइभत्तं, उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।
लोगं विदित्ता अपरं परं च, सव्वं पभू वारिय सव्ववारी ।।'

भगवान् महावीर का एक विशेषण है—निर्वाणवादी। प्रस्तुत अध्ययन में 'णिव्वाणवादी णिह णायपुत्ते' (२१) तथा 'णिव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा (२४)'—ये दो स्थल भगवान् महावीर के साधना सूत्रों की आधारशिला की ओर संकेत करते हैं।

प्राचीन काल की दार्शनिक परंपरा में दो मुख्य परम्परा रही हैं—निर्वाणवादी परंपरा और स्वर्गवादी परंपरा। निर्वाणवादी परंपरा का अंतिम लक्ष्य है—स्वर्ग। भगवान् महावीर ने निर्वाण के आदर्श को सर्वाधिक मूल्य दिया, इसलिए वे निर्वाणवादियों में श्रेष्ठ कहलाए और उनकी परंपरा निर्वाणवादी परंपरा कहलाई। इस परंपरा में साधना के वे ही तथ्य मान्य हैं जो कि निर्वाण के पोषक, संवर्धक हैं। स्वर्गवादी परंपरा में ऐसा नहीं है। याज्ञिक -परंपरा स्वर्गवादी परंपरा है।

भगवान् महावीर के युग में तीन सौ तिरेसठ धर्म-संप्रदाय थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। बौद्ध साहित्य में बासठ धर्म संप्रदाय का उल्लेख है। जैन आगमों में उन सबका समाहार चार वर्गों में किया गया है—क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद। प्रस्तुत अध्ययन के सताइसवें श्लोक में भगवान् महावीर को इन सब वादों से परिचित बताया है।

प्रस्तुत अध्ययन में भगवान् महावीर के लिए प्रयुक्त कुछेक विशेषण आर्थिक, शाब्दिक और ऐतिहासिक दृष्टि से मीमांसनीय हैं—

(१) प्रज्ञ या प्राज्ञ (२) निरामगंध (३) अनायु (४) अनन्तचक्षु।

सूत्रकार भगवान् महावीर को 'सुमेरु' पर्वत से उपमित करते हुए 'सुमेरु' का सुन्दर वर्णन प्रस्तुत करते है।[1]

इसी प्रकार शास्त्रकार ने भगवान् महावीर की अनेक अनुत्तरताएं बतलाई हैं।[2]

१ सूयगडो, ६।९-१३।

२. वही, ६।१८-२४।

छट्ठं अज्झयणं : छठा अध्ययन

महावीरत्थुई : महावीर स्तुति

मूल — **संस्कृत छाया** — **हिन्दी अनुवाद**

१. पुच्छिसु णं समणा माहणा य
अगारिणो या परतित्थिया य ।
से के इमं णितियं धम्ममाहु
अणेलिसं ? साहुसमिक्खयाए ॥

अप्राक्षुः श्रमणा माहणाश्च,
अगारिणश्च परतीर्थिकाश्च ।
स कः इमं नित्यं धर्ममाह,
अनीदृशं ? साधुसमीक्षया ॥

१. श्रमणों, ब्राह्मणों[1], गृहस्थों[2] और परतीर्थिकों[3] ने (जम्बू से और जम्बू ने सुधर्मा से) पूछा[4]—'वह (ज्ञातपुत्र) कौन है जिसने भलीभांति देखकर[5] इस, शाश्वत[6] और अनुपम धर्म का निरूपण किया ?[7]

२. कहं व णाणं ? कह दंसणं से ?
सीलं कहं णायसुयस्स आसि ? ।
जाणासि णं भिक्खु ! जहातहेणं
अहासुयं बूहि जहा णिसंतं ॥

कथं वा ज्ञानं कथं दर्शनं तस्य,
शीलं कथं ज्ञातसुतस्यासीत् ?
जानासि भिक्षो ! यथातथेन,
यथाश्रुतं ब्रूहि यथा निशान्तम् ॥

२. ज्ञातपुत्र[8] का ज्ञान कैसा था ? उनका दर्शन कैसा था ?[9] उनका शील-सदाचार कैसा था ? हे भिक्षु[10] ! (प्रत्यक्ष दर्शन के द्वारा) यथार्थ रूप में जो तुम जानते हो[11] और जो तुमने सुना है, जैसा तुमने अवधारित किया है[12] वह हमें बताओ ।

३. खेयण्णए से कुसले मेहावी
अणंतणाणी य अणंतदंसी ।
जसंसिणो चक्खुपहे ठियस्स
जाणाहि धम्मं च धिइं च पेह ॥

क्षेत्रज्ञकः स कुशलो मेधावी
अनन्तज्ञानी च अनन्तदर्शी ।
यशस्विनः चक्षुष्पथे स्थितस्य,
जानीहि धर्मञ्च धृतिञ्च प्रेक्षस्व ॥

३. (सुधर्मा ने कहा) ज्ञातपुत्र आत्मज्ञ,[13] कुशल[14], मेधावी[15], अनन्तज्ञानी और अनन्तदर्शी थे । उन यशस्वी और आलोक-पथ में स्थित[16] ज्ञातपुत्र के धर्म को जानो और उनकी धृति को देखो ।[17]

४. उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पण्णे
दीवे व धम्मं समियं उदाहु ॥

ऊर्ध्वमधश्च तिर्यग् दिशासु,
त्रसाश्च ये स्थावराश्च ये प्राणाः ।
स नित्यानित्याभ्यां समीक्ष्य प्रज्ञः,
द्वीपमिव धर्मं सम्यगुदाह ॥

४. ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी है[18] उन्हें नित्य और अनित्य—इन दोनों दृष्टियों से भलीभांति देखकर प्रज्ञ ज्ञातपुत्र ने[19] द्वीप[20] की भांति सबको शरण देने वाले (अथवा दीपक की भांति सबको प्रकाशित करने वाले) धर्म का सम्यक्[21] प्रतिपादन किया है ।

५. से सव्वदंसी अभिभूय णाणी
णिरामगंधे धिइमं ठियप्पा ।
अणुत्तरे सव्वजगंसि विज्जं
गंथा अतीते अभए अणाऊ ॥

स सर्वदर्शी अभिभूय ज्ञानी,
निरामगंधो धृतिमान् स्थितात्मा ।
अनुत्तरः सर्वजगति विद्वान्,
ग्रन्थाद् अतीतः अभयः अनायुः ॥

५. वे सर्वदर्शी थे । वे ज्ञान के आवरण को अभिभूत कर केवली बन चुके थे ।[22] वे विशुद्ध-भोजी[23], धृतिमान्[24] और स्थितात्मा[25] थे । वे संपूर्ण लोक में

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'कुशील-परिभाषित' है।[1] इसमें कुशील के स्वभाव, आचार-व्यवहार, अनुष्ठान और उसके परिणाम को समझाया गया है। चूर्णिकार के अनुसार इसमें कुशील और सुशील—दोनों परिभाषित हैं।[2] जिनका शील—आचार या चारित्र धर्मानुकूल नहीं है, वे कुशील कहलाते हैं। मुख्यतः कुशील चार प्रकार के हैं[3]—

१. परतीर्थिक कुशील—अन्य धर्म संप्रदायों के शिथिल साधु।

२. पार्श्वापत्यिक कुशील—पार्श्व की परंपरा के शिथिल साधु।

३. निर्ग्रन्थ कुशील—महावीर की परंपरा के शिथिल साधु।

४. गृहस्थ कुशील—अशील गृहस्थ।

इसमें कुशील का वर्णन ही नहीं, सुशील का वर्णन भी प्राप्त है। इसमें तीस श्लोक हैं। उनका वर्ण्य-विषय इस प्रकार है—

श्लोक १ से ४ -	सामान्यतः कुशील के कार्य और परिणाम।
५-६	पाषण्ड कुशीलों का वर्णन।
१०-११	कुशील का फल-विपाक
१२-१८	कुशील दर्शनों की मान्यताओं का निरूपण
१६-२०	कुशील दर्शनावलंबियों का फल-विपाक
२१	निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित कुशील का लक्षण।
२२	सुशील का अनुष्ठान।
२३-२६	पार्श्वस्थ कुशीलों का आचार-व्यवहार।
२७-३०	सुशील के मूलगुण और उत्तरगुणों का प्रतिपादन।

'शील' शब्द के चार निक्षेप हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव[4]—

द्रव्यशील—जो केवल आदतन क्रिया करता है, उसके फल के प्रति निरपेक्ष होता है, वह उसका शील है, जैसे—कपड़ा ओढने का प्रयोजन प्राप्त न होने पर भी जो सदा कपड़े ओढे रहता है, या जिसका ध्यान कपड़ो में केन्द्रित रहता है, वह प्रावरणशील कहलाता है। इसी प्रकार मण्डनशील स्त्री, भोजनशील, स्निग्ध भोजनशील, अर्जनशील आदि द्रव्यशील के उदाहरण हैं।[5]

द्रव्यशील का दूसरा अर्थ है—चेतन या अचेतन द्रव्य का स्वभाव। जैसे—मादकता मदिरा का स्वभाव है और मेधा-वर्धन और सुकुमारता घी का स्वभाव है।[6]

भावशील के मुख्यतः दो प्रकार हैं—

१. ओघभावशील—पाप कार्यों से संपूर्ण विरत अथवा विरत-अविरत।

२. अभीक्ष्ण्यसेवनाशील—निरंतर या बार-बार शील का आचरण करने वाला।

भावशील के दो प्रकार और होते हैं—

१. प्रशस्त ओघभावशील—धर्मशील।
   अप्रशस्त ओघभावशील—पापशील।

---

१. चूर्णि, पृ० १५१ : इदानीं कुशीलपरिभासितं ति।

२. वही, पृष्ठ १५१ :…जत्थ कुसीला सुसीला य परिभासिज्जंति।

३. वृत्ति, पत्र १५२ : कुशीलाः—परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा स्वयूथ्या अशीलाश्च गृहस्थाः।

४. निर्युक्तिगाथा, ७६ : सीले चतुक्क दव्वे पाउरणाऽऽभरण-भोयणादीसु।

५. चूर्णि, पृ० १५१।

६. वही पृष्ठ १५१ : यो वा यस्य द्रव्यस्य स्वभावः तद् द्रव्यं तच्छीलं भवति, यथा—मदनशीला मदिरा, मेध्यं घतं सुकुमारं चेत्यादि।

१२. से पव्वए सद्दमहप्पगासे
विरायती कंचणमट्ठवण्णे।
अणुत्तरे गिरिसु य पव्वदुग्गे
गिरीवरे से जलिए व भोमे॥

स पर्वतः शब्दमहाप्रकाशः,
विराजते काञ्चनमृष्टवर्णः।
अनुत्तरो गिरिषु च पर्वदुर्गः,
गिरिवरः स ज्वलित इव भौमः॥

१२. वह अनेक शब्दों (मंदर, मेरु, सुदर्शन, सुरगिरि) से सब लोगों में प्रसिद्ध है।[५१] वह चमकते हुए सोने के वर्ण वाला है। वह गिरिवर सब पर्वतों में श्रेष्ठ, मेखलाओं से दुर्गम और (मणिओं तथा औषधियों से) प्रदीप्त आकाश जैसा लगता है।[५२]

१३. महीए मज्झम्मि ठिए णगिंदे
पण्णायते सूरियसुद्धलेसे।
एवं सिरीए उ स भूरिवण्णे
मणोरमे जोयति अच्चिमाली॥

मह्यामध्ये स्थितो नगेन्द्रः,
प्रज्ञायते सूर्यशुद्धलेश्यः।
एवं श्रिया तु स भूरिवर्णः,
मनोरमो द्योतते अर्चिमाली॥

१३. वह नगेन्द्र भूमी के मध्य में[५३] स्थित है और सूर्य के समान तेजस्वी[५४] प्रतीत हो रहा है। अपनी पर्वतश्री से वह नाना वर्णवाला, मनोरम और रश्मि-माला से द्योतित हो रहा है।

१४. सुदंसणस्सेस जसो गिरिस्स
पवुच्चती महतो पव्वतस्स।
एतोवमे समणे णातपुत्ते
जाती-जसो-दंसण-णाण-सीले॥

सुदर्शनस्य एतद् यशो गिरेः,
प्रोच्यते महतो पर्वतस्य।
एतदुपमः श्रमणः ज्ञातपुत्रः,
जाति-यशः-दर्शन-ज्ञानशीलः॥

१४. महान् पर्वत सुदर्शन (मेरु) के यश का यह निरूपण है। ज्ञातपुत्र श्रमण महावीर जाति, यश[५५] दर्शन, ज्ञान और शील से सुदर्शन के समान श्रेष्ठ हैं।

१५. गिरीवरे वा णिसढायताणं
रुयगे व सेट्ठे वलयायताणं।
ततोवमे से जगभूतिपण्णे
मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे॥

गिरिवरो वा निषधः आयतानां,
रुचक इव श्रेष्ठः वलयायतानाम्।
तदुपमः स जगत्भूतिप्रज्ञः,
मुनीनां मध्ये तमुदाहुः प्राज्ञः॥

१५. जैसे लंबे पर्वतों में निषध[५६] और गोल पर्वतों में रुचक श्रेष्ठ है वैसे ही जगत् में सत्यप्रज्ञ ज्ञातपुत्र प्राज्ञ मुनियों में श्रेष्ठ हैं।[५७]

१६. अणुत्तरं धम्ममुदीरइत्ता
अणुत्तरं झाणवरं झियाइ।
सुसुक्कसुक्कं अपगंडसुक्कं
संखेंदुवेगंतवदातसुक्कं॥

अनुत्तरं धर्ममुदीर्य,
अनुत्तरं ध्यानवरं ध्यायति।
सुशुक्लशुक्लं अपगण्डशुक्लं,
शंखेन्दुवदेकान्तावदातशुक्लम्॥

१६. उन्होंने अनुत्तर धर्म का उपदेश दे अनुत्तर ध्यान किया, जो शुक्ल से अधिक शुक्ल, फेन की भांति शुक्ल, शंख और चन्द्रमा की भांति एकांत विशुद्ध शुक्ल है।[५८]

१७. अणुत्तरग्गं परमं महेसी
असेसकम्मंस विसोहइत्ता।
सिद्धिं गतिं साइमणंत पत्ते
णाणेण सीलेण य दंसणेण॥

अनुत्तराग्रां परमां महर्षिः,
अशेषकर्मांशान् विशोध्य।
सिद्धिं गतिं सादिमनन्तां प्राप्तः,
ज्ञानेन शीलेन च दर्शनेन॥

१७. महर्षि ज्ञातपुत्र ज्ञान, शील[५९] और दर्शन के द्वारा सारे कर्मों का[६०] विशोधन (निर्जरण) कर सिद्धिगति को प्राप्त हो गए, जो अनुत्तर, लोक के अग्र-भाग में स्थित,[६१] परम तथा सादि-अनन्त[६२] है—जहां मुक्त आत्मा जाती है पर लौट कर नहीं आती।

१८. रुक्खेसु णाते जह सामली वा
जंसी रतिं वेययंती सुवण्णा।
वणेसु या णंदणमाहु सेट्ठं
णाणेण सीलेण य भूतिपण्णे॥

रूक्षेषु ज्ञातः यथा शाल्मली वा,
यस्मिन् रतिं वेदयन्ति सुपर्णाः।
वनेषु च नन्दनमाहुः श्रेष्ठं,
ज्ञानेन शीलेन च भूतिप्रज्ञः॥

१८. वृक्षों में जैसे शाल्मली[६३] प्रसिद्ध है,[६४] जहां सुपर्णकुमार देव आनन्द का अनुभव करते हैं तथा वनों में जैसे नन्दन वन[६५] श्रेष्ठ है, वैसे ही सत्यप्रज्ञ[६६] ज्ञातपुत्र ज्ञान और शील से श्रेष्ठ हैं

१९. थणितं व सद्दाण अणुत्तरं उ
चंदे व ताराण महाणुभावे।
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं
एवं मुणीणं अपडिण्णमाहु ॥

स्तनितं वा शब्दानामनुत्तरं तु,
चन्द्रो वा ताराणां महानुभावः।
गन्धेषु वा चन्दनमाहुः श्रेष्ठं,
एवं मुनीनां अप्रतिज्ञमाहुः ॥

१९. जैसे शब्दों में मेघ का गर्जन[७७] अनुत्तर, तारागण में चन्द्रमा[७८] महाप्रतापी और गंधों में चन्दन[७९] श्रेष्ठ है, वैसे ही अनासक्त[८०] मुनियों में ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ हैं।

२०. जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे
णागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठं।
खोओदए वा रस-वेजयंते
तहोवहाणे मुणि वेजयंते ॥

यथा स्वयंभूः उदधीनां श्रेष्ठः,
नागेषु वा धरणेन्द्रमाहुः श्रेष्ठम्।
क्षोदोदको वा रसवैजयन्तः,
तथोपधाने मुनिर्वैजयन्तः ॥

२०. जैसे समुद्रों में स्वयंभू[८१], नागकुमार देवों में[८२] धरणेन्द्र और रसों में इक्षुरस श्रेष्ठ होता है,[८३] वैसे ही तपस्वी मुनियों में[८४] ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ हैं।

२१. हत्थीसु एरावणमाहु णाते
सीहो मिगाणं सलिलाण गंगा।
पक्खीसु या गरुले वेणुदेवे
णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते ॥

हस्तिष्वैरावणमाहुर्ज्ञातः,
सिंहो मृगाणां सलिलानां गङ्गा।
पक्षिषु च गरुडो वेणुदेवः,
निर्वाणवादिनामिह ज्ञातपुत्रः ॥

२१. जैसे हाथियों में ऐरावण, पशुओं में[८५] सिंह, नदियों में[८६] गंगा, पक्षियों में वेणुदेव गरुड[८७] प्रधान होता है, वैसे ही निर्वाणवादियों में[८८] ज्ञातपुत्र प्रधान हैं।

२२. जोहेसु णाए जह वीससेणे
पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु।
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के
इसीण सेट्ठे तह वद्धमाणे ॥

योधेषु ज्ञातः यथा विश्वसेनः,
पुष्पेषु वा यथाऽरविन्दमाहुः।
क्षत्रिणां श्रेष्ठो यथा दन्तवक्त्रः,
ऋषीणां श्रेष्ठस्तथा वर्द्धमानः ॥

२२. जैसे योद्धाओं में वासुदेव कृष्ण,[८९] फूलों में कमल, क्षत्रियों में दंतवक्त्र[९०] श्रेष्ठ होता है, वैसे ही ऋषियों में ज्ञातपुत्र वर्द्धमान श्रेष्ठ हैं।

२३. दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं
सच्चेसु या अणवज्जं वयंति।
तवेसु या उत्तम बंभचेरं
लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते ॥

दानानां श्रेष्ठं अभयप्रदानं,
सत्येषु चानवद्यं वदन्ति।
तपस्सु चोत्तमं ब्रह्मचर्यं,
लोकोत्तमः श्रमणो ज्ञातपुत्रः ॥

२३. जैसे दानों में अभयदान,[९१] सत्य-वचन में अनवद्य-वचन[९२], तपस्या में[९३] ब्रह्मचर्य प्रधान होता है, वैसे ही श्रमण ज्ञातपुत्र लोक में प्रधान हैं।[९४]

२४. ठितीण सेट्ठा लवसत्तमा वा
सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा।
णिव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा
ण णायपुत्ता परमत्थि णाणी ॥

स्थितीनां श्रेष्ठाः लवसप्तमा वा,
सभा सुधर्मा वा सभानां श्रेष्ठा।
निर्वाणश्रेष्ठा यथा सर्वधर्माः,
न ज्ञातपुत्रात् परमस्ति ज्ञानी ॥

२४. जैसे स्थिति (आयु की काल-मर्यादा) में लवसप्तम (अनुत्तर-विमानवासी) देव,[९५] सभाओं में सुधर्मा सभा[९६] और सब धर्मों में निर्वाण श्रेष्ठ है,[९७] वैसे ही ज्ञानियों में ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ हैं—उनसे अधिक कोई ज्ञानी नहीं है।

२५. पुढोवमे धुणती विगयगेही
ण सण्णिहिं कुव्वइ आसुपण्णे।
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं
अभयंकरे वीर अणंतचक्खू ॥

पृथ्व्युपमो धुनाति विगतगृद्धिः,
न सन्निधिं कुरुते आशुप्रज्ञः।
तरीत्वा समुद्रं वा महाभवौघं,
अभयंकरो वीरः अनन्तचक्षुः ॥

२५. आशुप्रज्ञ ज्ञातपुत्र पृथ्वी के समान सहिष्णु थे, इसलिए उन्होंने कर्म-शरीर को प्रकंपित किया। वे अनासक्त थे, इसलिए उन्होंने संग्रह नहीं किया।[९८] वे अभयंकर, वीर (पराक्रमी) और अनन्त चक्षु[९९] वाले थे। उन्होंने संसार के महान् समुद्र को तर कर (निर्वाण प्राप्त कर लिया।)

२६. कोहं च माणं च तहेव मायं
लोभं चउत्थं अज्झत्तदोसा।
एताणि वत्ता अरहा महेसी
ण कुव्वई पाव ण कारवेइ ॥

क्रोधं च मानं च तथैव मायां,
लोभं चतुर्थं अध्यात्मदोषान्।
एतान् त्यक्त्वा अर्हन् महर्षिः,
न कुरुते पापं न कारयति ॥

२६. अर्हत् महर्षी ज्ञातपुत्र क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों अध्यात्म-दोषों का[१००] त्याग कर, स्वयं न पाप करते थे और न दूसरों से करवाते थे।

२७. किरियाकिरियं वेणइयाणुवायं
अण्णाणियाणं पडियच्च ठाणं।
से सव्ववायं इह वेयइत्ता
उवट्ठिए सम्म स दीहरायं॥

क्रियाऽक्रियं वैनयिकानुवादं,
अज्ञानिकानां प्रतीत्य स्थानम्।
स सर्ववादमिह विदित्वा,
उपस्थितः सम्यक् स दीर्घरात्रम्॥

२७. ज्ञातपुत्र ने क्रियावाद, अक्रियावाद, वैनयिकवाद और अज्ञानवाद[९१] के पक्ष का निर्णय किया।[९२] इस प्रकार सारे वादों को जानकर[९३] वे दीर्घरात्र—यावज्जीवन तक[९४] संयम में उपस्थित रहे।

२८. से वारिया इत्थि सराइभत्तं
उवहाणवं दुक्खखयट्ठयाए।
लोगं विदित्ता अपरं परं च
सव्वं पभू वारिय सव्ववारी॥

स वारयित्वा स्त्रियं सरात्रिभक्तं,
उपधानवान् दुःखक्षयार्थम्।
लोकं विदित्वाऽपरं परं च,
सर्वं प्रभुर्वारितवान् सर्ववारी॥

२८. दुःखों को क्षीण करने के लिए तपस्वी[९५] ज्ञातपुत्र ने स्त्री और रात्री-भोजन का वर्जन किया[९६]। साधारण और विशिष्ट[९७]—दोनों प्रकार के लोगों को जानकर सर्ववर्जी प्रभु ने सब (स्त्री, रात्री-भोजन, प्राणातिपात आदि सभी दोषों) का वर्जन किना।[९८]

२९. सोच्चा य धम्मं अरहंतभासियं
समाहियं अट्ठपदोवसुद्धं।
तं सद्दहंताऽय जणा अणाऊ
इंदा व देवाहिव आगमिस्सं॥

श्रुत्वा च धर्मं अर्हद्भाषितं,
समाहितं अर्थपदोपशुद्धम्।
तं श्रद्धाना आदाय जनाः अनायुषः,
इन्द्रा वा देवाधिपाः आगमिष्ये॥

२९. समाधान देने वाले,[९९] अर्थ और पद से विशुद्ध[१००] अर्हत्-भाषित धर्म को सुन, उसे श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर[१०१] मनुष्य मुक्त[१०२] होते हैं अथवा अगले जन्म में देवाधिपति इन्द्र होते हैं।

—त्ति बेमि॥

—इति ब्रवीमि॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन ६

श्लोक १ :

१. ब्राह्मणों (माहणा)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—श्रावक, ब्राह्मण।[1] वृत्तिकार ने ब्रह्मचर्य आदि अनुष्ठानों में निरत व्यक्ति को माहण माना है।[2]

२. गृहस्थों (अगारिणो)

चूर्णिकार ने 'अकारिणो' पाठ मानकर इसका अर्थ क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र किया है।[3] वृत्तिकार ने 'अगारी' का अर्थ क्षत्रिय आदि किया है।[4]

३. परतीर्थिकों (परतित्थिया)

चूर्णिकार ने चरक आदि को तथा वृत्तिकार ने शाक्य आदि को परतीर्थिक माना है।[5]

४. पूछा (पुच्छिसु)

आर्य सुधर्मा ने अपनी वृहद् परिषद् में विभिन्न नरकों तथा वहां उत्पन्न होने वाले दुःखों का वर्णन किया। उस परिषद् में जम्बू आदि श्रमण, श्रावक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा चरक आदि परतीर्थिक और देवता भी थे। नरकों का वर्णन सुनकर वे उद्विग्न हो गए। उन सब ने आर्य सुधर्मा से पूछा—भगवन्! आप हमें ऐसा कोई उपाय बताएं जिससे कि हम इन नरकों में न जाएं।[6]

वृत्तिकार ने प्रधान रूप में इस अर्थ को मान्यता देते हुए वैकल्पिक रूप में यह माना है कि जम्बूस्वामी ने सुधर्मा से कहा—भंते! अनेक श्रमण, माहण आदि मुझे पूछते हैं कि वह कौन है जिसने संसार समुद्र से पार करने में समर्थ ऐसे धर्म का प्रतिपादन किया है।[7]

५. भलीभांति देखकर (साहुसमिक्खयाए)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—यथावस्थित तत्त्व के निश्चय से, समभाव से।[8]

---

१. चूर्णि, पृ० १४२ : माहणाः श्रावकाः ब्राह्मणजातीया वा।
२. वृत्ति, पत्र १४३ : ब्राह्मण ब्रह्मचर्याद्यनुष्ठाननिरताः।
३. चूर्णि, पृ० १४२ : अकारिणस्तु क्षत्रिय-विट्-शूद्राः।
४. वृत्ति, पत्र १४३ : अगारिणः क्षत्रियादयः।
५. (क) चूर्णि, पृ० १४२ : परतीर्थकाश्चरकादयः।
(ख) वृत्ति, पत्र १४३ : शाक्यादयः परतीर्थिकाः।
६. चूर्णि, पृ० १४२ : एतान् नरकान् श्रुत्वा भगवदार्यसुधर्मसकाशात् तद्दुःखोद्विग्नमानसाः कथमेतान्न गच्छेयाम इतिकृत्ति पार्षदा भगवन्तमार्यसुधर्माणं........पृष्टवन्तः........समणा—जम्बुनामादयः, जेसिं भगवं ण दिट्ठो, दिट्ठो व ण पुच्छितो, न य तग्गुणा यथार्थतः उपलब्धाः। माहणाः—श्रावकाः ब्राह्मणजातीया वा। अकारिणस्तु—क्षत्रियविट्शूद्राः। परतीर्थिकाश्चरकादयः चग्रहणाद् देवाः।
७. वृत्ति, पत्र १४३ : अनन्तरोक्तां बहुविधां नरकविभक्तिं श्रुत्वा संसारादुद्विग्नमनसः केनेयं प्रतिपादितेत्येतत् सुधर्मस्वामिनम् अप्राक्षुः पृष्टवन्तः........यदि वा जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमेवाह—यथा केनैवंभूतो धर्मः संसारोत्तारणसमर्थः प्रतिपादित इत्येतद्बहवो मां पृष्टवन्तः।
८. वृत्ति, पत्र १४३ : साध्वी चासौ समीक्षा च साधुसमीक्षा—यथावस्थिततत्त्वपरिच्छित्तिस्तया, यदिवा—साधुसमीक्षया—समतयोक्तवानिति।

चूर्णिकार 'समिक्ख दाए' पाठ मानकर, इसका अर्थ—समीक्षापूर्वक दिखाते हैं—किया है।[1]

६. शाश्वत·········धर्म (णितियं धम्मं)

आचारांग ४।१ में अहिंसा को नित्य धर्म, शाश्वत धर्म माना है।[2] किसी प्राणी, भूत, जीव और सत्त्व का हनन नहीं करना, उन पर शासन नहीं करना, उन्हें दास नहीं बनाना, उन्हें परिताप नहीं देना, उनका प्राण-वियोजन नहीं करना—यह धर्म शुद्ध, नित्य और शाश्वत है।

चूर्णिकार ने 'णितियं' का अर्थ नित्य, सनातन किया है। नित्य, सनातन, शाश्वत—सभी एकार्थक हैं।[3]

७. निरूपण किया (आहु)

यह बहुवचन का प्रयोग है। प्राकृत में एकवचन के स्थान पर बहुवचन और बहुवचन के स्थान पर एकवचन का प्रयोग होता है। यहां कर्त्ता में एकवचन है, अतः क्रियापद भी एकवचन का ही होना चाहिए।

चूर्णिकार ने एकवचन के स्थान पर बहुवचन के क्रियापद के प्रयोग की समीचीनता बतलाते हुए लिखा है कि बहुवचन के क्रियापद का प्रयोग तीन स्थानों पर किया जा सकता है—

- स्वयं के लिए।
- गुरु या बड़े पुरुषों के लिए।
- छन्द की अनुकूलता के लिए।

चूर्णि के अनुसार दूसरा विकल्प यह है कि प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चरण में 'के' शब्द बहुवचनवाची भी हो सकता है।[4]

किन्तु इससे प्रश्न का समाधान नहीं होता। गुरु के लिए बहुवचन का प्रयोग हो सकता है, पर वह कर्त्ता और क्रिया—दोनों में ही होना चाहिए, किसी एक में नहीं। 'के' बहुवचन का रूप भी है किन्तु 'से' 'के' यह बहुवचनान्त नहीं है। बहुवचनान्त प्रयोग होता है—'ते के'। इसलिए यही मानना उचित है कि यहां एकवचन के स्थान में बहुवचन का प्रयोग हुआ है।

श्लोक २ :

८. ज्ञात (पुत्र) (नाय)

चूर्णिकार ने 'नाय' का कोई अर्थ नहीं किया है। वृत्तिकार ने ज्ञात का अर्थ—क्षत्रिय किया है।[5]

९. (कहं व णाणं ? कह दंसणं से ?)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) भगवान् ने कैसे जाना ? किस ज्ञान से जाना ? (२) भगवान् ने कैसे देखा ? किस दर्शन से देखा ?[6]

वृत्तिकार ने मुख्यरूप से इसका अर्थ इस प्रकार किया है—भगवान् महावीर ने ज्ञान कैसे प्राप्त किया ? भगवान् ने दर्शन कैसे प्राप्त किया ?

---

१. चूर्णि, पृ० १४२ : सम्यग् ईक्षित्वा समीक्ष्य केवलज्ञानेन दाए दरिसति।

२. आयारो, ४।१ : से बेमि—जे अईया, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमेस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति, एवं भासंति, एवं पण्णवेंति, एवं परूवेंति—सव्वे पाणा सव्वे भूता सव्वे जीवा सव्वे सत्ता ण हंतव्वा, ण अज्जावेयव्वा, ण परिघेतव्वा, ण परितावेयव्वा, ण उद्दवेयव्वा।

३. चूर्णि, पृ० १४२ : नितिकं नित्यं सनातनमित्यर्थः।

४. चूर्णि, पृ० १४२ : आहुरिति एके अनेकादेशाद् 'आत्मनि गुरुषु च बहुवचनम्' बन्धानुलोम्याद्वा। अथवा के इममाहुः ?, एकारोऽपि हि बहुत्वे भवति यथा—के ते, एकत्वेऽपि यथा—के से।

५. वृत्ति, पत्र १४३ : ज्ञाताः—क्षत्रियाः।

६. चूर्णि, पृ० १४२ : कथं इति परिप्रश्ने। कथमसौ ज्ञातवान् ? केन वा ज्ञानेन ज्ञातवान् ? एवं दर्शनेऽपि कथं दृष्टवान् ? इति।

वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ है—भगवान् का ज्ञान कैसा था ? भगवान् का दर्शन कैसा था ?[1]

१०. हे भिक्षु ! (भिक्खु)

यह सुधर्मा के लिए प्रयुक्त है।[2]

११. यथार्थरूप में जो तुम जानते हो (जाणासि·········जहातहेणं)

प्रश्नकर्त्ताओं ने आर्य सुधर्मा से कहा—आपने ज्ञातपुत्र को देखा है। प्रत्यक्ष में आपने उनसे बातचीत की है। इसलिए उनमें जो गुण थे आप उन्हें यथार्थरूप से जानते हैं।[3]

१२. अवधारित किया है (णिसंतं)

इसका अर्थ है—सुनकर निश्चय करना, अवधारित करना। कुछ सुना जाता है पर उसका अवधारण नहीं होता। जिसका अवधारण नहीं होता, उसकी स्मृति नहीं होती, इसलिए प्रश्नकर्त्ताओं ने कहा—आपने जो सुना है, जो देखा है और जिसका अवधारण किया है, वह आप हमें बताएं।[4]

श्लोक ३ :

१३. आत्मज्ञ (खेयण्णए)

भगवान् महावीर के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न होने पर सुधर्मा स्वामी ने कहा—भगवान् महावीर क्षेत्रज्ञ थे। चूर्णिकार ने क्षेत्रज्ञ का अर्थ क्षेत्र को जानने वाला किया है।[5] क्षेत्र के अर्थ की कोई चर्चा उन्होंने नहीं की है। वृत्तिकार ने इसके खेदज्ञ और क्षेत्रज्ञ—ये दो संस्कृत रूप तथा इसके तीन अर्थ किए हैं[6]—

१. खेदज्ञ—संसार के समस्त प्राणियों के कर्मजन्य दुःखों के ज्ञाता तथा उनको नष्ट करने का उपाय बताने वाले।

२. क्षेत्रज्ञ—क्षेत्र का अर्थ है आत्मा। उसको जानने वाला क्षेत्रज्ञ—आत्मज्ञ।

३. क्षेत्रज्ञ—क्षेत्र का अर्थ है आकाश। लोक और अलोक को जानने वाला—क्षेत्रज्ञ।

आयारो १।६७ आदि में भी यह शब्द प्रयुक्त है। वहां भी इसका अर्थ आत्मज्ञ किया गया है। भगवती (   ) में क्षेत्र शब्द का अर्थ आत्मा प्राप्त होता है।

भगवद् गीता में शरीर को 'क्षेत्र' और उसे जानने वाले को 'क्षेत्रज्ञ' कहा है। क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही (शरीर और आत्मा का ज्ञान ही) योगिराज कृष्ण के मत में वास्तविक ज्ञान है।[7]

---

१. वृत्ति, पत्र १४३ : कथं केन प्रकारेण भगवान् ज्ञानमवाप्तवान् ?, किम्भूतं वा तस्य भगवतो ज्ञानं—विशेषावबोधकं ? किम्भूतं च से तस्य 'दर्शनं' सामान्यार्थपरिच्छेदकम् ?

२. वृत्ति, पत्र १४३ : भिक्षो ! सुधर्मस्वामिन् ।

३. चूर्णि, पृष्ठ १४२ : जधातहेणं हे भिक्खो ! त्वया ह्यसौ दृष्टश्चाऽऽभाषितश्च इत्यतो यथा तद्गुणा बभूवुः तथा त्वं जानीषे ।

४. चूर्णि, पृष्ठ १४२ : णिसंतं यथा निशान्तं च, निशान्तमित्यवधारितम् । किञ्चित् श्रूयते न चोपधार्यते इत्यतः अधासुतं ब्रूहि जधा णिसंतं ।

५. चूर्णि, पृ० १४३ : क्षेत्रं जानातीति क्षेत्रज्ञः ।

६. वृत्ति, पत्र १४३ : खेदं—संसारान्तर्वर्तिनां प्राणिनां कर्मविपाकजं दुःखं जानातीति खेदज्ञो दुःखापनोदनसमर्थोपदेशदानात्, यदि वा 'क्षेत्रज्ञो' यथावस्थितात्मस्वरूपपरिज्ञानादात्मज्ञ इति, अथवा—क्षेत्रम्—आकाशं तज्जानातीति क्षेत्रज्ञो लोकालोकस्वरूपपरिज्ञातेत्यर्थः ।

७. भगवद् गीता १३।१,२ : इदं शरीरं कौन्तेय !, क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः, क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि, सर्वक्षेत्रेषु भारत !,
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं, यत् तज्ज्ञानं मतं मम ।।

१४. कुशल (कुसले)

इसका व्युत्पत्तिक अर्थ है—कुशों का छेदन करने वाला। कुश दो प्रकार के हैं[1]—

द्रव्य कुश—घास।

भाव कुश—कर्म।

जो कर्म का छेदन करने में निपुण हैं वह कुशल कहलाता है।[2]

कुशल का अर्थ है ज्ञानी। धर्म-कथा में दक्ष, विभिन्न दर्शनों का पारगामी, अप्रतिबद्ध विहारी, कथनी और करणी में समान, निद्रा एवं इन्द्रियों पर विजय पाने वाला, साधना में आने वाले कष्टों का पारगामी और देश-काल को समझने वाला मुनि 'कुशल' कहलाता है। तीर्थंकर को भी कुशल कहा जाता है।[3] पातंजल योग दर्शन में इसका अर्थ इस प्रकार है[4]—

जो योगी सात प्रकार की प्रज्ञाओं का अनुदर्शन करता है, वह 'कुशल' कहलाता है। दूसरे शब्दों में जीवन्मुक्त योगी को कुशल कहा जाता है।

सात प्रकार की प्रज्ञाएं ये हैं[5]—

१. समस्त हेय का परिज्ञान हो जाना।
२. समस्त हेय-हेतु का क्षीण हो जाना।
३. निरोध-समाधि के द्वारा 'हान' का साक्षात् हो जाना।
४. विवेकख्यातिरूप हानोपायभावित हो जाना।
५. भोग तथा अपवर्ग निष्पादित हो जाना।
६. बुद्धि का स्पंदन निवृत्त हो जाना। क्लिष्ट और अक्लिष्ट संस्कारों के अपगमन से चित्त का शाश्वतिक निरोध होकर, स्फुट प्रज्ञा का उदित हो जाना।
७. इस प्रज्ञावस्था में पुरुष का गुण-सम्बन्ध से शून्य, स्व-प्रकाशमय, अमल और केवलीरूप हो जाना।

१५. मेधावी (मेहावी)

मेधावी दो प्रकार के होते हैं—ग्रन्थ-मेधावी और मर्यादा-मेधावी। जो बहुश्रुत होता है, अनेक ग्रन्थों का अध्ययन करता है, उसे ग्रन्थ-मेधावी कहा जाता है। मर्यादा के अनुसार चलने वाला मर्यादा-मेधावी कहलाता है।[6]

यहां मेधावी का अर्थ—आत्मानुशासी या तत्त्वज्ञ किया जा सकता है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने यहां 'आसुपण्णे' पाठ की व्याख्या की है। चूर्णि में 'आसुपण्णे' के साथ 'महेसी' पाठ भी है। इसका अर्थ महर्षि अथवा महैषी - महान् की एषणा करने वाला किया है।[7]

१. चूर्णि, पृ० १४२ : कुशलो द्रव्ये भावे च। द्रव्ये कुशान् लुनातीति द्रव्यकुशलः। एवं भावे वि, भावकुशास्तु कर्म।

२. वृत्ति, पत्र १४३ : भावकुशान्—अष्टविधकर्मरूपान् लुनाति—छिनत्तीति कुशलः प्राणिनां कर्मोच्छित्तये निपुण इत्यर्थः।

३. आयारो, पृ० १२०।

४. पातंजल योग दर्शन २।२७ : तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।
………… एतां सप्तविधां प्रान्तभूमिप्रज्ञामनुपश्यन्पुरुषः कुशल इत्याख्यायते प्रतिप्रसवेऽपि चित्तस्य मुक्तः कुशल इत्येव भवति गुणातीतत्वादिति।

५. पातंजल योग दर्शन २।२७, हरिहरानन्द व्याख्या, पृ० २१४-२१६।

६. दसवेआलियं, जिनदास चूर्णि, पृ० २०३ : मेधावी दुविहो, तं०—गंथमेधावी, मेरामेधावी य, तत्थ जो महंतं गंथं अहिज्जति सो गंथ-मेधावी, मेरामेधावी णाम मेरा मज्जाया भण्णति तीए मेराए धावतित्ति मेरामेधावी।

७. (क) चूर्णि, पृ० १४३ : आशुप्रज्ञो आशु एव प्रजानीते, न चिन्तयित्वा इत्यर्थः। महेसी महरिसी, महान्तं वा एसतीति महेसी।
(ख) वृत्ति, पत्र १४३।

वृत्तिकार ने महर्षि को पाठान्तर मान उसका अर्थ—अत्यन्त उग्र तपस्या करने वाला तथा परीषहों के भीषण उपसर्गों को सहने वाला श्रमण किया है।[1]

१६. आलोक पथ में स्थित (चक्खुपहे ठियस्स)

इसका अर्थ है—जो समस्त प्राणियों के चक्षुपंथ में स्थित है अर्थात् चक्षुर्भूत है। जैसे अन्धकार में पड़े हुए पदार्थ प्रदीप के आलोक में अभिव्यक्त होते हैं वैसे ही भगवान् के द्वारा प्रदर्शित तत्त्वों को भव्य प्राणी देख पाते हैं। जैसे दीपक के अभाव में पदार्थ अभिव्यक्त नहीं होते, वैसे ही भगवान् के अभाव में सत्य की अभिव्यक्ति नहीं होती। इसलिए भगवान् सबके चक्षुर्भूत हैं, आलोकपथ में स्थित हैं।[2]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. भवस्थ केवली (सशरीर केवली) की अवस्था में स्थित।

२. सूक्ष्म और व्यवहित पदार्थों को अभिव्यक्त करने के कारण चक्षुर्भूत।[3]

१७. देखो (पेह)

चूर्णिकार ने 'पेधं' पाठ मान उसका अर्थ प्रेक्षा किया है। इस प्रकार धर्म, धृति और प्रेक्षा—तीनों के बारे में जानकारी दी है। भगवान् का धर्म पूर्ण वीतरागता का विकास था। उनकी धृति वज्र की भित्ति के समान अभेद्य थी। उनकी प्रेक्षा संवेदना से ऊपर केवलज्ञानमय थी।[4]

श्लोक ४ :

१८. जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं (तसा य जे थावर जे य पाणा)

इसमें 'थावर' शब्द विभक्ति रहित है। यहां 'थावरा' होना चाहिए था।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने तीन प्रकार के त्रस और तीन प्रकार के स्थावर प्राणियों का उल्लेख किया है।

तीन प्रकार के त्रस—

१. तेजस्काय और वायुकाय। यद्यपि इनकी गणना स्थावरों में होती है, किन्तु गति करने के कारण ये गति-त्रस कहलाते हैं।

२. चार विकलेन्द्रिय।

३. पञ्चेन्द्रिय।

तीन प्रकार के स्थावर—१. पृथ्वीकाय, २. अप्काय, ३. वनस्पतिकाय।[5]

देखें—ठाणं ३।३२६, ३२७।

---

१. वृत्ति, पत्र १४३ : महर्षिरिति क्वचित्पाठः, महांश्चासावृषिश्च महर्षिः अत्यन्तोग्रतपश्चरणानुष्ठायित्वावतुलपरीषहोपसर्गसहनाच्चेति।

२. चूर्णि, पृ० १४३ : पश्यतेऽनेनेति चक्खु, सर्वस्यासौ जगतश्चक्षुष्पथि स्थितः चक्षुर्भूत इत्यर्थः। यथा तमसि वर्तमाना घटादयः प्रदीपेनाभिव्यक्ता दृश्यन्ते, न तु तदभावे, एवं भगवता प्रदर्शितानर्थान् भव्याः पश्यन्ति, यद्यसौ न स्यात् तेन जगतो जात्यन्धस्य सतोऽन्धकारं स्यात् तेनाऽऽदित्यवदसौ जगतो भावचक्षुष्पथे स्थितः।

३. वृत्ति, पत्र १४४ : लोकस्य 'चक्षुःपथे' लोचनमार्गे भवस्थकेवल्यवस्थायां स्थितस्य, लोकानां सूक्ष्मव्यवहितपदार्थाविर्भावनेन चक्षुर्भूतस्य वा।

४. चूर्णि, पृष्ठ १४३ : किंविधो धर्मः धृतिः प्रेक्षा वा ? अचिन्त्यानीत्यर्थः, चारित्रधर्मः क्षायिकः, धिति वज्जकुड्डसमा, पेक्खा केवलणाणं।

५. (क) चूर्णि, पृ० १४३ : ये स्थावराः त्रिप्रकारा ये च त्रसाः त्रिप्रकारा एव।

(ख) वृत्ति, पृ० १४४ : त्रस्यन्तीति त्रसास्तेजोवायुरूपविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियभेदात् त्रिधा, तथा ये च 'स्थावराः' पृथिव्यम्बुवनस्पतिभेदात् त्रिविधाः।

१६. नित्य और अनित्य— इन दोनों दृष्टियों से भलीभांति देखकर प्रज्ञ ज्ञातपुत्र ने (से णिच्चणिच्चेहि समिक्ख पण्णे)

भगवान् महावीर ने देखा पदार्थ नित्य भी हैं और अनित्य भी हैं। द्रव्य या अस्तित्व की दृष्टि से वे नित्य हैं और भाव या अवस्थान्तर की दृष्टि से वे अनित्य हैं।[1] इस नित्यानित्यवादी दर्शन के आधार पर उन्होंने धर्म का प्रवर्तन किया। धर्म को नहीं देखने वाला उसका प्रवर्तन नहीं कर सकता। तात्पर्य की भाषा में कहा जा सकता है कि बुद्धि द्वारा धर्म का प्रवर्तन नहीं हो सकता। वह प्रज्ञा द्वारा ही होता है। प्रज्ञा वस्तु-तत्त्व का साक्षात् करने वाली चेतना की अवस्था है। चूर्णिकार ने 'समिक्ख पण्णे' का अर्थ—'प्रज्ञा द्वारा भलीभांति देखकर, किया है।[2] गणधर गौतम ने मुनिप्रवर केशी से कहा—धर्म को प्रज्ञा द्वारा देखा जाता है।[3]

धवलाकार ने प्रश्न उपस्थित किया—प्रज्ञा और ज्ञान में क्या भेद है? इसके उत्तर में उन्होंने बताया—प्रज्ञा ज्ञान को उत्पन्न करने वाली अध्ययन-निरपेक्ष चैतन्यशक्ति का विकास है। ज्ञान उसका कार्य है।[4] नंदी सूत्र में आभिनिबोधिक ज्ञान के दो प्रकार बतलाए हैं—श्रुतनिश्रित (अध्ययन-सापेक्ष) और अश्रुतनिश्रित (अध्ययन-निरपेक्ष)। यह अश्रुतनिश्रित ज्ञान ही प्रज्ञा है। सूत्रकार ने इसे बुद्धि भी कहा है। इसके चार प्रकार बतलाए गए हैं—औत्पत्तिकी, वैनयिकी, कार्मिकी और पारिणामिकी।[5]

त्रिलोकप्रज्ञप्ति के अनुसार जिसे अश्रुतनिश्रित ज्ञान की शक्ति उपलब्ध होती है उसे 'प्रज्ञाश्रमण-ऋद्धि' कहा जाता है। प्रज्ञाश्रमण अध्ययन किए बिना ही समस्त श्रुत का अधिकृत ज्ञाता और प्रवक्ता होता है।[6]

२०. द्वीप (दीवे)

इसके दो अर्थ होते हैं—द्वीप और दीप। चूर्णिकार ने द्वीप को आश्वासद्वीप और दीप को प्रकाशदीप बतलाया है। जलपोत के टूट जाने पर यात्रियों के लिए द्वीप आश्वासन का हेतु बनता है। अन्धकार में भटकते हुए लोगों के लिए दीप प्रकाश करता है। धर्म भी आश्वासद्वीप और प्रकाशदीप का कार्य करता है।[7]

वृत्ति में 'दीव' को भगवान् का विशेषण माना है।[8] किन्तु यह वस्तुतः धर्म का विशेषण होना चाहिए। केशी-गौतम संवाद में भी धर्म को द्वीप बतलाया गया है।[9]

आवश्यक में तीर्थंकर को भी द्वीप कहा गया है।[10] इसलिए 'द्वीप' महावीर और धर्म—दोनों का विशेषण हो सकता है। किन्तु 'दीवे व धम्मं' इस पाठ में 'इव' का प्रयोग है, इसलिए यहां यह धर्म का विशेषण होना चाहिए।

२१. सम्यक् (समियं)

सम्यक् के दो अर्थ हैं—रागद्वेषरहित या समभाव से। भगवान् का उपदेश सम्यक् होता है।[11] वे पूजा, सत्कार या गौरव के

---

१. चूर्णि, पृ० १४३ : भावा अपि हि केनचित् प्रकारेण नित्याः केनचिदनित्याः। कथम्? इति चेत्, द्रव्यतो नित्या भावतोऽनित्याः, द्वन्द्वं (? उभयं) प्रति नित्यानित्याः। एवमन्यान्यपि द्रव्याणि यथा नित्यान्यनित्यानि च।

२. चूर्णि, पृ० १४३ : समिक्ख पण्णे—सम्यग् ईक्ष्य प्रज्ञया।

३. उत्तरज्झयणाणि, २३।२५ : पन्ना समिक्खए धम्मं।

४. धवला, ६।४, १, १८ : पण्णाए णाणस्स य को विसेसो? णाणहेदुजीवसत्ती गुरुवएसनिरवेक्खा पण्णा नाम, तक्कारियं णाणं।

५. नंदी, सूत्र ३७, ३८ : से किं तं आभिणिबोहियणाणं? आभिणिबोहियनाणं दुविहं पण्णत्तं, तं जहा—सुयनिस्सियं च असुयनिस्सियं च।
से किं तं असुयनिस्सियं? असुयनिस्सियं चउव्विहं पण्णत्तं, तंजहा—उप्पत्तिया, वेणइया, कम्मया, पारिणामिया।

६. तिलोयपण्णत्ती, ४।१०१७-१०२१।

७. चूर्णि, पृ० १४३ : दीवो दुविधो—आसासदीवो पगासदीवो य, उभयथाऽपि जगतः, आसासदीवो ताणं सरणं गती, प्रकाशकरो आदित्यः सव्वत्थ समं पगासयति चंडालादिसु वि।

८. वृत्ति, पत्र १४४ : तथा स प्राणिनां पदार्थाविर्भावनेन दीपवत् दीपः यदि वा—संसारार्णवपतितानां सदुपदेशप्रदानत आश्वासहेतुत्वात् द्वीप इव द्वीपः।

९. उत्तरज्झयणाणि २३।६८ : धम्मो दीवो पइट्ठा य।

१०. आवश्यक सूत्र, सक्कत्थुई : दीवो ताणं…………

११. वृत्ति, पत्र १४४ : सम्यक् इतं—गतं सदनुष्ठानतया रागद्वेषरहितत्वेन समतया वा।

लिए उपदेश नहीं करते। जैसे वे संपन्न को उपदेश देते हैं, वैसे ही विपन्न को उपदेश देते हैं और जैसे विपन्न को उपदेश देते हैं वैसे ही संपन्न को उपदेश देते हैं।[1] यह धर्म का सम्यक् प्रतिपादन है।

श्लोक ५ :

२२. (से सव्वदंसी अभिभूय णाणी)

इसका तात्पर्यार्थ है कि भगवान् महावीर आवरण का निरसन कर सर्वदर्शी और सर्वज्ञ बने थे।

दर्शन चार हैं—चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन और केवलदर्शन। जो तीनों दर्शनों को अभिभूत कर, अतिक्रान्त कर केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है वह सर्वदर्शी या केवलदर्शी हो जाता है।

ज्ञान पांच हैं—मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्यवज्ञान और केवलज्ञान। जो मति आदि चार ज्ञानों को अभिभूत कर केवलज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह अभिभूतज्ञानी कहलाता है। एक शब्द में वह निरावरणज्ञानी है।

आचारांग में 'अभिभूय' के साथ 'दिट्ठं'[2] और 'अदक्खु'[3] का प्रयोग हुआ है। उससे भी 'आवरण को अभिभूत कर' यह अर्थ फलित होता है। आचारांग २।१।१० में 'अरइं रइं अभिभूय रीयई'—का प्रयोग मिलता है। भगवान् महावीर अरति और रति को अभिभूत कर विहार करते थे। अरति और रति का अभिभव करने वाला ही ज्ञानी होता है।

जैसे सूर्य समस्त प्रकाशवान् पदार्थों को अभिभूत कर जगत् में अकेला प्रकाशित होता है, वैसे ही केवलज्ञानी और केवलदर्शी लौकिक अज्ञानों को अभिभूत कर केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा प्रकाशित होता है।[4]

२३. विशुद्ध-भोजी (णिरामगंधे)

इसका अर्थ है—विशुद्ध-भोजी। जो आहार संबंधी सभी दोषों का वर्जन कर आहार करता है, वह विशुद्ध-भोजी होता है। आहार संबंधी दोष दो प्रकार के होते हैं—अविशोधिकोटिक और विशोधिकोटिक। जो मूल दोष होते हैं वे अविशोधिकोटिक होते हैं और जो उत्तर दोष होते हैं वे विशोधिकोटिक होते हैं।[5] चूर्णिकार ने यह सूचना देने के लिए शब्द को 'निराम' और निर्गन्ध—इन दो भागों में बांटा है।[6] आचारांग ९।१०८ में 'सव्वामगंधं परिण्णाय, णिरामगंधो परिव्वए' पाठ है। इसका अर्थ है—श्रमण सब प्रकार के अशुद्ध भोजन का परित्याग कर शुद्धभोजी रहता हुआ परिव्रजन करे।[7]

२४. धृतिमान् (धिइमं)

भगवान् की संयम में धृति थी, इसलिए उन्हें धृतिमान् कहा गया है।[8] आचारांग में उनकी धृति का विशद वर्णन मिलता है।[9]

---

१. आयारो २।१७४ : जहा पुण्णस्स कत्थइ, तहा तुच्छस्स कत्थइ।
जहा तुच्छस्स कत्थइ, तहा पुण्णस्स कत्थइ॥

२. आयारो, ३।६८ : वीरेहिं एयं अभिभूय दिट्ठं।

३. आयारो, ९।१।११ : अभिभूय अदक्खू।

४. चूर्णि, पृ० १४३-१४४ : सव्वं पासति त्ति सव्वदंसी, केवलदर्शनोत्युक्तं भवति, चत्वारि ज्ञानानि त्रीणी दर्शनानि, भास्कर इव सर्वतेजांस्यभिभूय केवलदर्शनेन जगत् प्रकाशयति। ज्ञानीति एवं केवलज्ञानेनापि अभिभूय इति वर्तते, उभाभ्यामपि कृत्स्नं लोकाऽलोकमवभासते। अथवा लौकिकानि अज्ञानान्यभिभूय केवलज्ञान-दर्शनाभ्यां खद्योतकानिवाऽऽदित्यः एकः प्रकाशते।

५. वृत्ति, पत्र १४४ : निर्गतः—अपगत आमः—अविशोधिकोट्याख्यः तथा गन्धो विशोधिकोटिरूपो यस्मात् स भवति निरामगन्धः, मूलोत्तरगुणभेदभिन्नां चारित्रक्रियां कृतवानित्यर्थः।

६. चूर्णि, पृ० १४४ : निरामगंधे—निरामोऽसौ निर्गन्धश्च, आम इति उद्गमकोटिः।

७. आयारो, पृ० ९३।

८. चूर्णि, पृ० १४४ : धृतिरस्यास्तीति धृतिमान् संयमे धृतिः।

९. आयारो, नौवां अध्ययन; आयारचूला, सोलहवां अध्ययन।

वृत्तिकार के अनुसार जो असह्य परीषह और उपसर्गों से पीड़ित होने पर भी अप्रकंपित रहता हुआ चारित्र में दृढ़ रहता है, वह धृतिमान् है ।[1]

२५. स्थितात्मा (ठियप्पा)

जिसकी आत्मा संयम या धर्म में स्थित होता है वह स्थितात्मा है—यह चूर्णिकार की व्याख्या है ।[2] वृत्तिकार ने सिद्धस्वरूप आत्मा को स्थितात्मा माना है ।[3]

२६. अपरिग्रही (गंथा अतीते)

ग्रन्थ दो प्रकार के होते हैं—

द्रव्य-ग्रन्थ—पदार्थ ।

भाव-ग्रन्थ—क्रोध आदि कषायें।

भगवान् ग्रन्थों से अतीत थे अर्थात् वे निर्ग्रन्थ थे । यह एक अर्थ है । चूर्णिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया है—ग्रन्थ का अर्थ है स्वाध्याय । जो स्वाध्याय से अतीत हो जाता है वह ग्रन्थातीत होता है । भगवान् शास्त्र पढ़कर नही जानते थे, किन्तु अपने आत्मज्ञान से जानते थे, इसलिए वे ग्रन्थातीत या शास्त्रातीत थे ।[4]

वृत्तिकार ने भी ग्रन्थ के बाह्य ग्रंथ और आभ्यन्तर ग्रन्थ—ये दो भेद करते हुए कर्म को आभ्यन्तर ग्रन्थ माना है । जो ग्रन्थ से अतीत है वही निर्ग्रन्थ है ।[5]

हमने इसका अर्थ अपरिग्रही किया है । पदार्थ, क्रोध आदि कषाय और कर्म—ये सब परिग्रह हैं । स्थानांग में परिग्रह के तीन प्रकार बतलाए हैं—शरीर, उपकरण और कर्म ।[6] यथार्थ में निर्ग्रन्थ वही है जो इन ग्रन्थियों से मुक्त होता है ।

२७. अभय (अभए)

भय के सात प्रकार हैं—इहलोक भय, परलोक भय, आदान भय, अकस्मात् भय, वेदना भय, मरण भय और अश्लोक भय ।[7] जो इन सब भयों से रहित होता है, वह अभय है—यह वृत्तिकार का अर्थ है ।[8]

चूर्णिकार के अनुसार जो दूसरों को अभय देता (करता) है और स्वयं किसी से नहीं डरता, वही वास्तव में अभय होता है ।[9]

२८. अनायु (जन्म-मरण के चक्रवाल से मुक्त) (अणाऊ)

भगवान् महावीर शरीर के ममत्व का विसर्जन कर आत्मस्थ हो गए थे । आत्मस्थ पुरुष आयु की सीमा से परे चला जाता है । चैतन्य के अनुभव में रहने वाला शाश्वत हो जाता है, फिर आयु उसे अपनी सीमा मे नहीं बांध सकता । इसीलिए भगवान् को 'अनायु' कहा गया है ।

---

१. वृत्ति, पत्र १४४ : तथाऽसह्यपरीषहोपसर्गाभिद्रुतोऽपि निष्प्रकम्पतया चारित्रे धृतिमान् :

२. चूर्णि, पृ० १४४ : संयम एव यस्य स्थित आत्मा धर्मे वा सो ठितप्पा ।

३. वृत्ति, पत्र १४४ : स्थितो व्यवस्थितोऽशेषकर्मविगमादात्मस्वरूपे आत्मा यस्य स भवति स्थितात्मा ।

४. चूर्णि, पृ० १४४ : ग्रंथादतीते ति गंथातीते । दव्वगंथो सचित्तादि, भावे कोधादि, द्विधाऽप्यतीत: निर्ग्रन्थ इत्यर्थः ।

५. वृत्ति, पत्र १४४, १४५ : बाह्यग्रन्थात् सचित्तादिभेदादान्तराच्च कर्मरूपाद् अतीतो अतिक्रान्तो ग्रन्थातीतो निर्ग्रन्थ इत्यर्थः ।

६. ठाणं, ३।९५ : तिविहे परिग्गहे पण्णत्ते, तं जहा—कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, बाहिरभंडमत्तपरिग्गहे ।

७. ठाणं ७।२७ : सत्त भयट्ठाणा पण्णत्ता, तं जहा—इहलोगभए, परलोगभए, आदाणभए, अकम्हाभए, वेयणभए, मरणभए, असिलोगभए । इनकी विस्तृत व्याख्या के लिए देखें—ठाणं पृ० ७२१,७२२ ।

८. वृत्ति, पृ० १४५ : न विद्यते सप्तप्रकारमपि भयं यस्यासावभयः समस्तभयरहित इत्यर्थः ।

९. चूर्णि, पृ० १४४ : अभए एति अभयं करोत्यन्येषां न च स्वयं बिभेति ।

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जिसका वर्तमान जन्म ही अंतिम है, जिसका आगामी जन्म नहीं होता, जिसके आगामी आयुष्य का बंध नहीं होता, वह अनायु होता है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार अनायु वह होता है जिसकी जन्म-मरण की शृंखला टूट जाती है। गति के आधार पर आयु के चार प्रकार हैं—नरक आयु, तिर्यञ्च आयु, मनुष्य आयु और देव आयु। जो इन चारों गतियों से मुक्त होकर अगतिक हो जाता है, सिद्ध हो जाता है, वह अनायु हो जाता है। कर्मबीज के संपूर्ण दग्ध हो जाने से फिर उसकी उत्पत्ति नही होती।[2]

श्लोक ६ :

२९. सत्यप्रज्ञ (भूइपण्णे)

भूति शब्द के तीन अर्थ हैं—वृद्धि, रक्षा और मंगल। इनके आधार पर 'भूतिप्रज्ञ' के तीन अर्थ होते हैं—

१. जिसकी प्रज्ञा प्रवृद्ध होती है।

२. जिसकी प्रज्ञा सब जीवों की रक्षा में प्रवृत्त होती है।

३. जिसकी प्रज्ञा मंगलमय होती है।[3]

३०. गृहत्याग कर विचरने वाले (अणिएयचारी)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ अनियतचारी—अप्रतिबद्ध विहारी किया है। भगवान् अपरिग्रही थे, इसलिए उनकी गति का कोई प्रतिबन्धक नहीं था। वे अप्रतिबद्ध विहारी थे।[4]

शाब्दिक दृष्टि से अनिकेतचारी—यह अर्थ अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य होता है—गृह से मुक्त होकर विचरने वाला।

३१. संसार-प्रवाह के पारगामी (ओहंतरे)

ओघ का शाब्दिक अर्थ है—प्रवाह। ओघ दो प्रकार का है—द्रव्यौघ—जलप्रवाह और भावौघ—संसार-प्रवाह। जो संसार-प्रवाह को तर जाता है, वह ओघंतर है।[5]

आचारांग में बताया गया है कि मूढ़ मनुष्य ओघंतर नहीं होता—संसार-प्रवाह को तैरने में समर्थ नहीं होता।[6]

३२. अनंत चक्षु वाले (अणंतचक्खु)

स्थानांग में तीन प्रकार के चक्षु बतलाए गए हैं[7]—

१. एक चक्षु—छद्मस्थ एक चक्षु होता है।

२. द्विचक्षु—देवता द्विचक्षु होता है।

३. त्रिचक्षु—अतिशयज्ञानी मुनि त्रिचक्षु होता है।

---

१ चूर्णि, पृ० १४४ : अनायुरिति नास्याऽऽगामिष्यं जन्म विद्यते आगमिष्यायुष्कबन्धो वा।

२ वृत्ति, पत्र १४५ : न विद्यते चतुर्विधमप्यायुर्यस्य स भवत्यनायुः, दग्धकर्मबीजत्वेन पुनरुत्पत्तेरसंभवादिति।

३. (क) चूर्णि पृ० १४४ : भूतिर्हि वृद्धौ रक्षायां मङ्गले च भवति। वृद्धौ तावत् प्रवृद्धप्रज्ञः, अनन्तज्ञानवानित्यर्थः, रक्षायाम्—रक्षाभूताऽस्य प्रज्ञा सर्वलोकस्य सर्वसत्त्वानां वा, मङ्गलेऽपि—सर्वमङ्गलोत्तमोत्तमाऽस्य प्रज्ञा।

(ख) वृत्ति, पत्र १४५।

४. (क) चूर्णि, पृ० १४४ : अनियतं चरतीति अनियतचारी।

(ख) वृत्ति पत्र १४५ : अनियतम् अप्रतिबद्धं परिग्रहायोगाच्चरितुं शीलमस्यासावनियतचारी।

५. चूर्णि, पृ० १४४ : ओघो द्रव्यौघः समुद्रः, भावौघः संसारः, तं तरतीति ओघंतरः।

६. आयारो २।७१ : अणोहंतरा एते, नो य ओहं तरित्तए।

७. ठाणं, ३।४९९ : तिविहे चक्खू पण्णत्ते, तं जहा—एगचक्खू, बिचक्खू, तिचक्खू। छउमत्थे णं मणुस्से एगचक्खू, देवे बिचक्खू, तहारूवे समणे वा माहणे वा उप्पण्णणाणदंसणधरे तिचक्खूत्ति वत्तव्वं सिया।

भगवान् महावीर अनन्त चक्षु थे। चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं। भगवान् का केवल दर्शन अनन्त था तथा वे अनन्त लोक के चक्षुभूत थे, इसलिए वे अनन्तचक्षु थे।[1] वृत्तिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—ज्ञेय पदार्थों की अनन्तता के कारण वे अनन्तचक्षु थे।[2]

३३. अनुपम प्रभास्वर (अणुत्तरं तवति)

जैसे सूर्य सबसे अधिक प्रकाशकर है वैसे ही भगवान् महावीर अपने अनन्तज्ञान से सबसे अधिक प्रभास्वर हैं।[3]

इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार है—जैसे सूर्य तालाब या धान्य आदि को तपाता है वैसे ही भगवान् अणुत्तर—अवशिष्ट कर्मों को तपाते हैं।[4]

३४. प्रदीप्त अग्नि (वइरोयणिंदे)

वैरोचन का अर्थ है—अग्नि। यह समस्त दीप्तिमान् पदार्थों में इन्द्रभूत है—प्रधान है, श्रेष्ठ है, इसलिए इसे वैरोचनेन्द्र कहा गया है। जैसे घृत से अभिषिक्त वैरोचन अंधकार को प्रकाशित करता है, इसी प्रकार भगवान् अज्ञानरूपी अंधकार को प्रकाशित करते हैं।[5]

वृत्तिकार ने प्रज्वलित अग्नि को वैरोचनेन्द्र माना है। उन्होंने इन्द्र का अर्थ दीप्ति, प्रज्वलन किया है।[6]

श्लोक ७ :

३५. आशुप्रज्ञ (आसुपण्णे)

देखें—५।२ का टिप्पण।

३६. नेता (णेता)

नेता का अर्थ है—ले जाने वाला। भगवान् महावीर नेता थे, पूर्ववर्ती तीर्थंकर जैसे ले गए थे, वैसे ये भी ले जाने वाले थे, पूर्ववर्ती तीर्थंकरों के धर्म को आगे बढ़ाने वाले थे।[7]

वृत्तिकार ने यहां व्याकरण विमर्श इस प्रकार प्रस्तुत किया है।[8]

'नेता' शब्द में ताच्छील्यार्थक तृन् प्रत्यय हुआ है। इसके योग में 'न लोकाव्ययनिष्ठे…………(पा० २।३।६९)। इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति का प्रतिषेध होने पर 'धर्मम्' इस पद में कर्मणि द्वितीया विभक्ति हुई है।

---

१. चूर्णि, पृ० १४४ : अणंतचक्षुरिति अणंतं केवलदर्शनं तदस्य चक्षुरिति अनन्तचक्षुः, अनन्तस्य वा लोकस्यासौ चक्षुर्भूतः।

२. वृत्ति, पत्र १४६ : तथा अनन्तं—ज्ञेयानन्ततया नित्यतया वा चक्षुरिव चक्षुः—केवलज्ञानं यस्यानन्तस्य वा लोकस्य पदार्थप्रकाशकतया चक्षुर्भूतो यः स भवत्यनन्तचक्षुः।

३. (क) चूर्णि, पृ० १४४ : न हि सूर्यादन्यः कश्चित् प्रकाशाधिकः, एवं भट्टारकादपि नान्यः कश्चिद् ज्ञानाधिकः णाणेणं चेव ओभासति तवति भासेति।

(ख) वृत्ति, पत्र १४५ : अनुत्तरं सर्वाधिकं तपति न तस्मादधिकस्तापेन कश्चिदस्ति, एवमसावपि भगवान् ज्ञानेन सर्वोत्तम इति।

४. चूर्णि, पृ० १४४ : अवसेसं च कर्मं तवति, आदित्य इव सरांसि तपति ओषधयो वा।

५. चूर्णि, पृ० १४४ : वैरोयणेंदो व 'रुच दीप्तौ' विविधं रुचतीति वैरोचनः अग्निः, स हि सर्वदीप्तिवतां द्रव्याणामिन्द्रभूत इत्यतो वैरोचनेन्द्रः; स यथा आज्याभिषिक्तः तमः प्रकाशयति एवं भगवानप्यज्ञानतमांसि प्रकाशयति।

६. वृत्ति, पत्र १४५ : वैरोचनः अग्निः स एव प्रज्वलितत्वात् इन्द्रः।

७. चूर्णि, पृ० १५४ : अयमेव भगवान् नयतीति नेता, कोऽर्थः ? जधा ते भगवन्तो नीतवन्तः तथाऽयमपि नयति।

८. वृत्ति, पत्र, १४५ : नेता प्रणेतेति ताच्छीलिकस्तृन्, तद्योगे 'न लोकाव्ययनिष्ठे' (पा० २-३-६९) त्यादिना षष्ठीप्रतिषेधाद्धर्ममित्यत्र कर्मणि द्वितीयैव।

३७. स्वर्ग में (दिविणं)

ये दो शब्द हैं। दिवि का अर्थ है—स्वर्ग में और 'णं' वाक्यालंकार है।[1]

चूर्णिकार ने 'दिविणं' शब्द मानकर 'दिविभ्यः'—देवताओं से, ऐसा चतुर्थ्यन्त अर्थ किया है। इन्द्र समस्त देवताओं से स्थान, ऋद्धि, स्थिति, द्युति, कान्ति आदि में विशिष्ट होता है।[2]

३८. अधिक प्रभावी (अणुभावे)

अनुभाव का अर्थ है—प्रभाव। चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—सौख्य, वीर्य और माहात्म्य।[3] भगवान् महावीर महान् प्रभाव वाले थे।[4]

३९. हजारों देवों का नेता (सहस्सणेता)

इसका अर्थ है—हजारों का नेता, नायक। चूर्णिकार ने 'सहस्सणेत्ता' पाठ माना है। इसका अर्थ है—हजार आंखों वाला। उन्होंने इसका वैकल्पिक अर्थ—अनेकों का या हजारों का नेता भी किया है।[5]

श्लोक ८ :

४०. पार रहित स्वयंभूरमण (महोदही वा वि अणंतपारे)

'महोदही'—यह स्वयंभूरमण समुद्र का वाचक है।[6] जैसे यह विस्तीर्ण, गंभीर जल वाला और अक्षोभ्य होता है वैसे ही महावीर की अनन्तगुणवाली प्रज्ञा विशाल, गंभीर और अक्षोभ्य थी।[7]

४१. प्रज्ञा अक्षय थी (पण्णया अक्खय ......)

चूर्णिकार ने प्रज्ञा का अर्थ—ज्ञान की संपदा किया है।

जो कभी क्षीण न हो, उसे अक्षय कहा जाता है। भगवान् महावीर की प्रज्ञा अक्षय थी। वह प्रज्ञा ज्ञेय अर्थ में कभी क्षीण और प्रतिहत नहीं होती थी। वह काल से आदि-सहित और अनन्त-रहित तथा द्रव्य, क्षेत्र और भाव से अनन्त थी।[8]

४२. निर्मल (अणाइले)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—अनातुर किया है। जो परीषह और उपसर्गों के आने पर भी आकुल-व्याकुल नहीं होता वह अनातुर होता है।[9]

---

१. वृत्ति, पत्र १४५ : दिवि स्वर्गे ······ 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे।
२. चूर्णि, पृ० १४४ : दिवि भवा दिविनः। सर्वेभ्यो दिविभ्यः स्थान-रिद्धि-स्थिति-द्युति-कान्त्यादिभिर्विशिष्यते इति विशिष्टः किमुतान्येभ्यः ?
३. चूर्णि, पृ० १४४ : अनुभवनमनुभावः, सौख्यं वीर्यं माहात्म्यं चानुभावः।
४. वृत्ति, पत्र १४५ : महानुभावो महाप्रभाववान्।
५. चूर्णि, पृ० १४४ : सहस्रमस्य नेत्राणां सहस्सनेत्ता, अनेकानां वा सहस्राणां 'नेता' नायक इत्यर्थः।
६. वृत्ति, पत्र १४५ : महोदधिरिव स्वयम्भूरमण इव।
७. चूर्णि, पृ० १४४ : यथाऽसौ (स्वम्भूरमणः) विस्तीर्ण—गम्भीरजलो अक्षोभ्य एवमस्यानन्तगुणा प्रज्ञा विशाला गम्भीरा अक्षोभ्या च।
८. (क) चूर्णि, पृ० १४४ : ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञा ज्ञानसम्पत्, न तस्य ज्ञातव्येऽर्थे बुद्धिः परिक्षीयते प्रतिहन्यते वा, सादी अपज्जवसितो कालतो, दव्व-खेत्त-भावेहिं अणंते।
(ख) वृत्ति, पत्र १४५ : असौ भगवान् प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा तया 'अक्षयः' न तस्य ज्ञातव्येऽर्थे बुद्धिः प्रतिक्षीयते प्रतिहन्यते वा, तस्य हि बुद्धिः केवलज्ञानाख्या, सा च साद्यपर्यवसाना कालतो द्रव्यक्षेत्रभावैरप्यनन्ता, सर्वसाम्येन दृष्टान्ताभावात्।
९. चूर्णि, पृ० १४४ : अणाइलो णाम परीषहोपसर्गोदयेऽप्यनातुरः।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ अकलुषित—निर्मल किया है।[1] यह अर्थ शाब्दिक दृष्टि से अधिक ग्राह्य है। तात्पर्यार्थ की दृष्टि से चूर्णिकार का अर्थ मन को अधिक छूने वाला है।

४३. वीतराग (अकसाइ)

कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। जिसके कषाय उपशान्त होते हैं, वह उपशान्त कषाय और जिसके क्षीण होते हैं वह क्षीण कषाय कहलाता है। भगवान् महावीर के कषाय क्षीण हो चुके थे, इसलिए वे अकषाय थे और अकषाय होने के कारण वे निरुत्साह थे। कुछ व्यक्ति शक्ति होने पर भी पुरुषार्थ नहीं करते, इसलिए निरुत्साह होते हैं। कुछ व्यक्ति शक्तिहीन होने के कारण निरुत्साह होते हैं। भगवान् महावीर पुरुषार्थ और पराक्रम से युक्त थे। फिर भी क्षीणकषाय होने के कारण निरुत्साह—आकांक्षाओं से मुक्त थे—क्रोध, अहंकार, माया और लोभ से प्रेरित प्रवृत्तियों से शून्य थे।[2]

४४. (मुक्के)

इसका अर्थ है—ज्ञानावरण आदि कर्म-बन्धन से विमुक्त आवरण-मुक्त।[3]

चूर्णिकार ने 'भिक्खु' पाठ मान कर व्याख्या की है। यद्यपि भगवान् के सभी अन्तराय नष्ट हो गए थे और वे जगत्पूज्य भी थे, फिर भी वे भिक्षावृत्ति से ही अपना निर्वाह करते थे इसलिए वे भिक्षु थे। उन्हें 'अक्षीणमहानस' आदि लब्धियां प्राप्त थीं, फिर भी वे उनका उपयोग नहीं करते थे।[4]

श्लोक ९ :

४५. (सुरालए वा वि····णेगगुणोववेए)

जैसे स्वर्ग शब्द आदि विषयों के सुख से समन्वित होता है, वैसे ही यह मेरु पर्वत शब्द आदि वैषयिक सुखों से समन्वित है। देवता देवलोक को छोड़कर यहां क्रीडा करने के लिए आते हैं। मेरु पर्वत पर ऐसा एक भी इन्द्रिय-विषय नहीं है जो इन्द्रिय वाले प्राणियों को प्रसन्न न करे।

मेरु पर्वत वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, प्रभा, कान्ति, द्युति, प्रमाण आदि अनेक गुणों से समन्वित है, अतः वह सबको प्रसन्न करने वाला है।[5] इसीलिए कहा है—

> 'सुंदरजणसंसग्गी सीलदरिद्दंपि कुणइ सीलड्ढं।
> जह मेरुगिरिविलग्गं तणंपि कणयत्तणमुवेति॥' (ओघनिर्युक्ति गा० ७८४)

शीलवान् व्यक्तियों का संसर्ग कुशील को भी सुशील बना देता है, जैसे मेरु पर्वत पर उगा हुआ तृण भी स्वर्णमय बन जाता है।[6]

---

१. वृत्ति, पत्र १४५ : अनाविलः अकलुषज्ञानः, एवं भगवानपि तथाविधकर्मलेशाभावादकलुषज्ञान इति।

२. चूर्णि, पृ० १४४, १४५ : अकसाय इति क्षीणकषाय एव, न तूपशान्तकषायः निरुत्साहवत्, इह कश्चित् सत्यपि बले निरुद्यमत्वादुपचारेण निरुत्साहो भवति, अन्यस्तु क्षीणविक्रमत्वान्निरुत्साहः, एवमसौ क्षीणकषायत्वान्निरुत्साहः।

३. वृत्ति, पत्र १४५ : ज्ञानावरणीयादिकर्मबन्धनाद्विमुक्तो मुक्तः।

४. चूर्णि, पृ० १४५ : सत्यप्यसौ क्षीणान्तरायिकत्वे सर्वलोकपूज्यत्वे च भिक्षामात्रोपजीवित्वाद् भिक्षुरेव नाक्षीणमहानसिकादिसर्वलब्धिसम्पन्नोऽपि स्यात् तामुपजीवतीत्यतो भिक्षुः।

५. (क) चूर्णि, पृ० १४५ : सुराणां आलयः, मुद हर्षे सुरालयः स्वर्गः, स यथा शब्दादिविषयसुखः एवमसावपि स्वर्गतुल्यः शब्दादिभिर्विषयैरुपेतः, देवा अपि हि देवलोकं मुक्त्वा तत्र क्रीडास्थानेषु क्रीडन्ते न हि तत्र किञ्चिच्छब्दादिविषयजातं यदिन्द्रियवतां न मुदं कुर्यादिति। विविधं राजति अनेकैः वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श-प्रभाव-कान्ति-द्युति-प्रमाणादिभिर्गुणैरुपपेतः सर्वरत्नाकरः।

(ख) वृत्ति, पत्र १४६।

६. चूर्णि, पृ० १४५।

४६. सुदर्शन (मेरु) (सुदंसणे)

यह मेरु पर्वत का वाचक है। मेरु पर्वत दिखने में सुन्दर है इसलिए इसे सुदर्शन कहा गया है।[1]

४७. वीर्य से (वीरिएणं)

वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्राप्त वीर्य प्रतिपूर्ण नहीं होता, वह अपूर्ण होता है। जो वीर्य कर्म के क्षय से प्राप्त होता है वह अनन्त और प्रतिपूर्ण होता है। भगवान् महावीर का वीर्यान्तराय कर्म संपूर्ण क्षीण हो चुका था, इसलिए उनका वीर्य अनन्त और प्रतिपूर्ण था। इसके फलस्वरूप उनका औरसवल, धृतिवल, ज्ञानवल और संहननवल प्रतिपूर्ण था।[2]

श्लोक १० :

४८. तीन कांडों (भागों) वाला (तिकंडगे)

कांड का अर्थ है विभाग। मेरु पर्वत के तीन कांड हैं—भौमकांड, स्वर्णकांड और वैडूर्यकांड।[3]

पंडकवनरूपी पताका से युक्त (पंडगवेजयंते)

'पंडग' शब्द पंडकवन का द्योतक है और 'वेजयन्त' का अर्थ है—पताकारूप। पंडकवन मेरु पर्वत के शिखर पर स्थित है, अतः वह मेरु पर्वत का पताका रूप है।[4]

चूर्णिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—वह मेरु पर्वत पंडकवन के द्वारा दूसरे पर्वतों और वनों पर विजय प्राप्त करता है, इसलिए वह 'पंडगवैजयन्त' है।[5]

श्लोक ११ :

४९. भूमि पर स्थित (भूमिवट्ठिए)

भूमि पर स्थित मेरु पर्वत ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यक्लोक—तीनों लोकों का स्पर्श करता है।[6] वह निन्नानवे हजार योजन भूमि से ऊपर उठा हुआ है, इस प्रकार वह ऊर्ध्वलोक का स्पर्श करता है। वह एक हजार योजन भूमि तल के नीचे है, इस प्रकार वह नीचे लोक का स्पर्श करता है। वह तिरछे लोक में है ही, इस प्रकार वह तिरछे लोक का स्पर्श करता है।

स्वर्ण के वर्ण वाला (हेमवण्णे)

तपे हुए सोने के समान पीत-रक्त वर्ण वाला।[7]

हर स्वर्ण को 'हेम' नहीं कहा जाता, किन्तु जो स्वर्ण में प्रधान होता है, उसे हेम कहा जाता है।[8]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १४५ : शोभनमस्य दर्शनमिति सुदर्शनः, मेरुः सुदर्शन इत्यपदिश्यते।
   (ख) वृत्ति, पत्र १४६ : सुदर्शनो मेरुर्जम्बूद्वीपनाभिभूतः।

२. (क) चूर्णि, पृ० १४५ : वीर्यं औरस्यं धृतिः ज्ञानवीर्यं च सर्वैरपि प्रतिपूर्णवीर्यः क्षायोपशमिकानि हि वीर्याणि अप्रतिपूर्णानि, क्षायिकत्वादनन्तत्वाच्च प्रतिपूर्णम्।
   (ख) वृत्ति, पत्र १४३ : वीर्येण औरसेन वलेन धृतिसंहननादिभिश्च वीर्यान्तरायस्य निःशेषतः क्षयात् प्रतिपूर्णवीर्यः।

३. (क) चूर्णि पृ० १४५ : त्रीणि कण्डान्यस्य सन्तीति त्रिकण्डी। तं जधा—
   १. भोम्मे वज्जे कंडे, २. जंबूणते कंडे, ३. वेरुलिए कंडे।
   (ख) वृत्ति, पत्र १४६ : त्रीणि कण्डान्यस्येति त्रिकण्डः, तद्यथा—भौमं जाम्बूनदं वैडूर्यमिति।

४. वृत्ति, पत्र १४६ : पण्डकवैजयन्त इति, पण्डकवनं शिरसि व्यवस्थितं वैजयन्ती कल्पं—पताकाभूतं यस्य स तथा।

५. चूर्णि, पृ० १४५ : पंडगवणेण चान्यपर्वतान् वनानि च विजयत इति पण्डगवेजयन्तः।

६. (क) चूर्णि, पृ० १४५ : उड्ढलोगं च फुसति अहलोगं च, एवं तिण्णि वि लोगे फुसति।
   (ख) वृत्ति पत्र, १४६ : भूमिं चाऽवगाह्य स्थित इति ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्लोकसंस्पर्शी।

७. वृत्ति, पत्र १४६ : हेमवर्णो निष्टप्तजाम्बूनदाभः।

८. चूर्णि, पृ० १४५ : हेममिति जं प्रधानं सुवर्णम्, निष्टप्तजम्बूनदरुचि इत्युक्तं भवति।

बहुतों को आनन्द देने वाला (बहुणंदणे)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. मेरु पर्वत पर आनन्द उत्पन्न करने वाले अनेक शब्द आदि विषय हैं इसलिए वह 'बहुणंदण' है।

२. वह बहुतों को आनन्द देने वाला है, इसलिए 'बहुनंदन' है।[1]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ सर्वथा भिन्न प्रकार से किया है। मेरु पर्वत अनेक वनों से शोभित है। उस पर चार वन हैं—[2]

१. भद्रशालवन—यह मेरु के भूमीभाग पर स्थित है।

२. नंदनवन—भूमी से ऊपर पांच सौ योजन ऊपर मेरु की मेखला में स्थित है।

३. सौमनसवन— नंदनवन से पांच सौ बासठ हजार योजन ऊपर स्थित है।

४. पंडकवन—सौमनसवन से छत्तीस हजार योजन ऊपर मेरु के शिखर पर स्थित है।

वृत्तिकार ने इन चारों को नंदनवन माना है, क्योंकि ये सब आनन्द उत्पन्न करने वाले हैं।

५०. महान् इन्द्र (महिंदा)

चूर्णिकार ने सौधर्म, ईशान आदि के इन्द्रों को 'महेन्द्र' बतलाया है। वे अपने-अपने विमानों को छोड़कर मेरु पर्वत पर आकर क्रीडा करते हैं।[3]

श्लोक १२ :

५१. (सद्दमहप्पगासे)

वृत्तिकार ने इसको इस प्रकार व्याख्यात किया है—एवमादिभिः शब्दैर्महान् प्रकाशः—प्रसिद्धिर्यस्य स शब्दमहाप्रकाशः—मेरु पर्वत की अनेक महान् शब्दों द्वारा लोकप्रसिद्धि है। वे शब्द हैं—मन्दर, मेरु, सुदर्शन, सुरगिरि, पर्वतराज, सुरालय आदि।[4]

चूर्णिकार ने मन्दर, मेरु, पर्वतराज आदि सर्वलोकप्रतीत शब्दों के द्वारा मेरु पर्वत को प्रकाशित माना है। जिसका आयत बड़ा होता है उसके शब्द समूचे लोक में परिभ्रमण करते हैं।[5]

चमकते हुए सोने के वर्ण वाला (कंचणमट्ठवण्णे)

वृत्तिकार ने मृष्ट का अर्थ श्लक्ष्ण या शुद्ध किया है।[6] चूर्णिकार ने 'अट्ठे सण्णे लण्हे'— यह पाठ उद्धृत कर इसका

---

१. चूर्णि, पृ० १४५ : बहुनन्दन इति बहून्यत्राभिनन्दजनकानि शब्दादिविषयजातानि बहूनां वा सत्त्वानां नन्दिजनकः।

२. (क) वृत्ति, पत्र १४६ : तथा बहूनि चत्वारि नन्दनवनानि यस्य स बहुनन्दनवनः, तथाहि—भूमौ भद्रशालवनं ततः पञ्च योजनशतान्यारुह्य मेखलायां नन्दनं ततो द्विषष्टियोजनसहस्राणि पंचशताधिकान्यतिक्रम्य सौमनसं ततः षट्त्रिंशत्सहस्राण्यारुह्य शिखरे पण्डकवनमिति, तदेवमसौ चतुर्नन्दनवनाद्युपेतो विचित्रक्रीडास्थानसमन्वितः।

(ख) जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४।२१४।

३. चूर्णि, पृ० १४७ : महान्तो इन्द्रा महेन्द्राः शक्रेशानाद्याः, ते हि स्वविमानानि मुक्त्वा तत्र रमन्ते।

४. वृत्ति पत्र १४६ : सः—मेर्वाख्योऽयं पर्वतो मन्दरो मेरुः सुदर्शनः सुरगिरित्येवमादिभिः शब्दैर्महान् प्रकाशः—प्रसिद्धिर्यस्य स शब्दमहाप्रकाशः।

५. चूर्णि, पृ० १४६ : मन्दरो मेरुः पर्वतराजेत्यादिभिः शब्दैः प्रकाशः सर्वलोकप्रतीतैः ओरालायतस्स सद्दा सव्वलोए परिभमंति।

६. वृत्ति, पत्र १४६ : मृष्टः—श्लक्ष्णः शुद्धो वा।

तात्पर्यार्थ कोमल या समतल किया है।[1] वर्ण का एक अर्थ आकृति भी होता है।[2] उसके आधार पर इसका अर्थ होगा—सोने की भांति चमकपूर्ण आकृति वाला।

(गिरिसु)

'गिरि' शब्द का सप्तमी विभक्ति का वहुवचन 'गिरीसु' होता है। प्रस्तुत प्रयोग में 'रि' ह्रस्व है। यह छन्द की दृष्टि से किया गया प्रतीत होता है।

मेखलाओं से दुर्गम (पव्वदुग्गे)

इसका अर्थ है—मेरु पर्वत मेखलाओं से अति-दुर्गम है। उन मेखलाओं पर सामान्य व्यक्ति नहीं चढ सकता। अतिशय शक्ति वाला ही उन पर चढ पाता है।[3]

वृत्तिकार ने 'पर्व' के दो अर्थ किए हैं—मेखला अथवा दंष्ट्रापर्वत (उप-पर्वत)।[4]

५२. (गिरीवरे से जलिए व भोमे)

मेरु पर्वत अनेक प्रकार की मणियों तथा औषधियों से देदीप्यमान था। वह ऐसा लग रहा था मानो कि कोई भूमि का प्रदेश प्रदीप्त हो रहा है।[5]

वृत्तिकार ने भौम का अर्थ—भू-प्रदेश किया है।[6] पद्मचन्द्र कोष में भौम का अर्थ—आकाश भी मिलता है।[7] अर्थ-संगति की दृष्टि से यह अर्थ उपयुक्त लगता है। इस आधार पर इसका अर्थ होगा—वह प्रदीप्त आकाश जैसा लग रहा था।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है। वह पर्वत ऐसा लग रहा था जैसे रात्रि में खदिर के अंगारे उसके दोनों पार्श्वों में प्रज्वलित हो रहे हों।[8]

श्लोक १३ :

५३. भूमि के मध्य में (महीए मज्झम्मि)

इसका अर्थ है—जंम्बूद्वीप के मध्य में अवस्थित।[9]

५४. सूर्य के समान तेजस्वी (सूरियसुद्धलेसे)

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—सूर्य के समान विशुद्ध तेज वाला अर्थात् सूर्य के समान तेजस्वी।[10]

चूर्णिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—हेमन्त ऋतु में तत्काल उदित सूर्य की लेश्या—वर्ण वाला।[11]

---

१. चूर्णि, पृ० १४६ : मट्ठे ति 'मट्ठे (अच्छे) सण्हे लण्हे जाव पडिरूवे' (जीवा० प्रति० ३ उ० १ सू० १२४ पत्र १७७-२), ण फरुस-फासो विसमो वा इत्यर्थः।

२. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी
वर्णः—Look, Countenance। मध्यस्थवर्ण इव दृश्यते मध्यमव्यायोग ?

३. चूर्णि, पृ० १४६ : दुःखं गम्यत इति दुर्गः, अनतिशयवद्भिर्न शक्यते आरोढुम्।

४. वृत्ति, पत्र १४६ : पर्वभिः—मेखलादिभिर्दंष्ट्रापर्वतैर्वा।

५. वृत्ति, पत्र १४७ : असौ मणिभिरौषधीभिश्च देदीप्यमानतया 'भौम इव' भूदेश इव ज्वलित इति।

६. वृत्ति, पत्र १४७ : भौम इव भूदेश इव।

७. पद्मचन्द्रकोष पृ० ३६५ : भौम—आकाश।

८. चूर्णि, पृ० १४६ : जधाणामए खइरिंगालाणं रत्तिं पज्जलिताणं, अधवा जधा पासातो पज्जलिन्तो के पि पचंतो वा अड्ढरत्ते।

९. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति ४।२१२ :······मंदरे णाम पव्वए······जंबुद्दीवस्स बहुमज्झदेसभाए······।

१०. वृत्ति, पत्र १४७ : सूर्यवत्शुद्धलेश्यः—आदित्यसमानतेजाः।

११. चूर्णि, पृ० १४६ : सूरियलेस्सभूते त्ति ज्ञायते अतिरुग्गयहेमंतिसूरियलेस्सभूतो यदि मध्याह्नार्कलेश्यामतोऽभविष्यत् तेन दुरासओऽभविष्यत्।

नाना वर्णवाला (भूरिवण्णे)

मेरु पर्वत नाना वर्ण वाला है क्योंकि वह अनेक वर्ण के रत्नों से सुशोभित है।[1]

चूर्णिकार ने भूतिवण्णे पाठ मान कर उसका अर्थ—प्रभूत वर्ण वाला दिया है।[2]

श्लोक १४ :

५५. यश (जसो)

जो प्रसिद्धि सर्व लोक में प्रसृत होती है, उसे यश कहा जाता है, यह चूर्णिकार का अभिमत है।[3]

दशवैकालिक ९।४ में कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक—ये चार शब्द प्रसिद्धि की विभिन्न अवस्थाओं को स्पष्ट करने के लिए प्रयुक्त हुए हैं।

कीर्ति—सर्व दिग्व्यापी प्रशंसा।

वर्ण—एक दिग्व्यापी प्रशंसा।

शब्द—अर्द्ध दिग्व्यापी प्रशंसा।

श्लोक—स्थानीय प्रशंसा।

विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं ९।४ का १८ वां टिप्पण।

जाती-जसो…………

इस चरण में पांच शब्द हैं—जाति, यश, दर्शन, ज्ञान और शील। भगवान् महावीर समस्त जाति वालों में, यशस्वियों में, दर्शन और ज्ञान वालों में तथा शीलवानों में श्रेष्ठ हैं। यह चूर्णि और वृत्ति की व्याख्या है।[4]

श्लोक १५ :

५६. लंबे पर्वतों में निषध (णिसढायताणं)

यहां दो पद हैं—णिसढे, आयताणं। इन दो पदों में संधि होने पर यह रूप निष्पन्न हुआ है—णिसढायताणं।

जंबूद्वीप अथवा दूसरे द्वीपों के लंबे पर्वतों में 'निषध' सबसे अधिक लंबा पर्वत है।[5]

सत्यप्रज्ञ (भूतिपण्णे)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—प्रभूत ज्ञान वाला, प्रज्ञाश्रेष्ठ किया है।[6] चूर्णिकार ने 'भूतपण्णे' पाठ की व्याख्या की है—भूता प्रज्ञा यस्य जगत्यसावेको भूतप्रज्ञः।[7] देखें—छठे श्लोक के 'भूइपण्णे' का टिप्पण।

---

१. वृत्ति, पत्र १४७ : भूरिवर्णः अनेकवर्णा अनेकवर्णरत्नोपशोभितत्वात्।

२. चूर्णि, पृ० १४६ : भूतिवर्ण इति प्रभूतवर्ण इत्यर्थः।

३. चूर्णि, पृ० १४६ : यशः प्रतीतः सर्वलोकप्रकाशः।

४. (क) चूर्णि, पृ० १४६ : जात्या सर्वजातिभ्यः, यशसा सर्वयशस्विभ्यः, दर्शनेन सर्वदृष्टिभ्यः, ज्ञानेन सर्वज्ञानिभ्यः, शीलेन सर्वशीलेभ्य एवं भावात्।

(ख) वृत्ति, पत्र १४५ : स च जात्या सर्वजातिमद्भ्यो यशसा अशेषयशस्विभ्यो दर्शनज्ञानाभ्यां सकलदर्शनज्ञानिभ्यः शीलेन समस्तशीलवद्भ्यः श्रेष्ठः—प्रधानः।

५. (क) चूर्णि, पृ० १४६ : न हि कश्चित् तस्मादायततमो वर्षधरोऽन्य इह वाऽन्येषु वा द्वीपेषु।

(ख) वृत्ति, पत्र १४७ : 'निषधो' गिरिवरो गिरीणामायतानां मध्ये जम्बूद्वीपे अन्येषु वा द्वीपेषु दैर्घ्येण 'श्रेष्ठः' प्रधानः।

६. वृत्ति, पत्र १४७,१४८ : भूतिप्रज्ञः—प्रभूतज्ञानः प्रज्ञया श्रेष्ठ इत्यर्थः।

७. चूर्णि, पृ० १४६।

गोल पर्वतों में (वलयायताणं)

'वलयायताणं' यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। आदर्शों में यही पाठ उपलब्ध है। वृत्ति में यही व्याख्यात है, जैसे—'स हि रुचकद्वीपान्तर्वर्ती मानुषोत्तरपर्वत इव वृत्तायतः संख्येयजोजनानि परीक्षेपेणेति।'[1] चूर्णि में रुचक पर्वत को केवल वृत्त वतलाया गया है—'स हि रुयगस्स दीवस्स वहुमज्झदेसभागे माणुसुत्तरइव वट्टे वलयागारसंठिते असंखेज्जाइं जोयणाइं परिक्खेवेणं।'[2] यह चूर्णि की व्याख्या उचित प्रतीत होती है। आदर्शों में लिपिकर्त्ताओं के द्वारा पाठ का परिवर्तन हुआ है। प्राचीन लिपि में दीर्घ ईकार की मात्रा नाममात्र की-सी होती थी। प्राचीन लिपि के 'गतीणं' को 'गताणं' भी पढ़ा जा सकता है। 'वलयायतीणं' पाठ की संभावना की जा सकती है। लिपिकाल मे ईकार का आकार होने पर 'वलयायताणं' पाठ हो गया। 'वलयायतीणं' (सं० वलयाकृतीनां) पाठ की संभावना आधारशून्य नहीं है। आकृति शब्द का आकिति, आकति, और 'क' का लोप करने पर आयति रूप वन सकता है। चूर्णि का 'वलयागारसंठिते' पाठ में प्रयुक्त आगार शब्द भी आकृति का ही वाचक है। इसलिए यह पाठ 'वलयायतीणं' ही होना चाहिए।

५७. ज्ञातपुत्र प्राज्ञ मुनियों में श्रेष्ठ हैं (मुणीण मज्झे तमुदाहु पण्णे)

इस पाठ के स्थान पर चूर्णिकार ने 'मुणीणमावेदमुदाहु' पाठ की व्याख्या की है। उसका तात्पर्य है—प्रज्ञ महावीर ने मुनियों के लिए आवेद (श्रुतज्ञान) का निरूपण किया है।[3]

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने प्रज्ञ का अर्थ—प्रकृष्ट ज्ञानी किया है।[4]

श्लोक १६ :

५८. (अणुत्तरं झाणवरं झियाइ·········· वदातसुवक्कं)

भगवान् ने शुक्लध्यान के द्वारा कैवल्य प्राप्त किया। उसे प्राप्त कर वे आत्मानुभव की चरम सीमा पर पहुंच गए। फिर उनके लिए ध्यान अपेक्षित नहीं रहा। निर्वाण के समय स्थूल और सूक्ष्म—दोनों शरीरों से मुक्त होने के लिए उन्होंने अनुत्तर शुक्लध्यान का प्रयोग किया। पहले चरण में क्रिया को सूक्ष्म किया और दूसरे चरण में उसका उच्छेद कर डाला। इस प्रकार वे सर्वथा अक्रिय होकर मुक्त हो गए।

साधना-काल में शुक्ल-ध्यान होता है। निर्वाण-काल में परम शुक्ल-ध्यान होता है। इसीलिए उसे 'सुशुक्ल-शुक्ल' कहा गया है। उसे जलफेन, शंख और चन्द्रमा से उपमित किया है।[5]

चूर्णिकार ने अपगंड शब्द का अर्थ—शरद् ऋतु में नदी के प्रपात में उठने वाले जल-फेन किया है।[6] वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) विजातीय द्रव्य से रहित, निर्दोष, अर्जुन सुवर्ण की भांति निर्मल। (२) जल-फेन।[7]

चूर्णिकार ने अवदात के तीन अर्थ किए हैं—अतिश्वेत, स्निग्ध और निर्मल।[8]

---

१. वृत्ति, पत्र १४७।

२. चूर्णि, पृ० १४६।

३. चूर्णि, पृ० १४६ : आवेदयन्ति तेनेति आवेदः, यावद् वेद्यं तावद् वेदयतीति आवेदः, श्रुतज्ञानमित्यर्थः।

४. (क) चूर्णि, पृ० १४६ : पण्णे प्रगतो ज्ञः प्रज्ञः।
 (ख) वृत्ति, पत्र १४८ : अपरमुनीनां मध्ये प्रकर्षेण जानातीति प्रज्ञः।

५. (क) चूर्णि पृ० १४७। (ख) वृत्ति, पत्र १४८।

६. चूर्णि पृ० १४७ : यथा अपगंडं अपां गंडं अपगंडं, उदकफेनवदित्यर्थः, शरन्नदीप्रपातोत्थं अपेव।

७. वृत्ति पत्र १४८ : तथा अपगतं गण्डम्—अपद्रव्यं यस्य तदपगण्डं निर्दोषार्ज्जुनसुवर्णवत् शुक्लं यदि वा—अपगण्डम्—उदकफेनं तत्तुल्यमिति भावः।

८ चूर्णि, पृ० १४७ : अवदातं अतिपण्डरं स्निग्धं वा निर्मलं च।

श्लोक १२ :

४९. मूढ मनुष्य (मूढा)

अज्ञान से आच्छादित बुद्धि वाले तथा जो दूसरों के द्वारा मूढ बनाए गए हैं वे मूढ कहलाते हैं।[1]

५०. नमक (आहारसंपज्जण)

इसका संस्कृत रूप है—आहारसंप्रज्वलन। छन्द की दृष्टि से लकार का लोप होने पर 'संपज्जण' रूप शेष रहा है। इसका अर्थ है—नमक। वह आहार को संप्रज्वलित करता है। आहार का व्युत्पत्तिक अर्थ है— जो बुद्धि, आयु, बल आदि विशेष शक्तियों का आहरण करता है, लाता है, वह 'आहार' है।[2] चूर्णि और वृत्ति में 'आहार संपज्जण'— इन तीन पदों की व्याख्या की है। नमक आहार की संपदा को पैदा करता है इसलिए उसका नाम 'आहारसंपज्जण' है।[3] चूर्णिकार और वृत्तिकार ने दो पाठान्तरों का उल्लेख किया है—'आहार सपंचग' तथा 'आहारपंचग'।[4] 'आहारसपंचग' (सं० आहारसपञ्चक) का अर्थ है— आहार के साथ पांच प्रकार के लवणों के वर्जन द्वारा। पांच प्रकार के लवण ये हैं—सैंधव, सौवर्चल, विड, रोम और सामुद्रिक।[5] सुश्रुत (४६।३१३) में छह प्रकार के लवणों का नामोल्लेख है। सैंधव नमक सिन्धु देश में प्राप्त होता था। शाकम्भरी (शकों का देश), एशिया माइनर तथा काश्यपीयसर (कास्पियन सागर) से प्राप्तलवण रुमा या रोमन कहलाता था। दक्षिण समुद्र तथा ईरान की खाड़ी से प्राप्त होने वाला नमक सामुद्रिक कहलाता था।

'रूमा सर' या रोम सागर भूमध्य सागर का नाम है। एशिया माइनर का यह प्रदेश रूम देश कहलाता था, क्योंकि यह रोमन (इटली) लोगों के अधिकार में था। यह स्थान नमक की उत्पत्ति के लिए प्रसिद्ध था। आज तक कास्पियन सागर के दक्षिण-पश्चिम में नमक के कछार है।[6]

दशवैकालिक सूत्र (३।८) में सौवर्चल, सैंधव, रुमा, सामुद्रिक, पांशु-क्षार और काल-लवण—ये छह प्रकार के लवण बतलाए गए हैं। इस सूत्र के दोनों चूर्णिकार अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर तथा वृत्तिकार हरिभद्रसूरी ने इनकी व्याख्या में अनेक प्रकार की जानकारी दी है। विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं ३।८ का टिप्पण।

चूर्णिकार के अनुसार लवण ही भोजन के सभी रसों को उद्दिप्त करता है।[7] कहा है—

> **लवणविहूणा य रसा, चक्खुविहूणा य इंदियगामा।**
> **धम्मो दयाय रहिओ, सोक्खं संतोसरहियं नो॥**

नमक के बिना कोई रस नहीं होता, आंख के लिए इन्द्रिय-विषय अच्छे नहीं लगते, दया के बिना धर्म धर्म नहीं होता और संतोष के बिना कोई सुख नहीं होता।

जैसे—'लवणं रसानां तैलं स्नेहानां घृतं मेध्यानां'—सभी रसों में लवण प्रधान है, स्निग्ध पदार्थों में तैल प्रधान हैं और मेधा

१. (क) चूर्णि, पृ० १५७ : मूढा अयाणगा स्वयं मूढाः परैश्च मोहिताः।
(ख) वृत्ति, पत्र १५८ : मूढा अज्ञानाऽऽच्छादितमतयः परैश्च मोहिताः।

२. चूर्णि, पृ० १५७ : आह्रियते आहारयति वा तमित्याहारः, बुद्ध्यायुर्बलादिविशेषान् वा आनयति आहारयतीत्याहारः।

३. (क) चूर्णि, पृ० १५७ : ससाढ्याहारसम्पदं जनयतीति आहारसंपज्जणं, (आहारसंपज्जणं) च तद् लवणम्।
(ख) वृत्ति, पत्र १५८ : आहार—ओदनादिस्तस्य सम्पद्—रसपुष्टिस्तां जनयतीत्याहार सम्पज्जननं—लवणम्।

४. (क) चूर्णि, पृ० १५७।
(ख) वृत्ति, पत्र १५८।

५. (क) चूर्णि,पृ० १५७ : अथवा—'आहारेणं समं पंचगं' आहारेण हि सह पंच लवणाणि, तं जधा—सैन्धवं सोवच्चलं विडं रोमं समुद्र इति।
(ख) वृत्ति, पत्र १४८।

६. भारत के प्राणाचार्य पृ० १५३, मूल तथा फुट नोट।

७. चूर्णि, पृ० १५७ : लवणं हि सर्वरसानदीपयति।

है—कूटशाल्मली।[1]

वृत्तिकार के अनुसार यह देवकुरु में अवस्थित प्रसिद्ध वृक्ष है। यह भवनपति देवों का क्रीडा-स्थल है। अन्यान्य स्थानों से, आकर सुपर्णकुमार देव यहां रमणक्रीडा का आनन्द अनुभव करते हैं।[2]

चूर्णिकार ने 'कूडसामली' का प्रयोग किया है।[3] उत्तराध्ययन २०।३६ में भी 'कूडसामली' का प्रयोग है।[4]

शाल्मली सिम्बल वृक्ष का वाचक है।[5] इसको अंग्रेजी में Silk-Cotton tree माना है।[6]

६४. प्रसिद्ध है (णाते)

ज्ञात शब्द के दो अर्थ हैं—प्रसिद्ध अथवा उदाहरण। लोग सभी वृक्षो से इसे (शाल्मली वृक्ष को) अधिक जानते हैं, इसलिए वह ज्ञात है। अथवा सभी वृक्षों में यह दृष्टान्तभूत है अतः वह ज्ञात है। अहो ! यह वृक्ष सुन्दर है। संभव है यह सुदर्शना, जंबू या कूट शाल्मली वृक्ष हो।[7]

६५. नंदनवन (णंदणं)

सभी वनों में नन्दन-वन श्रेष्ठ है। वह प्रमाण की दृष्टि से भी बृहद् है और उपभोग सामग्री की दृष्टि से भी श्रेष्ठ है। वह देवताओं का प्रधान क्रीडा-स्थल है।[8]

६६. सत्यप्रज्ञ (भूतिपण्णे)

देखें—छठे तथा पन्द्रहवें श्लोक का टिप्पण।

श्लोक १६ :

६७. मेघ का गर्जन (थणितं व…)

प्रावृट्काल में जल से भरे बादलों का गर्जन स्निग्ध होता है। शरद् ऋतु के नए बादलों का गर्जन भी स्निग्ध होता है। कहा भी है—शरद घन के गर्जन जैसे गंभीर घोष वाले।[9]

वृत्तिकार ने इसे सामान्य मेघ का गर्जन माना है।[10]

---

१. ठाणं, २।२७१,३३०,३३२; ८।६४; १०।१३६। समवायांग ८।५।

२. वृत्ति, पत्र १४८ : देवकुरुव्यवस्थितः शाल्मलीवृक्षः, स च भवनपतिक्रीडास्थानम्। यत्र व्यवस्थिता अन्यतश्चागत्य……रमणक्रीडां ……अनुभवन्ति।

३. चूर्णि, पृ० १४७ :………कूडसामली।

४. उत्तरज्झयणाणि, २०।३६ अप्पा मे कूडसामली।

५. पद्मचन्द्रकोष, पृ० ४८४ : शाल्मल—सिम्बल का वृक्ष।

६. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

७. चूर्णि, पृ०१४७ : ज्ञायत इति सर्ववृक्षेभ्योऽधिका, लोकेनापि ज्ञातम्। अहवा णातं आहरणं ति य एगट्ठं, सर्ववृक्षाणामसौ दृष्टान्तभूता—अहो ! अयं शोभनो वृक्षः ज्ञायते सुदर्शना जम्बू कूडसामली वेति।

८ चूर्णि, पृ० १४७ : नन्दन्ति तत्रेति नन्दनम्, सर्ववनानां हि नन्दनं विशिष्यते प्रमाणतः पत्रोपगाद्युपभोगतश्च।
(ख) वृत्ति, पत्र १४८ : वनेषु च मध्ये यथा नन्दनं वनं देवानां क्रीडास्थानं प्रधानम।

९. चूर्णि, पृ० १४७ : थणंतीति थणिताः, प्रावृट्काले हि सजलानां घनानां स्निग्धं गर्जितं भवति अभिनवशरद्घनानां च। उक्तं च— 'सारतणिद्धथणितगंभीरघोसि'।

१०. वृत्ति, पत्र १४८ : 'स्तनितं' मेघगर्जितम्।

६८. तारागण में चन्द्रमा (चंदे व ताराण)

चन्द्रमा समस्त नक्षत्रों में महा प्रभावी है। वह समस्त व्यक्तियों को आनन्द देने वाली कान्ति से मनोरम है।[1]

६९. चन्दन (चंदण)

वृत्तिकार ने दो प्रकार के चन्दनों का उल्लेख किया है—[2]

१. गोशीर्ष चन्दन।

२. मलयज चन्दन।

कोषकार ने गोशीर्ष पर्वत पर उत्पन्न चन्दन को 'गोशीर्ष चन्दन' और मलय पर्वत पर उत्पन्न चन्दन को 'मलय चन्दन' माना है। 'मलय' दक्षिण भारत की पर्वत-श्रृंखला है।[3]

७०. अनासक्त (अपडिण्णं)

वह व्यक्ति अप्रतिज्ञ होता है जो इहलोक और परलोक के प्रति प्रतिबद्ध नहीं है, अनाशंसी है अर्थात् जो संपूर्ण अनासक्त है।[4]

मुनि को अप्रतिज्ञ होना चाहिए। वह किसी के प्रति प्रतिबद्ध न हो। वह केवल आत्मा के प्रति ही प्रतिबद्ध रहे।

श्लोक २० :

७१. स्वयंभू (सयंभू)

वृत्तिकार ने स्वयंभू का अर्थ—स्वयं उत्पन्न होने वाले अर्थात् देव किया है। जहां देव आकर रमण करते हैं वह समुद्र है—स्वयंभूरमण। यह समुद्र समस्त द्वीप और समुद्रों के अन्त में स्थित है।[5]

७२. नागकुमार देवोंमें (णागेसु)

नागकुमारदेव भवनपति देवों की एक जाति है। चूर्णिकार के अनुसार नागकुमारों के लिए जल या स्थल—कुछ भी अगम्य नहीं रहता इसलिए ये 'नाग' कहलाते हैं।[6]

७३. रसों में इक्षु रस श्रेष्ठ होता है (खोओदए वा रस-वेजयंते)

क्षोद का अर्थ है—इक्षुरस। जिस समुद्र का पानी इक्षुरस की तरह मीठा है, उसे क्षोदोदक कहा जाता है।[7]

क्षोदोदक समुद्र रस-माधूर्य से सब रसों को जीत लेता है, इसलिए वह 'रसवैजयन्त' कहलाता है।[8] वृत्तिकार ने वैजयन्त

---

१. वृत्ति, पत्र १४६ : नक्षत्राणां मध्ये यथा चन्द्रो महानुभावः सकलजननिर्वृत्तिकारिण्या कान्त्या मनोरमः श्रेष्ठः।

२. वृत्ति, पत्र १४६ : 'चन्दनं' गोशीर्षकाख्यं मलयजं वा।

३. (क) पद्मचन्द्र कोष, पृ० १८७ : गोशीर्षः (पर्वतः), तत्र जातत्वात्।
 (ख) वही, पृष्ठ ३७६ : मलये पर्वते जायते।
 (ग) आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

४ (क) चूर्णि, पृ० १४७ : श्रेष्ठो मुनीनां तु अप्रतिज्ञः। नास्येहलोकं परलोकं वा प्रति प्रतिज्ञा विद्यत इति अप्रतिज्ञः।
 (ख) वृत्ति पत्र १४६ : नाऽस्य प्रतिज्ञा इहलोकपरलोकाऽऽशंसिनी विद्यते इत्यप्रतिज्ञः।

५. (क) वृत्ति, पत्र १४६ : स्वयं भवन्तीति स्वयम्भुवो—देवाः ते तत्राऽऽगत्य रमन्तीति स्वयम्भूरमणः।
 (ख) चूर्णि, पृ० १४८।

६ चूर्णि, पृ० १४८ : न तेषां किञ्चिज्जलं थलं वा अगम्यमिति नाग।

७. (क) चूर्णि, पृ० १४८ : खोतोदगं णाम उच्छुरसोदगस्य समुद्रस्य, अथवा इहापि इक्षुरसो मधुर एव।
 (ख) वृत्ति, पत्र १४६ : खोओदए इति इक्षुरस इवोदकं यस्य स इक्षुरसोदकः।

८ चूर्णि, पृ० १४८ :······सव्वे रसे माधुर्येण विजयत इति वेजयन्तः।

का अर्थ प्रधान या सभी समुद्रों में पताकाभूत किया है।[1]

७४. तपस्वी मुनियों में (तहोवहाणे)

'तहोवहाणे' इस पाठ में दो पद हैं—'तहा' और 'उवहाणे'। वृत्ति में 'तवोवहाणे' पाठ व्याख्यात है। उपधान का प्रयोग स्वतंत्र भी होता है और तप के साथ में भी होता है। इसलिए 'तवोवहाणे' पाठ भी त्रुटिपूर्ण नहीं है। उत्तराध्ययन में दूसरे अध्ययन में 'तवोवहाण'[2] का और ग्यारहवें अध्ययन में 'उवहाणवं' का प्रयोग मिलता है।[3] आचारांग निर्युक्ति में बतलाया है— भगवान् महावीर अपने बल वीर्य को छिपाते नहीं थे, तप-उपधान में उद्यम करते थे।[4] उपधान का शाब्दिक अर्थ है—आलंबन। प्रस्तुत प्रकरण में उसका अर्थ है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप।[5] उपधान का एक अर्थ—शास्त्राध्ययन के समय किया जाने वाला तप या उसका संकल्प भी होता है।[6] किन्तु यहां यह अर्थ प्रस्तुत नहीं है।

श्लोक २१ :

७५. पशुओं में (मिगाणं)

मृग का अर्थ है—वन्यपशु।[7]

७६. नदियों में (सलिलाण)

चूर्णिकार ने सलिला का अर्थ 'नदी'[8] और वृत्तिकार ने 'पानी' किया है।[9] यहां चूर्णिकार का अर्थ ही संगत लगता है।

७७. वेणुदेव गरुड (वेणुदेवे)

'वेणुदेव' यह गरुड का दूसरा नाम है।[10] चूर्णिकार ने इसे लोकरूढ मान कर इसका व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ विनता का पुत्र वैनतेय किया है।[11]

७८. निर्वाणवादियों में (णिव्वाणवादी)

निर्वाणवादी अर्थात् मोक्षवादी। प्राचीन काल में दार्शनिक जगत् में दो परंपराएं मुख्य रही हैं—निर्वाणवादी परंपरा और स्वर्गवादी परंपरा। श्रमण परंपरा निर्वाणवादी परंपरा है। उसमें साधना का लक्ष्य निर्वाण है और वही उसका सर्वोच्च आदर्श है। भगवान् महावीर ने इस आदर्श को सर्वाधिक मूल्य दिया, इसलिए वे निर्वाणवादियों में श्रेष्ठ हैं।[12]

---

१. वृत्ति, पत्र १४६ : वैजयन्तः प्रधानः स्वगुणैरपरसमुद्राणां पताकेवोपरि व्यवस्थितः।
२. उत्तरज्झयणाणि २।४३ : तवोवहाणमादाय।
३. उत्तरज्झयणाणि ११।१४ : जोगवं उवहाणवं।
४. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २७७ :..................।
अणिगूहियबलविरिओ तवोवहाणंमि उज्जमइ ।।
५. आचारांग निर्युक्ति, गाथा २८१ : दव्वुवहाणं सयणे भावुवहाणं तवोचरित्तस्स।
तम्हा उ नाणदंसणतवचरणेहिं इहागहियं ।।
६. मूलाचार गाथा २८२ : आयंबिल णिव्वियडी अण्णं वा होदि जस्स कादव्वं।
तं तस्स करेमाणो उपहाणजुदो हवदि एसो ।।
७. उत्तराध्ययन ११।२०, बृहद् वृत्ति, पत्र ३४६ : मृगाणाम्—आरण्यप्राणिनाम्।
(ख) वृत्ति, पत्र १४६ : मृगाणां च श्वापदानाम्।
८ चूर्णि, पृ० १४८ : सलिलवत्यः सलिलाः।
९. वृत्ति पत्र १४६ : सलिलानां.........गङ्गासलिलं।
१०. वृत्ति, पत्र १४६ : गरुत्मान् वेणुदेवाऽपरनामा।
११. चूर्णि, पृ० १४८ : वेणुदेवे लोकरूढोऽयं शब्दः—विनताया अपत्यं वैनतेयः।
१२. उत्तरज्झयणाणि २३।८०-८५।

श्लोक २२ :

७९. वासुदेव कृष्ण (वीससेणे)

इसके संस्कृत रूप दो होते हैं—विश्वसेन और विश्वक्सेन। चूर्णिकार ने इस शब्द का व्युत्पत्तिकलभ्य अर्थ इस प्रकार किया है—विश्वा—अनेकप्रकारा सेना यस्य स भवति विश्वसेनः—जिसके पास हाथी, रथ, अश्व, पदाति—यह चतुरंग सेना हो वह विश्वसेन है। वह चक्रवर्ती हो सकता है।[1]

वृत्तिकार ने यही अर्थ मान्य किया है।[2] चूर्णिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ—विश्वक्सेन—वासुदेव किया है।[3]

वास्तव में चूर्णिकार का यह वैकल्पिक अर्थ ही संगत लगता है, क्योंकि चक्रवर्ती योद्धा नहीं होते। योद्धा होते हैं—वासुदेव। स्थानांग सूत्र में भी वासुदेव को ही 'युद्धशूर' बतलाया है।[4]

प्रस्तुत प्रकरण में भी विश्वक्सेन को श्रेष्ठ योद्धा बताया है, अतः विश्वक्सेन का अर्थ वासुदेव करना ही युक्तिसंगत लगता है।

८०. दन्तवक्त्र (दंतवक्के)

चूर्णिकार ने इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—जिसके वाक्य से—बोलने से शत्रुओं का दमन होता है या जिसका वाक्य दान्त (संयमित) है वह दान्तवाक्य है।[5]

जिसके वाक्य से ही शत्रु शांत हो जाते हैं, वह दान्तवाक्य है—यह वृत्तिकार की व्युत्पत्ति है।[6]

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने चक्रवर्ती को दान्तवाक्य माना है।[7]

महाभारत सभापर्व ३२/३ में दन्तवक्त्र नामक क्षत्रिय का उल्लेख है। उसे राजाओं का अधिपति और महान् पराक्रमी माना है।[8] इस कथन से दन्तवक्त्र की श्रेष्ठता ध्वनित होती है।

प्रस्तुत प्रसंग में यही अर्थ संगत लगता है। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने केवल शाब्दिक मीमांसा से वह अर्थ निकाला हो, ऐसा लगता है।

निशीथ चूर्णि में दो स्थानों में दंतपुर के राजा दंतवक्त्र का उल्लेख हुआ है।[9]

श्लोक २३ :

८१. दानों में अभयदान प्रधान होता है (दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं)

सभी प्रकार के दानों में अभयदान श्रेष्ठ है। अभयदान त्राणकारी होने के कारण श्रेष्ठ है। कहा भी है—

---

१. चूर्णि, पृ० १४८ : विश्वा—अनेकप्रकारा सेना यस्य स भवति विश्वसेनः—हस्त्यश्च-रथ-पदात्याकुला विस्तीर्णा, स तु चक्रवर्ती।

२. वृत्ति, पत्र १४९ : विश्वा—हस्त्यश्वरथपदातिचतुरङ्गबलसमेता सेना यस्य स विश्वसेनः—चक्रवर्ती।

३. चूर्णि, पृ० १४८ : अथवा विष्वक्सेनः वासुदेवः।

४. ठाणं, ४।३६७ : जुद्धसूरे वासुदेवे।

५. चूर्णि, पृ० १४८ : दम्यन्ते यस्य वाक्येन शत्रवः स भवति दान्तवाक्यः चक्रवर्ती, चक्रवर्त्तिनो हि शत्रवो वचसा दम्यन्ते, दान्तं वाक्यं यस्य स भवति दान्तवाक्यः।

६. वृत्ति, पत्र १४९ : दान्ता—उपशान्ता यस्य वाक्येनैव शत्रवः स दान्तवाक्यः।

७. (क) चूर्णि, पृ० १४८ : दान्तवाक्यः चक्रवर्ती।
   (ख) वृत्ति, पत्र १४९ : दान्तवाक्यः चक्रवर्ती।

८. महाभारत, सभापर्व ३२।३ अधिराजाधिपं चैव दन्तवक्त्रं महाबलम्।

९. निशीथ भाष्य, चूर्णि भाग २ पृ० १६६; भाग ४ पृ० ३६१।

'दीयते म्रियमाणस्य. कोटिं जीवितमेव वा।
धनकोटिं न गृह्णीयात्, सर्वो जीवितुमिच्छति॥'

,एक ओर करोड़ों का धन है और एक ओर जीवनदान है तो मरता हुआ व्यक्ति करोड़ों के धन को छोड़कर जीवनदान चाहेगा, क्योंकि सभी जीना चाहते हैं।'

वसन्तपुर नगर में अरिदमन नाम का राजा था। एक दिन वह अपनी चार रानियों के साथ क्रीड़ा करता हुआ प्रासाद के गवाक्ष में बैठा था। प्रासाद के नीचे से लोग आ-जा रहे थे। सबकी आंखें राजमार्ग पर लगी हुई थीं। राजपुरुष एक चोर को पकड़ कर ला रहे थे। उस चोर के गले में लाल कनेर की माला थी। उसके सारे कपड़े लाल थे। उसके समूचे शरीर पर लाल चन्दन का लेप लगा हुआ था। उसके पीछे-पीछे उसके वध की सूचना देने वाला ढिंढोरा पीटा जा रहा था। चाण्डाल उसे वध-स्थान की ओर ले जा रहे थे। राजा ने देखा। रानियों ने उसे देखकर राजपुरुष से पूछा—इसने क्या अपराध किया है ? राजपुरुष ने कहा—इसने चोरी की है और राज-आज्ञा के विरुद्ध कार्य किया है। यह सुनकर रानियों का मन करुणा से भर गया। एक रानी ने कहा—'आपने मुझे पहले एक वर दिया था। आज मैं उसे क्रियान्वित करना चाहती हूं ताकि इस चोर का कुछ उपकार कर सकूं।' राजा ने कहा—जैसी इच्छा हो वैसा करो।' उस रानी की आज्ञा से चोर को स्नान कराया गया। उसे उत्तम अलंकारों से अलंकृत कर हजार मोहरें देकर एक दिन के लिए ऐश-आराम करने की छूट दी।

दूसरी रानी ने भी राजा से वर लिया और एक लाख मोहरें खर्च कर, चोर को दूसरे दिन, सब प्रकार के भोग भोगने की छूट दी।

तीसरी रानी ने तीसरे दिन के लिए कोटि-दीनार व्यय कर चोर को सुख भोगने की छूट दी।

अब चौथी रानी की बारी थी। वह मौन थी। राजा ने कहा—'तुम भी कुछ वर मांगो, जिससे कि तुम भी चोर को कुछ दे सको।' उसने कहा—'प्रियवर ! मेरे पास ऐसी कोई संपत्ति नहीं है, जिससे कि मैं इस चोर का भला कर सकूं।' राजा ने कहा—प्रियतमे ! ऐसी क्या बात है ? मैं अपना सारा राज्य तुम्हें देता हूं और स्वयं भी तुम्हारे लिए अर्पित हूं। तुम जो चाहो वह उस चोर को दो।' रानी ने उस चोर को अभयदान दिया, जीवनदान दिया। चोर मुक्त हो गया।

चारों रानियां परस्पर कलह करने लगीं। प्रत्येक रानी यह मानती थी कि उसने चोर का अधिक उपकार किया है। तीनों ने चौथी की मजाक करते हुए कहा—तुमने चोर को दिया ही क्या है ? तुम जैसी कृपण दे भी क्या सकती है ? चौथी रानी ने कहा—'मैंने ही सबसे अधिक उपकार किया है।' परस्पर कलह होने लगा। राजा ने चोर को बुलाकर पूछा—तुम्हारा अधिक उपकार किसने किया है ?' चोर ने कहा—राजन् ! मैं मरण-भय से अत्यन्त भीत था। आकुल-व्याकुल था। मुझे स्नान आदि कराया गया, अलंकरण पहनाए गए, भोग सामग्री प्रस्तुत की गई, किन्तु मेरा मन भय से आक्रान्त रहा। मुझे तनिक भी सुख की अनुभूति नहीं हुई। किन्तु जब मैंने सुना कि मुझे अभयदान मिला है, जीवनदान मिला है, मैं अत्यन्त आनन्द से भर गया और माना कि मेरा नया जन्म हुआ है।[1]

८२. अनवद्य वचन (अणवज्जं)

जो दूसरों के लिए पीडाकारक न हो वह अपापकारी अनवद्य वचन होता है।[2]

सत्य वचन सबसे श्रेष्ठ है। किन्तु जो सत्य पर-पीड़ाकारक होता है वह ग्राह्य नहीं होता। जो पर-पीड़ाकारक नहीं होता, वैसा सत्य ग्राह्य होता है। सत्य भी गर्हित होता है, यदि वह पर-पीडाकारक हो। जैसे—काने को काना कहना, नपुंसक को नपुंसक कहना, रोगी को रोगी कहना और चोर को चोर कहना। यद्यपि ये सारे कथन सत्य हैं, किन्तु इनको सुनने वाला व्यक्ति व्यथा का अनुभव करता है, इसलिए यह सत्य भी गर्हित है।[3]

१. (क) चूर्णि, पृ० १४८।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५०।
२. (क) चूर्णि, पृ० १४९ : अनवद्यमिति यदन्येषामनुपरोधकृतं।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५० : 'अनवद्यम्' अपापं परपीडानुत्पादकम्।
३ (क) चूर्णि, पृ० १४९।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५०।

८३. तपस्या में (तवेसु)

जो तपस्या करता है उसका शरीर भी सुन्दर और मनमोहक हो जाता है। सभी प्रकार की तपस्याओं में ब्रह्मचर्य उत्तम है।[1] ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल वस्ति-नियमन ही नहीं है, ब्रह्म—आत्मा में रमण करना ही इसका प्रमुख अर्थ है।

८४. श्रमण ज्ञातपुत्र लोक में प्रधान हैं (लोगुत्तमे समणे णायपुत्ते)

श्रमण ज्ञातपुत्र लोक में रूप संपदा से, अतिशायिनी शक्ति से, अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन से तथा अनन्त चारित्र से उत्तम हैं।[2]

८५. (ठितीण··········लवसत्तमा)

स्थिति का अर्थ है—आयुष्य की काल-मर्यादा।

अनुत्तरोपपातिक देवों के आयुष्य की काल-मर्यादा सबसे अधिक होती है। उन्हें लवसप्तम इसलिए कहा जाता है कि यदि उनकी आयुष्य सात लव अधिक हो पाती तो वे उसी जीवन में केवली होकर मुक्त हो जाते।[3]

जैन परम्परा में एक लव ३७$\frac{३१}{७७}$ सेकेण्ड का माना गया है।[4]

८६. सुधर्मा सभा (सुहम्मा)

स्थानांग सूत्र में देवताओं के पांच प्रकार की सभाएं मानी गई हैं—[5]

१. सुधर्मा सभा।
२. उपपात सभा।
३. अभिषेक सभा।
४. अलंकारिक सभा।
५. व्यवसाय सभा।

चूर्णिकार का अभिमत है कि इन पांचों सभाओं में सुधर्मा सभा नित्य काम में आती है। वहां माणवक, इन्द्रध्वज, आयुधशाला, कोशागार तथा चोपालग होते हैं। अन्य सभाओं में वे नहीं होते। अतः वह सब में श्रेष्ठ है।[6]

वृत्तिकार का अभिमत है कि सुधर्मा सभा अनेक क्रीड़ास्थानों से युक्त है, अतः वह श्रेष्ठ है।[7]

बौद्ध परंपरा के अनुसार मेरु पर्वत के पूर्वोत्तर दिशा में सुधर्मा नाम की देवसभा है जहां देव प्राणियों के कृत्य-अकृत्य का संप्रधारण करते हैं। माना जाता है कि पक्ष की अष्टमी, चतुर्दशी और पूर्णिमा-अमावस्या को देवसभा होती है।[8]

८७. सब धर्मों में निर्वाण श्रेष्ठ है (णिव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा)

चूर्णिकार ने श्रेष्ठ का अर्थ—फल या प्रयोजन और वृत्तिकार ने प्रधान किया है।

---

१. चूर्णि, पृ० १५० : येन तपोनिष्टप्तदेहस्यापि मोहनीयं भवति, तेन सर्वतपसां उत्तमं ब्रह्मचर्यम्।

२. वृत्ति, पत्र १५० : सर्वलोकोत्तमरूपसम्पदा—सर्वाऽतिशायिन्या शक्त्या क्षायिकज्ञानदर्शनाभ्यां शीलेन च 'ज्ञातपुत्रो' भगवान् श्रमणः प्रधान इति।

३. चूर्णि, पृ० १५० : जे सव्वुक्कोसियाए ठितीए वट्टंति अणुत्तरोववातिता ते लवसत्तमा इत्यपदिश्यन्ते, जति णं तेसिं देवाणं एवतियं कालं आउए पहुप्पंते तो केवलं पाविऊण सिज्झंता।

४. अणुयोगद्वाराइं, सूत्र ४१७; जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग २ पृष्ठ २१६।

५. ठाणं, ५।२३५ चमरचंचाए रायहाणीए पंच सभा पण्णत्ता, तं जहा—सभासुधम्मा, उववातसभा, अभिसेयसभा, अलंकारियसभा, ववसायसभा।

६. चूर्णि, पृ० १४९ : पंचण्हं पि सभाणं सभा सुधम्मा विसिट्ठा, सा हि नित्यकालमेवोपभुज्यन्ते, तत्थ माणवग-महिंदज्झय-पहरण-कोसचोपाला, ण तधा इतरासु नित्यकालोपभोगः।

७. वृत्ति, पत्र १५० : सभानां च पर्षदां च मध्ये यथा सौधर्माधिपपर्षच्छ्रेष्ठा बहुभिः क्रीडास्थानैरुपेतत्वात्।

८. अभिधर्म कोश पृ० ३८४।

यहां धर्म का अर्थ—मत या दार्शनिक परम्परा है। सभी धर्म वाले (निर्वाणवादी परंपरा को स्वीकार करने वाले) निर्वाण (मोक्ष) की ही आकांक्षा करते हैं। वे अपने दर्शन का प्रयोजन निर्वाण की प्राप्ति ही मानते हैं।[1]

श्लोक २५ :

८८. श्लोक २५

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त पुढोवमे, धुणती, विगयगेही आदि शब्दों के वाच्यार्थ को अलग-अलग मान कर स्वतंत्र व्याख्या की है। उनके अनुसार इन शब्दों की व्याख्या इस प्रकार है—

पुढोवमे—पृथ्वी सर्वंसहा है। भगवान् महावीर भी उसकी भांति सर्वंसह थे—सभी प्रकार के परीषह और उपसर्गों को सम्यक्‌रूप से सहते थे। अथवा जैसे पृथ्वी समस्त प्राणियों के लिए आधारभूत है उसी प्रकार भगवान् महावीर भी अभयदान या सदुपदेश के कारण समस्त प्राणियों के आधार थे।[2]

धुणती—आठ प्रकार के कर्मों को प्रकंपित करने वाले, कर्मों का अपनयन करने वाले।[3]

विगयगेही—बाह्य या आभ्यन्तर वस्तुओं के प्रति अनासक्त।[4]

सण्णिहिं—सन्निधि का अर्थ है—संग्रह। द्रव्य सन्निधि, धन-धान्य आदि है और भाव सन्निधि है—कषाय क्रोध आदि।[5]

चूर्णिकार ने सन्निधि का वैकल्पिक का अर्थ कर्म किया है। वीतराग के कर्म का सांपरायिक बन्ध होता है।[6]

हमने इनकी व्याख्या कार्य-कारणभाव के आधार पर की है।

भगवान् महावीर पृथ्वी के समान सहिष्णु थे, इसलिए उन्होंने कर्म-शरीर को प्रकंपित किया। वे अनासक्त थे, इसलिए उन्होंने संग्रह नहीं किया।

सहिष्णुता कर्मों के अपनयन का मुख्य हेतु है। जो सहिष्णु नहीं होता वह समभाव नहीं रख सकता। राग-द्वेष से कर्मों का बंध होता है।

संग्रह करने का एकमात्र हेतु है गृद्धि, आसक्ति। जो आसक्त नहीं होता, अनासक्त होता है, वह सर्वत्र संतोष का अनुभव करता है। संतुष्ट व्यक्ति संग्रह नहीं करता। वह अभाव में भी व्याकुल नहीं होता।

महाभवोघं—

चूर्णिकार ने इसका अर्थ कर्म-समुद्र[7] और वृत्तिकार ने संसार-समुद्र किया है।[8]

---

१ (क) चूर्णि, पृ० १४६ : णिव्वाणसेट्ठा हि सर्वधर्माः, निर्वाणफला निर्वाणप्रयोजना इत्यर्थः, कुप्रावचनिका अपि हि निर्वाणमेव काङ्क्षन्ते इति।

(ख) वृत्ति, पत्र १५० निर्वाणश्रेष्ठाः मोक्षप्रधाना भवन्ति, कुप्रावचनिका अपि निर्वाणफलमेव स्वदर्शनं ब्रुवते।

२. (क) चूर्णि, पृ०१४६ : जधा पुढवी सव्वफाससहा तधा सो वि।

(ख) वृत्ति, पत्र १५१ : स हि भगवान् यथा पृथिवी सकलाऽऽधारा वर्तते तथा सर्वसत्त्वानामभयप्रदानतः सदुपदेशदानाद्वा सत्त्वाऽऽधार इति, यदि वा यथा पृथ्वी सर्वसहा एवं भगवान् परीषहोपसर्गान् सम्यक् सहत इति।

३. (क) चूर्णि, पृ० १४६ : धुणीते अष्टप्रकारं कर्मेति वाक्यशेषः।

(ख) वृत्ति पत्र १५१ : धुनाति अपनयत्यष्टप्रकारं कर्मेति शेषः।

४. (क) चूर्णि, पृ० १४६ : बाह्य-ऽभ्यन्तरेषु वस्तुषु विगता यस्य ग्रेधी स भवति विगतग्रेधी।

(ख) वृत्ति पत्र १५१ : विगता प्रलीना सबाह्याऽभ्यन्तरेषु वस्तुषु 'गृद्धिः' गार्द्ध्यमभिलाषो यस्य स विगतगृद्धिः।

५ (क) चूर्णि, पृ० १४६ : सन्निधानं सन्निधिः, द्रव्ये आहारादीनाम्, भावे क्रोधादिनाम्।

(ख) वृत्ति, पत्र १५१ । सन्निधानं सन्निधिः, स च द्रव्यसन्निधिः धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदरूपः भावसन्निधिस्तु माया क्रोधादयो वा सामान्येन कषायाः।

६. चूर्णि पृ० १४६ : कर्म वा सन्निधिः, यत् साम्परायिकं बध्नातीत्यर्थः।

७. चूर्णि, पृ० १४६ : महाभवोघं············कर्मसमुद्रः।

८. वृत्ति, पत्र १५१ : महाभवौघं चतुर्गतिकं संसारसागरम्।

८९. अनन्त चक्षु (अणंतचक्खू)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—अनन्त दर्शन वाला[1] और वृत्तिकार ने केवलज्ञानी[2] किया है। जो अनन्तदर्शनी होता है वह अनन्तज्ञानी भी होता है और जो अनन्तज्ञानी होता है वह अनन्तदर्शनी भी होता है। दोनों युगपत् होते हैं।

देखें—श्लोक ६ का टिप्पण।

श्लोक २६ :

९०. अध्यात्म दोषों का (अज्झत्तदोसा)

दोष दो प्रकार के होते हैं—[3]

१. बाह्य दोष।

२. अध्यात्म दोष—आन्तरिक दोष। कषाय-चतुष्क आन्तरिक दोष हैं।

ये चार कषाय—क्रोध, मान माया और लोभ संसार की स्थिति के मूल कारण हैं। जब कारण का विनाश होता है तब कार्य का भी विनाश हो जाता है। 'निदानोच्छेदेन निदानिन उच्छेदो भवति।'[4]

जब चारों कषाय नष्ट हो जाते हैं तब व्यक्ति निर्वाण के निकट पहुंच जाता है।

अध्यात्म का अर्थ है—आत्मा के भीतर होने वाला। गुण और दोष—दोनों अध्यात्म हो सकते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार ताप आध्यात्मिक भी होता है।[5]

श्लोक २७ :

९१. श्लोक २७ :

प्रस्तुत श्लोक में चार वादों का उल्लेख है—

१. क्रियावाद—आत्मवाद। क्रिया से मोक्ष-प्राप्ति मानने वाला दर्शन।

२. अक्रियावाद—ज्ञानवाद। वस्तु के यथार्थ ज्ञान से मोक्ष मानने वाला दर्शन।

३. वैनयिकवाद—विनय से ही मोक्ष मानने वाला दर्शन।

४. अज्ञानवाद—अज्ञान से इहलोक और परलोक की सिद्धि मानने वाला दर्शन।

इन चारों वादों की विस्तृत व्याख्या के लिए देखें—(१) बारहवां अध्ययन तथा उसके टिप्पण। (२) उत्तरज्झयणाणि १८।२३ का टिप्पण।

---

१. चूर्णि, पृ० १४९ : अणंतचक्खुरिति अनन्तदर्शनवान्।

२. वृत्ति, पत्र १५१ : 'अनन्तम्' अपर्यवसानं नित्यं ज्ञेयानन्तत्वात् वाऽनन्तं चक्षुरिव चक्षुः—केवलज्ञानं यस्य स तथेति।

३. चूर्णि, पृ० १४९ : आध्यात्मिका ह्येते दोषाः, बाह्या गृहादयः।

४. वृत्ति, पत्र १५१ : निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवती ति न्यायात् संसारस्थितेश्च क्रोधादयः कषायाः कारणमत एतान् अध्यात्मदोषांश्चतुरोऽपि क्रोधादीन् कषायान्।

५. सांख्यकारिका १।१, अनुराधाव्याख्या, पृ० २ : आत्मनि इति अध्यात्मं, तदधिकृत्य जायमानमाध्यात्मिकम्। वही पृष्ठ ३, नं १ के फुटनोट में उद्धृत, विष्णुपुराण ६।५।६ :

मानसोऽपि द्विजश्रेष्ठ!, तापो भवति नैकधा।
इत्येवमादिभिर्भेदैस्तापो, ह्याध्यात्मिको मतः॥

वैनयिक के साथ 'अनुवाद' शब्द का प्रयोग है। चूर्णिकार का अभिमत है कि द्वादशांग गणिपिटक वाद है और शेष तीन सौ तिरसठ मत 'अनुवाद' हैं। अनुवाद का एक अर्थ 'थोड़ा' भी हो सकता है।[1]

९२. पक्ष का निर्णय किया (पडियच्च ठाणं)

यहां स्थान का अर्थ है—पक्ष, मत। अर्थात् चारों वादों को—पक्षों को जानकर—उनकी प्रतीति कर।[2]

९३. जानकर (वेयइत्ता)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—जानकर[3] और वृत्तिकार ने—दूसरों को वस्तु के स्वरूप की जानकारी देकर—किया है।[4]

९४. दीर्घरात्र (यावज्जीवन तक) (दीहरायं)

दीर्घरात्र का अर्थ है यावज्जीवन।[5] 'रात्र' शब्द काल का द्योतक है। लंबा काल अर्थात् जीवन-पर्यन्त।

श्लोक २८ :

९५. तपस्वी (उवहाणवं)

भगवान् महावीर ने केवल आश्रव का ही निरोध नहीं किया था, वे अपने पूर्व कर्मों के विनाश के लिए तपस्या भी करते थे।[6]

देखें—श्लोक २० का टिप्पण।

९६. वर्जन किया (वारिया)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने माना है कि भगवान् ने स्वयं पहले मैथुन तथा रात्रीभोजन का परिहार किया और फिर उसका उपदेश दिया। जो व्यक्ति स्वयं धर्म में स्थित नहीं है, वह दूसरों को धर्म में स्थापित नहीं कर सकता।[7]

आचारांग सूत्र के नौवें अध्ययन में भगवान् महावीर की गृहस्थचर्या और मुनि-चर्या-दोनों का वर्णन है। चूर्णि की व्याख्या में यह स्पष्ट निर्देश है कि भगवान् विरक्त अवस्था में अप्रासुक आहार, रात्रीभोजन और अब्रह्मचर्य के सेवन का वर्जन कर अपनी चर्या

---

१. चूर्णि, पृ० १५० : दुवालसंगं गणिपिडगं वादो, सेसाणि तिण्णि तिसट्ठाणि अणुवादो, थोवं वा अणुवादो।

२. वृत्ति, पत्र १५१ : स्थानं पक्षमभ्युपगतमित्यर्थः, ...प्रतीत्य परिच्छिद्य सम्यगवबुध्येत्यर्थः।

३ चूर्णि, पृ० १५० : वेदयित्वा ज्ञात्वेत्यर्थः।

४. वृत्ति, पत्र १५२ : अपरान् सत्त्वान् यथावस्थिततत्त्वोपदेशेन 'वेदयित्वा' परिज्ञाप्य।

५. (क) चूर्णि, पृ० १५० : दीहरातं णाम जावज्जीवाए।
(ख) वृत्ति, पत्र १५२ : दीर्घरात्रम् इति यावज्जीवम्।

६. चूर्णि, पृ० १५० : उपधानवानिति न केवलं निरुद्धाश्रवः, पूर्वकर्मक्षयार्थं तपोपधानवानप्यसौ।

७ (क) चूर्णि, पृ० १५० : वारिया णाम वारयित्वा, प्रतिषेध्यते च। इत्थिग्रहणे तु मैथुनं गृह्यते। सराइभत्ते त्ति वारयित्वेति वर्त्तते, एतच्चाऽऽत्मनि वारयित्वा, न ह्यस्थितः स्थापयतीति कृत्वा, पश्चात् शिष्यान् वारितवान्, अट्ठितो ण ठवेति परं।... ....सर्वस्मादकृत्यादात्मानं शिष्यांश्च वारितवानिति।

(ख) वृत्ति, पत्र १५२ : एतदुक्तं भवति प्राणातिपातनिषेधादिकं स्वतोऽनुष्ठाय परांश्च स्थापितवान्, न हि स्वतोऽस्थितः परांश्च स्थापयितुमलमित्यर्थः, तदुक्तम्—

ब्रुवाणोऽपि न्याय्यं स्ववचनविरुद्धं व्यवहरन्,
परान्नालं कश्चिद्दमयितुमदान्तः स्वयमिति।
भवान्निश्चित्यैवं मनसि जगदाधाय सकलं,
स्वमात्मानं तावद्दमयितुमदान्तं व्यवसितः॥

चलाते थे।[1]

इसकी व्याख्या दूसरे नय से भी की जा सकती है। भगवान् महावीर से पूर्व भगवान् पार्श्व चतुर्याम धर्म का प्रतिपादन कर रहे थे। उसमें स्त्री-त्याग या ब्रह्मचर्य तथा रात्रि-भोजन-विरति—इन दोनों का स्वतंत्र स्थान नहीं था। भगवान् महावीर ने पंच महाव्रत धर्म का प्रतिपादन किया। उसके साथ छट्ठे रात्री भोजन-विरति व्रत को जोड़ा। ये दोनों भगवान् महावीर द्वारा दिए गए आचारशास्त्रीय विकास हैं। प्रस्तुत श्लोक में उसी की जानकारी दी गई है।

६७. साधारण और विशिष्ट (अपरं परं)

चूर्णिकार ने दो प्रकार के लोक माने हैं—[2]

१. अपरलोक—मनुष्यलोक।

२. परलोक—नरकलोक, तिर्यञ्चलोक और देवलोक।

वृत्तिकार ने इसके स्थान पर 'आरं परं' या 'आरं पारं' शब्द मान कर 'आरं' का अर्थ इहलोक, मनुष्यलोक और परं या पारं का अर्थ परलोक, नारक आदि लोक किया है।[3]

वस्तुत: ये अर्थ केवल शाब्दिक हैं। पूरे प्रसंग के संदर्भ में अपर का अर्थ साधारण लोग और पर का अर्थ विशिष्ट लोग होना चाहिए। मनुष्य दो प्रकार के होते है—अव्युत्पन्न और व्युत्पन्न अथवा अज्ञ और विज्ञ। अज्ञ मनुष्य संक्षेप को समझ नहीं पाते। उनके लिए विस्तार आवश्यक होता है। विज्ञ के लिए विस्तार अपेक्षित नहीं होता। चतुर्याम धर्म अल्प विभाग वाला प्रतिपादन था। अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य—दोनों एक हैं—यह बात विज्ञ के लिए सहजगम्य हो सकती है, किन्तु अज्ञ मनुष्य इसे नही समझ सकता। इस बुद्धि-क्षमता को ध्यान में रखकर भगवान् महावीर ने ब्रह्मचर्य महाव्रत को अपरिग्रह महाव्रत से पृथक् कर दिया। इसी प्रकार रात्रीभोजनविरति व्रत को अहिंसा महाव्रत से पृथक् कर दिया।

अपर और पर के विभाग की पुष्टि केशी-गौतम संवाद से भी होती है। वहां इस विभाग के कारण ऋजु-जड और वक्र-जड तथा ऋजु-प्रज्ञ पुरुप बतलाए गए हैं।[4] ऋजु-जड और वक्र-जड अपर श्रेणी के लोग हैं और ऋजु-प्रज्ञ पर श्रेणी के लोग हैं।

६८. सर्ववर्जी प्रभु ने ·····वर्जन किया (सव्वं ···सव्ववारी)

चूर्णिकार ने सर्ववारी का अर्थ—सब वर्जनीयों का वर्जन करने वाला किया है।[5] वृत्तिकार ने 'सव्ववारं' पाठ मान कर उसका अर्थ—बहुशः किया है।[6]

मज्झिमनिकाय (उपालिसुत्त ८) में भगवान् महावीर को चातुर्याम संवरसंवृत, सर्ववारिवारित, सर्ववारिधुत और सर्ववारि-स्पृष्ट बतलाया है। मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा में 'सव्ववारिवारितो' के दो अर्थ किए हैं—[7]

१. वारितसब्बउदक—जिसने सभी प्रकार के पानी के विषय में संयम कर लिया है।

२. सब्बेन पापवारणेन वारितपापो—सर्व पाप को वारित करने के कारण पापों का वारण करने वाला।

आई. बी. हॉरनर ने मज्झिमनिकाय के अनुवाद में उपरोक्त चारों पदों का अर्थ इस प्रकार किया है—[8]

---

१. आचारांग चूर्णि, पृ० २९८ : अफासुयं आहारं राइभत्तं च ण आहारेंतो बंभयारी।

२. चूर्णि, पृ० १५० : अपरो लोको मनुष्यलोकः, परस्तु नरक-तिर्यग्-देवलोकः।

३. वृत्ति, पत्र १५२ : आरम् इहलोकाख्यं परं परलोकाख्यं यदि वा—आरं—मनुष्यलोकं पारमिति—नारकादिकम्।

४. उत्तरज्झयणाणि, २३।२६ : पुरिमा उज्जुजडा उ वंकजडा य पच्छिमा।
मज्झिमा उज्जुपन्ना य तेण धम्मे दुहा कए॥

५. चूर्णि पृ० १५० : सर्वस्मादकृत्यावात्मानं शिष्यांश्च वारितवानिति सर्ववारी, सर्ववारणशील इत्यर्थः।

६. वृत्ति, पत्र १५२ : सर्ववारं बहुशः।

७. मज्झिमनिकाय, अट्ठकथा, III, ५८।

८. Middle Length Saying II Pages ४१,४२।

सव्ववारिवारितो—He is wholly restrained in regard to water.

सव्ववारियुतो—He is bent on warding off all evil.

सव्ववारिधुतो—He has shaken off all evil.

सव्ववारिफुटो—He is permeated with the (warding off) all evil.

मज्झिमनिकाय का यह प्रसंग भ्रान्तिपूर्ण है। भगवान् पार्श्व के शासन में चतुर्याम धर्म प्रचलित था। भगवान् महावीर ने पांच महाव्रत, संवर या शिक्षा का निरूपण किया था।[1] जो पांच संवरों से संवृत होता है वह 'सर्ववारी' कहलाता है। 'पंचसंवर-संवृत' का उल्लेख प्रस्तुत आगम के प्रथम अध्ययन में मिलता है।[2] यहां 'वारी' शब्द का प्रयोग संवर के अर्थ में किया गया है। 'सर्ववारी' अर्थात् प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह और रात्रीभोजन—इन सबका संवर करने वाला।[3]

श्लोक २६ :

६६. समाधान देने वाले (समाहियं)

इसका अर्थ है—समाहित करने वाला, समाधान देने वाला। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—सम्यग् आख्यात, सम्यक् रूप से प्ररूपित किया है।[4]

१००. अर्थ और पद से विशुद्ध (अट्ठपदोवसुद्धं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—[5]

(१) जिसके पद अर्थवान होते हैं वह अर्थपद कहलाता है। उससे शुद्ध धर्म।

(२) अर्थों और पदों से उपेत होने के कारण शुद्ध धर्म।

वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ इस प्रकार हैं—[6]

(१) सयुक्तिक या सहेतुक।

(२) अभिधेय और वाचक के द्वारा उपशुद्ध।

१०१. श्रद्धापूर्वक स्वीकार कर (सद्दहंताऽय)

इसमें दो शब्द हैं—सद्दहंता और आदाय। प्राकृत व्याकरण के अनुसार इन दोनों पदों में संधि हुई है और वर्ण (दा) का लोप हुआ है।

इसका अर्थ है—श्रद्धापूर्वक स्वीकार करके।[7]

---

१ उत्तरज्झयणाणि, २३।२३ : चाउज्जामो य जो धम्मो जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण पासेण य महामुणी ॥

२. सूयगडो, १।१।८८।

३. चूर्णि, पृ० १५० : वारितवान् शिष्यान् हिंसा-ऽनृत-स्तेय-परिग्रहेभ्य इति, मैथुन-रात्रिभक्ते तु पूर्वोक्ते।

४. (क) चूर्णि, पृ० १५० : सम्यग् आहितः समाहितः, सम्यगाख्यात इत्यर्थः।
(ख) वृत्ति, पत्र १५२ : सम्यगाख्यातम्।

५. चूर्णि, पृ० १५० : अत्थवंति पदानि, अथवाऽर्थैश्च पदैश्च उपेत्य शुद्धम्।

६. वृत्ति, पत्र १५२ : अर्थपदानि—युक्तयो हेतवो वा तैरुपशुद्धम्—अवदातं सद्युक्तिकं सद्धेतुकं वा यदि वा अर्थैः—अभिधेयैः पदैश्च-वाचकैः शब्दैः उप—समीप्येन शुद्धं—निर्दोषम्।

७. चूर्णि, पृ० १५० : सद्दहंताऽऽय..........श्रद्धानपूर्वकमादाय।

१०२. मुक्त (अणायु······)

अनायु अर्थात् आयुष्य से रहित, मुक्त, सिद्ध । इसका तात्पर्य है कि जो व्यक्ति अर्हद्भाषित धर्म का सम्यक् अनुपालन करता है, उसकी दो स्थितियां हो सकती हैं । वह या तो अनायु हो जाता है, जन्म-मरण से छूट कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त कर लेता है अथवा अगले जन्म में देवाधिपति इन्द्र होता है ।[1]

देखें— ६।५ का टिप्पण ।

---

१. (क) चूर्णि पृ० १५० : जे तु ण सिज्झंति ते इंदा भवंति देवाधिपतयः आगमिष्यति आगमिस्सेण भवेण सुकुलुप्पत्तीए सिज्झिस्संति ।

(ख) वृत्ति, पत्र १५२ ।

सत्तमं अज्झयणं
कुसीलपरिभासितं

सातवां अध्ययन
कुशील-परिभाषित

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'कुशील-परिभाषित' है।[1] इसमें कुशील के स्वभाव, [illegible] को समझाया गया है। चूर्णिकार के अनुसार इसमें कुशील और सुशील—दोनों परिभाषित हैं।[2] [illegible] धर्मानुकूल नहीं हैं, वे कुशील कहलाते हैं। मुख्यतः कुशील चार प्रकार के हैं[3]—

१. परतीर्थिक कुशील—अन्य धर्म संप्रदायों के शिथिल साधु।
२. पार्श्वापत्यिक कुशील—पार्श्व की परंपरा के शिथिल साधु।
३. निर्ग्रन्थ कुशील—महावीर की परंपरा के शिथिल साधु।
४. गृहस्थ कुशील—अशील गृहस्थ।

इसमें कुशील का वर्णन ही नहीं, सुशील का वर्णन भी प्राप्त है। इसमें तीस श्लोक हैं। इनका [illegible]—

श्लोक १ से ४ -	सामान्यतः कुशील के कार्य और परिणाम।
५-९	पाषण्ड कुशीलों का वर्णन।
१०-११	कुशील का फल-विपाक
१२-१८	कुशील दर्शनों की मान्यताओं का निरूपण
१९-२०	कुशील दर्शनावलंबियों का फल-विपाक
२१	निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित कुशील का लक्षण।
२२	सुशील का अनुष्ठान।
२३-२६	पार्श्वस्थ कुशीलों का आचार-व्यवहार।
२७-३०	सुशील के मूलगुण और उत्तरगुणों का प्रतिपादन।

'शील' शब्द के चार निक्षेप हैं— नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव[4]—

द्रव्यशील—जो केवल आदतन क्रिया करता है, उसके फल के प्रति निरपेक्ष होता है, वह उसका शील है, [illegible] का प्रयोजन प्राप्त न होने पर भी जो सदा कपड़े ओढ़े रहता है, या [illegible] कहलाता है। इसी प्रकार मण्डनशील स्त्री, भोजनशील, स्निग्ध भोजनशील, [illegible] है।[5]

द्रव्यशील का दूसरा अर्थ है—चेतन या अचेतन द्रव्य का स्वभाव। जैसे—[illegible] है और [illegible] वर्धन और सुकुमारता घी का स्वभाव है।[6]

भावशील के मुख्यतः दो प्रकार हैं—

१. ओघभावशील—पाप कार्यों से संपूर्ण विरत अथवा विरत-अविरत।
२. अभीक्ष्णसेवनाशील—निरंतर या बार-बार शील का आचरण करने वाला।

भावशील के दो प्रकार और होते हैं—

१. प्रशस्त ओघभावशील—धर्मशील।
अप्रशस्त ओघभावशील—पापशील।

---

१. चूर्णि, पृ० १५१ : इदानीं कुशीलपरिभासितं ति।
२. वही, पृष्ठ १५१ : ...जत्थ कुसीला सुसीला य परिभासिज्जंति।
३. वृत्ति, पत्र १५२ : कुशीलाः—परतीर्थिकाः पार्श्वस्थादयो वा [illegible]।
४. निर्युक्तिगाथा, ७६ : सीले चउक्क दव्वे पाउरणा-भरण-भोयणादीसु।
५. चूर्णि, पृ० १५१।
६. वही पृष्ठ १५१ : यो वा यस्य द्रव्यस्य स्वभावः तद् द्रव्यं तच्छीलं [illegible]।

२. प्रशस्त-आभीक्ष्य-सेवनाशील—ज्ञानशील, तपः शील ।
अप्रशस्त-आभीक्ष्य-सेवनाशील—क्रोधशील, मानशील, मायाशील, लोभशील, चोरणशील, पानशील, पिशुनशील, परोपतापनशील, कलहशील आदि ।

निर्युक्तिकार ने स्वयं सुशील और कुशील का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ प्रस्तुत किया है। सुशील और कुशील में प्रयुक्त प्रथम वर्ण 'सु' और 'कु' निपात शब्द हैं। 'सु' प्रशंसार्थक, शुद्धि-अर्थक निपात है और 'कु' जुगुप्सार्थक, अशुद्धि-अर्थक निपात है। जैसे— सौराज्य का अर्थ है—अच्छा राज्य और कुग्राम का अर्थ है—बुरा गांव। इसी प्रकार सुशील का अर्थ है—अच्छे आचरण वाला और कुशील का अर्थ है—बुरे आचरण वाला।[1]

अप्रासुक आहार का उपभोग करने के आधार पर निर्युक्तिकार ने नामोल्लेखपूर्वक पांच प्रकार के कुशीलों का प्रतिपादन किया है।[2] महावीरकालीन इन धर्म-संप्रदायों के आचार का वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इनके आचार का कुछ विस्तार से वर्णन किया है—

१. गोतम —ये मशकजातीय धर्म-संप्रदाय के संन्यासी गोव्रतिक होते हैं। ये बैल को नाना प्रकार से प्रशिक्षित करते हैं और फिर उसके साथ घर-घर में जाकर बैल की तरह रंभाते हैं और अपने हाथ में रहे हुए छाज (सूर्प) में धान्य इक्कट्ठा करते हैं। ये ब्राह्मण-तुल्य जाति के होते हैं।[3]

२. चंडीदेवगा —ये प्रायः अपने हाथ में चक्र रखते हैं।[4] चूर्णिकार ने इसके स्थान पर 'रंडदेवगा' शब्द माना है।[5]

३. वारिभद्रक —ये पानी पर छा जाने वाली शैवाल—काई खाते हैं, हाथ पैर आदि बार-बार धोते हैं, बार-बार स्नान और आचमन करते हैं और तीनों संध्याओं में जल में डुबकियां लेते हैं।[6]

४. अग्निहोमवादी—विभिन्न प्रकार के तापस और ब्राह्मण हवन के द्वारा मुक्ति बतलाते थे। वे मानते थे कि जो व्यक्ति स्वर्ग आदि फल की आकांक्षा न करता हुआ समिधा, घृत आदि हव्य-विशेष के द्वारा अग्नि का तृप्त करता है, हवन करता है वह मोक्ष के लिए वैसा करता है। जो किसी आशंसा से हवन करता है वह अपने अभ्युदय को सिद्ध करता है। जैसे अग्नि स्वर्ण मल को जलाने में समर्थ है, वैसे ही वह (अग्नि) मनुष्य के आन्तरिक पापों को जलाने में समर्थ है।[7]

---

१. (क) निर्युक्तिगाथा, ८१ : परिभासिता कुसीला य एत्थ जावंति अविरता केय ।
सु त्ति पसंसा सुद्धे कु त्ति दुगुंछा अपरिसुद्धे ॥
(ख) चूर्णि, पृ० १५१ ; वृत्ति पत्र, १५३ ।

२. निर्युक्तिगाथा, ८३ : जह णाम गोतमा रंडदेवता वारिभद्दगा चेव ।
जे अग्गिहोमवादी जलसोयं केइ (जे इ ?) इच्छंति ॥

३. चूर्णि, पृ० १५२ : गोतमा णाम पासंडिणो मसगजातीया, ते ही गोणं णाणाविधेहिं उवाएहिं दमिऊण गोणपोतगेण सह गिहे धण्णं ओहारेंता हिंडंति । गोव्वतिगावि धीयारप्राया एव, ते च गोणा इव णत्थितेल्लूगा रंभायमाणा गिहे गिहे सुप्पेहि गहितेहि धण्णं ओहारेमाणा विहरंति ।

४. वृत्ति, पत्र १५४ : चंडीदेवगा इति चक्रधरप्रायाः ।

५. चूर्णि, पृ० १५२ : अवरे रंडदेवगावरप्रायाः ।

६. (ख) चूर्णि, पृ० १५२ : वारिभद्रगा प्रायेण जलसक्का हत्थ-पाद-पक्खालणरता ण्हायंता य आयमंता य संझा तिसु तिसु य जलणिबुड्डा अछंपरिग्गायवादि ।
(ख) वृत्ति, पत्र १५४ : वारिभद्रका अब्भक्षा शैवालाशिनो नित्यं स्नानपादादिधावनाभिरताः ।

७. (क) चूर्णि, पृ० १५२ : अग्निहोमवादी तावसा धीयारायारा अग्गिहोत्तेण सग्गं इच्छंति ।
(ख) वृत्ति, पत्र १५६ : तथैके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति, ये किल स्वर्गादिफलमनाशंस्य समिधाघृतादिभिर्हव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुह्वति शेषास्त्वभ्युदयायेति, युक्तिं चात्र ते आहुः—यथा ह्यग्निः सुवर्णादीनां मलं दहत्येवं दहनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽप्यान्तरं पापमिति ।

५. जलशौचवादी—भागवत, परिव्राजक आदि सजीव जल के उपयोग में मोक्ष की स्थापना करते थे। वे बार-बार हाथ-पैर धोने, स्नान करने में रत रहते थे। वे मानते थे कि जैसे जल से बाह्य शुद्धि होती है, वैसे ही आन्तरिक शुद्धि भी होती है।[1]

छठे श्लोक का प्रतिपाद्य है कि जो मनुष्य अग्नि को जलाता है, वह भी प्राणियों का वध करता है और जो अग्नि को बुझाता है, वह भी प्राणियों का वध करता है। दोनों प्रवृत्तियों में हिंसा है। इसका भगवती सूत्र में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वहां अग्नि जलाने वाले को महाकर्म करने वाला और अग्नि को बुझाने वाले को अल्पकर्म करने वाला कहा है। दोनों हिंसा-संवलित प्रवृत्तियां हैं। अग्नि के प्रज्वालन में पृथ्वी, पानी, वायु, वनस्पति और त्रस—इन जीवों की अधिक हिंसा है और अग्नि जीवों की कम हिंसा है। अग्नि के विध्यापन में अग्नि-जीवों की प्रचुर हिंसा है और शेष जीवों की कम हिंसा है।

विशेष विवरण के लिए देखें—टिप्पण नं २३।

पशु-पक्षियों के उदाहरण से जल-शौचवादियों का खंडन पनरहवें श्लोक में किया गया है। उसमें मत्स्य, कूर्म, सरीसृप, मद्गु, उद्द और उदकराक्षस—ये नाम आए हैं। ये सारे जलचर प्राणी हैं। सूत्रकार का कथन है कि यदि पानी के व्यवहरण से ही मोक्ष प्राप्त होता हो तो सबसे पहले ये जलचर पशु-पक्षी मोक्ष जाएंगे।

इनमें तीन शब्द महत्त्वपूर्ण हैं—

१. मंगु—जलकाक।

२. उद्द—उदबिलाव। नेवले के आकार का उससे एक बड़ा जंतु जो जल और स्थल दोनों में रहता है।[2]

३. उदकराक्षस—मनुष्य की आकृतिवाले जलचर प्राणी।

प्रस्तुत अध्ययन के चौथे श्लोक के प्रथम दो चरण कर्मवाद की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं—'*अस्सिं च लोए अदुवा परत्था, सयग्गसो वा तह अण्णहा वा।*' इनमें कर्मवाद से संबंधित चार प्रश्न पूछे गए हैं—

१. क्या किए गए कर्मों का फल उसी जन्म में मिल जाता है ?

२. क्या किए गए कर्मों का फल दूसरे जन्म में मिलता है ?

३. क्या उस कर्म का तीव्र विपाक एक ही जन्म में मिल जाता है ?

४. जिस अशुभ प्रवृत्ति के आचरण से वह कर्म बांधा गया है, क्या उसी प्रकार से वह उदीर्ण होकर फल देता है या दूसरे प्रकार से ?

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इनका विस्तार से समाधान प्रस्तुत किया है।[3]

प्रस्तुत आगम के दूसरे श्रुतस्कंध (१।६६) मे धर्म-प्रवचन करने के लिए कुछ निर्देश दिए हैं। मुनि मोक्षाभिमुख होता है। वह समस्त आसक्तियों को छोड़कर परिव्रजन करता है। संयम-यात्रा के उचित संचालन के लिए वह शरीर का पोषण करता है। शरीर-पोषण का एकमात्र साधन है—भोजन। मुनि अपनी चर्या से ही भोजन प्राप्त करता है। वह न स्वयं भोजन पकाता है और न दूसरों से पकवाता है। 'दत्तेसणां चरे'—वह गृहस्थों द्वारा प्रदत्त भिक्षा से अपना निर्वाह करता है। उसकी दिनचर्या का एक अंग है—धर्म देशना। सूत्रकार ने धर्म-प्रवचन करने की कुछ सीमाएं निर्धारित की हैं—

१. मुनि अन्न के लिए धर्मदेशना न दे।

२. मुनि पान के लिए धर्मदेशना न दे।

३. मुनि वस्त्र के लिए धर्मदेशना न दे।

४. मुनि स्थान के लिए धर्मदेशना न दे।

५. मुनि शयन (पाट बाजोट) के लिए धर्म-देशना न दे।

६. मुनि अन्य किसी प्रकार की सुख-सुविधा की प्राप्ति के लिए धर्म-देशना न दे।

७. मुनि केवल कर्म-निर्जरा के लिए, बंधनमुक्ति के लिए धर्म-देशना दे।

प्रस्तुत अध्ययन के पांच श्लोकों (२३-२७) में इसी धर्म-देशना के सीमा-सूत्र प्रतिपादित हैं।

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १५२, १५७।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५६।

२ देखें—टिप्पण संख्या—६१।

३. देखें—टिप्पण संख्या १४।

सत्तमं अज्झयणं : सातवां अध्ययन

कुसीलपरिभासितं : कुशीलपरिभाषित

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. पुढवी य आऊ अगणी य वाऊ तण रुक्ख बीया य तसा य पाणा । जे अंडया जे य जराउ पाणा संसेयया जे रसयाभिहाणा ॥	पृथ्वी च आपः अग्निश्च वायुः, तृणानि रूक्षाः बीजानि च त्रसाश्च प्राणाः । ये अंडजा ये च जरायुजाः प्राणाः, संस्वेदजा ये रसजाभिधानाः ॥	१. पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, तृण, वृक्ष,[१] बीज तथा त्रस प्राणी—जो अंडज, जरायुज,[२] संस्वेदज[३] और रसज[४]—इस नाम वाले हैं ।
२. एताइं कायाइं पवेइयाइं एतेसु जाणे पडिलेह सायं । एतेहि काएहि य आयदंडे पुणो-पुणो विप्परियासुवेति ॥	एते कायाः प्रवेदिताः, एतेषु जानीयात् प्रतिलिख सातम् । एतेषु कायेषु चात्मदण्डः, पुनः पुनः विपर्यासमुपैति ॥	२. जीवों के ये निकाय कहे गए है ।[५] पुरुष ! तू उनके विषय में जान और उनके सुख (दुःख) को देख ।[६] जो उन जीव-निकायों की हिंसा करता है,[७] वह बार-बार विपर्यास (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है ।[८,९]
३. जाईपहं अणुपरियट्टमाणे तसथावरेहिं विणिघायमेति । से जाति-जातिं बहुकूरकम्मे जं कुव्वती मिज्जति तेण बाले ॥	जातिपथमनुपरिवर्तमानः, त्रसस्थावरेषु विनिघातमेति । स जाति-जातिं बहुक्रूरकर्मा, यत् कुरुते मीयते तेन बालः ॥	३. वह जातिपथ (जन्म-मरण) में[१०] बार-बार पर्यटन करता हुआ त्रस और स्थावर प्राणियों में विनिघात (शारीरिक-मानसिक दुःख) को[११] प्राप्त होता है। वह जन्म-जन्म मे[१२] बहुत क्रूरकर्म करता है। वह अज्ञानी जो करता है, उससे भर जाता है ।[१३]
४. अंसि च लोए अदुवा परत्था सयग्गसो वा तह अण्णहा वा । संसारमावण्ण परं परं ते बंधंति वेयंतिय दुण्णियाणि ॥	अस्मिश्च लोके अथवा परस्तात्, शताग्रसो वा तथान्यथा वा । संसारमापन्नाः परं परं ते, वध्नन्ति वेदयन्ति च दुर्नीतानि ॥	४. (वह कर्म) इस लोक में अथवा परलोक में, सैंकड़ों बार या एक बार, उसी रूप में या दूसरे रूप में (भोगा जाता है)[१४] संसार में पर्यटन करते हुए प्राणी आगे से आगे[१५] दुष्कृत का[१६] वंध और वेदन करते हैं ।
५. जे मायरं च पियरं च हिच्चा समणव्वए अगणि समारभिज्जा । अहाहु से लोए कुसीलधम्मे भूयाइ जे हिंसति आतसाते ।	यो मातरं च पितरं च हित्वा, श्रमणव्रतः अग्निं समारभेत । अथ आहुः स लोके कुशीलधर्मा, भूतान् यो हिनस्ति आत्मसातः ॥	५. जो माता-पिता को छोड़,[१७] श्रमण का व्रत ले,[१८] अग्नि का समारंभ और[१९] अपने सुख के लिए[२०] प्राणियों की हिंसा करता है, वह लोक में[२१] कुशील धर्म वाला[२२] कहा गया है ।
६. उज्जालओ पाण ऽतिवातएज्जा णिव्वावओ अगणि ऽतिवातएज्जा । तम्हा उ मेहावि समिक्ख धम्मं ण पंडिते अगणि समारभिज्जा ॥	उज्ज्वालकः प्राणान् अतिपातयेत्, निर्वापकोग्निं अतिपातयेत् । तस्मात् तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं, न पंडितः अग्निं समारभेत ॥	६. अग्नि को जलाने वाला प्राणियों का वध करता है और बुझाने वाला भी उनका वध करता है ।[२३] इसलिए मेधावी[२४] पडित मुनि धर्म को समझकर अग्नि का समारंभ न करे ।[२५]

७. पुढवी वि जीवा आऊ वि जीवा
पाणा य संपातिम संपयंति।
संसेदया कट्ठसमस्सिता य
एते दहे अगणि समारभंते॥

पृथिव्यपि जीवाः आपोऽपि जीवाः,
प्राणाश्च सम्पातिमाः संपतन्ति।
संस्वेदजाः काष्ठसमाश्रिताश्च,
एतान् दहेत् अग्निं समारभमाणः॥

७. पृथ्वी भी जीव है। पानी भी जीव है। उडने वाले[२६] जीव आकर गिरते हैं। संस्वेदज[२७] भी जीव हैं। इंधन में भी जीव होते हैं।[२८] अग्नि का समारंभ करने वाला इन सब जीवों को जलाता है।

८. हरियाणि भूयाणि विलंबगाणि
आहार-देहाइं पुढो सियाइं।
जे छिंदई आतसुहं पडुच्च
पागब्भि-पण्णो बहुणं तिवाती॥

हरितानि भूतानि विलम्बकानि,
आहारदेहानि पृथक् श्रितानि।
यश्छिनत्ति आत्मसुखं प्रतीत्य,
प्रागल्भिप्रज्ञः बहूनामतिपाती॥

८. वनस्पति जीव हैं। वे जन्म से मृत्यु पर्यन्त नाना अवस्थाओं को धारण करते हैं।[२९] वे आहार से उपचित होते हैं।[३०] वे (वनस्पति-जीव) मूल, स्कंध आदि में पृथक्-पृथक् होते हैं।[३१] जो अपने सुख के लिए[३२] उनका छेदन करता है, वह ढीठ प्रज्ञावाला[३३] बहुत जीवों का[३४] वध करता है।

९. जाइं च वुड्ढिं च विणासयंते
बीयाइ अस्संजय आयदंडे।
अहाहु से लोए अणज्जधम्मे
बीयाइ जे हिंसइ आयसाते॥

जातिं च वृद्धिं च विनाशयन्,
बीजानि असंयतः आत्मदण्डः।
अथाहुः स लोके अनार्यधर्मा,
बीजानि यो हिनस्ति आत्मसातः॥

९. जो वनस्पति के जीवों की उत्पत्ति, वृद्धि और बीजों का विनाश करता है,[३५] वह असंयमी मनुष्य अपने आपको दंडित करता है।[३६] जो[३७] अपने सुख के लिए बीजों का विनाश करता है, उसे अनार्य-धर्मा[३८] कहा गया है।

१०. गब्भाइ मिज्जंति बुयाबुयाणा
णरा परे पंचसिहा कुमारा।
जुवाणगा मज्झिम थेरगा य
चयंति ते आउखए पलीणा॥

गर्भादौ म्रियन्ते ब्रुवन्तोऽब्रुवन्तः,
नराः परे पञ्चशिखाः कुमाराः।
युवानकाः मध्यमाः स्थविरकाश्च,
च्यवन्ते ते आयुःक्षये प्रलीनाः॥

१०. (वनस्पति की हिंसा करने वाले) कुछ गर्भ में[३९] ही मर जाते हैं। कुछ बोलने और न बोलने की स्थिति में[४०] पंच-शिख[४१] कुमार होकर, कुछ युवा, अधेड[४२] और बूढे होकर मर जाते हैं। वे आयु के क्षीण होने पर किसी भी अवस्था में जीवन से च्युत होकर प्रलीन हो जाते हैं।[४३]

११. बुज्झाहि जंतू! इह माणवेसु
दट्ठुं भयं बालिएणं अलंभे।
एगंतदुक्खे जरिए हु लोए
सकम्मुणा विप्परियासुवेति॥

बुध्यस्व जन्तो! इह मानवेषु,
दृष्ट्वा भयं बाल्येन अलं भवतः।
एकान्तदुःखे ज्वरिते खलु लोके,
स्वकर्मणा विपर्यासमुपैति॥

११. हे प्राणी! तू धर्म को समझ।[४४] यहां मनुष्यों में नाना प्रकार के भयों को देखकर[४५] बचपन (अज्ञान) को छोड़।[४६] यह जगत् एकान्त दुःखमय[४७] और (मूर्च्छा के) ज्वर से पीडित[४८] है। वह अपने ही कर्मों से विपर्यास को प्राप्त होता है—सुख का अर्थी होते हुए भी दुःख पाता है।

१२. इहेगे मूढा पवदंति मोक्खं
आहारसंपज्जणवज्जणेणं।
एगे य सीतोदगसेवणेणं
हुतेण एगे पवदंति मोक्खं॥

इहैके मूढाः प्रवदन्ति मोक्षं,
आहारसंप्रज्वलनवर्जनेन।
एके च शीतोदकसेवनेन,
हुतेन एके प्रवदन्ति मोक्षम्॥

१२. इस जगत् में कुछ मूढ मनुष्य[४९] नमक[५०] न खाने से मोक्ष बतलाते हैं, कुछ मनुष्य[५१] सजीव जल से स्नान करने[५२] और कुछ हवन से मोक्ष बतलाते हैं।[५३]

१३. पाओसिणाणाइसु णत्थि मोक्खो
खारस्स लोणस्स अणासणेणं ।
ते मज्जमंसं लसुणं चऽभोच्चा
अण्णत्थ वासं परिकप्पयंति ॥

प्रातः स्नानादिषु नास्ति मोक्षः,
क्षारस्य लवणस्य अनशनेन ।
ते मद्यमांसं लशुनं च अभुक्त्वा,
अन्यत्र वासं परिकल्पयन्ति ॥

१३. प्रातःकालीन स्नान आदि से मोक्ष नहीं होता । क्षार नमक[५४] के तथा मद्य, गो-मांस[५५] और लसुन न खाने मात्र से[५६] वे मोक्ष की[५७] परिकल्पना कैसे करते हैं ?

१४. उदगेण जे सिद्धिमुदाहरंति
सायं च पातं उदगं फुसंता ।
उदगस्स फासेण सिया य सिद्धी
सिज्झिसु पाणा बहवे दगंसि ॥

उदकेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति,
सायं च प्रातः उदक स्पृशन्तः ।
उदकस्य स्पर्शेन स्याच्च सिद्धिः,
असैत्सुः प्राणा बहवो दके ॥

१४. जो मनुष्य सांझ-सवेरे[५८] जल से नहाते हुए जल-स्नान से मोक्ष होना बतलाते हैं, वे (इस सचाई को भूल जाते हैं कि) यदि जल-स्नान से मोक्ष होता तो जल में रहने वाले बहुत प्राणी मुक्त हो जाते,[५९]

१५. मच्छा य कुम्मा य सिरीसिवा य
मंगू य उट्टा दगरक्खसा य ।
अट्ठाणमेयं कुसला वयंति
उदगेण सिद्धिं जमुदाहरंति ॥

मत्स्याश्च कूर्माश्च सरीसृपाश्च,
मद्गवश्च उद्रा दकराक्षसाश्च ।
अस्थानमेतत् कुशला वदन्ति,
उदकेन सिद्धिं यदुदाहरन्ति ॥

१५. जैसे—मछली, कछुए, जल-सर्प[६०] बतख[६१], ऊद्‌बिलाव[६२] और जल-राक्षस ।[६३] जो जल से मोक्ष होना बतलाते है, उसे कुशल पुरुष अयुक्त कहते हैं ।

१६. उदगं जती कम्ममलं हरेज्जा
एवं सुहं इच्छामित्तमेव ।
अंधं व णेयारमणुस्सरंता
पाणाणि चेवं विणिहंति मंदा ॥

उदकं यदि कर्ममलं हरेत्,
एवं शुभं इच्छामात्रमेव ।
अन्धमिव नेतारमनुसरन्तः,
प्राणान् चैवं विनिघ्नन्ति मन्दाः ॥

१६. जल यदि[६४] (अशुभ) कर्म-मल का हरण करता है तो वह शुभ कर्म का भी हरण करेगा । (जल से कर्म-मल का नाश होता है) यह इच्छा-कल्पित है । जैसे अंधे नेता के पीछे चलते हुए[६५] अंधे पथ से भटक जाते हैं वैसे ही ही मंद-मति मनुष्य (शौचवाद का अनुसरण कर) प्राणियों का वध करते हैं (धर्म के पथ से भटक जाते हैं) ।

१७. पावाइं कम्माइं पकुव्वओ हि
सीओदगं तू जइ तं हरेज्जा ।
सिज्झिसु एगे दगसत्तघाती
मुसं वयंते जलसिद्धिमाहु ॥

पापानि कर्माणि प्रकुर्वतो हि,
शीतोदकं तु यदि तद् हरेत् ।
असैत्सुः एके दकसत्वघातिनः,
मृषा वदन्ति जलसिद्धिमाहुः ॥

१७. यदि सजीव जल पाप-कर्म करने वाले के (पाप-कर्म का) हरण करता तो जल के जीवों का वध करने वाले (मछुए) मुक्त हो जाते । जो जल से मोक्ष होना बतलाते हैं वे असत्य बोलते हैं ।

१८. हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति
सायं च पायं अगणिं फुसंता ।
एवं सिया सिद्धि हवेज्ज तेसिं
अगणिं फुसंताण कुकम्मिणं पि ॥

हुतेन ये सिद्धिमुदाहरन्ति,
सायं च प्रातः अग्निं स्पृशन्तः ।
एवं स्यात् सिद्धिर्भवेत्तेषां,
अग्निं स्पृशतां कुकर्मिणामपि ॥

१८. सांझ और सवेरे अग्नि का स्पर्श करते हुए जो हवन से मोक्ष होना बतलाते हैं[६६], वे (इस सचाई को भूल जाते हैं कि) यदि अग्नि के स्पर्श से मोक्ष होता तो अग्नि का स्पर्श करने वाले कुकर्मी (वन जलाने वाले आदि)[६७] भी मुक्त हो जाते ।

१९. अपरिच्छ दिट्ठिं ण हु एव सिद्धी
एहिंति ते घातमबुज्झमाणा।
भूतेहिं जाण पडिलेह सातं
विज्जं गहाय तसथावरेहिं॥

अपरीक्ष्य दृष्टिं न खलु एव सिद्धिः,
एष्यन्ति ते घातमबुध्यमानाः।
भूतेषु जानीहि प्रतिलिख्य सातं,
विद्यां गृहीत्वा त्रसस्थावरेषु॥

१९. दृष्टि की परीक्षा किए विना मोक्ष नहीं होता। बोधि को प्राप्त नहीं होने वाले (मिथ्यादृष्टि) विनाश को[६९] प्राप्त होंगे। (इसलिए दृष्टि की परीक्षा करने वाला) विद्या को[७०] ग्रहण कर त्रस और स्थावर प्राणियों में सुख की *अभिलाषा होती है, इसे जाने।*[७१]

२०. थणंति लुप्पंति तसंति कम्मी
पुढो जगा परिसंखाय भिक्खू।
तम्हा विऊ विरए आयगुत्ते
दट्ठुं तसे य प्पडिसाहरेज्जा॥

स्तनन्ति लुप्यन्ति त्रस्यन्ति कर्मिणः,
पृथक् जीवाः परिसंख्याय भिक्षुः।
तस्माद् विद्वान् विरतः आत्मगुप्तः,
दृष्ट्वा त्रसांश्च प्रतिसंहरेत्॥

२०. अपने कर्मो से बंधे हुए[७२] नाना प्रकार के त्रस प्राणी (मनुष्य के पैर का स्पर्श होने पर) आवाज करते हैं, भयभीत और त्रस्त हो जाते हैं, सिकुड़ और फैल जाते हैं—यह जानकर विद्वान्, विरत और *आत्मगुप्त भिक्षु*[७३] त्रस जीवों को (सामने आते हुए) देखकर (अपने पैरों का) संयम करे।[७४]

२१. जे धम्मलद्धं विणिहाय भुंजे
वियडेण साहट्टु य जे सिणाइ।
जे धावती लूसयई व वत्थं
अहाहु से णागणियस्स दूरे॥

यो धर्मलब्धं विनिधाय भुंक्ते,
विकटेन संहृत्य च यः स्नाति।
यो धावति लूषयति वा वस्त्रं,
अथाहुः सः नाग्न्यस्य दूरे॥

२१. जो भिक्षा से प्राप्त[७५] अन्न का संचय कर[७६] भोजन करता है, जो शरीर को संकुचित कर निर्जीव जल से[७७] स्नान करता है, जो कपड़ों को धोता है उन्हें फाड़ कर छोटे और सांध कर बड़े करता है[७८] वह नाग्न्य (श्रामण्य) से[७९] दूर है, ऐसा कहा है।

२२. कम्मं परिण्णाय दगंसि धीरे
वियडेण जीवेज्ज य आदिमोक्खं
से बीयकंदाइ अभुंजमाणे
विरए सिणाणाइसु इत्थियासु॥

कर्म परिज्ञाय दके धीरः,
विकटेन जीवेच्चादिमोक्षम्।
स बीजकन्दादीन् अभुञ्जानः,
विरतः स्नानादिषु स्त्रीषु॥

२२. 'जल के समारंभ से कर्म-बंध होता है'— ऐसा जानकर धीर मुनि मृत्यु पर्यन्त[८०] निर्जीव जल से जीवन विताए। वह बीज, कंद आदि न खाए, स्नान आदि तथा स्त्रियों से विरत रहे।

२३. जे मायरं च पियरं च हिच्चा
गारं तहा पुत्तपसुं धणं च।
कुलाइं जे धावति साउगाइं
अहाहु से सामणियस्स दूरे॥

यो मातरं च पितरं च हित्वा,
अगारं तथा पुत्रपशुं धनं च।
कुलानि यो धावति स्वादुकानि,
अथाहुः स श्रामण्यस्य दूरे॥

२३. जो माता, पिता घर, पुत्र, पशु और धन को छोड़कर, स्वादु भोजन वाले कुलों की ओर दौड़ता है, वह श्रामण्य से दूर है, ऐसा कहा है।

२४. कुलाइं जे धावति साउगाइं
आघाइ धम्मं उदराणुगिद्धे।
से आरियाणं गुणाणं सतंसे
जे लावएज्जा असणस्स हेउं॥

कुलानि यो धावति स्वादुकानि,
आख्याति धर्मं उदरानुगृद्धः।
स आर्याणां गुणानां शतांशे,
यः लापयेत् अशनस्य हेतुम्॥

२४. जो स्वादु भोजन वाले कुलों की ओर दोड़ता है, पेट भरने के लिए धर्म का आख्यान करता है[८१] और जो भोजन के लिए अपनी प्रशंसा करवाता है, वह आर्य-श्रमणों की गुण-संपदा के सौवें भाग से भी हीन होता है।[८२]

२५. णिक्खम्म दीणे परभोयणम्मि
मुहमंगलिओदरियं पगिद्धे।
णीवारगिद्धे व महावराहे
अदूर एवेहिइ घातमेव ॥

निष्क्रम्य दीनः परभोजने,
मुखमांगलिकः औदर्यं प्रगृद्धः।
नीवारगृद्ध इव महावराहः,
अदूरे एव एष्यति घातमेव ॥

२५. जो अभिनिष्क्रमण कर गृहस्थ[८३] से भोजन पाने के लिए दीन होता है, भोजन में आसक्त होकर दाता की प्रशंसा करता है,[८४] वह चारे के लोभी[८५] विशालकाय सूअर की भांति शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है।

२६. अण्णस्स पाणस्सिहलोइयस्स
अणुप्पियं भासति सेवमाणे।
पासत्थयं चेव कुसीलयं च
णिस्सारए होइ जहा पुलाए ॥

अन्नस्य पानस्य इहलौकिकस्य,
अनुप्रियं भाषते सेवमानः।
पार्श्वस्थतां चैव कुशीलतां च,
निःसारको भवति यथा पुलाकः ॥

२६. जो इहलौकिक[८६] अन्न-पान के लिए प्रिय वचन बोलता है,[८७] पार्श्वस्था[८८] और कुशीलता[८९] का सेवन करता है[९०] वह पुआल[९१] की भांति निस्सार हो जाता है।

२७. अण्णायपिंडेणऽहियासएज्जा
णो पूयणं तवसा आवहेज्जा।
सद्देहिं रूवेहिं असज्जमाणे
सव्वेहिं कामेहिं विणीय गेहिं ॥

अज्ञातपिण्डेन अध्यासीत,
नो पूजनं तपसा आवहेत्।
शब्देषु रूपेषु असजन्,
सर्वेषु कामेषु विनीय गृद्धिम् ॥

२७. मुनि अज्ञातपिण्ड की एपणा करे।[९२] (आहार न मिलने पर भूख को) सहन करे।[९४] तपस्या से पूजा पाने की अभिलापा न करे। शब्दों और रूपों में आसक्त न हो और सभी कामों—इन्द्रिय-विषयों की लालसा को त्यागे।[९५]

२८. सव्वाइं संगाइं अइच्च धीरे
सव्वाइं दुक्खाइं तितिक्खमाणे।
अखिले अगिद्धे अणिएयचारी
अभयंकरे भिक्खु अणाविलप्पा ॥

सर्वान् संगान् अतीत्य धीरः,
सर्वाणि दुःखानि तितिक्षमाणः।
अखिलः अगृद्धः अनिकेतचारी,
अभयंकरो भिक्षुः अनाविलात्मा ॥

२८. धीर मुनि सभी संसर्गों को[९६] छोड़कर सभी दुःखों को सहन करे। वह (गुणों की उत्पत्ति के लिए) 'उर्वर,[९७] अनासक्त, अनिकेतचारी, अभयंकर और निर्मल चित्त वाला हो।

२९. भारस्स जाता मुणि भुंजएज्जा
कंखेज्ज पावस्स विवेग भिक्खू।
दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा
संगामसीसे व परं दमेज्जा ॥

भारस्य यात्रायै मुनिर्भुञ्जीत,
कांक्षेत् पापस्य विवेक भिक्षुः।
दुःखेन स्पृष्टः धुतमाददीत,
संग्रामशीर्षे इव परं दाम्येत् ॥

२९. मुनि संयमभार को वहन करने के लिए[९८] भोजन करे। पाप का विवेक[९९] (पृथक्करण) करने की इच्छा करे। दुःख से स्पृष्ट होने पर शांत[१००] रहे।[१०१] संग्राम के अग्रिम-पंक्ति के योद्धा की भांति कामनाओं का[१०२] दमन करे।

३०. अवि हम्ममाणे फलगावतट्ठी
समागमं कंखइ अंतगस्स।
णिद्धूय कम्मं ण पवंचुवेइ
अक्खक्खए वा सगडं ति बेमि ॥

अपि हन्यमानः फलकावतष्टो,
समागमं कांक्षति अन्तकस्य।
निर्धूय कर्म न प्रपञ्चं उपैति,
अक्षक्षये इव शकटं इति ब्रवीमि ॥

३०. परीषहों से आहत होने पर दोनों ओर से छीले गए फलक की भांति[१०३] (शरीर और कपाय-दोनों को) कृश करने वाला मुनि काल के[१०४] आने की आकांक्षा करता है। वह कर्म को क्षीण कर प्रपंच (जन्म-मरण) में नहीं जाता,[१०५] जैसे धुरा के टूट जाने पर गाड़ी।

—ति बेमि ॥

—इति ब्रवीमि।

—ऐसा मैं कहता हूं।

श्लोक १ :

१. तृण, वृक्ष (तण रुक्ख)

ये प्रथमा विभक्ति के बहुवचनान्त पद—'तणा रुक्खा' के स्थान पर विभक्तिरहित प्रयोग हैं।

२. जरायुज (जराउ)

मूल शब्द है—जराउया। यहां 'या' का लोप हुआ है।

३. संस्वेदज (संसेयया)

संस्वेदज—वाष्प या द्रवता से उत्पन्न होने वाले जीव।

चूर्णिकार के अनुसार गाय के गोवर आदि में कृमि, मक्षिका आदि उत्पन्न होते हैं। वे संस्वेदज कहलाते हैं। तथा जूं, खटमल, लीख आदि भी संस्वेदज प्राणी हैं।[1]

वृत्तिकार ने जूं, खटमल, कृमि आदि को संस्वेदज माना है।[2]

बौद्ध साहित्य में संस्वेदज की व्याख्या इस प्रकार है—पृथिवी आदि भूतों की द्रवता से उत्पन्न प्राणी।[3]

४. रसज (रसया)

दही, सौवीरक (कांजी), मद्य आदि में उत्पन्न सूक्ष्म-पक्ष्म वाले जीव रसज कहलाते हैं।[4] ये बहुत सूक्ष्म होते हैं।

देखें – दसवेआलियं ४। सूत्र ६ का टिप्पण।

श्लोक २ :

५. (एताइं कायाइं पवेइयाइं)

काय शब्द पुल्लिग है किन्तु प्राकृत में लिंग नियन्त्रित नहीं होता, इसलिए ये नपुंसक लिंग में प्रयुक्त हैं।

६. सुख (दुःख) को देख (पडिलेह सायं)

सुख-प्रतिलेखना का अर्थ है—सुख को देखना, उसकी समीक्षा करना—जैसे मुझे सुख प्रिय है वैसे ही सब जीवों को सुख प्रिय है। इस प्रकार सुख की प्रतिलेखना करने वाला किसी प्राणी के सुख में बाधा उत्पन्न नहीं करता।

चूर्णिकार आ अभिप्राय यह है—जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, सुख प्रिय है, वैसे ही सभी जीवों को दुःख अप्रिय है और सुख प्रिय है—ऐसा सोचकर किसी भी प्राणी को दुःख न दे।[5]

---

१. चूर्णि, पृ० १५२ : संस्वेदजाः गोकरीषादिषु कृमि-मक्षिकादयो जायन्ते जूगा-मंकुण-लिक्खादयो य।

२. वृत्ति, पत्र १५४ : संस्वेदाज्जाताः संस्वेदजा यूकामत्कुणकृम्यादयः।

३ अभिधर्मकोश ३/८ : संस्वेदज-भूतानां पृथिव्यादीनां संस्वेदाद् द्रवत्वलक्षणाज्जाता।

४. (क) चूर्णि, पृ० १५२ : रसजा दधिसोवीरक-मद्यादिषु।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५४ : ये च रसजाभिधाना दधिसौवीरकादिषु रूतपक्ष्मसन्निभा इति।

५. चूर्णि, पृ० १५२,१५३ : प्रत्युपेक्ष्य सातं सुखमित्यर्थः। कधं पडिलेहेति ?—जध मम न पियं दुक्खं सुहं चेट्ठं एवमेषां पडिलेहित्ता दुःखमेषां न कार्यं णवएण भेदेण।

७. हिंसा करता है (आयदंडे)

चूर्णिकार ने आत्मदंड के दो अर्थ किए हैं[1]—

१. जीव-निकायों को अपनी आत्मा से दंडित करने वाला।

२. जीव-निकायों की हिंसा से अपने आपको दंडित करने वाला।

वृत्तिकार ने जीव-निकायों के समारंभ को आत्मदंड माना है। वैकल्पिक रूप में उन्होंने 'आयतदंड' मानकर इसका अर्थ—दीर्घदंड अर्थात् दीर्घकाल तक जीवों को पीड़ित करने वाला, किया है।[2]

८. विपर्यास (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है (विप्परियासुवेति)

यहां दो पद हैं - 'विप्परियासं' और 'उवेति'। इन दो पदों में संधि कर अनुस्वार को अलाक्षणिक माना है।

विपर्यास का अर्थ है—जन्म-मरण या संसार।[3] जो व्यक्ति जीव-निकायों की हिंसा करता है वह विपर्यास को प्राप्त होता है—जन्म-मरण के चक्र में फंस जाता है।

चूर्णिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया है—वह सुखार्थी प्राणी उन जीव-निकायों की हिंसा करता है और उन्हीं जीव-निकायों में जन्म लेकर उन-उन दुःखों को पाता है, सुख के विपरीत दुःख को प्राप्त होता है। धर्मार्थी होकर हिंसा करने वाला अधर्म को प्राप्त होता है। मोक्षार्थी होकर हिंसा करने वाला संसार को प्राप्त होता है।[4]

वृत्तिकार ने भी इसी आशय से विपर्यास के तीन अर्थ किए हैं[5]—

१. जन्म-मरण करना।

२. व्यत्यय—सुख के लिए क्रिया करना और दुःख पाना। मोक्ष के लिए क्रिया करना और संसार पाना।

३. संसार।

९. श्लोक १, २ :

इन दो श्लोकों में कायों का प्रवेदन किया गया है। 'काय' का अर्थ है उपचय। जीवों के छह काय या निकाय होते हैं। षड्जीवनिकाय जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है। आचार्य सिद्धसेन ने लिखा है—प्रभो! आपकी सर्वज्ञता को प्रमाणित करने के लिए केवल षड्जीवनिकाय का सिद्धान्त ही पर्याप्त है।[6] छह जीव कायों का वर्गीकरण कई प्रकार से मिलता है। आचारांग में पृथ्वी पानी, अग्नि, वनस्पति, त्रस और वायु—छह कायों का इस प्रकार वर्गीकरण मिलता है।[7] प्रस्तुत प्रकरण में पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, तृणरुक्षबीज और त्रस—यह वर्गीकरण उपलब्ध है। दशवैकालिक ८।२ में भी यही वर्गीकरण मिलता है। उसके चौथे अध्ययन में क्रम यही है, किन्तु तृणरुक्षबीज के स्थान पर वनस्पति का प्रयोग मिलता है।

---

१ चूर्णि, पृ० १५३ : एषां कायानां आताओ दंडेत्ति, अथवा स एवाऽऽत्मानं दण्डयति य एषां दंडे णिसिरति स आत्मदण्डः।

२. वृत्ति, पत्र १५४ : यदैभिः कायैः समारभ्यमाणैः पीड्यमानैरात्मा दण्ड्यते, एतत्समारम्भादात्मदंडो भवतीत्यर्थः, अथवैभिरेव कायैर्ये आयतदंडा दीर्घदंडाः, एतदुक्तं भवति—एतान् कायान् ये दीर्घकालं दण्डयन्ति—पीडयन्तीति।

३. चूर्णि, पत्र १५३ : विपर्यासो नाम जन्म-मरणे, संसारो वा विपर्यासो भवति।

४. चूर्णि, पृ० १५३ : अथवा सुखार्थी तानारभ्य तानेवानुप्रविश्य तानि तानि दुःखान्यवाप्नुते, सुखविपर्यासभूतं दुःखमवाप्नोति। विपरीतो भावो विपर्यासः, धर्मार्थी तानारभ्याधर्ममाप्नोति, मोक्षार्थी तानारभमाणः संसारमाप्नोति।

५. वृत्ति, पत्र १५४ : ते एतेष्वेव—पृथिव्यादिकायेषु विविधिम्—अनेकप्रकारं परि—समन्ताद् आशु—क्षिप्रमुपसामीप्येन यान्ति—व्रजन्ति, तेष्वेव पृथिव्यादिकायेषु विविधमनेकप्रकारं भूयो भूयः समुत्पद्यन्त इत्यर्थः यदि वा—विपर्यासो—व्यत्ययः सुखार्थिभिः कायसमारम्भः क्रियते तत्समारम्भेण च दुःखमेवावाप्यते न सुखमिति, यदि वा कुतीर्थिका मोक्षार्थमेतैः कायैर्यां क्रियां कुर्वन्ति तया संसार एव भवतीति।

६. द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशिका १/१३ : य एव षड्जीवनिकायविस्तरः, परैरनालीढपथस्त्वयोदितः।
अनेन सर्वज्ञपरीक्षणक्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः॥

७. आयारो, प्रथम अध्ययन।

अंडज, जरायुज, संस्वेदज और रसज—ये सब त्रस प्राणियों के प्रकार हैं। आचारांग में इनके अतिरिक्त तीन प्रकार और मिलते हैं—पोतज, उद्भिज्ज और औपपातिक।[1]

श्लोक ४८ :

१०. जाति पथ (जन्म-मरण) में (जाईपहं)

'जाति' का अर्थ है जन्म, और 'पह' का अर्थ है—पथ, मार्ग। जाईपहं—अर्थात् उत्पत्ति का मार्ग। तात्पर्य में इसका अर्थ है—संसार, जन्म-मरण की परंपरा।[2] चूर्णिकार ने 'जाईवहं' पाठ मानकर 'जाई' का अर्थ जन्म और 'वह' का अर्थ मरण किया है।[3]

११. विनिघात (शारीरिक मानसिक दुःख) को (विणिघायं)

विनिघात का अर्थ है—शारीरिक और मानसिक दुःख का उदय अथवा कर्मों का फल-विपाक।[4]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ विनाश किया है।[5]

१२. जन्म-जन्म में (जाति जातिं)

चूर्णिकार ने इस दोहरे प्रयोग को 'वीप्सा' के अर्थ में माना है। अर्थात् उन-उन जातियों में, त्रस-स्थावर जातियों में।[6]

१३. भर जाता है (मिज्जति)

इसका संस्कृत रूप है—मीयते। यह रूप दो धातुओं से बनता है—[7]

१. माङ्क माने—मीयते।

२. मीङ् हिंसायां—मीयते।

एक का अर्थ है—भरना और दूसरे का अर्थ है—हिंसा करना।

इन दोनों के आधार पर इस चरण का अर्थ होगा—

१. वह अज्ञानी प्राणियों को पीड़ित करने वाला जो कर्म करता है, उससे वह भर जाता है।

२. वह अज्ञानी उसी कर्म के द्वारा मारा जाता है अथवा 'यह चोर है' 'यह पारदारिक है'—इस प्रकार लोक में वह बताया जाता है।[8]

चूर्णिकार ने 'मज्जते' पाठ की भी सूचना दी है। उसका अर्थ है—निमग्न होना, डूबना।[9]

---

१. आयारो, १।११८ : से बेमि—संतिमे तसा पाणा, तं जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेयया समुच्छिमा उब्भिया ओववाइया।

२. वृत्ति, पत्र १५५।

३. चूर्णि, पृ० १५३ : जातिश्च वधश्च जाति-वधौ, जन्म-मरण इत्युक्तं भवति।

४. चूर्णि, पृ० १५३ : अधिको णियतो वा घातः निघातः, विविधो वा घातः शरीरमानसा दुःखोदया अट्ठपगारकम्मफलविवागो वा।

५. वृत्ति, पत्र १५५ : विनिघातं विनाशम्।

६. चूर्णि, पृ० १५३ : जातिजातीति वीप्सार्थः, तासु तासु जातिसु त्ति तस-थावरजातिसु।

७. वृत्ति, पत्र १५५ : तेनैव कर्मणा मीयते—भ्रियते पूर्यते, यदि वा 'मीङ्'—हिंसायां मीयते—हिंस्यते।

८. वृत्ति, पत्र १५५।

९. चूर्णि, पृ० १५३ : मज्जते वा निमज्जइ इत्यर्थः।

श्लोक ४ :

१४. (अस्सि च लोए……तह अण्णहा वा)

चूर्णिकार ने इन दो चरणों को बहुत विस्तार से समझाया है। उनके अनुसार इनकी व्याख्या इस प्रकार है—कर्म चार प्रकार के होते हैं—[१]

१. इहलोक में दुश्चीर्ण कर्म इहलोक में अशुभफलविपाक वाले होते है

२. इहलोक मे दुश्चीर्ण कर्म परलोक में अशुभफलविपाक वाले होते हैं

३. परलोक में दुश्चीर्ण कर्म इहलोक में अशुभफलविपाक वाले होते हैं

४. परलोक में दुश्चीर्ण कर्म परलोक में अशुभफलविपाक वाले होते हैं

जैसे किसी व्यक्ति ने किसी व्यक्ति का इहलोक (वर्तमान) में शिरच्छेद किया तो उसके पुत्र ने उसका पुनः शिरच्छेद कर डाला— यह प्रथम विकल्प है।

किसी व्यक्ति के अशुभ का उदय वर्तमान भव में नहीं हो सका तो उसके नरक आदि में उत्पन्न होने पर वहां उसका विपाक उसे भोगना पड़ा—यह दूसरा विकल्प है।

परलोक में किया हुआ कर्म इहलोक में फलता है, जैसे—मृगापुत्र ने इस भव में अशुभविपाक भोगना पड़ा। (देखें—विपाक सूत्र) यह तीसरा विकल्प है ।

एक जन्म में किया हुआ कर्म तीसरे या चौथे आदि जन्मों में भोगा जाता है—यह चौथा विकल्प है।

जैसा कर्म किया जाता है उसका विपाक उसी रूप में या भिन्न प्रकार से भी होता है। जैसे किसी ने दूसरे का सिर काटा है तो कर्म विपाक में उसका भी सिर कट सकता है। वह अनन्तवार या हजारों वार ऐसा हो सकता है।

दूसरे चरण में 'तथा' और 'अन्यथा'—ये दो शब्द हैं। चूर्णिकार ने 'तथा' का अर्थ जिस रूप में कर्म किया उसी रूप में उसका विपाक भोगना और 'अन्यथा' का अर्थ जिस रूप में कर्म किया उससे अन्यथा रूप में विपाक भोगना किया है। सिरच्छेद करने वाले का सिरच्छेद होता है—यह तथाविपाक है। सिरच्छेद करने वाले का हाथ या अन्य अंग काटा जाता है अथवा कोई शारीरिक या मानसिक वेदन होता है—यह अन्यथा विपाक है। इस प्रकार जो मनुष्य जितनी मात्रा में दूसरे को पीड़ा पहुंचाता है, उसी मात्रा में अथवा हजारगुना अधिक मात्रा में वह दुःख पाता है।

वृत्तिकार की व्याख्या इस प्रकार है—[२]

---

१. चूर्णि, पृ० १५३ : इधलोगे दुच्चिण्णा कम्मा इहलोगे असुभफलविवागा १ इहलोए दुच्चिण्णा कम्मा परलोए असुभफलविवागा २ परलोके दुच्चिण्णा कम्मा इहलोगे असुभफलविभागा ३ परलोए दुच्चिण्णा कम्मा परलोए असुभफलविवागा ४। कथम् ? उच्यते—केनचित् कस्यचिद् इहलोके शिरश्छिन्नं तस्याप्यन्येन छिन्नं एवं इहलोगे कतं इहलोगे च फलति १, णरगाइसु उववण्णस्स (इहलोगे कतं परलोगे फलति) २, परलोए कतं इहलोए फलति, जधा दुहविवागेसु मियापुत्तस्स ३ परलोए कतं परलोए फलति, दीहकालट्ठितीयं कम्मं अण्णम्मि भवे उदिज्जति ४। अथवा इहलोक इह चारकबन्धः अनेकैर्यातनाविशेषैः तद् वेदयति, तदन्यथावेवितं कस्यचित् परलोके तेन वा प्रकारेण अन्येन वा प्रकारेण विपाको भवति। तथाविपाकस्तथैवास्य शिरश्छिद्यते, तत् पुनरनन्तशः सहस्रशो वा, अथवा असकृत्तथा सकृदन्यथा अथवा शतशाश्छिद्यते अन्यथेति सहस्से वा। अथवा शिरश्छित्त्वा न शिरश्छेदमवाप्नोति हस्तच्छेदं पादच्छेदं वा अन्यतराङ्गच्छेदं वा प्राप्नोति, सारीर-माणसेण वा दुक्खेण वेद्यते। एवं यादृशं दुःखमात्रं परस्योत्पादयति जतो मात्रतः शतशोमात्राधिकत्वं प्राप्नोति अन्यथा वा।

२. वृत्ति, पत्र १५५ : यान्याशुकारीणि कर्माणि तान्यस्मिन्नेव जन्मनि विपाकं ददति, अथया परस्मिन् जन्मनि नरकादौ तस्य कर्म विपाकं ददति 'शताग्रशो वे' ति बहुषु जन्मसु येनैव प्रकारेण तदशुभमाचरन्ति तथैवोदीर्यते तथा—अन्यथा वेति, इदमुक्तं भवति—किञ्चित्कर्म तद्भव एव विपाकं ददाति किञ्चिच्च जन्मान्तरे, यथा—मृगापुत्रस्य दुःखविपाकाख्ये विपाकश्रुताङ्गश्रुतस्कन्धे कथितमिति, दीर्घकालस्थितिकं त्वपरजन्मान्तरितं वेद्यते, येन प्रकारेण सकृत्तथैवानेकशो वा, यदि वाऽन्येन प्रकारेण सकृत्सहस्रशो वा शिरश्छेदादिकं हस्तपादच्छेदादिकं चानुभूयत इति।

शीघ्र फल देने वाले कर्म उसी जन्म में फल देते हैं अथवा पर-जन्म नरक आदि में फल देते हैं। वे कर्म एक ही भव में तीव्र फल देते है अथवा अनेक भवों में तीव्र फल देते हैं। जिस प्रकार से अशुभ कर्म का आचरण किया है, उसी प्रकार से उसकी उदीरणा होती है अथवा दूसरे प्रकार से भी उसकी उदीरणा हो सकती है।

इसका आशय यह है कि कोई कर्म उसी भव में अपना विपाक देता है और कोई दूसरे भव में। जिस कर्म की स्थिति दीर्घकालिक होती है, उसका विपाक दूसरे भव में प्राप्त होता है। जिस प्रकार कर्म किया गया है, उसी प्रकार वह एक बार या अनेक बार फलित होता है। अथवा एक बार शिरच्छेद करने वाला एक बार या हजारों बार सिरच्छेद अथवा हाथ, पैर आदि के छेदन रूप फल पाता है।

१५. आगे से आगे (परं परं)

चूर्णिकार ने 'परं परेण' शब्द मानकर उसका अर्थ—अनन्त भवों मे' किया है।[1] वृत्तिकार ने 'परं-परं' का अर्थ—प्रकृष्ट प्रकृष्ट किया है।[2]

१६. दुष्कृत का (दुण्णियाणि)

यह 'दुण्णीयाणि' शब्द है। किन्तु छन्द की अनुकूलता की दृष्टि से यहां 'ईकार' को ह्रस्व किया गया है।

इस श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि किए हुए कर्मो का भोग किए विना उनका विनाश नहीं होता। जो मनुष्य जिस रूप में जिस प्रकार का कर्म करता है, उसका विपाक भी उसे उसी रूप में या दूसरे रूप में भोगना ही पड़ता है। कर्मों को भोगे विना उनका विनाश नहीं होता। कहा है—

मा होहि रे विसन्नो जीव तुमं विमणदुम्मणो दीवो।
णहु चिंतिएण फिट्टइ तं दुक्खं जं पुरा रइयं ॥१॥
जइ पविससि पायालं अडविं व दरिं गुहं समुद्दं वा।
पुव्वकयाउ न चुक्कसि अप्पाणं घायसे जइवि ॥२॥

'रे जीव! तू विषण्ण मत हो। तू दीन और दुर्मना मत हो। जो दुःख (कर्म) तूने पहले उत्पन्न किया है, वह चिन्ता करने मात्र से नहीं मिट सकेगा।'

'रे जीव! तू चाहे पातल, जंगल, कन्दरा, गुफा या समुद्र में भी चला जा, अथवा तू अपने आपकी घात भी कर ले, किंतु पूर्वार्जित कर्मो से तू वच नहीं पायेगा।[3]

श्लोक ५:

१७. जो माता पिता को छोड़ (जे मायरं च पियरं च हिच्चा)

प्रश्न होता है कि यहां केवल माता-पिता का ही ग्रहण क्यों किया गया है? चूर्णिकार का कथन है कि संतान के प्रति इनकी ममता अपूर्व होती है। ये करुणापर होते हैं। इनको छोड़ना कठिन होता है, अतः इनका यहां ग्रहण किया गया है। दूसरी वात है कि माता-पिता का संवंध सबसे पहला है, भाई, स्त्री, पुत्र आदि का संवंध वाद में होता है। किसी के भाई, स्त्री, पुत्र आदि नहीं भी होते, अतः प्रधानता केवल माता-पिता की ही है। माता-पिता आदि को छोड़ने का अर्थ है—उनके प्रति रहे हुए ममत्व को छोड़ना।[4]

---

१. चूर्णि, पृ० १५३ : परंपरेणेति परभवे, ततश्च परतरभवे, एवं जाव अणंतेसु भवेसु।

२. वृत्ति, पत्र १५५ : परं परं प्रकृष्टं प्रकृष्टम्।

३. वृत्ति, पत्र १५५।

४. चूर्णि, पृ० १५४ : एते हि करुणानि कुर्वाणा दुस्त्यजा इत्येतद्ग्रहणम्, शेषा हि भ्रातृ-भार्या-पुत्रादयः सम्बन्धात् पश्चात् भवन्ति न भवन्ति वा इत्यतो माता-पितृग्रहणम्।

१८. श्रमण का व्रत ले (समणव्वए)

श्रमण का व्रत स्वीकार कर अर्थात् संन्यास धारण कर, अथवा 'हम श्रमण है'—ऐसा कहते हुए।[1]

१९. अह

अथ शब्द का प्रयोग प्रश्न करने, आनन्तर्य दिखाने और वाक्योपन्यास मे होता है।[2] वृत्तिकार ने इसे वाक्योपन्यास के अर्थ में माना है।[3]

२०. अपने सुख के लिए (आतसाते)

इसका अर्थ है— अपने सुख के लिए। जैसे गृहस्थ अपने सुख के लिए पचन-पाचन आदि क्रिया करते है, वैसे ही कुछ संन्यासी भी अपने सुख के लिए— स्वर्ग सुख पाने के लिए पंचाग्नि तप करते है, अग्निहोत्र आदि क्रियाएं करते है।[4]

२१. लोक में (लोए)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने लोक का अर्थ— पाषण्डिलोक अथवा सर्वलोक या गृहस्थलोक किया है।[5]

२२. कुशीलधर्म वाला (कुसीलधम्मे)

चूर्णिकार ने इस पाठ के स्थान पर 'अणज्जधम्मे' पाठ की व्याख्या की है। इसका अर्थ है—अनृजुधर्मवाला। पाषंडी का धर्म आर्जव रहित कैसे ? यह प्रश्न उपस्थित कर चूर्णिकार ने इसका उत्तर दिया है— वह अपने आपको अहिंसक कहता है और वास्तव में अहिंसक नही होता।[6]

श्लोक ६ :

२३. (उज्जालओ पाण ·· ·· ·· ··अगणिऽतिवातएज्जा)

प्रस्तुत दो चरणों का प्रतिपाद्य है कि जो मनुष्य अग्नि को जलाता है, वह भी प्राणियों का वध करता है और जो मनुष्य अग्नि को बुझाता है, वह भी प्राणियों का वध करता है। भगवती सूत्र में इस आशय को स्पष्ट करने वाला एक सुन्दर संवाद है। कालोदायी ने भगवान् से पूछा—भंते ! दो व्यक्ति अग्निकाय का समारंभ करते है। एक मनुष्य अग्नि को जलाता है और एक मनुष्य अग्नि को बुझाता है। भंते ! इन दोनों मनुष्यों में महाकर्म करने वाला कौन है ? और अल्प कर्म करने वाला कौन है ?

भगवान् ने कहा—कालोदायी ! जो अग्निकाय को जलाता है वह महाकर्म करता है और जो अग्निकाय को बुझाता है वह अल्पकर्म करता है।[1]

भंते ! यह कैसे ?

---

१. (क) चूर्णि, पृष्ठ १५४ : श्रमणव्रतिनः श्रमण इति वा वदन्ति।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५६ : श्रमणव्रते किल वयं समुपस्थिता इत्येवमभ्युपगम्य।

२. चूर्णि, पृ० १५४ : अथ प्रश्ना-ऽऽनन्तर्यादिषु।

३. वृत्ति, पत्र १५६ : अथेति वाक्योपन्यासार्थः।

४. (क) चूर्णि, पृ० १५४ : पञ्चाग्नितापादिभिः प्रकारैः पाकनिमित्तं च भूताइं जे हिंसति आतसाते, भूतानीति अग्निभूतानि यानि चान्यानि अग्निना वध्यन्ते आत्मसातनिमित्तं आत्मसातम्। तद्यथा— तपन-वितापन-प्रकाशहेतुम्।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५६ : आतसते—आत्मसुखार्थं। तथाहि—पञ्चाग्नितपसा निष्टप्तदेहास्तथाऽग्निहोत्रादिकया च क्रियया पाषण्डिकाः स्वर्गावाप्तिमिच्छन्तीति, तथा लौकिकाः पचनपाचनादिप्रकारेणाग्निकायं समारभमाणाः सुखमभिलषन्तीति।

५. (क) चूर्णि, पृ० १५४ : लोकः पाषण्डिलोकः अथवा सर्वलोक एव।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५६ : सोऽयं पाषण्डिको लोको गृहस्थलोको वा।

६. चूर्णि, पृ० १५४ : अनार्जवो धर्मो यस्य सोऽयं अणज्जधम्मे। कथं अनार्जव. ? अहिंसक इति चात्मानं ब्रूवते न चाहिंसकः।

कालोदायी ! जो मनुष्य अग्निकाय को जलाता है वह पृथ्विकायिक, अप्कायिक, वायुकायिक, वनस्पतिकायिक और त्रसकायिक जीवों की अधिक हिंसा करता है और अग्निकायिक जीवों की कम हिंसा करता है। जो मनुष्य अग्निकाय को बुझाता है वह पृथ्वीकायिक आदि जीवों की कम हिंसा करता है और अग्निकायिक जीवों की अधिक हिंसा करता है।

इसलिए कालोदायी ! ऐसा कहा है।[1]

२४. मेधावी (मेहावि)

मेधावी का अर्थ है—सत् और असत् का विवेक रखने वाला, विद्वान्।[2]

२५. अग्नि का समारंभ············(अगणिसमारभिज्जा)

अग्नि का समारंभ तीन प्रयोजनों से होता है—तपाना, सुखाना और प्रकाश करना।[3]

श्लोक ८ :

२६. उड़ने वाले (संपातिम)

'संपातिमा' के स्थान पर 'संपातिम'—यह विभक्तिरहित प्रयोग है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ शलभ, वायु, आदि जीव किया है।[4] शलभ आदि उड़ने वाले त्रस प्राणी संपातिम होते हैं। यह प्रचलित अर्थ है। चूर्णिकार ने वायु को भी संपातिम बतलाया है, यह एक नया अर्थ है। वायु अग्नि से टकराती है। उससे वायुकायिक जीव मरते हैं। इस दृष्टि से यहां वायुकाय का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

२७. संस्वेदज (संसेदया)

देख—७।१ का टिप्पण।

२८. इंधन में भी जीव होते हैं (कट्ठसमस्सिता)

इसका अर्थ है—काठ में रहने वाले घुन, चींटियां, कृमि आदि।[5]

---

१. अंगसुत्ताणि भाग २, भगवई, ७।२२७, २२८ : दो भंते ! पुरिसा सरिसया सरित्तया सरिव्वया सरिसभंडमत्तोवगरणा अण्णमण्णेणं सद्धिं अगणिकायं समारंभंति। तत्थ णं एगे पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, एगे पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ। एएसि णं भंते ! दोण्हं पुरिसाणं कयरे पुरिसे महाकम्मतराए चेव ? महाकिरियतराए चेव ? महासवतराए चेव ? महावेयणतराए चेव ? कयरे वा पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव ? अप्पकिरियतराए चेव ? अप्पासवतराए चेव ? अप्पवेयणतराए चेव ? जे वा से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, जे वा से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ ?

कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे महाकम्मतराए चेव············तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पकम्मतराए चेव।

से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ············? कालोदाई ! तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं उज्जालेइ, से णं पुरिसे बहुतरागं पुढविक्कायं समारभति, बहुतरागं आउक्कायं समारभति, अप्पतरागं तेउक्कायं समारभति, बहुतरागं वाउकायं समारभति, बहुतरागं वणस्सइकायं समारभति, बहुतरागं तसकायं समारभति।

तत्थ णं जे से पुरिसे अगणिकायं निव्वावेइ, से णं पुरिसे अप्पतरागं पुढविकायं समारभति, अप्पतरागं आउक्कायं समारभति, बहुतरागं तेउक्कायं समारभति, अप्पतरागं वाउकायं समारभति, अप्पतरागं वणस्सइकायं समारभति, अप्पतरागं तसकायं समारभति। से तेणट्ठेणं कालोदायी !············।

२. वृत्ति, पत्र १५६ : मेधावी सदसद्विवेकः सश्रुतिकः।

३. चूर्णि, पृ० १५५ : तपन-वितापन-प्रकाशहेतुर्वा स्यात्।

४. चूर्णि, पृ० १५५ : सम्पतन्तीति सम्पातिनः शलभ-वाय्वादयः।

५. (क) चूर्णि, पृ० १५५ : काष्ठेषु घुण-पिपीलिकाण्डादयः।

(ख) वृत्ति, पत्र १५७ : घुणपिपीलिकाकृम्यादयः काष्ठाद्याश्रिताश्च।

श्लोक ८ :

२९. वे जन्म से मृत्यु···धारण करते हैं (विलंबगाणि)

इसका अर्थ है—जीव के स्वभाव को अथवा जीव की आकृति को दिखाने वाले। वनस्पति जीव हैं। वे जन्म से मृत्यु पर्यन्त, मनुष्य आदि जीवों की भांति, नाना अवस्थाओं को धारण करते हैं। जैसे मनुष्य की कलल, अर्बुद, मांसपेशी, गर्भ, प्रसव, बाल, कुमार, युवा, प्रौढ़ और वृद्ध— ये अवस्थाएं होती हैं, इसी प्रकार हरित शालि आदि वनस्पति भी जात, अभिनव, संजातरस, युवा, पका हुआ, जीर्ण, सूखा हुआ और मृत— इन अवस्थाओं को धारण करते हैं। इसी प्रकार जब वृक्ष का बीज अंकुरित होता है तब उसे जात कहा जाता है। जब उसकी जड़ उगती हैं, जब वह स्कंध, शाखा और प्रशाखा से बढ़ता है तब वह पोतक कहलाता है। इसी प्रकार वह युवा होता है, मध्यम वय को प्राप्त होता है, जीर्ण होता है और एक दिन ऐसा आता है कि वह मर जाता है। इस प्रकार मनुष्य की भांति सारी अवस्थाएं वनस्पति में होती है।[1]

चूर्णिकार ने विलंबयंति का अर्थ— दिखाना और वृत्तिकार ने धारण करना किया है।[2]

३०. वे आहार से उपचित होते हैं, (आहार-देहाइं)

वनस्पति के शरीर आहार से उपचित होते हैं, यह इसका अर्थ है।

सभी प्राणियों का शरीर आहार के आधार पर टिका होता है। 'अन्नं वै प्राणाः—यह इसी का द्योतक है। इसी प्रकार वनस्पति जीवों का शरीर भी आहारमय है, आहार पर टिका होता है। आहार के अभाव में वृक्ष क्षीण हो जाते हैं, म्लान हो जाते हैं, सूख जाते हैं। आहार के आधार पर ही वृक्ष पुष्पित और फलित होते हैं। वृक्ष अधिक फल देते हैं या कम फल देते हैं, इसका आधार आहार की न्यूनाधिक मात्रा ही है।[3]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ सर्वथा भिन्न किया है। उन्होंने 'आहारदेहाय' (सं० आहारदेहार्थं) शब्द मानकर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—व्यक्ति वनस्पति के जीवों की अपने भोजन के लिए, शरीर की वृद्धि के लिए, शरीर के घावों को मिटाने के लिए हिंसा करता है।[4]

वृत्तिकार का यह अर्थ प्रसंगोचित नहीं लगता। सूत्रकार का आशय है कि जैसे त्रस प्राणियों का शरीर आहारमय होता है, वैसे ही स्थावर प्राणियों का शरीर भी आहारमय होता है। विना आहार के कोई भी शरीर उपचित नहीं होता। कोई प्राणी कवल आहार करे या न करे, परन्तु रोम आहार या ओज आहार तो सब प्राणियों के होता ही है।

३१. वे (वनस्पति-जीव) मूल, स्कंध आदि में पृथक्-पृथक् होते हैं (पुढो सियाइं)

वनस्पति की दस अवस्थाएं हैं—मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज।[5]

मूल से वीज तक एक ही जीव नहीं होता, अनेक जीव होते हैं। वनस्पति संख्येय, असंख्येय और अनन्त जीवों वाली होती

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १५५ : विलम्बयन्तीति विलम्बकानि, भूतस्वभावं भूताकृतिं दर्शयन्तीत्यर्थः। तद्यथा—मनुष्ये निषेक-कलला-ऽर्बुद पेशि-व्यूह-गर्भ-प्रसव-बाल-कौमार-यौवन-मध्यम-स्थाविर्यान्तो मनुष्यो भवति। एवं हरितान्यपि शाल्यादीनि जातानि अभिनवानि सस्या- नीत्यपदिश्यन्ते, सञ्जातरसाणि यौवनवन्ति, परिपक्वानि जीर्णानि, परिशुष्कानि मृतानीति। तथा वृक्षः अङ्कुरावस्थो जात इत्यपदिश्यते, ततश्च मूलस्कंध-शाखादिभिर्विशेषैः परिवर्द्धमानः पोतक इत्यपदिश्यते, ततो युवा मध्यमो जीर्णो मृतश्चान्ते स इति।

(ख) वृत्ति, पत्र १५७।

२. (क) चूर्णि, पृ० १५५ : विलम्बयन्तीति दर्शयन्तीत्यर्थः।

(ख) वृत्ति, पत्र १५७ : विलम्बन्ति—धारयन्ति।

३. चूर्णि, पृ० १५५ : अहारमया हि देहा देहिनाम्, अन्नं वै प्राणाः, आहाराभावे हि वृक्षा हीयन्ते म्लायन्ते शुष्यन्ते च मन्दफलाश्चा- फलाश्च भवन्ति।

४. वृत्ति, पत्र १५७ : वनस्पतिकायाश्रितान्याहारार्थं देहोपचयार्थं देहक्षतसंरोहणार्थं वाऽऽत्मसुखं 'प्रतीत्य' आश्रित्य यच्छिनत्ति।

५. दशवैकालिक, जिनदासचूर्णि, पृ० १३८ : मूले कंदे खंधे तया य साले तहप्पवाले य।
पत्ते पुप्फे य फले बीए दसमे य नायव्वा॥

है। यही इस पद का आशय है।[1]

दसवैकालिक आदि आगमों में स्थावर जीवों के लिए 'अणेगजीवा पुढोसत्ता'[2] पाठ है। इसका यही आशय है कि पृथ्वी, पानी आदि असंख्य जीवों के पींड हैं। उन सभी जीवों का स्वतंत्र अस्तित्व है।

कुछ दार्शनिक सम्पूर्ण वृक्ष में एक ही जीव का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उनके मत को अस्वीकार करने के लिए 'पुढो सियाइं'—यह कथन है।[3]

३२. अपने सुख के लिए (आतसुहं पडुच्च)

इसका अर्थ है—अपने सुख के लिए। जो व्यक्ति अपने, दूसरे या दोनों को सुख पहुंचाने के लिए या दुःख की निवृत्ति करने के लिए अथवा आहार, शयन, आसन आदि साधन-सामग्री के लिए वनस्पति के जीवों की हिंसा करता है .... ।[4]

वृत्तिकार के अनुसार इसका तात्पर्य है कि आत्मसुख के लिए हिंसा करने का अर्थ है—आहार, देह का उपचय और देहक्षत के संरोहण के लिए हिंसा करना।[5]

३३. ढीठ प्रज्ञा वाला (पागब्भिपण्णो)

ढीठ प्रज्ञा वाला, दयाहीन प्रज्ञा वाला।[6]

३४. बहुत जीवों का (बहुणं)

'बहुत' का तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य एक का छेदन करता है, वह अनेक जीवों की हिंसा करता है, क्योंकि पृथ्वी आदि एक जीव नहीं, अनेक जीवों के पिंड हैं।[7]

श्लोक ९ :

३५. (जाइं च............बीयाइ)

चूर्णिकार ने जाति का अर्थ बीज किया है। अंकुर, पत्र, मूल, स्कंध, शाखा, प्रशाखा—ये वनस्पति की वृद्धि के प्रकार हैं। जो व्यक्ति मुसल, ऊखल, चाकू अथवा यंत्रों के द्वारा बीज का विनाश करता है, वह वृद्धि का विनाश करता है। बीज के अभाव में वृद्धि कैसे होगी ? इसका दूसरा अर्थ भी हो सकता है। बीज आदि का विनाश करने वाला जाति का भी विनाश करता है और वृद्धि का भी विनाश करता है। यहां बीज से फल का ग्रहण किया है, क्योंकि वनस्पति की दस अवस्थाओं में पहली अवस्था भी बीज है और अन्तिम अवस्था भी बीज है। यह अन्तिम अवस्था फलगत होती है।[8]

---

१. चूर्णि, पृ० १५५ : पुढो सिताणि पृथक्-पृथक् श्रितानि, न तु य एव मूले त एव स्कन्धे, केषाञ्चिदेकजीवो वृक्षः तद्व्युदासार्थं पुढोसिताइं ति। तान्येवम्—संखेज्जजीविताणि (असंखेज्जजीविताणि) अणंतजीविताणि वा।

२. दसवेआलियं ४।सूत्र ४-८।

३. चूर्णि, पृ० : १५५ : पुढो सिताणि............तद्व्युदासार्थं पुढोसिताइं ति।

४. चूर्णि, पृ० १५५ : आत्म-परोभयसुह-दुःखहेतुं वा आहार-सयणा-ऽऽसणादिउवभोगत्थं।

५. वृत्ति, पत्र १५७।

६. (क) चूर्णि पृ० १५५ : प्रागल्भिप्राज्ञो नाम निरनुक्रोशमतिः।
(ख) वृत्ति, पत्र १५७ : प्रागल्भ्यात् धार्ष्ट्र्याद्विष्टम्भाद्............निरनुक्रोशतया।

७. चूर्णि, पृ० १५५ : एगमपि छिन्दन् बहून् जीवान् निपातयति, एगपुढवीए अणेगा जीवा।

८. (क) चूर्णि पृ० १५५ : जातिरिति बीजम्, तं मुशलोदूखला-ऽस्यादिभिर्विनाशयन्ति। यन्त्रकैश्च जातिविनाशे अङ्कुरादिवृद्धिर्हता एव, जात्यभावे कुतो वृद्धिः ? अथवा जातिं पि विणासेति बीजं। वुड्ढि (वुड्ढि) पि णासेति अङ्कुरादि। बीजादीति बीजा-ऽङ्कुरादिक्रमो दर्शितः, पुव्वाणुपुव्वी च दसविधाणं।
(ख) वृत्ति, पत्र १५७ : 'जातिम्' उत्पत्तिं तथा अङ्कुरपत्रमूलस्कंधशाखाप्रशाखाभेदेन वृद्धिं च विनाशयन् बीजानि च तत्फलानि विनाशयन् हरितानि छिनत्तीति।

३६. अपने आप को दंडित करता है (आयदण्डे)

इसका अर्थ है—अपने आपको दंडित करने वाला। जो मनुष्य दूसरे प्राणियों को दंडित करता है वह वास्तव में अपने आपको दंडित करता है।[1]

३७. अह

चूर्णिकार ने इसे 'आनन्तर्य' के अर्थ में और वृत्तिकार ने वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त माना है।[2]

३८. अनार्य धर्म (अणज्जधम्मे)

जिनका धर्म अनार्य है वह अनार्यधर्मा कहा जाता है। जो जैसा कहता है वैसा नहीं करता, वह अनार्यधर्मा है।[3]

वृत्तिकार ने क्रूरकर्म करने वाले को अनार्यधर्मा माना है। उनका कथन है कि जो व्यक्ति धर्म का नाम लेकर अथवा अपने सुख के लिए वनस्पति का नाश करता है, वह चाहे पाखंडी हो या कोई भी हो, वह अनार्यधर्मा है।[4]

श्लोक १० :

३९. गर्भ में (गब्भाइ)

इसका अर्थ है—गर्भ-काल में। साधारणतः मनुष्यणी का गर्भ-काल साधिक नौ मास का होता है। अन्यान्य गर्भज प्राणियों का गर्भकाल भिन्न-भिन्न होता है। उस गर्भकाल में भ्रूण काल के परिपाक के साथ-साथ बढ़ता है, विभिन्न अवस्थाओं को प्राप्त करता है। जो व्यक्ति पूर्वभव में वनस्पति आदि जीवों का उपमर्दक रहा है, वह गर्भ की किसी भी अवस्था में मर जाता है—यह सूत्रकार का आशय है।[5]

४०. बोलने और न बोलने की स्थिति में (बुयाबुयाणा)

क्रम की दृष्टि से पहले 'अबुयाणा'—नहीं बोलते हुए और बाद में 'बुयाणा'—बोलते हुए होना चाहिए था। किन्तु यहां छन्द की दृष्टि से क्रम का व्यत्यय किया गया है। ये दोनों शब्द दो अवस्थाओं के द्योतक हैं। जन्म के पश्चात् बालक कुछ वर्षों तक अव्यक्त वाणी में बोलता है। उसकी वाणी स्पष्ट नहीं होती। फिर ज्यों-ज्यों वह बड़ा होता है, उसकी वाणी व्यक्त या स्पष्ट होती जाती है।[6]

४१. पंचशिख (पंचसिहा)

जिसके सिर में पांच शिखाएं होती हैं उसे पंचशिख कहा जाता है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'पंचचूड' किया है। इसका वैकल्पिक अर्थ है—'जिसके पांचों इन्द्रियां शिखाभूत होती हैं— अपने-अपने विषय में कार्यक्षम होती हैं, उसे पंचशिख कहा जाता है। यह

---

१. वृत्ति, पत्र १५७ : स च हरितच्छेदविधाय्यात्मानं दण्डयतीत्यात्मदण्डः, स हि परमार्थतः परोपघातेनात्मानमेवोपहन्ति।

२. (क) चूर्णि पृ० १५५ : अत्थेत्यानन्तर्ये।
   (ख) वृत्ति, पत्र : १५७ : अथ शब्दो वाक्यालङ्कारे।

३. चूर्णि पृ० १५५ : अनार्यधर्मोऽस्य स भवति अणज्जधम्मो। जधावादी तधाकारी न भवति।

४. वृत्ति, पृ० १५७ : अनार्यधर्मा क्रूरकर्मकारी भवतीत्यर्थः, स च क एवम्भूतो यो धर्मोपदेशेनात्मसुखार्थं वा बीजानि अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् वनस्पतिकायं हिनस्ति स पाषण्डिकलोकोऽन्यो वाऽनार्यधर्मा भवतीति सम्बन्धः।

५. चूर्णि, पृ० १५६ : गर्भ इति वक्तव्ये गर्भादि इति यदपदिश्यते तद् गर्भाद्यवस्थानिमित्तम्। तद्यथा— निषेक-कलला-ऽर्बुद-पेशि-व्यूह-मांस-गर्भाद्यवस्थानामन्यत (र) स्यां कश्चिद् म्रियते। अथवा मासिकादिगर्भावस्थासु नवमासान्तास्वन्यतरस्यां म्रियते।

६. चूर्णि, पृ० १५६ : ग्रन्थानुलोम्यात् पूर्वं ब्रुवाणाः, इतरथाऽनुपूर्वमब्रुवाणा ब्रुवाणा इति यावत, न माता-पित्रादि व्यक्तया गिराऽभिधत्ते, ततः परं ब्रुवाणाः।

कुमार अवस्था का विशेषण है। कभी-कभी मनुष्य इस अवस्था में भी मर जाता है।[1]

४२. अधेड (मज्झिम)

'मज्झिमा' के स्थान पर विभक्तिरहितपद 'मज्झिम' का प्रयोग किया गया है।

इसका अर्थ है—मध्यम वय।[2] पैंतीस और पचास के बीच की अवस्था मध्यम कहलाती है।

४३. (चयंति ते आउखये पलीणा)

सब प्राणियों का आयुष्य समान नहीं होता। कुछ दीर्घ आयुष्य का बंध करते हैं और कुछ अल्प आयुष्य का। उनके भिन्न-भिन्न हेतु हैं। स्थानांग सूत्र में कहा गया है कि जीव तीन कारणों से अल्प आयुष्य कर्म का बंध करता है—[3]

१. जीव हिंसा से

२. मृषावाद से

३. श्रमण-माहन को अप्रासुक, अनेषणीय दान देने से।

इसी प्रकार जीव तीन कारणों से दीर्घ आयुष्य कर्म का बंध करता है।

१. जीव-हिंसा न करने से,

२. झूठ न बोलने से,

३. श्रमण-माहन को प्रासुक, एषणीय दान देने से।

यह आयुष्य भी सोपक्रम और निरुपक्रम—दोनों प्रकार का होता है। जो प्राणी जैसा आयुष्य बांधता है, उसी के अनुसार उसका जीवन-काल होता है। इसी आधार पर कुछ गर्भकाल में, कुछ प्रथम वय में, कुछ मध्यम वय में और कुछ अन्तिम वय में मृत्यु को प्राप्त होते हैं। मरणावस्था के पहले वे सुख या जीवन से च्युत होते हैं और फिर विलीन हो जाते हैं।[4]

श्लोक ११ :

४४. धर्म को समझ (बुज्झाहि)

प्राणी! तू धर्म को समझ। देख, कुशील और पाखंडलोक कभी त्राण नहीं दे सकता। मनुष्य-क्षेत्र, उत्तम कुल, रूप, आरोग्य, आयुष्य की दीर्घता, बुद्धि, धर्म का श्रवण, धर्म का आग्रह, धर्म-श्रद्धा और संयम—ये सब दुर्लभ हैं। इसे तू जान—[5]

माणुस्स-खेत्त-जाती-कुल-रूवा-ऽऽरोग्गमाउअं बुद्धी।
सम (व) णोग्गह सद्धा दरिसणं च लोगम्मि दुलभाइं॥

---

१. चूर्णि, पृ० १५६ : पञ्चशिखो नाम पञ्चचूडः कुमारः, अथवा पञ्च इन्द्रियाणि शिखाभूतानि बुद्धिसमर्थानि स्वे स्वे विषये तस्मात् पञ्चशिखः तस्मिन्नपि कदाचित् म्रियते।

२. वृत्ति, पत्र १५७ : मध्यमा मध्यमवयसः।

३. ठाणं, ३।१७,१८ : तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—पाणे अतिवातित्ता भवति, मुसं वइत्ता भवति, तहारूवं समणं वा माहणं वा अफासुएणं अणेसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवति—इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा अप्पाउयत्ताए कम्मं पगरेंति।

तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति, तं जहा—णो पाणे अतिवातित्ता भवइ, णो मुसं वइत्ता भवइ, तहारूवं समणं वा माहणं वा फासुएणं एसणिज्जेणं असणपाणखाइमसाइमेणं पडिलाभेत्ता भवइ—इच्चेतेहिं तिहिं ठाणेहिं जीवा दीहाउयत्ताए कम्मं पगरेंति :

४. चूर्णि, पृ० १५६।

५. चूर्णि, पृ० १५६ : किं बोद्धव्यम्?, न हि कुशीलपाखण्डलोकः त्राणाय, धम्मं च बुज्झ दुल्लभं च बोधिं बुज्झ। जहा—माणुस्स-खेत्त............।

४५. मनुष्यों में नानाप्रकार के भयों को देखकर (माणवेसु दट्ठुं भयं)

मनुष्यों में नाना प्रकार के भय होते हैं। जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, रोग, शोक तथा नरक और तिर्यञ्च योनि में होने वाले दुःख—ये सारे भय हैं।[1]

४६. बचपन (अज्ञान) को छोड़ (वालिएणं अलं मे)

'वालिक' का अर्थ है—वचपन, अज्ञान अवस्था।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—कुशीलत्व किया है।[2]

'अलं भे' का संस्कृत रूप है—अलं भवतः।

वृत्तिकार ने 'वालिसेण अलंभे' पाठ की व्याख्या की है—वालिश को सदसत् विवेक का अलंभ (अप्राप्ति) होता है।[3]

४७. एकान्त दुःखमय (एगंतदुक्खे)

इसका अर्थ है—एकान्त दुःखमय। निश्चय नय के अनुसार यह संसार एकान्त दुःखमय है।[4] कहा भी है—

'जम्मं दुक्खं जरा दुक्खं, रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतवो॥'[5]

जन्म दुःख है, बुढ़ापा दुःख है, रोग दुःख है और मृत्यु दुःख है। अहो! यह सारा संसार दुःखमय है, जहां प्राणी क्लेश पाते हैं।

४८. (मूर्च्छा के) ज्वर से पीडित (जरिए)

ज्वरित का अर्थ है—ज्वर से पीडित। चूर्णिकार ने इसका एक अर्थ ज्वलित भी किया है। मनुष्य शारीरिक और मानसिक दुःखों से तथा कषायों से सदा प्रज्वलित रहता है।[6]

देखें—भगवई ६।१७०।

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम दो चरण वृत्तिकार के अनुसार इस प्रकार हैं—संबुज्झहा जंतवो माणुसत्तं, दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।

प्राणियो! तुम बोध प्राप्त करो। धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है, मनुष्य जन्म दुर्लभ है, यह जानो। भय को देख कर, तथा मूर्ख (अज्ञानी) को सत्-असत् का विवेक प्राप्त नहीं होता (यह समझ कर बोध को प्राप्त करो)।[7]

चूर्णि और वृत्ति में पाठ-भेद है। इसके आधार पर अर्थ-भेद भी है। अर्थ की दृष्टि से चूर्णि का पाठ संगत लगता है, इसलिए हमने चूर्णि का पाठ स्वीकार कर उसकी व्याख्या की है।

---

१. वृत्ति, पत्र १५८ : जातिजरामरणरोगशोकादीनि नरकतिर्यक्षु च तीव्रदुःखतया भयं दृष्ट्वा।

२. चूर्णि, पृ० १५६ : बालभावो हि बालिकं कुशीलत्वमित्यर्थः।

३. वृत्ति, पत्र १५८ : बालिशेन अज्ञेन सदसद्विवेकस्यालम्भः।

४. (क) चूर्णि, पृष्ठ १५६ : णिच्छंयणतं पडुच्च एगंतदुक्खो संसारः।
(ख) वृत्ति, पत्र १५८ : निश्चयनयमवगम्य एकान्तदुःखोऽयं ज्वरित इव 'लोकः' संसारिप्राणिगणः।

५. उत्तरज्झयणाणि, १९।१५।

६. चूर्णि, पृष्ठ १५६ : ज्वरित इव ज्वलितः सरीर-माणसेहिं दुक्ख-दोमणस्सेहिं कषायैश्च नित्यप्रज्वलितवान् ज्वरितः।

७. वृत्ति, पत्र १५८।

श्लोक १२ :

४६. मूढ मनुष्य (मूढा)

अज्ञान से आच्छादित बुद्धि वाले तथा जो दूसरों के द्वारा मूढ बनाए गए हैं वे मूढ कहलाते हैं।[1]

५०. नमक (आहारसंपज्जण)

इसका संस्कृत रूप है—आहारसंप्रज्वलन। छन्द की दृष्टि से रकार का लोप होने पर 'संपज्जण' रूप शेष रहा है। इसका अर्थ है—नमक। वह आहार को संप्रज्वलित करता है। आहार का व्युत्पत्तिक अर्थ है—जो बुद्धि, आयु, बल आदि विशेष शक्तियों का आहरण करता है, लाता है, वह 'आहार' है।[2] चूर्णि और वृत्ति में 'आहार संपज्जण'—इन तीन पदों की व्याख्या की है। नमक आहार की संपदा को पैदा करता है इसलिए उसका नाम 'आहारसंपज्जण' है।[3] चूर्णिकार और वृत्तिकार ने दो पाठान्तरों का उल्लेख किया है—'आहार सपंचय' तथा 'आहारपंचय'।[4] 'आहारसपंचय' (सं० आहारसपञ्चक) का अर्थ है—आहार के साथ पांच प्रकार के लवणों के वर्जन द्वारा। पांच प्रकार के लवण ये हैं—सैंधव, सौवर्चल, विड, रोम और सामुद्रिक।[5] सुश्रुत (४६।३१३) में छह प्रकार के लवणों का नामोल्लेख है। सैंधव नमक सिन्धु देश में प्राप्त होता था। शाकम्भरी (शकों का देश), एशिया माइनर तथा कास्पपीयन्डर (कास्पियन सागर) से प्राप्तलवण रुमा या रोमक कहलाता था। दक्षिण समुद्र तथा ईरान की खाड़ी से प्राप्त होने वाला नमक सामुद्रिक कहलाता था।

'रुमा सर' या रोम सागर भूमध्य सागर का नाम है। एशिया माइनर का यह प्रदेश रुम देश कहलाता था, क्योंकि यह रोमन (इटली) लोगों के अधिकार में था। यह स्थान नमक की उत्पत्ति के लिए प्रसिद्ध था। आज तक कास्पियन सागर के दक्षिण-पश्चिम में नमक के कछार हैं।[6]

दशवैकालिक सूत्र (३।८) में सौवर्चल, सैंधव, रुमा, सामुद्रिक, पांशु-क्षार और काल-लवण—ये छह प्रकार के लवण बतलाए गए हैं। इस सूत्र के दोनों चूर्णिकार अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर तथा वृत्तिकार हरिभद्रसूरी ने इनकी व्याख्या में अनेक प्रकार की जानकारी दी है। विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं ३।८ का टिप्पण।

चूर्णिकार के अनुसार लवण ही भोजन के सभी रसों को उद्दीप्त करता है।[7] कहा है—

> लवणविहूणा य रसा, चक्खुविहूणा य इंदियगामा।
> धम्मो दयाय रहिओ, सोक्खं संतोसरहियं नो॥

नमक के बिना कोई रस नहीं होता, आंख के लिए इन्द्रिय-विषय अच्छे नहीं लगते, दया के बिना धर्म धर्म नहीं होता और संतोष के बिना कोई सुख नहीं होता।

जैसे—'लवणं रसानां तैलं स्नेहानां घृतं मेध्यानां'—सभी रसों में लवण प्रधान है, स्निग्ध पदार्थों में तैल प्रधान है और मेध्य

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १५७ : मूढा अयाणगा स्वयं मूढाः परैश्च मोहिताः।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५८ : मूढा अज्ञानाऽऽच्छादितमतयः परैश्च मोहिताः।

२. चूर्णि, पृ० १५७ : आह्रियते आहारयति वा तमित्याहारः, बुद्ध्यायुर्बलादिविशेषान् वा आनयति आहारयतीत्याहारः।

३. (क) चूर्णि, पृ० १५७ : तस्याऽऽहारसम्पदं जनयतीति आहारसंपज्जणं. (आहारसंपज्जणं) च तद् लवणम्।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५८ : आहार—ओदनादिस्तस्य सम्पद्—रसपुष्टिस्तां जनयतीत्याहार सम्पज्जननं—लवणम्।

४. (क) चूर्णि, पृ० १५७।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५८।

५. (क) चूर्णि, पृ० १५७ : अथवा—'आहारेणं समं पंचगं' आहारेण हि सह पंच लवणानि, तं जथा—सैन्धवं सोवच्चलं विडं रोमं समुद्र इति।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५८।

६. भारत के प्राणाचार्य पृ० १९३, मूल तथा फुट नोट।

७. चूर्णि, पृ० १५७ : लवणं हि सर्वरसानदीपयति।

बढ़ाने वाले पदार्थों में घी प्रधान है ।[1]

जो व्यक्ति लवण का परित्याग करता है वह वस्तुतः रस का ही परित्याग कर देता है । वह रस पर विजय पा लेता है ।[2]

दूसरा पाठान्तर है– 'आहारपंचग' । पांच प्रकार का वर्जनीय आहार यह है—मद्य, लहसुन, प्याज, ऊंटनी का दूध और गोमांस ।[3]

कुछ व्यक्ति नमक को छोड़ने से और कुछ इन पांच प्रकार के भोजन को छोड़ने से मोक्ष बतलाते हैं ।[4] चूर्णिकार ने एक तीसरा पाठान्तर माना है— 'अट्ठप्पलवणं ण परिहरंति' । इसका अर्थ है—जो क्षार नमक का परिहार नहीं करता ।[5]

५१. कुछ मनुष्य (एगे)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इस शब्द के द्वारा परिव्राजक और भागवत की ओर इंगित किया है ।[6]

५२. सजीव जल से स्नान करने (सीतोदगसेवणेणं)

सीत का अर्थ है—सजीव और उदक का अर्थ है—जल । 'सीतोदग' का अर्थ है—सजीव जल । परिव्राजक आदि इसका उपयोग स्नान करने, पीने, हाथ-पैर धोने में करते थे ।[7]

वे मानते हैं कि सजीव जल के सेवन से मोक्ष प्राप्त होता है । इसका आशय है कि जैसे जल बाह्य मल को दूर करता है वैसे ही वह आन्तरिक मल को भी दूर करता है । जैसे बाह्य-शुद्धि जल से होती है, उसी प्रकार आन्तरिक शुद्धि भी उसी से हो सकती है ।[8]

५३. (हुतेण एगे ……)

विभिन्न प्रकार के तापस और ब्राह्मण हवन से मुक्ति बतलाते हैं । वे मानते हैं कि जो व्यक्ति स्वर्ग आदि फल की आशंसा न करता हुआ समिधा, घृत, आदि हव्य विशेष के द्वारा अग्नि को तृप्त करता है, हवन करता है, वह मोक्ष के लिए वैसा करता है । जो किसी आशंसा से हवन करता है वह अभ्युदय के लिए होता है ।

जैसे अग्नि स्वर्ण-मल को जलाने में समर्थ है वैसे ही वह मनुष्य के आन्तरिक पापों को जलाने में भी समर्थ है ।[9]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १५७ ।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५८ ।

२. वृत्ति, पत्र १५९ : तदेवम्भूतलवणपरिवर्जनेन रसपरित्याग एव कृतो भवति ।

३. (क) चूर्णि, पृ० १५७ : अथवा आहारपंचगं तद्यथा—'मज्जं लसुणं पलंडुं खीरं करभं तधेव गोमंसं ।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५९ ।

४. वृत्ति, पत्र १५९ : तत् (लवणं) त्यागाच्च मोक्षावाप्ति······आहारपञ्चकवर्जनेन मोक्षं प्रवदन्ति ।

५ चूर्णि, पृ० १५७ : फुट नोट नं० ३

६. (क) चूर्णि, पृ० १५७ : वारिभद्दगा तु एगे········परिव्राड् भागवतादयः ।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५९ : तथैके वारिभद्रकादयो भागवतविशेषाः ।

७. चूर्णि, पृ० १५७ : सीतोदगसेवणेणं स्नान-पान-हस्तपादधावनेन सीतोदगसेवणं तत्र च निवासः, सीतमिति अधिगतजीवं अनुष्णा (? अनुष्णा) त्रितप्तं वा, परिव्राड्-भागवतादयोऽपि शीतोदकं सेवन्ति ।

८. वृत्ति, पत्र १५९ : सचित्ताप्कायपरिभोगेन मोक्षं प्रवदन्ति, उपपत्तिं च ते अभिदधति—यथोदकं बाह्यमलमपनयति एवमान्तरमपि, वस्त्रादेश्च यथोदकाच्छुद्धिरुपजायते एवं बाह्यशुद्धिसामर्थ्यदर्शनादान्तरापि शुद्धिरुदकादेवेति मन्यन्ते ।

९. (क) वृत्ति, पत्र १५९ : तथैके तापसब्राह्मणादयो हुतेन मोक्षं प्रतिपादयन्ति, ये किल स्वर्गादिफलमनाशंस्य समिधाघृतादिभिर्हव्यविशेषैर्हुताशनं तर्पयन्ति ते मोक्षायाग्निहोत्रं जुह्वति शेषास्त्वभ्युदयायेति, युक्तिं चात्र ते आहुः—यथा ह्यग्निः सुवर्णादीनां मलं दहत्येवं दहनसामर्थ्यदर्शनादात्मनोऽभ्यान्तरं पापमिति ।
   (ख) चूर्णि, पृ० १५७ : तापसादयो हि इष्टैः समिद्—घृतादिभिर्हव्यैः हुताशनं तर्पयन्तो मोक्षमिच्छन्ति तत्र कुन्थ्वादीन् सत्वान्न गणयन्ति ये तत्र दह्यन्ते········ये किल स्वर्गादिफलमनाशंस्य जुह्वति ते मोक्षाय, शेषास्तु अभ्युदयाय ।

चूर्णिकार ने यहां 'मोक्ष' का अर्थ—संपूर्ण मोक्ष या दरिद्रता आदि दुःखों से मोक्ष माना है।[1]

श्लोक १३ :

५४. क्षार नमक (खारस्स लोणस्स)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—खारी-मिट्टी (नोनी-मिट्टी) से निकाला हुआ नमक किया है।[2] अगस्त्यसिंह स्थविर ने भी यही अर्थ किया है।[3]

दशवैकालिक ३/८ में 'पंसुखारे' शब्द का प्रयोग है। इसका अर्थ है—पांशुक्षार अर्थात् ऊपर लवण। (देखें— दसवेआलियं, ३/८ का टिप्पण)

यहां लवण शब्द से पांचों प्रकार के लवण गृहीत है।[4]

५५. गो-मांस (मंसं)

यहां मांस से गो-मांस का ग्रहण किया गया है।[5] इसका तात्पर्य है कि अनेक साधु-संन्यासी गो-मांस को छोड़कर अन्य मांस का भक्षण करते थे।

५६. न खाने मात्र से (अभोच्चा)

चूर्णिकार ने 'अभोच्चा'[6] और वृत्तिकार ने 'भोच्चा'[7] मानकर व्याख्या की है।

चूर्णिकार के अनुसार प्रस्तुत श्लोक के तीसरे-चौथे चरण का अर्थ इस प्रकार होगा—वे मद्य, मांस और लहसुन न खाने मात्र से मोक्ष की परिकल्पना करते हैं।[8]

वृत्तिकार के अनुसार इनका अर्थ होगा—वे मद्य, मांस और लहसुन खाकर मोक्ष से अन्यत्र—संसार में निवास करते हैं।[9]

५७. मोक्ष की (अण्णत्थ वासं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—[10]

१. अन्यत्र वास—मोक्ष वास।

२. जो इष्ट नहीं है, वहां वास करना अर्थात् संसार में वास करना।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—संसारवास किया है।[11]

---

१. चूर्णि, पृ० १५७ : मोक्षो ह्यविशिष्टः सर्वविमोक्षो वा दरिद्रादुःखविमोक्षो वा।
२. चूर्णि, पृ० १५७ : खारो णाम अट्ठुप्पं।
३. दसवेआलियं ३।८, अगस्त्यचूर्णि पृ० ६२ : पंसुखारो ऊसो कड्डिज्जंतो अट्ठुप्पं भवति।
४. (क) चूर्णि, पृ० १५७ : तदादीन्यन्यानि पञ्च लवणानि।
   (ख) वृत्ति, पत्र १५६ : क्षारस्स पञ्चप्रकारस्यापि लवणस्य।
५. चूर्णि, पृ० १५७ : मांसमिति गोमांसम्।
६. चूर्णि, पृ० १५७ : एतान्यभोच्चा।
७. वृत्ति, पत्र १५६ : भुक्त्वा।
८. चूर्णि, पृ० १५७।
९. वृत्ति, पत्र १५६।
१० चूर्णि, पृ० १५७ : अन्यत्रवासो नाम मोक्षावासः। अथवा अन्यत्रवासो नाम यत्रेच्छति यदीप्सितं वा न तत्र वासं परिकल्पयन्ति अत्रैव संसारे चेव।
११. वृत्ति, पत्र १५६ : अन्यत्र मोक्षादन्यत्र संसारे वासम्—अवस्थानम्।

श्लोक १४ :

५८. सांझ (सायं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ रात्रि[1] और वृत्तिकार ने अपरान्ह या विकाल-वेला किया है।[2]

५९. श्लोक १४ :

प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य है कि जो मनुष्य स्नान आदि से मोक्ष की प्राप्ति बतलाते हैं, वे सच्चाई को नहीं जानते। यदि जल-स्पर्श से मुक्ति होती तो जल के आश्रय में रहने वाले क्रूर-कर्मा और निर्दयी मछुए कभी मुक्त हो जाते। यदि यह कहा जाए कि जल में मल को दूर करने का सामर्थ्य है, वह भी उचित नहीं है। जैसे जल बुरे मल को धो डालता है, वैसे ही वह प्रिय अंगराग को भी धो डालता है। इसका फलितार्थ यह हुआ कि वह पाप की भांति पुण्य को भी धो डालता है। इस दृष्टि से वह इष्ट का विघातक होता है।

वस्तुतः ब्रह्मचारी मुनियों के लिए जल-स्नान दोष के लिए ही होता है—'यतीनां ब्रह्मचारिणामुदकस्नानं दोषायैव।"

'जल स्नान मद और दर्प को उत्पन्न करता है। वह 'काम' का प्रथम अंग है। इसलिए दान्त मुनि 'काम' का परित्याग कर कभी स्नान नहीं करते।'

'जल से भीगा हुआ शरीर वाला पुरुष ही स्नान किया हुआ नहीं माना जाता। किन्तु जो पुरुष व्रतों से स्नात है, वही स्नान किया हुआ कहा जाता है, क्योंकि वह अन्दर और बाहर से शुद्ध माना गया है।'[3]

श्लोक १५ :

६०. जलसर्प (सिरीसिवा)

इसका अर्थ है—जलसर्प। चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—मगरमच्छ और शिशुमार।[4]

६१. वतख (मंगू)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ मद्गु—जल-काक किया है।[5] आप्टे की डिक्शनरी में जल-वायस (काक) का अर्थ—डुबकी लगाने वाला पक्षी किया है—(Diver Bird)। चूर्णिकार ने इसका अर्थ कामज्जेगा (?) किया है।[6] पाइयसद्दमहण्णवो में 'कामजुग' को पक्षी-विशेष माना है।

---

१. चूर्णि, पृ० १५७ : सायं ति रात्री।

२. वृत्ति, पत्र १५९ : सायम् अपराह्ने विकाले वा।

३. वृत्ति, पत्र १५९ : स्नानादिकां क्रियां जलेन कुर्वन्तः प्राणिनो विशिष्टां गतिमाप्नुवन्तीति केचनोदाहरन्ति, एतच्चासम्यक्, यतो यद्युदकस्पर्शमात्रेण सिद्धिः स्यात् तत् उदकसमाश्रिता मत्स्यबन्धादयः क्रूरकर्माणो निरनुक्रोशा बहवः प्राणिनः सिद्ध्येयुरिति, यदपि तैरुच्यते—बाह्यमलापनयनसामर्थ्यमुदकस्य दृष्टमिति तदपि विचार्यमाणं न घटते, यतो यथोदकमनिष्टमलमपनयत्येवमभिमतमप्यङ्गरागं कुङ्कुमादिकमपनयति, ततश्च पुण्यस्यापनयनादिष्टविघातकृद्विरुद्धः स्यात्, किञ्च यतीनां ब्रह्मचारिणामुदकस्नानं दोषायैव, तथा चोक्तम्—

तस्मात् कामं परित्यज्य, न ते स्नान्ति दमे रताः ॥१॥
नोदकक्लिन्नगात्रो हि, स्नात इत्यभिधीयते।
स स्नातो यो व्रतस्नातः, स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः ॥२॥
'स्नानं मददर्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम्।'

४. चूर्णि, पृ० १५८ : इह सिरीसिवा मगरा सुंसुमारा य, चतुष्पादत्वात् सिरीसृपाः।

५. वृत्ति, पत्र १६० : तथा मद्गवः।

६ चूर्णि: पृ० १५९ : मंगू णाम कामज्जेगा।

६२. ऊदबिलाव (उद्दा)

'उद्द' देशीशब्द है। इसका अर्थ है—ऊदविलाव।

वृत्तिकार ने 'उट्टा' पाठ मानकर इसका अर्थ उष्ट्र—जलचर विशेष किया है।[1] किन्तु लिपिदोष के कारण उद्दा का उट्टा पाठ बन गया। वृत्तिकार को वही पाठ मिला, इसलिए इसका अर्थ उष्ट्र किया। चूर्णिकार के सामने शुद्ध पाठ 'उद्दा' था। उनके अनुसार इसका अर्थ है—ये बिल्ली के परिमाण वाले जलचर प्राणी बड़ी नदियों में डूबते-तैरते हुए पाए जाते हैं।[2] इन्हें उदविलाव कहा जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि नाममाला में ऊदविलाव के चार नाम दिए हैं उद्र, जलमार्जार, पानीयनकुल और वसी।[3]

मराठी में इसे जलमार्ज्जर कहा जाता है।

यह नेवले के आकार का उससे बड़ा एक जंतु है, जो जल और स्थल दोनों में रहता है। यह प्रायः नदी के किनारों पर पाया जाता है। इसके कान छोटे, पंजे जालीदार, नाखून टेढ़े और पूंछ कुछ चिपटी होती है। रंग इसका भूरा होता है। यह पानी में जिस स्थान पर डूबता है, वहां से बड़ी दूर पर और बड़ी देर के बाद उतराता है। इसका मुख्य भोजन है मछलियां। जब इसे मछलियां नहीं मिलतीं, तब यह भूमी पर इधर उधर घूमकर खरगोश, चूहे आदि छोटे-छोटे जानवरों को मारकर खा जाता है। प्रारम्भ में इसके बच्चे पानी से बहुत डरते हैं। मां अपने बच्चों को फुसलाकर नदी के किनारे ले जाती है और उन्हें पीठ पर बिठाकर नदी में तैरने लग जाती है। उथले पानी में जाकर वह उन्हें पीठ से नीचे गिरा देती है। बच्चे रोते-चिल्लाते हैं। मां की दृष्टि बच्चों पर रहती है। धीरे-धीरे वे तैरना सीख जाते हैं। बड़े होकर वे पानी में कलाबाजियां करते हुए लम्बे समय तक तैरते रहते हैं। लोग इसको पालतू जानवर की भांति पालते हैं और मछलियां पकड़वाने का काम लेते हैं। यह झील या तालाब में कूदकर मछलियों को एक कोने में हांक लाता है और तब उसका स्वामी मछलियां पकड़ लेता है। यह बड़ा होशियार और विनोदी होता है।[4]

६३. जलराक्षस (दगरक्खसा)

ये मनुष्य की आकृति वाले जलचर प्राणी हैं जो नदी और समुद्रों में रहते हैं।[5]

हिन्दी शब्द-सागर में जल-राक्षसी का उल्लेख इस प्रकार है—

जल में रहने वाली राक्षसी जो आकाशगामी जीवों की छाया से उन्हें अपनी ओर खींच लेती है।[6]

श्लोक १६ :

६४. यदि (जत्ती)

यहां छन्द की दृष्टि से दीर्घ ईकार का प्रयोग है। इसका अर्थ है—यदि।

---

१. वृत्ति, पत्र १६० : तयोष्ट्रा—जलचरविशेषाः।

२. चूर्णि, पृ० १५८ : उद्दा णाम मज्जारप्पमाणा महानदीषु दृश्यन्ते उम्मुज्जणिमुज्जियं करेमाणा।

३. अभिधान चिन्तामणि कोष ४।४१६ : उद्रस्तु जलमार्जारः पानीयनकुलो वसी।

४. देखें—नवनीत; ६२, मई, नरेन्द्र नायक का लेख—जल का शिकारी ऊदबिलाव।

५ (क) चूर्णि, पृ० १५८ : दगरक्खणा मनुष्याकृतयो नदीषु च भवन्ति।
(ख) वृत्ति, पृ० १६० : तयोदकराक्षसा—जलमानुषाकृतयो जलचरविशेषाः।

६ हिन्दी शब्द सागर।

६५. नेता के पीछे चलते हुए (णेयारमणुस्सरंता)

यहां ऐसे नेता का ग्रहण किया गया है जो जन्म से अंधा हो।[1] अनुसरण का अर्थ है—पीछे चलना। अंधे व्यक्ति अंधे नेता के पीछे चलते हुए पथ से भटक जाते हैं। वे उन्मार्ग में चलते हुए विषम पथ, गढे, कांटे, हिंस्र-पशु, अग्नि आदि के उपद्रवों को प्राप्त कर क्लेश को प्राप्त होते हैं। वे अपने लक्ष्य तक नहीं पहुंच पाते। यह इस पद का तात्पर्यार्थ है।[2]

श्लोक १८ :

६६. हवन से मोक्ष होना बतलाते हैं (हुतेण जे सिद्धिमुदाहरंति)

'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम:'—स्वर्ग की कामना करने वाले पुरुष को अग्निहोत्र करना चाहिए—इस भावना से कुछ व्यक्ति अग्नि से सिद्धि की बात बताते हैं।[3]

'उदाहरंति' का सामान्य अर्थ है—उदाहरण प्रस्तुत करना। यहां इसका अर्थ—'कहना' मात्र है।[4]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—प्रतिपादन करना—किया है।[5]

६७. कुकर्मी (वन जलाने वाले आदि) (कुकम्मिणं)

कोयला बनाने वाले वन-दाहक, कजावा पकाने वाले कुम्हार, लोहे की वस्तुएं बनाने वाले लोहकार तथा जाल बुनने वाले—आदि के व्यवसाय को कुकर्म कहा है। ये व्यवसाय करने वाले कुकर्मी कहलाते हैं।[6]

श्लोक १९ :

६८. दृष्टि की परीक्षा किए बिना (अपरिच्छ दिट्ठिं)

दृष्टि का अर्थ है—दर्शन। वह दो प्रकार का होता है—मिथ्यादर्शन और सम्यग्दर्शन। 'अपरिच्छ दिट्ठिं' का अर्थ है—दृष्टि की परीक्षा किए बिना।

वृत्तिकार ने 'दिट्ठिं' के स्थान पर 'दिट्ठं' (दृष्टं) पाठ माना है।

६९. विनाश को (घातं)

इसका सामान्य अर्थ है—विनाश। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने उपलक्षण से इसका अर्थ—संसार किया है। जहां प्राणी नाना प्रकार से मारे जाते हैं, दुःख-विशेष से पीडित होते हैं, वह है संसार। इस अपेक्षा से संसार को 'घात' माना गया है।[7]

७०. विद्या को (विज्जं)

चूर्णि और वृत्ति में 'विज्जं' पद का अर्थ विद्वान् किया गया है। इसका वैकल्पिक अर्थ विद्या भी है।[8]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १५८ : जात्यन्धं णेतारं।
(ख) वृत्ति, पत्र १६० : अपरं जात्यन्धमेव नेतारम्।

२. चूर्णि, पृ० १५८ : यथा जात्यन्धो जात्यन्धं णेतारमणुस्सरंतो,……उन्मार्गं प्राप्य विषम-प्रपाता-ऽहि-कण्टक-व्यालाऽग्निउपद्रवानासादयति, क्लेशमृच्छति, न चेष्टां भूमिमवाप्नोति।

३. वृत्ति, पत्र १६०।

४. चूर्णि, पृ० १५८ : उदाहरंति नाम भासंति।

५. वृत्ति, पत्र १६० : उदाहरन्ति प्रतिपादयन्ति।

६. (क) चूर्णि, पृ० १५८ : कुकम्मी णाम घटकाराः कूटकारा वणदाहा वल्लरवाहकाः।
(ख) वृत्ति, पत्र १६० : कुकर्मिणाम् अङ्गारदाहककुम्भकारायस्करादीनाम्।

७. (क) चूर्णि पृ० १५९ : तैस्तैर्दुःखविशेषैर्घातयतीति घातः संसारः।
(ख) वृत्ति, पत्र १६१ : घात्यन्ते—व्यापाद्यन्ते नानाविधैः प्रकारैर्यस्मिन् प्राणिनः स घातः—संसारः।

८. (क) चूर्णि, पृ० १५९ : विज्जं णाम विद्वान्…… विज्जं विज्जा णाम णाणं।
(ख) वृत्ति, पत्र १६१ : विज्जं विद्वान्……विज्जं विद्यां ज्ञानम्।

७१. (भूतेहिं जाण पडिलेह सातं..........तसथावरेहिं)

इसका अर्थ है—त्रस और स्थावर प्राणियों में सुख की अभिलाषा होती है, इसे जाने।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है। एकेन्द्रिय आदि जीवों को जानने वाला ज्ञाता सब जीवों को अपनी आत्मा के तुल्य समझे और उनके सुख-दुःख की प्रतिलेखना करे। वह यह जाने कि जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सभी जीवों को दुःख प्रिय नहीं है। इसके आधार पर जो अपने लिए प्रिय नहीं है, वह दूसरों के लिए न करे। यही सम्यग् प्रतिलेखना है।[1]

वृत्तिकार की व्याख्या इस प्रकार है[2]—

वह विवेकी मनुष्य यथार्थ को जानकर यह विचार करे कि त्रस और स्थावर जीव सुख कैसे प्राप्त कर सकते हैं? इसका आशय यह है कि सभी प्राणियों को सुख प्रिय है और दुःख अप्रिय। सुखाभिलाषी प्राणियों को दुःख देने से कभी सुख नहीं मिलता।

आयारो २।५२ में भी यही पद प्रयुक्त है—भूएहिं जाण पडिलेह सातं। वहां हमने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—तू जीवों (के कर्म-बंध और कर्म विपाक को) जान और उनके सुख (दुःख) को देख।[3]

ये व्याख्याएं भिन्न-भिन्न हैं किन्तु इनके तात्पर्यार्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं है। जो पुरुष यह जान लेता है कि सभी प्राणियों में सुख की आकांक्षा होती है, वह फिर किसी प्राणी को कष्ट नहीं दे सकता। यही इसका प्रतिपाद्य है।

श्लोक २० :

७२. अपने कर्मों से बंधे हुए (कम्मी)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ कर्म वाले और वृत्तिकार ने 'पापी' किया है।[4]

७३. आत्मगुप्त भिक्षु (आयगुत्ते)

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—(१) आत्मा में गुप्त, (२) स्वयं गुप्त (३) मन, वचन और शरीर से गुप्त। मन, वचन और शरीर में आत्मा का उपचार कर इन्हें भी आत्मा कहा जाता है।[5]

वृत्तिकार ने मन, वचन और काया से गुप्त व्यक्ति को आत्मगुप्त माना है।[6]

७४. त्रस जीवों को..........संयम करे (दट्ठुं तसे य प्पडिसाहरेज्जा)

चूर्णिकार ने इसके द्वारा ईर्या समिति का ग्रहण किया है। मुनि चलते समय ईर्या समिति का ध्यान रखे। वह त्रस या स्थावर प्राणियों को देखकर संयम करे, अपने शरीर का संकुचन या प्रसारण करे।[7]

वृत्तिकार का अर्थ सर्वथा भिन्न है—मुनि त्रस या स्थावर प्राणियों को जानकर उनके घात की क्रिया से निवृत्त हो जाए।[8]

---

१. चूर्णि, पृ० १५६ : भूतानि एकेन्द्रियादीनि, जानीत इति जानकः, स जानको अत्तोवमेण भूतेसु सातऽसातं पडिलेहेहि, 'जध मम ण पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वसत्ताणं।' (दश० नि० गा० १५६) एवं मत्वा यदात्मनो न प्रियं तद् भूतानां न करोति।

२. वृत्ति, पत्र १६१ : सदसद्विवेकी यथावस्थिततत्त्वं गृहीत्वा त्रसस्थावरैर्भूतैः—जन्तुभिः कथं साम्प्रतं—सुखमवाप्यत इत्येतत् प्रत्युपेक्ष जानीहि—अवबुद्धयस्व, एतदुक्तं भवति—सर्वेऽप्यसुमन्तः सुखैषिणो दुःखद्विषो, न च तेषां सुखैषिणां दुःखोत्पादकत्वेन सुखावाप्तिर्भवतीति।

३. आयारो, पृ० ८१।

४, चूर्णि, पृ० १५६ : कर्माण्येषां सन्तीतिः कर्मिणः।

(ख) वृत्ति, पत्र १६१ : कर्माण्येषां सन्तीति कर्मिणः—सपापा इत्यर्थः।

५. चूर्णि, पृ० १५६ : आतगुत्तो णाम आत्मसुगुत्तः स्वयं वा गुप्तः काय-वाङ्-मनःस्वात्मोपचारं कृत्वाऽपदिश्यते आतगुत्ते ति।

६. वृत्ति, पत्र १६१ : आत्मा गुप्तो यस्य सोऽयमात्मगुप्तो मनोवाक्कायगुप्त इत्यर्थः।

७. चूर्णि, पृ० १५६ : पडिसाहरेज्ज त्ति इरियासमिती गहिता, अतिक्कमे संकुचए पसारए।

८. वृत्ति, पत्र १६१ : दृष्ट्वा च त्रसान् चशब्दात् स्थावरांश्च 'दृष्ट्वा' परिज्ञाय तदुपघातकारिणीं क्रियां 'प्रतिसंहरेत्' निवर्तयेदिति।

श्लोक २१ :

७५. भिक्षा से प्राप्त (धम्मलद्धं)

इसका अर्थ है—भिक्षा, माधुकरी वृत्ति से प्राप्त भोजन। वह भोजन जो औद्देशिक, क्रीतकृत आदि बयालीस दोषों से मुक्त तथा मुधालब्ध हो—किसी आशंसा से प्राप्त न हो।[1]

७६. अन्न का संचय कर (णिहाय)

मुनि भोजन आदि का संचय न करे। आज मेरे उपवास आदि तपस्या है, मैं भोजन कर चुका हूं या आज मैं स्वस्थ नहीं हूं—ऐसा सोचकर मुनि दूसरे दिन के लिए भोजन का संचय न करे।[2]

७७. निर्जीव जल से (वियडेण)

'वियड'—इसके तीन संस्कृत रूप किए जाते हैं—विकट, विकृत और विगत।

चूर्णिकार ने विगत का अर्थ निर्जीव किया है।[3] इसका प्रयोग शीतोदक और उष्णोदक—दोनों के साथ होता है—सीओदग वियडेण वा उसिणोदग वियडेण वा। अगले श्लोक में चूर्णिकार ने इसका अर्थ तन्दुलोदक आदि किया है।[4] वृत्तिकार ने सौवीरादि जल किया है।[5] वास्तव में इसका प्रयोग 'पानक' के अर्थ में होता है। उस युग में नाना प्रकार के पानक या पने तैयार किए जाते थे। वे निर्जीव होते थे।

७८. (लूसयई व वत्थं)

इसका अर्थ है—कपड़ों को फाड़कर छोटे और सांध कर बड़े करना या सीना।[6]

७९. नाग्न्य (श्रामण्य) से (णागणियस्स)

नाग्न्य का अर्थ है—श्रामण्य, निर्ग्रन्थ-भाव या संयमानुष्ठान।[7]

श्लोक २२ :

८०. मृत्यु पर्यन्त (आदिमोक्खं)

आदि का अर्थ है—संसार और मोक्ष का अर्थ है—मुक्ति। संसार से मुक्त होने तक—यह इसका अर्थ है। इसका वैकल्पिक अर्थ है—शरीर धारण करने तक, यावज्जीवन।[8]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १५९ : धम्मेणेति लद्धं, नान्येषामुपरोधं कृत्वा, मुधालब्धमित्यर्थः, बातालीसदोसपरिसुद्धं।
(ख) वृत्ति, पत्र १६२ : धर्मेण—मुधिकया लब्धं धर्मलब्धं उद्देशकक्रीतकृतादिदोषरहितमित्यर्थः।

२. चूर्णि, पृ० १५९ : निधायेति सन्निधिं कृत्वा, तं पुण अभत्तच्छंदुवरितं भत्तसेसं वा 'अब्भत्तट्ठो वा मे अज्ज' एवमादीहिं कारणेहिं सण्णिधिं कातुं भुंजंति।

३. चूर्णि, पृ० १५९ : विगतमिति विगतजीवं।

४. चूर्णि, पृ० १६० : विगतजीवं वियडं तंदुलोदगादि।

५. वृत्ति, पत्र १६२ : विकटेन प्रासुकोदकेन सौवीरादिना।

६. (क) चूर्णि, पृ० १५९ : लूसयति णाम जो छिन्दति, छिंदितुं वा पुणे संधेति वा सिव्वति वा।
(ख) वृत्ति, पत्र १६२ : लूषयति शोभार्थं दीर्घमुत्पाटयित्वा ह्रस्वं करोति ह्रस्वं वा सन्धाय दीर्घं करोति एवं लूषयति।

७. (क) चूर्णि, पृ० १५९ : नग्नभवो हि णंगणिगा स्यात्।
(ख) वृत्ति, पत्र १६२ : णागणियस्स त्ति निर्ग्रन्थभावस्य संयमानुष्ठानस्य।

८ (क) चूर्णि, पृ० १६० : आदिमोक्खो आदिरिति संसारः, स यावन्न मुक्तः ततो वा मुक्तः यावद्वा शरीरं ध्रियते तावत्।
(ख) वृत्ति, पत्र १६२ : आदिः—संसारस्तस्मात् मोक्षआदिमोक्षः (तं) संसारविमुक्तिं यावदिति, धर्मकारणानां वाऽऽदिभूतं शरीरं तद्विमुक्तिं यावत् यावज्जीवमित्यर्थः।

चूर्णि और वृत्ति का उक्त अर्थ बुद्धिगम्य नहीं है। तात्पर्यार्थ में जो यावज्जीवन का अर्थ किया है वह उचित है। किन्तु 'आदि' का अर्थ संसार किया गया है, यह यहां प्रासंगिक नहीं लगता। वास्तव में यहां 'आविमोक्खं' पाठ होना चाहिए। उसका अर्थ होगा—प्राणविमोक्ष तक अर्थात् जीवनपर्यन्त। लिपि के संक्रमण-काल में 'वि' के स्थान पर 'दि' लिखा गया प्रतीत होता है।

श्लोक २४ :

८१. पेट भरने के लिए धर्म का आख्यान करता है (आघाइ धम्मं उदराणुगिद्धे)

भिक्षा के लिए गया हुआ मुनि घर में प्रविष्ट होकर गृहस्थों की रुचि के अनुकूल धर्म कहता है, वह अपना पेट भरने के लिए आसक्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जो पेट भरने में आसक्त है वह दान में श्रद्धा रखने वाले घरों में जाकर, केवल स्वादु भोजन की प्राप्ति के लिए धर्मकथा करता है। धर्मकथा करने का उसका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं होता।[1]

८२. वह आर्य श्रमणों की ····हीन होता है (से आरियाणं गुणाणं सतंसे)

वैसा मुनि आर्य-श्रमणों की गुण-संपदा के सौवें भाग में होता है—यह इसका शब्दार्थ है। सूत्रकार का आशय है कि वह मुनि चारित्र-संपन्न आर्य (आचार्य) के गुणों से शतगुना हीन होता है।

प्रस्तुत पद में 'शत' शब्द उपलक्षण मात्र है। उसका भावार्थ है कि वैसा मुनि हजारगुना या उससे भी अधिक हीन होता है।[2]

श्लोक २५ :

८३. गृहस्थ (पर)

यहां 'पर' का अर्थ है—गृहस्थ। वृत्तिकार ने 'पर' का अर्थ 'अन्य' किया है।[3]

८४. दाता की प्रशंसा करते हैं (मुहमंगलिओदरियं)

ये दो शब्द हैं—'मुहमंगलिओ' और 'ओदरियं'। यहां द्विपद में संधि होकर 'मुहमंगलिओदरियं' शब्द निष्पन्न हुआ है।

जो जिह्वा के वशीभूत होकर, स्वादु भोजन की प्राप्ति के लिए अपने मुख से भाट की तरह गृहस्थ की प्रशंसा करता है वह 'मुखमांगलिक' है। वह कहता है—आप ऐसे हैं, आप वैसे हैं। आप वही हैं जिनके गुण दशों दिशाओं में फैले हुए हैं। इतने समय तक तो मैं कथाओं में ऐसे व्यक्तियों का वर्णन पढ़ता था, किन्तु आज मैंने प्रत्यक्ष ही आपको देख लिया।[4]

'ओदरियं' का अर्थ है—अन्नपान, भोजन।[5]

८५. चारे के लोभी (णीवारगिद्धे)

चूर्णिकार ने इसका संस्कृत रूप 'नीकार' दिया है। मूंग और उड़द के मिश्रण से बनाए गए भोजन को 'नीवार' कहा है। यह सूअर का प्रिय भोजन है। सूअर 'नीवार' के भोजन में इतना आसक्त हो जाता है कि वह अपने शिकारी को देखकर भी

१. (क) चूर्णि, पृ० १६०।
   (ख) वृत्ति, पत्र १६३।

२. (क) चूर्णि, पृ० १६० : आरिया चरित्तारिया तेसिं सहस्सभाए सो वट्टति सहस्सगुणपरिहीणो। ततो य हेट्ठतरेण।
   (ख) वृत्ति, पत्र १६३ : असावाचार्यगुणानामार्यगुणानां वा शतांशे वर्तते शतग्रहणमुपलक्षणं सहस्रांशादेरप्यधो वर्त्तते इति।

३ वृत्ति, पत्र १६३ : परभोजने पराहारविषये।

४. वृत्ति, पत्र १६३ : मुखमाङ्गलिको भवति मुखेन मङ्गलानि—प्रशंसावाक्यानि ईदृशस्तादृशस्त्वमित्येवं दैन्यभावमुपगतो वक्ति, उक्तं च—

'सो एसो जस्स गुणा वियरंतनिवारिया दसदिसासु।
इहरा कहासु सुच्चसि पच्चक्खं अज्ज दिट्ठोऽसि ॥'

५. चूर्णि, पृ० १५६ : औदरिकम्—अन्न-पानमित्यर्थः।

'नीवार' को नहीं छोड़ता, फिर चाहे शिकारी उसके सींग ही क्यों न उखाड़ ले, या उसे मार ही क्यों न डाले।[1]

नीवार का वैकल्पिक अर्थ है—कांगनी, मूंग, उड़द आदि धान्य।[2]

देखें—३।३६ का टिप्पण।

श्लोक २६ :

८६. इहलौकिक (इहलोइयस्स)

अन्न, पान इहलौकिक पदार्थ हैं। वे शरीर-पोषण के साधन-मात्र हैं। वे मोक्ष के लिए नहीं होते।[3]

८७. प्रिय वचन बोलता है (अणुप्पियं भासति)

इसका अर्थ है— जिसको जो प्रिय हो, वैसा बोलना। जैसे राजा का सेवक या उसकी हां में हां मिलाने वाला व्यक्ति राजा के वचन के पीछे-पीछे बोलता है।[4]

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—वह मुनि अन्न-पान की प्राप्ति के लिए दाता के समक्ष प्रिय बोलता है—अरे, इस लड़की का विवाह क्यों नहीं कर देते? इस बैल का दमन क्यों नहीं करते? इसे प्रशिक्षित क्यों नहीं करते?[5]

८८. पार्श्वस्थता (पासत्थयं)

दिगंबर ग्रंथों में 'पार्श्वस्थ' का स्वरूप इस प्रकार है—

जो दर्शनविनय, ज्ञानविनय, चारित्रविनय और तपविनय से दूर रहता है और जो गुणी व्यक्तियों के छिद्र देखता रहता है, वह पार्श्वस्थ है। वह वन्दनीय नहीं होता।[6]

'जो संयम का निरतिचार पालन नहीं करता, जो दोषयुक्त भोजन ग्रहण करता है, जो एक ही क्षेत्र और वसति में रहता है, जो नमक, घी आदि का संग्रह करता है, वह पार्श्वस्थ है।'[7]

देखें—१।३२ का टिप्पण।

८९. कुशीलता (कुसीलयं)

मूल तथा उत्तरगुणों में दोष लगाने वाला निर्ग्रन्थ कुशील कहलाता है। उसका चारित्र कुछ-कुछ मलिन हो जाता है। उसके प्रमुख दो प्रकार हैं—प्रतिसेवना कुशील और कषाय कुशील। इन दोनों के पांच-पांच प्रकार हैं—[8]

१. ज्ञानकुशील
२. दर्शनकुशील
३. चारित्रकुशील
४. लिंगकुशील
५. यथासूक्ष्मकुशील।

१. चूर्णि, पृ० १६१ : वराद्राहन्तीति वराहः, वरा भूमी, स उद्धृतविषाणोऽपि भूत्वा अन्यान् पुरतोऽपि हन्यमानान् दृष्ट्वा तत्र नीकारे गृद्धो न पश्यति।

२. चूर्णि, पृ० १६१ : अथवा निकारो नाम सस्यानि रालक-मुद्ग-माषादीनि।

३. चूर्णि, पृ० १६१ : इहलौकिकानि हि अन्न-पानानि, न मोक्खाय, तेषामैहिकानामन्नपानानां हेतुरिति वाक्यशेषः।

४. वृत्ति, पत्र १६३ : अनुप्रियं भाषते यद्यस्य प्रियं तत्तस्य वदतोऽनु—पश्चाद्भाषते अनुभाषते, प्रतिशब्दकवत् सेवकवद्वा राजाद्युक्तमनुवदतीत्यर्थः।

५. चूर्णि, पृ० १६१ : अनुप्रियाणि भाषते—एस दारिगा कीस ण दिज्जइ? गोणे किं ण दम्मइ? एवमादि।

६. मूलाचार, गाथा ५९४ : दंसणणाणचारित्ततवविणए, णिच्चकाल पासत्था।
एदे अवंदणिज्जा छिद्दप्पेही गुणधराणाम्॥

७. भगवती आराधना, गाथा १७२२,१७२३, विजयोदया वृत्ति।

८. ठाणं ५।१८७; पृ० ६४२, टिप्पण १०६ : कुसीले पंचविहे पण्णत्ते, तं जहा—णाणकुसीले, दंसणकुसीले, चरित्तकुसीले, लिंगकुसीले, आहासुहुमकुसीले णामं पंचमे।

दिगंबर परंपरा के अनुसार कुशील निर्ग्रन्थ वह है जो इन्द्रियों और कषायों का वशवर्ती होकर संयम मार्ग को छोड़, उत्पथ-गामी हो जाता है।

जो क्रोध आदि कषायों से कलुषित है, जो व्रत, गुण और शील से रहित है, जो संघ का अविनय करता है, वह कुशील कहलाता है।[1]

जो मुनि मूल गुणों का यथावत् पालन करता है, परंतु उत्तरगुणों की कुछ विराधना करता है, वह प्रतिसेवना कुशील है।[2]

जो मुनि कषायों के सभी प्रकार के उदयों को वश में कर लेता है किन्तु संज्वलन कषाय के अधीन होता है वह कषाय कुशील कहलाता है।[3]

चूर्णिकार ने पार्श्वस्थ और कुशील मुनि को चारित्रगुण से हीन केवल वेशधारी मुनि माना है।[4]

९०. सेवन करता है (सेवमान)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ वाणी से तथा आगमन-गमन से सेवन करना[5] और वृत्तिकार ने दाता की सेवा करना किया है।[6]

'सेवमान' का संबंध तीसरे चरण में प्रयुक्त 'पासत्थयं' और 'कुसीलयं' के साथ उचित लगता है। इस औचित्य के आधार पर हमने इसका संबंध उन दोनों शब्दों से जोड़ा है।

चूर्णिकार ने तीसरे चरण की भावनापूर्ति के लिए 'प्राप्य' का अध्याहार करने की बात कही है।[7] वृत्तिकार ने 'पार्श्वस्थ-भावमेव व्रजति, कुशीलतां च गच्छति'—इस प्रकार क्रियाओं का अध्याहार कर अर्थ किया है।[8] इसके बदले यदि 'सेवमान' को इन दोनों पदों (पार्श्वस्थ और कुशील) के साथ जोड़ कर अर्थ करते हैं तो अर्थ की संगति बैठ जाती है।

९१. पुआल (पुलाए)

धान्यकण जो कीड़ों द्वारा खा लिए जाने पर निस्सार हो गया हो, जो केवल तुषमात्र बचा हो, वह पुआल (पुलाक) कहलाता है।[9]

हलायुध कोश तथा आप्टे की संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी में पुलाक का अर्थ निस्सार धान्य किया है। मनुस्मृति १०।१२५ में भी यहीं अर्थ है।

श्लोक २७ :

९२. अज्ञातपिंड की एषणा करे (अण्णायपिंडेण)

अज्ञातपिंड का संबंध आहार की एषणा से है। चूर्णिकार ने इसके दो लक्षण यहां बतलाए हैं—१. आहार की एषणा के लिए अपना परिचय न देना, अपने आपको अज्ञात रखना और (२) याचक की भांति दीनता प्रदर्शित न करना। ये दोनों 'अज्ञात' पद द्वारा सूचित हैं। इस अज्ञात अवस्था में लिया जाने वाला आहार 'अज्ञातपिंड' कहलाता है।

देखें—दसवेआलियं ९।३।४ का टिप्पण।

---

१. भावपाहुड, गाथा १४, टीका पृ० १३७ : क्रोधादिकषायकलुषितात्मा व्रतगुणशीलैः परिहीनः संघस्याविनयकारी कुशील उच्यते।
२. सर्वार्थसिद्धि, ९।४७, पृ० ४६१ : प्रतिसेवनाकुशीलो मूलगुणानविराधयन्नुत्तरगुणेषु कांचिद् विराधनां प्रतिसेवते।
३. वही, ९।४६, पृ० ४६० : वशीकृतान्यकषायोदयाः संज्वलनमात्रतन्त्राः कषायकुशीलाः।
४. चूर्णि, पृ० १६१ : केवलं लिङ्गावशेषः चारित्रगुणवञ्चितः :
५. चूर्णि, पृ० १६१ : सेवमान इति वायाए सेवति आगमण-गमणादीहि य।
६. वृत्ति, पत्र १६३ : तमेव दातारमनुसेवमानः।
७. चूर्णि, पृ० १६१ : प्राप्येति वाक्यशेषः।
८. वृत्ति, पत्र १६३।
९. चूर्णि, पृ० १६१ : पुलाए जधा धण्णं कीडएहिं णिप्फोलितं णिस्सारं भवति केवलं तुषमात्रावशेषम्।

चूर्णिकार का अभिमत है कि जो व्यक्ति अज्ञातपिंड की एषणा करता है वह निश्चित ही अन्न-पान के विषय में अनासक्त होता है।[1]

९३. (आहार न मिलने पर भूख को) सहन करे (अहियासएज्जा)

इसका अर्थ है—सहन करना। प्रसंगवश इस शब्द का तात्पर्य है—आहार न मिलने पर मुनि भूख को सहन करे।[2]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—जीवन निर्वाह करे—दिया है।

अन्तप्रान्त आहार मिलने या न मिलने पर मुनि दीन न बने और श्रेष्ठ आहार मिलने पर मद न करे।[3]

९४. तपस्या से पूजा पाने की अभिलाषा न करे (णो पूयणं तवसा आवहेज्जा)

तपस्या से पूजा पाने की अभिलाषा न करे। इसका तात्पर्य है कि साधक मनुष्य पूजा या सत्कार के निमित्त तपस्या न करे। तप मुक्ति का हेतु है। पूजा-सत्कार या इसी प्रकार की दूसरी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उसका उपयोग न करे। जो पूजा-सत्कार के निमित्त तपस्या करता है वह तत्त्व का अजान है। कहा भी है—

'परं लोकाधिकं धाम, तपःश्रुतमिति द्वयम।
तदेवार्थित्वनिर्लुप्तसारं तृणलवायते।

लोक में दो उत्तम स्थान हैं—तप और श्रुत। ये दो ही श्रेष्ठ स्थान की प्राप्ति के हेतु हैं। यदि इनसे पौद्गलिक सुख की आकांक्षा की जाती है तो ये तृण के टुकड़े की भांति निःसार हो जाते हैं।[4]

९५. (सद्देहि रूवेहि······)

प्रस्तुत दो चरणों में शब्द, रूप तथा अन्य सभी इन्द्रिय-विषयों को छोड़ने का निर्देश है। वृत्तिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में पांच श्लोकों का निर्देश किया है।[5]

श्लोक २८ :

९६. संसर्गों को (संगाइं)

संग का अर्थ है—आसक्तभाव। संसर्ग दो प्रकार के होते हैं—बाह्य और आभ्यन्तर। बाह्य संसर्ग के विषय हैं—पदार्थ। आभ्यन्तर संसर्ग है—स्नेह, ममता आदि-आदि।[6]

चूर्णिकार ने संग का अर्थ प्राणातिपात आदि अठारह पाप किया है।[7]

९७. (गुणों की उत्पत्ति के लिए) उर्वर (अखिले)

चूर्णिकार ने अखिल पद के दो अर्थ किए हैं—संपूर्ण, उर्वर। मुनि को समस्त गुणों में प्रवृत्त होना चाहिए, इसलिए उसे अखिल कहा गया है। इसका दूसरा अर्थ है—उर्वर। खिल का अर्थ है—ऊपर भूमि, जहां कुछ भी निष्पन्न नहीं होता। जो 'खिल'

---

१. चूर्णि, पृ० १६१ : ण संथव—वणीमगादीहिं अण्णातउंछं एसति, अधियासणा अलंममाणे......जो हि अण्णायपिंडं एसए सो णियमा ....अणाणुगिद्धो।

२. चूर्णि, पृ० १६१ : अधियासना अलंममाणे।

३. वृत्ति, पत्र १६४ : 'अधिसहेत्' वर्तयेत्—पालयेत, एतदुक्तं भवति—अन्तप्रान्तेन लब्धेनालब्धेन वा न दैन्यं कुर्यात्, नाप्युत्कृष्टेन मदं विदध्यात्।

४. वृत्ति, पत्र १६४ : नापि तपसा पूजनसत्कारमावहेत्, न पूजनसत्कारनिमित्तं तपः कुर्यादित्यर्थः, यदि वा पूजासत्कारनिमित्तत्वेन तथाविधार्थित्वेन वा महतापि केनचित्तपो मुक्तिहेतुकं न निःसारं कुर्यात्, तदुक्तम्—परं लोकाधिकं.. ....।

५. वृत्ति, पत्र १६४।

६. वृत्ति, पत्र १६४ : 'सङ्गान्' संबन्धान् आन्तरान् स्नेहलक्षणान् बाह्यांश्च द्रव्यपरिग्रहलक्षणान्।

७. चूर्णि, पृ० १६२ : सङ्गा प्राणिवधादयः जाव मिच्छादंसणं ति।

नहीं है वह है 'अखिल' अर्थात् उर्वर भूमि ।[1]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र से परिपूर्ण किया है।[2]

श्लोक २९ :

९८. भार को वहन करने के लिए (भारस्स जाता)

इसका अर्थ है—भार की यात्रा के लिए अर्थात् संयम-भार को वहन करने के लिए ।

चूर्णिकार ने भार का अर्थ—संयमभार और यात्रा का अर्थ—संयम-यात्रा किया है। संयम-भार को वहन करने के लिए तथा संयम-यात्रा के लिए—यह इसका संयुक्तार्थ है ।[3]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ——पांच महाव्रत के भार को वहन करने के लिए— किया है ।[4]

९९. पाप का विवेक (पृथक्करण) (पावस्स विवेग)

यहां 'विवेग' विभक्ति रहित पद है। यह छन्द की दृष्टि से किया गया है।

विवेक का अर्थ है— पृथक्करण, विनाश ।[5] पाप का पृथक्करण करना, पाप को अलग करना। चूर्णिकार ने 'पाप' के दो अर्थ किए हैं—कर्म और शरीर। शरीर को पाप मानने के दो हेतु हैं—कृतघ्नता और अशुचिता ।[6]

१००. शान्त (धुयं)

चूर्णिकार ने 'धुत' के पांच अर्थ किए हैं—वैराग्य, चारित्र, उपशम, संयम और ज्ञान ।[7]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—संयम और मोक्ष ।[8]

१०१. रहे (आइएज्जा)

इसका अर्थ है—ग्रहण करना, स्वीकार करना। दुःखों से स्पृष्ट होने पर मुनि 'धुत' को ग्रहण करे अर्थात् धुत के द्वारा (वैराग्य या उपशमन के द्वारा) दुःखों पर विजय प्राप्त करे ।[9] इसका प्रसंगोपात्त अर्थ है—(शान्त) रहे ।

१०२. कामनाओं का (परं)

यहां 'पर' शब्द कामनाओं का वाचक है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ शत्रु किया है ।[10]

श्लोक ३० :

१०३. दोनों ओर से छीले गए फलक की भांति (फलगावतट्ठी)

इसमें दो शब्द हैं—फलग और अवतट्ठी। इनका अर्थ है— दोनों ओर से छीले गए फलक की भांति ।

---

१. चूर्णि, पृ० १६१ : अखिलो णाम अखिलेसु गुणेसु वत्तितव्यम् अथवा खिलमिति यत्र किञ्चिदपि न प्रसूते ऊषरमित्यर्थः ।

२. वृत्ति, पत्र १६४ : अखिलो ज्ञानदर्शनचारित्रैः सम्पूर्णः ।

३. चूर्णि, पृ० १६२ : भारो नाम संयमभारो । जाताए त्ति संयमजातामाताणिमित्तं संजमभारवहणट्ठताए ।

४. वृत्ति, पत्र १६४ : संयमभारस्य यात्रार्थं— पञ्चमहाव्रतभारनिर्वाहणार्थम् ।

५. वृत्ति, पत्र १६४ : विवेकं पृथग्भावं विनाशम् ।

६. चूर्णि, पृ० १६२ : पावं नाम कम्मं, त्रिवेगो विनाश इत्यर्थः, सर्वविवेको मोक्षः, एसो देसविवेगो । अथवा पापमिति शरीरम् कृतघ्नत्वादशुचित्वाच्च ।

७. चूर्णि, पृ० १६२ : धूतं वैराग्यं चारित्रं उपशमो वा संजमो णाणादि वा ।

८. वृत्ति पत्र १६४ : धूतं संयमं मोक्षं वा ।

९. चूर्णि, पृ० १६२ : आदिएज्ज त्ति तमादद्यात्, तेन तेषां जयं कुर्यादित्यर्थः ।

१०. वृत्ति, पत्र १६४ : परं शत्रुम् ।

चूर्णिकार ने इसका आशय स्पष्ट करते हुए कहा है कि मुनि सहनशील रहे। कोई उसे काठ की भांति छील कर, उस पर नमक का लेप करे अथवा घावों पर नमक छिड़के, फिर भी वह द्वेष न करे, समभाव रखे।[1]

वृत्तिकार का आशय भिन्न है। काठ को दोनों ओर से छीलने पर ही वह पतला होता है, उसी प्रकार मुनि भी बाह्य और आभ्यन्तर तप से अपने शरीर को कृश करे।[2]

यहां शरीर और कषाय—दोनों को कृश करने की बात प्राप्त होती है।

आयारो ६।११३ में भी 'फलगावयट्ठि' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ है—बाह्य और आन्तरिक तप के द्वारा फलक की भांति शरीर और कषाय—दोनों ओर से कृश बना हुआ मुनि......... ।[3]

१०४. काल के (अंतगस्स)

अंतक का अर्थ है—मृत्यु, शरीर का अन्त करने वाला।[4]

चूर्णिकार ने इसका मुख्य अर्थ मोक्ष और वैकल्पिक अर्थ—मृत्यु किया है।[5]

१०५. प्रपंच (जन्म-मरण) में......जाता (पवंचुवेइ)

यहां दो पदों में संधि की गई है—पवंचं+उवेइ।

प्रपंच का अर्थ है—जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, दुःख, दौर्मनस्य, रोग, शोक आदि।[6]

---

१. चूर्णि, पृ० १६२ : यद्यप्यसौ परीसहैर्हन्येत अर्जुनकवत् अथवा फलकवदवकृष्टः क्षारेणालिप्येत सिच्येत वा तथापि अप्रदुष्टः ।

२. वृत्ति, पत्र १६४ : फलकवदपकृष्टः यथा फलकमुभाभ्यामपि पार्श्वाभ्यां तष्टं—घट्टितं सत्तनु भवति अरक्तद्विष्टं वा संभवत्येवमसावपि साधुः सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा निष्टप्तदेहतनुः—दुर्बलशरीरोऽरक्तद्विष्टश्च ।

३. आयारो, पृ० २५५ ।

४. वृत्ति, पत्र १६४ : अन्तकस्य मृत्योः ।

५. चूर्णि, पृ० १६२ : अन्तको नाम मोक्षः अथवा अन्तं करोतीति अन्तकः ।

६ (क) वही, पृष्ठ १६२ : प्रवंचं जाति-जरा-मरण-दुःख-दौर्मनस्यादिनटवदनेकप्रकारः संसार एव प्रपञ्चकः ।

(ख) वृत्ति, पत्र १६५ : प्रपञ्चं जातिजरामरणरोगशोकादिकं प्रपञ्च्यते बहुधा नटवद्यस्मिन् स प्रपञ्चः—संसारः ।

अट्ठमं अज्झयणं
वीरियं

आठवां अध्ययन
वीर्य

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'वीर्य' है। यह वर्ण्य-विषय के आधार पर किया गया नामकरण है। इसमें सभी प्रकार के वीर्यों—शक्तियों का वर्णन है। चेतन भी वीर्यवान् होता है और अचेतन भी वीर्यवान् होता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के आधार पर चेतन और अचेतन में शक्तियां अभिव्यक्त होती हैं, न्यूनाधिक होती हैं।

चौदह पूर्वों में तीसरा पूर्व है— वीर्यप्रवाद। इसमें विभिन्न वीर्यों का विस्तार से वर्णन है। पूर्वों में वर्णित ज्ञानराशि को उपमा द्वारा समझाया गया है—[1]

'सव्व णईणं जा होज्ज वालुआ गणणमागया सन्ती।
तत्तो बहुयतरागो अत्थो एगस्स पुव्वस्स ॥'
'सव्व समुद्दाणजलं जइपत्थमियं हविज्ज संकलियं।
एत्तो बहुयतरागो अत्थो एगस्स पुव्वस्स ॥'

—सभी नदियों के वालुकणों की जो संख्या है उससे भी बहुत अधिक अर्थवाला होता है एक पूर्व।

—सभी समुद्रों के पानी का जितना परिमाण होता है उससे भी अधिक अर्थवाला होता है एक पूर्व।

प्रस्तुत अध्ययन में सताईस श्लोक हैं। उनका विषय वर्गीकरण इस प्रकार है—

श्लोक १-२ कर्म वीर्य है।
३ प्रमाद वीर्य है।
४-९ बालवीर्य का विवेचन।
१०-२२ पंडित वीर्य का विवेचन।
२३ अबुद्ध का पराक्रम।
२४-२७ बुद्ध का पराक्रम।

इनमें मुख्यतः पंडितवीर्य, बालवीर्य और बालपंडित-वीर्य का प्रतिपादन है।

वीर्य का अर्थ है—शक्ति, बल। उसके तीन प्रकार हैं—सचित्त वीर्य, अचित्त वीर्य और मिश्र वीर्य।

सचित्त वीर्य तीन प्रकार का है—

१. मनुष्यों का—अर्हद्, चक्रवर्ती, बलदेव आदि का वीर्य।
२. पशुओं का—हाथी, घोडा, सिंह, व्याघ्र, वराह, अष्टापद आदि का वीर्य। जैसे भेड़िया उछलकर भेड़ को मार डालता है वैसे ही अष्टापद उछलकर हाथी को मार डालता है। यह अष्टापद की शक्ति है।[2]
३. निर्जीव पदार्थों का—जैसे गोशीर्षचन्दन का लेप ग्रीष्मकाल में दाह का नाश करता है और शीतकाल में शीत का नाश करता है। जैसे रत्नकंबल शीतकाल में गरम होती है और गरमी में ठंडक पैदा करती है। जैसे चक्रवर्ती का गर्भगृह (अन्डरग्राउन्ड) शीतकाल में गरम और ग्रीष्म में ठंडा होता है।[3]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १६५। (ख) वृत्ति, पत्र १६७।

२. चूर्णि, पृ० १६३ : चतुप्पदाणं तु अस्सरयण-हत्थिरयण-सीह-वग्घ-वराह-सरभादीण, सरभो किल हस्तिनमपि वृक इव औरणकं उक्खिविऊण अ वज्झति।

३. (क) चूर्णि, पृ० १६३ : गोसीसचंदणस्स उण्हकाले डाहं णासेति, तधा कंबलरयणस्स सीयकाले सीतं उसिणकाले उण्हं णासेति, तधा चक्कवट्टिस्स गब्भगिहं सीते उण्हं उण्हे सीतं।

(ख) वृत्ति, पत्र १६५ : तथाऽपदानां गोशीर्षचन्दनप्रभृतीनां शीतोष्णकालयोरुष्णशीतवीर्यपरिणाम इति।

(ख) अचित्त वीर्य

आहार, स्निग्ध पदार्थ, भक्ष्य और भोज्य पदार्थों की शक्ति को अचित्त वीर्य कहा जाता है। इसी प्रकार कवच आदि आवरणों का तथा अन्यान्य शस्त्रों की शक्ति भी अचित्त वीर्य कहलाती है। आहार में काम आने वाले पदार्थों की शक्ति भिन्न-भिन्न होती है। जैसे घेवर प्राणों को उत्तेजित करने वाला, हृदय को प्रसन्न करने वाला और कफ का नाशक होता है।[1] इसी प्रकार औषधियों की भी अपनी-अपनी शक्ति होती है। शल्य को निकालने, घाव भरने, विष के प्रभाव को दूर करने, बुद्धि को वृद्धिगत करने—ये भिन्न-भिन्न औषधियों की शक्तियां हैं। कुछ विषघाती द्रव्य ऐसे होते हैं जिनको सूंघने मात्र से विष निकल जाता है। कुछ ऐसे होते हैं जिनका लेप करने से विष दूर होता है। कुछ के आस्वाद मात्र से विष नष्ट हो जाता है।[2]

एक द्रव्य ऐसा होता है जिसकी सरसों जितनी गुटिका रोएं को उखाड़कर उस स्थान में लगाने से, वह विष को सारे शरीर में फैला देती है या सारे शरीर के विष को निकाल देती है।[3]

एक द्रव्य ऐसा होता है जिसको खा लेने पर एक महीने तक भूख नहीं लगती, शक्ति की हानि भी नहीं होती।[4]

कुछ द्रव्यों के मिश्रण से बनी हुई बाती पानी से भी जल उठती हैं। कश्मीर आदि प्रदेशों में लोग कांजी से दीया जलाते हैं।[5]

इस प्रकार विभिन्न द्रव्यों में चामत्कारिक शक्तियां होती हैं। उनका विवरण प्रस्तुत करने वाला ग्रन्थ है—योनिप्राभृत।[6]

यह द्रव्य-वीर्य का कुछ विवरण है।

इसी प्रकार क्षेत्र और काल वीर्य भी होता है। क्षेत्रवीर्य जैसे देवकुरु आदि क्षेत्रों में उत्पन्न होने वाले सभी द्रव्य विशिष्ट शक्ति-संपन्न होते हैं। दुर्ग आदि में स्थित पुरुष का उत्साह वृद्धिगत होता रहता है। यह भी क्षेत्रवीर्य है।

काल की भी अनन्त शक्ति होती है। जैसे सुषम-सुषमा या सुषमा काल में कालहेतुक बल विशिष्ट होता है। अथवा भिन्न-भिन्न पदार्थों में कालहेतुक बल होता है। आयुर्वेद ग्रन्थों में भी काल के प्रभाव से होने वाली गुणवृद्धि का स्पष्ट उल्लेख है—[7]

'वर्षासु लवणममृतं शरदि जलं गोपयश्च हेमन्ते।
शिशिरे चामलकरसो घृतं वसन्ते गुडो वसन्तस्यान्ते॥'

वर्षा ऋतु में नमक, शरद् ऋतु में पानी, हेमन्त में गाय का दूध, शिशिर में आंवले का रस, वसन्त में घी और ग्रीष्म में गुड़—ये अमृततुल्य हो जाते हैं।

'ग्रीष्मे तुल्यगुडां सुसैन्धवयुतां मेघावनद्धेऽम्बरे,
तुल्यां शर्करया शरद्यमलया शुण्ठ्या तुषारागमे।
पिप्पल्या शिशिरे वसन्तसमये क्षौद्रेण संयोजितां,
पुंसां प्राप्य हरीतकीमिव गदा नश्यन्तु ते शत्रवः॥[8]

ग्रीष्म ऋतु में हरड़ बराबर गुड़ के साथ, वर्षा ऋतु में सैन्धव नमक के साथ, शरद् ऋतु में बराबर शक्कर के साथ,

१. वृत्ति, पत्र १६५ : 'सद्यः प्राणकरा हृद्याः, घृतपूर्णाः कफापहाः।
२. चूर्णि, पृ० १६३ : तं विसल्लंकरणी पादलेवो मेधाकरणीओ य ओसधीओ। विसघातीणि य दव्वाणि गंध-आलेव-आस्वादमात्राच्च विषं णासेन्ति।
३. वही, पृ० १६३ : सरिसवमेत्ताओ वा गुलियाओ वा लोमुक्खणणामेत्ते खेत्ते विषं गदो वा अगदो वा भवति।
४. वही, पृ० १६३ : अन्यद्रव्यमाहारितं मासेणापि किल क्षुधां न करोति न च बलग्लानिर्भवति।
५. वही, पृ० १६३ : किञ्च केषाञ्चिद् द्रव्याणां संयोगेन वत्ती आलित्ता उदकेनापि दीप्यते। कश्मीरादीषु च काञ्जिकेनापि दीपको दीप्यते।
६. (क) चूर्णि, पृ० १६३ : योनिप्राभृतादिषु वा विभासितव्वं।
(ख) वृत्ति, पत्र १६५ : तथा योनिप्राभृतकान्नानाविधं द्रव्यवीर्यं द्रष्टव्यमिति।
७. (क) चूर्णि, पृ० १६३।
(ख) वृत्ति, पत्र १६६।
८. वृत्ति, पत्र १६६।

हेमन्त ऋतु में सौंठ के साथ, शिशिर ऋतु में पीपल के साथ और वसन्त ऋतु में मधु के साथ सेवन करने से समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं।

यह काल के आधार पर द्रव्यों में होने वाले सामर्थ्य का निदर्शन है।

भाववीर्य

इसके तीन प्रकार हैं—औरस्य बल (शारीरिक बल), इन्द्रिय बल और अध्यात्म बल।

(१) औरस्य बल—

इसके चार प्रकार हैं—मनोबल, वचनबल, कायबल और प्राणापानबल।

मनोबल

जैसा औरस्य वीर्य होता है वैसी ही मानसिक पुद्गलों के ग्रहण की शक्ति होती है। शरीर का संहनन जितना सुदृढ़ होता है उतने ही शक्तिशाली मानसिक पुद्गल ग्रहण किए जाते हैं। इसी प्रकार वचन, काय और आनापान बल भी संहनन की दृढ़ता के आधार पर होता है।

इनके दो-दो प्रकार हैं—संभव और संभाव्य।

संभव—तीर्थंकर और अनुत्तरविमानवासी देवों का मन बहुत पटु होता है। अवधिज्ञान से सम्पन्न अनुत्तरोपपातिक देव मन के द्वारा जो प्रश्न या शंका उपस्थित करते हैं, तीर्थंकर उसका समाधान द्रव्य मन के द्वारा ही करते हैं क्योंकि उन देवों का सारा व्यापार मन से ही होता है।

जो व्यक्ति बुद्धिमान् द्वारा कही गई बात को वर्तमान में समझने में असमर्थ है, किन्तु अभ्यास के द्वारा अपनी बुद्धि को पटु बनाकर वह भविष्य में उसे समझ लेगा, यह उसका संभाव्य वीर्य है।

वचनबल

इसके भी दो भेद हैं—संभव और संभाव्य।

तीर्थंकरों की वाणी एक योजन तक फैलती है और सभी सुनने वाले उसे अपनी-अपनी भाषा में समझ लेते हैं। इसी प्रकार क्षीरास्रवलब्धि, मध्वास्रवलब्धि आदि लब्धियों से संपन्न व्यक्तियों की वाणी बड़ी मीठी होती है। हंस, कोयल आदि पक्षियों का स्वर मीठा होता है। यह संभव वाचिक वीर्य है।

यह संभावना की जाती है कि श्रावक का पुत्र बिना पढ़े-लिखे भी उचित बोलने योग्य अक्षर ही बोलेगा। शिक्षित किए जाने पर तोता-मैना आदि भी मनुष्य की बोली बोलने लगते हैं। यह संभाव्यवीर्य है।

कायिक बल

इसके भी दो भेद हैं—संभव और संभाव्य।

चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव का जो स्वाभाविक बाहुबल है वह संभववीर्य है।

त्रिपृष्ठ वासुदेव ने बाएं हाथ की हथेली से करोड़ों मन की शिला उठा ली थी। एक ओर सोलह हजार राजाओं की सेनाओं के आदमी एक सांकल को खींचते हैं और दूसरी ओर वासुदेव खींचते हैं तो वासुदेव अपनी ओर सभी मनुष्यों को खींच लेते हैं।

तीर्थंकरों का कायवीर्य अपरिमित होता है।

यह संभव कायवीर्य है।

संभाव्य कायवीर्य—

तीर्थंकर लोक को अलोक में गेंद की भांति फेंक सकते हैं। वे मेरु पर्वत को दंडे की भांति ग्रहण कर पृथ्वी को छत्र की तरह धारण कर सकते हैं।

कोई इन्द्र जंबूद्वीप को बाएं हाथ से छत्र की तरह तथा मेरु पर्वत को डंडे की तरह सहज ही उठा सकता है।

यह संभव है कि यह लड़का बड़ा होकर इस शिला खंड को ऊपर उठाएगा, इस मल्ल के साथ लड़ेगा, हाथी को वश में

कर लेगा तथा घोड़े को दौड़ाएगा ।

२. इन्द्रिय-बल—इसके भी दो प्रकार हैं—संभव और संभाव्य ।

जैसे श्रोत्रेन्द्रिय का संभव बल यह है कि वह बारह योजन तक के शब्द को सुन सकता है । इसी प्रकार शेष चारों इन्द्रियों का अपना-अपना संभव बल है ।

संभाव्य बल—जैसे किसी मनुष्य की इन्द्रियां नष्ट नहीं हुई हैं, किन्तु वह थका-मांदा है, क्रोधित है, प्यासा है, तो वह अपनी इन्द्रियों से विषयों को यथावद् ग्रहण नहीं कर पायेगा । ज्यों ही उसके ये दोष उपशान्त होंगे, वह पुनः विषय-ग्रहण में उपयुक्त हो जाएगा ।

३. आध्यात्मिक बल—आन्तरिक शक्ति से या सत्त्व से उत्पन्न बल अध्यात्मिक बल है । उसके नौ प्रकार हैं—

१. उद्यम वीर्य—ज्ञान के उपार्जन में या तपस्या आदि के अनुष्ठान में किया जाने वाला उद्यम ।

२. धृति वीर्य—संयम में स्थिरता, चित्त की उपशान्त अवस्था ।

३. धीरता वीर्य—कष्ट-सहिष्णुता ।

४. शौंडीर्य वीर्य—त्याग की उत्कट भावना । छह खंडों के राज्य का त्याग करते हुए भी भरत चक्रवर्ती का मन कम्पित नहीं हुआ । यह त्याग का उत्कर्ष है । इसका दूसरा अर्थ है—आपत्ति में अखिन्न रहना । इसका तीसरा अर्थ है—विषम परिस्थिति आने पर भी, किसी आवेश की वाध्यता से नहीं किन्तु प्रसन्नता से 'यह मुझे करना है—इस दृष्टि से उस कार्य को पूरा करना ।

५. क्षमावीर्य—दूसरे के द्वारा अपमानित होने पर भी क्षुब्ध न होना ।

६. गाम्भीर्य वीर्य—कष्टों से पराजित न होना । इसका दूसरा अर्थ है—चमत्कारिक अनुष्ठान करके भी अहंभाव न लाना ।

'चुल्लुच्छलेइ जं होइ ऊणयं रित्तयं कणकणेइ ।
भरियाइं ण खुब्भंती सुपुरिसविन्नाणभंडाइं ॥'

जो घड़ा थोड़ा खाली होता है, वह छलकता है । जो घड़े पूर्ण रिक्त होते हैं वे आपस में संघट्टित होकर आवाज करते हैं । जो पूरे भरे होते हैं, वे कभी नहीं छलकते ।

७. उपयोग वीर्य—चेतना का व्यापार करना । ज्ञेय पदार्थ को जानना और देखना ।

८. योग वीर्य—

(क) मनोवीर्य— अकुशल मन का निरोध, कुशल मन का प्रवर्तन । मन को एकाग्र करना । मनोवीर्य से ही निर्ग्रन्थों के परिणाम वर्धमान और अवस्थित होते हैं ।

(ख) वाग्वीर्य—अपुनरुक्त तथा निरवद्य वाणी का प्रयोग ।

(ग) कायवीर्य—कछुए की भांति शरीर में अवयवों को समाहित कर निश्चल होना ।

९. तपोवीर्य—यह बारह प्रकार की तपस्याओं के कारण बारह प्रकार का है । तदध्यवसित होकर तपस्या करना तपोवीर्य है । सतरह प्रकार के संयम में एकत्व आदि भावना से भावित होकर 'संयम में कोई अतिचार न लग जाए' इस प्रकार सावधानीपूर्वक जो संयम का पालन करता है, वह भी तपोवीर्य है ।

—अध्यात्मवीर्य के ये नौ भेद हैं ।

सभी प्रकार के भाववीर्य के तीन-तीन प्रकार हैं—पंडित भाववीर्य, बाल भाववीर्य और बाल-पंडित भाववीर्य । चूर्णिकार और वृत्तिकार ने वीर्य के तीन प्रकार और किए हैं । उनका आधार है भाव—

१. क्षायिक वीर्य—क्षीण कषाय अर्थात् वीतराग का वीर्य ।

२. औपशमिक वीर्य—उपशान्त कषाय वालों का वीर्य ।

३. क्षायोपशमिक वीर्य—शेष सभी प्राणियों का वीर्य ।

चरित्र मोहनीय कर्म के क्षय, क्षयोपशम और उपशम के आधार पर विरति भी क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक—

तीन प्रकार की होती है। इस आधार पर पंडित वीर्य के तीन भेद होते हैं।[1]

चौथे श्लोक की व्याख्या में चूर्णिकार और वृत्तिकार ने धनुर्वेद, दंडनीति, चाणक्यनीति आदि की मान्यताएं, शिक्षाएं प्रस्तुत की हैं। चूर्णिकार ने 'हंभीमासुरुक्खं, कोडल्लगं'—इन ग्रन्थों तथा 'अथर्वण' का विषय निर्दिष्ट किया है।[2]

प्रस्तुत अध्ययन के कुछेक महत्त्वपूर्ण शब्द हैं—ठाणी (श्लोक १२), वुसीमओ (श्लोक २०), झाणजोगं (श्लोक २७)। इनकी व्याख्या के लिए देखें—टिप्पण।

१. भाववीर्य के संपूर्ण विवरण के लिए देखें, चूर्णि पृ० १६४-१६५ तथा वृत्ति पत्र १६६-१६८।

२. चूर्णि, पृ० १६६।

अट्ठमं अज्झयणं : आठवां अध्ययन

वीरियं : वीर्य

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. दुहा वेयं सुयक्खायं वीरियं ति पवुच्चई । किण्णु वीरस्स वीरितं ? केण वीरो त्ति वुच्चति ? ॥	द्विधा वैतत् स्वाख्यातं, वीर्यं इति प्रोच्यते । किण्णु वीरस्य वीर्यं ? केन वीर इति उच्यते ? ॥	१. यह स्वाख्यात वीर्य दो प्रकार का कहा गया है। वीर का वीर्य क्या है ? वह किस कारण से वीर कहलाता है ?
२. कम्ममेव पवेदेंति अकम्मं वा वि सुव्वया । एतेहिं दोहिं ठाणेहिं जेहिं दीसंति मच्चिया ॥	कर्म एव प्रवेदयन्ति, अकर्म वापि सुव्रताः । एतयोः द्वयोः स्थानयोः, ययोर्दृश्यन्ते मर्त्याः ॥	२. सुव्रत (तीर्थंकर)[1] दो प्रकार के वीर्य का प्रतिपादन करते हैं—कर्मवीर्य और अकर्मवीर्य ।[2] सभी मनुष्य इन दो स्थानों में विद्यमान हैं ।[3]
३. पमायं कम्ममाहंसु अप्पमायं तहावरं । तब्भावादेसओ वा वि बालं पंडियमेव वा ॥	प्रमादं कर्म आहुः, अप्रमादं तथाऽपरम् । तद्भावादेशतो वापि, बालं पंडितमेव वा ॥	३. तीर्थंकरों ने प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा है ।[4] कर्मवीर्य के सद्भाव की अपेक्षा से मनुष्य 'बाल' और अकर्मवीर्य के सद्भाव की अपेक्षा से वह 'पंडित' कहलाता है ।[5,6]
४. सत्थमेगे सुसिक्खंति अतिवाताय पाणिणं । एगे मंते अहिज्जंति पाणभूयविहेडिणो ॥	शस्त्रमेके सुशिक्षन्ते, अतिपाताय प्राणिनाम् । एके मन्त्रान् अधीयते, प्राणभूतविहेडिनः[1] ॥	४. कुछ लोग प्राणियों को मारने के लिए शस्त्र (या शास्त्र)[7] की शिक्षा प्राप्त करते हैं और कुछ लोग प्राणियों और भूतों को बाधा पहुंचाने वाले[8] मंत्रों का अध्ययन करते हैं ।[9]
५. माइणो कट्टु मायाओ कामभोगे समारभे । हंता छेत्ता पगतित्ता आय-सायाणुगामिणो ॥	मायिनः कृत्वा मायाः, कामभोगान् समारभन्ते । हन्तारः छेत्तारः प्रकर्त्तयितारः, आत्मसातानुगामिनः ॥	५. मायावी मनुष्य (राजनीति शास्त्रों से सीखी हुई) माया का प्रयोग कर[10] कामभोगों (धन) को[11] प्राप्त करते हैं। वे अपने सुख के अनुगामी होकर प्राणियों का हनन, छेदन और कर्त्तन करते हैं ।[12]
६. मणसा वयसा चेव कायसा चेव अंतसो । आरतो परतो वा वि दुहा वि य असंजता ॥	मनसा वचसा चैव, कायेन चैव अन्तशः । आरतः परतो वापि, द्विधाऽपि च असंयताः ॥	६. असंयमी मनुष्य मन से, वचन से और अन्त में काया से,[13] स्वयं या दूसरे से[14] या दोनों के संयुक्त प्रयत्न से (जीवों की हिंसा करते हैं, करवाते हैं।)
७. वेराइं कुव्वती वेरी ततो वेरेहिं रज्जती । पावोवगा य आरंभा दुक्खफासा य अंतसो ॥	वैराणि करोति वैरी, ततो वैरेषु रज्यति । पापोपगाश्च आरंभाः, दुःखस्पर्शाश्च अन्तशः ॥	७. वैरी वैर करता है। फिर वह वैर में अनुरक्त हो जाता है ।[15] हिंसा की प्रवृत्तियां मनुष्य को पाप की ओर ले जाती हैं। अन्त में उनका परिणाम दुःख-दायी होता है।

१. हेडृङ्—अनादरे इति धातुनिष्पन्नोऽयं शब्दः ।

८. संपरायं णियच्छंति
अत्तदुक्कडकारिणो ।
रागदोसस्सिया बाला
पावं कुव्वंति ते बहुं ॥

सम्परायं नियच्छंति,
आर्त्तदुष्कृतकारिणः ।
रागदोषश्रिताः बालाः,
पापं कुर्वन्ति ते बहु ॥

८. विषय और कषाय से आर्त्त होकर हिंसा आदि दुष्कृत करने वाले मनुष्य[१५] संसार (जन्म-मरण)[१६] से वंध जाते हैं। वे राग-द्वेष के वशीभूत होकर वहुत पाप करते हैं।

९. एतं सकम्मविरियं
बालाणं तु पवेइयं।
एत्तो अकम्मविरियं
पंडियाणं सुणेह मे ॥

एतत् सकर्मवीर्यं,
बालानां तु प्रवेदितम् ।
इत अकर्मवीर्यं,
पंडितानां शृणुत मे ॥

९. यह वाल मनुष्यों का सकर्मवीर्य वतलाया गया है। अब पंडित मनुष्यों के अकर्मवीर्य को मुझसे सुनो।

१०. दविए बंधणुम्मुक्के
सव्वतो छिण्णबंधणे।
पणोल्ल पावगं कम्मं
सल्लं कंतति अंतसो।

द्रव्यो बन्धनोन्मुक्तः,
सर्वतः छिन्नबन्धनः ।
प्रणुद्य पापकं कर्म,
शल्यं कृन्तति अन्तशः ॥

१०. वीतराग की भांति आचरण करने वाला,[१७] कषाय के वंधन से मुक्त,[१८] प्रमाद या हिंसा में सर्वतः प्रवृत्त नहीं होने वाला मनुष्य[१९] पाप-कर्म को दूर कर संपूर्ण[२०] शल्य को काट देता है।

११. णेयाउयं सुयक्खातं
उवादाय समीहते।
भुज्जो भुज्जो दुहावासं
असुहत्तं तहा तहा ॥

नैर्यात्रिकं स्वाख्यातं,
उपादाय समीहते ।
भूयो भूयो दुःखावासं,
अशुभत्वं तथा तथा ॥

११. वह मोक्ष की ओर ले जाने वाले[२१] सु-आख्यात (धर्म) को[२२] पा चिन्तन करता है[२३]—प्राणी वार-वार दुःखमय आवासों को[२४] प्राप्त होता है। जैसा-जैसा कर्म होता है वैसा-वैसा अशुभ फलता है।[२५]

१२. ठाणी विविहठाणाणि
चइस्संति ण संसओ।
अणितिए अयं वासे
णातीहि य सुहीहि य ॥

स्थानिनः विविधस्थानानि,
त्यक्ष्यन्ति न संशयः ।
अनित्योऽयं वासः,
ज्ञातिभिश्च सुहृद्भिश्च ॥

१२. स्थानी (उच्च स्थान प्राप्त)[२६] अपने विविध स्थानों को छोड़ेंगे, इसमें कोई संशय नहीं है। ज्ञातिजनों और मित्रों के साथ यह वास नित्य नहीं है।

१३. एवमायाय मेहावी
अप्पणो गिद्धिमुद्धरे।
आरियं उवसंपज्जे
सव्वधम्ममकोवियं ॥

एवमादाय मेधावी,
आत्मनो गृद्धिमुद्धरेत् ।
आर्यं उपसंपद्येत,
सर्वधर्माऽकोपितम् ।

१३. ऐसा सोचकर मेधावी मनुष्य अपनी गृद्धि को छोड़ दे और सव धर्मों में निर्मल[२७] आर्यधर्म को स्वीकार करे।

१४. सहसंमइए णच्चा
धम्मसारं सुणेत्तु वा।
समुवट्ठिए अणगारे
पच्चक्खायपावए ॥

स्वसम्मत्या ज्ञात्वा,
धर्मसारं श्रुत्वा वा ।
समुपस्थितः अनगारः,
प्रत्याख्यातपापकः ॥

१४. धर्म के सार को अपनी मति से[२८] जान अथवा दूसरों से सुन, उसके आचरण के लिए उपस्थित हो, पाप का प्रत्याख्यान कर अनगार बन जाता है।[२९]

१५. जं किंचुवक्कमं जाणे
आउक्खेमस्स अप्पणो।
तस्सेव अंतरा खिप्पं
सिक्खं सिक्खेज्ज पंडिए ॥

यत् किञ्चिद् उपक्रमं जानीयात्,
आयुःक्षेमस्य आत्मनः ।
तस्यैव अन्तरा क्षिप्रं,
शिक्षां शिक्षेत पंडितः ॥

१५. पंडित अनगार अपने आयुक्षेम का[३०] जो कोई उपक्रम (विघ्न)[३१] जाने तो उस (आयुक्षेम) के अन्तराल में ही शीघ्रता से शिक्षा (संलेखना) का[३२] सेवन करे।

१६. जहा कुम्मे सअंगाइं
सए देहे समाहरे।
एवं पावेहिं अप्पाणं
अज्झप्पेण समाहरे ॥

यथा कूर्मः स्वाङ्गानि,
स्वे देहे समाहरेत् ।
एवं पापेभ्यः आत्मानं,
अध्यात्मनि समाहरेत् ॥

१६. जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है, इसी प्रकार पंडित पुरुष अपनी आत्मा को पापों से बचा अध्यात्म में[३३] ले जाए।

१७. साहरे हत्थपाए य
मणं सव्विदियाणि य।
पावगं च परीणामं
भासादोसं च पावगं॥

संहरेत् हस्तपादांश्च,
मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
पापकं च परीणामं,
भाषादोषं च पापकम्॥

१७. वह हाथ, पैर, मन, सब इन्द्रियों, बुरे परिणामों[३५] और भाषा के दोषों का संयम करे।

१८. अणु माणं च मायं च
तं परिण्णाय पंडिए।
सुतं मे इह मेगेसिं
एयं वीरस्स वीरियं॥

अनु मानं च मायां च,
तं परिज्ञाय पंडितः।
श्रुतं मे इह एकेषां,
एतद् वीरस्य वीर्यम्॥

१८. पंडित पुरुष कषाय के परिणामों को जानकर अणुमात्र भी मान[३६] और माया का आचरण न करे। मैंने तीर्थंकरों से यह सुना है कि यह वीर का वीर्य है।[३७]

१९. उड्ढमहे तिरियं दिसासु
जे पाणा तस थावरा।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा
संति णिव्वाणमाहितं॥

ऊर्ध्वं अधः तिर्यग् दिशासु,
ये प्राणाः त्रसाः स्थावराः।
सर्वत्र विरतिं कुर्यात्,
शान्तिर्निर्वाणमाहृतम्॥

१९. ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में जो कोई त्रस और स्थावर प्राणी हैं, सब अवस्थाओं में उनकी हिंसा से विरत रहे। (विरति ही) शांति है और शांति ही निर्वाण है।

२०. पाणे य णाइवाएज्जा
अदिण्णं पि य णातिए।
सातियं ण मुसं बूया
एस धम्मे वुसीमओ॥

प्राणांश्च नातिपातयेत्,
अदत्तमपि च नाददयात्।
साचिकं न मृषा ब्रूयात्,
एष धर्मः वृषीमतः॥

२०. प्राणियों का अतिपात न करे, अदत्त भी न ले, कपट-सहित[३८] झूठ न बोले। यह मुनि का[३९] धर्म है।

२१. अतिक्कमंति वायाए
मणसा वि ण पत्थए।
सव्वओ संवुडे दंते
आयाणं सुसमाहरे॥

अतिक्रममिति वाचा,
मनसाऽपि न प्रार्थयेत्।
सर्वतः संवृतो दान्तः,
आदानं सुसमाहरेत्॥

२१. महाव्रतों का वाणी से अतिक्रम न करे। मन से भी उनके अतिक्रम की इच्छा न करे। वह सब ओर से संवृत और दान्त होकर इन्द्रियों का संयम करे।[४१]

२२. कडं च कज्जमाणं च
आगमेस्सं च पावगं।
सव्वं तं णाणुजाणंति
आयगुत्ता जिइंदिया॥

कृतं च क्रियमाणं च,
आगमिष्यं च पापकम्।
सर्वं तत् नानुजानन्ति,
आत्मगुप्ताः जितेन्द्रियाः॥

२२. आत्मगुप्त[४२] और जितेन्द्रिय मुनि किए हुए, किए जाते हुए और किए जाने वाले उस समग्र पाप की अनुमति नहीं देते।

२३. जे याऽबुद्धा महाभागा
वीरा ऽसम्मत्तदंसिणो।
असुद्धं तेसिं परक्कंतं
सफलं होइ सव्वसो॥

ये च अबुद्धाः महाभागाः,
वीराः असम्यक्त्वदर्शिनः।
अशुद्धं तेषां पराक्रान्तं,
सफलं भवति सर्वशः॥

२३. जो अबुद्ध, महाभाग (महापूज्य), वीर (सकर्मवीर्य में अवस्थित) और असम्यक्त्वदर्शी हैं, उनका पराक्रम अशुद्ध और सर्वशः सफल (कर्मबंधयुक्त) होता है।

२४. जे उ बुद्धा महाभागा
वीरा सम्मत्तदंसिणो।
सुद्धं तेसिं परक्कंतं
अफलं होइ सव्वसो॥

ये तु बुद्धाः महाभागाः,
वीराः सम्यक्त्वदर्शिनः।
शुद्धं तेषां पराक्रान्तं,
अफलं भवति सर्वशः॥

२४. जो बुद्ध, महाभाग, वीर (अकर्मवीर्य में अवस्थित) और सम्यक्त्वदर्शी हैं, उनका पराक्रम शुद्ध और सर्वशः अफल (कर्मबंधमुक्त) होता है।[४३]

२५. तेसिं तु तवोसुद्धो
णिक्खंता जे महाकुला।
अवमाणिते परेणं तु।
ण सिलोगं वयंति ते॥

तेषां तु तपः शुद्धं,
निष्क्रान्ताः ये महाकुलात्।
अपमानिताः परेण तु,
न श्लोकं वदन्ति ते॥

२५. उनका तप शुद्ध होता है जो बड़े कुलों से अभि-निष्क्रमण कर मुनि बनते हैं और दूसरों के द्वारा अपमानित होने पर अपनी श्लाघा नहीं करते—अपने बड़प्पन का परिचय नहीं देते।[४४]

२६. अप्पपिंडासि पाणासि
अप्पं भासेज्ज सुव्वए।
खंतेऽभिणिव्वुडे दंते
वीतगेही सया जए॥

अल्पपिण्डाशिपानाशी,
अल्पं भाषेत सुव्रतः।
क्षान्तः अभिनिर्वृतो दान्तः,
वीतगृद्धिः सदा यतः॥

२६. सुव्रत पुरुष थोड़ा भोजन करे,[४५] थोड़ा जल पीए, थोड़ा बोले।[४६] सदा क्षमाशील, शांत,[४७] दांत और अनासक्त[४८] होकर संयम में रहे।

२७. झाणजोगं समाहट्टु
कायं वोसेज्ज सव्वसो।
तितिक्खं परमं णच्चा
आमोक्खाए परिव्वएज्जासि॥

ध्यानयोगं समाहृत्य,
कायं व्युत्सृज्य सर्वशः।
तितिक्षां परमां ज्ञात्वा,
आमोक्षाय परिव्रजेत्॥

२७. ध्यानयोग को[४९] सम्यग् स्वीकार कर सभी प्रकार से काया का व्युत्सर्ग करे।[५०] तितिक्षा (मोक्ष का) परम साधन है—यह जानकर जीवन पर्यन्त[५१] परिव्रजन (संयम की साधना) करे।

—त्ति बेमि॥

—इति ब्रवीमि॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन ८

श्लोक २ :

१. सुव्रत (तीर्थङ्कर) (सुव्वया)

चूर्णिकार ने 'सुव्रत' का अर्थ तीर्थङ्कर किया है।[1]

वृत्तिकार ने इसे संबोधन माना है।[2]

२. (कम्ममेव............अकम्मं वा)

कर्मवीर्य—कर्म और क्रिया—दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। आगम में कर्म के अनेक पर्यायवाची शब्द मिलते हैं, जैसे—उत्थान, कर्म, बल और वीर्य। इसका दूसरा अर्थ है— कर्मों के उदय से निष्पन्न शक्ति को कर्मवीर्य कहा जाता है। वह बालवीर्य है।[3]

अकर्मवीर्य—वीर्यान्तराय कर्म के क्षय से उत्पन्न सहज शक्ति को अकर्मवीर्य कहा जाता है। इसमें कर्म-बंधन नहीं होता और न यह कर्म-बंध में हेतुभूत ही होता है। यह पंडितवीर्य है।[4]

३. (एतेहिं दोहिं ठाणेहिं जेहिं.........)

यहां तृतीया विभक्ति के कारण व्याख्या में जटिलता उत्पन्न हुई है। चूर्णि में तृतीयान्त पाठ नहीं है। वहां 'एते एव दुवे ठाणा'—ऐसा पाठ उपलब्ध है।[5] इस पाठ से व्याख्या की जटिलता समाप्त हो जाती है। उत्तराध्ययन ५/२ में भी इसका संवादी पाठ उपलब्ध होता है—'संतिमेव दुवे ठाणा।'

श्लोक ३ :

४. (पमायं कम्ममाहंसु अप्पमाय तहावरं)

कर्मवीर्य को प्रमाद और अकर्मवीर्य को अप्रमाद कहा गया है। यह कथन कारण में कार्य का उपचार कर किया गया है।

५. (तब्भावादेसओ......पंडियमेव वा)

इसका अर्थ है—तद् भाव की अपेक्षा से। 'भाव' का अर्थ है—होने से और 'आदेश' का अर्थ है— कथन, व्यपदेश। अर्थात् इन दोनों चरणों (३, ४) का अर्थ होगा—कर्मवीर्य के तद्‌भाव की अपेक्षा से (प्रमाद की अपेक्षा से) मनुष्य 'बाल' और अकर्मवीर्य के तद्‌भाव की अपेक्षा से (अप्रमाद की अपेक्षा से) वह 'पंडित' कहलाता है।

अभव्य प्राणियों का बालवीर्य अनादि-अपर्यवसित होता है और भव्य प्राणियों का बालवीर्य अनादि-सपर्यवसित और सादि-सपर्यवसित—दोनों प्रकार का होता है।

---

१. चूर्णि, पृ० १६६ : सुव्रताः तीर्थकराः।

२. वृत्ति, पत्र १६८ : हे सुव्रता ! ।

३. (क) चूर्णि, पृ० १६६ : क्रिया कर्मेत्यनर्थान्तरम्। क्रिया हि वीर्यम्...........तस्सेगट्ठिया—उट्ठाणं ति वा कम्मं ति वा बलं ति वा वीरियं ति वा एगट्ठं...........अथवा यदिदमष्टप्रकारं कर्म तद्धि औदयिकभावनिष्पन्नं कर्मेत्यपदिश्यते, औदयिकोऽपि च भावः कर्मोदयनिष्पन्न एव बालवीरियं वुच्चति।

(ख) वृत्ति, पत्र १६८।

४. चूर्णि, पृ० १६६ : अकर्मवीर्यं तत्, तद्धि कर्मक्षयनिष्पन्नम्, न वा कर्म बध्यते, न वा कर्मणि हेतुभूतं भवति।

५. चूर्णि, पृ० १६६।

पंडित वीर्य सादि-सपर्यवसित ही होता है।[1]

६. श्लोक ३ :

प्रस्तुत आगम में कर्म और अकर्म का प्रयोग कई दृष्टियों से हुआ है। कर्म का एक अर्थ है—क्रिया और दूसरा अर्थ है—क्रिया से आकृष्ट होने वाले सूक्ष्म परमाणुओं का स्कंध। इसी आशय से १२।१५ में कहा गया है—बाल मनुष्य कर्म से कर्म को क्षीण नहीं करते, किन्तु धीर मनुष्य अकर्म से कर्म को क्षीण करते हैं।[2] प्रस्तुत अध्ययन के नौवें श्लोक में बतलाया गया है—बाल मनुष्यों के सकर्मवीर्य होता है और पण्डित मनुष्यों के अकर्मवीर्य होता है।[3] चूर्णिकार सकर्मवीर्य और बालवीर्य को एकार्थक तथा अकर्मवीर्य और पंडितवीर्य को एकार्थक मानते हैं।[4] अकर्म में भी वीर्य है, इसलिए उसका अर्थ निष्क्रियता या अकर्मण्यता नहीं है। अध्यात्म की भाषा में प्रमादयुक्त प्रवृत्ति को कर्म तथा अप्रमादयुक्त प्रवृत्ति को अकर्म कहा जाता है।

भगवान् महावीर से पूछा गया—'भंते ! जीव आत्मारंभ, परारंभ या उभयारंभ होता है या अणारंभ ?' भगवान् ने उत्तर दिया—'अप्रमत संयती न आत्मारंभ होता है, न परारंभ होता है, न उभयारंभ होता है किन्तु अनारंभ होता है। प्रमत्त संयती अशुभ योग की अपेक्षा आत्मारंभ और परारंभ होता है, अनारम्भ नहीं होता। शुभयोग की अपेक्षा वह आत्मारंभ और परारंभ नहीं होता, किन्तु अनारंभ होता है।[5]

यहां आरम्भ का अर्थ प्रवृत्ति, कर्म या हिंसा है और अनारंभ का अर्थ अप्रवृत्ति, अकर्म या अहिंसा है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसात्मक प्रवृत्ति अकर्म और हिंसात्मक प्रवृत्ति सकर्म हैं। इसलिए सूत्रकार ने प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा है।

चूर्णि में कहा गया है—जो कषाय से अप्रमत होता है वही अकर्मवीर होता है। उसी का वीर्य अकर्मवीर्य कहलाता है। प्रश्न होता है—अकर्म और वीर्य दोनों विरोधी हैं, फिर एक साथ कैसे ? जिस वीर्य से कर्म का बंध नहीं होता और जो वीर्य कर्म के उदय से निष्पन्न नहीं होता तथा जिससे कर्म का क्षय होता है, वह वीर्य अकर्मवीर्य कहलाता है।[6]

श्लोक ४ :

७. शस्त्र (या शास्त्र) (सत्थं)

इसके दो संस्कृत पर्याय होते हैं—शस्त्र और शास्त्र।

ये दोनों अनेक प्रकार के हैं। प्रस्तुत प्रसंग में वृत्तिकार ने धनुर्वेद, आयुर्वेद, दंडनीति, चाणक्यनीति, आदि शास्त्रों को सोदाहरण समझाया है।

धनुर्वेद में यह सिखाया जाता है कि बाण चलाते समय किस प्रकार आलीढ और प्रत्यालीढ होकर रहना चाहिए। जिसे मारना हो उसे मुट्ठी के छिद्र में से देखे। मुट्ठी के छिद्र में अपनी दृष्टि स्थिर कर बाण छोड़े। इस प्रकार बाण चलाने पर यदि

---

१. वृत्ति, पत्र १६८ : तब्भावादेसओ वावी ति तस्य—बालवीर्यस्य कर्मणश्च पण्डितवीर्यस्य वा भावः—सत्ता स तद्भावस्तेनाऽऽदेशो—व्यपदेशः ततः, तद्यथा—बालवीर्यमभव्यानामनादिअपर्यवसितं भव्यानामनादिसपर्यवसितं वा सादिसपर्यवसितं वेति, पण्डितवीर्यं तु सादिसपर्यवसितमेवेति।

२. सूयगडो, १।१२।१५ ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला, अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।

३. सूयगडो, १।८।९ एतं सकम्मविरियं बालाणं तु पवेइयं।
एत्तो अकम्मविरियं पंडियाणं सुणेह मे॥

४. चूर्णि, पृ० १६८ : सकर्मवीरियं ति वा बालवीरियं ति वा एगट्ठं।
अकम्मवीरियं ति वा पंडितवीरियं ति वा एगट्ठं ति॥

५. भगवई, १।३३,३४ : जीवा णं भंते ! किं आयारंभा ? परारंभा ? तदुभयारंभा ? अणारंभा ? गोयमा ! अत्थेगइया जीवा आयारंभा वि, परारंभा वि, तदुभयारंभा वि, णो अणारंभा।··· तत्थ णं जे ते अप्पमत्तसंजया ते णं नो आयारंभा नो परारंभा नो तदुभयारंभा, अणारंभा। तत्थ णं जे ते पमत्तसंजया ते सुहं जोगं पडुच्च नो आयारंभा, नो परारंभा, नो तदुभयारंभा, अणारंभा। असुभं जोगं पडुच्च आयारंभा वि परारंभा वि तदुभयारंभा वि नो अणारंभा।

६. सूयगडो, ८।१०, चूर्णि पृ० १६८ : कसायअप्पमत्तो वा स अकर्मवीरः, एवं चेव अकम्मवीरियं वुच्चति। कधं अकम्मवीरियं ? यतस्तेन कर्म न बध्यते, न च तत् कर्मोदयनिष्पन्नम्, येन कर्मक्षयं करोति तेन अकर्मवीर्यवान्।

अपना शिर न हिले तो लक्ष्य वींध लिया जाता है।

आयुर्वेद का कथन है कि क्षय रोग से ग्रस्त रोगी को लावक पक्षी का रस विधिपूर्वक दिया जाए और उसको अभयारिष्ट नामक मद्य विशेष का सेवन कराया जाए।

दंडनीति सिखाती है कि चोर आदि को अमुक प्रकार से शूली पर चढ़ाना चाहिए, पुरुष का शिरच्छेद इस प्रकार करना चाहिए।

चाणक्यनीति शास्त्र अर्थोपार्जन के लिए दूसरों को ठगने की अनेक विधियों का प्रतिपादन करता है।[1]

चूर्णि का अभिमत है कि कुछ लोग यह सीखते हैं कि अर्थी और प्रत्यर्थी को इस प्रकार दंड देना चाहिए। अपराधी और निर-पराधी को उसकी आंख और आकार से जान लेना चाहिए। अमुक अपराध में यह दंड होगा, जैसे—हाथ काटना, मृत्यु दण्ड आदि देना।[2]

८. बाधा पहुंचाने वाले (विहेडिणो)

चूर्णि में इसका अर्थ है—बाधा पहुंचाने वाले।[3]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—विविध प्रकार से बाधक ऋग् संस्थानीय मंत्र किया है।[4]

९. कुछ लोग····· मंत्रों का अध्ययन करते हैं (एगे मंते अहिज्जंते)

जो पुरुष-देवता से अधिष्ठित होता है उसे 'मंत्र' और जो स्त्री देवता से अधिष्ठित होता है उसे 'विद्या' कहा जाता है।

अथवा मंत्र वह होता है जिसके लिए कोई साधना नहीं करनी पड़ती। विद्या के लिए साधना अपेक्षित होती है।

मंत्र और विद्या के पांच-पांच प्रकार होते हैं—पार्थिव, वारुण, आग्नेय, वायव्य और मिश्र। मिश्र वह होता है जिसमें दो या तीन देवता अधिष्ठित होते हैं अथवा जिसमें विद्या और मंत्र—दोनों का मिश्रण होता है।[5]

चूर्णिकार और वृत्तिकार का अभिमत है कि कुछेक व्यक्ति अश्वमेध, पुरुषमेध और सर्वमेध यज्ञों के लिए अथर्ववेद के मंत्रों का अध्ययन करते हैं।[6]

श्लोक ५ :

१०. मायवी मनुष्य···माया का प्रयोग कर (माइणो कट्टु मायाओ)

मनुष्य दूसरों को ठगने के लिए चाणक्य नीति, कौटलीय अर्थशास्त्र, धनुशास्त्र आदि शास्त्रों का अध्ययन करते हैं। वणिक्

---

१. वृत्ति, पत्र १६९ : शस्त्रं—खड्गादिप्रहरणं शास्त्रं वा धनुर्वेदायुर्वेदादिकं प्राण्युपमर्दकारि·········तथाहि—तत्रोपदिश्यते एवंविध-मालीढप्रत्यालीढादिभिर्जीवे व्यापादयितव्ये स्थानं विधेयं,तदुक्तम्—

मुष्टिनाऽऽच्छादयेल्लक्ष्यं, मुष्टौ दृष्टिं निवेशयेत्।

हतं लक्ष्यं विजानीयाद्यदि मूर्धा न कम्पते॥१॥

—तथा एवं लावकरसः क्षयिणे देयोऽभयारिष्टाख्यो मद्यविशेषश्चेति, तथा एवं चौरादेः शूलारोपणादिको दण्डो विधेयः तथा चाणक्याभिप्रायेण परो वञ्चयितव्योऽर्थोपादानार्थं तथा कामशास्त्रादिकं चोद्यमेनाशुभाध्यवसायिनोऽधीयते, तदेवं शस्त्रस्य धनुर्वेदादेः शास्त्रस्य वा यदभ्यसनं तत्सर्वं बालवीर्यम्।

२. चूर्णि, पृष्ठ १६६ : एवं चार्थी प्रत्यर्थी वा दण्डयितव्यः, नेत्रागा(? का)रादिभिश्च कारी अकारी च ज्ञातव्यः, अमुकापराधे चायं दण्डो. हस्तच्छेद-मारणेत्यादि।

३ चूर्णि, पृ० १६६ : विहेडणं विबाधनं इत्यर्थः।

४. वृत्ति. पत्र १६९ : विविधम् अनेकप्रकारं हेठकान् बाधकान् ऋवसंस्थानीयान् मन्त्रान् पठन्तीति।

५. सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ९१, चूर्णि पृ० १६५ : तत्थ विज्जा इत्थी, मंतो पुरिसो। अधवा विज्जा ससाधणा, मंतो असाधणो। एक्केक्कं पंचविधं—पार्थिवं वारुण आग्नेयं वायव्वं मिश्रमिति। तत्थ मिस्सं जं दिण्ह तिण्ह वा देवताणं, अधवा विज्जाए मंतेण य, एताणि अधिदेवगाणि।

६. (क) चूर्णि, पृ० १६६ : अस्त्रमंते आभिचारुके अथर्वणे हृदयोण्डिकादीनि च अश्वमेधं सर्वमेव पुरुषमेधादि च मन्त्रानधीयते।

(ख) वृत्ति, पृ० १६९ : एके केचन पापोदयात् मन्त्रानभिचारकाना(ते)थर्वणानश्वमेधपुरुषमेधसर्वमेधाद्यिागार्थमधीयन्ते।

लोग रिश्वत, वंचना आदि के द्वारा धन कमाने की कला सीख जाते हैं। वे मायावी मनुष्य अपनी सीखी हुई माया से अर्थ का उपार्जन करते हैं और अभिलषित सावद्य कार्यों को संपन्न करते हैं।[1]

११. कामभोगों (धन) को (कामभोगे)

चूर्णिकार ने अर्थ को ही 'कामभोग' माना है। कामभोग कार्य है और अर्थ कारण। कारण में कार्य का उपचार कर यह अर्थ ग्रहण किया है।[2]

१२. प्राणियों का हनन·· करते हैं (हंता छेत्ता······)

मनुष्य धन का उपार्जन करने के लिए प्राणियों को मारता है, ग्राम-वध करता है, हरिणों की पूंछे काटता है, हाथियों के दांत उखाड़ता है।[3]

श्लोक ६ :

१३. (मणसा·········अंतसो)

मन, वचन, और काय—ये तीन योग हैं—कर्मवीर्य हैं। विकास-क्रम की दृष्टि से पहले काय योग, फिर वचन योग और फिर मनोयोग होता है। प्रवृत्ति की दृष्टि से पहले मनोयोग—मानसिक चिन्तन होता है, फिर वचन योग और अन्त में काय योग होता है।[4] प्रस्तुत श्लोक में प्रवृत्ति का क्रम सूचित किया गया है।

१४. स्वयं या दूसरे से (आरतो परतो)

चूर्णिकार ने 'आरतो' का अर्थ 'स्वयं' और परतो का अर्थ 'पर' किया है।[5]

श्लोक ७ :

१५. (वेराइं कुव्वइ······)

चूर्णिकार का आशय है कि एक व्यक्ति दूसरे को मारता है, बांधता है, दंडित करता है, देश-निकाला देता है, वह अनेक व्यक्तियों के साथ वैर बांधता है। जैसे चोर, पारदारिक, व्याजखोर आदि व्यक्ति अनेक व्यक्तियों से वैर का अनुबंध करते हैं।[6]

वृत्तिकार का अभिमत है कि जीवों का उपमर्दन करने वाला वैरी होती है। वह सैंकड़ों जन्मों तक चलने वाले वैर का बंध करता है। उस एक वैर के कारण वह अनेक दूसरे वैरों से सम्बन्धित होता है और उसकी वैर परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलने लगती है।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० १६७ : तेण चाणक्क-कोडिल्लं ईसत्थादी मायाओ अधिज्जंति जधा परो वंचेतव्वो। तहा वणियगादिणो य उक्कंचण-वंचणादीहिं अत्थं समज्जिणंति। लोभो तत्थेव ओतरेति, माणो वि। एवं मायिणो मायाहिं अत्थं उवज्जिणंति, यथेष्टानि सावद्यकार्याणि साधयन्ति।

२. चूर्णि, पृ० १६७ : कारणे कार्यवदुपचारः अर्थ एव कामभोगाः।

३ चूर्णि, पृ० १६७ : अर्थोपार्जनपरो निर्दय······ हंता गामादि, छेत्ता मियपुंच्छादि, पकत्तिया हत्थिदंतादि हत्यादि वा।

४. चूर्णि, पृ० १६९ : पढमं मणसा, पच्छा वायाए, अंतकाले काएण।

५. चूर्णि, पृ० १६७ : आरतो सयं, परतो अण्णेण।

६. चूर्णि, पृ० १६७ : स वैराणि कुरुते वैरी। ततो अण्णे मारेति, अण्णे बंधति, अण्णे दंडेत्ति, अण्णे णिव्विसए आणवेति, चोर-पारदारिय-चोपगादि बहुजणं वेरियं करेति।

७. वृत्ति, पत्र, १७० : वैरमस्यास्तीति वैरी, स जीवोपमर्द्दकारी जन्मशतानुबन्धीनि वैराणि करोति, ततोऽपि च वैरादपरैर्वैरैरनुरज्यते, संबध्यते, वैरपरम्परानुषङ्गी भवतीत्यर्थः।

श्लोक ८ :

१६. विषय और कषाय···करने वाले मनुष्य (अत्तदुक्कडकारिणो)

'अत्त' के संस्कृतरूप दो बनते हैं—आत्म और आर्त्त । आत्म का अर्थ है—स्व और आर्त्त का अर्थ है—पीड़ित । प्रस्तुत प्रसंग में 'आर्त्त' शब्द ही उपयुक्त लगता है । इस शब्द का अर्थ होगा—विषय और कषाय से आर्त्त होकर हिंसा आदि दुष्कृत करने वाले मनुष्य ।[1]

वृत्तिकार ने 'आत्मदुष्कृतकारिण:' मानकर, इसका अर्थ—स्वयं पाप करने वाला—किया है ।[2]

१७. संसार (जन्म-मरण) (संपरायं)

जैन आगमों में यह शब्द बहु प्रयुक्त है । इसका अर्थ है—संसार, जन्म-मरण ।

इसका एक सैद्धान्तिक अर्थ भी है । कर्म दो प्रकार का होता है—ईर्यापथ और सांपरायिक । यहां संपराय का अर्थ है—बादर कषाय । उनसे बंधने वाला कर्म सांपरायिक कहलाता है । वृत्तिकार ने इसी अर्थ को मुख्य मानकर व्याख्या की है ।[3] चूर्णिकार ने इसका अर्थ संसार दिया है ।[4]

प्रस्तुत प्रसंग में इसका 'संसार' अर्थ ही अधिक उपयुक्त लगता है ।

श्लोक १० :

१८. वीतराग की भांति आचरण करने वाला (दविए)

'द्रव्यं च भव्ये'—पाणिनी के इस कथन से द्रव्य का अर्थ है—भव्य प्राणी अर्थात् मुक्तिगमन योग्य प्राणी ।[5]

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अकषायी वीतराग अथवा वीतराग जैसा ।[6] प्रश्न होता है कि क्या सराग मनुष्य अकषायी हो सकता है ? इसके समाधान में कहा गया है कि जो कषायों का निग्रह करता है, वह भी अकषायी के तुल्य ही है ।[7]

१९. कषाय के बंधन से मुक्त (बंधणुम्मुक्के)

कषाय कर्म स्थिति के हेतुभूत होते हैं, अतः ये ही यथार्थ में बंधन हैं । कहा भी है—बंधट्ठिई कसायवसा—बंधन की स्थिति कषाय के अधीन है । अतः जो कषाय से मुक्त है वही बन्धन से उन्मुक्त है ।[8]

चूर्णिकार ने इसका अर्थ मुक्त सदृश किया है ।[9]

२०. प्रमाद या हिंसा····· होने वाला मनुष्य (छिण्णबंधणे)

हिंसा, प्रमाद, राग-द्वेष ये बंधन के हेतु हैं ।

---

१. चूर्णि, पृ० १६८ : आर्त्ता नाम विषय-कषायार्त्ता: । दुक्कडकारिणो दुक्कडाणि हिंसादीणि पावाणि कुर्वन्तीति दुक्कडकारिण: ।

२. वृत्ति, पत्र १७० : आत्मदुष्कृतकारिण: स्वपापविधायिन: ।

३. वृत्ति, पत्र १७० : द्विविधं कर्म—ईर्यापथं साम्परायिकं च, तत्र सम्परायाः—बादरकषायास्तेभ्य आगतं साम्परायिकम् ।

४. चूर्णि, पृ० १६८ : संपराग: संसार: ।

५. वृत्ति, पत्र १७० : द्रव्यो भव्यो मुक्तिगमनयोग्य: 'द्रव्यं च भव्यं' इति वचनात् ।

६. चूर्णि, पृ० १६८ : राग-द्दोसविमुक्को दविओ, वीतराग इत्यर्थ:, अथवा वीतराग इव वीतराग: ।

७. वृत्ति, पत्र १७० : द्रव्य: रागद्वेषविरहाद्वा द्रव्यभूतोऽकषायीत्यर्थ:, यदि वा वीतराग इव वीतरागोऽल्पकषाय इत्यर्थ: । तथा चोक्तम्—
किं सक्का वोत्तुं जे सरागधम्मंमि कोइ अकसायी ।
संतेवि जो कसाए निगिण्हइ सोऽवि तत्तुल्लो ॥१॥

८. वृत्ति, पत्र १७० : बन्धनात्—कषायात्मकान्मुक्त:, बन्धनोन्मुक्त:, बन्धनत्वं तु कषायाणां कर्मस्थितिहेतुत्वात्, तथा चोक्तम्—
बंधट्ठिई कसायवसा कषायवशात् इति ।

९. चूर्णि, पृ० १६८ : बन्धनेभ्यो मुक्तकल्प: पण्डितवीर्याचरणेभ्य: ।

कारण में कार्य का उपचार कर इन्हें ही बंधन माना गया है। जो इनमें प्रवृत्त नहीं होता, इनसे मुक्त है, वह 'छिन्न-बंधन' होता है।[1]

२१. सम्पूर्ण (अंतसो)

अंत का अर्थ है—संपूर्ण, निरवशेष।[2]

श्लोक ११ :

२२. मोक्ष की ओर ले जाने वाले (णेयाउयं)

इसका संस्कृत रूप है—नैर्यात्रिकं और अर्थ है—मोक्ष की ओर ले जाने वाला। टीकाओं में इसका संस्कृत रूप 'नैयायिकं' और अर्थ 'न्याय मार्ग' किया है।

२३. सु-आख्यात (धर्म) को (सुयक्खातं)

सु-आख्यात, अच्छी तरह से कहा हुआ। णेयाउयं और सुयक्खातं—ये दोनों धर्म के विशेषण हैं। बौद्ध साहित्य में भी स्वाख्यात धर्म का प्रयोग मिलता है। स्थानांग मे स्वाख्यात धर्म की व्याख्या प्राप्त है।[3]

देखें—१५।३ का टिप्पण।

२४. चिंतन करता है (समीहते)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की सम्यक् ईहा करना।[4]

वृत्तिकार ने समीहते का अर्थ—मोक्ष के लिए चेष्टा करना किया है।[5]

२५. दुःखमय आवासों को (दुहावासं)

विभिन्न प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख दुःखावास हैं। सकर्मवीर्य के कारण मनुष्य जन्म-मरण करता है और नरक आदि विभिन्न गतियों में जाता है। यह वास्तव में ही दुःखावास है।[6]

वृत्तिकार ने दुःख के कारणभूत बालवीर्य को दुःखावास माना है।[7]

२६. (असुहत्तं तहा तहा)

इसका अर्थ है—जैसा-जैसा कर्म होता है, वैसा-वैसा अशुभ फलता है।[8]

बालवीर्य वाला मनुष्य जैसे-जैसे नरक आदि दुःखावासों में भटकता है, वैसे-वैसे अशुभ अध्यवसाय के कारण उसके अशुभ कर्म ही बढ़ता है।[9]

---

१. चूर्णि, पृ० १६९ : ये पुनः प्रमादादयो हिंसादयः रागादयो वा तेषु कार्यवदुपचारादुच्यते—सव्वतो छिण्णबंधणे, न तेषु वर्त्तत इत्यर्थः।

२. चूर्णि, पृ० १६८ : अन्तसो त्ति यावदन्तोऽस्य, निरवशेष मित्यर्थः।

३. ठाणं, ३।५०७।

४. चूर्णि, पृ० १६८ : सम्यग् ईहते समीहते ध्यानेन। किं ध्यायते ? धम्मं सुक्कं च।

५. वृत्ति, पत्र १७१ : सम्यक् मोक्षाय ईहते चेष्टते ध्यानाध्ययनादावुद्यमं विधत्ते।

६. चूर्णि, पृ० १६८ : सकम्मवीरियदोसेण भूयो भूयो णरगादिसंसारे णाणाविधदुक्खवासे सारीरादीणि दुक्खाणि भुज्जो भुज्जो पावति।

७. वृत्ति. पत्र १७१ : दुःखमावासयतीति दुःखावासं (बालवीर्य) वर्तते।

८. चूर्णि, पृ० १६८ : यथा यथा कर्म तथा तथाऽशुभं फलति।

९. वृत्ति, पत्र १७१ : यथा यथा च बालवीर्यवान् नरकादिषु दुःखावासेषु पर्यटति तथा तथा चास्याशुभाध्यवसायित्वादशुभमेव प्रवर्धते।

श्लोक १२ :

२७. स्थानी (उच्च स्थान प्राप्त) (ठाणी)

चूर्णिकार ने 'स्थानी' का अर्थ देवलोक में होने वाले इन्द्र, सामानिक तथा त्रायस्त्रिंश आदि देव किया है। जिन्हें उच्चस्थान प्राप्त होता है, वे 'स्थानी' होते हैं। मनुष्यों में चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, मांडलिक और महामांडलिक आदि स्थानी होते हैं। तिर्यञ्चों में भी विशिष्ट तिर्यंच—हाथी, घोड़े आदि स्थानी होते हैं।[1]

पांतजल योगदर्शन में उच्चस्थान प्राप्त देवों के लिए 'स्थानी' शब्द का प्रयोग मिलता है।[2]

श्लोक १३ :

२८. निर्मल (अकोवियं)

कोपित का अर्थ है – दूषित, खोटे सिक्के जैसा दोषपूर्ण। अकोपित अर्थात् अदूषित, निर्मल।[3]

वृत्तिकार ने भी यही अर्थ किया है। उन्होंने विकल्प में 'अगोवियं' पाठ मानकर उसका अर्थ 'प्रकट' किया है।[4]

ठाणं ६।१३ में 'इंदियत्थविकोवणयाए' पाठ है। इन्द्रिय के विषय का विकोपन अर्थात् दूषण। इसका अर्थ है—कामविकार।[5]

श्लोक १४ :

२९. अपनी मति से (सहसंमइए)

इसके तीन रूप हैं—सहसन्मति, स्वसन्मति, स्वस्मृति।

कुछ व्यक्ति सहज मति या सहज स्मृति के द्वारा संबुद्ध होकर धर्म की आराधना में संलग्न हो जाते हैं। ऐसे पुरुष प्रत्येक-बुद्ध कहलाते हैं। नैसर्गिक सम्यग्दर्शन में भी विशिष्ट प्रकार की मति और श्रुत होता है। यह धर्म-प्राप्ति का पहला उपाय है। इसका दूसरा उपाय है—धर्मसार या श्रवण।[6]

३०. (समुवट्ठिए अणगारे············)

मनुष्य अपनी बुद्धि से या तीर्थंकर, गणधर या आचार्य आदि से धर्म के सार को सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण करता है। वह फिर उत्तरगुणों में पराक्रम करता है और पंडितवीर्य से पूर्वकृत कर्मों के क्षय के लिए प्रवृत्त होता है। वह क्रमशः गुणों का अर्जन करता हुआ आगे बढ़ता है। उसका परिणाम प्रवर्धमान रहता है। सभी पाप-प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान कर वह अपने लक्ष्य को पा लेता है।[7]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १६८ : स्थानान्येषां सन्तीति स्थानिनः। देवलोके तावदिन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंशाद्याः। मनुष्येष्वपि चक्रवर्त्ति-बलदेव-वासुदेव-मण्डलिक-महामण्डलिकादि। तिर्यक्ष्वपि यानीष्टानि।

(ख) वृत्ति, पत्र १७१ : स्थानानि विद्यन्ते येषां ते स्थानिनः, तद्यथा—देवलोके इन्द्रस्तत्सामानिकत्रायस्त्रिंशत्पार्षद्यादीनि मनुष्येष्वपि चक्रवर्तीबलदेववासुदेवमहामण्डलिकादीनि तिर्यक्ष्वपि यानि कानिचिदिष्टानि भोगभूम्यादौ स्थानानि।

२. पातंजल योग दर्शन ३।५१ : स्थान्युपनिमन्त्रणे संग ············।

भाष्य—तत्र मधुमतीं भूमिं साक्षात् कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवाः सत्त्वशुद्धिमनुपश्यन्तः············।

३. चूर्णि, पृ० १६४ : कोवितो णाम दूषितः, कूतकार्षापणवत्। अकोपिता नामा ण केहिं वि कोविज्जंति।

४. वृत्ति, पत्र १७१ : अकोपितो अदूषितः स्वमहिम्नैव दूषयितुमशक्यत्वात् प्रतिष्ठां गतः (तं), यदि वा—सर्वधर्मैः—स्वभावैरनुष्ठानरूपैरगोपितं—कुत्सितकर्त्तव्याभावात् प्रकटमित्यर्थः।

५. ठाणं, पृ० ८७५।

६. चूर्णि, पृ० १६६ : शोभना मतिः सन्मतिः, सहजाऽऽत्ममतिः सहसन्मतिः, स्वा वा मतिः सन्मतिः, सह सम्मतीए सहसम्मतिगं प्रत्येकबुद्धानाम्। निसर्गसम्यग्दर्शने वा पित्तज्वरोपशमनदृष्टान्तसामर्थ्याद् आभिणिबोधिय-सुयं उप्पाडेति।

७. वृत्ति, पत्र १७१, १७२।

श्लोक १५ :

३१. आयुक्षेम का (आउक्खेमस्स)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—आयुष्य का क्षेम अर्थात् शरीर का आरोग्य किया है।[1] वृत्तिकार ने इसका अर्थ केवल 'आयुष्य' ही किया है।[2]

३२. कोई उपक्रम (विघ्न) (किंचुवक्कमं)

यहां दो पदों 'किंचि' और 'उवक्कमं' में संधि की गई है।

उपक्रम का अर्थ है—आयुष्य-क्षय का उपाय।

चूर्णिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ—अनशन किया है। उसके तीन प्रकार बतलाए गए हैं—भक्तपरिज्ञा, इंगिनीमरण और प्रायोपगमन।[3]

३३. शिक्षा (संलेखना) का (सिक्खं)

यहां शिक्षा का अर्थ है—मरण-विधि, संलेखना-विधि।[4]

देखें—आयारो ८।१०५-१३०, गाथा १-२४।

श्लोक १६ :

३४. अध्यात्म में (अज्झप्पेण)

जो आत्मा से संबंधित है उसे अध्यात्म कहते हैं। ध्यान, स्वाध्याय, वैराग्य, एकाग्रता—ये सब अध्यात्म के प्रकार हैं।[5]

श्लोक १७ :

३५. बुरे परिणामों (पावगं च परीणामं)

निदान, इहलोक में सुख प्राप्ति की कामना—आदि पापमय परिणाम हैं।[6]

श्लोक १८ :

३६. अणुमात्र भी मान (अणु माणं············)

साधक संयम में पराक्रम करता है। उसके संयम से आकृष्ट होकर लोग उसकी पूजा करते हैं, फिर भी वह अहंभाव न लाए।

इसी प्रकार माया, क्रोध और लोभ का भी साधक विवर्जन करे। कषायों के स्वरूप को जानकर, उनके विपाकों का चिन्तन कर, साधक उनसे निवृत्त हो।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० १६६ : आयुषः क्षेममित्यारोग्यं शरीरस्य।

२. वृत्ति, पत्र १७२ : आयुः क्षेमस्य स्वायुष इति।

३. (क) चूर्णि पृ० १६६ : यत्किञ्चिदिति उपक्रमाद्वा अवाएण वा। अथवा तिविहो उवक्कमो भत्तपरिण्णा-इंगिणादि।
   (ख) वृत्ति, पत्र १७२ : उपक्रम्यते—संवर्त्यते क्षयमुपनीयते आयुर्येन स उपक्रमः।

४. चूर्णि, पृ० १६६ : संलेहणाविधि शिक्षेत्।

५. चूर्णि, पृ० १७० : आत्मानमधिकृत्य यत् प्रवर्त्तते तद् अध्यात्मम्, ध्यानं स्वाध्यायो वैराग्यं एकाग्रता इत्यादिनाऽध्यात्मेन।

६. (क) चूर्णि, पृ० १७० : पावगं च परीणामं ····· ·····णिदाणादि इहलोगासंसप्पयोगं च।
   (ख) वृत्ति, पत्र १७२ : पापकं परिणाममैहिकामुष्मिकाशंसारूपम्।

७. वृत्ति, पत्र १७२।

३७. यह वीर का वीर्य है (एयं वीरस्स वीरियं)

संलेखना, अध्यात्म द्वारा पाप का समाहरण, हाथ-पैर तथा इन्द्रियों का प्रतिसंहरण, मान और माया की परिज्ञा—यह वीर का वीर्य है। यह है—अकर्मवीर्य या पंडितवीर्य। इस वीर्य से सम्पन्न व्यक्ति ही वीर कहलाता है।[1]

श्लोक २० :

३८. कपट सहित (सातियं)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'सातियं' का शाब्दिक अर्थ 'आदिना सह' और उसका तात्पर्य 'माया सहित' किया है।[2]

हमने इसका संस्कृत रूप 'साचिक' किया है। संस्कृत कोष में साचि का अर्थ है—माया।[3] साधक माया सहित झूठ न बोले। झूठ और माया का अनिवार्य साहचर्य है। माया के बिना झूठ बोला नहीं जाता। यहां कपटपूर्वक झूठ बोलने का प्रतिषेध है।[4]

३९. मुनि का (वुसीमओ)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ वसुमान किया है।[5] वसु का अर्थ है—धन। मुनि के पास ज्ञान आदि का धन होता है, इसलिए वह वसुमान कहलाता है। किन्तु 'वुसीम' का यह अर्थ संगत नहीं लगता। यह अर्थ 'वसुम' शब्द का हो सकता है। आचारांग (१।१७४) में 'वसुम' शब्द का प्रयोग उपलब्ध है।

वृत्तिकार ने 'वुसीम' को छान्दस् प्रयोग मानकर इसका अर्थ वसुमान किया है, जो चूर्णि सम्मत है। इसका वैकल्पिक अर्थ वश्य (इन्द्रियजयी) किया है। शाब्दिक दृष्टि से वश्य भी संगत नहीं है।[6]

'वुसीम का संस्कृत रूप 'वृषीमत्' उपयुक्त लगता है। वृषि संन्यासी का उपकरण है, इसलिए वृषीमान् का अर्थ संन्यासी हो सकता है। यहां 'एस धम्मे वुसीमओ'—यह मुनि का धर्म है' यह अर्थ स्वाभाविक है।

बौद्ध साहित्य में 'वसी' के पांच प्रकार निर्दिष्ट हैं— (१) आवज्जनावसी (२) संपज्जनावसी (३) अधित्थानवसी (४) वुत्थानवसी (५) पच्चवेक्खनवसी।[7]

हो सकता है 'वुसीम' का यही अर्थ रहा हो और उच्चारण भेद से 'वसी' का स्थान 'वुसी' ने ले लिया हो।

श्लोक २१ :

४०. अतिक्रम (अतिक्कमंति)

वृत्तिकार ने अतिक्रम के तीन अर्थ किए हैं[8]—

१. प्राणियों को पीड़ा देना।

---

१. चूर्णि, पृ० १७०।

२. (क) चूर्णि, पृ० १७१ : सादियं णाम माया, सादिना योगः, सादियोगः, सह आतिना सातियं।
 (ख) वृत्ति, पत्र १७३ : सहादिना—मायया वर्त्तत इति सादिकं—समायम्।

३. संस्कृत-इंग्लिश कोष, मोनियर मोनियर विलियम्स्-देखें—'साचि' शब्द।

४. (क) चूर्णि पृ० १७१ : न हि मृषावादो मायामन्तरेण भवति, स चोवकंचण-वंचण-कूडतुलादिसु भवति, सातियोगसहितो मुसावादो भवति, स च प्रतिषिध्यते, अन्यथा तु 'न मृगान् पश्यामि ण य वल्लिकाइयेसु समुद्दिस्सामो' एवमादि ब्रूयात्, येनात्र परो वञ्च्यते तत् प्रतिषिध्यते, कोध-माण-माया-लोभसहितं वचः।
 (ख) वृत्ति, पत्र १७३।

५. चूर्णि पृ० १७१ : वुसिमतां वसूनि ज्ञानादीनि।

६. वृत्ति पत्र १७३। 'वुसीमउ' त्ति छान्दसत्वात्, निर्देशार्थस्त्वयं वसूनि ज्ञानादीनि तद्वतो ज्ञानादिमत इत्यर्थः, यदि वा—वुसीमउत्ति वश्यस्य—आत्मवशगस्य—वश्येन्द्रियस्येत्यर्थः।

७. पटिसंभिदा १।९७-१००।

८. वृत्ति, पत्र १७३ : प्राणिनामतिक्रमं—पीडात्मकं महाव्रतातिक्रमं वा मनोऽवष्टब्धतया परतिरस्कारं वा इत्येवम्भूतमतिक्रमम्।

२. महाव्रतों का उल्लंघन करना।

३. मन में अहंभाव लाकर दूसरों का तिरस्कार करना।

४१. इन्द्रियों का संयम करे (आयाणं सुसमाहरे)

'आदान' का अर्थ है—इन्द्रियां। जिनके द्वारा विषय का ग्रहण होता है, वह आदान कहलाता है। 'सुसमाहरे' का अर्थ है—भली भांति संयम करना।

वृत्तिकार का अर्थ भिन्न है। उन्होंने मोक्ष के उपादन कारण सम्यग्दर्शन आदि को आदान माना है और 'सुसमाहर' का अर्थ—ग्रहण करना किया है।[1]

श्लोक २२ :

४२. आत्मगुप्त (आयगुत्ता)

अपने आप में रहने वाला व्यक्ति आत्मगुप्त होता है। जिसने अपने मन, वचन और काया को गुप्त कर लिया है वह आत्मगुप्त है।[2]

श्लोक २३, २४ :

४३. श्लोक २३, २४ :

साधना के क्षेत्र में दो प्रकार के पुरुष होते हैं—

१. अबुद्ध और असम्यक्त्वदर्शी।

२. बुद्ध और सम्यक्त्वदर्शी।

ये दोनों ही वीर होते हैं। अबुद्ध पुरुष सकर्म वीर्य में वर्तमान होते हैं और बुद्ध पुरुष अकर्मवीर्य में वर्तमान होते है। ये दोनों ही पराक्रम करते हैं। अबुद्ध पुरुष सकर्मवीर्य से भावित होकर पराक्रम करते हैं, इसलिए उनका पराक्रम अशुद्ध और सफल—कर्मबंधयुक्त होता है। बुद्ध पुरुष अकर्मवीर्य से भावित होकर पराक्रम करते हैं, इसलिए उनका पराक्रम शुद्ध और अफल—कर्मबंध-मुक्त होता है।

ये दोनों श्लोक सकर्मवीर्य और अकर्मवीर्य के उपसंहारवाक्य हैं। इनमें यह प्रतिपादित किया गया है कि पराक्रम प्रत्येक मनुष्य करता है। अबुद्ध या अज्ञानी मनुष्य भी करता है तथा बुद्ध या ज्ञानी मनुष्य भी करता है। पराक्रम अपने रूप में पराक्रम मात्र है। उसमें कोई अन्तर नहीं होता। अन्तर डालने वाले दो तत्त्व हैं—ज्ञान और दृष्टि। अज्ञान और असम्यक्दृष्टि से भावित मनुष्य का पराक्रम अशुद्ध और सफल होता है। अशुद्ध का अर्थ है कि वह शल्य, गौरव, कषाय आदि दोषों से युक्त होता है और सफल का अर्थ है कि वह शल्य आदि दोषों से युक्त होने क कारण कर्मबंध का हेतु भी बनता है। ज्ञान और सम्यक्दृष्टि से भावित मनुष्य का पराक्रम शुद्ध और अफल होता है। शुद्ध का अर्थ है कि वह शल्य, गौरव, कषाय आदि दोषों से मुक्त होता है और अफल का अर्थ है कि वह शल्य आदि दोषों से मुक्त होने के कारण संयममय होता है। संयम का फल है अनास्रव—कर्मबंध न होना।

असम्यक्त्वदर्शी के पराक्रम को अशुद्ध और सफल कहने का तात्पर्य शल्य आदि दोषों से युक्त पराक्रम की, साधना की दृष्टि से, अवांछनीयता प्रदर्शित करना है।

प्रस्तुत सूत्र के दूसरे अध्ययन में इसका समर्थन-सूत्र मिलता है—

'जइ वि य णिगिणे किसे चरे, जइ विय भुंजिय मासमंतसो
जे इह मायादि मिज्जई, आगन्ता गब्भादणंतसो ॥
(सूयगडो १।२।९)

१. वृत्ति पत्र १७३ : मोक्षस्य आदानम् उपादानं सम्यग्दर्शनादिकं सुष्ठूद्युक्तः सम्यग्विस्रोतसिकारहितः 'आहरेत्' आददीत—गृह्णीयादित्यर्थः।

२. (क) चूर्णि पृ० १७१ : आत्मनि आत्मसु वा गुप्ता।

(ख) वृत्ति, पत्र १७४ : आत्माऽकुशलमनोवाक्कायनिरोधेन गुप्तो येषां ते तथा।

—यद्यपि कोई भिक्षु नग्न रहता है, देह को कृश करता है और मास-मास के अन्त में एक बार खाता है फिर भी माया आदि से परिपूर्ण होने के कारण वह अनन्त बार जन्म-मरण करता है।

योगवासिष्ठ में इसी आशय का एक श्लोक मिलता है[1]—

'वासनामात्रसारत्वात्, अज्ञस्य सफलाः क्रियाः।
सर्वा एवाफला ज्ञस्य, वासनामात्रसंक्षयात् ॥

—अज्ञानी मनुष्य की क्रिया का सार वासनामात्र होता है, इसलिए वह सफल होती है और ज्ञानी मनुष्य के वासनामात्र का क्षय हो जाता है, इसलिए उसकी क्रिया अफल होती है।

चूर्णि के आधार पर इन दोनों श्लोकों का प्रतिपाद्य यह है—अबुद्ध और असम्यक्त्वदर्शी का पराक्रम कषाय आदि दोषों से युक्त होने के कारण अशुद्ध होता है।[2] बुद्ध और सम्यक्त्वदर्शी का पराक्रम कषाय आदि दोषों से मुक्त होने के कारण शुद्ध होता है।[3]

समीक्षात्मक दृष्टिकोण से यह कहना उचित होगा कि इहलौकिक और पारलौकिक सुखों की आकांक्षा तथा पूजा-श्लाघा के लिए किया जाने वाला पराक्रम साधना की दृष्टि से अवांछनीय है और केवल निर्जरा के लिए किया जाने वाला पराक्रम वांछनीय है। असम्यक्त्वदर्शी निर्जरा के लिए कुछ भी नहीं करता और सम्यक्त्वदर्शी सब कुछ निर्जरा के लिए ही करता है, यह इसका प्रतिपाद्य नहीं है।

श्लोक २५ :

४४. श्लोक २५ :

चूर्णि और वृत्ति में यह श्लोक भिन्न प्रकार से व्याख्यात है। दोनों के स्वीकृत पाठ में भी अन्तर है।

चूर्णि के अनुसार इस श्लोक की व्याख्या इस प्रकार है[4]—

'जो जैसा कहते हैं वैसा करते हैं, जो ईक्ष्वाकु आदि प्रधान कुलों में उत्पन्न हैं, अथवा जो सामान्य कुलों में उत्पन्न होकर भी विद्या, तपस्या और पराक्रम से महान हैं, वे अभिनिष्क्रमण कर साधना अवस्था में दूसरे द्वारा अपमानित होने पर भी श्लाघा नहीं करते—ऐसा नहीं कहते कि मैं अमुक राजा था, अमुक शेठ था। वे पूजा सत्कार और श्लाघा के लिए अपने कुल की प्रशंसा नहीं करते, उनका तप शुद्ध होता है।'

वृत्ति के अनुसार यह श्लोक और इसकी व्याख्या इस प्रकार है—

'तेसिं पि तवोऽसुद्धो, निक्खंता ये महाकुला।
जं नेवन्ने वियाणंति, न सिलोगं पवेज्जए ॥

—जो लोकविश्रुत ईक्ष्वाकु आदि महान कुलों से प्रव्रज्या के लिए अभिनिष्क्रमण करते हैं, उनका भी तप अशुद्ध होता है, यदि वह पूजा-सत्कार पाने के लिए किया जाता है या अपने कुल की प्रशंसा के निमित्त किया जाता है। उसको तपस्या इस प्रकार से करनी चाहिए कि दूसरे उसे जान न सकें। वह अपनी श्लाघा भी न करे—'मैं पहले उत्तम कुल में उत्पन्न या धनवान् था, अब तप से अपने शरीर को तपाने वाला तपस्वी हूं।' वह अपनी प्रशंसा स्वयं न करे।[5]

---

१. योगवासिष्ठ ६।१।८७।१८।

२. चूर्णि, पृ० १७२ : पूया-सक्कारणिमित्तं विज्जाओ णिमित्ताणि य पयुंजमाणा तपांसि च प्रकाशानि प्रकुर्वन्ति तेषां बालानां यत् किञ्चिदपि पराक्रान्तं तदशुद्धम् भावोपहतत्वाद् नवकेनापि भेदेन अज्ञानदोषाच्च। एवमादिभिर्दोषैः अशुद्धं नाम यथोक्तैर्दोषैः, पराक्रान्तं चरितं चेष्टितमित्यर्थः, कुवैद्यचिकित्सावत्।

३. चूर्णि, पृ० १७२ : तेसिं भगवंताणं सुद्धं तेसिं परक्कंतं, शुद्धं नाम निरुवरोधं, सल्ल-गारव-कसायादिदोसपरिशुद्धं अनुपरोधकृद् भूतानाम्।

४. चूर्णि, पृ० १७२।

५. वृत्ति, पत्र १७५।

श्लोक २६ :

४५. थोड़ा भोजन करे (अप्पपिंडासि)

'अल्प' शब्द के दो अर्थ हैं—'थोड़ा' और निषेध। यहां अल्प शब्द थोड़े के अर्थ में प्रयुक्त है। चूर्णिकार ने 'अप्पपिंडासि' के दो अर्थ किए हैं—थोड़ा खाने वाला अथवा अपूर्ण खाने वाला। जो पुरुष कुक्कुट के अंडे के प्रमाण जितने बतीस कवल खाता है वह संपूर्ण आहार वाला कहा जाता है। जो इससे एक कवल या एक सिक्त भी कम खाता है वह 'अप्पपिंडासि' है, अपूर्णभोजी है। जो उक्त प्रमाण वाले आठ कवल खाता है वह अल्पाहारी, जो बारह कवल खाता है वह अर्द्ध अवमोदरिक, जो सोलह कवल खाता है वह २/३ भोजन करने वाला, जो चउवीस कवल खाता है वह अवमोदरिक, जो तीस कवल खाता है वह संपूर्ण भोजन करने वाला होता है।[1]

४६. थोड़ा बोले (अप्पं भासेज्ज)

थोड़ा बोले अर्थात् अनर्थदंडकथा न करे, परिमित और हितकारी वचन कहे।[2] कहा है—

थोवाहारो थोवभणिओ अ जो होइ थोवनिद्दो य।
थोवोवहिउवकरणो तस्स हु देवावि पणमंति॥[3]

—जो थोड़ा खाता है, थोड़ा बोलता है, थोड़ी नींद लेता है, और थोड़े उपधि और उपकरण रखता है, उसको देवता भी नमस्कार करते हैं।

४७. शान्त (अभिणिव्वुडे)

अभिनिर्वृत वह होता है जो शान्त है।[4] जो लोभ आदि को जीत कर अनातुर हो जाता है वह अभिनिर्वृत कहलाता है।[5] कषायों की शांति ही वास्तव में शांति है। कहा है—

कषाया यस्य नोच्छिन्ना, यस्य नात्मवशं मनः।
इन्द्रियाणि न गुप्तानि, प्रव्रज्या तस्य जीवनम्॥

—जिसने कषायों का उच्छेद नहीं किया, जिसने मन पर अधिकार नहीं किया, जिसकी इन्द्रियां गुप्त नहीं हैं, उसकी प्रव्रज्या केवल आजीविका है।[6]

४८. अनासक्त (वीतगेही)

चूर्णिकार के अनुसार तपस्या में निदान आदि न करने वाला विगतगृद्धि कहलाता है।[7]

वृत्तिकार के अनुसार इन्द्रिय-विषयों के प्रति जिसकी आसक्ति मिट जाती है वह वीतगृद्धि कहलाता है।[8]

देखें—६।२५ में 'विगतगेही' का टिप्पण।

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १७२, १७३ : अप्पं पिण्डमश्नातीति अप्पपिंडासी, असंपुण्णं वा एवं पाणं पि। अट्ठ कुक्कुडिअंडगपमाणमेत्ते कवले आहारमाहारेमाणे अप्पाहारे, दुवालस अद्धोमोदरिया, सोलस दुभागपत्तं, चउव्वीसं ओमोदरिया, तीसं पमाणपत्ते, बत्तीसं कवला संपुण्णाहारो. एत्तो एकेणावि ऊणं जाव एक्कगासेण एगसित्थेण वा।
(ख) वृत्ति, पत्र १७५।

२. चूर्णि, पृ० १७३ : अप्पं भासेज्ज त्ति अनर्थदण्डकथां न कुर्यात्, कारणेऽपि च नोच्चैः।

३. ओघनिर्युक्ति, गाथा १२६५।

४. चूर्णि पृ० १७३ : अभिणिव्वुडो णाम निर्वृतीभूतः शीतीभूतो।

५. वृत्ति, पत्र १७५ : अभिनिर्वृतो लोभादिजयान्निरातुरः।

६. वृत्ति, पत्र १७५।

७. चूर्णि, पृ० १७३ : तवसा य विगतगेधी णिदाणादिसु गेधिविप्पमुक्के य।

८. वृत्ति, पत्र १७५ : विगता गृद्धिर्विषयेषु यस्य स विगतगृद्धिः—आशंसादोषरहितः।

श्लोक २७ :

४६. ध्यान-योग को (झाणजोगं)

भावनायोग, ध्यानयोग, तपोयोग आदि अनेक प्रकार के योग हैं। ध्यान के द्वारा होने वाली योग-प्रवृत्ति ध्यान योग है। चित्त का एक धारावाही होना एकाग्रता है और उसका विकल्पशून्य हो जाना निरोध है। एकाग्रता और निरोध—ये दोनों ध्यान है।[1] ध्यान तीन प्रकार का है—मानसिक ध्यान, वाचिक ध्यान और कायिक ध्यान। इसे ध्यानयोग कहा जाता है।[2]

५०. काया का व्युत्सर्ग करे (कायं वोसेज्ज)

इसका अर्थ है— देहासक्ति और दैहिक प्रवृत्ति का विसर्जन करना।

५१. जीवन पर्यन्त (आमोक्खाए)

आमोक्ष के दो अर्थ हैं[3]—

१. जब तक मोक्ष प्राप्त न हो तब तक।

२. जब तक शरीर न छूटे तब तक।

---

१. जैन सिद्धान्त दीपिका, ६।४१ : एकाग्रे मनःसन्निवेशनं योगनिरोधो वा ध्यानम्।

२. ध्यानशतक, श्लोक ३७, वृत्ति : 'जो जत्थ समाहाणं होज्ज मणोवयणकायजोगाणं।'............आह—मनोयोगसमाधानमस्तु, वाक्काययोगसमाधानं तत्र क्वोपयुज्यते, न हि तन्मयं ध्यानं भवति ? अत्रोच्यते—तत्समाधानं तावन्मनोयोगोपकारकम्, ध्यानमपि च तदात्मकं भवत्येव। यथोक्तम्—
'एवंविहा गिरा मे वत्तव्वा एरिसी न वत्तव्वा।
इय वेयालियवक्कस्स भासओ वाइगं झाणं॥'
'तथा—सुसमाहियकर-पायस्स अकज्जे कारणंमि जयणाए।
किरियाकरणं जं तं काइयझाणं भवे जइणो॥'

३. चूर्णि, पृ० १७२ : आमोक्षायेति यावन्मोक्षगमनं ताव............शरीरमोक्खो वा।

नवमं अज्झयणं

धम्मो

नौवां अध्ययन

धर्म

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'धर्म' है। इसमें ३६ श्लोक हैं और इनमें श्रमण के मूलगुण तथा उत्तरगुणों की विशद चर्चा है। धर्म क्या है और उसकी प्राप्ति के क्या-क्या उपाय है ? लौकिक धर्म और लोकोत्तर धर्म की क्या व्याख्या है ? विभिन्न लोग धर्म की विभिन्न परिभाषाएं करते हैं। उनमें कौन सी परिभाषा धर्म की कसौटी पर खरी उतरती है। आदि-आदि प्रश्नों का इन श्लोकों में समुचित समाधान दिया गया है।

निर्युक्तिकार के अनुसार प्रस्तुत अध्ययन का प्रतिपाद्य है—भावधर्म। यही भावसमाधि है और यही भावमार्ग है।[1] प्रस्तुत आगम के दसवें अध्ययन का नाम 'समाधि' और ग्यारहवें अध्ययन का नाम 'मार्ग' है। इस प्रकार तीनों अध्ययन (९-११) परस्पर संबंधित हैं। भावधर्म के दो भेद हैं—श्रुतधर्म और चारित्रधर्म। चारित्रधर्म के दस भेद हैं—क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव, मार्दव आदि। भावसमाधि के भी ये ही भेद हैं। समाधि का शाब्दिक अर्थ है—आत्मा में क्षान्ति आदि गुणों का सम्यक् आरोपण करना। इसलिए भावधर्म और भावसमाधि में कोई अन्तर नहीं है। ज्ञान, दर्शन और चारित्र—ये तीनों मोक्ष के मार्ग हैं। यही भावमार्ग है। समानता की इस पृष्ठभूमि पर तीनों—धर्म, समाधि और मार्ग—एक हो जाते हैं।[2]

निर्युक्तिकार ने प्रस्तुत अध्ययन की निर्युक्तिगाथा (९२) में 'धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो' का प्रयोग किया है। वृत्तिकार ने पूर्व शब्द से दशवैकालिक की सूचना दी है। दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन का नाम है 'क्षुल्लकाचारकथा' और छठे अध्ययन का नाम है 'महाचारकथा'। दोनों में मुनि के आचार-धर्म का निरूपण है। तीसरे अध्ययन का निरूपण संक्षेप में है और छठे अध्ययन का निरूपण विस्तार से हैं। दशवैकालिक के छठे अध्ययन का नाम 'धर्मार्थकाम' भी है। उसकी निर्युक्ति में धर्म की व्याख्या की गई है, वह यहां ज्ञातव्य है।[3] प्रस्तुत अध्ययन का अधिकार है—भावधर्म।

धर्म का अर्थ है—स्वभाव। चेतन का अपना स्वभाव है और अचेतन का अपना स्वभाव है। चेतन का स्वभाव है उपयोग। इसी प्रकार अचेतन का अपना स्वभाव होता है। जैसे :—

धर्मास्तिकाय का स्वभाव है, गति। यह उसका धर्म है।

अधर्मास्तिकाय का स्वभाव है स्थिति। यह उसका धर्म है।

आकाशास्तिकाय का स्वभाव है अवगाहन। यह उसका धर्म है।[4]

पुद्गलास्तिकाय का स्वभाव है ग्रहण। यह उसका धर्म है।

मिश्र द्रव्यों (दूध ओर पानी) का अपना स्वभाव होता है। उनका परिणमन शीतल होता है। इसी प्रकार गृहस्थों के जो कुलधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि हैं, वे सब स्वभाव और व्यवहार की ओर निर्देश करते हैं। जिस द्रव्य के दान से धर्म होता है, उस क्रिया में कार्य का उपचार कर देय द्रव्य को दान धर्म कह दिया जाता है। ये सारे द्रव्य धर्म के निर्देश हैं।[5]

भावधर्म के दो भेद हैं—लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक धर्म दो प्रकार का है—

१. गृहस्थों का धर्म। यहां धर्म शब्द कर्त्तव्य, व्यवहार के अर्थ में प्रयुक्त है।

२. पाषंडियों का धर्म। यहां धर्म शब्द क्रियाकांड के लिए प्रयुक्त है।

---

१. निर्युक्ति, गाथा ९२ : धम्मो पुव्वुद्दिट्ठो भावधम्मेण एत्थ अधिकारो।
एसेव होति धम्मो एसेव समाधिमग्गो त्ति॥

२. वृत्ति, पत्र १७६।

३. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा २४६-२६६।

४. उत्तराध्ययन २८।९ : गइलक्खणो उ धम्मो अहम्मो ठाणलक्खणा।
भायणं सव्वदव्वाणं नहं अवगाहलक्खणं॥

५. चूर्णि, पृ० १७४।

लोकोत्तर धर्म तीन प्रकार का है— ज्ञान, दर्शन और चारित्र । लोकोत्तर चारित्रधर्म की व्याख्या के प्रसंग में चूर्णिकार ने पांच प्रकार का चारित्र (सामायिक चारित्र आदि) अथवा महाव्रत, अथवा चातुर्याम धर्म अथवा पांच महाव्रत और रात्रीभोजनविरमण व्रत— इस प्रकार के प्रशस्त भावधर्म का ग्रहण किया है ।[1]

वृत्तिकार ने केवल पांच प्रकार के चारित्र का ही ग्रहण किया है ।[2]

निर्युक्तिकार ने बतलाया है कि प्रशस्तधर्म की आराधना करने वाले श्रमण पार्श्वस्थ, अवसन्न और कुशील श्रमणों के साथ संस्तव न करें, उनके साथ न रहें ।[3] चूर्णि के अनुसार उन्हें न कुछ दान दें और न उनसे कुछ ग्रहण करे ।[4]

प्रस्तुत अध्ययन के दूसरे श्लोक की व्याख्या में चूर्णिकार ने विभिन्न जातीय मनुष्यों की धर्म विषयक मान्यता का उल्लेख किया है—

१. ब्राह्मण या श्रावक, क्षत्रिय और वैश्य— हवन आदि क्रिया में धर्म मानते थे ।

२. चांडाल— ये भी कहते हम भी धर्म क्रिया में अवस्थित हैं, क्योंकि हम खेती आदि क्रिया नहीं करते ।

४. ऐषिक— हस्तितापस आदि भी यही कहते कि हम एक हाथी को मारकर अनेक महीनों तक उसका मांस-भक्षण करते हुए, शेष जीवों को नहीं मारते— यह हमारा धर्म है ।

५. वैशिक— इसके दो अर्थ हैं— वणिक् अथवा वैश्या ।

वणिक् कहते हैं— हम अपने-अपने कौशल से आजीविका का उपार्जन करते हैं, यह हमारा धर्म है ।

वेश्याएं कहती हैं— हम अपनी मर्यादा का पालन करती हैं, यह हमारा धर्म है ।

६. शूद्र— ये कहते हम अपने कुटुम्ब का भरण-पोषण करते हैं । यह हमारा धर्म है ।[5]

चौथे श्लोक में तत्कालीन प्रचलित कुछेक परंपराओं का उल्लेख है । चूर्णिकार और वृत्तिकार ने उनका वर्णन किया है । शव का अग्निसंस्कार करना, जलांजलि देना, पितृपिण्ड देना आदि मरणोपरान्त कार्य अनेक धर्म-परम्पराओं में मान्य थे ।[6] कुछेक लोग मरनेवाले के उपलक्ष में भैंस, बकरी आदि की बलि भी देते थे ।[7]

द्यूत के प्रकारों की जानकारी देने के लिए सतरहवें श्लोक में दो शब्दों— अष्टापद और वेध तथा अठाहरवें श्लोक में नालिका शब्द का प्रयोग हुआ है ।

बारहवें श्लोक में प्रयुक्त 'सिरोवेधे' (सिरावेधे) शब्द चिकित्सा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है । चिकित्सा-शास्त्र में अनेक सिराओं— नाड़ियों का वेधन करना विहित है । यह 'नाड़ीवेधन' कला का द्योतक है । वर्तमान में 'एक्यूपंक्चर के नाम से यह चिकित्सा पद्धति चीन और जापान में प्रचलित है ।

प्रस्तुत अध्ययन में श्लोक-विभागगत वर्ण्यविषय इस प्रकार है—

---

१. चूर्णि, पृ० १७४ ।

२. वृत्ति, पत्र १७६ : चारित्रमपि सामायिकादि भेदात् पञ्चधैव ।

३. निर्युक्ति गाथा ९५ : पासत्थोसण्ण-कुशीलसंथवो ण किर वट्टते कातुं ।

४. चूर्णि, पृ० १७४ : पासत्थोसण्णादीहिं दाण-ग्गहणं ण कायव्वं संसग्गी वा ।

५. चूर्णि, पृ० १७५ : माहणा मरुगा सावगा वा । खत्तिया उग्गा भोग्गा राइण्णा इक्खागा राजानस्तदाश्रयिणश्च । अथवा क्षतेन धर्मेण जीवन्त इति क्षत्रियाः । वैश्याः सुवर्णकारादयः, ते हि हवनादिभिः क्रियाभिर्धर्ममिच्छन्ति । चण्डाला अपि ब्रुवते— वयमपि धर्मावस्थिताः कृष्यादिक्रियां न कुर्मः ।········ एषन्तीति एषिका मृगलुब्धका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एषन्ति मूल-कंद-फलानि च, ये चापरे पाषण्डाः नानाविधैरुपायैर्भिक्षामेषन्ति यथेष्टानि चान्यानि विषयसाधनानि । अथ वैशिकावणिजः, तेऽपि किल कलोपजीवित्वाद् धर्मं किल कुर्वते । अथवा वेश्यास्त्रियो वैशिकाः, ता अपि किल सर्वा विशेषाद् वैश्यधर्मे वर्त्तमाना धर्मं कुर्वन्ति । शूद्रा अपि कुटुम्बभरणादीनि कुर्वन्तो धर्ममेव कुर्वते ।

६. चूर्णि, पृ० १७६ । वृत्ति, पत्र १७८ ।

७. चूर्णि, पृ० १७६ :·········महिष-च्छागाद्याश्च वध्यन्ते ।

श्लोक १-७ धर्म की मिथ्या मान्यताएं और अत्राण का निरूपण।

८-१० मूल-गुणों— महाव्रत आदि का प्रतिपादन।

११-२४ उत्तरगुणों का विस्तार से वर्णन—विभिन्न अनाचारों के सेवन का निषेध।

२५-२७ भाषा का विवेक।

२८ संसर्ग-वर्जन

२९-३६ श्रामण्य-चर्या का स्वरूप।

दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन में अनाचारों— निर्ग्रन्थ के लिए अनाचीर्ण प्रवृत्तियों का उल्लेख है। तथा छठे अध्ययन (महाचारकथा) में उनमें से कुछेक अनाचारों को सकारण समझाया गया है।

प्रस्तुत आगम के इस अध्ययन में विभिन्न अनाचारों का उल्लेख है—

श्लोक १२

१. धावन— हाथ, पैर, वस्त्र आदि धोना।
२. रञ्जन—वस्त्र, दांत, नख आदि को रंगना।
३. वमन—वमन करना।
४. विरेचन—जुलाव लेना।
५. वस्तिकर्म— एनिमा आदि लेना।
६. सिरोवेध—नाड़ी-वेधन करना।

श्लोक १३

७. गंध—इत्र आदि सुगन्धित द्रव्यों का सेवन करना।
८. माल्य—फूलों की माला का सेवन करना।
९. स्नान करना।
१०. दंतप्रक्षालन करना।
११. परिग्रह—सचित्त वस्तु का संग्रह करना।

श्लोक १४

१२. औद्देसिक—साधु के निमित्त बनाया हुआ भोजन लेना।
१३. क्रीतकृत—साधु के निमित्त खरीदा हुआ लेना।
१४. प्रामित्य—साधु को देने के लिए उधार लिया गया लेना।
१५. आहृत—साधु के लिए दूर से लाया हुआ लेना।
१६. पूति—आधाकर्मी आहार से मिला हुआ लेना।
१७. अनैषणीय लेना।

श्लोक १५

१८. अक्षिराग—आंखों को आंजना।
१९. उत्क्षालन—बार-बार हाथ-पैर धोना।
२०. कल्क— गंध-विलेपन करना।

श्लोक १६

२१. संप्रसारक—असंयमी व्यक्तियों के साथ संसर्ग।
२२. कृतक्रिय—असंयममय अनुष्ठान की प्रशंसा।
२३. प्रश्नायतन—ज्योतिष या अन्य शास्त्र के आधार पर गृहस्थों के प्रश्नों का उत्तर देना।
२४. सागरिक पिंड—शय्यातर का आहार लेना।

---

१. देखें—दसवेआलियं, तीसरे अध्ययन का आमुख।

श्लोक १७

२५. अष्टापद—शतरंज खेलना।
२६. वेधातीत—वस्त्रद्यूत—चौपड आदि खेलना।
२७. हस्तकर्म—हाथापाई करना, हस्तक्रिया करना।
२८. विवाद करना।

श्लोक १८

२९. उपानह—जूते पहनना।
३०. छत्र—छत्र धारण करना।
३१. नालिका—नली के द्वारा पासा डालकर जुआ खेलना।
३२. वालवीजन—पंखा आदि से हवा लेना।
३३. परक्रिय—परस्पर की क्रिया करना।

श्लोक १९

३४. अस्थंडिल का व्यवहरण करना।

श्लोक २०

३५. पर-अमत्र—गृहस्थ के भाजन में भोजन करना।
३६. पर-वस्त्र—गृहस्थ के वस्त्रों का व्यवहरण करनो।

श्लोक २१

३७. आसन्दी का उपयोग करना।
३८. पर्यंक का व्यवहार करना।
३९. गृहान्तरनिषद्या—गृहस्थ के अन्तर् घर में बैठना।
४०. संपृच्छन—सावद्य प्रश्न पूछना या शरीर पोंछना।
४१. स्मरण—पूर्व भुक्तभोगों का स्मरण करना।

श्लोक २९

४२. ग्रामकुमारिकाक्रीड़ा—ग्राम के लड़कों का खेल देखना।

इन सब अनाचीर्णो के अतिरिक्त सूत्रकार ने भाषा-विवेक का प्रतिपादन भी किया है। भाषा-विवेक के कुछेक बिन्दु ये हैं

- दो या दो से अधिक व्यक्ति बात करते हों तो मुनि बीच में न बोले।
- मर्मस्पर्शी भाषा न बोले।
- मायाप्रधान वचन न कहे।
- विचारपूर्वक बोले।
- बोलने के पश्चात् पछताना पड़े, ऐसी भाषा न बोले।
- उपघातकारी भाषा न बोले।
- होलावाद—हे होले! हे गोले! हे वृषल—का प्रयोग न करे।
- सखिवाद—हे मौसी!, हे बुआ!, हे भानजी—का प्रयोग न करे।
- गोत्रवाद—किसी को गोत्र से संबोधित न करे।
- तूं-तूं-मैं-मैं की भाषा न बोले, तिरस्कारयुक्त भाषा न बोले।
- अमनोज्ञ—अप्रिय भाषा न बोले।

१. सूयगडो, ९/२५-२७।

कषाय चार हैं—क्रोध, मान, माया और लोभ। प्रस्तुत आगम में इनके वाचक अनेक नाम आए हैं। इस अध्ययन के ग्यारहवें श्लोक में इनके नाम इस प्रकार हैं—

माया—परिकुंचन

लोभ—भजन (भंजन)

क्रोध—स्थंडिल

मान—उच्छ्रय

—इन कषायों के ये पर्यायवाची नाम उनकी भावना को अपने में समेटे हुए हैं। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इनकी व्याख्या विस्तार से की है।

नवमं अज्झयणं : नौवां अध्ययन

धम्मो : धर्म

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. कयरे धम्मे अक्खाए माहणेण मईमता ?। अंजुं धम्मं जहातच्चं जिणाणं तं सुणेह मे ॥	कतरः धर्मः आख्यातः, माहनेन मतिमता ? ऋजुं धर्मं यथातथ्यं, जिनानां तत् शृणुत मे ॥	१. (जंबू ने पूछा) मतिमान्[1] श्रमण महावीर ने[2] कौन-सा[3] धर्म बतलाया है ? (सुधर्मा ने कहा) तीर्थंकरों के ऋजु[4] और यथार्थ धर्म को तुम मुझसे सुनो।
२. माहणा खत्तिया वेस्सा चंडाला अदु बोक्कसा। एसिया वेसिया सुद्दा जे य आरंभणिस्सिया ॥	ब्राह्मणाः क्षत्रियाः वैश्याः, चण्डाला अथ बोक्कसाः। ऐषिकाः वैशिकाः शूद्राः, ये च आरम्भनिश्रिताः ॥	२. ब्राह्मण,[5] क्षत्रिय[6], वैश्य[7], चांडाल, बोक्कस[8], बहेलिए[9], व्यापारी[10], शूद्र[11] तथा और भी जो हिंसारत हैं[12],
३. परिग्गहे णिविट्ठाणं वेरं तेसिं पवड्ढई। आरंभसंभिया कामा ण ते दुक्खविमोयगा ॥	परिग्रहे निविष्टानां, वैरं तेषां प्रवर्धते। आरम्भसंभृताः कामाः, न ते दुःखविमोचकाः ॥	३. जो परिग्रह में निविष्ट[13] (अर्जन, सुरक्षा और भोग में रत) हैं, उनका वैर बढ़ता है।[14] काम आरंभ (प्रवृत्ति) से पुष्ट होते हैं।[15] वे दुःख का[16] विमोचन नहीं करते।
४. आघातकिच्चमाहेउं णाइओ विसएसिणो। अण्णे हरंति तं वित्तं कम्मी कम्मेहि किच्चती ॥	आघातकृत्यमाधाय, ज्ञातयो विषयैषिणः। अन्ये हरन्ति तद् वित्तं, कर्मी कर्मभिः कृत्यते ॥	४. (मर जाने पर) मरणोपरान्त किए जाने वाले अनुष्ठान[17] संपन्न कर विषय की एषणा करने वाले पारिवारिक तथा अन्य लोग उसके धन का हरण कर लेते हैं[18] और कर्मी (जिसने धन के लिए कर्म का बंधन किया है) अपने कर्मों से छिन्न होता है।
५. माता पिता ण्हुसा भाया भज्जा पुत्ता य ओरसा। णालं ते मम ताणाए लुप्पंतस्स सकम्मुणा ॥	माता पिता स्नुषा भ्राता, भार्या पुत्राश्च औरसाः। नालं ते मम त्राणाय, लुप्यमानस्य स्वकर्मणा ॥	५. जब मैं अपने द्वारा किए गए कर्मों से छेदा जाता हूं[19], तब माता, पिता, पुत्र-वधू, भाई, पत्नी और औरस पुत्र—ये सभी मेरी रक्षा करने में समर्थ नहीं होते।[20]
६. एयमट्ठं सपेहाए परमट्ठाणुगामियं। णिम्ममो णिरहंकारो चरे भिक्खू जिणाहियं ॥ (युग्मम्)	एतमर्थं संप्रेक्ष्य, परमार्थानुगामिकम्। निर्ममो निरहंकारः, चरेद् भिक्षुर्जिनाऽऽहृतम् ॥ (युग्मम्)	६. परमार्थ की ओर ले जाने वाले[21] इस अर्थ को समझकर[22] भिक्षु ममता[23] और अहंकार से शून्य[24] होकर जिनवाणी का आचरण करे।
७. चिच्चा वित्तं च पुत्ते य णाइओ य परिग्गहं। चिच्चाण अंतगं सोयं णिरवेक्खो परिव्वए ॥	त्यक्त्वा वित्तं च पुत्रांश्च, ज्ञातीश्च परिग्रहम्। त्यक्त्वा अन्तगं श्रोतः, निरपेक्षः परिव्रजेत् ॥	७. धन, पुत्र, परिवार, परिग्रह तथा आन्तरिक स्रोत (क्रोध आदि)[25] को छोड़, अपेक्षा रहित हो परिव्रजन करे।[26]

८. पुढवी आऊ अगणी वाऊ
तण रुक्ख सबीयगा।
अंडया पोय जराऊ
रस संसेय उब्भिया ॥

पृथ्वी आपः अग्निर्वायुः,
तृणाः रूक्षाः सबीजकाः।
अंडजाः पोत-जरायु-,
रस-संस्वेद (जाः) उद्‌भिदः ॥

८. पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु तथा तृण, वृक्ष और मूल से बीज तक वनस्पति के दस प्रकार[२७] तथा अंडज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदन और उद्‌भिज्ज—

९. एतेहिं छहिं काएहिं
तं विज्जं ! परिजाणिया।
मणसा कायवक्केणं
णारंभी ण परिग्गही ॥

एतेषु षट्सु कायेषु,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात्।
मनसा कायवाक्येन,
नारंभी न परिग्रही ॥

९. इन छहों जीव-निकायों को विद्वान् जाने और इनकी हिंसा न करे। मनसा, वाचा, कर्मणा आरम्भी और परिग्रही न वने।

१०. मुसावायं बहिद्धं च
उग्गहं च अजाइयं।
सत्थादाणाइं लोगंसि
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

मृषावादं बहिस्तात् च,
अवग्रह च अयाचितम्।
शस्त्रादानानि लोके,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

१०. मृपावाद, वहिस्तात् (वाह्य वस्तु का ग्रहण)[२८], अयाचित अवग्रह[२९]—ये सभी शस्त्र-प्रयोग[३०] के समान हैं। इन्हें विद्वान् त्यागे।

११. पलिउंचणं च भयणं च
थंडिल्लुस्सयणाणि य।
धुत्तादाणाणि लोगंसि
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

परिकुञ्चनं च भजनं च,
स्थण्डिलोच्छ्रयणानि च।
धूर्तादानानि लोके,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

११. माया[३१], लोभ[३२], क्रोध[३३], अभिमान—[३४]ये सव कर्म के आयतन[३५] हैं। इन्हें विद्वान् त्यागे।

१२. धावणं रयणं चेव
वमणं च विरेयणं।
वत्थिकम्मं सिरोवेधे
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

धावनं रजनं चैव,
वमनं च विरेचनम्।
वस्तिकर्म शिरोवेधान्,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

१२. वस्त्र धोना, रंगना[३६], वमन, विरेचन[३७], वस्तिकर्म[३८], शिरोवेध[३९] इन्हें विद्वान् त्यागे।

१३. गंधमल्लं सिणाणं च
दंतपक्खालणं तहा।
परिग्गहित्थिकम्मं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

गन्धमाल्यं स्नानं च,
दन्तप्रक्षालनं तथा।
परिग्रह-स्त्री-कर्म च,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

१३. गंध, माल्य[४०], स्नान[४१], दांत पखालना[४२], परिग्रह, स्त्री, हस्तकर्म[४३]—इन्हें विद्वान् त्यागे।

१४. उद्देसियं कीयगडं
पामिच्चं चेव आहडं।
पूर्ति अणेसणिज्जं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

औद्देशिकं क्रीतकृतं,
प्रामित्यं चैव आहृतम्।
पूर्ति अनेषणीयं च,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

१४. साधु के उद्देश्य से वनाए गए[४४], खरीदे गए[४५], उधार लिए गए[४६], दूर से लाए गए[४७], पूति[४८], (साधु के लिए वनाए गए आहार आदि से मिश्रित) तथा अनेषणीय (आहार आदि)—इन्हें विद्वान् त्यागे।

१५. आसूणिमक्खिरागं च
गिद्धुवघायकम्मगं।
उच्छोलणं च कक्कं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

आशूनि अक्षिरागं च,
गृद्ध्युपघातकर्मकम्।
उत्क्षालनं च कल्कं च,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

१५. वीर्य-वर्धक आहार या रसायन[४९], आंखों को आंजना[५०], उपकरणों की आसक्ति, तिरस्कार[५१], हाथ-पैर आदि धोना[५२], उवटन करना[५३]—इन्हें विद्वान् त्यागे।

१६. संपसारी कयकिरिए
पसिणायतणाणि य।
सागारियं पिंडं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

संप्रसारी कृतक्रियः,
प्रश्नायतनानि च।
सागारिकं पिण्डं च,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

१६. असंयत प्रवृत्ति को सहारा (या उपदेश) देना[५४], आरंभ की प्रशंसा करना[५५], अंगुष्ठ-आदर्श आदि के द्वारा फल वताना[५६], शय्यातर-पिंड[५७] (जिसके मकान में रहे उसका भोजन लेना)—इन्हें विद्वान् त्यागे।

१७. अट्ठापदं ण सिक्खेज्जा
वेधादीयं च णो वए।
हत्थकम्मं विवायं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

अष्टापदं न शिक्षेत,
वेधादिकं च नो वदेत् ।
हस्तकर्म विवादं च,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

१७. जुआ[५८] आदि न सीखे, वेध[५९] आदि न बतलाए। हस्तकर्म[६०] और विवाद[६१]—इन्हें विद्वान् त्यागे।

१८. उवाणहाओ छत्तं च
णालियं बालवीयणं।
परकिरियं अण्णमण्णं च
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

उपानहः छत्रं च,
नालिकां वालवीजनम् ।
परक्रियां अन्योन्यं च,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

१८. जूता[६२] और छाता[६३], नालिका[६४] (नलिका से पासा डाल कर जुआ खेलना), चमर[६५], परक्रिया[६६] (गृहस्थ के पैर आदि पखालना), अन्योन्यक्रिया[६७] (परस्पर पैर आदि पखालना)—इन्हें विद्वान् त्यागे।

१९. उच्चारं पासवणं
हरितेसु ण करे मुणी।
वियडेण वावि साहट्टु
णायमेज्ज कयाइ वि ॥

उच्चारं प्रस्रवणं,
हरितेषु न कुर्याद् मुनिः ।
विकटेन वापि संहृत्य,
नाचामेत् कदाचिदपि ॥

१९. मुनि वनस्पति पर मल-मूत्र का उत्सर्ग न करे। वनस्पति को इधर-उधर कर निर्जीव जल से भी कभी आचमन (शौचक्रिया) न करे।

२०. परमत्ते अण्णपाणं
ण भुंजेज्ज कयाइ वि।
परवत्थं अचेलो वि
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

परामत्रे अन्नपानं,
न भुञ्जीत कदाचिदपि ।
परवस्त्रं अचेलोपि,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

२०. गृहस्थ के पात्र में[६८] अन्न-पान कभी न खाए। अचेल होने पर भी गृहस्थ का वस्त्र[६९] न पहने—इन्हें विद्वान् त्यागे।

२१. आसंदी पलियंके य
णिसिज्जं च गिहंतरे।
संपुच्छणं सरणं वा
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

आसन्दी पर्यङ्कश्च,
निषिद्यां च गृहान्तरे ।
संप्रच्छनं स्मरणं वा,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

२१. आसंदी,[७०] पलंग[७१], घर के भीतर बैठना[७२], सावद्य प्रश्न पूछना[७३], भुक्तभोग का स्मरण[७४]—इन्हें विद्वान् त्यागे।

२२. जसं कित्ती सिलोगं च
जा य वंदणपूयणा।
सव्वलोगंसि जे कामा
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

यशः कीर्त्तिः श्लोकश्च,
या च वन्दनपूजना ।
सर्वलोके ये कामाः,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

२२. यश, कीर्ति, श्लोक, जो वंदना और पूजा[७५] है, संपूर्ण लोक में जो काम[७६] हैं—इन्हें विद्वान् त्यागे।

२३. जेणेहं णिव्वहे भिक्खू
अण्णपाणं तहाविहं।
अणुप्पदाणमण्णेसिं
तं विज्जं ! परिजाणिया ॥

येनेह निर्वहेत् भिक्षुः,
अन्नपानं तथाविधम् ।
अनुप्रदानमन्येभ्यः,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥

२३. भिक्षु गृहस्थ से कार्य निष्पन्न करवाए और उसके बदले में उन्हें अन्न-पान दे, इस प्रवृत्ति को विद्वान् त्यागे।[७७]

(सीलमंते असोले वा
तेसिं दाणं विवज्जए।
णिज्जरट्ठाए दायव्वं
तं विज्जं ! परिजाणिया) ॥

(शीलवान् अशीलो वा,
तयोः दानं विवर्जयेत् ।
निर्जरार्थाय दातव्यं,
तद् विद्वन् ! परिजानीयात् ॥)

शीलवान् या जो (व्यवहार से शीलवान् होते हुए भी परमार्थ से) शीलवान् नहीं हैं, उन साधुओं को निर्जरा के लिए (अन्न-पान) देना, (इहलौकिक कार्य-निर्वाह के लिए) न देना—इन्हें विद्वान् त्यागे।)

२४. एवं उदाहु णिग्गंथे
महावीरे महामुणी।
अणंतणाणदंसी से
धम्मं देसितवं सुतं ॥

एवं उदाह निर्ग्रन्थो,
महावीरो महामुनिः ।
अनन्तज्ञानदर्शी स,
धर्म देशितवान् श्रुतम् ॥

२४. अनन्तज्ञानी और अनन्त दर्शनी महामुनि निर्ग्रंथ महावीर ने ऐसा कहा, श्रुतधर्म का उपदेश दिया।[७८]

२५. भासमाणो ण भासेज्जा णो य वम्फेज्ज मम्मयं। माइट्ठाणं विवज्जेज्जा अणुवीइ वियागरे॥	भाषमाणो न भाषेत, नो च वलेत्[1] मर्मकम्। मायिस्थानं विवर्जयेत्। अनुवीचि व्यागृणीयात्॥	२५. बोलता हुआ भी न बोलता-सा रहे[79], मर्मवेधी वचन[80] न बोले[81], (बोलने में) मायिस्थान का[82] वर्जन करे, सोचकर बोले।[83]
२६. संतिमा तहिया भासा जं वइत्ताणुतप्पई। जं छणं तं ण वत्तव्वं एसा आणा णियंठिया॥	सन्ति इमाः तथ्याः भाषाः, यद् उदित्वा अनुतप्यते। यत् क्षणं तत् न वक्तव्यं, एषा आज्ञा नैर्ग्रन्थिकी॥	२६. कुछ सत्य भाषाएं हैं जिन्हें बोलकर मनुष्य पछताता है।[84] जो हिंसाकारी वचन[85] है, उसे न बोले। यह निर्ग्रन्थ (महावीर) की[86] आज्ञा[87] है।
२७. होलावायं सहीवायं गोयवायं च णो वए। तुमं तुमं ति अमणुण्णं सव्वसो तं ण वत्तए॥	'होला' वादं सखिवादं, गोत्रवादं च नो वदेत्। त्वं त्वं इति अमनोज्ञं, सर्वशः तद् न वक्तुम्[2]॥	२७. हे साथी![88], हे मित्र![89], हे अमुक-अमुक गोत्र वाले[90]—इस प्रकार के वचन न बोले। (सम्मान्य व्यक्तियों के लिए) तू-तू—-ऐसा अप्रिय वचन सर्वथा न कहे।[91]
२८. अकुसीले सदा भिक्खू णो य संसग्गियं भए। सुहरूवा तत्थुवसग्गा पडिबुज्झेज्ज ते विदू॥	अकुशीलः सदा भिक्षुः, नो च सांसर्गिकं भजेत्। सुखरूपाः तत्रोपसर्गाः, प्रतिबुध्येत तान् विद्वान्॥	२८. भिक्षु सदा अकुशील रहे; कुशीलों के साथ संसर्ग न करे।[92] उनके संसर्ग में अनुकूल उपसर्ग[93] उत्पन्न होते हैं। विद्वान् उन्हें (उपसर्गों को) समझे।
२९. णण्णत्थ अंतराएणं परगेहे ण णिसीयए। गाम-कुमारियं किड्डं णाइवेलं हसे मुणी॥	नान्यत्र अन्तरायेण, परगृहे न निषीदेत्। ग्राम्यकौमारिकीं क्रीडां, नातिवेलं हसेद् मुनिः॥	२९. मुनि किसी बाधा के बिना[94] गृहस्थ के घर में[95] न बैठे।[96] काम-क्रीडा और कुमार-क्रीडा[97] न करे, मर्यादा रहित हो न हंसे।[98]
३०. अणुस्सुओ उरालेसु जयमाणो परिव्वए। चरियाए अप्पमत्तो पुट्ठो तत्थऽहियासए॥	अनुत्सुकः उदारेषु, यतमानः परिव्रजेत्। चर्यायां अप्रमत्तः, स्पृष्टः तत्र अध्यासीत॥	३०. सुन्दर पदार्थों के प्रति[99] उत्सुक न हो, संयमपूर्वक परिव्रजन करे, चर्या में[100] अप्रमत्त रहे, उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे।[101]
३१. हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा वुच्चमाणो ण संजले। सुमणो अहियासेज्जा ण य कोलाहलं करे॥	हन्यमानः न कुप्येत्, उच्यमानः न संज्वलेत्। सुमनाः अध्यासीत, न च कोलाहलं कुर्यात्॥	३१. पीटने पर क्रोध न करे[102], गाली देने पर उत्तेजित न हो[103], शान्तमन रहकर[104] उन्हें सहन करे, कोलाहल[105] न करे।
३२. लद्धे काम ण पत्थेज्जा विवेगे एव माहिए। आयरियाइं सिक्खेज्जा बुद्धाणं अंतिए सया॥	लब्धान् कामान् न प्रार्थयेत्, विवेक एवं आहृतः। आचरितानि शिक्षेत, बुद्धानां अन्तिके सदा॥	३२. लब्ध कामभोगों की इच्छा न करे।[106] इसे विवेक कहा गया है। बुद्धों (ज्ञानियों) के[107] पास सदा आचार की[108] शिक्षा प्राप्त करे।
३३. सुस्सूसमाणो उवासेज्जा सुप्पण्णं सुतवस्सियं। वीरा जे अत्तपण्णेसी धितिमंता जिइंदिया॥	सुश्रूषमाणः उपासीत, सुप्रज्ञं सुतपस्विकम्। वीराः ये आत्मप्रज्ञैषिणः, धृतिमन्तो जितेन्द्रियाः॥	३३. सुश्रूषा (सुनने और जानने की इच्छा) पूर्वक सुप्रज्ञ[109] और सुतपस्वी आचार्य की[110] उपासना करे, जो आचार्य वीर[111], आत्मप्रज्ञा के अन्वेषी[112], धृतिमान्[113] और जितेन्द्रिय हैं।

१. प्राकृत व्याकरण ४।१७६ : दलिवल्योर्विसट्टवम्फौ।
२. उचितमिति शेषः।

३४. गिहे दीवमपासंता
पुरिसादाणिया णरा।
ते वीरा बंधणुम्मुक्का
णावकंखंति जीवियं॥

गृहे दीपमपश्यन्तः,
पुरुषादानीयाः नराः।
ते वीराः बन्धनोन्मुक्ताः,
नावकांक्षन्ति जीवितम्॥

३४. गृहवास में दीप[११४] (प्रकाश) न देखने वाले मनुष्य (प्रव्रजित होकर) पुरुषादानीय[११५] हो जाते हैं। वे वीर मनुष्य बंधन से मुक्त हो[११६] जीने की[११७] इच्छा नहीं करते।

३५. अगिद्धे सद्दफासेसु
आरंभेसु अणिस्सिए।
सव्वं तं समयातीतं
जमेतं लवियं बहु॥

अगृद्धः शब्दस्पर्शयोः,
आरंभेषु अनिश्रितः।
सर्व तत् समयातीतं,
यदेतद् लपितं बहु॥

३५. शब्द और स्पर्श में अनासक्त तथा आरम्भ से अप्रतिबद्ध रहे। (धर्म का) जो यह स्वरूप कहा गया है, वह सब समयातीत—त्रैकालिक है।[११८]

३६. अइमाणं च मायं च
तं परिण्णाय पंडिए।
गारवाणि य सव्वाणि
णिव्वाणं संधए मुणि॥

अतिमानं च मायां च,
तत् परिज्ञाय पंडितः।
गौरवाणि च सर्वाणि,
निर्वाणं संदध्यात् मुनिः॥

३६. पंडित मुनि अतिमान[११९], माया और सभी प्रकार के बड़प्पन के भावों को[१२०] छोड़कर निर्वाण का[१२१] संधान करे—सतत साधना करे।

—त्ति बेमि॥

—इति ब्रवीमि॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन ६

श्लोक १ :

१. मतिमान् (मईमता)

मतिमान् का सामान्य अर्थ है—बुद्धिमान् । प्रस्तुत प्रसंग में चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'मति' का अर्थ केवलज्ञान किया है। मतिमान् अर्थात् केवलज्ञानी ।[1]

२. श्रमण महावीर ने (माहणेण)

माहण का अर्थ है—प्राणियों को मत मारो—इस प्रकार शिष्यों को उपदेश देने वाले भगवान् वीर वर्द्धमानस्वामी ।[2]

चूर्णिकार ने माहण और श्रमण को एकार्थक माना है ।[3]

३. कौन सा (कयरे)

इसके दो अर्थ हैं—कैसा, कौन सा ।[4]

४. ऋजु (अंजु)

इसका अर्थ है—ऋजु, सरल । भगवान् महावीर का धर्म माया-प्रपंच से रहित होने के कारण अवक्र है, ऋजु है । जो बाल-वीर्यवान् और कुशील होते हैं उनका धर्म वक्र होता है। वे कभी ऋजु नहीं बोलते ।

बौद्ध धर्मावलंबी कहते हैं—हम परिग्रह नहीं रखते। हम हिंसा आदि नहीं करते । किन्तु वे परिग्रह भी रखते हैं और हिंसा भी करते हैं। अतः उनका धर्म ऋजु नहीं है। भागवत कहते हैं—नारायण ही करता है, देता है और लेता है। जैसे आकाश कीचड़ से लिप्त नहीं होता, वैसे ही जिस पुरुष की बुद्धि सारे जगत् के प्राणियों को मार कर भी उसमें लिप्त नहीं होती, वह पाप से स्पृष्ट नहीं होता ।

भगवान् महावीर ने ऐसा धर्म नहीं कहा। उनका धर्म ऋजु है, सरल है, सबके लिए समान है ।[5]

श्लोक २ :

५. ब्राह्मण (माहणा)

पूर्व श्लोक में 'माहण' भगवान् महावीर का एक विशेषण है। यहां चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—ब्राह्मण या

---

१ (क) चूर्णि, पृ० १७५ : मन्यते अनयेति मतिः केवलज्ञानमिति, मतिरस्यास्तीति मतिमान् ।

(ख) वृत्ति, पत्र १७७ : मनुते—अवगच्छति जगत्त्रयं कालत्रयोपेतं यया सा केवलज्ञानाख्या मतिः सा अस्यास्तीति मतिमान् ।

२. वृत्ति, पत्र १७७ : माहणेणं ति मा जन्तून् व्यापादयेत्येव विनेयेषु वाक्प्रवृत्तिर्यस्यासौ माहनो भगवान् वर्द्धमानस्वामी ।

३. चूर्णि, पृ० १७५ : समणे त्ति (वा माहणे त्ति वा) एगट्ठं ।

४. चूर्णि पृ० १७५ : कतरः केरिसो वा ।

५. चूर्णि पृ० १७५ : अञ्जुरिति आर्जवयुक्तः, न दंभ-कच्वादिभिरुपदिश्येत । ते तु कुशीलाः बालवीर्यवन्तः, तेऽनार्जवानि ब्रुवते—न वयं परिग्रहवन्तः आरंभिणो वा, एतत् सङ्घस्य बुद्धस्य उपासकानां वा इति । भागवतास्तु—नारायणः करोति हरति ददाति वा । उक्तं हि—

यस्य बुद्धिर्न लिप्येत, हत्वा सर्वमिदं जगत् ।
आकाशमिव पङ्केन, न स पापेन लिप्यते ॥१॥

नैवं भगवता अनार्जवयुक्तो धर्मः प्रणीतः ।

श्रावक।[1]

६. क्षत्रिय (खत्तिया)

उग्र, भोग, राजन्य और इक्ष्वाकु—ये क्षत्रिय कहलाते हैं। इसका वैकल्पिक अर्थ है—क्षत्र धर्म से जीने वाले क्षत्रिय होते हैं।[2]

७. वैश्य (वेस्सा)

वैश्य का अर्थ है—व्यापार करने वाला। चूर्णिकार ने इसका अर्थ स्वर्णकार आदि किया है।[3]

८. बोक्कस (बोक्कस)

इसका अर्थ है—वर्णशंकर जाति। ब्राह्मण के द्वारा शुद्री से उत्पन्न संतान निषाद, ब्राह्मण के द्वारा वैश्य जाति की स्त्री से उत्पन्न संतान अम्बष्ठ और निषाद के द्वारा अम्बष्ठ जाति की स्त्री से उत्पन्न संतान 'बोक्कस' कहलाती है।[4] इसके चार संस्कृत रूप प्राप्त होते हैं—बुक्कस, पुष्कस, पुक्कस और पुल्कस।[5]

विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तरज्झयणाणि, ३/४ का टिप्पण।

९. बहेलिए (एसिया)

इसका शाब्दिक अर्थ है—ढूंढने वाले। मांस के लिए मृग को तथा हाथी को ढूंढने वाले व्याध तथा हस्तितापस 'एषिक' कहलाते हैं।

अथवा जो अपने भोजन के लिए कन्द-मूल आदि ढूंढते हैं या जो दूसरे पाषण्डी लोग विविध उपायों से भिक्षा की एषणा करते हैं, विषयपूर्ति के साधनों को ढूंढते हैं वे भी 'एषिक' कहलाते हैं।[6]

१०. व्यापारी (वेसिया)

इसके दो अर्थ हैं—वणिक् अथवा वेश्या। ये अपनी विभिन्न कलाओं से जीविका उपार्जन करते हैं।[7]

११. शूद्र (सुद्दा)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ खेती करने वाले अहीर जाति के लोग किया है।[8]

१२. हिंसारत हैं (आरंभणिस्सिया)

इसका अर्थ है—हिंसा में रत। चूर्णिकार ने छेदन, भेदन, पाचन आदि क्रियाओं[9] तथा वृत्तिकार ने यंत्रपीडन, निर्लांछन,

---

१. चूर्णि, पृ० १७५ : माहणा मरुगा सावगा वा।

२. चूर्णि, पृ० १७५ : खत्तिया उग्गा भोगा राइण्णा इक्खागा राजानस्तदाश्रयिणश्च। अथवा क्षत्रेण धर्मेण जीवन्त इति क्षत्रियाः।

३. चूर्णि, पृ० १७५ : वैश्याः सुवर्णकारादयः।

४ चूर्णि, पृ० १७५ : बोक्कसा णाम संजोगजातिः। जहा—बंभणेण सुद्दीए जातो णिसादो त्ति वुच्चत्ति, बंभणेण वेस्सजातो अम्बट्ठो वुच्चत्ति, तत्थ णिसाएणं अंबट्ठीए जातो सो बोक्कसो वुच्चति।

५ अभिधान चिन्तामणि कोष, ३/५९७।

६. (क) चूर्णि, पृ० १७५ : एषन्तीति एषिकाः मृगलुब्धका हस्तितापसाश्च मांसहेतोर्मृगान् हस्तिनश्च एषन्ति मूल-कन्द-फलानि च, ये चापरे पाषण्डाः नानाविधैरुपायैर्भिक्षामेषन्ति यथेष्टानि विषयसाधनानि।

(ख) वृत्ति पत्र १७७।

७. (क) चूर्णि, पृ० १७५ : अथ वैशिका वणिजः, तेऽपि किल कलोपजीवित्वाद् धर्मं किल कुर्वते। अथवा वेश्यास्त्रियो वैशिकाः ना अपि किल सर्वा विशेषाद् वैश्यधर्मे वर्त्तमाना धर्मं कुर्वन्ति।

(ख) वृत्ति, पत्र १७७ : तथा वैशिका वणिजो मायाप्रधानाः कलोपजीविनः।

८. वृत्ति, पत्र १७७ : शूद्राः कृषीवलादयः आभीरजातीयाः।

९. चूर्णि, पृ० १७५ : छेदन-भेदन-पचनादिदव्व-भावारंभे णिस्सिता णियतं सिता णिस्सिता।

कोयला बनाना आदि क्रियाओं को 'आरंभ' के अन्तर्गत माना है ।[1]

श्लोक ३ :

१३. जो परिग्रह में निविष्ट हैं (परिग्गहे णिविट्ठाणं)

जो परिग्रह में निविष्ट हैं अर्थात् जो परिग्रह का नाना उपायों से अर्जन करते हैं, उसकी सुरक्षा करते हैं, उसका भोग करते हैं और उसके नष्ट-विनष्ट होने पर चिंता करते हैं ।[2]

वृत्तिकार ने निविष्ट का अर्थ गृद्धि, आसक्ति किया है ।[3]

१४. उनका वैर बढ़ता है (वेरं तेसिं पवड्ढई)

यहां वैर का अर्थ पाप-कर्म भी हो सकता है ।

चूर्णिकार ने 'वेरं' के स्थान पर 'पावं' पाठ माना है ।[4] वैर का अर्थ शत्रुता भी किया जा सकता है । परिग्रह में आसक्त मनुष्य अनेक लोगों के साथ वैर-भाव पैदा कर लेता है ।

निर्युक्तिकार ने पाप और वैर को एकार्थक माना है ।[5]

१५. काम आरंभ (प्रवृत्ति) से पुष्ट होते हैं (आरंभसंभिया कामा)

काम का अर्थ है—विषयों के प्रति आसक्ति, आरंभ का अर्थ है—प्रवृत्ति और संभृत का अर्थ है—पुष्टि । काम प्रवृत्ति से पुष्ट होते हैं । जैसे-जैसे व्यक्ति विषयों का का सेवन करता है, वैसे-वैसे विषयों के प्रति उसकी अनुरक्ति बढ़ती जाती है और वह अनुरक्ति प्रवृत्ति को बढाती है । वह प्रवृत्ति काम-वासना को पुष्ट करती है ।[6]

१६. दुःख का (दुक्ख)

दुःख का अर्थ है—आठ प्रकार के कर्म, बुढ़ापा, रोग, मृत्यु, नरक आदि दुर्गति ।[7]

श्लोक ४ :

१७. मरणोपरान्त किए जाने वाले अनुष्ठान (आघातकिच्चं)

आघात का अर्थ है—मरण और किच्च का अर्थ है—कृत्य अर्थात् मरणोपरान्त किया जाने वाला कृत्य । शव का अग्नि-संस्कार करना, जलाञ्जलि देना, पितृपिण्ड देना आदि कार्य आघातकृत्य कहे जाते हैं ।[8]

---

१. वृत्ति, पत्र १७७ : आरम्भ (म्भे) निश्रिता यन्त्रपीडननिर्लाञ्छनकर्माङ्गारदाहादिभिः क्रियाविशेषैर्जीवोपमर्दकारिणः ।
(ख) वृत्ति पत्र, १७७ ।

२. चूर्णि, पृ० १७५ : परिग्गहे णिविट्ठाणं ति उवज्जिणंताणं सारवंताणं य णट्ठविणट्ठं च सोएन्ताणं ।

३. वृत्ति, पत्र १७७ : निविष्टानाम् अध्युपपन्नानां गार्द्ध्यं गतानाम् ।

४. चूर्णि, पृ० १७५ ।

५. दशाश्रुतस्कन्धनिर्युक्ति, गाथा १२२ :

पावे वज्जे वेरे, पणगे पंके खुहे असाए य ।
संगे सल्ले अरए, निरए धुत्ते अ एगट्ठा ।।

६. चूर्णि, पृ० १७५, १७६ ।

७. (क) चूर्णि, पृ० १७६ : जरा-व्याध्युदये दुःखोदये वा मृतौ वा प्राप्ते न तस्माद् दुःखाद् मोचयन्ति ।
(ख) वृत्ति, पत्र १७८ : दुःखयतीति दुःखम् अष्टप्रकारं कर्म ।

८. वृत्ति, पत्र १७८ : आहन्यन्ते अपनीयन्ते—विनाश्यन्ते प्राणिनां दश प्रकारा अपि प्राणा यस्मिन् स आघातो—मरणं तस्मै तत्र वा कृतम्—अग्निसंस्कारजलाञ्जलिप्रदानपितृपिण्डादिकमाघातकृत्यम् ।

चूर्णिकार ने इस अवसर पर भैंस, बकरी आदि मारे जाने का भी उल्लेख किया है।[1]

१८. उसके धन का हरण कर लेते हैं (हरंति तं वित्तं)

व्यक्ति के मर जाने पर उसके ज्ञातिजन उसका मरणकृत्य संपन्न कर यह सोचते है कि हम इस मृत व्यक्ति के धन से विषयों का सेवन करेंगे। वे उसके धन का हरण कर लेते है। अ-ज्ञातिजन दास, भृत्य आदि भी उस धन को हड़पने की बात सोचते हैं। मरने वाले व्यक्ति के निःसंतान होने पर राजा उसका समूचा धन ले लेता है।[2]

हरण करना, विभक्त करना, अर्पण करना—ये एकार्थक हैं।[3]

श्लोक ५ :

१९. छेदा जाता हूं (लुप्पंतस्स)

शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीडित।[4]

२०. श्लोक ५ :

तुलना करें—उत्तरज्झणाणि ६।३ :

माया पिया ण्हुसा भाया, भज्जा पुत्ता य ओरसा।
नालं ते मम ताणाय, लुप्पंतस्स सकम्मुणा॥

श्लोक ६ :

२१. परमार्थ की ओर ले जाने वाले (परमट्ठाणुगामियं)

चूर्णिकार ने परमार्थ के दो अर्थ किए हैं—(१) मोक्ष, (२) ज्ञान आदि।[5] वृत्तिकार ने इसके मोक्ष और संयम—ये दो अर्थ किए हैं।[6] परमार्थ का अनुगमन करने वाला 'परमार्थानुगामिक' होता है।

२२. समझकर (सपेहाए)

यहां 'सं' शब्द के अनुस्वार का लोप किया गया है। इसका अर्थ है—संप्रेक्षा कर, विचार कर, समझकर।

वृत्तिकार ने इसके स्थान पर 'स पेहाए' (सः प्रेक्ष्य) माना है।[7]

२३. ममता (से शून्य) (णिम्ममो)

जिसकी स्त्री, मित्र, धन, आदि बाह्य वस्तुओं में तथा आभ्यन्तर परिग्रह में ममता नहीं है, वह निर्मम होता है।[8]

२४. अहंकार से शून्य (णिरहंकारो)

इसका अर्थ है—अहंकार शून्य। व्यक्ति में प्रव्रजित होने से पूर्व के अपने ऐश्वर्य का मद होता है, जाति का अहंकार होता है

---

१. चूर्णि, पृ० १७६ : महिष-च्छागाद्याश्च वध्यन्ते।
२. चूर्णि, पृ० १७६ : मरणकृत्यम्.........काऊण तं पणिधाय ये तस्य भ्रातृपुत्रादयो दायादा जीवन्ति शब्दादिविषयैषिणः अनेन मृतधनेन वयं भोगान् भोक्ष्यामहे, अज्ञातयोऽपि दास-भृत्य-मन्त्र्यादयः तत् च्युतधनं तर्कयन्ति, अपुत्राणां च मृतकद्धं राजा गृह्णाति।
३. चूर्णि, पृ० १७६ : हरंति वा विभयंति वा णूमेंति वा एगट्ठं।
४. चूर्णि, पृ० १७६ : लुप्यमानस्येति शारीर-मानसैर्दुःख-दौर्मनस्यैः।
५. चूर्णि, पृ० १७६ : परमः अर्थः परमार्थः मोक्ष इत्यर्थः........ ज्ञानादयो वा परमार्थः।
६. वृत्ति पत्र १७८ : परमः—प्रधानभूतो (ऽर्थो) मोक्षः संयमो वा तमनुगच्छतीति तच्छीलश्च परमार्थानुगामुकः।
७. वृत्ति, पत्र १७८।
८. चूर्णि, पृ० १७६ : नास्य कलत्र-मित्र-वित्तादिषु बाह्या-ऽभ्यन्तरेषु वस्तुषु ममता विद्यते इति निर्ममः।

अथवा अपने ज्ञान का, तपस्या का, स्वाध्याय का अहंकार होता है अथवा अपनी विशिष्ट शक्तियों का अभिमान होता है। जो इन सबसे शून्य है वह 'निरहंकार' होता है।[1]

श्लोक ७ :

२५. आन्तरिक स्रोत (क्रोध आदि) (अंतगं सोयं)

चूर्णिकार ने यहां 'अत्तगं सोयं' की व्याख्या की है। इसका अर्थ है—आत्मा में होने वाला स्रोत—द्वार। उनके अनुसार ये आत्मक स्रोत हैं—मिथ्यात्व, कषाय, अज्ञान, अविरति।[2]

वृत्तिकार ने 'अन्तगं' के दो अर्थ किए हैं—दुष्परित्यज्य और विनाशकारी।[3] उन्होंने 'सोयं' का मुख्य अर्थ शोक, अनुताप किया है और गौण अर्थ श्रोत किया है।[4] उन्होंने वैकल्पिक रूप में 'अत्तग' पाठ की भी व्याख्या की है।[5]

२६. अपेक्षारहित हो परिव्रजन करे (णिरवेक्खो परिव्वए)

साधक पुत्र, स्त्री, माता-पिता, धन, धान्य आदि से निरपेक्ष होकर, उनकी अपेक्षा न रखता हुआ संयमचर्या करे। जो निरपेक्ष नहीं होता वह पग-पग पर दुःख पाता है। उसके संकल्प-विकल्प बढते हैं और वह उन्हीं संकल्पों में फंस जाता है। कहा भी है—

'छलिया अवयक्खंता निरावयक्खा गया अविग्घेणं।
तम्हा पवयणसारे निरावयक्खेण होयव्वं ॥

जिन्होंने अपेक्षा रखी, वे ठगे गए, किन्तु जो निरपेक्ष रहे वे निर्विघ्न रूप से पार चले गए। अतः जो साधक प्रवचन के सार को जानता है वह सदा निरपेक्ष रहे, कहीं अपेक्षा न रखे।

'भोगे अवयक्खंता पडंति संसारसायरे घोरे।
भोगेहि निरवयक्खा तरंति संसारकांतारं ॥'

जो भोगों की अपेक्षा रखते हैं वे इस घोर संसारसागर में डूब जाते हैं और जो भोगों से निरपेक्ष रहते हैं वे संसार रूपी कांतार को पार कर जाते हैं।[6]

श्लोक ८ :

२७. मूल से बीज तक वनस्पति के दस प्रकार (सबीयगा)

सबीजक अर्थात् वनस्पति की मूल से लेकर बीज तक की दस अवस्थाएं। वे ये हैं—बीज, मूल, कंद, स्कंध, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल और बीज।

श्लोक १० :

२८. बहिस्तात् (बाह्य वस्तु का ग्रहण) (बहिद्धं)

यह बहिद्धादान का संक्षेप है। इसका शाब्दिक अर्थ है—बाह्य वस्तु का ग्रहण। मध्यवर्ती बाईस तीर्थंकरों के चातुर्याम धर्म में चौथा है—बहिद्धादान। इस शब्द के द्वारा—मैथुन और परिग्रह—दोनों का ग्रहण होता था। स्त्री भी बाह्य वस्तु है।

---

१. चूर्णि, पृ० १७६ : न चाहङ्कारः पूर्वैश्वर्य-जात्यादिषु च संप्राप्तेष्वपि, तपः स्वाध्यायादिषु।

२. चूर्णि, पृष्ठ १७७ : आत्मनि भवं आत्मकम्। तत्र मित्र-ज्ञातयः परिग्रहाश्चैव बाहिरंगं सोतं, मिच्छत्तं कसाया अण्णाणं अविरती य एतं अत्तगं सोतं, श्रोतः—द्वारमित्यर्थः।

३. वृत्ति, पत्र १७८ : अन्तं गच्छतीत्यन्तगो दुष्परित्यज इत्यर्थः अन्तको वा विनाशकारीत्यर्थः।

४. वृत्ति, पत्र १७८, १७६ : 'शोकं' संतापं·········श्रोतो वा—मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायात्मकम्।

५. वृत्ति, पत्र १७८ : आत्मनि वा गच्छतीत्यात्मग आन्तर इत्यर्थः।

६. वृत्ति, पत्र १७६।

चूर्णिकार ने इस शब्द के द्वारा मैथुन और परिग्रह का ग्रहण किया है।[1] वृत्तिकार ने एक स्थान पर इसका अर्थ—मैथुन और दूसरे स्थान पर मैथुन और परिग्रह किया है।[2]

२९. अयाचित अवग्रह (उग्गहं च अजाइयं)

चूर्णिकार ने अयाचित अवग्रह का अर्थ अदत्तादान किया है।[3]

३०. शस्त्र-प्रयोग (सत्थादाणाइं)

चूर्णिकार ने शस्त्र का अर्थ असंयम किया है।[4]

मृषावाद आदि असंयम के कारण हैं। इसलिए इन्हें शस्त्रादान कहा गया है।

श्लोक ११ :

३१. माया (पलिउंचणं)

इसका संस्कृत रूप है—परिकुञ्चनं। जिससे सारी क्रियाएं वक्र हो जाती हैं, वह है परिकुञ्चन। यह माया का वाचक है।[5]

३२. लोभ (भयणं)

जिसके द्वारा आत्मा टूट जाता है, झुक जाता है, अपनी मर्यादा से हट जाता है वह है लोभ। यह 'भजन' शब्द लोभ का पर्याय है।[6]

चूर्णिकार ने इसका रूप 'भंजन' किया है।[7]

३३. क्रोध (थंडिल्ल)

जिसके उदय से आत्मा सत्-असत् के विवेक से विकल हो कर स्थंडिल (भूमी) की तरह हो जाती है, वह स्थंडिल है। यह क्रोध का वाचक है।[8]

चूर्णिकार के अनुसार क्रोध चारित्र, शरीर और वर्ण आदि को स्थंडिल बना देता है।[9]

३४. अभिमान (उस्सयणाणि)

उच्छ्रय ऊंचाई का वाचक है। मनुष्य जाति, कुल, ज्ञान आदि के दर्प से अपने आपको ऊंचा मान लेता है। यह मान का वाचक है।[10]

देखें—२/५१ का टिप्पण।

---

१. चूर्णि, पृ० १७७ : बहिद्धं मिथुन-परिग्रहौ गृह्येते।

२. वृत्ति, पत्र १७९ : बहिद्धं ति मैथुनं यदि वा बहिद्धमिति मैथुनपरिग्रहौ।

३. चूर्णि, पृ० १७७ : अजाइयमिति अदत्तादाणं।

४. चूर्णि, पृष्ठ १७७ : शस्यते अनेनेति शस्त्रम्, शस्त्रस्य आदानानि शस्त्रादानानि, वूयन्त इत्यर्थः। कस्य शस्त्रस्य ? असंयमस्य।

५. (क) चूर्णि, पृष्ठ १७७ : सर्वतः कुञ्चनं पलिउंचणं माया।
   (ख) वृत्ति, पत्र १७९ : परि—समन्तात् कुञ्च्यन्ते—वक्रतामापाद्यन्ते क्रिया येन मायानुष्ठानेन तत्पलिकुञ्चनं मायेति भण्यते।

६. वृत्ति, पत्र १७९ : भज्यते सर्वत्रात्मा प्रह्वीक्रियते येन स भजनो लोभः।

७. चूर्णि, पृ० १७७ : भञ्जते भज्यते वाऽसविति असंयतैर्भञ्जनः लोभः।

८. वृत्ति, पत्र १७९, १८० : तथा यदुदयेन ह्यात्मा सदसद्विवेकविकलत्वात् स्थण्डिलवद्भवति स स्थण्डिलः—क्रोधः।

९. चूर्णि, पृ० १७७ : स्थण्डिलः क्रोधः चारित्रं स्थण्डिलस्थानीयं करोति, क्रोध एव स्थण्डिलः वपुर्वर्णादि च।

१०. वृत्ति, पत्र १८० : यस्मिंश्च सत्यूर्ध्वं श्रयति जात्यादिना दर्पाध्मातः पुरुष उत्तानीभवति स उच्छ्रायो मानः।

३५. कर्म के आयतन (धुत्तादाणाणि)

'धूर्त' का अर्थ है कर्म और 'आदान' का अर्थ है— आयतन ।[1] सूत्रकार का अभिप्राय है कि माया, लोभ, क्रोध और मान— ये कर्म-बन्ध के आयतन हैं ।

वृत्तिकार ने 'धुत्त' के स्थान पर 'धूण' क्रियापद मान कर उसे सभी के साथ योजित करने का निर्देश किया है। जैसे— माया को धुन (कंपित कर), लोभ को धुन, क्रोध को धुन और मान को धुन ।[2] उन्होने आदान का अर्थ— कर्मबंध का कारण किया है ।[3]

श्लोक १२ :

३६. रंगना (रयणं)

वस्त्र, दांत, नख आदि को रंगना ।[4]

३७. वमन-विरेचन (वमणं च विरेयणं)

वमन और विरेचन भी चिकित्सा के अंग हैं। प्राचीन काल में मुंह की सुंदरता बढाने और वर्ण को सुवर्ण बनाने के लिए वमन का प्रयोग किया जाता था ।[5] वमन में मदनफल का प्रयोग होता था ।[6]

वृत्तिकार ने वमन को ऊर्ध्व-विरेक (ऊर्ध्व-विरेचन) कहा है ।[7]

विरेचन से बल का विकास होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है और शरीर का वर्ण मनोहारी हो जाता है ।[8]

३८. वस्तिकर्म (वत्थिकम्मं)

अपान-मार्ग के द्वारा पानी, स्नेह आदि के प्रक्षेप को वस्तिकर्म कहा जाता है।

दशवैकालिक सूत्र के चूर्णिकार अगस्त्यसिंह स्थविर और जिनदास महत्तर ने तथा टीकाकार हरिभद्र ने अपान मार्ग से स्नेह आदि को चढाना वस्तिकर्म माना है ।[9]

निशीथ चूर्णिकार के अनुसार वस्तिकर्म कटि-वात, अर्श आदि बीमारियों को मिटाने के लिए किया जाता था ।[10]

देखें—दशवैकालिक ३/२ का टिप्पण ।

---

१. चूर्णि, पृ० १७७ : धुत्तादाणाणि·········धूर्तस्याऽऽयतनानि कर्मप्रसूतय इत्यर्थः ।

२. वृत्ति, पत्र १८० : धूनयेति प्रत्येकं क्रिया योजनीया, तद्यथा पलिकुञ्चनं—मायां धूनय धूनीहि वा, तथा भजनं—लोभं, तथा स्थण्डिलं—क्रोधं, तथा उच्छ्रायं—मानम् ।

३. वृत्ति, पत्र १८० : एतानि पलिकुञ्चनादीनि अस्मिन् लोके आदानानि वर्त्तन्ते ।
······आदीयते—स्वीक्रियते अमीभिः कर्म इत्यादानानि ।
(सूत्रकृतांग १.५३, वृत्ति पत्र ३६)

४. चूर्णि, पृ० १७८ : रयणं तेषां (वस्त्राणं) दन्त-नखादीनां च ।

५ चूर्णि, पृ० १७८ : मुखवर्णसौरूप्यार्थं वमनं करोति ।

६. दशवैकालिक, हरिभद्रीया टीका, पत्र ११८ : वमनम् मदनफलादिना ।

७ वृत्ति, पत्र १८० : वमनम्—ऊर्ध्वविरेकः ।

८. चूर्णि, पृ० १७८ : विरेचनमपि बला-ऽग्नि-वर्णप्रसावार्थम् ।

९. (क) दसवेआलियं, ३.२, अगस्त्यचूर्णि, पृ० ६२ : णिरोहादिदाणत्थं चम्ममयो णालियाउत्तो कीरति सेणं कम्मं—अपाणाणं सिणेहादिदाणं वत्थिकम्मं ।
(ख) वही, जिनदास चूर्णि, पृ० ११५ : वत्थिकम्मं नाम वत्थी दइओ भण्णइ, तेण दइएण घयाईणि अधिट्ठाणे दिज्जंति ।
(ग) वही, हरिभद्रीया टीका, पृ० ११८ : वस्तिकर्म्म पुटकेन अधिष्ठाने स्नेहदानं ।

१०. निशीथ भाष्य गाथा ४३३०, चूर्णि पृ० ३६२ : कडिवायअरिसविणासणत्थं च अपाणद्दारेण वत्थिणा तेल्लादिप्पदाणं वत्थिकम्मं ।

३६. शिरोवेध (सिरोवेधे)

चूर्णि और टीका में इसके स्थान पर 'पलिमंथ' पाठ व्याख्यात है। ज्ञाताधर्मकथा में 'सिरावेह' पाठ मिलता है। वृत्तिकार ने उसका अर्थ 'नाडीवेधन' किया है।[1] यहां 'सिरोवेधे' पाठ उपयुक्त लगता है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'पलीमंथ' का अर्थ—संयम का उपघात करने वाला किया है।[2]

श्लोक १३ :

४०. गन्ध-माल्य (गंधमल्लं)

गंध का अर्थ है—इत्र आदि सुगंधित पदार्थ और माल्य का अर्थ है—फूलों की माला।

देखें—दशवैकालिक ३/२ 'गंधमल्ले' का टिप्पण।

४१. स्नान (सिणाणं)

स्नान दो प्रकार का होता है—

१. देश-स्नान—शौच-स्थानों के अतिरिक्त आंखों के भौं तक धोना।

२. सर्व स्नान—सारे शरीर का स्नान।

जैन परंपरा में मुनि के लिए दोनों प्रकार के स्नान अनाचीर्ण हैं।

देखें—दशवैकालिक ३/२ 'सिणाणं' का टिप्पण।

४२. दांत पखालना (दंतपक्खालणं)

दांतों को कदम्ब के दतून से पखालना, दतोन करना।[3]

यह भी अनाचार है। दशवैकालिक सूत्र के तीसरे अध्ययन के तीसरे श्लोक में 'दंतपहोयणा' और नौंवे श्लोक में 'दंतवणे' शब्द का प्रयोग मिलता है। दोनों की भावना समान है।

देखें—दशवैकालिक ३/२,६ का टिप्पण।

४३. परिग्रह, स्त्री, हस्तकर्म (परिग्गहित्थिकम्मं)

इसमें तीन शब्द हैं—परिग्रह, स्त्री और कर्म।

चूर्णिकार ने सचित्त आदि पदार्थों के ग्रहण को परिग्रह माना है। उन्होंने स्त्री के तीन प्रकार बतलाए हैं—कुमारिका, परिणिता और विधवा अथवा दैवी, मानुषी और तैरश्ची। कर्म शब्द के द्वारा 'हस्तकर्म' गृहीत है।[4]

वृत्तिकार ने पूर्वोक्त सभी अर्थ स्वीकार करते हुए कर्म का वैकल्पिक अर्थ—सावद्य अनुष्ठान किया है।[5]

चूर्णिकार ने यहां एक प्रश्न उपस्थित किया है कि इसी अध्ययन के दसवें श्लोक में 'वहिद्धं' शब्द के द्वारा स्त्री और परिग्रह का वर्जन किया जा चुका है। यहां पुनः वर्जन निर्दिष्ट है। क्या यह पुनरुक्तदोष नहीं है? समाधान देते हुए वे लिखते हैं कि यह पुनरुक्त दोष नहीं है, क्योंकि इसमें उनके भेदों का उल्लेख किया गया है।[6]

---

१. ज्ञाताधर्मकथा, वृत्ति पत्र १६० : नाडीवेधनानि रुधिरमोक्षणानीत्यर्थः।

२. (क) चूर्णि, पृ० १७८ : तत्थ पलिमंथो संजमस्स।
   (ख) वृत्ति पत्र १८० : संयमपलिमन्थकारि संयमोपघातरूपम्।

३. वृत्ति, पत्र १८० : दन्तप्रक्षालनं कदम्बकाष्ठादिना।

४. चूर्णि, पृ० १७८ : परिग्गहं इत्थि कम्मं च, परिग्गहो सचित्तावी, इत्थी तिविधाओ, कम्मं हत्थकम्मं।

५. वृत्ति, पत्र १८० : परिग्रहः सचित्तादेः स्वीकरणं तथा स्त्रियो दिव्यामानुषतैरश्च्यः तथा 'कर्म' हस्तकर्म सावद्यानुष्ठानं वा।

६. चूर्णि, पृ० १७८ : स्यात्-पूर्वं वहिद्धमपदिष्टं इत्यतः पुनरुक्तम्, उच्यते, तद्भेददर्शनान्न पुनरुक्तम्।

श्लोक १४ :

४४. साधु के उद्देश्य से बनाए गए (उद्देसियं)

निर्ग्रन्थ को दान देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन आदि को औद्देशिक कहते हैं। यह भिक्षु के लिए अनाचीर्ण है— अग्राह्य और असेव्य है।

देखें— दशवैकालिक ३/२ 'उद्देसियं' का टिप्पण।

४५. (साधु के उद्देश्य से) खरीदे गए (कीयगडं)

इसके दो अर्थ प्राप्त हैं—

१. खरीद कर दी गई वस्तु।[1]
२. खरीदी हुई वस्तु से बनी हुई वस्तु।[2]

देखें—दशवैकालिक ३/२ 'कियगडं' का टिप्पण।

४६. (साधु के उद्देश्य से) उधार लिए गए (पामिच्चं)

साधु के लिए दूसरों से उधार लेना 'प्रामित्य' कहलाता है। यह उद्गम का नौवां दोष है।

देखें—दशवैकालिक ५/१/५५ 'पामिच्चं' का टिप्पण।

४७. (साधु के उद्देश्य से) दूर से लाए गए (आहडं)

आहृत का अर्थ है—साधु को देने के लिए गृहस्थ द्वारा अभिमुख लाई गई वस्तु। पिंडनिर्युक्ति और निशीथ भाष्य में इसके अनेक प्रकार निर्दिष्ट हैं।

देखें—दशवैकालिक ३/२ 'अभिहडाणि' का टिप्पण।

४८. पूति (पूतिं)

जो आहार साधु के निमित्त बनाया जाता है, उसे आधाकर्म कहते हैं। उससे मिश्रित जो आहार आदि होता है, वह पूतिकर्म कहलाता है।[3]

देखें—दशवैकालिक ५/१/५५ 'पूईकम्मं' का टिप्पण।

श्लोक १५ :

४९. वीर्यवर्द्धक आहार या रसायन (आसूणिं)

'ट्वोश्वि गतिवृद्ध्योः'—इस धातु का क्त प्रत्ययान्त रूप है 'शूनः'। इस धातु के दो अर्थ हैं—गति और वृद्धि। प्रस्तुत प्रसंग में यह वृद्धि के अर्थ में प्रयुक्त है।

'आसूणिं' का संस्कृत रूप है 'आशूनिं'। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसके तीन-तीन अर्थ किए हैं—

१. आशूनि का अर्थ है—श्लाघा। व्यक्ति दूसरों द्वारा प्रशंसित होता हुआ स्तब्ध हो जाता है। जब तक वह प्रशंसित होता है अथवा जब तक दूसरे व्यक्ति उसका अनुसरण करते हैं तब तक वह मान से स्तब्ध होता है। वह तुच्छ प्रकृति वाला मनुष्य अपनी प्रशंसा सुनकर मान से फूल जाता है।
२. जिस आहार के द्वारा व्यक्ति बलवान् होता है, बल की वृद्धि होती है, वह आशूनि कहलाता है।

---

१. वृत्ति, पत्र १८०। क्रीतं क्रयस्तेन क्रीतं—गृहीतं क्रीतक्रीतम्।
२. दशवैकालिक ३।२, हरिभद्रीया वृत्ति पत्र ११६ : क्रयणं—क्रीतं, भवे निष्ठाप्रत्ययः, साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते, तेन कृतं—निर्वर्तितं क्रीतकृतम्।
३. वृत्ति, पत्र १८० : 'पूय' मिति आधाकर्मावयवसम्पृक्तं शुद्धमप्याहारजातं पूति भवति।

३. जिस व्यायाम, स्नेहपान, रसायन के द्वारा बल की वृद्धि होती है, वह आशूनि कहलाता है।

चूर्णिकार ने श्लाघा के अर्थ को मुख्य मान कर शेष दो अर्थों को वैकल्पिक रूप में प्रस्तुत किया है।

वृत्तिकार ने श्लाघा के अर्थ को गौण मान कर शेष दो अर्थों को मुख्य माना है।[1]

५०. आंखों को आंजना (अक्खिरागं)

आंखों को सौवीरक आदि से आंजना।[2]

५१. तिरस्कार (उवघायकम्मगं)

व्यक्ति जाति, कर्म या शील से दूसरों का उपहनन करता है, उनको नीचा दिखाता है, वह उपघातकर्म है।[3]

५१. हाथ-पैर आदि धोना (उच्छोलणं)

हाथ, पैर, मुंह आदि को धोना उत्क्षालन कहा जाता है।[4]

वृत्तिकार ने अयतनापूर्वक सचित जल से हाथ-पैर आदि को धोना 'उत्क्षालन' माना है।[5]

दशवैकालिक सूत्र (४/श्लोक २६) में उत्क्षालनप्रधावी—हाथ-पैर आदि को बार-बार धोने वाले के लिए सुगति दुर्लभ है ऐसा कहा गया है। इस सूत्र के चूर्णिकार जिनदास महत्तर का अभिमत है कि जो थोड़े से जल से हाथ, पैर आदि को यतनापूर्वक धोता है वह उत्क्षालनप्रधावी नहीं होता। किन्तु जो प्रभूत जल से बार-बार अयतनापूर्वक हाथ, पैर आदि को धोता है, वह उत्क्षालन-प्रधावी होता है। उसे सुगति नहीं मिलती।[6]

५३. उबटन करना (कक्कं)

कल्क का अर्थ है—स्नान-द्रव्य, विलेपन-द्रव्य या गंध-द्रव्य का आटा। प्राचीन काल में स्नान में सुगंधित द्रव्यों का उपयोग किया जाता था। स्नान से पूर्व सारे शरीर पर तेल-मर्दन किया जाता था। उसकी चिकनाई को मिटाने के लिए पिसी हुई दाल या आंवले का सुगंधित उबटन लगाया जाता था। इसी का नाम 'कल्क' है।

यह उबटन आटे अथवा लोध आदि द्रव्यों के मिश्रण से भी बनाया जाता था।[7]

वैद्यक ग्रन्थों में कल्क की परिभाषा यह है[8]—

> द्रव्यमात्रं शिलापिष्टं, शुष्कं जलमिश्रितम्।
> तदेव सूरिभिः पूर्वैः, कल्क इत्यभिधीयते॥

विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ६/६२ 'कक्कं' और 'लोद्धं' का टिप्पण।

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १७८ : आसूणिकं णाम श्लाघा, येन परैः स्तूयमानः सुयजति, यावच्छृणोति यावद्वाऽनुस्मरति तावत् सुज्जति माननेति आसूनिकम्। अथवा जेण आहारेण आहारितेण सुणीहोति बलवत्त्वं भवति, व्यायाम-स्नेहपान-रसायनादिभिर्वा।

(ख) वृत्ति, पत्र १८० : आसूणिम इत्यादि येन घृतपानादिना आहारविशेषेण रसायनक्रियया वा अशूनः सन् आ—समन्तात् शूनीभवति—बलवानुपजायते तदाशूनीत्युच्यते, यदि वा आसूणिति—श्लाघा यतः श्लाघया क्रियमाणया आ—समन्तात् शूनवच्छूनो लघुप्रकृतिः कश्चिद्दर्पाध्मातत्वात् स्तब्धो भवति।

२. वृत्ति, पत्र १८० : अक्ष्णां 'रागो' रञ्जनं सौवीरादिकमञ्जनमितियावत्।

३. चूर्णि, पृ० १७८ : उपोद्घातकर्म णाम परोपघातः तच्च करोतीत्याह, जातितो कम्मणा सीलेण वा परं उवहणति।

४. चूर्णि, पृ० १७८ : उच्छोलणं च हत्थ-पाद-मुखादीनां।

५. चूर्णि, पृ० १८० : 'उच्छोलनं' ति अयतनया शीतोदकपानादिना हस्तपादादिप्रक्षालनम्।

६. दशवैकालिक ४/२६, जिनदासचूर्णि पृ० १६४ : उच्छोलणापहावी णाम जो पभूओदगेण हत्थपायादी अभिक्खणं पक्खालयइ, थोवेण कुक्कुचियत्तं कुव्वमाणो (ण) उच्छोलणापहोवी लब्भइ।

७. (क) चूर्णि, पृ० १७८ : कल्केन अट्टगमादिणा हत्थ-पादे मुखं गाताणि च उव्वट्टेति।

(ख) वृत्ति, पत्र १८० : कल्कं लोध्रादिद्रव्यसमुदायेन।

८. वैद्यकशब्दसिंधु, पृ० २३०।

श्लोक १६ :

५४. असंयत प्रवृत्ति को सहारा देना (संपसारी)

देखें—२/५० का टिप्पण।

५५. आरंभ की प्रशंसा करना (कयकिरिए)

देखें—२/५० का टिप्पण।

५६. अंगुष्ठ आदि के द्वारा फल बताना (पसिणायतनानि)

देखें—२/५० में 'पासिणए' का टिप्पण।

५७. शय्यातर पिंड (सागारियं पिंडं)

इसका अर्थ है—शय्यातर पिंड। मुनि जिसके मकान में रात्रीवास करता है, वह शय्यातर कहलाता है। उस घर के मालिक का भोजन आदि मुनि के लिए वर्ज्य है।

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—[1]

१. शय्यातर का पिंड।

२. सूतकगृह का पिंड।

३. जुगुप्सित कुल का पिंड।

विशेष टिप्पण के लिए देखें—दशवै० ३/५ का टिप्पण।

श्लोक १७ :

५८. जुआ (अट्ठापदं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—द्यूतक्रीडा किया है और यह राजपुत्रों में ही होती है—ऐसा निर्देश किया है। मुनि अष्टापद का अभ्यास न करे और जो मुनि बनने से पूर्व सीखा हुआ है, उसका प्रयोग न करे।[2]

वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ—चाणक्य आदि का अर्थशास्त्र और गौण अर्थ—द्यूत-क्रीडा विशेष किया है।[3]

जैन आगमों में वर्णित बहत्तर कलाओं में द्यूत दसवीं कला है और अष्टापद तेरहवीं कला है। इसके अनुसार 'द्यूत' और 'अष्टापद' एक नहीं है।

आज की भाषा में हम अष्टापद को शतरंज का खेल कह सकते हैं। द्यूत के साथ द्रव्य की हार-जीत का प्रसंग रहता है, अतः वह निर्ग्रन्थ के लिए संभव नहीं है। शतरंज का खेल प्रधानतया आमोद-प्रमोद के लिए होता है। अतः यह अर्थ प्रसंगोपात्त है।

दशवैकालिक सूत्र (३/४) में भी यह शब्द आया है। उसके व्याख्याकारों ने इसके तीन अर्थ किए हैं—

१. द्यूत।

२. एक प्रकार का द्यूत।

३. अर्थ-पद—अर्थ-नीति।

---

१. वृत्ति, पत्र १८१। 'सागारिकः'—शय्यातरस्तस्य पिण्डम्—आहारं, यदि वा—सागारिकपिण्डमिति सूतकगृहपिण्डं जुगुप्सितं वर्णापसदपिण्डं वा।

२. चूर्णि, पृ० १७८ : अट्ठापदं णाम द्यूतक्रीडा, न भवत्यराजपुत्राणाम्, तमष्टापदं न शिक्षेत पूर्वशिक्षितं वा न कुर्यात्।

३. वृत्ति, पत्र १८१ : अट्ठावयं इत्यादि अर्यते इत्यर्थो—धनधान्य हिरण्यादिकः पद्यते—गम्यते येनार्थस्तत्पदं—शास्त्रं अर्थार्थं पदमर्थपदं चाणाक्यादिकमर्थशास्त्रं.........यदि वा—'अष्टापदं'—द्यूतक्रीडाविशेषः।

'प्राचीन भारतीय मनोरंजन' के लेखक मन्मथराय ने भी अष्टपाद को शतरंज या उसका पूर्वज खेल माना है।

देखें—दशवैकालिक ३/४ अट्ठावए का टिप्पण।

५९. वेध (वेध)

चूर्णिकार ने वेध का अर्थ द्यूतविद्या या शरीर का वेधन किया है।[1]

वृत्तिकार ने 'वेधाईयं' पाठ के दो अर्थ किए हैं—[2]

१. धर्मानुवेध से अतीत अर्थात् अधर्म-प्रधान वचन।
२. वस्त्र-वेध—एक प्रकार का द्यूत, तद्गत वचन।

'वेधाईयं' इस पद में दीर्घ ईकार होने के कारण वृत्तिकार ने इसे वेधातीत मान लिया। आगमों में 'आदिक' शब्द के 'आदिय' और 'आदीय'—ये दोनों प्रयोग मिलते हैं। संस्कृत शब्द कोप में वेध का अर्थ है—ग्रह-नक्षत्रों का योग।[3] 'वदेत्' क्रिया के संदर्भ में यही अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है।

६०. हस्तकर्म (हत्थकम्मं)

चूर्णि में इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है। वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[4]—

१. हस्तकर्म—अप्राकृतिक मैथुन।
२. हाथापाई।

भगवती आराधना में इसका अर्थ है—छेदन, भेदन, रंगना, चित्र बनाना, गूंथना आदि हस्त-कौशल।[5] संस्कृत शब्द-कोष में 'हस्तक्रिया' का अर्थ हस्तकौशल मिलता है।[6] यहां यही अर्थ विवक्षित है।

६१. विवाद (विवाय)

चूर्णिकार ने विवाद, विग्रह और कलह—इनको एकार्थक माना है।[7] वृत्तिकार ने शुष्कवाद को विवाद माना है।[8]

श्लोक १८ :

६२. जूता (उवाहणाओ)

यहां 'उवाहणा' शब्द का प्रयोग हुआ है। दशवैकालिक में 'पाणहा' और पाठान्तर के रूप में 'पाहणा' शब्द प्राप्त हैं। 'पाणहा' और 'पाहणा' में 'ण' और 'ह' का व्यत्यय है। उवाहणा का संक्षिप्त रूप 'पाहणा' है। इसका अर्थ है—पादुका,[9] पादरक्षिका,[10]

---

१. चूर्णि, पृ० १७८ : वेधा नाम द्यूतविच्च (ज्जा) समूसितंगे (?) रुधिरं जंतांछिज्जंताणं।
२. वृत्ति, पत्र १८८ : वेधो धर्मानुवेधस्तस्मादतीतं सद्धर्मानुवेधातीतम्—अधर्मप्रधानं वचो नो वदेत् यदि वा—वेध इति वस्त्रवेधो द्यूतविशेषस्तद्गतं वचनम्।
३. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृ० १४९७ :
वेध : - Fixing the position of the sun, planets or the stars.
४. वृत्ति, पत्र १८१ : हस्तकर्म प्रतीतं, यदि वा हस्तकर्म हस्तक्रिया परस्परं हस्तव्यापारप्रधानः कलहः।
५ भगवती आराधना, गाथा ६१३, विजयोदया टीका।
६. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी पृ० १७५३ :
हस्तक्रिया—Manual work or performance, handicraft.
७. चूर्णि, पृ० १७८ : विवादो विग्रहः कलह इत्यनर्थान्तरम्।
८ वृत्ति, पत्र १८१ : विरुद्धवादं विवादं शुष्कवादमित्यर्थः।
९. (क) चूर्णि, पृ० १७९ : उपानहौ पादुके।
(ख) वृत्ति, पत्र १८१ : उपानहो—काष्ठपादुके।
१०. भगवती, २।१, वृत्ति ....पादरक्षिकाम्।

पादत्राण।[1] साधु के लिए जूते पहनना अनाचार है।

विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ३/४ 'पाणहा' का टिप्पण।

६३. छाता (छत्तं)

वर्षा तथा आतप-निवारण के लिए जिसका उपयोग किया जाए, उसे 'छत्र' कहते हैं। मुनि के लिए छत्रधारण का निषेध है।[2]

विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ३।४ का टिप्पण।

६४. नालिका (नलिका से पासा डालकर जुआ खेलना) (णालियं)

नालिका—यह द्यूत का ही एक विशेष प्रकार है। चतुर द्यूतकार अपनी इच्छा के अनुकूल पासे न डाल दे, इसलिए पासों को नालिका द्वारा डालकर जो जुआ खेला जाता है उसे 'नालिका द्यूत' कहा जाता है।

नालिका शब्द के अनेक अर्थ हैं। जैसे—छोटी-बड़ी डंडी, नली वाली रेत की घड़ी, मुरली आदि-आदि।

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति की वृत्ति में ७२ कलाओं के नाम हैं। उनमें जुए के लिए तीन शब्द आए हैं—द्यूत, अष्टापद और नालिका-खेल। वृत्तिकार ने द्यूत का अर्थ साधारण जुआ, अष्टापद का अर्थ सारी-फलक से खेला जाने वाला जुआ (शतरंज) और नालिकाखेल क अर्थ नालिका द्वारा पासे डालकर खेला जाने वाला द्यूत किया है।[3] प्रस्तुत सूत्र के चूर्णिकार ने नालिका का अर्थ नालिका-क्रीड़ा[4] और वृत्तिकार ने द्यूतक्रीड़ा विशेष किया है।[5]

देखें—दशवैकालिका ३।४ का टिप्पण।

६५. चमर (बालवीयणं)

वालवीजन का अर्थ है—बालों से बना पंखा, चमर। वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[6]—

१. चमर।

२. मयूरपिच्छ।

चमर, मयूरपिच्छ आदि से हवा करना अनाचार है। मुनि भीषणगर्मी में भी पंखा आदि झलकर हवा नहीं लें सकता।

६६-६७. परक्रिया ....अन्योन्यक्रिया (परकिरियं अण्णमण्णं च)

परक्रिया का अर्थ है—दूसरे से संबंधित क्रिया और अन्योन्यक्रिया का अर्थ है—परस्पर की क्रिया। आयारचूला का तेरहवां अध्ययन परक्रिया से और चौदहवां अध्ययन अन्योन्य क्रिया से संबंधित है। दोनों अध्ययनों की विषय-वस्तु समान है। अन्तर केवल इतना ही है कि परक्रिया में मुनि के लिए गृहस्थ या अन्यतीर्थिक से पैर आदि का आमर्जन, प्रमर्जन, संवाधन आदि कराने का निषेध है और अन्योन्यक्रिया में परस्पर आमर्जन, प्रमर्जन आदि का निषेध है।

श्लोक २० :

६८. गृहस्थ के पात्र में (परमत्ते)

'परमत्त' में दो शब्द हैं—'पर' और 'अमत्र'। पर का अर्थ है गृहस्थ और अमत्र का अर्थ है—बर्तन।[7] मुनि गृहस्थ के पात्र

१. दशवैकालिक ३।४, अगस्त्यचूर्णि, पृ० ६१ : उवाहणा पादत्राणं।

२. चूर्णि, पृ० १७६ : छत्रमपि आतप-प्रवर्षपरित्राणार्थं न धार्यम्।

३. जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति, २।६४, वृत्ति, पत्र १३७ : द्यूतं सामान्यतः प्रतीतम्।.........अष्टापदं—शारिफलकद्यूतं तद्विषयककलाम्। वृत्ति, पत्र १३६ : नालिकाखेलं द्यूतविशेषं मा भूदिष्टदायविपरीतपाशकनिपातनमिति नालिकया यत्र पाशकः पात्यते।

४. चूर्णि, पृ० १७६ : नालिका नाम नालिकाक्रीडा कुडुक्काक्रीड त्ति।

५. वृत्ति, पत्र १८१ : नालिका—द्यूतक्रीडाविशेषः।

६. वृत्ति, पत्र १८१ : वालैः मयूरपिच्छैर्वा व्यजनकम्।

७. चूर्णि, पृ० १७६ : परस्य पात्रं गृहिमात्र इत्यर्थः।

में अन्न-पान न खाए।

दशवैकालिक सूत्र में गृहस्थ के वर्तन में खाने से होने वाले दो दोषों का उल्लेख है। उसके अनुसार गृहस्थ के वर्तन में भोजन करने से पश्चात्-कर्म और पुरः-कर्म दोष की संभावना होती है। गृहस्थ वर्तनों को सचित्त जल से धोता है और उस जल को बाहर फेंकता है। इसमें छहों प्रकार के जीवों की हिंसा की संभावना है।[1]

वृत्तिकार ने तीन कारणों का निर्देश किया है[2]—

१. पुरः कर्म और पश्चात् कर्म का भय बना रहता है।

२. गृहस्थ के वर्तनों के चोरी हो जाने की संभावना रहती है।

३. हाथ से गिर कर वर्तनों के टूट जाने का भय रहता है।

(विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ६।५१,५२ का टिप्पण)

६९. अचेल होने पर भी गृहस्थ का वस्त्र (परवत्थं अचेलो वि)

इस पद का अर्थ है कि मुनि अचेल होने पर भी गृहस्थ का वस्त्र न ले।

चूर्णिकार का कथन है कि मुनि अचेल हो जाने पर भी गृहस्थ के वस्त्रों को काम में न ले। क्योंकि मुनि यदि गृहस्थ के वस्त्र काम में लेकर लौटाता है तो गृहस्थ उनको पहले या पीछे कच्चे जल से धोता है, इससे पश्चात्-कर्म और पुरःकर्म का दोष लगता है। तथा उन वस्त्रों के चोरी हो जाने या फट जाने का भी भय रहता है। अतः मुनि गृहस्थ के कपड़ों को काम में न ले।[3]

निशीथ १२।११ में परवस्त्र के स्थान पर गृहिवस्त्र का प्रयोग मिलता है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ प्रातिहारिक वस्त्र—काम में लेकर पुनः दिया जाने वाला वस्त्र—किया है।[4]

श्लोक २१ :

७०. आसंदी (आसंदी)

इसका अर्थ है—बैठने का एक प्रकार का उपकरण, कुर्सी। चूर्णिकार के अनुसार काष्ठपीठ को छोड़कर सभी आसन इस शब्द से गृहीत हैं।[5]

देखें—दशवैकालिक ३।५ में 'आसंदी' का टिप्पण।

७१. पलंग (पलियंके)

देखें—दशवैकालिक ६।५३, ५४, ५५ के टिप्पण।

७२. घर के भीतर बैठना (णिसिज्जं च गिहंतरे)

इस पद की भावना का विस्तार दशवैकालिक सूत्र के (६।५६-५९) इन चार श्लोकों में है। वहां निर्देश है कि भिक्षा के लिए प्रस्थित मुनि गृहस्थ के अन्तरगृह में न बैठे। क्योंकि वहां बैठने से ये दोष उत्पन्न हो सकते हैं—

---

१. दशवैकालिक ६।५१, ५२ : सीओदगसमारंभे, मत्तधोयणछड्डणे।
जाइं छन्नंति भूयाइं दिट्ठो तत्थ असंजमो॥
पच्छाकम्मं पुरेकम्मं, सिया तत्थ न कप्पई।
एयमट्ठं न भुंजंति, निग्गंथा गिहिभायणे॥

२. वृत्ति पत्र १८१ : परस्य—गृहस्थस्यामत्रं—भाजनं परामत्रं तत्र पुरःकर्मपश्चात्कर्मभयात् हृतनष्टादिदोषसम्भवाच्च।

३. चूर्णि, पृ० १७९ : परस्य वस्त्रं गृहिवस्त्रमित्यर्थः, तत् तावत् सचेलो वर्जयेत्, मा भूत् पश्चात्कर्मदोषः हृत-नष्टदोषश्च, यद्यपचेलकः स्यात्, एवं तावत् सचेलकस्य।

४. निशीथ, १२।११ : चूर्णि।

५. चूर्णि, पृ० १७९ : आसंदीत्यासंदिका सर्वा आसनविधिः अन्यत्र काष्ठपीठकेन।

१. ब्रह्मचर्य—आचार का विनाश।

२. प्राणियों का अवध-काल में वध।

३. भिक्षाचरों के दान में बाधा।

४. गृहस्वामी या घर वालों को क्रोध।

५. ब्रह्मचर्य में बाधा।

६. गृहस्वामिनी या वहां उपस्थित अन्य स्त्री के प्रति आशंका की उत्पत्ति।

इसका अपवाद सूत्र यह है कि जो मुनि जराग्रस्त है, जो रोगी है या जो तपस्वी है—वह गृहस्थ के अन्तर्घर में बैठ सकता है।[1]

वृत्तिकार ने 'गिहंतरे' के दो अर्थ किए हैं—घर के बीच में या दो घरों के बीच की गली में।[2]

विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं पृ० ३२५-३२७।

७३. सावद्य प्रश्न पूछना (संपुच्छणं)

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ दिए हैं[3]—

१. अमुक व्यक्ति ने यह काम किया या नहीं—गृहस्थ से यह पूछना।

२. अपने अंग—अवयवों के बारे में दूसरे से पूछना, जैसे—मेरी आंखें कैसी हैं ? ये सुन्दर लगती हैं या नहीं ? आदि।

३. रोगी (गृहस्थ) से पूछना—तुम कैसे हो ? तुम कैसे नहीं ? अर्थात् गृहस्थ रोगी से कुशल-प्रश्न करना।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ दिए हैं—[4]

१. गृहस्थ के घर में जाकर उसका कुशल-क्षेम पूछना।

२. अपने शरीर या अवयवों के विषय में पूछना।

विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ३।३ का टिप्पण।

७४. भुक्त-भोग का स्मरण (सरणं)

इसका अर्थ है—पूर्वभुक्त कामक्रीड़ा का स्मरण करना।[5] मुनि गृहस्थावस्था में अनुभूत भोगों की स्मृति न करे। यह भी एक अनाचार है।

दशवैकालिक सूत्र (३।६) में 'आउरस्सरण' तथा उत्तराध्ययन सूत्र (१५।८) में 'आउरे सरणं' पाठ उपलब्ध होता है।

'सरण' शब्द के दो संस्कृत रूप बनते हैं—स्मरण और शरण। स्मरण का अर्थ है—याद करना और शरण का अर्थ है—त्राण, घर, आश्रय-स्थान। इन दो रूपों के आधार पर इसके अनेक अर्थ होते हैं।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'स्मरण' के आधार पर ही इसका अर्थ किया है।

देखें—दशवैकालिक ३।६ का टिप्पण।

---

१. दशवैकालिक, ६।५६ : तिण्हमन्नयरागस्स, निसेज्जा जस्स कप्पई।
जराए अभिभूयस्स, वाहियस्स तवस्सिणो॥

२. वृत्ति, पत्र १८२ : गृहस्यान्तर्मध्ये गृहयोर्वा मध्ये।

३ चूर्णि, पृ० १७६ : संपुच्छणं णाम किं तत् कृतं ? न कृतं वा ? संपुच्छावेति अण्णं केरिसाणि मम अच्छीणि ? सोभंते ण वा ? इत्येवमादि, ग्लानं वा पुच्छति—किं ते वट्टति ? ण वट्टति वा ?।

४. वृत्ति, पत्र १८२ : गृहस्थगृहे कुशलादिप्रच्छनं आत्मीयशरीरावयवप्रच्छ(पुञ्छ)नं वा।

५. (क) चूर्णि, पृ० १७६ : सरणं पुव्वरत-पुव्वकीलियाणं।
(ख) वृत्ति, पत्र १८२ : पूर्वक्रीडितस्मरणम्।

श्लोक २२ :

७५. श्लोक २२ :

प्रस्तुत श्लोक में यश, कीर्त्ति, श्लोक, वंदना और पूजना—ये शब्द आए हैं। चूर्णिकार ने यश की दो अवस्थाओं का वर्णन किया है—पूर्वावस्था और उत्तरावस्था। गृहस्थावस्था में दान, बुद्धि, आदि के कारण यश था। मुनि अवस्था में तप, पूजा और सत्कार आदि के कारण यश होता है। मुनि के लिए ये दोनों अवस्थाओं के यश वांछनीय नहीं है। इस यश का कीर्तन करना यशकीर्त्ति है। श्लोक का अर्थ है—श्लाघा। जाति, तप, बहुश्रुतता आदि के द्वारा अपनी श्लाघा करना।[1]

वृत्तिकार ने इनका अर्थ इस प्रकार किया है[2]—

१. यश—अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करने के कारण शौर्य की जो प्रसिद्धि होती है वह यश कहलाता है।

२. कीर्त्ति—दान देने से होने वाली प्रसिद्धि कीर्त्ति है।

३. श्लोक—जाति, तप और बहुश्रुतता से होने वाली प्रसिद्धि श्लोक-श्लाघा है।

४. वंदना—देवेन्द्र, असुरेन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि विशिष्ट व्यक्तियों से वंदित होना वंदना है।

५. पूजना—ये विशिष्ट व्यक्ति सत्कारपूर्वक जो वस्त्र आदि देते हैं, वह पूजना है।

दशवैकालिक सूत्र (९।४। सूत्र ६) में अन्य शब्दों के साथ कीर्त्ति और श्लोक—ये दो शब्द भी आए हैं। व्याख्याकारों ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है—

१. कीर्त्ति—दूसरो के द्वारा किया जाने वाला गुणकीर्त्तन।[3] सर्वदिग्व्यापी प्रशंसा।[4]

२. श्लोक—ख्याति।[5] स्थानीय प्रशंसा।[6]

७६. काम (कामा)

विषयासक्त मनुष्यों द्वारा काम्य ईष्ट शब्द, रूप, गंध, रस तथा स्पर्श को काम कहते हैं।

काम दो प्रकार के होते हैं—द्रव्यकाम और भावकाम। भावकाम दो प्रकार के हैं—

१. इच्छाकाम—विषय की अभिलाषा।

२. मदनकाम—अब्रह्मचर्य का भोग।

देखें—दशवैकालिक २।१ का टिप्पण।

श्लोक २३ :

७७. श्लोक २३ :

प्रस्तुत श्लोक का अर्थ करने में चूर्णिकार और वृत्तिकार असंदिग्ध नहीं रहे हैं, ऐसी उनकी व्याख्या से प्रतीत होता है।

---

१. चूर्णि, पृ० १७६ : दानबुद्ध्यादि पूर्वं यशः, तपः-पूजा-सत्कारादि पश्चाद् यशः, यशः एव कीर्तनं जसकित्ती। सिलोगो णाम श्लाघा जाति-तपो-बाहुश्रुत्यादिभिरात्मानं (न) श्लाघेत।

२. वृत्ति, पत्र १८२ : बहुसमरसङ्घट्टनिर्वहणशौर्यलक्षणं यशः, दानसाध्या कीर्तिः, जातितपोबहुश्रुतत्वादिजनिता श्लाघा, तथा या च सुरासुराधिपतिचक्रवर्तिबलदेववासुदेवादिभिर्वन्दना तथा तैरेव सत्कारपूर्विका वस्त्रादिना पूजना।

३. दशवैकालिक ९।४।६, अगस्त्य चूर्णि, पृ० : परेहिं गुणसंसद्दणं कित्ती।

४. वही, हरिभद्रीया वृत्ति, पत्र २५७ : सर्वदिग्व्यापी साधुवादः कीर्तिः।

५. वही, अगस्त्य चूर्णि, पृ० : परेहिं पूरणं सिलोगो।

६. वही, हरिभद्रीया वृत्ति, पत्र २५७ : तत्स्थान एव श्लाघा।

चूर्णिकार ने इसकी दो व्याख्याएं की हैं[1]—

१. जिस उत्पादन दोष (धर्मकथा या संस्तव या आजीववृत्ति या दैन्य) के द्वारा अन्न-पान लिया जाता है, उससे संयम निर्गमन करता है, इसलिए ऐसा न करे।

२. जिससे इहलौकिक कार्य निष्पन्न होता है अथवा मित्र-कार्य पूरा होता है—यह मुझे इसके बदले में कुछ देगा, परित्राण करेगा, मेरा भार उठायेगा आदि-आदि इहलौकिक कार्य के निर्वाह को ध्यान में रखकर दूसरों को अन्न-पान न दे।

वृत्तिकार ने भी इसके दो अर्थ प्रस्तुत किए हैं[2]—

१. जिस (शुद्ध अथवा कारणवशगृहीत अशुद्ध) अन्न-जल से मुनि इस लोक में अपनी संयम यात्रा (दुर्भिक्ष या रोग, आतंक आदि) का निर्वाह करता है, वैसा ही अन्न-जल दूसरे मुनियों को दे।

२. जो अन्न-जल संयम को निस्सार करता है, वह न ले। तथा यह अशन आदि गृहस्थों, परतीर्थिकों और संयमोपघातक होने के कारण स्वतीर्थिकों को भी न दे। इस प्रवृत्ति को परिज्ञा से जानकर, इसका सम्यक् परिहार करे।

वृत्तिकार के दोनों अर्थों में कोई मेल नहीं है। हमने इसका अर्थ निशीथ सूत्र के आधार पर किया है। वहां बतलाया गया है—जो भिक्षु अन्यतीर्थिक और गृहस्थ के द्वारा अपना भार उठाता है, उठाने वाले का अनुमोदन करता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है। जो भिक्षु 'यह मेरा भार उठाता है,' इस दृष्टि से अन्यतीर्थिक या गृहस्थ को अशन, पान खाद्य या स्वाद्य देता है, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त प्राप्त होता है।[3]

सूत्रकृतांग चूर्णि में निशीथ के इन दो सूत्रों का आधार प्राप्त है। दोनों चूर्णियों (सूत्रकृत और निशीथ) में अद्भुत शब्द साम्य भी है—वहिस्सति वा मे किञ्चिद् उवगरणजातं—सूत्रकृत चूर्णि पृ० १८०।

ममेस उवकरणं वहेइ त्ति पडुच्च—निशीथ चूर्णि, भाग ३, पृ० ३६३।

निशीथ भाष्य और चूर्णि में अन्यतीर्थिक और गृहस्थ को अशन, पान आदि देने में अनेक दोष बतलाए गए हैं—भगवान् गौतम ने वर्द्धमान महावीर से पूछा—'भंते!' बालपुरुषों का बलवान् होना श्रेय है या दुर्बल होना श्रेय है? भगवान् महावीर ने कहा—'दुर्बल होना श्रेय है, बलवान् होना श्रेय नहीं है! बलवान् होने का मूल कारण आहार है। वह गृहस्थ साधु से आहार प्राप्त कर बहुत कलह-लड़ाइयां करता है, पानी पीता है, आचमन करता है, भुक्त आहार का वमन करता है, उसके रोग पैदा होता है, 'साधु ने मुझे कुछ ऐसा खाने को दिया जिससे रोग पैदा हो गया'—इस प्रकार अपवाद करता है अथवा वह मर जाता है—इन अनेक दोषों की संभावना को ध्यान रख कर मुनि गृहस्थ या अन्यतीर्थिक से भार न उठाए और न उन्हें अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य दे।[4]

---

१. चूर्णि, पृ० १८०: जेणेति जेण धम्मकधाए वा संथवेण वा आजीव-वणीमगत्तेण वा अण्णतरेण वा उप्पातणादोसेणं, अण्णहेतुं वा पाणहेतुं वा पयुंजमाणेण इमा ओवम्मा, णिव्वहति निर्वहति नाम निर्गच्छति तन्न कुर्यात्। अथवा जेणिह णिव्वाहेति येनास्य इहलौकिकं किञ्चिद् कार्यं निष्पद्यते मित्रकार्यं वा, प्रतिदास्यति वा मे किञ्चिद्, परित्रास्यति वा, वहिस्सति वा मे किञ्चिद् उवगरणजातं, एवमादिकं किञ्चिदिहलोककार्यनिर्वाहकं साधकमित्यर्थः, तं पडुच्च, अण्णं वा।

२. वृत्ति, पत्र १८२ : 'येन' अन्नेन पानेन वा तथाविधेनेति सुपरिशुद्धेन कारणापेक्षया त्वशुद्धेन वा 'इह'—अस्मिन् लोके इदं संयमयात्रादिकं दुर्भिक्षरोगातङ्कादिकं वा भिक्षुः निर्वहेत् निर्वाहयेद्वा तदन्नं पानं वा तथाविधं द्रव्यक्षेत्रकालभावापेक्षया शुद्धं—कल्पं गृह्णीयात्तथैतेषाम्—अन्नादीनामनुप्रदानमन्यस्मै साधवे संयमयात्रानिर्वहणसमर्थमनुतिष्ठेत् यदि वा—येन केनचिदनुष्ठितेन 'इमं' संयमं 'निर्वहेत्'— निर्वाहयेद् असारतामापादयेत्तथाविधमशनं पानं वाऽन्यद्वा तथाविधमनुष्ठानं न कुर्यात्, तथैतेषामशनादीनाम् 'अनुप्रदानं' गृहस्थानां परतीर्थिकानां स्वयूथ्यानां वा संयमोपघातकं नानुशीलयेदिति, तदेतत्सर्वं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा सम्यक् परिहरेदिति।

३. निशीथ १२।४१, ४२ : जे भिक्खू अण्णउत्थिएण वा गारत्थिएण वा उवहिं वहावेति, वहावेंतं वा सातिज्जति।

जे भिक्खू तण्णीसाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा देति, देंतं वा सातिज्जति।

४. निशीथ भाष्य गाथा ४२०६ : दुब्बलियत्तं साहू, बालाणं तस्स भोयणं मूलं।

दगघातो अपि पियणे, दुगुंछ वमणे कयुड्डाहो॥

चूर्णि, तृतीयो विभाग पृ० ३६३ :

भगवता गोयमेण महावीरवद्धमाणसामी पुच्छितो—'एतेसि णं भंते! बालाणं किं बलियत्तं सेयं? दुब्बलियत्तं सेयं?' भगवया वागरियं—'दुब्बलियत्तं सेयं, बलियत्तं अस्सेयं।' तस्स य बलियत्तणस्स मूलं आहारो सो य साहूसमीवे आहारं आहारेत्ता बहूणि अधिकरणाणि करेज्ज, उदगं वा पिएज्ज, आयमेज्ज वा, भुत्तो वा दुगुंछाए वमेज्ज, रुयुप्पातो वा से हवेज्ज। संजएहिं एरिसिं किंपि मे दिन्नं जेण रोगो जातो एवं उड्डाहो मरेज्ज वा।.........तम्हा गिहत्थो अन्नउत्थिओ वा ण वाहेयव्वो, ण वा असणादी दायव्वं।

श्लोक २४ :

७८. श्रुतधर्म का उपदेश दिया (धम्मं देसितवं सुतं)

भगवान् महावीर ने श्रुतधर्म का उपदेश दिया। चूर्णिकार का कथन है कि भगवान् ने श्रुतधर्म के द्वारा चारित्र धर्म की देशना दी।[1]

वृत्तिकार ने 'धम्मं' और 'सुत्तं' को विशेष्य-विशेषण न मानकर स्वतंत्र माना है। उनके अनुसार भगवान् महावीर ने संसार को पार लगाने में समर्थ चारित्रधर्म और श्रुतधर्म का उपदेश दिया।[2]

श्लोक २५ :

७९. बोलता हुआ भी न बोलता-सा रहे (भासमाणो ण भासेज्जा)

जो साधक भाषा समिति से युक्त है, वह बोलता हुआ भी अभाषक ही है। दशवैकालिक निर्युक्ति में बताया है[3]—

वयणविभत्तीकुसलो वयोगतं बहुविधं वियाणंतो।
दिवसं पि जंपमाणो सो वि हु वइगुत्ततं पत्तो॥

—जो साधक भाषाविज्ञ है, वचन और विभक्ति को जानता है तथा अन्यान्य नियमों का ज्ञाता है, वह सारे दिन बोलता हुआ भी वचनगुप्त है।

नियमों के अनुसार वस्त्रों का उपयोग करने वाला सचेल मुनि भी अचेल कहलाता है, उसी प्रकार भाषा-समित मुनि भी अभाषक कहलाता है।

इस पद का वैकल्पिक अर्थ है– साधक अपने से बड़े या छोटे मुनियों के बात करते समय बीच में न बोले।[4] दशवैकालिक में इस अर्थ का समर्थन मिलता है।

वृत्तिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया है—जहां रत्नाधिक मुनि (या गृहस्थ) बोल रहे हों, उनके मध्य में 'मैं विद्वान् हूं'—इस अभिमान से दृप्त हो न बोले।[5]

८०. मर्मवेधी वचन (मम्मयं)

इसका अर्थ है—मर्मवेधी वचन। यथार्थ हो या अयथार्थ, जिस वचन को बोलने से किसी के मन में पीड़ा होती हो वह मर्मवेधी वचन कहलाता है। वह सीधा मर्म को छूता है। साधक ऐसा वचन न बोले।

वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप में 'मामकं' पाठ मान कर उसका अर्थ पक्षपातपूर्ण वचन किया है। मुनि बोलता हुआ या अन्य समय में पक्षपातपूर्ण वचन न कहे।[6]

चूर्णिकार के अनुसार जाति, कुशील और तप आदि के मर्म को छूने वाला वचन मर्मक होता है।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० १८० : अनेन श्रुतधर्मेण चारित्रधर्मं देशितवान्, चारित्रधर्मविशेषमेव श्रुतधर्मोऽत्र चारित्रधर्मं देशितवान्।
२. वृत्ति, पत्र १८२ : स भगवान 'धर्मं'—चारित्रलक्षणं संसारोत्तारणसमर्थं तथा 'श्रुतं च' जीवादिपदार्थसंसूचकं 'देशितवान्'—प्रकाशितवान्।
३. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा २९३।
४ चूर्णि: पृ० १८० : यो हि भाषासमितः सो हि भाषमाणोऽप्यभाषक एव लभ्यते·········जधाविधीए परिहरमाणो सचेलो वि अचेल एवापदिश्यते·········अथवा भासमाणो ण भासेज्जा, ण रातिणियस्स अंतरभासं करेज्जा ओमरातिणियस्स वा।
५. वृत्ति, पत्र १८३ : यो हि भाषासमितः स भाषमाणोऽपि धर्मकथासम्बन्धमभाषक एव स्यात् ···· ·· यदि वा—यत्रान्यः कश्चिद् रत्नाधिको भाषमाणस्तत्रान्तर एव सश्रुतिकोऽहमित्येवमभिमानवान्न भाषेत।
६. वृत्ति, पत्र १८३ : मर्म गच्छतीति मर्मगं ···· यद्वचनमुच्यमानं तथ्यमतथ्यं वा सद्यस्य कस्यचिन्मनः पीडामाधत्ते तद्विवेकी न भाषेतेति भावः, यदि वा 'मामकं'—ममीकारः पक्षपातः।
७. चूर्णि, पृ० १८० : जातिकुशील-तवेहिं मर्मकृद् भवतीति मर्मकम्।

मर्म को छूने से मुनि भी क्रोध के आवेश में आ जाता है तो फिर गृहस्थ क्रोध में आ जाए तो आश्चर्य ही क्या है ?[1]

८१. बोले (वम्फेज्ज)

चूर्णिकार ने इसे देशी शब्द मान कर इसका अर्थ 'उल्लाप' किया है। अनर्थक बोलना, असंबद्ध बोलना—यह 'वम्फेज्ज' का वाच्य है।[2]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ– अभिलषेत्—इच्छा करे—किया है।[3]

आचार्य हेमचन्द्र ने (४।१७६,१६२) में 'वंफइ' का अर्थ—कांक्षति—इच्छा करना किया है।[4]

८२. मायिस्थान का (माइट्ठाणं)

मायिस्थान का अर्थ है—माया प्रधान वचन।[5]

चूर्णिकार ने माया का अर्थ—आचरण को छिपाने की वृत्ति, कुछ करके मुकर जाना, भविष्य में किए जाने वाले आचरण का किसी को आभास न होने देना—किया है।[6]

वृत्तिकार के अनुसार दूसरे को ठगने के लिए अपने आचरण को छुपाना माया है। बोलते समय या नहीं बोलते समय या कभी भी मुनि माया प्रधान वचन न कहे, माया प्रधान आचरण न करे।[7]

८३. सोचकर बोले (अणुवीइ वियागरे)

मुनि सोचकर बोले। जब वह बोलना चाहे तब पहले-पीछे का ज्ञान कर, चिन्तन कर बोले। वह यह सोचे—यह वचन अपने लिए, पर के लिए या दोनों के लिए दुःखजनक तो नहीं है ? ऐसा चिन्तन करने के पश्चात् बोले। कहा भी है—पुव्विं बुद्धीए पेहित्ता, पच्छा वक्कमुदाहरे'—पहले बुद्धि से सोचकर, फिर बोले।[8]

श्लोक २६ :

८४. श्लोक २६

प्रस्तुत श्लोक के दो चरणों में अवक्तव्य सत्य के कथन से पछतावा होता है—इसका उल्लेख है।

भाषा के चार प्रकार हैं—सत्य, असत्य, सत्यामृषा (मिश्र) और असत्यामृषा (व्यवहार)। इनमें दूसरी और तीसरी भाषा मुनि के लिए सर्वथा वर्जनीय है। सत्य और व्यवहार भाषा भी वही वचनीय है जो अनवद्य, मृदु और संदेह रहित हो।[9]

मुनि सत्य भाषा बोले। किन्तु जो सत्य भाषा परुष और महान् भूतोपघात करने वाली हो, वह न बोले। काने को काना,

---

१. निशीथभाष्य, गाथा ४२८५ : जति ताव मम्मं परिघट्टियस्स मुणिणो वि जायते मण्णू।
किं पुण गिहीणमण्णू, ण भविस्सति मम्मविद्धाणं॥

२. चूर्णि, पृ० १८० : वंफेति णाम देसीभासाए उल्लावो वुच्चति, तदपि च अपार्थकं अश्लिष्टोक्तं बहुधा तं वंफेति त्ति वुच्चति।

३. वृत्ति, पत्र १८३ : न वंफेज्जति नाभिलषेत्।

४. प्राकृत व्याकरण ४।१६२।

५. वृत्ति, पत्र १८३ : मातृस्थानं—मायाप्रधानं वचः।

६. चूर्णि, पृ० १८० : माया णाम गूढाचारता, कृत्वाऽपि निह्नवः करिष्यमाणश्च न तथा दर्शयत्यात्मानम्।

७. वृत्ति, पत्र १८३ : इदमुक्तं भवति—परवञ्चनबुद्ध्या गूढाचारप्रधानो भाषमाणोऽभाषमणो वाऽन्यदा वा मातृस्थानं न कुर्यादिति।

८. (क) वृत्ति, पत्र १८३ : यदा तु वक्तुकामो भवति तदा नैतद्वचः परात्मनोरुभयोर्वा बाधकमित्येवं प्राग्विचिन्त्य वचनमुदाहरेत्, तदुक्तम्—पुव्विं बुद्धीए पेहित्ता, पच्छा वक्कमुदाहरे।
(ख) चूर्णि, पृ० १८० : यदा वक्तुकामो भवति तदा पूर्वापरतोऽनुचिन्त्य वाहरे।

९. दशवैकालिक ७।१-४।

नपुंसक को नपुंसक, रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे ।[1] यद्यपि ऐसा कहना असत्य नहीं है, किन्तु ये वचन मर्म को बींधते हैं, पीड़ा उत्पन्न करते हैं, अतः इसका निषेध है । इसी प्रकार दास को दास न कहे, राज्य-विरुद्ध सत्य भाषा न बोले अथवा जानते हुए भी यह न कहे कि इसने यह किया है ।

जो इस प्रकार का सत्य बोलता है वह बोलने के बाद पछताता है । जो कटु सत्य बोलता है वह बंधन, घात आदि दुःखों को प्राप्त कर अनुताप करता है । अथवा निरपराध या सापराध व्यक्ति को दोषी ठहरा कर फिर स्वयं अनुताप करता है कि अरे ! मैंने यह क्या कर डाला ।[2]

वृत्तिकार ने 'संतिमा तहिया' (सं० सन्ति इमाः तथ्याः) पाठ के स्थान पर 'तत्थिमा तइया' (सं० तत्रेमा तृतीया) पाठ मान कर व्याख्या की है । उनका कथन है कि चार भाषाओं में तीसरी भाषा है—सत्यामृषा । यह मिश्र भाषा है—कुछ सत्य है और कुछ असत्य । मुनि ऐसी भाषा न बोले ।[3]

इन शब्दों के आधार पर चूर्णिकार और वृत्तिकार की व्याख्या में बहुत अन्तर आ गया । जहां चूर्णिकार अवक्तव्य सत्य का निषेध करते हैं वहां वृत्तिकार मिश्र भाषा का निषेध करते हैं । यह अन्तर भिन्न पाठ की स्वीकृति के कारण आया है ।

८६. हिंसाकारी वचन (छणं)

इसका संस्कृतरूप है—क्षणम् । यह 'क्षणु हिंसायाम्' धातु से निष्पन्न होता है । इसका अर्थ है—हिंसायुक्त वचन, जैसे—खेत को काटो, गाड़ी को जोतो, बकरे को मारो, पुत्रों को काम में लगाओ, यह चोर है, इसका वध करो, इन बैलों का दमन करो ।[4]

८६. निर्ग्रन्थ (महावीर) की (णियंठिया)

महान् निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर की यह आज्ञा (उपदेश) है, अथवा निर्ग्रन्थों के लिए यह आज्ञा उपदिष्ट है ।[5]

८७. आज्ञा (आणा)

यहां आज्ञा का अर्थ है—उपदेश ।[6]

श्लोक २७ :

८८. हे साथी ! (होलावाय)

चूर्णिकार के अनुसार 'होला' शब्द देशी भाषा में समवयस्क व्यक्तियों के आमंत्रण के लिए लाट देश में प्रयुक्त होता था ।

१. दशवैकालिक ७।११,१२ ।

२. चूर्णि, पृ० १८१ : सन्तीति विद्यन्ते, तथिका नाम तथ्या, सद्भूता इत्यर्थः । भाषन्त इति भाषा, अनेके एकादेशात् । जं वदित्ताऽणुतप्पती, स्वयमेव चोरः काणः दासस्तथा राजविरुद्धं वा लोकविरुद्धं वा एष वा इणमकासी, अनुतापो हि दुःखं प्राप्य वा बन्ध—घातादि भवति, अप्राप्तस्य पर वा सागसं निरागसं वा दोषं प्रापयित्वा चानुतापो भवति ।

(ख) वृत्ति, पत्र १८३ ।

३. वृत्ति, पत्र १८३ : 'तत्थिमा' इत्यादि, सत्या असत्या सत्यामृषा असत्यामृषेत्येवंरूपासु चतसृषु भाषासु मध्ये तत्रेयं सत्यामृषेत्येतदभिधाना तृतीया भाषा, सा च किञ्चिन्मृषा किञ्चित्सत्या इत्येवंरूपा ।

४. (क) चूर्णि पृ० १८१ : 'छण हिंसायाम्' यद्धि हिंसकं तन्न वक्तव्यम् । तद्यथा—लूयतां केदारः, युज्यन्तां शकटानि, छागो वध्यताम्, निविश्यन्तां दारका इति ।

(ख) वृत्ति, पत्र १८३ : 'क्षणु हिंसायां' हिंसाप्रधानं, तद्यथा—वध्यतां चौरोऽयं लूयन्तां केदाराः, दम्यन्तां गोरथका इत्यादि ।

५. चूर्णि, पृ० १८१ : णियंठ इति निर्ग्रन्थः एषा महाणियंठस्याऽऽज्ञा, णियंठाण वा एषा आज्ञा उपदिष्टा ।

६. (क) चूर्णि, पृ० १८१ : आज्ञा नाम उपदेशः ।

(ख) वृत्ति, पत्र १८३ : एषाऽऽज्ञा अयमुपदेशः ।

जैसे—कांइ रे हेल्ल। 'होला' का अर्थ है साथी।[1]

दशवैकालिक सूत्र (७।१४ और १६) में 'होल' शब्द आया है। चूर्णिकार अगस्त्यसिंह स्थविर ने उसे देशी शब्द मान कर उसका अर्थ—निष्ठुर आमंत्रण किया है।

दूसरे चूर्णिकार जिनदास महत्तर ने इसका अर्थ मधुर आमंत्रण किया है।

विशेष विवरण के लिए देखें—दशवैकालिक ७।१४-१७ के टिप्पण।

तुलना के लिए देखें—आयारचूला ४।१२-१५।

८६. हे मित्र! (सहीवायं)

मुनि सखिवाद का प्रयोग न करे। वह किसी को 'सखा' कह कर संबोधित न करे।[2]

६०. हे अमुक-अमुक गोत्र वाले (गोयवायं)

गोत्र का वाद अर्थात् कथन। मुनि किसी को गोत्र से संबोधित न करे, जैसे—ब्राह्मण!, क्षत्रिय!, काश्यपगोत्र! इत्यादि।[3]

चूर्णिकार ने इस शब्द के स्थान पर 'सोलवादं' पाठ मान कर उसका अर्थ—प्रियभाष किया है।[4]

६१. (तुमं तुमं ति······)

सम्मान्य, वृद्ध तथा समर्थ व्यक्तियों को मुनि 'तू तू' ऐसा वचन सर्वथा न कहे।[5]

जो श्रेष्ठ पुरुष बहुवचन में कहे जाने योग्य हैं उन्हें तिरस्कार प्रधान एक वचन तू-तू न कहे। इसी प्रकार दूसरों को अपमानित करने वाला वचन साधु सर्वथा न बोले।[6]

श्लोक २८:

६२. संसर्ग न करे (णो य संसग्गियं भए)

भिक्षु कुशील का संसर्ग न करे, परिचय न करे। निर्युक्तिकार ने पार्श्वस्थ, अवसन्न और कुशील—इन तीनों के संसर्ग का निषेध किया है।[7] उनके साथ आना-जाना, उन्हें देना, उनसे लेना, उनके साथ प्रवृत्ति करना—ये सारे संसर्ग हैं।[8]

६३. उनके संसर्ग में अनुकूल उपसर्ग (सुहरूवा तत्थुवसग्गा)

कुशील के संसर्ग से अनुकूल उपसर्ग उत्पन्न होते हैं। इसका तात्पर्य है कि साधक के मन में सुख-सुविधा की भावना उत्पन्न होती है और वह संयम में शिथिल हो जाता है।

चूर्णिकार ने 'सुहरूवा' के दो अर्थ किए हैं—[9]

---

१. चूर्णि, पृ० १८१ : होला इति देसीभाषात: समवया आमन्त्यते, यथा लाटानां 'काइं रे हेल्ल' त्ति।
२. (क) चूर्णि, पृ० १८१ : सहीवादमिति सखेति।
   (ख) वृत्ति, पत्र १८३ : सखेत्येवं वादः सखिवादः।
३. वृत्ति, पत्र १८३ : तथा गोत्रोद्घाटनेन वादो गोत्रवादो यथा काश्यपसगोत्रे वशिष्ठसगोत्रे वेति।
४ चूर्णि, पृ० १८१ : सोलवादो प्रियभाष इव। 'गोतावादो' वा पठ्यते।
५. चूर्णि, पृ० १८१: जो अतुमंकरणिज्जो वृद्धो वा प्रभविष्णुर्वा स न वक्तव्यः।
६. वृत्ति, पत्र १८३ : 'तुमं तुमं' ति तिरस्कारप्रधानमेकवचनान्तं बहुवचनोच्चारणयोग्ये 'अमनोज्ञं' मनः प्रतिकूलरूपमन्यदप्येवम्भूतमपमानापादकं 'सर्वशः'—सर्वथा तत्साधूनां वक्तुं न वर्तत इति।
७ सूत्रकृतांग निर्युक्ति गाथा ६५ : पासत्थोसण्ण-कुसीलसंथवो ण किर वट्टते कातुं।
८. चूर्णि पृ० १८१ : संसर्जनं संसर्गः, आगमण-दाण-ग्रहणसम्प्रयोगान्मा भूत्।
६. चूर्णि, पृ० १८१ : सुखरूपा नाम सुखस्पर्शाः·········अहवा सुख इति संयमः, संयमानुरूपाः।

१. सुख स्पर्श वाले अर्थात् सुख-सुविधा जनक।

२. संयमानुरूप।

यहां सुख का अर्थ है—संयम।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—सुख-सुविधा के स्वभाव वाले किया है।[1] कुशील के साथ परिचय बढ़ने से साधक के मन में कठोर चर्या या संयम-चर्या के नियमों के प्रति वितर्क उत्पन्न होने लगते हैं। वह सोचता है—प्रासुक जल से पैरों और दांतों को धोने में दोष ही क्या है? शरीर पर उबटन करने में क्या दोष है? ऐसा करने से लोगों में अपवाद भी नहीं होता।[2]

शरीर के बिना धर्म नहीं होता इसलिए आधाकर्म आहार में क्या दोष हो सकता है? इसी प्रकार जूते पहनने और छत्ता धारण करने में भी क्या आपत्ति है? यदि रात्री में संचय भी किया जाता है तो क्या दोष है? इसलिए धर्म के आधारभूत शरीर को जो आवश्यक हो, उनका उपयोग करना चाहिए। कहा भी है—जो थोड़े दोष से भी अधिक लाभ कमाता है, वही पंडित है। एक संस्कृत श्लोक में शरीर के वैशिष्ट्य को इस प्रकार बताया है—

'शरीरं धर्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः।
शरीरात् स्रवते धर्मः पर्वतात् सलिलं यथा॥

शरीर धर्म से युक्त है—धर्म का साधन है। अतः प्रयत्नपूर्वक उसकी रक्षा करनी चाहिए। जैसे पर्वत से पानी झरता है, वैसे ही शरीर से धर्म उत्पन्न होता है, पुष्ट होता है।

कुशील व्यक्ति यह भी कहते हैं कि आज के युग में संहनन—शरीर का संघटन कमजोर और दुर्बल है तथा धृति भी क्षीण है। इसलिए जैसे-तैसे संयम का पालन करना भी अच्छा ही है।[3]

श्लोक २८ :

९४. बिना (अण्णत्थं)

अन्यत्र अव्यय है। इसका अर्थ है—बिना।

९५. गृहस्थ के घर में (परगेहे)

पर का अर्थ है—गृहस्थ। परगेहे अर्थात् गृहस्थ के घर में।[4]

९६. श्लोक २९

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम दो चरणों का प्रतिपाद्य है कि मुनि किसी बाधा के बिना गृहस्थ के घर में न बैठे।

प्रस्तुत अध्ययन के इक्कीसवें श्लोक में 'णिसिज्जं च गिहंतरे' यह चरण उपलब्ध है।

दोनों स्थलों की भावना समान है।

दशवैकालिक सूत्र के अनुसार वृद्ध, रोगी और तपस्वी मुनि गृहस्थ के घर में बैठ सकता है।[5]

प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त 'अंतराय' शब्द इसी अपवाद का द्योतक है। अन्तराय का अर्थ है—बाधा, शक्ति का अभाव। शक्ति

---

१. वृत्ति, पत्र १८३ : 'सुखरूपाः'—सातगौरवस्वभावाः।

२. चूर्णि, पृ० १८१ : संसर्गिस्तद्भावं गमयति। कथम्? तद्यथा—को फासुगपाणएण पादेहिं पक्खालिज्जमाणेहिं दोसो?, तहा दंतपक्खालणे उव्वट्टणे, एवं लोगे अवण्णो न भवति।

३. वृत्ति, पत्र १८४ : तथा नाशरीरो धर्मो भवति इत्यतो येन केनचित्प्रकारेणाधाकर्मसन्निध्यादिना तथा उपानच्छत्रादिना च शरीरं धर्माधारं वर्तयेत्।......तथा साम्प्रतमल्पानि संहननानि अल्पधृतयश्च संयमे जन्तवः।

४. वृत्ति, पत्र १८४ : परो—गृहस्थस्तस्य गृहं परगृहम्।

५. दशवैकालिक ६।५९ : तिण्हमन्नयरागस्स निसेज्जा जस्स कप्पई।
जराए अभिभूयस्स वाहियस्स तवस्सिणो॥

का अभाव बुढ़ापे के कारण, रोग या तपस्या के कारण हो सकता है ।[1]

९७. कामक्रीड़ा और कुमार-क्रीड़ा (गाम-कुमारियं किड्डं)

ग्राम्यक्रीड़ा का अर्थ है—काम-क्रीड़ा ।

इसके अनेक प्रकार हैं—हास्य, कंदर्प, हस्त-स्पर्श, आलिंगन आदि ।

चूर्णिकार ने कुमारक्रीड़ा का अर्थ गेंद खेलना या झूला-झूलना भी किया है ।[2]

वृत्तिकार ने 'गामकुमारियं' को एक शब्द मानकर उसका अर्थ गांव में रहने वाले कुमारों की क्रीड़ा किया है । परस्पर हास्य, कंदर्प, हस्तसंस्पर्शन, आलिंगन आदि करना अथवा गेंद आदि खेलना ।[3]

९८. मर्यादा रहित हो न हंसे (णाइवेलं हसे मुणी)

वेला, मेरा, सीमा, मर्यादा—ये एकार्थक हैं ।[4]

मुनि मर्यादा का अतिक्रमण कर न हंसे । क्योंकि इससे सात-आठ कर्मों का बंध होता है । गौतम ने भगवान् से पूछा—भंते ! जीव हंसता हुआ कितने कर्म बांधता है ? भगवान् ने कहा—गौतम ! सात या आठ कर्म बांधता है ।[5]

चूर्णिकार ने इस आगमिक कारण के अतिरिक्त एक कारण और दिया है कि हंसने से संपातिम-वायुकाय के जीवों का वध होता है ।[6]

इन कारणों के अतिरिक्त मुनि यदि मर्यादा रहित होकर हंसता है, अट्टहास करता है तो वह अशिष्ट व्यवहार लगता है । सुनने वालों को छिछलेपन का भान होता है ।

श्लोक ३० :

९९. सुन्दर पदार्थों के प्रति (उरालेसु)

'उराल' का संस्कृत रूप 'उदार' किया गया है । पिशेल के अनुसार मागधी में 'द' बहुत ही अधिक स्थलों पर 'ड' के द्वारा 'र' बनकर 'ल' हो गया है ।[7]

उदार का अर्थ है—सुन्दर, मनोज्ञ । चक्रवर्ती आदि विशिष्ट व्यक्तियों के कामभोग, वस्त्र, आभरण, गीत, नृत्य, यान, वाहन, सत्ता, ऐश्वर्य आदि उदार होते हैं, मनोज्ञ होते हैं ।[8]

---

१. (क) वृत्ति, पत्र १८४ : अन्तरायः शक्त्यभावः, स च जरसा रोगातङ्काभ्यां स्यात् ।
   (ख) चूर्णि, पृ० १८१ : अंतरागं जराए अभिभूतो वाहितो तपस्वी इत्यादि ।

२. चूर्णि, पृ० ११७१,१८२ : गामकुमारियं किड्डं, ग्रामधर्मक्रीडा कुमारक्रीडा वा गाम-कोमरियं किड्डं । तत्र ग्रामक्रीडा हास्यकन्दर्प-हस्तस्पर्शना-ऽऽलिङ्गनादि, ताभिः सार्द्धं एवं वा स्त्रीभिः क्रीडते इति, पुम्भिरपि सार्द्धम् । कुमारकानां क्रीडा कुमारक्रीडा वट्टलेंदुग-अदोलिगादि ।

३. वृत्ति, पत्र १८४ : तथा ग्रामे कुमारका ग्रामकुमारकास्तेषामियं ग्रामकुमारिका काऽसौ ?—'क्रीडा'—हास्यकन्दर्पहस्तसंस्पर्शना-लिङ्गनादिका, यदि वा वट्टकन्दुकादिका ।

४. चूर्णि, पृ० १८२ : वेला मेरा सीमा मज्जाय त्ति वा एगट्ठं ।

५. भगवती ५।७१ : जीवे णं भंते । हसमाणे वा, उस्सुयमाणे वा कइ कम्मपगडीओ बंधइ ?
   गोयमा ! सत्तविहबंधए वा अट्ठविहबंधए वा····· ।

६. चूर्णि, पृ० १८२ : इह हसतां संपाइमवायुवधो ।

७. पिशेल, प्राकृत व्याकरण, पेरा २३७ ।

८. (क) चूर्णि, पृ० १८२ : उराला नाम उदाराः शोभना इत्यर्थः तेषु चक्रवर्त्यादीनां सम्बन्धिषु शब्दादिषु कामभोगेषु अन्यैश्वर्य-वस्त्रा-ऽऽभरण-गीत-गान्धर्व-यान-वाहनादिषु ।
   (ख) वृत्ति, पत्र १८४ : 'उराला' उदाराः शोभना मनोज्ञा ये चक्रवर्त्यादीनां शब्दादिषु विषयेषु कामभोगा वस्त्राभरणगीतगन्धर्वयान-वाहनादयस्तथा आज्ञैश्वर्यादयश्च एतेषूदारेषु ।

१००. चरिया में (चरिया)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—भिक्षु-चर्या[1] और वृत्तिकार ने भिक्षाचर्या आदि किया है।[2] उत्तराध्ययन २।१८,१९ में नौंवा 'चरिया' परीषह है। यहां 'चरिया' शब्द के द्वारा वही विवक्षित है।

१०१. उपसर्गों से स्पृष्ट होने पर उन्हें सहन करे (पुट्ठो तत्थऽहियासए)

यह रोग परीपह का सूचक है। उत्तराध्ययन २।३२,३३ में सोलहवां रोग परीषह है। वहां भी यही पद प्राप्त होता है।

श्लोक ३१ :

१०२. पीटने पर क्रोध न करे (हम्ममाणो ण कुप्पेज्जा)

यह तेरहवां 'वध' परीपह है। उत्तराध्ययन सूत्र २।२६ में 'हओ न संजले भिक्खु' ऐसा पाठ है।

मुनि यष्टि, मुष्टि या डंडे से पीटे जाने पर भी क्रोध न करे।[3]

१०३. गाली देने पर उत्तेजित न हो (वुच्चमाणो न संजले)

यह बारहवां 'आक्रोश' परीपह है। उत्तराध्ययन सूत्र २।२४ में 'अक्कोसेज्ज परो भिक्खुं, न तेसिं पडिसंजले'—ऐसा पाठ है। दोनों का प्रतिपाद्य एक है।

प्रस्तुत सूत्र की चूर्णि में 'वुच्चमाण' के तीन अर्थ किए गए हैं[4]—

१. जब दूसरा उसकी बात न सुने।

२. जब दूसरा उसकी निन्दा करे।

३. जब दूसरा उसकी निर्भर्त्सना करे।

—इतना होने पर भी मुनि उत्तेजित न हो।

वृत्तिकार के अनुसार मुनि को कोई दुर्वचन कहे, गाली दे या तिरस्कार करे तो वह प्रतिकूल वचन न बोले।[5]

चूर्णिकार ने 'संजले' (सं० संज्वलेत्) का अर्थ इस प्रकार किया है—जैसे अग्नि इंधन से प्रज्वलित होती है, वैसे ही मुनि क्रोध और मान से प्रज्वलित न हो।[6]

वृत्तिकार के अनुसार 'संजले' का अर्थ है—प्रतिकूल वचन न बोलना अथवा मन को किञ्चित् भी अन्यथा न करना।[7]

उत्तराध्ययन के चूर्णिकार ने २।२६ में प्रयुक्त 'संजले' का अर्थ रोषोद्गम या मनोदय किया है। उसका लक्षण बतलाते हुए उन्होंने एक श्लोक उद्धृत किया है।[8]—

> कंपति रोषादग्निः संधुक्षितवच्च दोप्यतेऽनेन।
> तं प्रत्याक्रोशत्याहंति च मन्येत येन स मतः॥

---

१. चूर्णि, पृ० १८२ : चरिया भिक्खुचरिया।

२. वृत्ति, पत्र १८४ : चर्यायां भिक्षाविकायाम्।

३. वृत्ति, पत्र १८४ : 'हन्यमानो' यष्टिमुष्टिलकुटादिभिरपि हतश्च 'न कुप्येत्'—न कोपवशगो भवेत्।

४. चूर्णि, पृ० १८२ : वुच्चमाणो नाम असुस्सूसमाणो निंदिज्जमाणो वा णिब्भच्छिज्जमाणो वा।

५. वृत्ति, पत्र १८४ : 'उच्यमानः' आकृश्यमानो निर्भर्त्स्यमानो······न प्रतीपं वदेत्।

६. चूर्णि, पृ० १८२ : ण संजलेदग्वि न क्रोध-मानाभ्यामिन्धनेनेवाग्निः संजले।

७. वृत्ति, पत्र १८४ : 'न संज्वलेत्'—न प्रतीपं वदेत्, न मनागपि मनोऽन्यथात्वं विदध्यात्।

८. उत्तराध्ययन चूर्णि, पृ० ७२।

जो क्रोध से कांप उठता है, अग्नि की भांति जल उठता है, आक्रोश के प्रति आक्रोश और हनन के प्रति हनन करता है। यह संज्वलन का फल है।

१०४. शान्त मन रहकर (सुमणो)

सु-मन का अर्थ है—अच्छा मन। जो शान्त मन वाला होता है, जिसके मन में राग-द्वेष की कलुषता नहीं होती वह सुमना होता है।[1]

१०५. कोलाहल (कोलाहलं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[2]—

१. जोर-जोर से चिल्लाना।

२. राज्य अधिकारियों के समक्ष शिकायत करना।

श्लोक ३२ :

१०६. लब्ध कामभोगों की इच्छा न करे (लद्धे कामे ण पत्थेज्जा)

मुनि प्राप्त कामभोगों की इच्छा न करे। कोई उपासक मुनि को वस्त्र, गंध, अलंकार, स्त्री, शयन, आसन के लिए निमंत्रण दे तो वह उनमें गृद्ध न हो, उनको पाने या भोगने की अभिलाषा न करे।

चूर्णिकार ने यहां चित्त (उत्तरा० अध्ययन १३) के आख्यान की और वृत्तिकार ने वैरस्वामि के आख्यान की सूचना दी है।[3]
चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'लद्धी कामे' यह पाठान्तर मानकर इसका अर्थ इस प्रकार किया है—मुनि को विशेष तप से अनेक लब्धियां प्राप्त हो सकती हैं, जैसे—आकाश में उड़ने की लब्धि, विक्रिया की शक्ति, अक्षीणमहानस, आदि-आदि। मुनि इनका उपयोग न करे। वह अपनी विशेष शक्तियों से कामभोगों को प्राप्त कर सकता है, परन्तु यह उसके लिए विहित नहीं है।

मुनि इहलौकिक और पारलौकिक—दोनों प्रकार के कामभोगों की कामना न करे।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने यहां ब्रह्मदत्त के आख्यान की सूचना दी है।[4]

देखें—उत्तराध्ययन सूत्र का तेरहवां अध्ययन तथा उस अध्ययन का आमुख।

१०७. बुद्धों (ज्ञानियों) के (बुद्धाणं)

बुद्ध का अर्थ है—गणधर आदि विशिष्ट पुरुष या जिस समय में जो आचार्य हों, वे।[5]

---

१. चूर्णि, पृ० १८२ : सुमणो णाम राग-द्दोसरहितो।

२. चूर्णि, पृ० १८२ : उक्कुट्ठिबोलं वा करेज्ज रायसंसारियं वा।

३. (क) चूर्णि, पृ० १८२ : लद्धा णाम जइ णं कोइ वत्थ-गंध-अलंकार-इत्थी-सयण-ऽऽसणादीहिं णिमंतेज्ज तत्थ ण गिज्झेज्ज, जधा चित्तो।

(ख) वृत्ति, पत्र १८४,१८५ : 'लब्धान्'—प्राप्तानपि 'कामान्'—इच्छामदनरूपान् गन्धालङ्कारवस्त्रादिरूपान्वा वैरस्वामिवत् 'न प्रार्थयेत्—नानुमन्येत्—न गृह्णीयादित्यर्थः।

४. (क) चूर्णि, पृ० १८२ : अधवा 'लद्धीकामे' तवोलद्धीओ आगासगमण-विउव्वादीओ अक्खीणमहाणसिगादीओ य ण दाव उवजीवेज्ज, ण य अणागते। इहलौकिके एता एव वत्थ-गंधादी, परलोगिगे वा जधा बंभदत्तो तधा ण पत्थेज्ज।

(ख) वृत्ति, पत्र १८५ : यत्रकामावसायितया गमनादिलब्धिरूपान् कामांस्तपोविशेषलब्धानपि नोपजीव्यात्, नाप्यनागतान् ब्रह्मदत्तवत्-प्रार्थयेद्।

५. चूर्णि, पृ० १८२ : सुट्ठु बुद्धा सुबुद्धा गणधराद्याः, यथा यदाकालमाचार्या भवन्ति।

१०८. आचार की (आयरियाइं)

वृत्तिकार ने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—आर्याणि और आचर्याणि। आर्याणि का अर्थ है—आर्य लोगों का कर्त्तव्य और आचर्याणि का अर्थ है—मुमुक्षु के लिए जो आचरणीय है, ज्ञान दर्शन चारित्र आदि।[1]

श्लोक ३३ :

१०९. सुप्रज्ञ (सुप्पण्णं)

इसका अर्थ है—गीतार्थ, प्रज्ञावान्, स्वसमय और परसमय को जानने वाला।[2]

११०. सुतपस्वी आचार्य की (सुतवस्सियं)

चूर्णिकार ने सुतपस्वी का अर्थ संविग्न किया है।[3]

जो बाह्य और आभ्यन्तर—दोनों प्रकार के तप में प्रवीण है वह सुतपस्वी है—यह वृत्तिकार का अभिमत है।[4]

१११. वीर (वीरा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—सुशोभित होने वाले किया है।[5] वृत्तिकार के अनुसार जो पुरुष कर्म-बंधन को तोड़ने में सक्षम है और जो कष्ट-सहिष्णु है, कष्टों के आने पर क्षुब्ध नहीं होता, वह वीर कहलाता है।[6]

११२. आत्मप्रज्ञा के अन्वेषी (अत्तपण्णेसी)

चूर्णिकार ने आत्मप्रज्ञैषी शब्द का अर्थ इस प्रकार किया है—जो आत्मा को जानने के लिए तथा उसके बंधनमुक्ति के उपाय (संयमवृत्ति) में व्यवस्थित होने के लिए आत्मज्ञान का अन्वेषण करते हैं वे आत्मप्रज्ञैषी होते हैं।[7]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[8]—

१. आप्तप्रज्ञैषी— आप्तपुरुषों की प्रज्ञा—केवलज्ञान की खोज करने वाले, उसको पाने का प्रयत्न करने वाले। सर्वज्ञ के द्वारा उक्त वचन का अन्वेषण करने वाले।

२. आत्मप्रज्ञैषी— आत्मज्ञान की एषणा करने वाले, आत्महित की खोज करने वाले।

११३. धृतिमान् (धितिमंता)

धृतिमान् वह होता है जिसकी संयम में रति होती है। संयम की धृति से ही पांच महाव्रतों का भार सहजरूप से वहन किया

---

१. वृत्ति, पत्र १८५ : 'आर्याणि'—आर्याणां कर्तव्यानि अनार्यकर्तव्यपरिहारेण यदि वा—आचर्याणि—मुमुक्षुणा यान्याचरणीयानि ज्ञानदर्शनचारित्राणि तानि।

२ (क) चूर्णि, पृ० १८२ : सुपण्णं शोभनप्रज्ञं सुप्रज्ञं गीतार्थं प्रज्ञावन्तम्।
(ख) वृत्ति, पत्र १८५ : सुष्ठु शोभना वा प्रज्ञाऽस्येति सुप्रज्ञः—स्वसमयपरसमयवेदी गीतार्थ इत्यर्थः।

३. चूर्णि, पृ० १८२ : सुट्ठु तवस्सितं सुतवस्सितं, यदि चेत् संविग्न इत्यर्थः।

४. वृत्ति, पत्र १८५ : तथा सुष्ठु शोभनं वा सबाह्याभ्यन्तरं तपोऽस्यास्तीति सुतपस्वी।

५. चूर्णि, पृ० १८२ : विराजन्तः इति वीराः।

६. वृत्ति, पत्र १८४ : 'वीराः'—कर्मविदारणसहिष्णवो वीरा वा परिषहोपसर्गाक्षोभ्याः।

७. चूर्णि, पृ० १८२ : आत्मप्रज्ञामेषन्तीति आत्मप्रज्ञैषिणः आत्मप्रज्ञानमित्यर्थः। कथम्?, येनाऽऽत्मा ज्ञायते येन वाऽस्य निस्सारणोपायः संयमवृत्तिव्यवस्थित इति।

८. वृत्ति, पत्र १८४ : 'आप्तो'—रागादिविमुक्तस्तस्य प्रज्ञा—केवलज्ञानाख्या तामन्वेष्टुं शीलं येषां ते आप्तप्रज्ञान्वेषिणः सर्वज्ञोक्तान्वेषिण इति यावत्, यदि वा—आत्मप्रज्ञान्वेषिण आत्मनः प्रज्ञा—ज्ञानमात्मप्रज्ञा तदन्वेषिणः आत्मज्ञत्वा (प्रज्ञा)न्वेषिण आत्महितान्वेषिण इत्यर्थः।

जा सकता है। धृतिमान् के तप होता है । तप से सुगति हस्तगत होती है। कहा है—

'जस्स धिई तस्स तवो, जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलहा।
जे अधिइमंता पुरिसा, तवोऽपि खलु दुल्लहो तेसिं॥

जो धृतिमान् है वही तप कर सकता है। जो तप करता है उसके लिए सुगति सुलभ हो जाती है। जो धृतिमान् नहीं है, उसके लिए तप भी दुर्लभ है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार प्रस्तुत श्लोक में प्रयुक्त वीर, आत्मप्रज्ञैपी, धृतिमान्, जितेन्द्रिय—ये सारे विशेषण आचार्य के भी हो सकते हैं और शिष्य के भी।[2]

चूर्णिकार ने इन शब्दों को केवल 'आचार्य' का ही विशेषण माना है।[3]

हमारे अभिमत के अनुसार ये विशेषण आचार्य के लिए ही संगत हैं।

श्लोक ३४ :

११४. दीप (प्रकाश) (दीवं)

इसके दो रूप बनते हैं—दीप अथवा द्वीप। दीप प्रकाश का वाचक है और द्वीप विश्राम या शरण का।[4]

११५. पुरुषादानीय (पुरिसादाणीया)

मुख्यतः यह शब्द भगवान् पार्श्व के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। जैन आगमों में स्थान-स्थान पर 'पुरिसादानीय पास' (सं० पुरुषादानीय पार्श्व)—ऐसे प्रयोग उपलब्ध होते हैं।[5]

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं। चूर्णिकार के अनुसार इसके तीन अर्थ हैं[6]—

१. धर्मलिप्सु पुरुषों के द्वारा आदानीय।

२. ग्राह्य पुरुष।

३. आदानार्थिक पुरुष—मोक्षार्थी पुरुष।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[7]—

१. मुमुक्षु व्यक्तियों के लिए आश्रयणीय।

२. मोक्ष अथवा मोक्षमार्ग (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र) को धारण करने वाला।

---

१. वृत्ति, पत्र १८५ : तथा धृतिः—संयमे रतिः सा विद्यते येषां ते धृतिमन्तः, संयमधृत्या हि पञ्चमहाव्रतभारोद्वहनं सुसाध्यं भवतीति, तपः साध्या च सुगतिर्हस्तप्राप्तेति।

२. वृत्ति, पत्र १८५ : शुश्रूषमाणाः शिष्या गुरवो वा शुश्रूष्यमाणा यथोक्तविशेषणविशिष्टा भवन्तीत्यर्थः।

३. चूर्णि, पृ० १८२ : तत्र केवंविधाचार्याः शरणम् ?, वीरा····· अत्तपण्णेसो······।

४. वृत्ति, पत्र १८६ : 'दीवं' ति 'दीपी दीप्तौ' दीपयति—प्रकाशयतीति दीपः····· यदि वा—द्वीपः समुद्रादौ प्राणिनामाश्वासभूतः।

५. (क) ठाणं ६।७८ : पासस्स णं अरहो पुरिसादाणिस्स······।
(ख) समवाओ १६।४ : पासस्स णं अरहतो पुरिसादाणीयस्स···।
(ग) भगवई ६।१२२ : पासेणं अरहा पुरिसादाणीएणं····· ।
(घ) नायाधम्मकहा २।१।१६ : पासे अरहा पुरिसादाणीए···।

६. चूर्णि, पृ० १८३ : धर्मलिप्सुभिः पुरुषैरादानीयाः। अथवा ग्राह्याः पुरुषा इत्यादानीयाः। अथवाऽऽदानीय इत्यादार्थिकः साधुः, पुरुषश्चासौ आदानीयश्च पुरुषादानीयः।

७. वृत्ति, पत्र १८६ : मुमुक्षूणां पुरुषाणामादानीया—आश्रयणीयाः पुरुषादानीया महतोऽपि महीयांसो भवन्ति, यदि वा—आदानीयो—हितैषिणां मोक्षस्तन्मार्गो वा सम्यग्दर्शनादिकः।

११६. बन्धन से मुक्त हो (बंधणुम्मुक्का)

चूर्णिकार ने बन्धन का आशय काल आदि बतलाया है[1] और वृत्तिकार ने बाह्य और आभ्यन्तर स्नेह को बन्धन बतलाया है।[2]

११७. जीने की (जीवियं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[3]—

१. असंयममय जीवन।

२. विषय-कषाय आदि से युक्त जीवन।

वृत्ति में भी इसके दो अर्थ उपलब्ध होते हैं[4]—

१. असंयममय जीवन।

२. प्राणधारण।

मुनि वही है जो न जीने की आकांक्षा रखता है और न मरने की वांछा करता है। वह जीवन और मृत्यु की कामना से पार चला जाता है। यही 'णावकंखंति जीवियं' का भाव है।

चूर्णिकार ने प्रस्तुत श्लोक का अर्थ मुख्य रूप से इस प्रकार किया है—गृहवास में प्रकाश न देखने वाले मनुष्य, फिर चाहे वे राजा, अमात्य, पंडित या धर्मलिप्सु हों, पुरिसादानीय नहीं होते। अतः प्रव्रजित होकर वे वीर बंधन से मुक्त हो जीवन की आकांक्षा नहीं करते।[5]

श्लोक ३५ :

११८. श्लोक ३५

चूर्णि और वृत्ति में प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चौथे चरण में व्याख्या भिन्न प्रकार से मिलती है।

चूर्णिकार के अनुसार 'समयातीतं' इस पद के दो संस्कृतरूप निष्पन्न होते हैं—'समयात्त' और 'समयातीत'। उन्होंने 'समयातीय' का संबंध 'अद् भक्षणे' धातु से माना है। जो बहुत कहा गया है वह सब समय के भीतर है अर्थात् उसकी सीमा में है। वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार है—जो बहुत कहा गया है वह कुसमयों के द्वारा अतीत है। तात्पर्य की भाषा में अज्ञान दोष और विषय-लालसा के कारण कुसामयिकों द्वारा वह आचीर्ण नहीं है।[6]

वृत्तिकार ने तीसरे-चौथे चरण का अर्थ दो प्रकार से किया है—

१. इस अध्ययन में मैंने बहुत बातों का निषेध किया है। वे आचरण अर्हत् आगम से अतीत या अतिक्रान्त हैं, इसलिए मैंने उनका निषेध किया है। और जो कुछ विधिरूप में प्रतिपादन किया है वह सब कुसमय से अतीत—लोकोत्तर है।

२. (कुतीर्थिकों ने) बहुत कुछ कहा है, वह सब अर्हत् आगम से विरुद्ध है, इसलिए अनुष्ठेय नहीं है।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० १८३ : बन्धनानि कालादीनी तेभ्यो मुक्का बंधणुम्मुक्का।

२. वृत्ति, पत्र १८६ : तथा बन्धनेन सबाह्याभ्यन्तरेण पुत्रकलत्रादिस्नेहरूपेणोत्—प्राबल्येन, मुक्ताः बन्धनोन्मुक्ताः।

३. चूर्णि, पृ० १८३ : न तदसंयमजीवितं······विषय-कषायादिजीवितं वा।

४. वृत्ति, पत्र १८६ : 'जीवितम्—असंयमजीवितं प्राणधारणं वा'।

५. चूर्णि, पृ० १८३।

६. चूर्णि, पृ० १८३ : सव्वेतं समयातीयं, सव्वमिति यदिदं धर्मं प्रति इह मयाऽध्ययनेऽपदिष्टम्। समय आरुहत एव, आदीयं ति भक्षणम्, समयाभ्यन्तरकरणमात्रम् 'अद भक्षणे' समयेण अतीतं समयाभ्यन्तरे, न समयेन समयेनात्तमित्यर्थः।

७. वृत्ति, पत्र १८६ : अध्ययनादेरारभ्य प्रतिषेध्यत्वेन यत् लपितम्—उक्तं मया बहु तत् 'समयाद्—अर्हतावागमादतीतमतिक्रान्तमिति कृत्वा प्रतिषिद्धं, यदपि च विधिद्वारेणोक्तं तदेतत्सर्वं कुत्सितसमयातीतं लोकोत्तरं प्रधानं वर्तते, यदपि च तैः कुतीर्थिकैर्बहु लपितं तदेतत्सर्वं समयातीतमिति कृत्वा नानुष्ठेयमिति।

श्लोक ३६ :

११६. अतिमान (अइमाण)

यथार्थ में यहां 'अहिमाणं' (सं० अभिमानं) शब्द होना चाहिए था। किन्तु 'हि' और 'इ' के लिपिसाम्य के कारण 'हि' के स्थान पर 'इ' हो गया हो—ऐसा लगता है।

अर्थ की दृष्टि से भी अभिमान शब्द ही उपयुक्त लगता है।

चूर्णि और वृत्ति में 'अतिमान' की व्याख्या उपलब्ध है। इसीलिए चूर्णिकार को यह लिखना पड़ा कि मानार्ह आचार्य आदि के प्रति प्रशस्त मान किया जाता है, किन्तु उसके अतिरिक्त जाति आदि का मान नहीं करना चाहिए।[1]

१२०. बड़प्पन के भावों को (गारवाणि)

गौरव का अर्थ है—प्राप्त वस्तु के प्रति अहंकार। स्थानांग सूत्र में तीन प्रकार के गौरव बतलाए हैं—ऋद्धि का गौरव, रस का गौरव, सात (सुख-सुविधा) का गौरव।[2]

१२१. निर्वाण का (णिव्वाणं)

चूर्णिकार ने निर्वाण के दो अर्थ किए हैं—संयम और मोक्ष।[3]

वृत्तिकार ने भी इसके दो अर्थ किए हैं—निर्वाण और निर्वाण-प्रदेश।[4]

उत्तराध्ययन सूत्र की शान्त्याचार्य की टीका में निर्वाण शब्द के स्वास्थ्य और जीवन-मुक्ति—ये दो अर्थ उपलब्ध होते हैं।[5]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १८३ : अतिशयेन मानं अतिमानम् ·····अथवा यद्यपि मानार्हेष्वाचार्यादिषु प्रशस्तो मानः क्रियते सरागत्वात् तथापि तमतीत्य योऽन्यो जात्यादिमानः।

(ख) वृत्ति, पत्र १८६ : अतिमानो महामानः।

२. ठाणं, ३।५०५ : तओ गारवा पण्णत्ता, तं जहा—इड्ढीगारवे, रसगारवे, सातागारवे।

३. चूर्णि, पृ० १८३ : संयम एव·········अथवा णिव्वाणमिति मोक्षः।

४. वृत्ति, पत्र १८६ : 'निर्वाणम्—अशेषकर्मक्षयरूपं विशिष्टाकाशदेशं वा।

५. बृहद्वृत्ति, पत्र १८५,१८६ : निर्वाणं······स्वास्थ्यमित्यर्थः, यद्वा निर्वाणमिति जीवनमुक्तिम्।

दसमं अज्झयणं
समाहो

दसवां अध्ययन
समाधि

आमुख

अनुयोगद्वार में नामकरण के दस हेतु बतलाए हैं।[1] उनमें एक हेतु है—आदान-पद। इसका अर्थ है प्रथम पद के आधार पर अध्ययन आदि का नामकरण करना, जैसे—उत्तराध्ययन के तीसरे अध्ययन का नाम 'चातुरंगीय (प्रा० चाउरंगिज्ज) है, चौथे अध्ययन का नाम 'असंस्कृत' (प्रा० असंखयं) है। प्रस्तुत आगम सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कंध के तेरहवें अध्ययन का नाम 'याथातथ्य (प्रा० अहातहियं) और दूसरे श्रुतस्कंध के छठे अध्ययन का नाम 'आर्द्रकीय (प्रा० अद्दइज्जं) है। ये सारे नाम उन-उन अध्ययनों के प्रथम पद के आधार पर हुए हैं।

निर्युक्तिकार के अनुसार इस अध्ययन का नाम आदान-पद हेतु से 'आघं' होना चाहिए था, क्योंकि इस अध्ययन के प्रथम श्लोक का प्रथम पद है—'आघं मतिमं............' । किन्तु अर्थाधिकार के आधार पर इसका नाम 'समाधि' रखा गया है।[2] समवायांग में भी यही नाम उल्लिखित है।[3] चूर्णिकार ने इस गुणनिष्पन्न नाम 'समाधि' की स्वीकृति के समर्थन में कहा है—जैसे उत्तराध्ययन के चौथे अध्ययन का आदानपद हेतु से नामकरण होना चाहिए था 'असंस्कृत' किन्तु उसमें प्रमाद और अप्रमाद का वर्णन होने के कारण उसका गुणनिष्पन्न नाम 'प्रमादाप्रमाद' भी स्वीकृत है। इसी प्रकार आचारांग सूत्र के पांचवें अध्ययन का आदानपद परक नाम होना चाहिए था 'आवंती' किन्तु वह अध्ययन 'लोकसार' (या लोकसारविजय) कहलाता है।[4]

समाधि का अर्थ है—समाधान, तुष्टि, अविरोध। इसके मुख्य चार भेद हैं—

१. द्रव्य समाधि—पांचो इन्द्रियों के मनोज्ञ विषयों से होने वाली तुष्टि। क्षीर और गुड़ की समाधि अर्थात् अविरोध।

२. क्षेत्र समाधि—दुर्भिक्ष से उत्पीडित प्राणियों का सुभिक्ष प्रदेश में चला जाना, चिरप्रवासी व्यक्तियों का अपने घर लौट आना।

३. काल समाधि—वनस्पति के जीवों को वर्षा में, उलूक को रात्री में, कौओं को दिन में, गायों को शरद् ऋतु में समाधि का अनुभव होता है। अथवा जिसे जिस समय में जितने काल तक समाधि का अनुभव हो।

४. भाव समाधि—इसके चार भेद हैं—

(क) ज्ञान समाधि—जैसे-जैसे व्यक्ति श्रुत का अध्ययन करता है वैसे-वैसे अत्यन्त समाधि उत्पन्न होती है। ज्ञानार्जन में उद्यत व्यक्ति भोजन-पानी को भूल जाता है। वह कष्टों की परवाह नहीं करता, उनसे उद्विग्न नहीं होता। ज्ञेय की उपलब्धि होने पर उसका जो समाधान होता है, वह अनिर्वचनीय होता है।

(ख) दर्शन समाधि—जिन-प्रवचन में जिसकी बुद्धि इतनी श्रद्धाशील हो जाती है कि उसे कोई भ्रमित नहीं कर सकता। उसकी स्थिति पवनशून्य गृह में स्थित दीपक की भांति निष्प्रकम्प हो जाती है।

(ग) चारित्र समाधि—इसकी निष्पत्ति है—विषय-सुखों से पराङ्मुखता। निष्किञ्चन होने पर भी साधक परम समाधि का अनुभव करता है। कहा है—

तणसंथारणिसन्नोऽवि मुणिवरो भट्ठरागमयमोहो।
जं पावइ मुत्तिसुहं कत्तो तं चक्कवट्टीवि ?'

—जो मुनि राग, मद और मोह को नष्ट कर चुके हैं, जो तृण-संस्तारक पर बैठे हैं (अर्थात् जो निष्किञ्चन हैं) उन्हें जो मुक्ति-सुख का अनुभव होता है, वैसा सुख चक्रवर्ती को कहां ?

१. अनुयोगद्वार, सूत्र ३१९।
२. निर्युक्ति, गाथा ९९ : आदाणपदेणाऽऽघं गोण्णं णामं पुणो समाधि त्ति।
३. समवाओ १६।१।
४. चूर्णि, पृ० १८४।

नैवास्ति राजराजस्य तत्सुखं नैव देवराजस्य ।
यत्सुखमिहैव साधोर्लोकव्यापाररहितस्य ।। (प्रशमरति प्रकरण १२८)

—जो मुनि लौकिक प्रवृत्तियों से मुक्त है, उसको जिस परम सुख की यहां अनुभूति होती है, वह सुख न चक्रवर्ती को उपलब्ध होता है और न इन्द्र को ।

(घ) तप:समाधि—तपस्या से भावित पुरुष कायक्लेश, भूख, प्यास आदि परिषहों से उद्विग्न नहीं होता । इसी प्रकार वह आभ्यन्तर तप का अभ्यास कर, ध्यान में आरूढ होकर निर्वाणप्राप्त पुरुष की भांति सुख-दुःख से बाधित नहीं होता ।[1]

दशवैकालिक सूत्र में चार समाधियों का वर्णन है—विनयसमाधि श्रुतसमाधि, तप:समाधि और आचारसमाधि ।[2] यह भाव समाधि है ।

इस अध्ययन में चौवीस श्लोक हैं । इनमें समाधि के लक्षण और असमाधि के स्वरूप का वर्णन है । समाधि के तीन मुख्य विभाग - चारित्र समाधि, मूलगुण समाधि और उत्तरगुण समाधि का अनेक श्लोकों में प्रतिपादन हुआ है। पहले तीन श्लोकों में समाधि का सामान्य वर्णन है । चौथे श्लोक से पनरहवें श्लोक तक चारित्र समाधि, वीस से बावीस श्लोकों में मूलगुण समाधि का और शेष दो श्लोकों (२३,२४) में उत्तरगुण समाधि का वर्णन है । चार श्लोकों (१६-१९) में असमाधि प्राप्त मनुष्यों का वर्णन है ।

विमर्शनीय शब्द

१. लाढ (श्लोक ३)

जो मुनि जिस किसी प्रकार के प्रासुक अशन-पान से जीवन यापन करता है, जो आहार के अभाव में परितप्त नहीं होता वह 'लाढ कहलाता है । यहां यह शब्द मुनि की चर्या का द्योतक है ।

जैन आगमों तथा व्याख्या साहित्य में 'लाढ' शब्द देशवाची भी है । भगवान् महावीर ने एक बार सोचा—बहुत कर्मों की निर्जरा करनी है । उसके लिए उपयुक्त स्थान है 'लाट' (लाढ) देश । वहां के लोग अनार्य हैं । उनके योग से कर्मों की अधिक निर्जरा होगी । यह सोचकर भगवान् 'लाट' देश में गए ।[3]

आचारांग ९।३।२ में 'अह दुच्चर-लाढमचारी' का उल्लेख है ।

२ धुत (श्लोक १६)

जैन आगमों का यह बहु-प्रयुक्त शब्द है । यह विशेषतः मुनि के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है । किन्तु यह एक साधना की विशिष्ट पद्धति का द्योतक रहा है । जब वह पद्धति विस्मृत हो गई, तब यह शब्द उस पद्धति का केवल वाचक मात्र रह गया । 'धुत' समाधि की साधना पद्धति है । बौद्ध परंपरा में तेरह धुत प्रतिपादित हैं । ये सारे धुत क्लेशों को क्षीण करने में सहयोग करते हैं । इनका विस्तृत वर्णन बौद्ध साहित्य में प्राप्त है ।[4]

आचारांग के छठे अध्ययन का नाम 'धुत' है । वहां दस धुतों का निर्देश है ।

धुत का शाब्दिक अर्थ है—कंपित करना, धुन डालना । आगम के व्याख्याकारों ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—वैराग्य, मोक्ष, समाधि आदि-आदि ।

---

१. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा ९८, ९९ : पंचसु वि य विसयेसु सुभेसु दव्वम्मि सा समाधि त्ति ।
खेत्तं तु जम्मि खेत्ते काले जो जम्मि कालम्मि ।।
भावसमाधि चतुव्विध दंसण णाणे तवे चरित्ते य ।
चतुहिं वि समाधितप्पा सम्मं चरणट्ठितो साधू ।।
व्याख्या के लिए देखें—चूर्णि पृ० १८४, १८५ । वृत्ति पत्र १८७, १८८ ।
२. दशवैकालिक ९।४ ।
३. आवश्यक चूर्णि पूर्वभाग, पत्र २९० ।
४. विसुद्धिमग्ग भाग १, पृ० ६०-८० ।

प्रस्तुत अध्ययन में समाधि को प्राप्त करने के कारण निर्दिष्ट हैं। उनमें से कुछेक ये हैं—

१. अनिदानता
२. इन्द्रिय-संयम, शरीर-संयम
३. आत्मौपम्य की भावना का विकास
४. अस्वादवृत्ति
५. अप्रतिबद्धता
६. असंचय
७. समतानुप्रेक्षा का अभ्यास
७. आकांक्षा-विरति
६. वैराग्य
१०. अनासक्ति
११. एकत्व अनुप्रेक्षा का अभ्यास
१२. संज्ञा-विरति
१३. कषाय-विजय
१४. नो-कषाय-विजय
१५. वाग्गुप्ति
१६. निर्मल अध्यवसाय
१७. धुतांगों की साधना
१८. पाप-निवृत्ति
१६. अमूर्च्छा
२०. निरवकांक्षिता
२१. विप्रमुक्ति
२२. जन्म-मरण-अनाकांक्षिता

दसमं अज्झयणं : दसवां अध्ययन

समाही : समाधि

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. आघं मइमं अणुवीइ धम्मं अंजुं समाहिं तमिणं सुणेह। अपडिण्णे भिक्खू समाहिपत्ते अणिदाणभूते सुपरिव्वएज्जा॥	आख्यातवान् मतिमान् अनुवीचि धर्मं, ऋजुं समाधिं तमिमं शृणुत। अप्रतिज्ञो भिक्षुः समाधिप्राप्तः, अनिदानभूतः सुपरिव्रजेत्॥	१. मतिमान् (भगवान् महावीर) ने[1] अनुचिन्तन[2] (ग्राहक की योग्यता को ध्यान में रख) कर ऋजु समाधि-धर्म का[3] प्रतिपादन किया, वह तुम सुनो। समाधि-प्राप्त भिक्षु अमूर्च्छित[4] और (हिंसा आदि) आश्रवों से मुक्त[5] रहकर सम्यक् परिव्रजन करे।
२. उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु तसा य जे थावर जे य पाणा। हत्थेहिं पादेहिं य संजमित्ता अदिण्णमण्णेसु य णो गहेज्जा॥	ऊर्ध्वमधश्च तिर्यग्दिशासु, त्रसाश्च ये स्थावराः ये च प्राणाः। हस्तैः पादैश्च संयम्य, अदत्तमन्यैश्च नो गृह्णीयात्॥	२. ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं, उनके प्रति हाथ और पैर का संयम करे।[7] गृहस्थ के द्वारा अदत्त वस्तु को न ले।
३. सुयक्खायधम्मे वितिगिच्छतिण्णे लाढे चरे आयतुले पयासु। आयं ण कुज्जा इह जीवियट्ठी चयं ण कुज्जा सुतवस्सि भिक्खू॥	स्वाख्यातधर्मः विचिकित्सातीर्णः, लाढश्चरेत् आत्मतुलः प्रजासु। आयं न कुर्यात् इह जीवितार्थी, चयं न कुर्यात् सुतपस्वी भिक्षुः॥	३. जिसका धर्म स्वाख्यात है[8], जो संदेहों का पार पा चुका है[9], जो जैसा भोजन प्राप्त हो उसी में संतुष्ट रहता है,[10] वह सुतपस्वी भिक्षु[11] प्राणीमात्र को आत्म-तुल्य समझता हुआ विचरण करे।[12] इस जीवन का अर्थी[13] होकर पदार्थों का अर्जन[14] और संचय न करे।[15]
४. सव्विंदियाभिणिव्वुडे पयासु चरे मुणी सव्वओ विप्पमुक्के। पासाहि पाणे य पुढो विसण्णे दुक्खेण अट्टे परिपच्चमाणे॥	सर्वेन्द्रियाभिनिर्वृतः प्रजासु, चरेद् मुनिः सर्वतो विप्रमुक्तः। पश्य प्राणांश्च पृथक् विषण्णान्, दुःखेन आर्त्तान् परिपच्यमानान्॥	४. मुनि स्त्रियों के प्रति सभी इन्द्रियों से संयत[16] तथा सर्वथा वंधनमुक्त[17] होकर रहे। पृथक्-पृथक् रूप से[18] विपण्ण, दुःख से पीड़ित[19] और सताए जाते हुए प्राणियों को देखे।
५. एतेसु बाले य पकुव्वमाणे आवट्टती कम्मसु पावएसु। अतिवाततो कीरति पावकम्मं णिउंजमाणे उ करेइ कम्मं॥	एतेषु बालश्च प्रकुर्वन्, आवर्तते कर्मसु पापकेषु। अतिपाततः क्रियते पापकर्म, नियुञ्जानस्तु करोति कर्म॥	५. अज्ञानी मनुष्य इन (दुःखी जीवों) में (वध आदि का प्रयोग) करता हुआ पाप-कर्मों के आवर्त्त में फंस जाता है। वह स्वयं प्राणों का अतिपात कर पाप-कर्म करता है और दूसरों को (प्राणों के अतिपात में) नियोजित करके भी पाप-कर्म करता है[20]।

६. आदीणवित्ती वि करेति पावं
मंता हु एगंतसमाहिमाहु।
बुद्धे समाहीय रए विवेगे
पाणाइवाया विरते ठितप्पा॥

आदीनवृत्तिरपि करोति पापं,
मत्वा खलु एकान्तसमाधिमाहुः।
बुद्धः समाधौ रतो विवेके,
प्राणातिपाताद् विरतः स्थितात्मा॥

६. दीनवृत्ति वाला भी पाप करता है— यह जानकर (भगवान् महावीर ने) ऐकान्तिक समाधि का उपदेश दिया।[२०] (इस समाधि को) जानने वाला[२१] समाधि और विवेक में[२२] रत, हिंसा से विरत और स्थितात्मा[२३] होता है।

७. सव्वं जगं तू समयाणुपेही
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।
उट्ठाय दीणे तु पुणो विसण्णे
संपूयणं चेव सिलोयकामी॥

सर्वं जगत्तु समतानुप्रेक्षी,
प्रियमप्रियं कस्यापि नो कुर्यात्।
उत्थाय दीनस्तु पुनर्विषण्णः,
संपूजनं चैव श्लोककामी॥

७. समूचे जगत् को समता की दृष्टि से देखने वाला किसी का भी प्रिय-अप्रिय न करे—मध्यस्थ रहे।[२४] दीन (कायर) व्यक्ति[२५] (समाधि की साधना में) उठकर, फिर विषण्ण[२६] हो, पूजा और श्लाघा की कामना करने लग जाता है।[२७]

८. आहाकडं चेव णिकाममीणे
णिकामसारी य विसण्णमेसी।
इत्थीसु सत्ते य पुढो य बाले
परिग्गहं चेव पकुव्वमाणे॥

आधाकृतं चैव निकामयमानः,
निकामसारी च विषण्णैषी।
स्त्रीषु सक्तश्च पृथक् च बालः,
परिग्रहं चैव प्रकुर्वन्॥

८. अज्ञानी मुनि आधाकर्म[२८] (मुनि के निमित्त बने आहार) की कामना करता है,[२९] उसकी गवेषणा करता है,[३०] असंयम की एषणा करता है[३१], स्त्रियों की अनेक प्रवृत्तियों में आसक्त होता है, परिग्रह का संचय करता है।[३२]

९. वेराणुगिद्धे णिचयं करेति
इतो चुते से दुहमट्ठदुग्गं।
तम्हा तु मेधावि समिक्ख धम्मं
चरे मुणी सव्वतो विप्पमुक्के॥

वैरानुगृद्धो निचयं करोति,
इतश्च्युतः सः दुःखार्थदुर्गम्।
तस्मात् तु मेधावी समीक्ष्य धर्मं,
चरेद् मुनिः सर्वतो विप्रमुक्तः॥

९. (परिग्रह-अर्जन के निमित्त) जन्मान्तरानुयायी वैर में गृद्ध हो[३३] (पाप-कर्म का संचय[३४] करता है। यहां से च्युत होकर वह विषम और दुःखप्रद स्थान को[३५] प्राप्त होता है। इसलिए मेधावी मुनि[३६] धर्म की समीक्षा कर, सब ओर से मुक्त हो, संयम की चर्या करे।

१०. आयं ण कुज्जा इह जीवितट्ठी
असज्जमाणो य परिव्वएज्जा।
णिसम्मभासी य विणीयगिद्धी
हिंसण्णितं वा ण कहं करेज्जा॥

आयं न कुर्यात् इह जीवितार्थी,
असजंश्च परिव्रजेत्।
निशम्यभाषी च विनीतगृद्धिः,
हिंसान्वितां वा न कथां कुर्यात्॥

१०. इस जीवन का अर्थी होकर पदार्थों का अर्जन न करे, अनासक्त रह परिव्रजन करे। सोचकर बोलने वाला[३७] और आसक्ति से दूर रहने वाला हिंसायुक्त कथा न करे।[३८]

११. आहाकडं वा ण णिकामएज्जा
णिकामयंते य ण संथवेज्जा।
धुणे उरालं अणवेक्खमाणे
चेच्चाण सोयं अणुवेक्खमाणे॥

आधाकृतं वा न निकामयेत्,
निकामयतश्च न संस्तुयात्।
धुनोयात् उदारं अनपेक्षमाणः,
त्यक्त्वा स्रोतः अनुप्रेक्षमाणः॥

११. आधाकर्म की[३९] कामना न करे। उसकी कामना करने वालों की प्रशंसा और समर्थन न करे।[४०] स्थूल शरीर की[४१] अपेक्षा न रखता हुआ[४२] अनुप्रेक्षा-पूर्वक (असमाधि के) स्रोत को[४३] छोड़, उसे (स्थूल शरीर को) कृश करे।

१२. एगत्तमेवं अभिपत्थएज्जा
एतं पमोक्खे ण मुसं ति पास।
एसप्पमोक्खे अमुसेऽवरे वी
अकोहणे सच्चरए तवस्सी॥

एकत्वमेवं अभिप्रार्थयेत्,
एष प्रमोक्षः न मृषा इति पश्य।
एष प्रमोक्षः अमृषा अवरोपि,
अक्रोधनः सत्यरतः तपस्वी॥

१२. एकत्व (अकेलेपन) की[44] अभ्यर्थना करे। यह एकत्व मोक्ष है।[45] यह मिथ्या नहीं है। इसे देख। (एकत्व में रहने वाला पुरुष) मोक्ष, सत्य, प्रधान, क्रोधमुक्त, सत्यरत[46] और तपस्वी होता है।

१३. इत्थीसु या आरयमेहुणे उ
परिग्गहं चेव अकुव्वमाणे।
उच्चावएसु विसएसु ताई
ण संसयं भिक्खु समाहिपत्ते॥

स्त्रीषु च आरतमैथुनस्तु,
परिग्रहं चैव अकुर्वन्।
उच्चावचेषु विषयेषु तादृग्,
न संश्रयन् भिक्षुः समाधिप्राप्तः॥

१३. जो स्त्रियों के प्रति मैथुन से विरत है, परिग्रह नहीं करता, नाना[47] विषयों में मध्यस्थ और उनका सेवन नहीं करने वाला[49] भिक्षु समाधि-प्राप्त होता है।[50]

१४. अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू
तणादिफासं तह सीतफासं।
उण्हं च दंसं चऽहियासएज्जा
सुब्भिं च दुब्भिं च तितिक्खएज्जा॥

अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्षुः,
तृणादि स्पर्शं तथा शीतस्पर्शम्।
उष्णं च दंशं च अध्यासीत,
सुरभिं च दुरभिं च तितिक्षेत॥

१४. भिक्षु अरति और रति को[51] जीते, तृण आदि तथा सर्दी के स्पर्श[52] और गरमी तथा (मच्छर आदि के) दंश को सहे। सुगंध और दुर्गंध में[53] तितिक्षा रखे।

१५. गुत्ते वईए य समाहिपत्ते
लेसं समाहट्टु परिव्वएज्जा।
गिहं ण छाए ण वि छादएज्जा
सम्मिस्सिभावं पजहे पयासु॥

गुप्तः वाचि च समाधिप्राप्तः,
लेश्यां समाहृत्य परिव्रजेत्।
गृहं न छादयेत् नापि छादयेत्,
सम्मिश्रीभावं प्रजह्यात् प्रजासु॥

१५. भिक्षु वाणी से संयत[54] हो समाधि-प्राप्त बने, विशुद्ध लेश्या के साथ[55] परिव्रजन करे, स्वयं घर न छाए और दूसरों से न छवाए, गृहस्थों के साथ एक स्थान में न रहे।[56]

१६. जे केइ लोगम्मि उ अकिरियाता
अण्णेण पुट्ठा धुतमादिसंति।
आरंभसत्ता गढिया य लोए
धम्मं ण जाणंति विमोक्खहेउं॥

ये केचिद् लोके तु अक्रियात्मानः,
अन्येन पृष्टाः धुतमादिशन्ति।
आरम्भसक्ताः ग्रथिताश्च लोके,
धर्मं न जानन्ति विमोक्षहेतुम्॥

१६. इस जगत् में जो अक्रियात्मवादी[57] हैं वे दूसरों के पूछने पर धुत[58] (समाधि की एक साधना-पद्धति) का उपदेश करते हैं। किन्तु वे आरंभ में रत और लोक में आसक्त होने के कारण मोक्ष के हेतुभूत (समाधि) धर्म को नहीं जानते।

१७. तेसिं पुढो छंदा माणवाणं
किरिया-अकिरियाण व पुढोवादं।
जातस्स बालस्स पकुव्व देहं
पवड्ढती वेरमसंजयस्स॥

तेषां पृथक्छंदा मानवानां,
क्रिया-अक्रियाणां वा पृथग्वादः।
जातस्य बालस्य प्रकुर्वन् देहं,
प्रवर्धते वैरमसंयतस्य॥

१७. उन मनुष्यों के छन्द (अभिप्राय) नाना प्रकार के[59] होते हैं। क्रिया और अक्रिया—ये नाना वाद[60] हैं। नवोत्पन्न शिशु का शरीर जैसे बढ़ता है वैसे ही असंयमी का वैर बढ़ता है।[61]

१८. आउक्खयं चेव अबुज्झमाणे
ममाइ से साहसकारि मंदे।
अहो य राओ परितप्पमाणे
अट्टे सुमूढे अजरामरे व्व॥

आयुःक्षयं चैव अबुध्यमानः,
ममायी स साहसकारी मन्दः।
अहश्च रात्रौ परितप्यमानः,
आर्त्तः सुमूढः अजरामर इव॥

१८. आयु के क्षय को[62] नहीं जानता हुआ ममत्वशील[63], सहसा (बिना सोचे-समझे) काम करने वाला[64] मंद मनुष्य विषयों से पीड़ित[65] और मोह से मूर्च्छित हो अजर-अमर की भांति आचरण करता हुआ दिन-रात संतप्त होता है।[66]

१९. जहाय वित्तं पसवो य सव्वे
जे बंधवा जे य पिया य मित्ता।
लालप्पई से वि उवेति मोहं
अण्णे जणा तं सि हरंति वित्तं॥

हित्वा वित्तं पशूंश्च सर्वान्,
ये बान्धवाः यानि च प्रियाणि
च मित्राणि।
लालप्यते सोपि उपैति मोहं,
अन्ये जनाः तत् तस्य हरन्ति वित्तम्॥

१९. धन को, सारे पशुओं को, जो बांधव और प्रिय मित्र हैं उन्हें छोड़ (वह जाता है तब) विलाप करता है और मोह को प्राप्त होता है। (उसके चले जाने पर) दूसरे लोग उसके धन का हरण कर लेते हैं।

२०. सीहं जहा खुद्दमिगा चरंता
दूरे चरंती परिसंकमाणा।
एवं तु मेहावि समिक्ख धम्मं
दूरेण पावं परिवज्जएज्जा॥

सिंहं यथा क्षुद्रमृगाश्चरन्तः,
दूरे चरन्ति परिशंकमानाः।
एवं तु मेधावी समीक्ष्य धर्म,
दूरेण पापं परिवर्जयेत्॥

२०. जैसे चरते हुए छोटे पशु[६७] सिंह से डरकर[६८] दूर रहते हैं,[६९] इसी प्रकार मेधावी मनुष्य धर्म को समझकर दूर से ही पाप को छोड़ दे।

२१. संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं
पावाओ अप्पाण णिवट्टएज्जा।
हिंसप्पसूताणि दुहाणि मत्ता
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि॥

संबुध्यमानस्तु नरो मतिमान्,
पापात् आत्मानं निवर्तयेत्।
हिंसाप्रसूतानि दुःखानि मत्वा,
वैरानुबन्धीनि महाभयानि॥

२१. मतिमान् मनुष्य समाधि को समझकर[७०] तथा यह जानकर कि दुःख हिंसा से उत्पन्न होते हैं,[७१] वैर की परंपरा को वढ़ाते हैं और महा भयंकर हैं, अपने आपको पाप से बचाए।[७२]

२२. मुसं ण बूया मुणि अत्तगामी
णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं।
सयं ण कुज्जा ण वि कारवेज्जा
करंतमण्णं पि य णाणुजाणे॥

मृषा न ब्रूयाद् मुनिरात्मगामी,
निर्वाणमेतत् कृत्स्नः समाधिः।
स्वयं न कुर्यात् नापि कारयेत्,
कुर्वन्तमन्यमपि च नानुजानीयात्॥

२२. आत्मगामी मुनि[७३] असत्य न बोले। यह सत्य निर्वाण और सम्पूर्ण समाधि है।[७४] मृषावाद स्वयं न करे, दूसरों से न करवाए और करने वाले का अनुमोदन भी न करे।

२३. सुद्धे सिया जाए ण दूसएज्जा
अमुच्छितो अणज्झोववण्णो।
धितिमं विमुक्के ण य पूयणट्ठी
ण सिलोयकामी य परिव्वएज्जा॥

शुद्धे स्यात् जाते न दूषयेत्,
अमूर्च्छितः अनध्युपपन्नः।
धृतिमान् विमुक्तो न च पूजनार्थी,
न श्लोककामी च परिव्रजेत्॥

२३. एपणा द्वारा लब्ध शुद्ध आहार[७५] को दूपित न करे,[७६] उसमें मूर्च्छित और आसक्त न हो।[७७] संयम में धृतिमान् और अगार-बंधन से मुक्त[७८] मुनि पूजा का अर्थी, श्लाघा का कामी न होता हुआ परिव्रजन करे।

२४. णिक्खम्म गेहाओ णिरावकंखी
कायं विओसज्ज णिदाणछिण्णे।
णो जीवितं णो मरणाभिकंखी
चरेज्ज भिक्खू वलया विमुक्के॥

निष्क्रम्य गेहाद् निरवकांक्षी,
कायं व्युत्सृज्य छिन्ननिदानः।
नो जीवितं नो मरणाभिकांक्षी,
चरेद् भिक्षुर्वलयाद् विमुक्तः॥

२४. घर से अभिनिष्क्रमण कर, अनासक्त हो,[८०] शरीर का व्युत्सर्ग कर,[८१] कर्म-बंधन[८२] को छिन्न करे। न जीवन की इच्छा करे और न मरण की। भव के वलय से मुक्त[८३] हो संयम की चर्या करे।

—त्ति बेमि॥

—इति ब्रवीमि॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन १०

श्लोक १ :

१. मतिमान् (भगवान् महावीर) ने (मइमं)

चूर्णि और वृत्ति में इसका अर्थ केवलज्ञानी किया है। वृत्तिकार ने इस शब्द के द्वारा महावीर का ग्रहण किया है।[1]

२. अनुचिन्तन (अणुवीइ)

अनुचिन्तन कर अर्थात् भगवान् महावीर ने ग्राहकों को ध्यान में रखकर, उनकी ग्रहण-योग्यता के अनुसार धर्म का आख्यान किया। सामने वाला व्यक्ति कौन है? उसका उपास्य कौन है? वह किस दर्शन का अनुयायी है? आदि-आदि प्रश्नों का चिन्तन कर भगवान् ने उपदेश दिया।[2]

चूर्णिकार के अनुसार धर्म कहने की पद्धत्ति यह है—निपुण श्रोता के समक्ष सूक्ष्म अर्थ का प्रतिपादन और स्थूल बुद्धि वाले श्रोता के समक्ष स्थूल अर्थ का प्रतिपादन किया जाए। सुनने वाले धर्म को सुनकर यह चिंतन करें कि उन्हें ही लक्ष्य कर यह उपदेश दिया जा रहा है। तिर्यञ्च भी यह सोचे कि भगवान् हमारे लिए कह रहे हैं।[3]

३. ऋजु समाधि-धर्म का (अंजुं समाहिं)

यह समाधि का विशेषण है। भगवान् ने ऋजु समाधि का प्रतिपादन किया। ऋजु का अर्थ है—अवक्रता, सरलता, कथनी और करना की समानता। इस प्रसंग में चूर्णिकार और वृत्तिकार ने बौद्धों की समाधि का उल्लेख किया है और बताया है कि वह ऋजु नहीं है। वे वनस्पति को सचेतन मानते हैं। उसका स्वयं छेदन नहीं करते किन्तु दूसरों से करवाते हैं। वे स्वयं पैसा नहीं छूते किन्तु क्रय-विक्रय करते हैं। यह समाधि की ऋजुता नहीं है।[4]

समाधि शब्द की व्याख्या के लिए देखें—इसी अध्ययन का आमुख।

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १८५ : मतिमानिति केवलज्ञानी।
(ख) वृत्ति, पत्र १८८ : मतिमान् मननं मतिः—समस्तपदार्थपरिज्ञानं तद्विद्यते यस्यासौ मतिमान् केवलज्ञानीत्यर्थः, तत्रासाधारण-विशेषणोपादानात्तीर्थकृद् गृह्यते, असावपि प्रत्यासत्तेर्वीरवर्धमानस्वामी गृह्यते।

२. वृत्ति, पत्र १८८ : 'अनुविचिन्त्य' केवलज्ञानेन ज्ञात्वा प्रज्ञापनायोग्यान् पदार्थानाश्रित्य धर्मं भाषते, यदि वा—ग्राहकमनुविचिन्त्य कस्यार्थस्यायं ग्रहणसमर्थः ? तथा कोऽयं पुरुषः ?, कञ्च नतः ?, किं वा दर्शनमापन्नः ?, इत्येवं पर्यालोच्य, धर्मशुश्रूषवो वा मन्यन्ते— यथा प्रत्येकमस्मदभिप्रायमनुविचिन्त्य भगवान् धर्मं भाषते, युगपत्सर्वेषां स्वभाषापरि-णत्या संशयापगमादिति।

३. चूर्णि, पृ० १८५ : अणुवीयि त्ति अनुविचिन्त्य केवलज्ञानेनैव, अथवा अनुविचिन्त्य ग्राहकं ब्रवीति। जधा—
'णिउणे णिउणं अत्थं थूलत्थं थूलबुद्धिणो कधए।'
(कल्पभाष्य गा० २३०)
सुणेलूगा विचिंतेंति—मम भावमनुविचिन्त्य कथयति, तिरिया अपि विचिंतयंति—अम्हं भगवान् कथयति।

४. (क) चूर्णि, पृष्ठ १८४ : अंजुमिति उज्जुगं, न यथा शाक्याः, वृक्षं स्वयं न छिन्दन्ति, 'भिन्नं जानीहि' तं छिन्दानं ब्रुवते, तथा कार्षा-पणं न स्पृशन्ति क्रय-विक्रयं तु कुर्वते इत्येवमादिभिः अनृजुः।
(ख) वृत्ति, पत्र १८८ : 'ऋजुम' अवक्रं यथावस्थितवस्तुस्वरूपनिरूपणतो, न यथा शाक्याः सर्वं क्षणिकमभ्युपगम्य कृतनाशाकृताभ्यागम-दोषभयात् सन्तानाभ्युपगमं कृतवन्तः तथा वनस्पतिमचेतनत्वेनाभ्युपगम्य स्वयं न छिन्दन्ति तच्छेदनादावुप-देशं तु ददति तथा कार्षापणादिकं हिरण्यं स्वतो न स्पृशन्ति अपरेण तु तत्परिग्रहतः क्रयविक्रयं कारयन्ति।

४. अमूर्च्छित (अपडिण्णे)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं— अमूर्च्छित, अद्विष्ट।[1] वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—इहलौकिक या पारलौकिक आकांक्षा से शून्य।[2]

५. (हिंसा आदि) आस्रवों से मुक्त (अणिदाणभूते)

चूर्णि में इसके तीन अर्थ किए हैं—

१. अनाश्रवभूत।

२. अबंधनभूत।

३. दुःख का अहेतुभूत।

प्रस्तुत श्लोक का चौथा चरण है—अणिदाणभूते सुपरिव्वएज्जा।' इसका पाठान्तर है—अणिदाणभूतेसु परिव्वएज्जा।' 'सु' जो अगले शब्द से संबंधित था वह पूर्व शब्द से जुड़ जाता है और इस स्थिति में उसका अर्थ ही बदल जाता है। 'निदा' धातु बंधन के अर्थ में है। ज्ञान और व्रत अनिदानभूत—अबंधनभूत होते हैं। मुनि उनमें (ज्ञान और व्रत में) परिव्रजन करे।[3]

निदान, हेतु, और निमित्त—ये तीनों एकार्थक हैं।[4]

वृत्तिकार ने अनिदानभूत का एक अर्थ अनारंभ भी किया है।[5]

श्लोक २ :

६. ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में (उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु)

इसका सामान्य अर्थ है—ऊर्ध्व दिशा, अधो दिशा और तिर्यक् दिशा।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ शरीर-सापेक्ष किया है—शिर से ऊपर का भाग ऊर्ध्व दिशा, पैरों के तले का भाग अधो दिशा और बीच का भाग तिर्यग् दिशा।[6]

७. हाथ और पैर का संयम करे (हत्थेहि पादेहि य संजमित्ता)

इसका अर्थ है—हाथ और पैर का संयम कर।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ भिन्न प्रकार से किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ है—प्राणियों को हाथ-पैरों से बांधकर अथवा दूसरे उपायों से उनकी कदर्थना कर दुःखी न करे।[7]

श्लोक ३ :

८. जिसका धर्म स्वाख्यात है (सुयक्खायधम्मे)

स्थानांग (३।५०७) के अनुसार सु-अधीत, सु-ध्यात, और सु-तपस्यित धर्म स्वाख्यात कहलाता है। जब धर्म सु-अधीत

१. चूर्णि, पृ० १८५ : अप्रतिज्ञः इह-परलोकेषु कामेषु अप्रतिज्ञः अमूर्च्छित इत्यर्थः, अद्विष्टो वा।

२. वृत्ति, पत्र १८६ : न विद्यते ऐहिकामुष्मिकरूपा प्रतिज्ञा आकाङ्क्षातपोऽनुष्ठानं कुर्वतो यस्यासावप्रतिज्ञः।

३. चूर्णि, पृ० १८५ : न निदानभूतः अनिदानभूतो नाम अनाश्रवभूतः,·········अथवा अनिदानभूतानीति 'निदा बन्धने' अबन्धभूतानीति अनिदानतुल्यानीति ज्ञानादीनि व्रतानि वा परिव्वएज्जा, अथवा····· न कस्यचिदपि दुःखनिदानभूतः।

४. चूर्णि, पृ० १८५ : निदानं हेतुर्निमित्तमित्यनर्थान्तरम्।

५. वृत्ति, पत्र १८६ : न विद्यते निदानमारम्भरूपं····· यस्यासावनिदानः।

६. चूर्णि, पृ० १८५ : तत्रोर्ध्वमिति यद् ऊर्ध्वं शिरसः, अध इति अधः पादतलाभ्याम्, शेषं तिर्यक्।

७. वृत्ति, पत्र १८६ : प्राणिनो हस्तपादाभ्यां 'संयम्य' बद्ध्वा उपलक्षणार्थत्वादस्यान्यथा वा कदर्थयित्वा यत्तेषां दुःखोत्पादनं तन्न कुर्यात्।

होता है तब वह सु-ध्यात होता है। जब वह सु-ध्यात होता है तब वह सुतपस्यित होता है। सु-अधीत, सु-ध्यात और सु-तपस्यित धर्म ही स्वाख्यात धर्म है।

प्रस्तुत निरूपण में धर्म के तीन अंगों—अध्ययन, ध्यान और तपस्या का निर्देश है। इनमें पौर्वापर्य है। अध्ययन के विना ध्यान और ध्यान के विना तपस्या नहीं हो सकती। व्यक्ति पहले ज्ञान से जानता है, फिर उसके आशय का ध्यान करता है और फिर उसका आचरण करता है। स्वाख्यात धर्म का यही क्रम है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने स्वाख्यात धर्म से श्रुतधर्म और चारित्र धर्म का ग्रहण किया है।[1]

उपर्युक्त तीनों अंगों का इसमें समाहार हो जाता है। सु-अधीत और सु-ध्यात—ये दो श्रुतधर्म के प्रकार हैं और सु-तपस्यित चारित्र-धर्म का प्रकार है।

९. जो सन्देहों का पार पा चुका है (वितिगिच्छतिण्णे)

वृत्तिकार ने विचिकित्सा के दो अर्थ किए हैं—चित्त की विप्लुति और विद्वानों के प्रति जुगुप्साभाव। जो व्यक्ति इन दोनों से अतिक्रान्त हो जाता है, इनका पार पा लेता है, वह 'विचिकित्सातीर्ण' कहलाता है। यह दर्शनसमाधि का एक अंग है।[2]

आचारांग में बतलाया गया है कि विचिकित्सा करने वाला समाधि को प्राप्त नहीं होता।[3]

१०. जो जैसा भोजन प्राप्त हो उसी में संतुष्ट रहता है (लाढे चरे)

जो मुनि जिस किसी प्रकार के प्रासुक आहार, उपकरण आदि से विधिपूर्वक अपनी जीवन-चर्या चलता है वह 'लाढ' कहलाता है। अथवा प्रासुक आहार के अभाव में शरीर कृश हो जाने पर भी जो सूत्र, अर्थ और तदुभय की उपासना में परितप्त नहीं होता वह 'लाढ' कहलाता है।[4]

११. सुतपस्वी भिक्षु (सुतवस्सि)

छन्द की दृष्टि से यहां ह्रस्व का प्रयोग है। जो घोर तप तपता है और पारने में विकृति नहीं लेता, वह सुतपस्वी कहलाता है।[5]

१२. प्राणीमात्र को आत्मतुल्य समझता हुआ विचरण करे (चरे आयतुले पयासु)

मुनि प्राणी मात्र को आत्म-तुल्य समझता हुआ विचरण करे।

जो समस्त प्राणी-जगत् को अपनी आत्मा के समान मानता है वह उनके साथ वैसा बर्ताव नहीं कर सकता जो बर्ताव स्वयं के लिए अहितकर हो। वह उन्हें मार नहीं सकता। वह यह सोचता है[6]—

> 'जह मम ण पियं दुक्खं, जाणिय एवमेव सव्वजीवाणं।
> ण हणइ ण हणावेइ य सममणई तेण सो समणो॥

'जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, इसी प्रकार किसी भी जीव को दुःख प्रिय नहीं है।' यह सोचकर वह स्वयं जीवों की न हिंसा

---

१. (क) चूर्णि पृ० १८५ : सुष्ठु आख्यातो धर्मः स भवति सुअक्खातधम्मे द्विविधोऽपि।
(ख) वृत्ति, पत्र १८९ : सुष्ठ्वाख्यातः श्रुत चारित्राख्यो धर्मो येन साधुनाऽसौ स्वाख्यातधर्मा।

२. वृत्ति, पत्र १८९ : विचिकित्सा—चित्तविप्लुतिर्विद्वज्जुगुप्सा वा तां (वि) तीर्णः-अतिक्रान्तः 'तदेव च निःशङ्कं यज्जिनैः प्रवेदित'-मित्येवं निःशङ्कतया न क्वचिच्चित्तविप्लुतिं विधत्त इत्यनेन दर्शनसमाधिः प्रतिपादितो भवति।

३. आयारो, ५।९३ : वितिगिच्छ-समावन्नेणं अप्पाणेणं णो लभति समाधिं।

४. (क) चूर्णि, पृ० १८६ : जेण केणइ फासुगेणं लाढेतीति लाढः, सुत्त-ऽत्थ-तदुभयेहिं विचित्तेहिं किसे वि देहे अपरितंते लाढेत्ति।
(ख) वृत्ति, पत्र १८९ : येन केनचित्प्रासुकाहारोपकरणादिगितेन विधिनाऽऽत्मानं यापयति—पालयतीति लाढः।

५. वृत्ति, पत्र १९० : सुष्ठु तपस्वी 'सुतपस्वी' विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहः।

६. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १५४।

करता है और न दूसरों से हिंसा करवाता है। वह सबके प्रति समान व्यवहार करता है।

मृषावाद के विषय में भी वह सोचता है—जैसे मुझे कोई गाली देता है या मेरे पर झूठा आरोप लगाता है तो मुझे दुःख होता है, वैसे ही दूसरों को गाली देने और उन पर झूठा आरोप लगाने से दुःख होता है।

इसी प्रकार दूसरे सारे आश्रवद्वारों के विषय में वह आत्मतुला के आधार पर सोचता है और उसी प्रकार आचरण करता है, यही उसका आत्मतुल्य आचरण है।[1]

१३. इस जीवन का अर्थी (इह जीवियट्ठी)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[2]—

१. साधक इस जीवन का अर्थी होकर पदार्थों का अर्जन न करे।
२. अन्न, पान, वस्त्र, शयन, पूजा, सत्कार आदि के लिए पदार्थों का अर्जन न करे।

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ यह है[3]—

साधक असंयम जीवन का अर्थी होकर, मैं लंबे समय तक सुखपूर्वक जीवित रहूंगा—ऐसा सोचकर कर्म-बंध न करे।

१४. अर्जन (आयं)

चूर्णि ने इसका अर्थ—पदार्थों का अर्जन[4] और वृत्तिकार ने कर्मों के आश्रवद्वार रूपी आय[5]—किया है।

१५. संचय न करे (चयं ण कुज्जा)

मुनि के लिए धर्मोपकरण के अतिरिक्त सारे पदार्थ संचय की कोटि में आते हैं। मुनि आहार, उपकरण आदि वस्तुओं का संचय न करे। वह सोना, चांदी, धन, धान्य का भी संचय न करे कि वे भविष्य में जीवन-यापन के लिए कारगर होंगे।[6]

श्लोक ४ :

१६. सभी इन्द्रियों से संयत (सव्विंदियाभिणिव्वुडे पयासु)

प्रजा का अर्थ है—स्त्री। मुनि स्त्रियों के प्रति सभी इन्द्रियों से संयत रहे। पांचो इन्द्रियों के पांचो विषय स्त्रियों के प्रति होते हैं। वृत्तिकार ने यहां एक श्लोक उद्धृत किया है—

कलानि वाक्यानि विलासिनीनां, गतानि रम्याण्यवलोकितानि।
रतानि चित्राणि च सुन्दरीणां, रसोपि गन्धोऽपि च चुम्बनानि॥[7]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १८६ : आयतुले पयासुं ति, प्रजायन्त इति प्रजाः पृथिव्यादयः तासु यथाऽऽत्मनि तथा प्रयतितव्यम्, न हिंसितव्या इत्यर्थः, आत्मतुल्या इति 'जध मम ण पियं दुक्खं' एवं मुसावादे वि जधा मम अब्भाइक्खिज्जतस्स अप्पियं एवमन्यस्यापि। एवमन्येष्वपि आश्रवद्वारेषु आत्मतुल्यत्वं विभाषितव्यम्।
(ख) वृत्ति, पत्र १८९, १९०।

२. चूर्णि, पृ० १८६ : तं आइं न इहलोकजीवितस्यार्थे कुर्यात्, अण्ण-पाण-वत्थ-सयण-पूया-सक्कारहेतुं वा।

३. वृत्ति, पत्र १९० : इहासंयमजीवितार्थी प्रभूतं कालं सुखेन जीविष्यामीत्येतदध्यवसायी वा—कर्माश्रवलक्षणं न कुर्यात्।

४. चूर्णि, पृ० १८६ : आयो नाम आगमः।

५. वृत्ति, पत्र १९० : आयं—कर्माश्रवलक्षणम्।

६. (क) चूर्णि पृ० १८६ : चयं ण कुज्जा, चयं णाम सन्निचयं न कुर्याद्, अन्यत्र धर्मोपकरणं शेष आहारादिवस्तुसञ्चयः सर्वः प्रतिषिध्यते, हिरण्य—धान्यादिसञ्चयोऽपि प्रतिषिध्यते येनानागते काले जीविका स्यादिति, तं प्रतीत्य भावसञ्चयो भवति, कर्मसञ्चय इत्यर्थः।
(ख) वृत्ति, पत्र १९० : 'चयम्'—उपचयमाहारोपकरणादेर्धनधान्यद्विपदचतुष्पदादेर्वा परिग्रहलक्षणं संचयम्।

७. वृत्ति पत्र १९० : सर्वाणि च तानि इन्द्रियाणि च स्पर्शनादीनि तैरभिनिर्वृतः— संवृतेन्द्रियो जितेन्द्रिय इत्यर्थः, क्व ?—'प्रजासु'—स्त्रीषु, तासु हि पञ्चप्रकारा अपि शब्दादयो विषया विद्यन्ते, तथा चोक्तम्—कलानि वाक्यानि……….।

चूर्णिकार ने पांचों विषयों को विस्तार से समझाया है—

शब्द—स्त्रियों के कलात्मक वाक्य।

रूप—रमणीय गति, अवलोकन आदि।

रस—चुम्बन आदि।

गंध—जहां रस है वहां गंध अवश्यंभावी है।

स्पर्श—संबाधन, स्तन, उरु, वदन आदि का संसर्ग।[1]

१७. सर्वथा बन्धन मुक्त (सव्वओ विप्पमुक्के)

इसका अर्थ है—सर्वथा बन्धनमुक्त, बाह्य और आभ्यन्तर आसक्तियों से मुक्त, निःसंग, निष्कञ्चन।[2]

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—समस्त असमाधियों से मुक्त, सर्वबन्धनों से मुक्त।[3]

१८. पृथक्-पृथक् रूप से (पुढो)

इसके दो अर्थ हैं—पृथक्-पृथक् अथवा बहुत।[4]

१९. पीडित (आवट्टती)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—आवर्त्त में फंस जाता है।[5] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—पीड़ित होता है, दुःखभाक् होता है—किया है।[6]

श्लोक ६ :

२०. (आदीणवित्ती ....एगंतसमाहिमाहु)

दीनता प्रदर्शित कर जीविका चलाने वाला भी पाप कर लेता है। वह भोजन को प्राप्त नहीं होता तब उसे असमाधि हो जाती है। इस स्थिति को ध्यान में रखकर एकान्त समाधि का निरूपण किया गया है। वस्तु के लाभ से होने वाली समाधि अनैकान्तिक होती है। ज्ञान आदि भाव-समाधि एकान्ततः सुख उत्पन्न करती है।[7]

चूर्णिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में उत्तराध्ययन ५।२२ का श्लोक उद्धृत करते हुए कथा की ओर संकेत किया है। वह इस प्रकार है—

---

१. चूर्णि, पृ० १८६ : सर्वेन्द्रियनिवृत्तो जितेन्द्रिय इत्यर्थः। प्रजायन्तः इति प्रजाः स्त्रियः, तासु हि पंचलक्खणा विषया विद्यन्ते। शब्दास्तावत्—कलानि वाक्यानि विलासिनीनाम्, रूपेऽपि—गता निशा साच्यवलोकितानि, स्मितानि वाक्यानि च सुन्दरीणाम्। रसा अपि चुम्बनादयः यत्र रसस्तत्र गन्धोऽपि विद्यते स्पर्शाः सम्बाधन-कुचोरु-वदनसंसर्गादयः।

२. वृत्ति, पत्र १९० : सबाह्याभ्यन्तरात् सङ्गाद्विशेषेण प्रमुक्तो विप्रमुक्तो निःसङ्गो मुनिः निष्किञ्चनश्चेत्यर्थः।

३. चूर्णि, पृ० १८६ : सर्वासमाधिविप्रमुक्तः सर्वबन्धनविप्रमुक्तः।

४. चूर्णि, पृ० १८६ : पुढो णाम पृथक् पृथक् अथवा पुढो त्ति बहुगे।

५. चूर्णि, पृ० १८६ : ये प्रकुर्वन्ते हिंसादीनि एतेष्वेव आवर्त्यन्ते।

६ वृत्ति, पत्र १९० : आवर्त्यते—पीड्यते दुःखभाग्भवतीति।

७. (क) चूर्णि, पृ० १८७ : यावद् दैन्यं तावद् दीनः। कोऽर्थः ? दीण-किवण-वणीमगा वि पावं करेंति............दीणत्तणेण भुंजतीति आदीणभोजी, सो पुण कताइ अलभमाणो असमाधिपत्तो अधेसत्तमाए वि उववज्जेज्जा.......... द्रव्यसमाधयो हि स्पर्शादिसुखोत्पादकाः अनैकान्तिकाश्च भवन्ति। कथम् ? अन्यथामेवनावसमाधिं कुर्वते। उक्तं हि—'ते चेव होंति दुक्खा पुणो वि कालंतरवसेण।' ज्ञानाद्यास्तु भावसमाधयः एकान्तेनैव सुखमुत्पादयन्तीह परत्र च एवं मत्वा सम्पूर्णं समाधिमाहुस्तीर्थंकराः।

(ख) वृत्ति, पत्र १९१।

राजगृह नगर के वैभारगिरि पर्वत के पास कुछ लोग 'गोठ' आदि के मिष से एकत्रित हुए। उन्होंने वहां भोजन आदि बना रखा था। एक भिक्षुक भोजन मांगने आया। किसी ने उसे भिक्षा नहीं दी। भिक्षुक रुष्ट हो गया। उसके मन में उन लोगों के प्रति विद्वेष जाग उठा। वह वैभार पर्वत पर चढ़ा और बड़ी-बड़ी शिलाओं को वहां से नीचे ढकेला। वह उन लोगों को मारना चाहता था। संयोगवश वह एक शिला के साथ नीचे फिसला और शिला के नीचे आकर चूर-चूर हो गया। वह रौद्रध्यान के परिणामों में मरकर 'अप्रतिष्ठान' नामक नरक में जाकर उत्पन्न हुआ।[1]

२१. (इस समाधि को) जानने वाला (बुद्धे)

इसके दो अर्थ हैं—

१. समाधि को जानने वाला।

२. चार प्रकार की भावसमाधि—ज्ञानसमाधि, दर्शनसमाधि, चारित्रसमाधि और तपसमाधि—में स्थित।[2]

२२. विवेक में (विवेगे)

विवेक दो प्रकार का होता है—

१. द्रव्य विवेक—आहार, वस्त्र, पात्र का प्रमाण करना। जैसे मुनि कुर्कुटी के अंडे के प्रमाण वाले आठ कवल मात्र आहार करे, एक वस्त्र और एक पात्र रखे, आदि।

२. भाव विवेक—कषाय, संसार और कर्मों का परित्याग करना, उनसे छुटकारा पाने का प्रयत्न करना।[3]

२३. स्थितात्मा (ठितप्पा)

चूर्णिकार ने इसके स्थान पर 'ठितच्चा' पाठ की व्याख्या की है। अर्चि का एक अर्थ है—लेश्या। जिसकी अर्चि स्थित होती है उसे 'स्थितार्चि' कहा जाता है।[4]

श्लोक ७ :

२४. (सव्वं जगं··· ·······णो करेज्जा)

प्रथम दो चरणों का प्रतिपाद्य है—मध्यस्थ ही संपूर्ण समाधियुक्त होता है। चूहों को मार कर बिल्ली का पोषण करने वाला, एक का प्रिय करता है तो दूसरे का अप्रिय करता है। यह प्रिय और अप्रिय संपादन का प्रसंग समाधि का विघ्न है, इसलिए समता-अनुप्रेक्षी प्रिय और अप्रिय के झंझट में न जाए।[5]

समतानुप्रेक्षी वह होता है जिसके लिए न कोई प्रिय होता है और न कोई अप्रिय।

२५. दीन (कायर) व्यक्ति (दीणे)

चूर्णिकार के अनुसार दीन का अर्थ है— अनूर्जित, ऊर्जाशून्य या प्राणशून्य। जो ऐसा होता है वह भोगों को त्याग कर फिर भोगाभिलाषी हो जाता है। चाहने वाला हर व्यक्ति दीन बन जाता है और चाहने पर इष्ट वस्तु नहीं मिलती तब वह दीनतर बन जाता है।[6]

---

१ उत्तराध्ययन, सुखबोधा वृत्ति, पत्र १०७।

२. चूर्णि, पृ० १८७ : बुद्ध इति जानको भावसमाधीए चतुव्विधाए ट्ठितो।

३. चूर्णि, पृ० १८७ : दव्वविवेगो आहारादि अट्ठकुक्कुडिअंडगप्पमाणमेत्तकवलेण, एगे वत्थे एगे पादे, भावविवेगो कसाय-संसार-कम्माणं।

४ चूर्णि, पृ० १८७ : अर्चिरिति लेश्या, स्थिता यस्यार्चिः स भवति ठितच्चा, अवट्ठितलेश्य इत्यर्थः।

५. चूर्णि, पृ० १८७ : अथवा अन्यस्य प्रियं करोति अन्यस्याप्रियमित्यतः। कोऽर्थः ? नान्यान् घातयित्वा अन्येषां प्रियं करोति, मूषकैः मार्जारपोषवत्। अथवा प्रियमिति सुखं सर्वसत्त्वानाम्, तदेषामप्रियं न कुर्यात्, न कस्यचिद् प्रियम्, मध्यस्थ एवाऽऽस्यादित्यतः सम्पूर्णसमाधियुक्तो भवति।

६. चूर्णि, पृ० १८७ : दीन इत्यनूर्जितो भोगाभिलाषी, सर्वो हि तर्कुकदीनो भवति, ईप्सितालम्भे च दीनतरः।

वृत्तिकार के अनुसार जो परीषहों और उपसर्गों के आने पर शिथिल हो जाता है वह दीन है।[1]

२६. विषण्ण (विसण्णे)

इसका तात्पर्य है कि कोई मुनि कष्टों से घबरा कर विषय भोगों की अभिलाषा करता हुआ पुनः गृहस्थ बन जाता है अथवा पार्श्वस्थ हो जाता है, चर्या में शिथिल हो जाता है।[2]

२७. श्लाघा की कामना करने लग जाता है (सिलोयकामी)

श्लोक का अर्थ है—प्रशंसा, यश। वह शिथिल मुनि यश का अभिलाषी होकर व्याकरण, गणित, ज्योतिष, निमित्तशास्त्र आदि का अध्ययन करता है।[3]

श्लोक ८ :

२८. आधाकर्म (आहाकडं)

मुनि के निमित्त बने आहार, उपकरण आदि को आधाकर्म कहा जाता हैं।

चूर्णिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ किया है कि मुनि के लिए कोई वस्तु खरीदी जाती है वह क्रीतकृत तथा अन्य उद्गम दोष भी आधाकर्म हैं।[4] किन्तु यह अर्थ चिन्तनीय है।

आधाकर्म अविशुद्धिकोटि का दोष है और क्रीतकृत विशुद्धिकोटि का दोष है। इसलिए दोनों एक कोटि के नहीं हो सकते।

२९. कामना करता है (णिकाममीणे)

इसका संस्कृत रूप है—'निकामयमानः'। इसका अर्थ है—अत्यधिक कामना करना, प्रार्थना करना।[5]

चूर्णिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ—निमंत्रण-पिंड को स्वीकार करने वाला किया है।[6]

३०. उसकी गवेषणा करता है (णिकामसारी)

जो आधाकर्म आदि की या उसके निमित्तभूत निमंत्रण आदि की गवेषणा करता है वह निकामसारी कहलाता है।[7]

३१. असंयम की एषणा करता है (विसण्णमेसी)

जो पार्श्वस्थ, अवसन्न और कुशील व्यक्ति संयम की चर्या में शिथिल हो गए हैं, उनके मार्ग की गवेषणा करने वाला विषण्णैषी होता है। यहां विषण्ण का अर्थ है—असंयम। जो असंयम की गवेषणा करता है वह सफेद कपड़े को पहनने वाले की तरह दीन होता जाता है, क्योंकि वह सफेद कपड़ा प्रतिदिन मलिन होता जाता है। असंयम की एषणा करने वाला भी प्रतिदिन मलिन

---

१. वृत्ति, पत्र १९१ : परीसहोपसर्गैस्तर्जितो दीनभावमुपगम्य।

२. चूर्णि पृ० १८७ : विसण्णे त्ति गिहत्थीभूतो पासत्थीभूतो वा, अयं तु पार्श्वेधिकृतः, पूया—सत्काराभिलाषी वस्त्र-पात्रादिभिः पूजनं च इच्छति।

३. वृत्ति पत्र १९१ : श्लाघाभिलाषी च व्याकरणगणितज्योतिषनिमित्तशास्त्राण्यधीते कश्चिदिति।

४. चूर्णि, पृ० १८७ : आधाय कडं अधाकडं, आधाकर्मेत्यर्थः। अथवा अन्यान्यपि जाणि साधुमाधाय कीतकडादीणि क्रियन्ते ताणि अधाकडाणि भवंति।

५. (क) चूर्णि पृ० १८७ : अधिकं कामयते निकामयते, प्रार्थयतीत्यर्थः।
(ख) वृत्ति, पत्र १९१ : निकामम्—अत्यर्थं यः प्रार्थयते स निकाममीणेत्युच्यते।

६. चूर्णि, पृ० १८७ : अथवा णियायणा णिमंतणा जो तं णिमंतणं गेण्हति सो 'णियायमीणे'।

७. (क) चूर्णि, पृ० १८७ : जो पुण आधाकम्मादीणि णिकामाइं सरति सुमरइ त्ति निगच्छति गवेषतीत्यर्थः।
(ख) वृत्ति, पत्र १९१ : निकामम्—अत्यर्थं आधाकर्मादीनि तन्निमित्तं निमन्त्रणादीनि वा सरति—व्रजति तच्छीलश्च।

होता जाता है।[1]

३२. (इत्थीसु सत्तो ....पकुव्वमाणो)

इन दोनों चरणों का प्रतिपाद्य है कि मनुष्य में पहले काम की प्रवृत्ति होती है और वह काम की वृत्ति ही परिग्रह के संचय की प्रेरक बनती है। पहले काम और काम के लिए परिग्रह—यह सिद्धान्त फलित होता है।

प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अध्ययन के २, ३ श्लोक से यह सिद्धान्त फलित होता है कि पहले परिग्रह और परिग्रह के लिए हिंसा। पूरा क्रम इस प्रकार बनता है—पहले काम, काम के लिए परिग्रह और परिग्रह के लिए हिंसा।

श्लोक ६ :

३३. जन्मान्तरानुयायी वैर में गृद्ध हो (वेराणुगिद्धे)

जिन-जिन प्रवृत्तियों से मनुष्य दूसरों को परिताप देता है, वह उनके साथ वैर का अनुबंध करता है। वह वैर सैंकड़ों जन्मों तक उसका पीछा नहीं छोड़ता। व्यक्ति इस प्रकार के वैर में गृद्ध हो जाता है, उसका अनुबंध करता ही रहता है।[2]

३४. संचय (णिचयं)

इसका अर्थ है—पाप-कर्म का संचय।[3]

चूर्णिकार ने 'आरंभसत्ता णिचयं करेंति'—यह पद मान कर 'णिचय' का अर्थ—हिरण्य, सुवर्ण आदि द्रव्यों का संचय—किया है। इस द्रव्य संचय से वह व्यक्ति आठ प्रकार के कर्मों का संचय करता है।[4]

३५. विषम और दुःखप्रद स्थान को (दुहमट्ठदुग्गं)

इसमें तीन शब्द हैं—दुःख, अर्थ और दुर्ग। इस पद का संयुक्त अर्थ है—ऐसे दुःखप्रद स्थान जो यथार्थरूप में विषम हों, दुरुत्तर हों।[5]

३६. मेधावी मुनि (मेधावि)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ संपूर्ण समाधि के गुणों को जानने वाला किया है।[6] वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ और किए हैं—विवेकी, मर्यादावान्।[7]

श्लोक १० :

३७. सोचकर बोलने वाला (णिसम्मभासी)

इसका अर्थ है—आगे-पीछे की समीक्षा कर बोलने वाला, सोचकर बोलने वाला।[8]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १८७, १८८ : पासत्थोसण्ण-कुसीलाणं विसण्णाणं संयमोद्योगे मार्गं गवेषति विषीदति वा, येन संसारे विसण्णो भवत्यसंयम इति तमेषतीति विषण्णेषी, तधा तधा दीणभावं गच्छति शुक्लपटपरिभोगवत्, परिभुज्जमाणशुक्लपटवद् मलिनीभवत्यसौ।

(ख) वृत्ति, पत्र १९२ : पार्श्वस्थावसन्नकुशीलानां संयमोद्योगे विषण्णानां विषण्णभावमेषते, सदनुष्ठानविषण्णतया संसारपङ्कावसन्नो भवतीति यावत्।

२ वृत्ति, पत्र १९२ : येन केन कर्मणा—परोपतापरूपेण वैरमनुबध्यते जन्मान्तरशतानुयायि भवति तत्र गृद्धो वैरानुगृद्धः।

३. वृत्ति, पत्र १९२ : निचयं—द्रव्योपचयं तन्निमित्तापादितकर्मनिचयं वा।

४. चूर्णि, पृ० १८८ : णिचयं करेंति, हिरण्ण-सुवण्णादीदव्वणिचयं। दव्वणिचयदोसेणं अट्ठविधकम्मणिचयं।

५. वृत्ति, पत्र १९२ : दुःखयतीति दुःखं—नरकादियातनास्थानमर्थतः परमार्थतो 'दुर्गं' विषमं दुरुत्तरम्।

६. चूर्णि पृ० १८८ :सम्पूर्णं समाधिगुणं जानानः।

७. वृत्ति, पत्र १९२ : मेधावी—विवेकी मर्यादावान् वा सम्पूर्णसमाधिगुणं जानानः।

८ (क) चूर्णि, पृ० १८८ : णिसम्मभासी णाम पूर्वापरसमीक्ष्यभाषी।

(ख) वृत्ति, पत्र १९२ : 'निशम्य'—अवगम्य पूर्वोत्तरेण पर्यालोच्य भाषको भवेत्।

३८. हिंसायुक्त कथा न करे (हिंसण्णितं वा ण कहं करेज्जा)

मुनि हिंसायुक्त कथा न करे अर्थात् ऐसा वाद न करे जो अपने लिए या दूसरे के लिए या दोनों के लिए बाधक हो।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने हिंसान्वित वचन के रूप में कुछ उदाहरण प्रस्तुत किए हैं—खाओ, पीओ, मोज करो, मारो, पीटो, छेदो, प्रहार करो, पकाओ आदि।[1]

वास्तव में 'कथा' का अर्थ वचन या भाषण न होकर यहां उसका अर्थ 'वाद' होना चाहिए। स्थानांग सूत्र में कथा के चार प्रकार बतलाए हैं—आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी।[2] इनमें 'विक्षेपणी कथा' खंडन-मंडन से सम्बन्धित है। उसके चार प्रकार हैं[3]—

१. स्वमत का	प्रतिपादन	कर	परमत का	प्रतिपादन	करना	।
२. परमत का	,,	,,	स्वमत का	,,	,,	।
३. सम्यक्वाद का	,,	,,	मिथ्यावाद का	,,	,,	।
४. मिथ्यावाद का	,,	,,	सम्यक्वाद का	,,	,,	।

खंडन-मंडन रूप चर्चा के लिए कथा और वाद शब्द प्रचलित रहे हैं। न्याय परंपरा में कथा के तीन भेद किए हैं—वाद, जल्प और वितंडा। जैन परंपरा भी 'वाद' के अर्थ में कथा का प्रयोग स्वीकार करती है। प्रस्तुत श्लोक में 'कथा' शब्द वाद के अर्थ में प्रयुक्त है। मुनि ऐसा 'वाद' न करे जिसमें हिंसा की संभावना हो।

श्लोक ११ :

३९. आधाकर्म की (आहाकडं)

आठवें श्लोक में भी 'आधाकर्म' आहार का निषेध किया गया है। उसका पुनः निषेध पुनरुक्त जैसा लगता है, किंतु प्रस्तुत श्लोक में इसका पुनः उल्लेख विशेष प्रयोजन से किया गया है।

मुनि घर-घर आहार के लिए घूमता है। निर्दोष आहार की प्राप्ति सुलभ नहीं होती। कुछ उपासक दया के वशीभूत होकर मुनि के लिए आहार बना देते हैं। किन्तु निर्दोष आहार की एषणा करने वाला मुनि आहार न मिलने पर भी अपने लिए बनाए आहार की कामना नहीं करता। यह भी एक तपस्या है। वह भूखा रहकर उपवास कर लेता है, पर सदोष आहार ग्रहण नहीं करता। शरीर को धुनने का यह एक उपाय है। इसी प्रसंग में इसका पुनः उल्लेख हुआ है।

४०. प्रशंसा और समर्थन न करे (संथवेज्जा)

चूर्णिकार का कथन है कि जो मुनि आधाकर्म की कामना करते हैं, उनके साथ आना-जाना, उनके इस कार्य की प्रशंसा करना या उनके साथ परिचय करना—मुनि यह न करे।[4]

वृत्तिकार के अनुसार जो मुनि आधाकर्म की कामना करते हैं उनके साथ संपर्क करना, उनको दान देना, उनके साथ रहना, उनसे बातचीत करना—इन सारी प्रवृत्तियों से उनका समर्थन न करे, उनकी प्रशंसा न करे। इसका सारांश है कि उन

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १८८ : हिंसया अन्विता (हिंसान्विता)। कथ्यत इति कथा। कथं हिंसान्विता ? तस्माद् अश्नीत पिबत खादत मोदत हनत निहनत छिन्दत प्रहरत पचतेति।

(ख) वृत्ति, पत्र १९२।

२. ठाणं ४।२४६ : चउव्विहा कहा पण्णत्ता, तं जहा—अक्खेवणी, विक्खेवणी, संवेयणी, णिव्वेदणी।

३. ठाणं ४।२४८ : विक्खेवणी कहा चउव्विहा पण्णत्ता, तं जहा—ससमयं कहेइ, ससमयं कहित्ता परसमयं कहेइ, परसमयं कहेत्ता ससमयं ठावइता भवति, सम्मावायं कहेइ, सम्मावायं कहेत्ता मिच्छावायं कहेइ, मिच्छावायं कहेत्ता सम्मावायं ठावइत्ता भवति।

४. चूर्णि, पृ० १८८ : ये चैनं (औद्देशिकम्) कामयन्ति न तैः पार्श्वस्थादिभिरागमणगमादि तत्प्रशंसादि संस्तवं च कुर्यात्।

मुनियों के साथ परिचय न करे।[1]

संस्तव के मुख्य रूप से दो अर्थ होते हैं—स्तुति और परिचय। संस्तव दो प्रकार का होता है—संवास संस्तव और वचन संस्तव अथवा पूर्व संस्तव और पश्चात् संस्तव।

विशेष विवरण के लिए देखें—उत्तराध्ययन १५।१ का टिप्पण।

४१. स्थूल शरीर की (उरालं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ औदारिक शरीर किया है।[2] वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[3]—

१. औदारिक शरीर।

२. अनेक भवों में संचित-कर्म।

४२. अपेक्षा न रखता हुआ (अणवेक्खमाणे)

मुनि यह न सोचे कि तपस्या के द्वारा मैं दुर्बल हो जाऊंगा, मेरा शरीर कृश हो जाएगा, इसलिए मुझे तपस्या नहीं करनी चाहिए। मैं दुर्बल हूं, मैं तपस्या कैसे कर सकता हूं? मुनि इस प्रकार न सोचे। वह शरीर को याचित उपकरण की भांति मानकर उसके साथ वैसा ही व्यवहार करे। उसे तपस्या के द्वारा धुन डाले।[4]

जैन आगमों में शरीर को धुनने की बात बहुत बार कही गई है। इसका प्रयोजन यह है कि शरीर को धुनने की प्रवृत्ति से कर्म भी धुने जाते हैं, उनका भी अपनयन होता है। कर्मों का अपनयन ऊर्ध्वारोहण का उपक्रम है।

४३. स्रोत को (सोयं)

इसका अर्थ है—स्रोत। गृह, कलत्र, धन तथा प्राणातिपात आदि आस्रव—ये सारे असमाधि के स्रोत हैं।[5]

श्लोक १२ :

४४. एकत्व (अकेलेपन) की (एगत्तं)

एकत्व का अर्थ है—अकेलापन। साधक यह सोचे कि न मैं किसी का हूं और न मेरा कोई है।[6]

एक्को मे सासओ अप्पा णाण-दंसणसंजुतो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा॥[7]

—ज्ञान और दर्शन से संयुक्त शाश्वत आत्मा ही मेरा अपना है, शेष संयोग (वियोग) लक्षण वाले सारे पदार्थ पराए हैं, बाह्यभाव हैं।

वृत्तिकार ने एकत्व का अर्थ—असहायत्व किया है। मुनि यह सोचे कि यह संसार जन्म, मरण, जरा, रोग और शोक से

---

१ वृत्ति, पत्र १९३ : तथाविधाहारादिकं च 'निकामयतः'—निश्चयेनाभिलषतः पार्श्वस्थादींस्तत्सम्पर्कदानप्रतिग्रहसंवाससम्भाषणादिभिः न संस्थापयेत्—नोपबृंहयेत् तैर्वा सार्धं संस्तवं न कुर्यादिति।

२. चूर्णि, पृ० १८८ : उरालं णाम औदारिकशरीरं।

३. वृत्ति, पत्र १९३ : 'उरालं ति औदारिकं शरीरं············यदि वा 'उरालं' ति बहुजन्मान्तरसञ्चितं कर्म।

४. (क) चूर्णि, पृ० १८८ : अनपेक्षमाण इति नाहं दुर्बल इति कृत्वा तपो न कर्त्तव्यम्, दुर्बलो वा भविष्यामीति, याचितोपस्करमिव व्यापारयेदिति, तन्निर्विशेषं अनपेक्षमाणः।

(ख) वृत्ति, पत्र १९३ : तस्मिश्च तपसा धूयमाने कृशीभवति शरीरके कदाचित् शोकः स्यात् तं त्यक्त्वा याचितोपकरणवदनुप्रेक्षमाणः शरीरकं धुनीयादिति सम्बन्धः।

५. चूर्णि, पृ० १८८ : असमाधिं श्रवतीति श्रोतः, तद्धि गृह-कलत्र-धनादि, प्राणातिपातादीनि वा श्रोतांसि।

६. चूर्णि, पृ० १८८ : एकभाव एकत्वम्, नाहं कस्यचिद् ममापि न कश्चिदिति।

७. संस्तारक पौरुषी, गाथा ११।

आकुल-व्याकुल है। अपने कर्मों का फल भोगने वाले प्राणियों को यहां कोई भी त्राण नहीं दे सकता, उनकी सहायता नहीं कर सकता। इस संसार में सब असहाय हैं।[1]

४५. एकत्व मोक्ष है (एतं पमोक्खे)

एकत्व की साधना से मोक्ष से प्राप्ति होती है। यहां कारण में कार्योपचार कर एकत्व को ही मोक्ष कह दिया गया है।

चूर्णिकार ने विकल्प में 'एतं' से ज्ञान आदि समाधि को ग्रहण किया है।[2]

४६. सत्यरत (सच्चरए)

चूर्णिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं[3]—

१. सत्य में रत।

२. संयम में रत।

प्रस्तुत श्लोक के तीसरे-चौथे चरण की व्याख्या में वृत्तिकार ने दो विकल्प प्रस्तुत किए हैं[4] -

१. एकत्व भावना का अभिप्राय ही प्रमोक्ष है, सत्य है, प्रधान है, अक्रोधन है, सत्यरत है और तपस्यायुक्त है।

२. जो व्यक्ति तपस्वी है, अक्रोधन है, सत्यरत है, वही प्रमोक्ष है, सत्य है और प्रधान है।

श्लोक १३ :

४७. नाना (उच्चावएसु)

इसमें दो शब्द हैं—उच्च और अवच। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका संयुक्त अर्थ अनेक प्रकार का—किया है। वैकल्पिक रूप में उच्च का अर्थ है—उत्कृष्ट और अवच का अर्थ है—जघन्य।[5]

४८. मध्यस्थ (ताई)

हमने इसका संस्कृत रूप 'तादृग्' किया है। वृत्तिकार ने इसका रूप 'त्रायी' देकर इसका अर्थ त्राणभूत किया है।[6] चूर्णिकार ने इसके स्थान पर 'ताया' शब्द मानकर त्राता अर्थ किया है।[7]

तादृग् का अर्थ है—वैसा, ऐसा व्यक्ति जो विशेष प्रकार का आचरण करता है। इसी आधार पर हमने इसका अर्थ—समान रूप से बरतने वाला, मध्यस्थ रहने वाला किया है।

इसका संस्कृत रूप 'तायी' भी किया जाता है। विशेष विवरण के लिए देखें—दसवेआलियं ३।१ का टिप्पण।

---

१ वृत्ति, पत्र १९३ : एकत्वम्—असहायत्वमभिप्रार्थयेद्—एकत्वाध्यवसायी स्यात् तथाहि—जन्मजरामरणरोगशोकाकुले संसारे स्वकृतकर्मणा विलुप्यमानानामशुमतां न कश्चित्त्राणसमर्थः— सहायः स्यात्।

२. चूर्णि, पृ० १८९ : जं चेव एतं एकत्वं एस चेव पमोक्खो, कारणे कार्योपचारादेव एव मोक्षः, भृशं मोक्षो पमोक्खो, सत्यश्चायम्। अथवा ज्ञानादिसमाधिप्रमोक्षम्।

३ चूर्णि, पृ० १८९ : सत्यो णाम संयमो अननृतं वा, सत्ये रतः सत्यरतः।

४. वृत्ति, पत्र १९३।

५. (क) चूर्णि, पृ० १८९ : उच्चावएहिं उच्चावया हि अनेकप्रकाराः शब्दादयः, अथवा उच्चा इति उत्कृष्टा, अवचा जघन्याः, शेवा मध्यमाः।

(ख) वृत्ति, पत्र १९३ : उच्चावचेषु—नानारूपेषु विषयेषु यदि वोच्चा—उत्कृष्टा अवचा—जघन्याः।

६. वृत्ति, पत्र १९३ : 'त्रायी' अपरेषां च त्राणभूतः।

७. चूर्णि, पृ० १८९ : त्रायत इति त्राता।

४९. सेवन ········करने वाला (संसयं)

इसका संस्कृतरूप है—संश्रयन् । इसका अर्थ है—सेवन करता हुआ ।[1]

५०. (ण संसयं भिक्खू समाहिपत्ते)

इस पद का अर्थ दो प्रकार से किया जा सकता है—

१. विषयों का सेवन न करने वाला भिक्षु समाधि को प्राप्त होता है ।

२. समाधि-प्राप्त भिक्षु नानारूप विषयों का सेवन नहीं करता ।[2]

श्लोक १४ :

५१. अरति और रति को (अरतिं रतिं)

अरति और रति सापेक्ष शब्द हैं । संयम में रमण न करना अरति और असंयम में रमण करना रति है । अठारह पापों में यह एक पाप है, इसलिए इस पर विजय पाना मुनि के लिए अपेक्षित है ।

५२. तृण आदि के स्पर्श (तणादिफासं)

चूर्णिकार ने तृणस्पर्श से काष्ठ-संस्तारक, इक्कड नामक घास तथा समाधिमरण में प्रयुक्त की जाने वाली सामग्री का ग्रहण किया है ।[3]

वृत्तिकार ने आदि शब्द से ऊंची-नीची भूमि का ग्रहण किया है ।[4]

५३. सुगन्ध और दुर्गन्ध में (सुब्भिं च दुब्भिं च)

सुरभि का अर्थ है—सुगंध और दुब्भि का अर्थ है—दुर्गन्ध । सुरभि से इष्ट-विषयों का और दुब्भि से अनिष्ट विषयों का ग्रहण किया गया है ।[5]

श्लोक १५ :

५४. वाणी से संयत (गुत्ते वइए)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) मौनी (२) संयतभाषी । इस पद का तात्पर्य यह है कि जो मुनि मौन व्रती है या आवश्यकतावश संयत वाणी का प्रयोग करता है वह समाधि को प्राप्त होता है ।[6]

वृत्तिकार ने भी इसके दो अर्थ किए हैं—(१) जो वाणी में या वाणी से संयत है अर्थात् मौनव्रती है (२) जो विचारपूर्वक केवल धर्म संबंधी वात करता है ।[7]

किन्तु इसका मूल अर्थ ही मौन ही होना चाहिए ।

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १८९ : 'श्रि सेवायाम्' न संश्रयमानः असंश्रयमान ।
   (ख) वृत्ति, पत्र १९४ : संश्रयतीत्यर्थः ।

२. वृत्ति, पत्र १९३, १९४ ।

३. चूर्णि, पृ० १८९ : तणादिफासं ति, तणफासग्गहणेण कट्ठसंथारग-इक्कडा य समाधिसमाओ गहियाओ ।

४. वृत्ति, पत्र १९४ : तृणादिकान् स्पर्शनादिग्रहणान्निम्नोन्नतभूप्रदेशस्पर्शांश्च ।

५. चूर्णि, पृ० १८९ : सुब्भि-दुब्भिगहणेण इट्ठा-ऽणिट्ठविसया गहिता ।

६. चूर्णि, पृ० १८९ : मौनी वा समिते वा भाषते, भावसमाधिपत्ते भवति ।

७. वृत्ति, पत्र १९४ : वाचि वाचा वा वाग्गुप्तो—मौवव्रती सुपर्यालोचितधर्मसम्बन्धभाषी वा ।

५५. विशुद्ध लेश्या के साथ (लेसं समाहट्टु)

जन परंपरा में छह लेश्याएं मान्य हैं—कृष्ण, नील, कापोत, तेजस्, पद्म और शुक्ल। इनमें प्रथम तीन अशुभ हैं और शेष तीन शुभ। मुनि अशुभ लेश्याओं का परिहार कर शुभ लेश्याओं को स्वीकार करे।

समाहृत्य का अर्थ है—स्वीकार करके।[1]

५६. गृहस्थों के साथ एक स्थान में न रहे (सम्मिस्सिभावं पजहे पजासु)

चूर्णिकार ने सम्मिश्रीभाव के तीन अर्थ किए हैं[2]—

(१) (स्त्रियों या गृहस्थों के साथ) एक स्थान में रहना।
(२) उनके साथ जाने आने रूप परिचय करना।
(३) उनके साथ स्नेह करना।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[3]—

(१) पचन-पाचन आदि गृहस्थोचित प्रवृत्ति करना।
(२) स्त्रियों के साथ मेल-मिलाप करना।

प्रजा शब्द के दो अर्थ हैं—स्त्री अथवा गृहस्थ।[4]

श्लोक १६ :

५७. अक्रियात्मवादी (अकिरियाता)

चूर्णिकार इस प्रसंग में किसी दर्शन-विशेष का उल्लेख नहीं करते। वे केवल इतना ही उल्लेख करते हैं कि जो अशोभन क्रियावादी है या जिनके दर्शन में आत्मा को अक्रिय माना है, वे निश्चित ही अक्रियात्मवादी हैं।[5]

जो दर्शन आत्मा को अक्रिय मानता है वह अक्रियात्मवादी है। वृत्तिकार ने सांख्य दर्शन को अक्रियात्मवादी माना है। सांख्य आत्मा को सर्वव्यापी और निष्क्रिय मानते हैं। 'अकर्ता निर्गुणो भोक्ता, आत्मा कपिलदर्शने'—कपिल (सांख्य के पुरस्कर्ता) के दर्शन में आत्मा अकर्त्ता, निर्गुण और भोक्ता है। वे मानते हैं कि आत्मा अमूर्त है, सर्वव्यापी है, इसीलिए वह अकर्त्ता है।[6]

५८. धुत (धुतं)

चूर्णिकार ने 'धुत' का अर्थ वैराग्य[7] और वृत्तिकार ने मोक्ष किया है।[8] धुत समाधि की साधना पद्धति है। बौद्धों में तेरह धुत प्रतिपादित हैं—पांशुकूलिकांग, त्रैचीवरिकांग आदि आदि। ये सारे धुतांग क्लेशों को क्षीण करने में सहायक होते हैं। 'धुत' का शाब्दिक अर्थ है—धुन डालना। इसका पारिभाषिक अर्थ है—क्लेशों को धुन डालने की पद्धति। बौद्ध साधना पद्धति में इन धुतों का

१. (क) चूर्णि, पृ० १८९ : तिण्णि (अपसत्थाओ) लेस्साओ अवहट्टु तिण्णि पसत्थाओ उपहट्टु।
   (ख) वृत्ति, पत्र १९४ : शुद्धां 'लेश्यां'—तैजस्यादिकां 'समाहृत्य'—उपादाय अशुद्धां च कृष्णादिकामपहृत्य।
२. चूर्णि, पृ० १८९ : प्रजा गृहस्थाः तैः सम्मिश्रीभावं पजहे। सम्मिस्सिभावो णाम एगतो वासः आगमण-गमणाइसंभवो स्नेहो वा।
३. वृत्ति, पत्र १९४ : पचनपाचनादिकां क्रियां कुर्वन् कारयंश्च गृहस्थैः सम्मिश्रभावं भजते, यदि वा—प्रजाः-स्त्रियस्तासु ताभिर्वा यः सम्मिश्रीभावः।
४. (क) चूर्णि, पृ० १८९ : प्रजायन्तः प्रजाः स्त्रियः अथवा·········प्रजा गृहस्थाः।
   (ख) वृत्ति, पत्र १९४।
५. चूर्णि, पृ० १९० : अशोभनक्रियावादिनः पारतन्त्र्या क्रियावादिनः अकिरियाता, अक्रियो वाऽऽत्मा येषां (ते) निश्चितमेव अक्रियात्मानः।
६. वृत्ति, पत्र १९४ : ये केचन अस्मिन् लोके अक्रिय आत्मा येषामभ्युपगमे तेऽक्रियात्मानः—सांख्याः, तेषां हि सर्वव्यापित्वादात्मा निष्क्रियः पठ्यते············।
७. चूर्णि पृ० १९० : धुतं नाम वैराग्यम्।
८. वृत्ति, पत्र १९२ : धूतं मोक्षम्।

विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इनके ग्रहण की विधि, इनके भेद-प्रभेद, गुण आदि का विस्तार से कथन किया गया है।[1]

आचारांग के छठे अध्ययन का नाम 'धुत' है। वहां दश धुतों का निर्देश है[2]—

१. स्वजन परित्याग धुत।

२. कर्म परित्याग धुत।

३. उपकरण परित्याग धुत।

४. शरीरलाघव धुत।

५. संयम धुत।

६. विनय धुत।

७. गौरव-त्याग धुत।

८. तितिक्षा धुत।

९. धर्मोपदेश धुत।

१०. कषायपरित्याग धुत।

चूर्णिकार ने शाक्यों के नाम से बारह धुतगुणों का उल्लेख मात्र किया है[3], जबकि विशुद्धिमग्ग में तेरह धुतों का उल्लेख है।

श्लोक १७ :

५९. छन्द (अभिप्राय) नाना प्रकार के (पुढो छंदा)

'पुढो' का अर्थ है—अनेक प्रकार के और 'छंद' का अर्थ है—अभिप्राय। संसार में मनुष्यों के अभिप्राय अनेक प्रकार के होते हैं। अनेक प्रकार के मतवाद उन्हीं के परिणाम हैं।[4]

६०. नानावाद (पुढोवादं)

इसमें दो शब्द हैं—पुढो—पृथग् और वादं—वाद या मत। चूर्णिकार ने 'पुढ' और 'उवादं'—ये दो शब्द मानकर 'उवादं' के दो अर्थ किए हैं। एक अर्थ है—ग्रहण करना और दूसरा है—दृष्टि।

इसी प्रसंग में उन्होंने नाना प्रकार की दृष्टियों (वादो) का उल्लेख किया है।

कुछ आत्मवादी हैं, कुछ अनात्मवादी हैं। कुछ आत्मा को सर्वगत मानते हैं। कुछ आत्मा को नित्य और कुछ अनित्य, कुछ कर्त्ता और कुछ अकर्त्ता, कुछ मूर्त्त और कुछ अमूर्त्त, कुछ क्रियावान् और कुछ निष्क्रिय मानते हैं। कुछ सुखवाद में विश्वास करते हैं और कुछ दु:खवाद में। कुछ शौचवादी हैं और कुछ अशौचवादी, कुछ हिंसा से मोक्षप्राप्ति मानते हैं और कुछ स्वर्ग मानते हैं।

इतना ही नहीं, एक ही अनुशास्ता को मानने वाले व्यक्तियों में भी भिन्न-भिन्न मत होते हैं। कुछ (बौद्ध) शून्यवाद की प्रज्ञापना करते हैं और कुछ अनिर्वचनीयवाद का प्रतिपादन करते हैं, जैसे– पुद्गल है, मैं नहीं कर सकता कि पुद्गल नहीं है। जो मैं कहता हूं, वह मैं कह सकता हूं—यह भी अनिर्वचनीय है। अवचनीय अवचनीय ही है, केवल स्कन्ध मात्र ही है।

वैशेषिक मतानुयायी नौ तत्त्व स्वीकार करते हैं। उनमें भी कुछ दश तत्त्व मानते हैं।

सांख्य इन्द्रियों को सर्वगत मानते हैं।

---

१. विशुद्धिमग्ग, भाग १, पृ० ६०-८०।

२. आयरो, पृ० २३२-२६२।

३. चूर्णि, पृ० १९० : यथा शाक्या द्वादश धुतगुणान् ब्रुवते।

४. चूर्णि, पृ० १९० : पृथक् पृथक् छन्दा:, नानाछन्दा इत्यर्थ:।

इस प्रकार विश्व में अनेक दृष्टियां प्रचलित हैं।[1]

६१. (जातस्स बालस्स……)

इन दो चरणों का अर्थ है—नवोत्पन्न शिशु का शरीर जैसे बढ़ता है वैसे ही असंयमी मनुष्य का वैर बढ़ता है। यह अर्थ चूर्णि द्वारा सम्मत है।[2] वृत्तिकार का अर्थ इससे सर्वथा भिन्न है। वह इस प्रकार है—तत्काल उत्पन्न बच्चे के देह के टुकड़े-टुकड़े कर (अपने लिए सुख उत्पन्न करते हैं।) इस प्रकार परोपघात करने वाले उन असंयमी व्यक्तियों का (जन्म-जन्मान्तर तक चलने वाला) वैर बढ़ता है।[3]

वृत्तिकार का यह अर्थ संगत नहीं लगता। चौथे चरण में वैर के बढ़ने का कथन है और तीसरे चरण में उपमा से उस वृद्धि को समझाया है। बच्चे को मारने की बात यहां प्रसंगोपात्त नहीं है।

यहां वैर का अर्थ कर्म है। वैर से उत्पन्न होता है उसे भी वैर ही कहा जाता है। जैसे वैर वैरियों के लिए दुःखदायी होता है वैसे ही कर्म भी दुःखदायी होता है। जैसे बच्चे का शरीर जन्म काल से निरन्तर बढ़ता है, वैसे ही अविरत मनुष्य के निरंतर कर्म वृद्धि होती है। अविरत मनुष्य यद्यपि आकाश में निश्चल खड़ा हो जाता है, फिर भी उसके कर्म का बंध होता रहता है।[4]

यह अर्थ-भेद 'पकुव्व' शब्द के कारण हुआ हो ऐसा लगता है। चूर्णिकार ने इसका अर्थ—विशेषरूप से बढ़ाता हुआ, समय के साथ-साथ बढ़ाता हुआ, (प्रकर्षेण कुर्वन्—अनुसामयिकी वृद्धि) किया है। वृत्तिकार ने इसका अर्थ—खंड-खंड करके (खण्डशः कृत्वा) किया है। यह अर्थ 'पकिच्च' शब्द का हो सकता है, किन्तु यह शब्द यहां प्रयुक्त नहीं है।

अतः चूर्णिकार द्वारा सम्मत अर्थ ही उपयुक्त लगता है।

गर्भ में उत्पन्न होते ही बालक की वृद्धि प्रारंभ हो जाती है। जब वह गर्भ से बाहर आता है, वहां से प्रारम्भ कर जब तक वह पूर्ण प्रमाणोपेत नहीं हो जाता तब तक बढ़ता जाता है। शरीर वृद्धि के चार कारण हैं—

१. काल।
२. क्षेत्र।
३. बाह्य उपकरण—भोजन, रसायन-सेवन आदि।
४. आत्म-सान्निध्य—आन्तरिक योग्यता।

यह चूर्णिकार का अभिमत है।[5]

---

१. चूर्णि, पृ० १९० : पुढोवादं उपादीदंत इति उपादाः ग्रहा इत्यर्थः अथवा उपादा दृष्टिः। तद्यथा—केषाञ्चिदात्माऽस्ति केषाञ्चिन्नास्ति, एवं सर्वगतः नित्यः अनित्यः कर्त्ता अकर्त्ता मूर्त्तः अमूर्त्तः क्रियावान् निष्क्रियो वा, तथा केचित् सुखेन धर्ममिच्छन्ति केचिद् दुःखेन, केचित् शौचेन केचिदन्यथा, केचिदारम्भेण, केचिन्निःश्रेयसमिच्छन्ति, केचिदभ्युदयमिच्छन्ति। एकस्मिन्नपि तावच्छास्तरि अन्येऽन्यथा प्रज्ञापयन्ति, तद्यथा—शून्यता, अत्थि पोग्गले, णो भणामि णत्थि त्ति पोग्गले, जं पि भणामि तं पि भणामीत्यवचनीयम्, अवचनीयं एव अवचनीयः, स्कन्धमात्रमिति। वैशेषिकाणामपि-अन्येषां न (?) द्रव्याणि नवैव, अन्येषां दश दशैव। सांख्यानामपि—अन्येषां इन्द्रियाणि सर्वगतानि।

२. चूर्णि, पृ० १९० : यथा तस्य (बालस्य) अनुसामयिकी शरीरवृद्धिः।

३. वृत्ति, पत्र १९५ : 'जातस्य'—उत्पन्नस्य, 'बालस्य'— अज्ञस्य, सदसद्विवेकविकलस्य सुखैषिणो 'देह'—शरीरं 'पकुव्व' त्ति खण्डशः कृत्वाऽऽत्मनः सुखमुत्पादयन्ति, तदेवं परोपघातक्रियां कुर्वतोऽसंयतस्य कुतोऽप्यनिवृत्तस्य जन्मान्तरशतानुबन्धि वैरं परस्परोपमर्दकारि प्रकर्षेण वर्धते।

४. चूर्णि, पृ० १९० : वैरं प्रवर्द्धते कर्म, वैराज्जातं वैरम्, यथा वैरं दुःखोत्पादकं वैरिणां एवं कर्मापि। यद्यप्याकाशे निश्चल उपतिष्ठतेऽविरतस्तथाऽप्यस्य कर्म बध्यत एव।

५. चूर्णि, पृ० १३० : निषेकात् प्रभृतिरारभ्य शरीरवृद्धिर्भवति, यावद् गर्भान्निःसृतः, आबाल्याच्च प्रवर्द्धते यावत् प्रमाणस्थो जातः। शरीरवृद्धिरिह कालक्षेत्र-बाह्योपकरणात्मसान्निध्यायत्ता।

श्लोक १८ :

६२. आयु के क्षय को (आउक्खयं)

हिंसा आदि में प्रवृत्त मनुष्य अपने आयुष्य के क्षय को नहीं जानता क्योंकि उन प्रवृत्तियों के प्रति उसका ममत्व होता है।

एक तालाब है। उसमें बहुत सारी मछलियां हैं। तालाब की पाल टूट जाती है। पानी बाहर बहने लगता है। धीरे-धीरे तालाब खाली होता जाता है। जल की क्षीणता के साथ-साथ आयुष्य भी क्षीण हो रहा है—यह बात मछलियां नहीं जानती।[1]

एक बनिया था। उसने बहुत परिश्रम कर मूल्यवान् रत्न प्राप्त किए। वह उन रत्नों को लेकर चला। रात गई। वह उज्जैनी नगरी के बाहर आकर रुका और रात भर यह सोचता रहा कि रत्नों को सुरक्षित कैसे ले जाया जाए। कहीं राजा, चौर या भाई-बन्धु इन्हें न ले लें—इसी चिन्ता में सारी रात बीत गई। किन्तु रात्री के बीतने को वह नहीं जान सका। सूर्योदय हो गया। उसे राजपुरुषों ने देखा। उसके सारे रत्न ले लिए। रत्नों को दे वह खाली हाथ घर लौटा।[2]

६३. ममत्वशील (ममाई)

यह मेरी माता है, यह मेरा पिता है, भाई है 'यह मेरा है, मैं इसका हूं'—इस प्रकार ममत्व करने वाला 'ममायी' होता है।[3]

६४. सहसा (बिना सोचे समझे) काम करने वाला (साहसकारि)

इसका अर्थ है—बिना सोचे—समझे आवेश में कार्य करने वाला। वर्तमान में इस शब्द के अर्थ का उत्कर्ष हुआ है। आज इसका अर्थ शक्तिशाली-संकल्पवान् समझा जाता है।

चूर्णिकार ने 'सहस्स' पाठ का अर्थ हिंसा आदि किया है।[4] यहां छन्द की दृष्टि से ह्रस्व का प्रयोग है।

देखें—दसवेआलियं ९।३।२२ का टिप्पण।

६५. विषयों से पीड़ित (अट्टे)

जिस व्यक्ति के मन में धन की आकांक्षा बनी रहती है वह सदा सोचता रहता है—यह व्यापारियों का सार्थ (सथवाडा) कब निकलेगा? इसके साथ कौनसा माल है? यह कितनी दूर जाएगा? वह धन को सुरक्षित रखने के लिए कभी ऊंचे स्थान को खोदता है, कभी भूमि को खोदता है, कभी किसी को मारता है। वह न रात को सो पाता है और न दिन में निःशंक रहता है। धन के चले जाने की शंका उसमें सदा बनी रहती है।[5]

---

१. चूर्णि, पृ० १९० : स एवं हिंसादिकर्म्मसु प(स)ज्जमानः कामभोगतृषितः छिन्नह्लदमत्स्यवदुदकपरिक्षये आयुषः क्षयं न बुध्यते।

२. (क) चूर्णि, पृ० १९० : उज्जेणिए वाणियगो रयणाणि कधं पवेसस्सामि ? त्ति रजनिक्षयं न बुध्यते स्म, अतो व्यग्रतया यावबुदिते सवितरि राज्ञा गृहीतः।

(ख) वृत्ति, पृ० १९५ : कश्चिद्वणिग् महता क्लेशेन महार्घाणि रत्नानि समासाद्योज्जयिन्या बहिरावासितः, स च राजचौरदायादभयाद्रात्रौ रत्नान्येवमेवं च प्रवेशयिष्यामीत्येवं पर्यालोचनाकुलो रजनीक्षयं न ज्ञातवान्, अह्न्येव रत्नानि प्रवेशयन् राजपुरुषै रत्नेभ्यश्च्यावित इति।

३. (क) चूर्णि, पृष्ठ १९० : ममाइ त्ति ममाई, तद्यथा—मे माता मम पिता मम भ्रातेत्यादि।

(ख) वृत्ति, पत्र १९५ : 'ममाइ' त्ति ममत्ववान् इदं मे अहमस्य स्वामीत्येवम्।

४. चूर्णि, पृ० १९० : सहस्साइं हिंसादीनि।

५. वृत्ति, पत्र १९५ : तदेवमार्तध्यानोपहतः 'कइया वच्चइ सत्थो ? किं भंडं कत्थ कित्तिया भूमी' त्यादि, तथा 'उक्खणइ खणइ णिहणइ रत्तिं न सुयइ दियावि य ससंको' इत्यादि चित्तसंक्लेशात सुष्ठु मूढोऽजरामरवणिग्वदजरामरवदात्मानं मन्यमानोऽपगतशुभाध्यवसायोऽहर्निशमारम्भे प्रवर्तत इति।

६६. (परितप्पमाणे····· अजराऽमरेव्व)

वह मनुष्य अजर-अमर की भांति आचरण करता हुआ दिन-रात संतप्त होता है। मम्मण बनिए की भांति वह धन की कामना से सतत संतप्त रहता हुआ शरीर, मन और वाणी को भी क्लेश देता है।

'अजरामरवद् बालः क्लिश्यते धनकाम्यया।
शाश्वतं जीवितं चैव, मन्यमानो धनानि च ॥

वह अज्ञानी मनुष्य जीवन और धन को शाश्वत मानता है और अपने आपको अजर और अमर मानकर धन की कामना से क्लेश पाता है।[1]

श्लोक २० :

६७. छोटे पशु (खुद्दमिगा)

मृग पद के दो अर्थ हो सकते हैं—पशु और हरिण।

चूर्णिकार ने क्षुद्र शब्द के द्वारा व्याघ्र, भेड़िया और चीता का और 'मृग' शब्द से विभिन्न जाति वाले हरिणों का ग्रहण किया है। वैकल्पिक रूप में उन्होंने क्षुद्रमृग को समस्त शब्द मान कर उसका अर्थ हरिण किया है।[2]

वृत्तिकार ने हरिण आदि छोटे-छोटे जंगली पशुओं को 'क्षुद्रमृग माना है।[3]

६८. डरकर (परिसंकमाणा)

जंगल में मृग आदि छोटे पशु दूर-दूर तक चरते रहते हैं। वायु के द्वारा प्रकंपित होने वाले तृणों को देखकर वे सिंह की आशंका कर आकुल-व्याकुल हो जाते हैं। वे सदा भय की स्थिति में रहते है और सशंकित जीवन बिताते हैं।[4]

६९. दूर रहते हैं (दूरे चरंती)

जंगल में मृग आदि छोटे पशु सिंह, व्याघ्र आदि से डर कर दूर-दूर चरते हैं। सिंह आदि उनको देख भी न पाए, उनकी गंध भी न ले पाए, इस प्रकार वे दूर-दूर रहते हैं। अथवा वे उस क्षेत्र का परित्याग भी कर देते हैं।[5]

श्लोक २१ :

७०. समाधि को जानकर (संबुज्झमाणे)

इसका अर्थ है—समाधि-धर्म को जानता हुआ।[6] वृत्तिकार ने इसका तात्पर्य यह माना है—मुनि श्रुत-चारित्ररूप धर्म या भाव-समाधि को समझकर, शास्त्र-विहित अनुष्ठान में प्रवृत्ति करता हुआ।[7]

७१. दुःख हिंसा से उत्पन्न होते हैं (हिंसप्पसूताणि दुहाणि)

'दुःख हिंसा से उत्पन्न होते हैं,' इसका तात्पर्य है कि हिंसा आदि की प्रवृत्ति से पाप कर्म का बंध होता है और उसके विपाक

कायेनापि विलश्यते, तथा चोक्तम्—'अजरामरवद्बालः ·····।

१. वृत्ति, पत्र १६५ : द्रव्यार्थी परितप्यमानो मम्मणवणिग्वदार्तध्यायी
  अथवा स एव क्षुद्रमृगः।
२. चूर्णि, पृ० १६१ : क्षुद्राः मृगाः क्षुद्रमृगाः व्याघ्र-वृक-द्वीपिकादयः, मृगा रोहितादयश्च।
  क्षुद्राटव्यपशवो हरिणजात्याद्याः।
३. वृत्ति, पत्र १६६ : क्षुद्रमृगाः—
४. (क) चूर्णि, पृ० १६१ : अपि वातकम्पितेभ्यस्तृणेभ्योऽपि सिंहभयादुद्विग्नाश्चरन्ति।
   (ख) वृत्ति, पत्र १६६।
५. चूर्णि पृ० १६१ :दूरेणेति अदर्शनेनागन्धेन वा तद्देशपरित्यागेन च।
६. चूर्णि, पृ० १६१ : किं संबुज्झमाणे ? समाधिधम्मं।
  बुध्यमानस्तु विहितानुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वाणः।
७. वृत्ति, पत्र १६६ : सम्यक्श्रुतचारित्राख्यं धर्मं भावसमाधिं वा

स्वरूप प्राणी जन्म, जरा, मरण, अप्रियसंवास आदि के दुःखों को भोगता है, नरक आदि यातना-स्थानों में जाता है।[1] 'हिंसा' शब्द केवल एक संकेत मात्र है। इससे समस्त सावद्य योग का ग्रहण किया गया है।

चूर्णिकार ने इस श्लोक का चौथा चरण—'णेव्वाणभूते व परिव्वएज्जा' माना है। वृत्तिकार ने इसे पाठान्तर के रूप में स्वीकार किया है। इसका अर्थ है—जैसे मुक्त आत्मा अव्याबाध सुख में स्थित होता है, निर्व्यापार होने के कारण वह किसी का उपघात नहीं करता, वैसे ही निर्वाण की साधना करने वाला मुनि जो अभी तक निर्वृत नहीं हुआ है, वह निर्वृत की तरह परिव्रजन करे।[2]

७२. अपने आपको पाप से बचाए (पावाओ अप्पाण णिवट्टएज्जा)

जो मुनि शास्त्रविहित अनुष्ठान में प्रवृत्ति करने वाला है वह सबसे पहले निषिद्ध आचरणों से निवर्तित हो, क्योंकि कारण के नाश से ही कार्य का नाश होता है। जब तक कारण का संपूर्ण नाश नहीं होता तब तक कार्य से छुटकारा नहीं मिल सकता। अतः जो मुनि समस्त कर्मों के क्षय की कामना करता है उसको सबसे पहले आस्रवों का निरोध करना होता है।[3]

श्लोक २२ :

७३. आत्मगामी मुनि (अत्तगामी)

इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—आत्मगामी और आप्तगामी। वृत्तिकार ने दोनों रूपों के आधार पर इसके तीन अर्थ किए हैं—[4]

१. आप्त का एक अर्थ है—मोक्ष-मार्ग। मोक्ष-मार्ग की ओर जाने वाला आप्तगामी होता है।

२. आप्त का दूसरा अर्थ है—सर्वज्ञ। सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट मार्ग पर चलने वाला आप्तगामी होता है।

३. आत्मा का हित करने वाला, अपना हित करने वाला।

चूर्णिकार ने इस पद के स्थान पर 'अत्तकामी' पद मान कर इसका अर्थ आत्मनिःश्रेयस् की कामना करने वाला किया है।[5]

७४. यह सत्य निर्वाण और संपूर्ण समाधि है (णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं)

चूर्णिकार ने 'णिव्वाणमेवं' पाठ मान कर व्याख्या की है। उनके अनुसार इसका अर्थ है—'इस प्रकार निर्वाण पूर्ण समाधि है।' स्नान-पान आदि जितने भी सांसारिक निर्वाण हैं वे सब अपूर्ण हैं, इसलिए वे अनैकान्तिक और अनात्यन्तिक हैं। केवल निर्वाण ही ऐकान्तिक और आत्यन्तिक है।[6]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० १९१ : हिंसप्पसूताणि दुहाणि मत्ता, हिंसातः प्रसूतानि हिंसापसूताणि जाति-जरा-मरणाऽप्रियसंवासादीनि नरकादिदुःखानि च अट्ठविधकम्मोदयनिप्फण्णाणि।

(ख) वृत्ति, पत्र १९६ : हिंसा-प्राणिव्यपरोपणं तया ततो वा प्रसूतानि—जातानि यान्यशुभानि कर्माणि तान्यत्यन्तं नरकादिषु यातना-स्थानेषु दुःखानि—दुःखोत्पादकानि वर्तन्ते।

२. (क) चूर्णि, पृ० १९१।

(ख) वृत्ति, पत्र १९६।

३. वृत्ति, पत्र १९६। विहितानुष्ठाने प्रवृत्तिं कुर्वाणस्तु पूर्वं तावन्निषिद्धाचरणान्निवर्तेत अतस्तत् दर्शयति—'पापात्'—हिंसानृतादि-रूपात् कर्मण आत्मानं निवर्तयेत्, निदानोच्छेदेन हि निदानिन उच्छेदो भवतीत्यतोऽशेषकर्मक्षयमिच्छन्नादावेव आश्रवद्वाराणि निरुन्ध्यात्।

४. वृत्ति, पत्र १९६ : आप्तो—मोक्षमार्गस्तद्गामी—तद्गमनशील आत्महितगामी वा आप्तो वा प्रक्षीणदोषः सर्वज्ञस्तदुपदिष्टमार्ग-गामी।

५. चूर्णि, पृ० १९२ : (अत्तकामी) आत्मनिःश्रेयसकामी।

६. चूर्णि, पृ० १९२ : एवं निर्वाणं समाधिर्भवति कसिण इति सम्पूर्णः, संसारिकानि हि यानि कानिचित् स्नान-पानादीनि निर्वाणानि तान्यसम्पूर्णत्वाद् नैकान्तिकानि नात्यन्तिकानि च।

हमारे निर्धारित पाठ के अनुसार इसका अर्थ है—सत्य निर्वाण है और संपूर्ण समाधि है।

वृत्तिकार ने मृषावादवर्जन को संपूर्ण भावसमाधि और निर्वाण माना है। स्नान, भोजन आदि से उत्पन्न तथा शब्द आदि विषयों से संपादित सांसारिक समाधि अनैकान्तिक और अनात्यन्तिक होने के कारण अथवा दुःख के प्रतिकाररूप होने के कारण असंपूर्ण होती है।[1]

श्लोक २३ :

७५. एषणा द्वारा लब्ध शुद्ध आहार (सुद्धे)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—याचना से उपलब्ध अथवा अलेपकृत आहार।[2]

वृत्तिकार ने उद्गम, उत्पादन और एषणा के दोषों से रहित आहार को शुद्ध कहा है।[3]

७६. दूषित न करे (ण दूसएज्जा)

इसका तात्पर्य यह है—मुनि ने आहार की एषणा की। उसे शुद्ध आहार प्राप्त हुआ। किन्तु उसको खाते समय वह मनोज्ञ वस्तु पर रागभाव और अमनोज्ञ वस्तु पर द्वेषभाव कर उसको दूषित न करे।[4] वृत्तिकार ने एक सुंदर गाथा उद्धृत की है—

'बायालीसेसणसंकडंमि गहणंमि जीव ! न हु छलिओ ।
इण्हिं जह न छलिज्जसि भुंजंतो रागदोसेहिं ॥'

—रे जीव ! बयालीस दोष रूप गहन संकट में तूने धोखा नहीं खाया। यदि तू इस भोजन को करता हुआ राग-द्वेष से धोखा नहीं खाएगा तो तेरा कार्य सफल होगा।[5]

७७. उसमें मूर्च्छित और आसक्त न हो (अमुच्छितो अणज्झोववण्णो)

अमूर्च्छित का अर्थ है कि मुनि मनोज्ञ आहार मिलने पर भी उसके प्रति राग न करता हुआ भोजन करे।

अनध्युपपन्न का अर्थ है—आसक्त न हो। बार-बार एक ही प्रकार के आहार को पाने की इच्छा करना उसके प्रति रही हुई आसक्ति का द्योतक है। मुनि ऐसा न करे। केवल संयम-निर्वाह मात्र के लिए आहार करे। मनोज्ञ उपहार मिलने पर प्रायः ज्ञानी पुरुषों के मन में भी उसके प्रति विशेष अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, इसलिए आहार के प्रति मूर्च्छा और आसक्ति नहीं रखनी चाहिए।[6] कहा है—

भुत्तभोगी पुरा जोवि, गीयत्थो वि य भाविओ ।
संतेसाहारमाईसु सोवि खिप्पं तु खुब्भइ ॥

—जो भुक्तभोगी है, गीतार्थ और भावितात्मा है, वह भी मनोज्ञ आहार को पाने के लिए लालायित हो जाता है।[7]

---

१. वृत्ति, पत्र १९६ : 'एतदेव' मृषावादवर्जनं 'कृत्स्नं'—संपूर्णं भावसमाधिं निर्वाणं चाहुः, सांसारिका हि समाधयः स्नानभोजनादिजनिताः शब्दादिविषयसंपादिता वा अनैकान्तिकानात्यन्तिकत्वेन दुःखप्रतीकाररूपत्वेन वा असंपूर्णा वर्तन्ते ।

२. चूर्णि, पृ० १९२ : सुद्धं जाइओलद्धं ·········· अथवा सुद्धं अलेवकडं ।

३. वृत्ति, पत्र १९७ : उद्गमोत्पादनैषणाभिः 'शुद्धे'—निर्दोषे ।

४. वृत्ति, पत्र १९७ : प्राप्ते पिण्डे सति साधू रागद्वेषाभ्यां न दूषयेत् ।

५. वृत्ति, पत्र १९७ ।

६. वृत्ति, पत्र १९७ : न मूर्छितोऽमूर्छितः—सकृदपि शोभनाहारलाभे सति गृद्धिमकुर्वन्नाहारयति, तथा अनध्युपपन्नस्तमेवाहारं पौनःपुन्येनानभिलषमाणः केवलं संयमयात्रापालनार्थमाहारमाहारयेत्, प्रायो विदितवेद्यस्यापि विशिष्टाहारसन्निधावभिलाषातिरेको जायत इत्यतोऽमूर्छितोऽनध्युपपन्न इति च प्रतिषेधद्वयमुक्तम् ।

७. वृत्ति, पत्र १९७ ।

७८. अगार-बंधन से मुक्त (विमुक्के)

चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—अगार-बंधन से मुक्त।[1]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से मुक्त किया है।[2]

७९. श्लाघा का कामी (सिलोयकामी)

ज्ञान, तपस्या आदि के द्वारा यश पाने की कामना करने वाला श्लोककामी होता है।[3]

श्लोक २४ :

८०. अनासक्त हो (णिरावकंखी)

गृह, कलत्र, कामभोग आदि की आकांक्षा न करने वाला निरवकांक्षी होता है।[4]

जो जीवन के प्रति भी आकांक्षा नहीं करता वह निरवकांक्षी होता है।[5]

८१. शरीर का व्युत्सर्ग कर (कायं विओसज्ज)

चूर्णिकार ने शरीर के द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग का उल्लेख किया है।[6] वृत्तिकार के अनुसार काया को छोड़ने का अर्थ है—उसकी सार-संभाल न करना, उसमें रोग उत्पन्न हो जाने पर भी चिकित्सा आदि न कराना।[7]

प्रस्तुत सूत्र (८।२७) में ध्यान के प्रसंग में काय-व्युत्सर्ग का उल्लेख मिलता है। यह कायोत्सर्ग का सूचक है। शरीर की प्रवृत्ति और उसके प्रति होने वाला ममत्व—इन दोनों का त्याग करना काय-व्युत्सर्ग है।

८२. कर्म-बन्धन (णिदान)

आप्टे की डिक्शनरी में 'निदान' शब्द के अनेक अर्थ किए हैं—रस्सी, अवरोधक, मूल कारण, उपादान कारण आदि-आदि।[8] प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ 'मूल कारण' है। संसार-भ्रमण का मूल कारण है 'कर्म-बंधन'। मुनि इस कर्म-बंधन को छिन्न करे।

चूर्णिकार ने निदान के दो प्रकार माने हैं[9]—

१. द्रव्य निदान—स्वजन, धन आदि।

२. भाव निदान—कर्म।

जैन परम्परा में 'निदान' शब्द का पारिभाषिक अर्थ है—आध्यात्मिक शक्तियों का भौतिक सुख-सुविधा की प्राप्ति के लिए विनिमय करना।

देखें—पहले श्लोक में 'अणिदाणभूते' का टिप्पण।

८३. भव के वलय से मुक्त (वलया विमुक्के)

चूर्णिकार ने 'वलय' के तीन अर्थ किए हैं—

---

१. चूर्णि, पृ० १९२ : विप्पमुक्के............अगारबंधणविप्पमुक्के।

२. वृत्ति, पत्र १९७ : तया सबाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन विमुक्तः।

३. चूर्णि, पृ० १९२ : सिलोगो त्ति जसो, णाण-तवमादीहिं सिलोगो ण कामेज्जा।

४. चूर्णि, पृ० १९२ : अप्पं वा बहुं वा उपधिं विहाय निष्क्रान्तः, मिच्छत्तदोसादीहिं गृह-कलत्र-कामभोगेसु णिरावकंखो।

५. वृत्ति, पत्र १९७ : जीवितेऽपि निराकाङ्क्षी।

६. चूर्णि, पृ० १९२ : दव्वतो भावतो य कायं विसेसेण उत्सृज्य विओसज्ज।

७. वृत्ति, पत्र १९७ : 'कायं'—शरीरं व्युत्सृज्य निष्प्रतिकर्मतया चिकित्सादिकमकुर्वन्।

८. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी।

९. चूर्णि पृ० १९२ : दव्वणिदाणं सयण-धणादि, भावणिदाणं कम्मं।

१. वक्रता, टेढ़ापन।

२. गति करना, मुड़ना।

३. माया।

वलय (वक्रता) दो प्रकार का होता है।

१. द्रव्य वलय—शंख का वलय।

२. भाव वलय—आठ प्रकार के कर्म, जिनसे प्राणी वार-वार संसार में परिभ्रमण करता है।

'वलय विमुक्के' का अर्थ है—कर्म-वंधन से विमुक्त। जव हम वलय से 'माया' का अर्थ ग्रहण करते हैं, तब इसका अर्थ होगा—माया से विमुक्त। क्रोध, मान, आदि से मुक्त मुनि को भी वलय से विमुक्त कहा जा सकता है।[1]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[2]—

१. संसार के वलय से मुक्त।

२. कर्म-वंधन से मुक्त।

---

१. चूर्णि, पृ० १९२ : वलयं वक्रमित्यर्थः, द्रव्यवलयं शङ्खकः, भाववलयं अष्टप्रकारं कर्म्म येन पुनः पुनर्वलति संसारे। वलयशब्दो हि वक्रतायां भवति गतौ च। वक्रतायां यथा—वलितस्तन्तुः, वलिता रज्जुरित्यादि। गतौ च—वलति वार्त्ता, वलति सार्थ इत्यादि। वलयविमुक्त इति कर्मबंधनविमुक्तः। अथवा वलय इति माया तया च मुक्तः। एवं क्रोधादिमाण-विमुक्त इति।

२. वृत्ति, पत्र १९७। 'वलयात्'—संसारवलयात् कर्मबन्धनाद्वा विप्रमुक्तः।

एगारसमं अज्झयणं

मग्गे

ग्यारहवां अध्ययन

मार्ग

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'मार्ग' है। भगवान् महावीर ने अपनी साधना-पद्धति को 'मार्ग' कहा है। आगमों के अनेक स्थलों में साधना के लिए 'मार्ग' (प्रा० मग्ग) का प्रयोग मिलता है। जैसे—

- ० एस मग्गे आरिएहिं पवेइए (आयारो २।४७ आदि)
- ० णत्थि मग्गे विरयस्स (आयारो ५।३०)
- ० दुरणुचरो मग्गो (आयारो ४।४२)
- ० वेयालियमग्गं (सूत्र० १।२।२३)
- ० आरियं मग्गं (सूत्र० १।३।६६)

उत्तराध्ययन सूत्र में ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को 'मार्ग' कहा है।[1] आवश्यक सूत्र में निर्ग्रन्थ प्रवचन को सिद्धिमार्ग मुक्तिमार्ग, निर्वाणमार्ग, निर्यानमार्ग, समस्त दुःखों (क्लेशों) को क्षीण करने का मार्ग कहा है।[2] स्थानांग में मार्ग के अर्थ में द्वार शब्द प्रयुक्त है—चत्तारि धम्म दारा पण्णत्ता—खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे—धर्म के चार द्वार (मार्ग) हैं—क्षांति, मुक्ति, आर्जव और मार्दव।[3]

यही भगवान् महावीर की साधना-पद्धति है, मार्ग है। यही भावमार्ग है। भावमार्ग दो प्रकार का होता है[4]—

प्रशस्तभावमार्ग—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र। इसका फल है सुगति। यह मार्ग तीर्थंकर, गणधर, स्थविर तथा साधुओं द्वारा अनुचीर्ण सम्यग् मार्ग है।

अप्रशस्तभावमार्ग—मिथ्यात्व, अविरति, अज्ञान। इसका फल है दुर्गति। यह मार्ग चरक, परिव्राजक आदि द्वारा अनुचीर्ण मिथ्यामार्ग है।

निर्युक्तिकार ने फल-प्राप्ति के प्रसंग में द्रव्यमार्ग और भावमार्ग की चतुर्भंगी का उल्लेख किया है[5]—

१. द्रव्यमार्ग—

१. क्षेम और क्षेमरूप—चोर, सिंह आदि के उपद्रव से रहित तथा वृक्ष तथा जलाशयों से समन्वित।

२. क्षेम और अक्षेमरूप—उपद्रव रहित तथा पत्थर, कंटक, नदी-नालों से आकीर्ण, विषम।

३. अक्षेम और क्षेमरूप—उपद्रव सहित पर अविषम, सीधा और साफ।

४. अक्षेम और अक्षेमरूप—उपद्रव सहित तथा विषम।

२. भावमार्ग—

१. क्षेम-क्षेमरूप—ज्ञान आदि से समन्वित मुनि-वेशधारी साधु।

२. क्षेम-अक्षेमरूप—भावसाधु, द्रव्यलिंग से रहित।

३. अक्षेम-क्षेमरूप—निन्हव।

४. अक्षेम-अक्षेमरूप—परतीर्थिक, गृहस्थ आदि।[6]

---

१. उत्तरज्झयणाणि, २८।२।

२ आवश्यक ४।९।

३. ठाणं ४।६२७।

४. चूर्णि, पृ० १९४।

५. निर्युक्ति गाथा १०४ : खेमे य खेमरूवे चउउक्कगं मग्गमादीसु।

६. चूर्णि, पृ० १९४।

द्रव्य मार्ग के प्रकारों का उल्लेख करते हुए निर्युक्तिकार ने तत्कालीन यातायात के मार्गों का स्पष्ट निर्देश किया है। वे चौदह प्रकार के मार्गों का उल्लेख करते हैं।[1] चूर्णिकार और वृत्तिकार ने उनकी व्याख्या प्रस्तुत की है—

१. फलकमार्ग—कीचड़ आदि के भय से फलक द्वारा पार किया जाने वाला मार्ग या गढ़ों को पार करने के लिए बनाया गया फलक मार्ग।[2]

२. लतामार्ग—नदियों में होने वाली लताओं (वेत्र आदि) का आलंबन लेकर पार करने का मार्ग। जैसे गंगा आदि नदियों को वेत्र लताओं के सहारे पार किया जाता था।[3]

३. आन्दोलनमार्ग—यह संभवतः झूलने वाला मार्ग रहा हो। विशेषतः यह मार्ग दुर्ग आदि पर बनाया हुआ होता था। व्यक्ति झूले के सहारे एक पहाड़ से दूसरे पहाड़ पर पहुंच जाता था।[4] व्यक्ति वृक्षों की शाखाओं को पकड़कर झूलते और दूसरी ओर पहुंच जाते।

४. वेत्रमार्ग—यह मार्ग नदियों को पार करने में सहायक होता था। जहां नदियों में वेत्र लताएं (बेंत की लताएं) सघन होती थीं, वहां पथिक उन लताओं का अवष्टम्भ लेकर एक किनारे से दूसरे किनारे तक पहुंच जाता था। चारुदत्त नामक एक व्यक्ति ने वेत्रलताओं का अवलंबन लेकर वेत्रवती (उसुवेगा) नदी को पार किया था। इसकी प्रक्रिया वसुदेव हिण्डी में उल्लिखित है।[5] यह भी एक प्रकार का लतामार्ग ही है।

५. रज्जुमार्ग—रस्सी के सहारे एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचने का मार्ग। यह अति दुर्गम स्थानों को पार करने के काम आता था।

चूर्णिकार ने गंगा आदि नदियों को पार करने के लिए इस रज्जुमार्ग का उल्लेख किया है।[6] संभव है एक किनारे पर रज्जु को वृक्ष से बांधकर उसके सहारे तैरते हुए दूसरे किनारे पहुंचना सरल हो जाता है।

६. दवनमार्ग—दवन का अर्थ है यान-वाहन। उसके आने जाने का मार्ग दवनमार्ग है।[7] सभी प्रकार के वाहनों के यातायात में यह मार्ग काम आता था।

७. बिलमार्ग—ये गुफा के आकार वाले मार्ग थे। इनको 'मूषिक पथ' भी कहा जाता था। ये पहाड़ी मार्ग थे, जिनमें चट्टान काटकर चूहों के बिल जैसी छोटी-छोटी सुरंगें बनानी पड़ती थीं। इनमें दीपक लेकर प्रवेश करना पड़ता था।[8]

---

१. निर्युक्ति गाथा १०१ : फलग-लतंदोलग-वेत्त-रज्जु-दवण-बिल-पासमग्गे य।
खीलग-अय-पक्खिपहे छत्त-जलाकास दव्वम्मि ॥

२. चूर्णि, पृ० १६३ : फलगेहिं जहा दद्दरसोमाणेहिं, जधा फलगेण गम्मति वियरगादिसु, चिक्खल्ले वा जधा।

३. चूर्णि, पृ० १६३ : वेत्तलताहिं गंगमादी संतरति, जधा चारुदत्तो वेत्तवतिं वेत्तेहिं ओलंबिऊण परकूलवेत्तेहिं आलाविऊण उत्तिण्णो।

४. चूर्णि, पृ० १६४ : अंदोलएण अंदोलारूढो एति य, जं वा रुक्खसालं अंदोलिएऊणं अप्पाणं परतो वच्चति।

५. वसुदेव हिण्डी, पत्र १४८-१४९ : एक बार एक सार्थ यात्रा पर था। वह वहां पहुंचा। नदी के किनारे पड़ाव डाला। वन से पके हुए फल लाए। रसोई पकाई और सभी ने भोजन किया। तब यात्रा-संरक्षक ने कहा—देखो, यह उसुवेगा नदी है। यह वैताढ्य पर्वत से निकलती है। यह बहुत ऊंडी नदी है। जो इसको पार करने के लिए पानी में उतरता है, वह तीर की भांति तीव्र गतिवाले पानी के प्रवाह में बह जाता है। उसमें आड़े-टेढ़े नहीं उतरा जा सकता। इसको पार करने का एक ही मार्ग है—वेत्रलतामार्ग। जब उत्तर दिशा का पवन चलता है और जब वह पर्वतों के दंतुरों से गुजरता है तब उसका वेग बढ़ता है और उसके प्रवाह से नदी की सारी वेत्रलताएं दक्षिण की ओर झुक जाती हैं। वे स्वभावतः कोमल और मृदु तथा गाय के पूंछ के आकार की होती हैं। उन लताओं का आलंबन लेकर व्यक्ति उत्तरकूल से दक्षिणकूल पर चला जाता है, नदी को पार कर जाता है। जब दक्षिण का पवन चलता है तब उसी प्रकार वेत्रलताएं उत्तरदिशा की ओर झुकती हैं और तब यात्री उन लताओं के सहारे उत्तरकूल पर पहुंच जाता है।

६. चूर्णि, पृ० १६४ : रज्जुहि गंगं उत्तरति।

७. वृत्ति, पत्र १९८ : दवनं—यानं तन्मार्गो दवनमार्गः।

८. (क) चूर्णि, पृ० १६४ : बिलं दीवगेहिं पविसंति।
(ख) वृत्ति, पत्र १९८ : बिलमार्गो यत्र तु गुहाद्याकारेण बिलेन गम्यते।

८. पाशमार्ग—चूर्णिकार के अनुसार यह वह मार्ग है जिसमें व्यक्ति अपनी कमर को रज्जु से बांधकर रज्जु के सहारे आगे बढ़ता था। 'रसकूपिका' (स्वर्ण आदि की खदान) में इसी के सहारे नीचे गहन अंधकार में उतरा जाता था और रज्जु के सहारे ही पुनः बाहर आना होता था।[1]

वृत्तिकार ने इसे मृगजाल आदि से युक्त मार्ग माना है, जिसका उपयोग शिकारी करते हैं।[2]

९. कीलकमार्ग—ये वे मार्ग थे जहां-स्थान-स्थान पर खंभे बनाए जाते थे और पथिक उन खंभों के अभिज्ञान से अपने मार्ग पर आगे बढ़ता जाता था।। ये खंभे उसे मार्ग भूलने से बचाते थे। विशेष रूप से ये मार्ग मरुप्रदेश में, जहां बालु के टीलों की अधिकता होती थीं, वहां बनाए जाते थे।[3]

१०. अजमार्ग—चूर्णिकार ने 'अयस्पथ' मानकर इसको लोहे से जटित पथ माना है और इसकी अवस्थिति स्वर्ण-भूमी में बतलाई है।[4]

यह 'अजपथ' एक ऐसा संकरा पथ होता था जिसमें केवल अज (बकरी) या बछड़े के चलने जितनी पगडंडी मात्र होती थी। यह मार्ग विशेषतः पहाड़ों पर होता था जहां बकरों और भेड़ों पर यातायात होता था। इसे 'मेंढपथ' भी कहा जाता था। वृत्तिकार के अनुसार चारुदत्त इसी मार्ग से स्वर्णभूमि पहुंचा था।[5]

११. पक्षिपथ—यह आकाश-मार्ग था। भारुण्ड आदि विशालकाय पक्षियों के सहारे इस मार्ग से यातायात होता था।[6] यह मार्ग सर्व सुलभ न भी रहा हो परन्तु कुछ श्रीमन्त या विद्याओं के पारगामी व्यक्ति इन विशालकाय पक्षियों का उपयोग वाहन के रूप में करते हों, यह असंभव नहीं लगता। क्योंकि आज भी शतुर्मुर्ग पर सवारी की जाती है और उसका वाहन के रूप में उपयोग किया जाता है। उसकी गति भी तेज होती है। इसी प्रकार पक्षियों में सर्वबलिष्ठ भारुण्ड पक्षी पर सवारी करना अत्युक्ति नहीं कही जा सकती।

पाणिनी का हंसपथ, महानिद्देश का शकुनपथ और कालीदास का खगपथ, घनपथ, सुरपथ इसी पक्षिपथ के वाचक हैं।

१२. छत्रमार्ग—यह एक ऐसा मार्ग था जहां छत्र के बिना आना-जाना निरापद नहीं होता था।[7] संभव है यह जंगल का मार्ग हो और जहां हिंस्र पशुओं का भय रहता हो। वे पशु छत्ते से डरकर इधर-उधर भाग जाते हों।

१३. जलमार्ग—जहाज, नौका आदि से यातायात करने का मार्ग। इसे 'वारिपथ' भी कहा जाता है।

१४. आकाशमार्ग—चारणलब्धि सम्पन्न मुनियों, विद्याधरों तथा मंत्रविदों के आने-जाने का मार्ग।[8] इसे 'देवपथ' भी कहा जाता था।

क्षेत्रमार्ग और कालमार्ग के प्रसंग में भी निर्युक्तिकार, चूर्णिकार और वृत्तिकार ने अनेक तथ्य प्रगट किए हैं[9]—

३. क्षेत्रमार्ग—भूमीचरों के लिए भूमी मार्ग है, देवताओं के लिए आकाश मार्ग है, पक्षियों तथा विद्याधरों के लिए भूमी और आकाश—दोनों मार्ग हैं।

---

१. चूर्णि, पृ० १९४ : रज्जुं वा कडिए बंधिऊण पच्छा रज्जुं अणुसरंति क्वचिद् रसकूपिकादौ महत्यन्धकारे, पुणो णिग्गच्छति गच्छति सो चेव पासमग्गो।

२ वृत्ति, पत्र १९८ : पाशप्रधानो मार्गः—पाशमार्गः पाशकूटवागुरान्वितो मार्ग इत्यर्थः।

३. चूर्णि, पृ० १९४ : खीलगेहिं रुमाविसए वालुगाभूमीए चक्कमंति, क्वचिद् वेणु (? रेणु) प्रचुरे देशे कीलकानुसारेण गम्यते, अन्यथा पथभ्रंशः।

४. वही, पृ० १९४ : अयपधो लोहबद्धः सुवण्णभूमीए............।

५. वृत्ति, पत्र १९८ : अजमार्गो यत्र अजेन—बस्त्येन गम्यते, तत्, यथा—सुवर्णभूम्यां चारुदत्तो गत इति।

६. वृत्ति, पत्र १९८।

७. चूर्णि, पृ० १९४ : छत्तगमग्गो छत्तेणं धरिज्जमाणेणं गच्छति उपद्रवभयात्।

८. वही, पृ० १९४ : आगासमग्गो चारण-विज्जाहराणं।

९. (क) निर्युक्ति गाथा १०२। (ख) चूर्णि, पृ० १९४। (ग) वृत्ति, पत्र १९८।

अथवा—यह चावल के खेत का मार्ग है, यह गेहूं के खेत का मार्ग है। यह ग्राम मार्ग है, यह नगर मार्ग है। यह मार्ग विदर्भ नगर का है, यह मार्ग हस्तिनागपुर का है।

४. कालमार्ग—

जिस काल में जो मार्ग चालू होता है, वह कालमार्ग है। जैसे—वर्षा की रात्री में पानी का प्रवाह अपना मार्ग बनाकर बहता है, शिशिर या ग्रीष्म में व्यक्ति मूलमार्ग को छोड़कर उपमार्ग से जाता है, वह कालमार्ग है।

अथवा—जिस काल में गमनागमन किया जाता है, वह कालमार्ग है। जैसे ग्रीष्म ऋतु में रात्री में और हेमन्त ऋतु में दिन में गमनागमन सुखपूर्वक होता है।

अथवा—जितने काल तक चला जाता है, वह कालमार्ग है। जैसे सूर्योदय होते चला और सांझ को पहुंच गया। वह कालमार्ग है।

सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र—यह भावमार्ग है। इसकी आराधना मोक्ष की आराधना है।

कुछेक व्यक्ति निर्ग्रन्थ-शासन में प्रव्रजित होकर भी सुकुमार और सुखशीलक बनकर प्राणीघातकारक प्रवृत्तियों में रस लेते हैं। वे धर्म का उपदेश करते हुए भी कुमार्ग पर प्रस्थित हैं।

जो मुनि तप और संयम में अनुरक्त हैं, मुनि-गुणों से युक्त हैं, जो जैसा कहते हैं, वैसा करते हैं, जो जनकल्याणकारी हैं, उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग सुमार्ग है।

निर्युक्तिकार ने मार्ग शब्द की गुणवत्ता के आधार पर तेरह एकार्थक शब्द दिए हैं।[1] वृत्तिकार ने उनकी भावमार्ग के आधार पर व्याख्या की है[2]—

१. पंथा—सम्यक्त्व की प्राप्ति।
२. मार्ग—सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति।
३. न्याय—सम्यग्चारित्र की प्राप्ति।
४. विधि—सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन की युगपद प्राप्ति।
५. धृति—सम्यग्दर्शन के होने पर सम्यग्चारित्र की प्राप्ति।
६. सुगति—ज्ञान और क्रिया का संतुलन।
७. हित—मुक्ति या उसके साधनों की प्राप्ति।
८. सुखं—उपशम श्रेणी में आरूढ़ होने का सामर्थ्य।
९. पथ्य—क्षायक श्रेणी में आरूढ़ होने का सामर्थ्य।
१०. श्रेणी—मोह की सर्वथा उपशान्तावस्था।
११. निर्वृति—क्षीणमोह की अवस्था।
१२. निर्वाण—केवलज्ञान की प्राप्ति।
१३. शिवकर—शैलेशी अवस्था की प्राप्ति।

—ये शब्द व्याख्या भेद से भिन्न हो जाते हैं। ये मोक्षमार्ग के पर्यायवाची शब्द भी माने जा सकते हैं।[3]

जम्बूस्वामी सुधर्मास्वामी को मोक्षमार्ग के विषय में दो प्रश्न पूछते हैं। पहले तीन श्लोकों में प्रश्न हैं और शेष तीन श्लोकों में उन प्रश्नों के उत्तर हैं। जम्बूस्वामी ने पूछा—

१. भगवान् महावीर ने मोक्षप्राप्ति के लिए कौनसा मार्ग बतलाया है?
२. लोगों के पूछने पर हम कौन से मार्ग का प्रतिपादन करें?

---

१. निर्युक्ति गाथा १०८ : पंथो णायो मग्गो विधी धिती सोग्गती हित सुहं च।
पत्थं सेयं णेव्वुइ णेव्वाणं सिवकरं चेव॥

२. वृत्ति, पत्र १९९, २००।

३. वृत्ति, पत्र २०० : एवमेतानि मोक्षमार्गत्वेन किञ्चिद् भेदाद् भेदेन व्याख्यातान्यभिधानानि, यदि वैते पर्यायशब्दा एकार्थिका मोक्षमार्गस्येति।

प्रस्तुत अध्ययन में अड़तीस श्लोक हैं। उनमें मोक्षमार्ग की विशेष जानकारी तथा अहिंसा, सत्य, एषणा आदि के विषय में परिज्ञान दिया गया है।

श्लोक १-६ मोक्षमार्ग का स्वरूप।
७-१२ अहिंसा-विवेक।
१३-१५ एषणा-विवेक
१६-२१ भाषा-विवेक
२२-२४ धर्म द्वीप कैसे ?
२५-३१ बौद्धमत की समीक्षा
३२-३८ मार्ग की प्राप्ति का उपाय और चरम फल।

कुछ विमर्शनीय स्थल—

सातवें श्लोक में स्थावर जीवों का एक विशेषण है 'पुढो सत्ता'। इसका संस्कृत रूप है— 'पृथक् सत्त्वाः' और अर्थ है—पृथक्-पृथक् आत्मा वाले। इस विशेषण के द्वारा इस सत्य की घोषणा की गई है कि सभी आत्माओं का स्वतंत्र अस्तित्व है, कोई किसी से उत्पन्न नहीं है। यहां सत्व का अर्थ है—अस्तित्व।

दो श्लोकों (७, ८) में षड्जीवनीकाय का निरूपण है। यह भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है। इससे पूर्व किसी अन्य दार्शनिक ने इस प्रकार का सिद्धान्त प्रतिपादित किया हो, ऐसा ज्ञात नहीं है। महान् तार्किक आचार्य सिद्धसेन ने महावीर की सर्वज्ञता को प्रस्थापित करने के लिए 'षड्जीवनिकाय' का हेतु प्रस्तुत किया है। वे कहते हैं—महावीर की सर्वज्ञता को प्रस्थापित करने वाले अनेक तथ्य हैं। उनमें षड्जीवनिकाय की प्ररूपणा महत्त्वपूर्ण है।

छह श्लोकों (१६-२१) में दान के प्रसंग में मुनि का भाषा-विवेक कैसा होना चाहिए, उसका स्पष्ट निर्देश है। इन श्लोकों का तात्पर्य है कि जहां जब दान की प्रवृत्तियां चल रही हों, उन्हें लक्षित कर धर्म या पुण्य होता है या नहीं होता है, इस प्रकार का कोई व्यक्ति प्रश्न करे तब मुनि को मौन रहना चाहिए।

चौवीसवें श्लोक में साधना-क्रम का सुन्दर निरूपण मिलता है। उस साधना के चार सोपान हैं—

१. आत्मगुप्ति।
२. इन्द्रिय और मन का उपशमन।
३. छिन्न-स्रोत अवस्था।
४. निरास्रव अवस्था।

साधक को सबसे पहले आत्मगुप्ति करनी होती है। उसे इन्द्रिय और मन का समाहार करना पड़ता है। गुप्ति का निरन्तर अभ्यास करने से इन्द्रियां और मन दान्त हो जाते हैं। जैसे-जैसे उनकी उपशान्तता बढ़ती है, वैसे-वैसे हिंसा आदि प्रवृत्तियां टूटती जाती हैं। एक क्षण ऐसा आता है कि वे सारे स्रोत छिन्न हो जाते हैं और साधक तब निरास्रव होकर आत्मा के निकट पहुंच जाता है।

सात श्लोकों (२५-३१) में बौद्धदृष्टि की समीक्षा की गई है। अहिंसा धर्म ही शुद्ध धर्म है। बौद्ध भिक्षु हिंसात्मक प्रवृत्तियों का समर्थन करते हैं। वे संघभक्त की बात सोचते रहते हैं। संकल्प-विकल्प के कारण वे असमाहित रहते हैं। वे शुद्ध ध्यान के अधिकारी नहीं होते। वे समाधि की साधना करते हैं, पर आरंभ और परिग्रह में आसक्त होने के कारण समाधि को नहीं पा सकते। वे आत्मा को नहीं जानते, इसलिए समाधिस्थ भी नहीं हो पाते। वे स्वयं शुद्ध मार्ग पर नहीं चलते और दूसरों को भी उन्मार्गगामी बनाते हैं।

छवीसवें श्लोक की व्याख्या में चूर्णिकार ने बौद्ध परंपरागत कुछेक व्यवहारों का निर्देश किया है। देखें— टिप्पण संख्या ३८।

छतीसवें श्लोक के संदर्भ में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इस निर्वाण-मार्ग का प्रतिपादन वर्धमानस्वामी ने ही किया है अथवा अन्य तीर्थंकरों ने भी इसका प्रतिपादन किया है ? शास्त्रकार इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—

'जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया।
संती तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा ॥'

जो तीर्थंकर अतीत में हो चुके हैं, जो तीर्थंकर भविष्य में होंगे और जो तीर्थंकर आज विद्यमान हैं, उन सबने इसी निर्वाण-मार्ग का प्रतिपादन किया था, करेंगे और कर रहे हैं। जैसे समस्त जीवों के लिए पृथ्वी आधारभूत है, वैसे ही यह निर्वाण-मार्ग, यह शांतिमार्ग सभी तीर्थंकरों का प्रतिष्ठान है।

अंतिम श्लोक में सुधर्मा जंबू से कहते हैं—'जम्बू ! तुमने मोक्षमार्ग के विषय में पूछा था। मैंने तुम्हें उसके स्वरूप की पूर्ण जानकारी दी है और उसकी निष्पत्ति भी बताई है। मेरा यह कथन बुद्धि-कल्पित नहीं है। यह सारा केवली द्वारा प्ररूपित यथार्थ है। तुम इस मार्ग पर अविश्रामगति से मरणपर्यन्त चलते चलो। तुम मुक्त हो जाओगे।'

एगारसमं अज्झयणं : ग्यारहवां अध्ययन

मग्गे : मार्ग

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. कयरे मग्गे अक्खाते माहणेण मतीमता ? । जं मग्गं उज्जु पावित्ता ओहं तरति दुत्तरं ॥	कतरो मार्गः आख्यातः, माहनेन मतिमता । यं मार्गं ऋजुं प्राप्य, ओघं तरति दुस्तरम् ॥	१. (जंबू ने पूछा) 'मतिमान् श्रमण[1] (भगवान् महावीर) ने कौन-सा[2] मार्ग[3] बतलाया है, जिस ऋजु मार्ग को[4] पाकर मनुष्य दुस्तर प्रवाह को तर जाता है ?[5]
२. तं मग्गं अणुत्तरं सुद्धं सव्वदुक्खविमोक्खणं । जाणासि णं जहा भिक्खू ! तं णे बूहि महामुणी ! ॥	तं मार्गं अनुत्तरं शुद्धं, सर्वदुःखविमोक्षणम् । जानासि यथा भिक्षो !, तं नः ब्रूहि महामुने ! ॥	२. उस अनुत्तर, शुद्ध[6] और सर्व-दुख-विमोचक मार्ग को हे भिक्षु ! जैसे आप जानते हैं, हे महामुनि ! वैसे आप बतलाएं ।
३. जइ णे केइ पुच्छेज्जा देवा अदुव माणुसा । तेसिं तु कयरं मग्गं आइक्खेज्ज? कहाहि णो ॥	यदि नः केचित् पृच्छेयुः, देवाः अथवा मानुषाः । तेषां तु कतरं मार्गं, आचक्षीमहि कथय नः ॥	३. यदि कुछ देव या मनुष्य[7] हमें पूछें, उन्हें कौन-सा मार्ग बतलाएं, आप हमें बताएं ।
४. जइ वो केइ पुच्छेज्जा देवा अदुव माणुसा । तेसिमं पडिसाहेज्जा मग्गसारं सुणेह मे ॥	यदि वः केचित् पृच्छेयुः, देवाः अथवा मानुषाः । तेषामिमं प्रति कथयेत्, मार्गसारं शृणुत मे ॥	४. (सुधर्मा ने कहा) कुछ देव या मनुष्य तुम्हें पूछे, उन्हें जो मार्ग-सार[8] बताया जाए वह तुम मुझसे सुनो ।
५. अणुपुव्वेण महाघोरं कासवेण पवेइयं । जमादाय इओ पुव्वं समुद्दं ववहारिणो ॥	अनुपूर्वेण महाघोरं, काश्यपेन प्रवेदितम् । यमादाय इतः पूर्वं, समुद्रं व्यवहारिणः ॥	५. ६. काश्यप (भगवान् महावीर) के द्वारा[9] बतलाए हुए मार्ग को तुम मुझसे सुनो, जो क्रम से प्राप्त होता है[10], महाघोर है, जिसे प्राप्त कर इससे पूर्व[11] अनेक व्यक्ति (संसार-समुद्र को) तर गए, तर रहे हैं और तरेंगे जैसे व्यापारी समुद्र को। वह मार्ग अपनी श्रुति के अनुसार मैं तुम्हें बताऊंगा ।
६. अतरिंसु तरंतेगे तरिस्संति अणागया । तं सोच्चा पडिवक्खामि जंतवो ! तं सुणेह मे ॥	अतारिषुः तरन्त्येके, तरिष्यन्ति अनागताः । तं श्रुत्वा प्रतिवक्ष्यामि, जन्तवः ! तं शृणुत मे ।	
७. पुढवीजीवा पुढो सत्ता आउजीवा तहागणी । वाउजीवा पुढो सत्ता तण रुक्खा सबीयगा ॥	पृथ्वीजीवाः पृथक् सत्त्वाः, अब्जीवाः तथाग्निः । वायुजीवाः पृथक् सत्त्वाः, तणा रूक्षाः सबीजकाः ॥	७. पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और बीज पर्यन्त[12] तृण और वृक्ष—ये सब जीव पृथक् सत्व (स्वतंत्र अस्तित्व) वाले[13] है ।

८. अहावरे तसा पाणा
एवं छक्काय आहिया ।
इत्ताव एव जीवकाए
णावरे विज्जती कए ॥

अथापरे त्रसाः प्राणाः,
एवं षट्काया आहृताः ।
एतावान् एव जीवकायः,
नापरो विद्यते कायः ॥

८. इनके अतिरिक्त त्रस जीव हैं । इस प्रकार छह जीव-काय बतलाए गए हैं । जीव-काय इतने ही हैं । इनसे अतिरिक्त कोई जीव-काय नहीं है ।[१४]

९. सव्वाहिं अणुजुत्तीहिं
मइमं पडिलेहिया ।
सव्वे अकंतदुक्खा य
अतो सव्वे अहिंसया ॥

सर्वाभिरनुयुक्तिभिः,
मतिमान् प्रतिलेख्य ।
सर्वे अकान्तदुःखाश्च,
अतः सर्वे अहिंस्याः ॥

९. मतिमान् मनुष्य सभी अनुयुक्तियों[१५] (सम्यक् हेतुओं) से जीवों की पर्यालोचना करे । सब जीवों को दुःख अप्रिय है[१६] इसलिए किसी की भी हिंसा न करे ।

१०. एयं खु णाणिणो सारं
जं ण हिंसति कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव
एतावंतं विजाणिया ॥

एतद् खलु ज्ञानिनः सारं,
यत् न हिंसति कंचन ।
अहिंसां समतां चैव,
एतावन्तं विजानीयात् ॥

१०. ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता । 'समता अहिंसा है'[१७]—इतना ही उसे जानना है ।

११. उड्ढं अहे तिरियं च
जे केइ तसथावरा ।
सव्वत्थ विरतिं कुज्जा
संति णिव्वाणमाहियं ॥

ऊर्ध्वं अधः तिर्यग् च,
ये केचित् त्रसस्थावराः ।
सर्वत्र विरतिं कुर्यात्,
शान्तिर्निर्वाणमाहृतम् ॥

११. ऊंचे, नीचे और तिरछे लोक में जो कोई त्रस और स्थावर प्राणी हैं, सब अवस्थाओं में उनकी हिंसा से विरत रहे । (विरति ही शांति है और) शान्ति ही निर्वाण है ।[१८]

१२. पभू दोसे णिराकिच्चा
ण विरुज्झेज्ज केणइ ।
मणसा वयसा चेव
कायसा चेव अंतसो ॥

प्रभुर्दोषान् निराकृत्य,
न विरुध्येत केनचित् ।
मनसा वचसा चैव,
कायेन चैव अन्तशः ॥

१२. जितेन्द्रिय पुरुष[१९] दोषों (क्रोध आदि) का[२०] निराकरण कर[२१] मनसा, वाचा, कर्मणा आजीवन किसी के साथ विरोध न करे ।

१३. संवुडे से महापण्णे
धीरे दत्तेसणं चरे ।
एसणासमिए णिच्चं
वज्जयंते अणेसणं ॥

संवृतः स महाप्राज्ञः,
धीरो दत्तैषणां चरेत् ।
एषणासमितो नित्यं,
वर्जयन् अनेषणाम् ॥

१३. संवृत[२२], महाप्राज्ञ, धीर मुनि दत्त की एषणा करे । वह नित्य एषणा समिति से युक्त[२३] हो अनेषणीय का वर्जन करे ।

१४. भूयाइं समारंभ
साधू उद्दिस्स जं कडं ।
तारिसं तु ण गेण्हेज्जा
अण्णपाणं सुसंजए ॥

भूतानि समारभ्य,
साधून् उद्दिश्य यत्कृतम् ।
तादृशं तु न गृह्णीयात्,
अन्नपानं सुसंयतः ॥

१४. जीवों का[२४] समारंभ कर साधु के उद्देश्य से जो किया गया हो वैसे अन्न-पान को सुसंयमी मुनि ग्रहण न करे ।

१५. पूतिकम्मं ण सेवेज्जा
एस धम्मे वुसीमतो ।
जं किंचि अभिसंकेज्जा
सव्वसो तं ण कप्पते ॥

पूतिकर्म न सेवेत,
एष धर्मः वृषीमतः ।
यत् किञ्चिद् अभिशंकेत,
सर्वशस्तद् न कल्पते ॥

१५. पूतिकर्म (अन्न-पान) का[२५] सेवन न करे । यह संयमी का[२६] धर्म है । जो कुछ (अन्न-पान अनेषणीय रूप में) शंकित हो, उसका सर्वथा[२७] उपभोग न करे ।

१६. ठाणाइं संति सड्ढीण
गामेसु णगरेसु वा ।
अत्थि वा णत्थि वा धम्मो?
अत्थि धम्मो त्ति णो वते ॥

स्थानानि सन्ति श्रद्धिनां,
ग्रामेषु नगरेषु वा ।
अस्ति वा नास्ति वा धर्मः,
अस्ति धर्म इति नो वदेत् ॥

१६. गावों या नगरों में श्रद्धालुओं के स्थान होते हैं । (वहां किसी श्रद्धालु के पूछने पर कि ब्राह्मण और भिक्षु को भोजन कराते हैं उसमें) धर्म है या नहीं ?, (इसके उत्तर में) धर्म है—यह न कहे ।

१७. अत्थि वा णत्थि वा पुण्णं?
अत्थि पुण्णं ति णो वए।
अधवा णत्थि पुण्णं ति
एवमेयं महब्भयं॥

अस्ति वा नास्ति वा पुण्यं,
अस्ति पुण्यं इति नो वदेत्।
अथवा नास्ति पुण्यमिति,
एवमेतद् महाभयम्॥

१७. 'पुण्य है या नहीं ? (इस प्रश्न के उत्तर में) पुण्य है'—यह न कहे। अथवा पुण्य नहीं है (यह भी न कहे।) क्योंकि ये दोनों महाभय (दोष के हेतु) हैं।

१८. दाणट्ठयाए जे पाणा
हम्मंति तसथावरा।
तेसिं सारक्खणट्ठाए
अत्थि पुण्णं ति णो वए॥

दानार्थं ये प्राणाः,
हन्यन्ते त्रसस्थावराः।
तेषां संरक्षणार्थं,
अस्ति पुण्यमिति नो वदेत्॥

१८. दान के लिए जो त्रस और स्थावर प्राणी मारे जाते हैं, उनके संरक्षण के लिए 'पुण्य है'—यह न कहे।

१९. जेसिं तं उवकप्पेंति
अण्णं पाणं तहाविहं।
तेसिं लाभंतरायं ति
तम्हा णत्थि त्ति णो वए॥

येषां तत् उपकल्पयन्ति,
अन्नं पानं तथाविधम्।
तेषां लाभान्तराय इति,
तस्माद् नास्ति इति नो वदेत्॥

१९. जिनके लिए उस प्रकार का अन्न-पान बनाया जाता है, उन्हें उसकी प्राप्ति में विघ्न होता है, इसलिए 'पुण्य नहीं है'—यह न कहे।

२०. जे य दाणं पसंसंति
वधमिच्छंति पाणिणं।
जे य णं पडिसेहंति
वित्तिच्छेदं करेंति ते॥

ये च दानं प्रशंसन्ति,
वधमिच्छन्ति प्राणिनाम्।
ये च प्रतिषेधन्ति,
वृत्तिच्छेदं कुर्वन्ति ते॥

२०. जो दान की प्रशंसा करते हैं वे प्राणियों के वध की इच्छा करते हैं। जो उसका प्रतिषेध करते हैं वे उन (अन्न-पान के अर्थियों) की वृत्ति का छेद करते हैं।

२१. दुहओ वि जे ण भासंति
अत्थि वा णत्थि वा पुणो।
आयं रयस्स हेच्चा णं
णिव्वाणं पाउणंति ते॥

द्वे अपि ये न भाषन्ते,
अस्ति वा नास्ति वा पुनः।
आयं रजसो हित्वा,
निर्वाणं प्राप्नुवन्ति ते॥

२१. जो (धर्म या पुण्य) है या नहीं है—ये दोनों नहीं कहते वे कर्म के आगमन का निरोध कर निर्वाण को प्राप्त होते हैं।[२८]

२२. णिव्वाण-परमा बुद्धा
णक्खत्ताण व चंदमा।
तम्हा सया जए दंते
णिव्वाणं संधए मुणी॥

निर्वाण-परमा बुद्धाः,
नक्षत्राणामिव चन्द्रमाः।
तस्मात् सदा यतो दान्तः,
निर्वाणं संदध्यात् मुनिः॥

२२. तीर्थंकरों के निर्वाण परम होता है[२९] जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा।[३०] इसलिए सदा संयत और जितेन्द्रिय मुनि निर्वाण का संधान करे।[३१]

२३. वुज्झमाणाण पाणाणं
किच्चंताणं सकम्मणा।
आघाति साधुतं दीवं
पतिट्ठेसा पवुच्चई॥

उह्यमानानां प्राणानां,
कृत्यमानानां स्वकर्मणाम्।
आख्याति साधुकं द्वीपं,
प्रतिष्ठैषा प्रोच्यते॥

२३. संसार के प्रवाह में बहते और अपने कर्मों से छिन्न होते हुए प्राणियों के लिए भगवान् ने कल्याणकारी[३२] द्वीप (या दीप) का[३३] प्रतिपादन किया है। इसे प्रतिष्ठा कहा जाता है।

२४. आयगुत्ते सया दंते
छिण्णसोए णिरासवे।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति
पडिपुण्णमणेलिसं॥

आत्मगुप्तः सदा दान्तः,
छिन्नस्रोताः निराश्रवः।
यो धर्मं शुद्धमाख्याति,
प्रतिपूर्णमनीदृशम्॥

२४. सदा मन को संवृत करने वाला, जितेन्द्रिय, हिंसा आदि के स्रोतों को छिन्न करने वाला अनाश्रव होकर[३४] जो शुद्ध, प्रतिपूर्ण और अनुपम धर्म का आख्यान करता है,

२५. तमेव अविजाणंता
अबुद्धा बुद्धवादिणो।
बुद्धा मो त्ति य मण्णंता
अंतए ते समाहिए॥

तमेव अभिजानन्तः,
अबुद्धाः बुद्धवादिनः।
बुद्धाःस्म इति च मन्यमानाः,
अन्तके ते समाधेः॥

२५. उस धर्म को नहीं जानते हुए कुछ अबुद्ध अपने को बुद्ध कहते हैं। अपने आपको बुद्ध मानने वाले वे समाधि से दूर हैं।[३५, ३६]

२६. ते य बीयोदगं चेव
तमुद्दिस्सा य जं कडं।
भोच्चा झाणं झियायंति
अखेतण्णा असमाहिया॥

ते च बीजोदकं चैव,
तमुद्दिश्य च यत् कृतम्।
भुक्त्वा ध्यानं ध्यायन्ति,
अक्षेत्रज्ञाः असमाहिताः॥

२६. वे[१८] (सजीव) बीज (धान्य) और जल तथा अपने उद्देश्य से जो बनाया गया उसका सेवन करते हैं। वे (शुद्ध ध्यान को) नहीं जानते।[१९] (उनका अध्यवसाय मनोज्ञ भोजन आदि में लगा रहने के कारण) वे असमाहित चित्त वाले होते हैं।[२०] फिर भी वे ध्यान लगाते हैं।

२७. जहा ढंका य कंका य
कुलला मग्गुका सिही।
मच्छेसणं झियायंति
झाणं ते कलुसाधमं॥

यथा ध्वांक्षाश्च कंकाश्च,
कुररा मद्गुकाः शिखिनः।
मत्स्यैषणां ध्यायन्ति,
ध्यानं ते कलुषाधमम्॥

२७. जैसे ढंक, कंक[२१], कुरर, मद्गु (जल-कौवा) और शिखी मछली की खोज में ध्यान करते हैं[२२] वैसे ही वे कलुप और अधम ध्यान करते हैं।

२८. एवं तु समणा एगे
मिच्छदिट्ठी अणारिया।
विसएसणं झियायंति
कंका वा कलुसाधमा॥

एवं तु श्रमणाः एके,
मिथ्यादृष्टयः अनार्याः।
विषयैषणां ध्यायन्ति,
कंका इव कलुषाधमाः॥

२८. इसी प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण विषय की एषणा में ध्यान करते हैं जैसे कलुप और अधम कंक (मछली की खोज में ध्यान करते हैं।)

२९. सुद्धं मग्गं विराहित्ता
इहमेगे उ दुम्मती।
उम्मग्गगया दुक्खं
घातमेसंति तं तहा॥

शुद्धं मार्गं विराध्य,
इह एके तु दुर्मतयः।
उन्मार्गगता दुःखं,
घातमेषयन्ति तत् तथा॥

२९. यहां कुछ दुर्मति शुद्ध मार्ग की विराधना कर उन्मार्ग में प्रवृत्त हो दुःख और मृत्यु की कामना करते हैं।

३०. जहा आसाविणिं णावं
जाइअंधो दुरूहिया।
इच्छई पारमागंतुं
अंतरा य विसीदति॥

यथा आस्राविणीं नावं,
जात्यन्धः आरुह्य।
इच्छति पारमागन्तुं,
अन्तरा च विषीदति॥

३० जैसे जन्मान्ध व्यक्ति[२३] सच्छिद्र नौका में चढ़कर पार पाना चाहता है किन्तु वह बीच में ही डूब जाता है।

३१. एवं तु समणा एगे
मिच्छद्दिट्ठी अणारिया।
सोतं कसिणमावण्णा
आगंतारो महब्भयं॥

एवं तु श्रमणाः एके,
मिथ्यादृष्टयः अनार्याः।
स्रोतः कृत्स्नमापन्नाः,
आगन्तारो महाभयम्॥

३१. इसी प्रकार कुछ मिथ्यादृष्टि अनार्य श्रमण संपूर्ण स्रोत (आस्रव) में पड़कर महाभय को[२४] प्राप्त होते हैं।

३२. इमं च धम्ममादाय
कासवेण पवेदितं।
तरे सोयं महाघोरं
अत्तत्ताए परिव्वए॥

इमं च धर्म आदाय,
काश्यपेन प्रवेदितम्।
तरेत् स्रोतो महाघोरं,
आत्मतया परिव्रजेत्॥

३२. मुनि काश्यप (भगवान् महावीर) के द्वारा निरूपित इस धर्म को स्वीकार कर महाघोर स्रोत को तर जाए और आत्मदृष्टि से परिव्रजन करे।

३३. विरते गामधम्मेहिं
जे कई जगई जगा।
तेसिं अत्तुवमायाए
थामं कुव्वं परिव्वए॥

विरतो ग्राम्यधर्मेभ्यः,
ये केचित् जगत्यां 'जगा'।
तेषां आत्मोपमया,
स्थाम कुर्वन् परिव्रजेत्॥

३३. वह ग्राम्य-धर्मों (शब्द आदि विषयों) से[२५] विरत हो, जगत् में जो कोई जीव हैं,[२६] उन्हें अपनी आत्मा के समान जानकर, (संयम में) पराक्रम करता हुआ परिव्रजन करे।

३४. अतिमाणं च मायं च
तं परिण्णाय पंडिए।
सव्वमेयं णिराकिच्चा
णिव्वाणं संधए मुणी॥

अतिमानं च मायां च,
तं परिज्ञाय पंडितः।
सर्वमेतद् निराकृत्य,
निर्वाणं संदध्यात् मुनिः॥

३४. पंडित मुनि अतिमान और अतिमाया को जाने और उन सबका निराकरण कर निर्वाण का संधान करे।[२७]

३५. संधए साहुधम्मं च
पावधम्मं णिराकरे।
उवधाणवीरिए भिक्खू
कोहं माणं ण पत्थए ॥

संदध्यात् साधुधर्मं च,
पापधर्मं निराकुर्यात् ।
उपधानवीर्यः भिक्षुः,
क्रोधं मानं न प्रार्थयेत् ॥

३५. तप में पराक्रम करने वाला[58] भिक्षु साधु-धर्म का संधान[59] और पाप-धर्म का[60] निराकरण करे। क्रोध और मान की इच्छा न करे।

३६. जे य बुद्धा अतिक्कंता
जे य बुद्धा अणागया।
संती तेसिं पइट्ठाणं
भूयाणं जगई जहा ॥

ये च बुद्धाः अतिक्रान्ताः,
ये च बुद्धाः अनागताः ।
शान्तिस्तेषां प्रतिष्ठानं,
भूतानां जगती यथा ॥

३६. जो[61] बुद्ध (तीर्थंकर) हो चुके हैं और जो बुद्ध होंगे, उन सबका आधार है शान्ति, जैसे जीवों का पृथ्वी।[62]

३७. अह णं वतमावण्णं
फासा उच्चावया फुसे।
ण तेहिं विणिहण्णेज्जा
वातेण व महागिरी ॥

अथ तं व्रतमापन्नं,
स्पर्शा उच्चावचाः स्पृशेयुः ।
न तैर्विनिहन्येत,
वातेनेव महागिरिः ॥

३७. व्रत पर आरूढ पुरुष को उच्चावच स्पर्श (कष्ट) घेर लेते हैं। वह उनसे हत-प्रहत न हो[63] जैसे वायु से महा-पर्वत।

३८. संवुडे से महापण्णे
धीरे दत्तेसणं चरे।
णिव्वुडे कालमाकंखे
एवं केवलिणो मतं ॥

संवृतः स महाप्राज्ञः,
धीरो दत्तैषणां चरेत् ।
निर्वृतः कालमाकांक्षेत्,
एवं केवलिनो मतम् ॥

३८. संवृत, महाप्राज्ञ, धीर मुनि[64] दत्त की एषणा करे। वह शान्त रहता हुआ काल की आकांक्षा (प्रतीक्षा) करे[65]—यह केवली का मत है।[66]

—त्ति बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—मैं ऐसा कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन ११

श्लोक १ :

१. श्रमण भगवान् महावीर (माहणेण)

यहां चूर्णिकार ने माहण और श्रमण शब्द को एकार्थक माना है और 'माहण' शब्द से भगवान् महावीर का ग्रहण किया है।[1]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ तीर्थंकर किया है।[2]

२. कौन सा (कयरे)

जंबू स्वामी सुधर्मा स्वामी से कुछ प्रश्न करते हैं। प्रथम तीन श्लोकों में प्रश्न हैं। चौथे श्लोक से उत्तर प्रस्तुत किए गए हैं।[3]

३. मार्ग (मग्ग)

भगवान् महावीर ने अपनी साधना-पद्धति को 'मार्ग' नाम से अभिहित किया है। आचारांग में छह स्थलों में 'मार्ग' शब्द का उल्लेख मिलता है—

१. एस मग्गे आरिएहिं पवेइए······२।४७, २।११६, ५।२२

२. दुरणुचरो मग्गो वीराणं अणियट्टगामीणं ४।४२

३. ······णत्थि मग्गे विरयस्स त्ति बेमि ५।३०

४. से किट्टति तेसिं समुट्ठियाणं णिक्खित्तदंडाणं समाहियाणं पण्णाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं······६।३

इनमें एक स्थल पर 'मुक्तिमार्ग' का और शेष सब स्थलों पर केवल 'मार्ग' का प्रयोग है।

प्रस्तुत आगम में भी इसका अनेक स्थलों पर प्रयोग मिलता है।

१. वेयालियमग्गमागतो······१।२।२२

२. जे तत्थ आरियं मग्गं १।३।६६

आचार्य उमास्वाति ने इसी आधार पर 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः'—इस सूत्र की रचना की। यह सूत्र मोक्ष मार्ग की परिभाषा करने वाला सूत्र है। उत्तराध्ययन (२८।२) में भी मार्ग की परिभाषा मिलती है। वहां ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप को मोक्षमार्ग बतलाया है—

'नाणं च दंसणं चेव, चारित्तं च तवो तहा।
एस मग्गो त्ति पन्नत्तो, जिणेहिं वरदंसिहिं ॥

प्रस्तुत श्लोक में 'मार्ग' का प्रयोग 'मोक्ष मार्ग' के अर्थ में हुआ है। प्रश्नकर्त्ता ने उस मार्ग की जिज्ञासा की है जो सरल, उस पार ले जाने वाला, अनुत्तर, शुद्ध और सब दुःखों से मुक्ति दिलाने वाला हो।

---

१. चूर्णि, पृ० १६५ : (माहणे त्ति वा) समणे त्ति वा एगट्ठं, भगवानेवापदिश्यते।

२. वृत्ति, पत्र २०० : माहनः—तीर्थकृत्।

३. वृत्ति, पत्र २०० : विचित्रत्वात्त्रिकालविषयत्वाच्च सूत्रस्यागामुकं प्रच्छकमाश्रित्य सूत्रमिदं प्रवृत्तम्, अतो जम्बूस्वामी सुधर्मस्वामिनमिदमाह।

४. ऋजु मार्ग को (मग्गं उज्जु)

वृत्तिकार ने ऋजुमार्ग के अनेक अर्थ किए हैं—[1]

१. मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रशस्त भावमार्ग ।

२. वस्तु का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करने के कारण मोक्ष-प्राप्ति का अवक्र मार्ग—सरल मार्ग ।

३. स्याद्वाद के आधार पर कथन करने के कारण सरल मार्ग ।

४. ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप रूप मार्ग ।

५. दुस्तर प्रवाह को तर जाता है (ओहं तरति दुत्तरं)

ओघ का अर्थ है—प्रवाह, संसार रूपी समुद्र ।

वृत्तिकार का अभिमत है कि संसार समुद्र को तर जाना कठिन नहीं है किन्तु तरने की समग्र सामग्री को प्राप्त करना कठिन है ।[2] उस सामग्री के उल्लेख में उन्होंने एक गाथा उद्धृत की है । उसका तात्पर्य है कि लोक में मनुष्य क्षेत्र, उत्तम जाति आदि की प्राप्ति दुर्लभ होती है ।[3]

चूर्णिकार ने ओघ के दो प्रकार किए हैं—

१. द्रव्य ओघ—समुद्र । २. भाव ओघ—संसार ।[4]

श्लोक २ :

६. शुद्ध (सुद्धं)

चूर्णिकार ने शुद्ध के दो अर्थ किए हैं[5]—

१. अकेला—वह (मार्ग) जो किसी के द्वारा उपहत नहीं है ।

२. पूर्वापर को खंडित करने वाले या बाधित करने वाले दोषों से रहित ।

वृत्तिकार ने मोक्षमार्ग को शुद्ध मानने के तीन कारण प्रस्तुत किए हैं[6]—

१. वह निर्दोष है ।

२. वह परस्पर विरुद्ध कथनों से रहित है ।

३. वह पापकारी अनुष्ठानों का कथन नहीं करता ।

श्लोक ३ :

७. देव या मनुष्य (देवा अदुव माणुसा)

प्रायः देवता और मनुष्य ही जिज्ञासा करने या प्रश्न पूछने में समर्थ होते हैं, अतः यहां इन दो का ही ग्रहण किया

---

१. वृत्ति, पत्र २००, २०१ : यं प्रशस्तं भावमार्गं मोक्षगमनं प्रति 'ऋजुं'—प्रगुणं यथावस्थितपदार्थस्वरूपनिरूपणद्वारेणावक्रं सामान्यविशेषनित्यानित्यादिस्याद्वादसमाश्रयणात् ।

२. वृत्ति, पत्र २०१ : 'ओघ' मिति भवौघं—संसारसमुद्रं तरत्यत्यन्तदुस्तरं, तदुत्तरणसामग्र्या एव दुष्प्रापत्वात् ।

३. वृत्ति, पत्र २०१ : में उद्धृत आवश्यकनिर्युक्ति गाथा ८३१ ।

४. चूर्णि, पृ० १९५ : ओघो द्रव्यौघः समुद्रः भावे संसारौघं तरति ।

५. चूर्णि, पृ० १९५ : शुद्ध इति एक एव, निरुपहतत्वाच्चैवम्, अथवा पूर्वापरव्याहतबाध्यदोषापगमात् शुद्धः ।

६. वृत्ति, पत्र २०१ : शुद्धः—अवदातो निर्दोषः पूर्वापरव्याहतिदोषापगमात् सावद्यानुष्ठानोपदेशाभावाद् वा ।

गया है।[1]

चूर्णिकार की व्याख्या के अनुसार उनका अभिमत पाठ इस प्रकार होगा—'देवा तिरिय माणुसा'। इसकी व्याख्या में चूर्णिकार कहते हैं—चार प्रकार के देव तथा मनुष्य प्रश्न पूछने में सक्षम होते हैं। उत्तरलब्धि (अर्जित शक्ति) की अपेक्षा से तिर्यञ्च भी जिज्ञासा कर सकते हैं, वाणी से पूछ सकते हैं।[2]

श्लोक ४ :

८. मार्गसार (मग्गसारं)

इसका अर्थ है—सभी मार्गों में सारभूत मार्ग। सुधर्मा जंबू से कहते हैं कि भगवान् महावीर के मार्ग का जो सार—हार्द है वह मैं तुम्हे बताऊंगा। भगवान् का मार्ग षड्जीवनिकाय का प्रतिपादन करता है और उसकी अहिंसा का उपदेश देता है। किसी भी जीव को न मारना यही मार्गसार है, भगवान् के मार्ग का हार्द है।[3]

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—मार्गों का सार अथवा मार्ग ही है सार जिसका—ऐसा किया है।[4]

श्लोक ५ :

९. काश्यप (भगवान् महावीर) के द्वारा (कासवेण)

देखें—दसवेआलियं ४।सूत्र १ का टिप्पण।

१०. जो क्रम से प्राप्त होता है (अणुपुव्वेण)

इसका आशय है कि भगवान् महावीर द्वारा कथित मार्ग क्रमशः प्राप्त होता है। प्राप्ति-क्रम के निर्देश में चूर्णिकार और वृत्तिकार ने अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है।[5]

'माणुसखेत्तजाईकुलरूवारोग्गमाउयं बुद्धी।
सवणोग्गहसद्धा संजमो य लोगंमि दुल्लहाइं॥[6]

—मनुष्य जन्म, आर्यक्षेत्र, उत्तमजाति, उत्तमकुल, सुरूपता, स्वास्थ्य, दीर्घ-आयुष्य, सद्बुद्धि, धर्मश्रुति, धारणा, श्रद्धा और चारित्र—ये क्रमशः प्राप्त होते हैं।

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥[7]

चार बातें दुर्लभ हैं—मनुष्यभव, धर्मश्रुति, श्रद्धा और धर्माचरण।

---

१. वृत्ति, पत्र २०१ : 'देवाः'—चतुर्निकायाः तथा मनुष्याः—प्रतीताः, बाहुल्येन तयोरेव प्रश्नसद्भावात्तदुपादानम्।

२. चूर्णि, पृ० १९५ : देवाश्चतुष्प्रकाराः एते पृच्छाक्षमा भवन्ति, तिरिया मणुस्सा (? मणुस्सा तिरिया वा), उत्तरगुणलद्धिं वा पडुच्च तिर्यं (? तिरियं) अपि कश्चिद् गिरा वत्ति।

३. वृत्ति, पत्र २०१ : एवं पृष्टः सुधर्मस्वाम्याह············षड्जीवनिकायप्रतिपादनगर्भं तद्रक्षाप्रवणं मार्गं 'पडिसाहिज्जे' त्ति—प्रतिकथयेत्, 'मार्गसारम्'—मार्गपरमार्थम्।

४. चूर्णि, पृ० १९६ : मार्गाणां सारः मार्ग एव वा सारः मार्गसारः।

५. (क) चूर्णि, पृ० १९६।
(ख) वृत्ति, पत्र २०१।

६. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ८३१।

७. उत्तराध्ययन, ३।१।

अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं होता।
अप्रत्याख्यान " " " देशविरति " " होती।
प्रत्याख्यान " " " चारित्र लाभ नहीं होता।
संज्वलन " " " यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति नहीं होती।[1]

११. इससे पूर्व (इओ पुव्वं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'इस तीर्थ से पहले या आज से पूर्व' किया है।[2] वृत्तिकार का अर्थ भिन्न है। उनके अनुसार इसका अर्थ है - सन्मार्ग मिल जाने के कारण प्रारम्भ से ही।[3]

श्लोक ७ :

१२. बीज पर्यन्त (सबीयगा)

इसका अर्थ है—बीज पर्यन्त। दशवैकालिक (४।सूत्र ८) में भी यह शब्द प्रयुक्त है। इसके चूर्णिकार अगस्त्यसिंह स्थविर तथा जिनदास महत्तर ने इस शब्द के द्वारा वनस्पति के दश भेदों का ग्रहण किया है।[4] वनस्पति के दश भेद ये है—मूल, कंद, स्कंध, त्वचा, शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज। मूल की अन्तिम परिणति बीज में होती है।

प्रस्तुत श्लोक के 'सबीयगा' शब्द की टीका करते हुए टीकाकार शीलांकसूरी ने इस शब्द के द्वारा केवल अनाज का ग्रहण किया है।[5]

१३. पृथक् सत्त्व (स्वतंत्र अस्तित्व) वाले (पुढो सत्ता)

जिनमें पृथक्-पृथक् सत्त्व—आत्मा हो उन्हें पृथक्सत्त्व कहा जाता है। प्रत्येक आत्मा का अस्तित्व स्वतन्त्र होता है। कोई किसी से उत्पन्न नहीं होता। पृथक्-सत्त्व के द्वारा इस सत्य की घोषणा की गई है। 'पुढो सत्ता' पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, और तृण-वृक्ष आदि सभी का विशेषण है।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—प्रत्येकशरीरी किया है।[6] वृत्तिकार ने चूर्णि के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखा है—वनस्पति के जीव प्रत्येकशरीरी और साधारणशरीरी—दोनों प्रकार के होते हैं। इसलिए साधारणशरीर की दृष्टि से वनस्पति को अपृथक् सत्त्व भी कहा जा सकता है।[7]

दशवैकालिक की चूर्णि और हारिभद्रीया वृत्ति में पृथक्सत्त्व का अर्थ स्वतन्त्र अस्तित्व किया गया है।[8] वह अर्थ उचित प्रतीत होता है। सत्त्व का अर्थ शरीर नहीं, अस्तित्व या आत्मा है। इसलिए उसका प्रत्येक शरीरी अर्थ प्रकरणानुसारी नहीं लगता।

देखें—दसवेआलियं ४। सूत्र ४ का टिप्पण।

---

१. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १०८-११०।
२. चूर्णि, पृ० १९६ : इत इति इतस्तीर्थादर्थं (? र्वात् पूर्वं) अद्यतनाद्वा दिवसादिति।
३. वृत्ति, पत्र २०२ : 'इत' इति सन्मार्गोपादानात् 'पूर्वम्'—आदावेवानुष्ठितत्वात्।
४. (क) दशवैकालिक, अगस्त्यचूर्णि पृ० ७५, ९९।
   (ख) वही, जिनदासचूर्णि पृ० १३८, १६८।
५. वृत्ति, पत्र २०२ : सह बीजैः—शालिगोधूमादिभिर्वर्तन्त इति सबीजकाः।
६. चूर्णि, पृ० १९६ : पृथक् पृथग् इति प्रत्येकशरीरत्वात।
७. वृत्ति, पत्र २०२ : वक्ष्यमाणवनस्पतेस्तु साधारणशरीरत्वेनापृथक्त्वमप्यस्तीत्यस्यार्थस्य दर्शनाय पुनः पृथक्सत्त्वग्रहणमिति।
८. (क) दशवैकालिक ४। सूत्र ४, जिनदास चूर्णि, पृ० १३६ : पुढो सत्ता नाम पुढविक्कमोदएण सिलेसेण वट्टिया वट्टी पिहप्पिहं चऽवत्थियत्ति वुत्तं भवइ।
   (ख) हारिभद्रीया वृत्ति पत्र १३८ : अंगुलासंख्येयभागमात्रावगाहनया पारमार्थिकयाऽनेकजीवसमाश्रितेति भावः।

श्लोक ७,८ :

१४. श्लोक ७,८ :

षड्जीवनिकायवाद भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत है। यह सिद्धांत भगवान् महावीर से पूर्व किसी अन्य दार्शनिक द्वारा प्रतिपादित है, ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता। भगवान् महावीर स्वयं कहते हैं – आर्यो ! मैंने श्रमण-निर्ग्रंथों के लिए छह जीवनिकायों—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय—का निरूपण किया है।[1]

प्रस्तुत प्रकरण में मार्ग का सार बतलाया है—अहिंसा। उसका आधार है—षड्जीवनिकायवाद। इसलिए षड्जीवनिकाय को जाने बिना अहिंसा को नहीं जाना जा सकता और अहिंसा को जाने बिना मोक्ष मार्ग को नहीं जाना जा सकता। भगवान् महावीर के समय में चतुर्भूतवाद और पंचभूतवाद का उल्लेख मिलता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चार महाभूत हैं। पृथ्वी जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पांच महाभूत हैं।

अजितकेशकंबल आत्मा को चार महाभूतों से उत्पन्न मानता था और आकाश भी उसके दर्शन में सम्मत था। इस प्रकार उसका दर्शन पंचभूतवादी था।[2] इस पंचभूतवाद का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र के प्रथम अध्ययन में मिलता है।[3]

प्रस्तुत सूत्र में पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु का धातु के रूप में उल्लेख मिलता है।[4] ये भूत अचेतन माने जाते थे और इनसे चेतना की उत्पत्ति मानी जाती थी किन्तु भगवान् महावीर ने इन भूतों का जीवत्व स्थापित किया। उन्होंने बतलाया—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस—ये सब जीव हैं। जितने प्रकार के जीव हैं, वे सब इन छह जीवनिकायों में समाविष्ट हो जाते हैं। इनसे भिन्न कोई जीव नहीं है। षड्जीवनिकाय का वर्गीकरण तीन रूपों में मिलता है—

१. पहला वर्गीकरण[5]—

पृथ्वी
अप्
अग्नि
वायु
तृण-वृक्ष और बीज।
त्रस-प्राण—अंडज, जरायुज, संस्वेदज, रसज।

दूसरा वर्गीकरण[6]—

पृथ्वी
अप्
अग्नि
वायु
तृण-वृक्ष और बीज
अंडज, पोत, जरायु, रस, संस्वेद, उद्भिज्ज।

---

१. ठाणं ६।६२ : से जहाणामए अज्जो ! मए समणाणं णिग्गंथाणं छज्जीवणिकाया पण्णत्ता, तं जहा—पुढविकाइया, आउकाइया, तेउकाइया, वाउकाइया, वणस्सइकाइया, तसकाइया।

२. दीघनिकाय पृ० ४८।

३. सूयगडो १।१।७,८।

४. सूयगडो १।१।१८ : पुढवी आऊ तेऊ य तहा वाऊ य एगओ।
चत्तारि धाउणो रूवं एवमाहंसु जाणगा॥

५. सूयगडो १।७।१।

६. सूयगडो, १।९।८,९।

तीसरा वर्गीकरण[1]—

पृथ्वी
अप्
अग्नि
वायु
तृण-वृक्ष और बीज
त्रस-प्राण

तीनों वर्गीकरणों में प्रथम चार मूल नाम हैं। इनमें वनस्पति का उल्लेख नहीं है, उसके प्रकार निर्दिष्ट हैं। प्रथम दो वर्गीकरणों में त्रस का उल्लेख नहीं है, उसके प्रकार निर्दिष्ट हैं। तीसरे वर्गीकरण में त्रस का उल्लेख है, उसके प्रकार उल्लिखित नहीं हैं। प्रथम वर्गीकरण में त्रस के चार प्रकार निर्दिष्ट हैं और दूसरे वर्गीकरण में त्रस के छह प्रकार निर्दिष्ट हैं। इसमें 'पोत' और 'उद्भिज्ज' ये दो अधिक है। त्रस के तीनों वर्गीकरणों में सम्मूच्छिम और औपपातिक का उल्लेख नहीं है। आचारांग (१।११८) में ये दोनों मिलते हैं—'से बेमि— संतिमे तसा पाणा, तं जहा—अंडया पोयया जराउया रसया संसेयया संमुच्छिमा उब्भिया ओववाइया'। आचारांग में उपपात का प्रयोग सामान्य जन्म के अर्थ में भी मिलता है—उववायं चवणं णच्चा (३।४५), किन्तु वहां (१।११८) औपपातिक का प्रयोग सामान्य जन्म के अर्थ में नहीं है।

उक्त वर्गीकरणों के आधार पर क्रम-विकास का अध्ययन नहीं किया जा सकता। ये सब प्रकरण-सापेक्ष और छंद-सापेक्ष हैं। आचारांग के गद्य (१।११८) में त्रस के आठ प्रकार उल्लिखित हैं और जहां पद्य में छह काय का निरूपण है वहां केवल 'तसकायं च सव्वसो' (९।१२) इतना उल्लेख मात्र है।

श्लोक ९ :

१५. अनुयुक्तियों (सम्यक् हेतुओं) से (अणुजुत्तीहिं)

अनुयुक्ति का अर्थ है—अनुरूप युक्ति अर्थात् सम्यक् हेतु।[2]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—अनुकूल साधन, युक्तिसंगत युक्ति।[3]

प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य है कि मतिमान् पुरुष छह जीवनिकायों के जीवत्व की संसिद्धि उनके अनुकूल युक्तियों से करे। सभी जीवों की संसिद्धि एक ही हेतु से नहीं हो सकती। उनके लिए भिन्न-भिन्न युक्तियां होती हैं। विशेषावश्यक भाष्य गाथा १७५३-१७५८ की स्वोपज्ञवृत्ति में इन युक्तियों का सुन्दर समावेश है।[4] वृत्तिकार ने इन युक्तियों का संक्षिप्त विवरण दिया है[5]—

१. पृथ्वी सजीव है, क्योंकि पृथ्वी रूप प्रवाल, नमक, पत्थर आदि पदार्थ अपने समान जातीय अंकुर को उत्पन्न करते हैं, जैसे अर्श का विकार अंकुर।

२. पानी सजीव है, क्योंकि भूमि को खोदने पर वह स्वाभाविक रूप से उपलब्ध होता है, जैसे दर्दुर। अन्तरिक्ष से स्वाभाविक रूप से गिरता है, जैसे कि मत्स्य।

३. अग्नि सजीव है क्योंकि अनुकूल आहार (ईंधन) की वृद्धि से वह बढ़ती है, जैसे बालक आहार मिलने पर बढ़ता है।

४. वायु सजीव है क्योंकि बिना किसी की प्रेरणा के वह नियमतः तिरछी गति करता है, जैसे गाय।

५. वनस्पति सजीव है, क्योंकि उसमें उत्पत्ति, विनाश, रोग, वृद्धत्व आदि होते हैं। वह रुग्ण होती है और चिकित्सा से

---

१. सूयगडो, १।११।७,८।
२. चूर्णि, पृ० १९७ : अनुरूपा युक्तिः अनुयुक्तिः।
३. वृत्ति, पत्र २०३ : अनुरूपा—पृथिव्यादिजीवनिकायसाधनत्वेनानुकूला युक्तयः—साधनानि, यदि वा············युक्तिसंगता युक्तयः अनुयुक्तयस्ताभिरनुयुक्तिभिः।
४. चूर्णि, पृ० १९७।
५. वृत्ति, पत्र २०३।

वह स्वस्थ होती है। उसके व्रण भरते हैं। उसमें आहार की इच्छा होती है, दोहद भी होता है। कुछ वनस्पतियां स्पर्श से संकुचित होती हैं, कुछ रात में सोती हैं और दिन में जागती हैं, कुछ दूसरे के आश्रय से उपसर्पण करती हैं।

१६. जीवों को दुःख अप्रिय है (अकंतदुक्खा)

अकन्त का अर्थ है—अकान्त—अप्रिय, अनिष्ट। शारीरिक और मानसिक दुःख सबको अकान्त है, इसलिए सब प्राणी अहिंस्य हैं।[1]

अहिंसा का आधार है—जीव। त्रस जीव में गति होती है, इसलिए उसकी पहचान हमारे लिए स्पष्ट है। दूसरे जीवों की पहचान त्रस में प्राप्त लक्षणों के आधार पर की जाती है। अहिंसा का दूसरा आधार है कि कोई भी जीव दुःख नहीं चाहता।

श्लोक १० :

१७. समता अहिंसा है (अहिंसा समयं)

प्रस्तुत श्लोक १।१।८५ में आया हुआ है। इसकी व्याख्या में चूर्णिकार और वृत्तिकार का मतभेद है।

चूर्णिकार ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

अहिंसा ही समता है। जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है वैसे ही दूसरे जीवों को भी दुःख प्रिय नहीं है। अथवा मुझे पीडित करने से मुझे दुःख होता है वैसे ही दूसरे जीवों को पीडित करने से उन्हें दुःख होता है। इसलिए अहिंसा समता है या समता ही अहिंसा है।[2]

वृत्तिकार ने 'समय' का अर्थ आगम किया है। उनके अनुसार 'अहिंसा-समयं' का अर्थ है—अहिंसा प्रधान आगम अथवा उपदेश। यह अर्थ मूलस्पर्शी नहीं लगता।[3]

वस्तुतः प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि पढ़ने का सार है—हिंसा से निवृत्त होना। सबके साथ समान बर्ताव करना यही समता है, यही अहिंसा है।

श्लोक ११ :

१८. श्लोक ११ :

यह श्लोक १/३/८०, १/८/१९ में आ चुका है।

टिप्पण के लिए देखें—१/३/८०।

श्लोक १२ :

१९. जितेन्द्रिय पुरुष (पभू)

चूर्णिकार ने प्रभु के तीन अर्थ किए हैं[4]—

---

१. चूर्णि, पृ० १९७ : सारीरं माणसं वा सव्वेसि अणिट्ठं अकंतं अपियं दुक्खं, अत इत्यस्मात् कारणाद् नवकेन भेदेन अहिंसणीया अहिंसका:।

२. चूर्णि, पृ० १९८ : अहिंसा समयं ति, समता 'जध मम ण पियं दुक्खं' गाधा अथवा यथा हिंसितस्य दुःखमुत्पद्यते मम, एवमभ्याख्यातस्यापि चोरियातो वाऽस्य, दुःखमुत्पद्यते, एवमन्येषामपि इत्यतो अहिंसासमयं चेव।

३. वृत्ति, पत्र २०३ : तदेवमहिंसाप्रधान: 'समय—आगमः संकेतो वोपदेशरूपः।

४. चूर्णि, पृ० १९८ : पभवतीति प्रभुः, वश्येन्द्रिय इत्यर्थः, न वा संयमावरणानां कर्मणां वशे वर्त्तते। अथवा स्वतन्त्रत्वाद् जीव एव प्रभुः, शरीरं हि परतन्त्रम्, मोक्षमार्गे वाऽनुपला (? पाल) यितव्ये प्रभुः।

१. जितेन्द्रिय।

२. आत्मा।

३. मोक्ष-मार्ग (ज्ञान-दर्शन-चारित्र) की अनुपालना में समर्थ।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[1]—

१. जितेन्द्रिय।

२. संयम के आवारक कर्मों को तोड़कर मोक्ष-मार्ग का पालन करने में समर्थ।

२०. दोषों (क्रोध आदि) का (दोसे)

चूर्णिकार ने क्रोध आदि को दोष माना है[2] और वृत्तिकार ने पांच आस्रव-द्वारों—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग को दोष माना है।[3] प्रकरण के अनुसार 'दोष' का अर्थ द्वेष प्रतीत होता है। मनुष्य द्वेष के कारण दूसरों के साथ विरोध करता है। इसीलिए बतलाया गया है कि द्वेष का निराकरण कर किसी के साथ विरोध न करे।

२१. निराकरण कर (णिराकिच्चा)

चूर्णिकार ने 'णिरे किच्चा' पाठ की व्याख्या की है। 'णिरे' अव्यय है। इसका अर्थ है—पीठ पीछे।[4]

श्लोक १३ :

२२. संवृत (संवुडे)

संवृत का अर्थ है—प्राणातिपात आदि आस्रवों को रोकने वाला अथवा इन्द्रिय और मन का संवरण करने वाला।[5]

२३. एषणा समिति से युक्त (एसणासमिए)

एसणा के तीन प्रकार हैं—

१ गवेषणा—भिक्षा की खोज में निकलकर मुनि आहार के कल्प्य-अकल्प्य के निर्णय के लिए जिन नियमों का पालन करता है अथवा जिन दोषों से बचता है उसे गवेषणा कहते हैं।

२. ग्रहणैषणा—आहार को ग्रहण करते समय जिन नियमों का पालन करना होता है, उसे ग्रहणैषणा कहते हैं।

३. ग्रासैषणा या परिभोगैषणा—प्राप्त आहार को खाते समय जिन नियमों का पालन किया जाता है, वह है ग्रासैषणा या परिभोगैषणा।

श्लोक १४ :

२४. जीवों का (भूयाइं)

भूत का अर्थ है—प्राणी। जो प्राणी अतीत में थे, वर्तमान में हैं और भविष्य में होंगे, वे भूत कहलाते हैं—यह टीकाकार का अभिमत है।[6]

---

१. वृत्ति, पत्र २०४ : इन्द्रियाणां प्रभवतीति प्रभुर्वश्येन्द्रिय इत्यर्थः, यदि वा संयमावारकाणि कर्माण्यभिभूय मोक्षमार्गं पालयितव्ये प्रभुः—समर्थः।

२. चूर्णि, पृ० १६८ : दोषाः क्रोधादयः।

३. वृत्ति, पत्र २०४ : दूषयन्तीति दोषा—मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगास्तान्।

४. चूर्णि, पृ० १६८ : णिरे इति पृष्ठतः कृत्वा।

५. चूर्णि, पृ० १६८ : हिंसाद्याश्रवसंवृतः इंदिय-णोइंदियभावसंवुडो वा।

६. वृत्ति, पत्र २०४ : अभूवन् भवन्ति भविष्यन्ति च प्राणिनस्तानि भूतानि—प्राणिनः।

श्लोक १५ :

२५. पूतिकर्म (अन्न पान) का (पूतिकम्मं)

इसका अर्थ है—आधाकर्मी आहार से मिश्रित भोजन। यह उद्गम का तीसरा दोष है।

देखें—दसवेआलियं ५/५५ का टिप्पण, पृ० २३६।

२६. संयमी का (वुसीमतो)

देखें—८/२० का टिप्पण।

२७. सर्वथा (सव्वसो)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—प्राण निकलते हों तो भी—किया है।[1] वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—सभी प्रकार का (आहार, उपकरण आदि)।[2]

श्लोक १६-२१ :

२८. श्लोक १६-२१ :

प्रश्न करने वाला स्वतंत्र होता है। वह अपनी इच्छा के अनुसार प्रश्न पूछ सकता है, किन्तु उत्तर देने वाले को बुद्धि और विवेक—दोनों का संतुलन रखना होता है। कोरा बौद्धिक उत्तर हिंसा का निमित्त बन सकता है और अन्य समस्याएं भी उत्पन्न कर सकता है, इसलिए उत्तरदाता को विवेक से काम लेना होता है।

अनेक प्रकार के लोग होते हैं। कुछ श्रद्धालु होते हैं, कुछ श्रद्धालु नहीं होते। कुछ श्रद्धालु लोग दानरुचि वाले होते हैं। वे दान देने में श्रद्धा रखते हैं। वे साधु से पूछते हैं—हम लोग ब्राह्मण या भिक्षु का तर्पण करते हैं। उसमें धर्म होता है या पुण्य होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में मुनि 'हां' या 'ना' न कहे—यह सूत्रकार का निर्देश है। इसका कारण सूत्र में स्पष्ट है।

चूर्णिकार ने—'पुण्य होता है, ऐसा न कहे'—इसके कुछ कारण बतलाए हैं। उनके अनुसार ऐसा कहने से मिथ्यात्व का स्थिरीकरण होता है। उस आहार से पुष्ट होकर भिक्षुक असंयम करते हैं, उसका अनुमोदन होता है।[3]

'पुण्य नहीं होता'—ऐसा इसलिए नहीं कहना चाहिए कि जिन्हें दिया जा रहा है उसके अन्तराय होता है। चूर्णिकार ने बतलाया है कि मुनि ऐसे प्रसंग में मौन रहे। यदि प्रश्नकर्त्ता बहुत आग्रह करे तो बताए कि हम आधाकर्म आदि बयालीस दोष रहित पिंड को प्रशस्त मानते हैं।[4]

इसका तात्पर्य यह है कि जहां वर्तमान में दान की प्रवृत्तियां चल रही हों, उन्हें लक्षित कर धर्म या पुण्य होता है या नहीं होता, इस प्रकार का प्रश्न करे तब मुनि को मौन रहना चाहिए। यह उसका वाणी का विवेक है।

श्लोक २२ :

२९. तीर्थंकरों के निर्वाण परम होता है (णिव्वाण परमा बुद्धा)

चूर्णिकार ने बुद्ध का अर्थ अर्हत् किया है। उनके शिष्य बुद्ध-बोधित कहलाते हैं। वे निर्वाण को परम या प्रधान मानते हैं। वेदना को शान्त करने के जितने सांसारिक प्रतिकार हैं वे निर्वाण के अनन्तवें भाग तक भी नहीं पहुंच पाते, इसलिए निर्वाण को परम

१. चूर्णि, पृ० १९९ : सर्वश इति यद्यपि प्राणात्ययः स्यात्।
२. वृत्ति, पत्र २०४ : सर्वशः—सर्वप्रकारम्।
३. चूर्णि, पृ० १९९ : अत्थि पुण्णं ति णो वदे, मिच्छत्तथिरीकरणं, जं च तेणाऽऽहारेणं परिवूढा करेस्संति असंयमं, अप्पाणं परं च बहूहि भावेंति तदनुज्ञातं भवति।
४. चूर्णि, पृ० १९९ : तुसिणीएहिं अच्छितव्वं, निब्बंधे वा ब्रवीति—अम्हं आधाकम्मादिबातालीसदोसपरिसुद्धो पिंडो पसत्थो।

माना गया है।[1] अर्हत् की दृष्टि में वेदना के अन्य सब उपचार अस्थायी हैं। उसका स्थायी उपचार निर्वाण है। इसकी पुष्टि वीर-स्तुति के उस सूक्त से होती है 'निर्वाणवादियों में ज्ञातपुत्र श्रेष्ठ हैं'।[2]

३०. जैसे नक्षत्रों में चन्द्रमा (णक्खत्ताण व चंदमा)

ग्रह, नक्षत्र और ताराओं की कान्ति, सौम्यभाव, प्रमाण और प्रकाश की दृष्टि से चंद्रमा उनसे प्रधान होता है। इसी प्रकार सांसारिक सुखों से निर्वाण सुख परम है, अधिक है।[3]

३१. संधान करे (संधए)

संधान दो प्रकार का होता है—छिन्न-संधान और अछिन्न-संधान। जो बीच में टूट जाता है वह छिन्न-संधान होता है। चूर्णिकार ने बतलाया है कि साधक निर्वाण के मार्ग को स्वीकार कर अछिन्न-संधान के द्वारा उसका संधान करे।[4]

श्लोक २३ :

३२. कल्याणकारी (साधुतं)

मूल शब्द 'साधुकं' है। तकार की अनुश्रुति के अनुसार 'क' के स्थान पर 'त' हुआ है।

इसका अर्थ है—कल्याणकारी।

३३. द्वीप (या दीप) का (दीवं)

इसके दो अर्थ हैं—द्वीप और दीप। यहां द्वीप का अर्थ ही विवक्षित है।[5]

जैसे समुद्र में गिरा हुआ प्राणी लहरों के थपेड़ों से आकुल-व्याकुल होकर मरणासन्न हो जाता है, उसको यदि कहीं द्वीप प्राप्त हो जाता है तो वह अपने प्राण बचा लेता है। उसी प्रकार भगवान् का धर्म संसारी प्राणियों के लिए द्वीप के समान है।

स्रोत में बहने वाले प्राणियों के लिए द्वीप जैसे प्रतिष्ठा होता है, वैसे ही यह मार्ग संसार सागर में बहने वाले प्राणियों के लिए प्रतिष्ठा होता है।[6]

उत्तराध्ययन में धर्म को द्वीप, प्रतिष्ठा, गति और शरण कहा गया है।[7]

श्लोक २४ :

३४. (आयगुत्ते सया दंते ....छिण्णसोए णिरासवे)

आत्मगुप्त का अर्थ है—इन्द्रिय और मन का प्रत्याहार करने वाला। दांत के दो अर्थ हैं—इन्द्रिय और मन को वश में करने वाला तथा धर्मध्यान का ध्याता। स्रोत का अर्थ है—हिंसा आदि आश्रव। जो व्यक्ति इनका छेदन कर देता है वह छिन्नस्रोत होता

---

१. चूर्णि, पृ० २०० : णेव्वाणं परमं जेसिं ते इमे णेव्वाणपरमा एते बुद्धा अरहन्तः, तच्छिष्या बुद्धबोधिता॰, परमं निर्वाणमित्यतोऽनन्य-तुल्यम्, नास्य सांसारिकानि तानि तानि वेदनाप्रतीकाराणि निर्वाणानि अनन्तभागेऽपि तिष्ठन्तीति।

२. सूयगडो, १।६।२१ : णिव्वाणवादीणिह णायपुत्ते।

३. चूर्णि, पृ० २०० : न क्षयं यान्तीति नक्षत्राणि, तेभ्यः कान्त्या सौम्यत्वेन प्रमाणेन प्रकाशेन च परमश्चन्द्रमाः नक्षत्र-ग्रह-तारकाभ्यः, एवं संसारसुखेभ्योऽधिकं निर्वाणसुखमिति।

४. चूर्णि, पृ० २०० : मोक्षमग्गपडिवण्णे उत्तरगुणेहिं वड्ढमाणेहिं अच्छिण्णसंधणाए णेव्वाणं संधेज्जा।

५. चूर्णि, पृ० २०० : दीपयतीति दीपः, द्विधा पिबति वा द्वीपः, स तु आश्वासे प्रकाशे च, इहाऽऽश्वासद्वीपोऽधिकृतः।

६. वृत्ति, पत्र २०६।

७. उत्तराध्ययन २३।६८ : जरामरणवेगेणं, वुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठा य, गई सरणमुत्तमं॥

है। जो छिन्नस्रोत होता है वही निरास्रव होता है।[1]

आयगुत्ते आदि इन चार पदों में साधना का क्रम बतलाया है। साधक को सर्वप्रथम प्रत्याहार करना होता है, इन्द्रिय और मन की गति को बदलना तथा उन्हें बाहर से हटाकर भीतर में स्थापित करना होता है। यह गुप्ति की प्रक्रिया है। गुप्ति का बार-बार अभ्यास करने से इन्द्रिय और मन दान्त—उपशान्त हो जाते हैं। जैसे-जैसे उनकी शांति बढ़ती है वैसे-वैसे उनका स्रोत सूखता जाता है। एक बिन्दु ऐसा आता है जब स्रोत सर्वथा छिन्न हो जाते हैं। उस अवस्था में साधक निरास्रव बन जाता है।

३५. प्रतिपूर्ण (पडिपुण्णं)

वही धर्म प्रतिपूर्ण होता है जो सभी प्राणियों के लिए हितकर, सुखकर, सबके लिए समान, निरुपाधिक, सर्वविरतिमय, मोक्ष में ले जाने वाला होता है। अथवा जो धर्म दया, संयम, ध्यान आदि धर्म के कारणभूत तत्त्वों से सहित होता है वह प्रतिपूर्ण होता है।[2]

श्लोक २५ :

३६. वे समाधि से दूर हैं (अंतए ते समाहिए)

वे भिक्षु समाधि से दूर हैं। उन्हें मोक्ष समाधि प्राप्त नहीं हो सकती। अनेकाग्र होने के कारण उन्हें इहलोक में भी जब समाधि प्राप्त नहीं होती तब उन्हें परमसमाधि की प्राप्ति कैसे हो सकती है? वे संसार में रहते हुए भी इन्द्रिय-सुखों से वंचित रहते हैं और उन्हें परम समाधि का सुख भी प्राप्त नहीं होता। क्योंकि जहां हिंसा और परिग्रह है वहां एकाग्रता नहीं होती। जहां एकाग्रता नहीं होती वहां चार प्रकार की भावनाएं (कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना और धर्मानुपश्यना) प्राप्त नहीं होती। वे सुख से सुख पाने की बात सोचते हैं।[3]

३७. श्लोक २५-३१ :

प्रस्तुत आलापक (२५-३१) में बौद्धदृष्टि की समीक्षा की गई है। प्राणीमात्र को आश्वासन देने वाला धर्म—अहिंसा धर्म शुद्ध धर्म होता है। जो इसे नहीं जानते वे अबुद्ध होते हैं। बौद्ध बुद्धवादी हैं। वे समाधि की साधना करते हैं, फिर भी आरंभ और परिग्रह में आसक्त होने के कारण उसे उपलब्ध नहीं होते। वे हिंसा भी करते हैं और ध्यान भी करते हैं। वे आत्मा को नहीं जानते, इसलिए समाधिस्थ भी नहीं हो सकते।

श्लोक २६ :

३८. श्लोक २६ :

प्रस्तुत श्लोक में चूर्णिकार ने बौद्ध परंपरागत कुछेक व्यवहारों का निर्देश किया है। बौद्ध भिक्षु अपने लिए कृत भोजन-पानी

---

१. (क) चूर्णि, पृ० २०० : आत्मनि आत्मसु वा गुप्त आत्मगुप्तः, इन्द्रिय-नोइन्द्रियगुप्त इत्यर्थः, न तु यस्य गृहादीनि गुप्तानि। हिंसादीनि श्रोतांसि छिन्नानि यस्य स भवति छिन्नस्सोते, छिन्नश्रोतस्त्वादेव निराश्रवः।

(ख) वृत्ति, पत्र २०६ : मनोवाक्कायैरात्मा गुप्तो यस्य स आत्मगुप्तः, तथा 'सदा'—सर्वकालमिन्द्रियनोइन्द्रियदमनेन दान्तो—वश्येन्द्रियो धर्मध्यानध्यायी वेत्यर्थः, तथा छिन्नानि—त्रोटितानि संसारस्रोतांसि येन स तथा, एतदेव स्पष्टतरमाह—निर्गत आश्रवः—प्राणातिपातादिकः कर्मप्रवेशद्वाररूपो यस्मात् स निराश्रवः।

२. चूर्णि, पृ० २००,२०१ : प्रतिपूर्णमिदं सर्वसत्त्वानां हितं सुहं सर्वाविशेष्यं निरुपधं निर्वाहिकं मोक्षं नैयायिकम् इत्यतः प्रतिपूर्णम् अथवा सर्वैर्दया-दम-ध्यानादिभिर्धर्मकारणैः प्रतिपूर्णमिति।

३. चूर्णि, पृ० २०१ : दूरतस्ते समाधिए। कथम्? इहलोकेऽपि तावं तेऽनेकाग्रत्वात् समाधिं न लभन्ते कुतस्तर्हि परमसमाधिं मोक्षम्?। तद्यथा—शाक्याः अबुद्धा बुद्धवादिनः सुखेन सुखमिच्छन्ति, इहलोकेऽपि तावद् ग्रामव्यापारैर्न सुखमास्वादयन्ति, कुतस्तर्हि परमसमाधिसुखमिति?। उक्तं हि—'तत्रैकाग्रं कुतो ध्यानं, यत्राऽऽरम्भ-परिग्रहः?' इति। अतस्ते चतुव्विधाए भावणाए दूरतः।

लेते हैं। वे धान्य आदि के कणों को सजीव नहीं मानते। उपासक उनके लिए पचन-पाचन करते हैं। वे उनका अनुमोदन भी करते हैं। वे जीव में अजीव की और तत्त्व में अतत्त्व की बुद्धि रखते हैं। वे संघभक्त आदि की सतत कामना करते हैं। वे अतीत में किए गए संघभक्तों की तथा भविष्य में किए जाने वाले संघभक्तों की गणना करते रहते हैं। यदि उनके भी ध्यान हो तो फिर ध्यान किसके नहीं होगा ? उन भिक्षुओं के विहार भित्तिचित्रों से भरपूर होते हैं। उनकी परंपरा है कि वे अपने लिए मारे हुए पशु का मांस नहीं लेते। किन्तु यदि वह मांस कोई दूसरा व्यक्ति खरीद कर दे तो वे उसे ग्रहण कर लेते हैं। उसे वे 'कल्पिक' कहते हैं। आज भी तिब्बत आदि बौद्ध देशों में 'कल्पिक' जाति के रूप में एक वर्ग है। उस वर्ग के लोग बौद्ध भिक्षुओं के लिए मांस खरीद कर उन्हें देते हैं। यह उनका मुख्य कार्य है। ऐसे हजारों स्त्री-पुरुष वहां हैं। देने वाली उन दासियों को 'कल्पकारी' कहा जाता है और मांस को कल्पिक कहते हैं। संभव है चूर्णिकार के समय में भारत में भी बौद्ध परंपरा में यह प्रथा रही हो। चूर्णिकार ने इस पर व्यंग करते हुए एक उदाहरण प्रस्तुत किया है। बर्बर जाति के एक व्यक्ति ने मांस का प्रत्याख्यान कर दिया। अपनी प्रतिज्ञा को पालने में असमर्थता दिखाई दी। उसने मांस का नाम 'भ्रमर' रखा और खा लिया। क्या वह उसको खाता हुआ अमांसभक्षी कहा जा सकता है ? लूता (मकड़ी) का नाम शीतलिका रख देने मात्र से क्या वह नहीं मार देती ? विष का नाम 'मधुर' रख देने मात्र से क्या वह मृत्यु का कारण नहीं बनता ?

इसी प्रकार बौद्ध भिक्षु संज्ञाओं का भेद कर आरंभ में प्रवृत्त होते हैं। वे प्रवृत्तियां उनके निर्वाण के लिए नहीं होतीं। वे वैराग्य की द्योतक भी नहीं होतीं। जो भिक्षु ऐसे विहार या लयनों (गुफाओं) में रहते हैं, जो कामोत्तेजक चित्रों से चित्रित हैं, उनके वहां ध्यान कैसे संभव हो सकता है ? जो भिक्षु मांस लेते समय कल्पिकारियों को व्यवहृत करते हैं, उनके द्वारा खरीदा हुआ मांस खाते हैं, उनके भी ध्यान कैसे हो सकता है ? जो पचन-पाचन में प्रवृत्त हैं, जो केवल अपने शरीर का ही ध्यान रखते हैं, जो प्रतिपल मनोज्ञ, पान, भोजन, विहार, वस्त्र आदि का ध्यान रखते हैं, जो सोचते रहते हैं--आज कौन उपासक संघभक्त करेगा ? आज कौन भक्त वस्त्र-दान करेगा आदि, उनके ध्यान कैसे हो सकता है ? उनके शुद्ध ध्यान हो ही नहीं सकता।[1]

३९. नहीं जानते (अखेतण्णा)

इसका संस्कृत रूप है—अक्षेत्रज्ञाः। चूर्णिकार ने इसका अर्थ—मोक्षमार्ग और शुद्ध ध्यान को न जानने वाला किया है।[2]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'अनिपुण' किया है।[3]

४०. वे असमाहित चित्त वाले होते हैं (असमाहिया)

इसका अर्थ है—असंवृत। जो मनोज्ञ पान, भोजन और आवास आदि का निरंतर चिन्तन करते हैं, जो यह सोचते हैं कि आज संघ को कौन भोजन-पान देगा ? कौन वस्त्र देगा ?, वे असमाहित होते हैं। वे शुद्ध ध्यान करने के अधिकारी नहीं होते।[4]

वृत्तिकार ने असमाहित का अर्थ समाधि से दूर (शून्य) किया है।[5]

---

१. चूर्णि, पृ० २०१ : बीयाणि सचेतणाणि शाल्यादीनाम्, श्रु (? शी) तमपि च उदकं सचेतनमेव, हरिद्रा—कक्कोदकवत्, तमुद्दिश्य च कृतं उपासकादिभिः, स्वयं च पाचयन्ति पक्षचारिकादयः, तेषां हि पक्षे चारिका भवन्ति, अनुजानते च सुपक्वं सुसृष्टमिति, जीवेषु च अजीवबुद्धयः अतत्त्वे तत्त्वबुद्धयः वराकास्तत्कारिणस्तदुद्देषिणश्च सङ्घभक्तानि गणयन्तोऽतीता-ऽनागतानि च प्रार्थयन्तः झाणं णाम क्रियायंति, णाम परोक्षस्तवादिषु, तेऽपि नाम यदि ध्यानं ध्यायन्ति, को हि नाम न ध्यानं ध्यास्यति ?।

ग्राम-क्षेत्र-गृहादीनां गवां प्रैष्यजनस्य च।
यत्र प्रतिग्रहो दृष्टो ध्यानं तत्र कुतः शुभम् ?॥

सचित्तकम्मा य तेसिं आवसथा विहारकुडीउ त्ति, मांसं कल्पिक इत्यपदिश्यते, दासीओ कप्पयारीउ त्ति। यथा वर्बरेण मांसस्य प्रत्याख्याय अशक्नुवता तमनुपालयितुं भ्रमरमिति संज्ञां कृत्वा भक्षितम्, किमसौ तद् भक्षयन् निर्विशिको भवति ?, लूता वा शीतलिकाभिधानेनाभिलप्यमाना किं न मारयति ?। एवं तेषां न संज्ञान्तरपरिकल्पितास्ते आरम्भा निर्वाणाय भवन्ति, न च वैराग्यकरा भवन्ति। येऽपि तावद् भिक्षाहारा भवन्ति तेऽपि सविकारस्त्रीरूपसचित्रकर्म्मसु लेनेषु वसन्ति, तेषामपि तावत् कुतो ध्यानम् ? किमङ्ग पुनः कल्पिकारीर्व्यापारयताम् ? पचन-पाचनप्रवृत्तानां तनुमेव चानुप्रेक्षमाणानां कुतो ध्यानम् ?।

२. चूर्णि, पृ० २०१ : ते हि मोक्षमार्गस्य ध्यानस्य च शुद्धस्य अखेतण्णा अजाणगा।

३. वृत्ति, पत्र २०७ : अखेदज्ञाः—अनिपुणाः।

४. चूर्णि, पृ० २०१ : असमाहिता णाम असंवृताः, मनोज्ञेषु पान-भोजना-ऽऽच्छादनादिषु नित्याध्यवसिताः 'कोऽत्थं संघभत्तं करेज्जा ? कोऽत्थ परिक्खारं देज्ज वस्त्राणि ? इत्येवं नित्यमेवार्त्तं ध्यायन्ति।

५ वृत्ति, पत्र २०७ : असमाहिता मोक्षमार्गाख्याद्भावसमाधेरसंवृततया दूरेण वर्तन्त इत्यर्थः।

श्लोक २७ :

४१. ढंक कंक (ढंका य कंका य)

देखें—१/६२ का टिप्पण।

४२. मछली की खोज में ध्यान करते हैं (मच्छेसणं झियायंति)

ढंक आदि जलचर पक्षी मछली की खोज में निश्चल होकर जल के मध्य में खड़े रहते हैं। वे इतने निश्चल हो जाते हैं कि जल हिले-डुले नहीं। जल के हिलने से मछलियां त्रस्त होकर भाग न जाएं—यह उनका ध्यान रहता है।[1]

श्लोक ३० :

४३. जन्मान्ध व्यक्ति (जाइअंधो)

जात्यन्ध का शाब्दिक अर्थ है—जन्मान्ध। वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण इन दिशाओं में कितना चला, कितना चलना शेष है, को नहीं जानता।[2]

श्लोक ३१ :

४४. महाभय को (महब्भयं)

इसका शाब्दिक अर्थ है—महान् भय।

चूर्णिकार ने इसका भावात्मक अर्थ—जन्म-जरा-मरण-बहुल संसार किया है। वह पुरुष एक गर्भ से दूसरे गर्भ में, एक जन्म से दूसरे जन्म में, एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु में और एक दुःख से दूसरे दुःख में जाता है। इस प्रकार वह हजारों भव करता है। यह उसके महान् भय का हेतु बनता है।[3]

वृत्तिकार ने बार-बार संसार में पर्यटन करने से होने वाले दुःख को 'महाभय' माना है।[4]

श्लोक ३३ :

४५. ग्राम्य-धर्मों (शब्द आदि विषयों) से (गामधम्मेहिं)

ग्राम्यधर्म का अर्थ है मैथुन। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ शब्द आदि विषय किया है।[5]

४६. जीव हैं (जगा)

यह देशी शब्द है। इसका अर्थ है—प्राणी।[6]

---

१. चूर्णि, पृ० २०२ : मच्छेसणं झियायंति, निश्चलास्तिष्ठन्ति जलमज्झे उदगमक्खोभेन्ता, मा भून्मत्स्यादयो नङ्क्षयन्ति उत्तसिष्यन्ति वा।

२. चूर्णि, पृ० २०२ : जातित एव अन्धो जात्यन्धः पूर्वा-ऽपर-दक्षिणोत्तराणां दिशां मार्गाणां गत-गन्तव्यस्थानभिज्ञः एतावद् गतं एतावद् गन्तव्यम्।

३. चूर्णि, पृ० २०२ : महब्भयमिति संसार एव जाति-जरा-मरणबहुलो। तं जधा—गब्भतो गब्भं जम्मतो जम्मं मारयो मारं दुक्खतो दुक्खं, एवं भवसहस्साइं पर्यटन्ति बहून्यपि।

४. वृत्ति, पत्र २०८ : 'महाभयं' पौनः पुन्येन संसारपर्यटनया नारकादिस्वभावं दुःखम्।

५. (क) चूर्णि पृ० २०३ : ग्रामधर्माः शब्दादयः।
(ख) वृत्ति, पत्र २०९ : ग्रामधर्माः—शब्दादयो विषयाः।

६. (क) चूर्णि, पृ० २०३ : जग त्ति जायत इति जगत् तस्मिं जगति विद्यन्ते ये, जायन्त इति वा जगाः जन्तवः।
(ख) वृत्ति, पत्र २०९ : जगा इति जन्तवो जीवितार्थिनः।

श्लोक ३४ :

४७. (सव्वमेयं णिराकिच्चा......मुणी)

सूत्रकार का अभिमत है कि जब तक कषाय या अन्यदोष विद्यमान हैं तब तक निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। कषाय की विद्यमानता में संयम का सम्यक् पालन नहीं हो सकता। कहा है—

सामण्णमणुचरंतस्स, कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मण्णामि उच्छुपुप्फं व, निप्फलं तस्स सामण्णं॥

श्रामण्य का पालन करने वाले जिस पुरुष के कषाय प्रबल होते हैं, उसका श्रामण्य ईक्षु के फूल की भांति निरर्थक है, निष्फल है।[1]

श्लोक ३५ :

४८. तप में पराक्रम करने वाला (उवधाणवीरिए)

उपधान का अर्थ है— तप। तप में वीर्य—पराक्रम करने वाला 'उपधानवीर्य' कहलाता है।[2]

४९. साधु-धर्म का संधान करे (संधए साहुधम्मं)

'साधु-धर्म' के दो अर्थ है—

१. क्षान्ति, मुक्ति, आर्जव, लाघव आदि दश प्रकार का श्रमण धर्म।
२. सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र।

'संधए' का अर्थ है—इन गुणों की वृद्धि करे।

ज्ञान के विषय में—नए ज्ञान को प्राप्त कर और अधीत ज्ञान का स्मरण कर ज्ञान की वृद्धि करे, दर्शन के विषय में—निःशंकित आदि गुणों को दृढ कर दर्शन की वृद्धि करे तथा चारित्र के विषय में—मूल गुणों का अखंड पालन कर, नए-नए अभिग्रहो से चारित्र की वृद्धि करे।[3]

५०. पापधर्म का (पावधम्मं)

अज्ञान, अविरति, मिथ्यात्व आदि पापधर्म हैं।[4]

श्लोक ३६ :

५१. श्लोक ३६ :

इस श्लोक के संदर्भ में एक प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इस निर्वाण-मार्ग के प्रतिपादक केवल भगवान् महावीर ही थे या

---

१. वृत्ति पत्र २०९।

२. (क) चूर्णि, पृ० २०३ : उपधानवीर्यं नाम तपोवीर्यम्।
(ख) वृत्ति, पत्र २०९ : तपोपधानं—तपस्तत्र यथाशक्त्या वीर्यं यस्य स भवत्युपधानवीर्यः।

३. (क) चूर्णि, पृ० २०३ : दसविधो चरित्तधम्मो णाण-दंसण-चरित्ताणि वा तं अच्छिण्णसंधणाए, णाणे अपुव्वगहणं पुव्वाधीतं च गुणाति, दंसणे णिस्संकितादि, चरित्ते अखंडितमूलगुणो।
(ख) वृत्ति, पत्र २०९ : साधूनां धर्मः क्षान्त्यादिको दशविधः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यो वा। तम् 'अनुसंधयेत्'—वृद्धिमापादयेत्, तद्यथा— प्रतिक्षणमपूर्वज्ञानग्रहणेन ज्ञानं तथा शङ्कादिदोषपरिहारेण सम्यग्जीवादिपदार्थाधिगमेन च सम्यग्-दर्शनम् अस्खलितमूलोत्तरगुणसंपूर्णपालनेन प्रत्यहमपूर्वाभिग्रहग्रहणेन (च) चारित्रं (च) वृद्धिमापादयेदिति।

४. चूर्णि, पृ० २०३ : पावधम्मो—अण्णाण-अविरति-मिच्छत्ताणि।

अन्य तीर्थंकरों ने भी इसका प्रतिपादन किया था ?[1] शास्त्रकार इसका समाधान प्रस्तुत करते हैं कि जो अतीत काल में अनन्त तीर्थंकर हो चुके हैं, जो भविष्य काल में अनन्त तीर्थंकर होंगे और जो वर्तमान में संख्येय तीर्थंकर हैं—उन सबने इसी निर्वाण-मार्ग का प्रतिपादन किया था, करेंगे और कर रहे हैं। केवल प्रतिपादन ही नहीं, सबने इस मार्ग का अनुसरण किया था, करते हैं और करेंगे।

चूर्णिकार ने 'बुद्ध' का अर्थ तीर्थंकर या आचार्य किया है।[2]

चूर्णिकार ने शांति के दो अर्थ किए हैं—चारित्रमार्ग, निर्वाण।[3] वृत्तिकार ने भी दो अर्थ किए हैं—भावमार्ग, मोक्ष।[4]

५२. पृथ्वी (जगई)

इसके दो अर्थ हैं—

१. स्थावर और जंगम जीवों का आधार पृथ्वी।[5]

२. तीन लोक।[6]

श्लोक ३७ :

५३. उनसे हत-प्रहत न हो (ण तेहिं विणिहण्णेज्जा)

संयम-मार्ग में अनेक कष्ट आते हैं। मुनि उनसे त-प्रहत होने पर भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र मार्ग से च्युत न हो। क्रमशः उन परीषहों को जीतता हुआ मुनि संयमवीर्य को वृद्धिगत करे जिससे कि वे बड़े कष्ट भी छोटे हो जाएं, महान् उपसर्ग भी तुच्छ हो जाएं।[7]

एक अहीरन युवती थी। उसकी गाय ने बछड़ा दिया। उसी दिन से वह युवति उस बछड़े को उठाकर गाय के पास ले जाती और जब स्तनपान कर लेता तब उसे वापस ला खूंटे से बांध देती। यह क्रम प्रतिदिन चलता रहा। बछड़ा बढ़ता गया। युवति में उठाने की शक्ति भी बढती गई। यह क्रम चार वर्ष तक चला। बछड़ा चार वर्ष का बैल हो गया। परन्तु युवति उसको सहजतया उठाकर चल देती, क्योंकि उसका वह प्रतिदिन का अभ्यास बन गया था।

इसी प्रकार मुनि भी क्रमशः परीषहों पर विजय पाता हुआ सन्मार्ग से कभी च्युत नही होता। जीतने के अभ्यास से उसकी शक्ति क्रमशः वृद्धिगत होती रहती है। एक दिन ऐसा आता है कि बड़े से बड़े कष्ट को भी हंसते हुए झेलने में वह सफल हो जाता है।[8]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० २०४ : किमेवं वर्द्धमानस्वामी एतन्मार्गमुपदिष्टवान् उतान्येऽपि तीर्थकराः ?
(ख) वृत्ति, पत्र २०९ : अथैवंभूतं भावमार्गं किं वर्धमानस्वाम्येवोपदिष्टवान् उतान्येऽपि।

२. चूर्णि, पृ० २०४ : ते आचार्या वा।

३. चूर्णि, पृ० २०४ : शान्तिश्चारित्रमार्ग इत्यर्थः............निर्वाणं वा शान्तिः।

४. वृत्ति, पत्र २०९, २१० : शान्तिः—भावमार्गः............यदि वा शान्तिः—मोक्षः।

५. चूर्णि, पृ० २०४ : जगती नाम पृथिवी।

६. वृत्ति, पत्र २१० : जगती—त्रिलोकी।

७. चूर्णि, पृ० २०४ : ण तेहिं उदिण्णेहि वि णाण-दंसण-चरित्तसंजुत्ताओ मग्गाओ विणिहण्णेज्जा, (आणु)पुव्वीए जिणंतो संयमवीरियं उप्पादेज्जासि त्ति, जधा ते गुरुगा वि उदिण्णा लहुगा भवंति।

८. (क) चूर्णि, पृ० २०४ : दृष्टान्तः आभीरयुवतिः—जातमेत्तं वच्छगं दुण्णि वेलाए उक्खिविऊण णिक्खामेति, पीतं चैनं पुनः प्रवेशयति। तमेवं क्रमशो वर्द्धमानं अहरहर्जेयं कुर्वती जाव चउहायणं पि उक्खिवेति। एष दृष्टान्तः। अयमर्थोपनयः—एवं साधुरपि सन्मार्गात् क्रमशो जयाद् उदीर्णैरपि परीषहैर्न विहन्येत।
(ख) वृत्ति, पत्र २१० : परीषहोपसर्गजयश्चाभ्यासक्रमेण विधेयः अभ्यासवशेन हि दुष्करमपि सुकरं भवति, अत्र च दृष्टांतः, तद्यथा—कश्चिद्गोपस्तदहर्जातं तर्णकमुत्क्षिप्य गवान्तिकं नयत्यानयति च, ततोऽसावनेनैव च क्रमेण प्रत्यहं प्रवर्द्धमानमपि वत्समुत्क्षिपन्नभ्यासवशाद्द्विहायनं त्रिहायणमप्युत्क्षिपति, एवं साधुरभ्यासात् शनैः-शनैः परिषहोपसर्गजयं विधत्त इति।

श्लोक ३८ :

५४. धीर मुनि (धीरे)

इसके दो अर्थ हैं[1]—

१. बुद्धिमान् ।
२. कष्टों से न घबराने वाला ।

५५. काल की आकांक्षा (प्रतीक्षा) करे (कालमाकंखे)

मरण-काल की आकांक्षा करे अर्थात् वह यह सोचे कि जीवन पर्यन्त मुझे इस सन्मार्ग पर निरन्तर चलना है ।[2]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—मृत्यु की आकांक्षा करे—किया है ।[3]

यहां 'आकंखे' का अर्थ प्रतीक्षा करना उपयुक्त लगता है । जैन परम्परा के अनुसार यह मान्य है कि मुनि न जीवन की आकांक्षा करे और न मृत्यु की आकांक्षा करे । वह संयम का पालन करता हुआ मृत्यु की प्रतीक्षा करे ।

५६. केवली का मत है (केवलिणो मतं)

सुधर्मा ने जंबू से कहा—तुमने मुझे मार्ग का स्वरूप पूछा था । मैंने उसका प्रतिपादन अपने मन से नहीं किया है । केवली भगवान् ने जैसा उसका प्रतिपादन किया वही मैंने प्रस्तुत किया है ।[4]

---

१ वृत्ति, पत्र २१० : धीः—बुद्धिस्तया राजत इति धीरः, परीषहोपसर्गाक्षोभ्यो वा ।
२ चूर्णि: पृ० २०४ : कालं काङ्क्षतीति कालकंखी, मरणकालमित्यर्थः । कोऽर्थः ? तावदनेन सन्मार्गेण अविश्रामं गन्तव्यं यावन्मरणकालः ।
३. वृत्ति, पत्र २१० 'कालं'—मृत्युकालं यावदभिकाङ्क्षेत् ।
४. वृत्ति, पत्र २१० : जम्बूस्वामिनमुद्दिश्य सुधर्मस्वाम्याह—तदेतद्यत्त्वया मार्गस्वरूपं प्रश्नितं तन्मया न स्वमनीषिकया कथितं, किं तर्हि ?, केवलिनो मतमेतदित्येवं भवता ग्राह्यम् ।
(ख) चूर्णि, पृ० २०४ ।

बारसमं अज्झयणं

समोसरणं

बारहवां अध्ययन

समवसरण

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम है—'समवसरण'। समवसरण का अर्थ है—वाद-संगम। जहां अनेक दर्शनों या दृष्टियों का मिलन होता है, उसे समवसरण कहते हैं।[1] इस अध्ययन में क्रियावाद, अक्रियावाद, अज्ञानवाद और विनयवाद—इन चारों वादों (तीन सौ तिरेसठ अवान्तर भेदों) की कुछेक मान्यताओं की समालोचना कर, यथार्थ का निश्चय किया गया है। इसलिए इसे समवसरण अध्ययन कहा गया है।[2]

आगम सूत्रों में विभिन्न धार्मिक वादों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण मिलता है—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद। इनके अवान्तर भेद अनेक है। निर्युक्ति में अस्ति के आधार पर क्रियावाद, नास्ति के आधार पर अक्रियावाद, अज्ञान के आधार पर अज्ञानवाद और विनय के आधार पर विनयवाद का प्रतिपादन है।[3] चारों वादों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

क्रियावाद—

जो दर्शन आत्मा, लोक, गति, अनागति, जन्म-मरण, शाश्वत, अशाश्वत, आस्रव, संवर, निर्जरा को मानता है वह क्रियावादी है। इसका फलित है कि जो अस्तित्ववाद, सम्यग्वाद, पुनर्जन्मवाद और आत्मकर्तृत्ववाद में विश्वास करता है वह क्रियावादी दर्शन है।

निर्युक्तिकार ने क्रियावाद के १८० प्रवादो का उल्लेख किया है। आचार्य अकलंक ने मरीचिकुमार, उलूक, कपिल आदि को क्रियावादी दर्शन के आचार्य माना है।

अक्रियावाद—

ये चार नास्ति मानते हैं—

१. आत्मा की नास्ति

२. आत्म-कर्तृत्व की नास्ति

३. कर्म की नास्ति

४. पुनर्जन्म की नास्ति

यह एक प्रकार से नास्तिकवादी दर्शन है। स्थानांग में अक्रियावाद के आठ प्रकार बतलाए गए हैं।[4]

कपिल, रोमश, अश्वलायन आदि इस दर्शन के प्रमुख आचार्य थे।

चूर्णिकार ने सांख्य दर्शन और ईश्वरकारणिक वैशेषिक दर्शन को अक्रियावादी दर्शन माना है।[5] तथा पंचभूतवादी, चतुर्भूतवादी, स्कंधमात्रिक, शून्यवादी और लोकायतिक—इन दर्शनों को भी अक्रियावाद में गिना है।[6]

अज्ञानवाद—

इस दार्शनिकवाद का आधार है अज्ञान। इनका मानना है कि सब समस्याओं का मूल है ज्ञान, इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।[7] ज्ञान से लाभ ही क्या है? शील में उद्यम करना चाहिए। ज्ञान का सार है—शील संवर। शील और तप से स्वर्ग और मोक्ष प्राप्त होता है।

---

१. चूर्णि, पृ० २०७ : समवसरंति जेसु दरिसणाणि दिट्ठीओ वा ताणि समोसरणाणि।

२. निर्युक्ति गाथा ११३ : तेसि मताणुमतेणं, पण्णवणा वण्णिताणे इहऽज्झयणे।
सब्भावणिच्छयत्थं, समोसरणमाहु तेणं ति॥

३. निर्युक्ति गाथा १११ : अत्थि त्ति किरियवादी वयंति, णत्थि त्ति अकिरियवादी य।
अण्णाणी अण्णाणं, विणइत्ता वेणइयवादी॥

४. ठाणं ८।२२।

५. चूर्णि, पृ० २०६ : संख्या (सांख्या) वैशेषिका ईश्वरकारणादि अकिरियावादी …………।

६. वही, पृ० २०७ : …………पंचमहाभूतिया चतुब्भूतिया खंधमेत्तिया सुण्णवादिणो लोगायतिगा इच्चादि अकिरियावादिणो।

७. देखें—१।१।४१ का टिप्पण तथा प्रस्तुत अध्ययन का नं० १ का टिप्पण।

इनके ६७ भेद होते हैं। चूर्णिकार ने मृगचारिका की चर्या करनेवाले, अटवी में रहकर फल-फूल खाने वाले त्यागशून्य संन्यासियों को अज्ञानवादी माना है।[1]

साकल्प, वाष्कल, बादरायण आदि इस वाद के प्रमुख आचार्य थे।

सूत्रकृतांग के वृत्तिकार शीलांकसूरी ने अज्ञानवाद को तीन अर्थों में प्रयुक्त किया है—

१. अज्ञानी अन्यतीर्थिक—सम्यग्ज्ञानविरहिताः श्रमणाः ब्राह्मणाः। (वृत्ति पत्र ३५)

२. अज्ञानी बौद्ध—शाक्या अपि प्रायशोऽज्ञानिकाः। (वृत्ति पत्र २१७)

३. अज्ञानवाद में विश्वास करने वाला—अज्ञानं एव श्रेय इत्येवं वादिनः। (वृत्ति पत्र २१७)

विनयवाद—

विनयवाद का मूल आधार विनय है। ये मानते हैं कि विनय से ही सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। इनके बत्तीस प्रकार निर्दिष्ट हैं।

आगम साहित्य में विनय शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त है। यहां 'विनय' का अर्थ आचार होना चाहिए। जैसे ज्ञानवादी ज्ञान पर अधिक बल देते हैं, वैसे ही ये विनयवादी आचार पर अधिक बल देते हैं। एकांगी होने के कारण ये मिथ्यावाद की कोटि में परिगणित हैं।

वशिष्ठ, पाराशर आदि इस दर्शन के विशिष्ट आचार्य थे।[2]

चूर्णिकार ने तीसरे श्लोक की व्याख्या में विनयवादियों की मान्यताओं का विशद निरूपण किया है।[3]

इन चारों दार्शनिक परंपराओं की विस्तृत जानकारी के लिए प्रस्तुत अध्ययन के टिप्पण विमर्शनीय हैं।

निर्युक्तिकार ने भाव समवसरण को दो प्रकार से प्रस्तुत किया है[4]—

१. औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक तथा सान्निपातिक—इन छह भावों का समवसरण—एकत्र मेलापक।

२. क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी—इनका समवसरण—एकत्र मेलापक।

इस अध्ययन में बावीस श्लोक हैं। उनमें चारों समवसरणों का विवेचन है—

श्लोक २-४ अज्ञानवाद
५-१० अक्रियावाद
११-२२ क्रियावाद

अक्रियावादी दर्शन के संबंध में पांचवें श्लोक में द्विपाक्षिक और एकपाक्षिक कर्म का उल्लेख है। चूर्णिकार ने इसका विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। एकपाक्षिक कर्म का अभिप्राय यह है कि क्रियामात्र होती है, कर्म का चय नहीं होता। वह एक पक्ष—एक जन्म में भोग लिया जाता है। द्विपाक्षिक कर्म का अभिप्राय है कि उसमें कर्म-बंध होता है और वह इस जन्म या पर जन्म में भुगतना पड़ता है। कुछ अक्रियावादी एकपाक्षिक कर्म को मानते हैं और कुछ द्विपाक्षिक कर्म को।[5]

नौवें-दसवें श्लोक में अष्टांगनिमित्त के केवल पांच अंगों का स्पष्ट निर्देश है, शेष उनके अन्तर्भूत हैं। चूर्णिकार ने अष्टांग-निमित्त के ग्रन्थमान का भी उल्लेख किया है।

---

१. चूर्णि, पृ० २०७ : ते तु मिगचारियादयो अडवीए पुप्फफलभक्खिणो अच्चादि (अत्यागिनः) अण्णाणिया।

२. षड्दर्शनसमुच्चय, वृत्ति, पृ० २६।

३. देखें—टिप्पण—७.६।

४. निर्युक्ति गाथा ११० : भावसमोसरणं पुण, णायव्वं छव्विहम्मि भावम्मि।
अधवा किरिय अकिरिया, अण्णाणी चेव वेणइया॥

५. देखें—श्लोक ५ का टिप्पण, संख्या १२।

अष्टांग निमित्त का अध्ययन करने वाले सभी समान ज्ञानी नहीं होते। उनमें अनन्त तारतम्य होता है। यह तारतम्य अपनी-अपनी क्षमता पर आधारित है।

निमित्त जिस घटना की सूचना देता है, परिस्थिति बदल जाने पर वह घटना अन्यथा भी हो जाती है। इस दृष्टि से लोग उसे अयथार्थ मान लेते हैं।

चूर्णिकार ने अनेक उदाहरणों से इसे समझाया है।[1]

तेरहवें श्लोक में देवों का वर्गीकरण प्रचलित वर्गीकरण से भिन्न काल का प्रतीत होता है। यह श्लोक ऐतिहासिक दृष्टि से विमर्शनीय है।[2]

सूत्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन के उपसंहार में बतलाया है कि बहुत सारे दर्शन स्वयं को क्रियावादी घोषित करते हैं, किन्तु घोषणा मात्र से कोई क्रियावादी नहीं हो जाता। क्रियावादी वह होता है जो क्रियावाद के आधारभूत सिद्धान्तों को मानता है। वे ये हैं—

१. आत्मा है।
२. लोक है।
३. आगति और अनागति है।
४. शाश्वत और अशाश्वत है।
५. जन्म और मरण है।
६. उपपात और च्यवन है।
७. अधोगमन है।
८. आस्रव और संवर है
९. दुःख और निर्जरा है।[3]

---

१. देखें—टिप्पण संख्या १५, १६।
२. देखें—टिप्पण संख्या २४।
३. सूयगडो, १२।२०,२१।

बारसमं अज्झयणं : बारहवां अध्ययन

समोसरणं : समवसरण

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. चत्तारि समोसरणाणिमाणि पावादुया जाइं पुढो वयंति। किरियं अकिरियं विणयं ति तइयं अण्णाणमाहंसु चउत्थमेव॥	चत्वारि समवसरणानि इमानि, प्रावादुकाः यानि पृथग् वदन्ति। क्रियां अक्रियां विनयमिति तृतीयं, अज्ञानमाहुः चतुर्थमेव॥	१. ये[1] चार समवसरण[2] (वाद-संगम) हैं। प्रावादुक[3] (अपने-अपने मत के प्रवक्ता) भिन्न-भिन्न प्रतिपादन करते हैं—क्रिया, अक्रिया, तीसरा विनय और और चौथा अज्ञान।
२. अण्णाणिया ता कुसला वि संता असंथुया णो वितिगिच्छ तिण्णा। अकोविया आहु अकोविएहिं अणाणुवीईति मुसं वदंति॥	अज्ञानिकाः तावत् कुशला अपि सन्तः, असंस्तुताः नो विचिकित्सां तीर्णाः। अकोविदाः आहुः अकोविदेषु, अननुवीचि इति मृषा वदन्ति॥	२. अज्ञानवादी कुशल होते हुए भी सम्मत नहीं है।[4] वे संशय का[5] पार नही पा सके हैं। वे स्वयं 'कौन जानता है?' (को वेत्ति=कोविद) - इस प्रकार का संशय करते हैं और इस प्रकार संशय करने वालों (अकोविदों) में ही अपनी बात रखते हैं। वे पूर्वापर का विमर्श (दो में से एक का निश्चय) नहीं करते इसलिए वे मृषा बोलते हैं[6]—
३. सच्चं असच्चं इति चिंतयंता असाहु साहु त्ति उदाहरंता। जेमे जणा वेणइया अणेगे पुट्ठा वि भावं विणइंसु णाम॥	सत्यं असत्यं इति चिन्तयन्तः, असाधु साधु इति उदाहरन्तः। ये इमे जनाः वैनायिकाः अनेके, पृष्टा अपि भावं व्यनैषुर्नाम॥	३. (परलोक[7] आदि) सत्य है या असत्य हैं? (यह हम नही जानते)—ऐसा चिन्तन करते हुए तथा यह बुरा है, यह अच्छा है—ऐसा कहते हुए (वे मृषा बोलते है।[8]) जो ये अनेक विनयवादी जन हैं वे (बिना पूछे या) पूछने पर भी विनय को ही यथार्थ बतलाते हैं।[9]
४. अणोवसंखा इति ते उदाहु अट्ठे स ओभासइ अम्ह एवं। लवावसक्की य अणागएहिं णो किरियमाहंसु अकिरियआया॥	अनुपसंख्यया इति ते उदाहुः, अर्थ एष अवभाषते अस्माकं एवम्। लवावष्वस्की च अनागतेषु, नो क्रियामाहुः अक्रियात्मानः॥	४. वे अज्ञानवश[10] यह कहते हैं कि यही अर्थ (विनय ही वास्तविक है)—ऐसा हमें अवभाषित होता है। आत्मा भविष्य में (वर्तमान और अतीत में भी) कर्म से बद्ध नहीं होता।[11] अक्रिय-आत्मवादी क्रिया को स्वीकार नहीं करते।

५. संमिस्सभावं सगिरा गिहीते
से मुम्मुई होइ अणाणुवाई।
इमं दुपक्खं इममेगपक्खं
आहंसु छलायतणं च कम्मं ॥

सम्मिश्रभावं स्वगिरा गृहीतः,
स 'मुम्मुई' भवति अननुवादी।
इदं द्विपक्षं इदं एकपक्षं,
आहुः षडायतनं च कर्म ॥

५. (शून्यवादी बौद्ध) अस्तित्व या नास्तित्व का स्पष्ट व्याकरण नहीं करते। वे अपनी वाणी से ही निगृहीत हो जाते हैं। प्रश्न करने पर वे मौन रहते हैं—(एक या अनेक, अस्ति या नास्ति का) अनुवाद नहीं करते। वे अमुक कर्म को द्विपाक्षिक और अमुक कर्म को एक-पाक्षिक तथा उसे छह आयतनों से होने वाला मानते हैं।[१२]

६. ते एवमक्खंति अबुज्झमाणा
विरूवरूवाणिह अकिरियाता।
जमाइइत्ता बहवे मणूसा
भमंति संसारमणोवदग्गं

ते एवमाख्यान्ति अबुध्यमानाः,
विरूपरूपाणि इह अक्रियात्मानः।
यमादाय बहवो मनुष्याः,
भ्रमन्ति संसारमनवदग्रम् ॥

६. आत्मा को अक्रिय मानने वाले वे तत्त्व को नहीं जानते हुए नाना प्रकार के सिद्धांत प्रतिपादित करते हैं। उन्हें स्वीकार कर बहुत सारे मनुष्य अपार संसार में भ्रमण करते हैं।

७. णाइच्चो उदेइ ण अत्थमेइ
ण चंदिमा वड्ढति हायती वा।
सलिला ण संदंति ण वंति वाया
वंझे णितिए कसिणे हु लोए ॥

नादित्यः उदेति नास्तमेति,
न चन्द्रमाः वर्धते हीयते वा।
सलिलाः न स्यन्दन्ते न वान्ति वाताः,
वन्ध्यो नित्यः कृत्स्नो खलु लोकः ॥

७. (पकुधकात्यायन के अनुसार) सूर्य न उगता है और न अस्त होता है। चन्द्रमा न बढ़ता है और न घटता है। नदियां बहती नहीं हैं। पवन चलता नहीं है, क्योंकि यह संपूर्ण लोक वन्ध्य (शून्य) और नित्य (अनिर्मित) है।[१३]

८. जहा हि अन्धे सह जोइणा वि
रूवाणि णो पस्सइ हीणणेत्ते।
संतं पि ते एवमकिरियआता
किरियं ण पस्संति निरुद्धपण्णा ॥

यथा हि अन्धः सह ज्योतिषाऽपि,
रूपाणि नो पश्यति हीननेत्रः।
सतीमपि ते एवमक्रियात्मानः,
क्रियां न पश्यन्ति निरुद्धप्रज्ञाः ॥

८. जैसे अंधा मनुष्य नेत्रहीन होने के कारण प्रकाश के होने पर भी रूपों को नहीं देखता, इसी प्रकार अक्रिय-आत्मवादी निरुद्धप्रज्ञ[१४] (ज्ञानावरण का उदय) होने के कारण विद्यमान क्रिया को भी नहीं देखते।

९. संवच्छरं सुविणं लक्खणं च
णिमित्तदेहं च उप्पाइयं च।
अट्ठंगमेयं बहवे अहित्ता
लोगंसि जाणंति अणागताइं ॥

संवत्सरं स्वप्नं लक्षणं च,
निमित्तं देहं च औत्पातिकं च।
अष्टांगमेतद् बहवोऽधीत्य,
लोके जानन्ति अनागतानि ॥

९. अन्तरिक्ष, स्वप्न, शारीरिक लक्षण, निमित्त (शकुन आदि), देह (तिल आदि) औत्पातिक (उल्कापात, पुच्छल तारा आदि) अष्टांग निमित्त-शास्त्र को पढ़कर अनेक पुरुष इस लोक में अनागत तथ्यों को जानते हैं।[१५]

१०. केई णिमित्ता तहिया भवंति
केसिंचि ते विप्पडिएंति णाणं।
ते विज्जभावं अणहिज्जमाणा
आहंसु विज्जापलिमोक्खमेव ॥

केचिद् निमित्ताः तथ्या भवन्ति,
केषांचिद् ते विपरियन्ति ज्ञानम्।
ते विद्याभावं अनधीयमानाः,
आहुः विद्यापरिमोक्षमेव ॥

१०. कुछ निमित्त सत्य होते हैं। कुछ पुरुषों का (निमित्त) ज्ञान तथ्य के विपरीत होता है। वे (निमित्त) विद्या के भाव को नहीं पढ़ते, इसलिए (निमित्त) विद्या को छोड़ने की बात करते हैं।

११. ते एवमक्खंति समेच्च लोगं
तहा-तहा समणा माहणा य।
सयंकडं णऽण्णकडं च दुक्खं
आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं ॥

ते एवमाख्यान्ति समेत्य लोकं,
तथा तथा श्रमणान् ब्राह्मणांश्च।
स्वयं कृतं नान्यकृतं च दुःखं,
आहुः विद्याचरणं प्रमोक्षम् ॥

११. तीर्थंकर लोक का भली-भांति जानकर श्रमणों और ब्राह्मणों को यह यथार्थ बतलाते हैं—दुःख स्वयंकृत है, किसी दूसरे के द्वारा कृत नहीं है। (दुःख की) मुक्ति विद्या और आचरण के द्वारा[१७] होती है।

१२. ते चक्खु लोगस्सिह णायगा उ
मग्गाणुसासंति हियं पयाणं।
तहा तहा सासयमाहु लोए
जंसी पया माणव! संपगाढा ॥

ते चक्षुः लोकस्य इह नायकास्तु,
मार्गमनुशासति हितं प्रजानाम्।
तथा तथा शाश्वतमाहुः लोकं,
यस्मिन् प्रजाः मानव! संप्रगाढाः ॥

१२. वे तीर्थंकर लोक के चक्षु[१८] और नायक[१९] हैं। वे जनता के लिए हितकर[२०] मार्ग का अनुशासन करते हैं। उन्होंने वैसे-वैसे (आसक्ति के अनुरूप) लोक को शाश्वत कहा है।[२१] हे मानव[२२]! उसमें यह प्रजा संप्रगाढ—आसक्त[२३] है।

१३. जे रक्खसा जे जमलोइया वा
जे आसुरा गंधव्वा य काया।
आगासगामी य पुढोसिया ते
पुणो पुणो विप्परियासुवेंति ॥

ये राक्षसाः ये यमलौकिकाः वा,
ये आसुराः गन्धर्वाश्च कायाः।
आकाशगामिनश्च पृथ्व्युषिताः ते,
पुनः पुनः विपर्यासमुपयन्ति ॥

१३. जो राक्षस, यमलोक के देव, असुर और गंधर्व निकाय के हैं, जो आकाशगामी (पक्षी आदि) हैं, जो पृथ्वी के आश्रित प्राणी हैं, वे सब बार-बार विपर्यास (जन्म-मरण) को प्राप्त होते हैं।[२४]

१४. जमाहु ओहं सलिलं अपारगं
जाणाहि णं भवगहणं दुमोक्खं।
जंसी विसण्णा विसयंगणाहिं
दुहतो वि लोयं अणुसंचरंति ॥

यमाहुः ओघं सलिलं अपारगं,
जानीहि तद् भवगहनं दुर्मोक्षम्।
यस्मिन् विषण्णाः विषयाङ्गनाभिः,
द्वाभ्यामपि लोकमनुसंचरन्ति ॥

१४. जिसे अपार सलिल का प्रवाह कहा है[२५] उसे दुर्मोक्ष[२६] गहन संसार जानो, जिसमें विषय और अंगना[२७]—दोनों प्रमादों से[२८] प्रमत्त होकर[२९] लोक में अनुसंचरण करते हैं।

१५. ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमया वतीता
संतोसिणो णो पकरेंति पावं ॥

न कर्मणा कर्म क्षपयन्ति बालाः,
अकर्मणा कर्म क्षपयन्ति धीराः।
मेधाविनो लोभमदाद् व्यतीताः,
संतोषिणो नो प्रकुर्वन्ति पापम् ॥

१५. अज्ञानी मनुष्य कर्म से कर्म को क्षीण नहीं करते। धीर पुरुष अकर्म से कर्म को क्षीण करते है[३०]। मेधावी[३१], लोभ और मद से अतीत[३२], संतोषी मनुष्य पाप नहीं करता।[३३]

१६. ते तीतउप्पण्णमणागयाइं
लोगस्स जाणंति तहागताइं।
णेतारो अण्णेसि अणण्णणेया
बुद्धा हु ते अंतकडा भवंति ॥

ते अतीत-उत्पन्न-अनागतानि,
लोकस्य जानन्ति तथागतानि।
नेतारोऽन्येषां अनन्यनेयाः,
बुद्धाः खलु ते कृतान्ताः भवन्ति ॥

१६. वे (तीर्थंकर) लोक के अतीत, वर्तमान और भविष्य को यथार्थ रूप में जानते हैं।[३४] वे दूसरों के नेता हैं।[३५] वे स्वयंबुद्ध होने के कारण दूसरों के द्वारा संचालित नहीं हैं।[३७] वे (भव या कर्म का) अन्त करने वाले[३८] होते हैं।

१७. ते णेव कुव्वंति ण कारवेंति
भूताभिसंकाए दुगुंछमाणा।
सदा जता विप्पणमंति धीरा
विण्णत्ति-वीरा य भवंति एगे ॥

ते नैव कुर्वन्ति न कारयन्ति,
भूताभिशंकया जुगुप्समानाः।
सदा यताः विप्रणमन्ति धीराः,
विज्ञप्ति-वीराश्च भवन्ति एके ॥

१७. जिससे सभी जीव भय खाते हैं उस हिंसा से[३९] उद्विग्न होने के कारण[४०] वे स्वयं हिंसा नहीं करते, दूसरों से हिंसा नहीं करवाते। वे धीर पुरुष सदा संयमी[४१] और विशिष्ट पराक्रमी[४२] होते हैं, जबकि कुछ पुरुष वाग्वीर[४३] होते हैं, कर्मवीर नहीं।

१८. डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे
ते आततो पासइ सव्वलोगे।
उवेहती लोगमिणं महंतं
बुद्धप्पमत्तेसु परिव्वएज्जा॥

दहरांश्च प्राणान् वृद्धांश्च प्राणान्,
तान् आत्मतः पश्यति सर्वलोके।
उपेक्षते लोकमिमं महान्तं,
बुद्धोऽप्रमत्तेषु परिव्रजेत्॥

१८. लोक में विद्यमान छोटे[44]-वड़े[45] सभी प्राणियों को जो आत्मा के समान देखता है,[46] जो इस महान् लोक की[47] उपेक्षा करता है[48]—सबके प्रति मध्यस्थ भाव रखता है, वह बुद्ध अप्रमत्त पुरुषों में[49] परिव्रजन करे।

१९. जे आततो परतो वा वि णच्चा
अलमप्पणो होति अलं परेसिं।
तं जोइभूयं सततावसेज्जा
जे पाउकुज्जा अणुवीइ धम्मं।

यः आत्मतः परतो वापि ज्ञात्वा,
अलमात्मनो भवति अलं परेषाम्।
तं ज्योतिर्भूतं सततं आवसेत्,
यः प्रादुष्कुर्यात् अनुवीचि धर्मम्॥

१९. जो (जीव आदि पदार्थों को) स्वतः या परतः[50] जानकार, जो अपने या दूसरों के (आत्महित) में समर्थ होता है, जो प्रत्यक्ष जानकर धर्म का आविष्कार करता है, उस ज्योतिर्भूत पुरुष के पास सतत रहना चाहिए।[51]

२०. अत्ताण जो जाणइ जो य लोगं
जो आगतिं जाणइ ऽणागतिं च।
जो सासयं जाण असासयं च
जातिं मरणं च चयणोववातं॥

आत्मानं यो जानाति यश्च लोकं,
यः आगतिं जानाति अनागतिं च।
यः शाश्वतं जानाति अशाश्वतं च,
जातिं मरणं च च्यवनोपपातम्॥

२०. जो आत्मा[52] और लोक को जानता है[53], जो आगति[54] और अनागति (मोक्ष) को जानता है,[55] जो शाश्वत और अशाश्वत को जानता है, जो जन्म-मरण तथा च्यवन और उपपात को जानता है[56]—

२१. अहो वि सत्ताण विउट्टणं च
जो आसवं जाणति संवरं च।
दुक्खं च जो जाणइ णिज्जरं च
सो भासिउमरिहति किरियवादं।

अधोऽपि सत्त्वानां विवर्तनं च,
यः आस्रवं जानाति संवरं च।
दुःखं च यो जानाति निर्जरां च,
सः भाषितुमर्हति क्रियावादम्॥

२१. जो[57] अधोलोक में[58] प्राणियों के विवर्तन (जन्म-मरण) को[59] जानता है, जो आस्रव और संवर को[60] जानता है, जो दुःख[61] और निर्जरा को जानता है, वही क्रियावाद का प्रतिपादन कर सकता[62] है।

२२. सद्देसु रूवेसु असज्जमाणे
रसेसु गंधेसु अदुस्समाणे।
णो जीवियं णो मरणाभिकंखे
आयाणगुत्ते वलया विमुक्के॥

शब्देषु रूपेषु असजन्,
रसेषु गन्धेषु अद्विषन्।
नो जीवितं नो मरणं अभिकांक्षेत,
आदानगुप्तः वलयाद् विमुक्तः॥

२२. जो शब्दों, रूपों, रसों और गंधों में राग-द्वेष नहीं करता, जीवन और मरण की आकांक्षा नहीं करता,[63] इन्द्रियों का संवर करता है[64] वह वलय (संसार-चक्र) से[65] मुक्त हो जाता है।

—त्ति बेमि॥

—इति ब्रवीमि॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन १२

श्लोक १ :

१. श्लोक १ :

आगम-सूत्रों में विभिन्न धार्मिक वादों का चार श्रेणियों में वर्गीकरण किया गया है—क्रियावाद, अक्रियावाद, विनयवाद और अज्ञानवाद। प्रस्तुत सूत्र के १।६।२७ में भी इन चार वादों का उल्लेख मिलता है। निर्युक्तिकार ने अस्ति के आधार पर क्रियावाद, नास्ति के आधार पर अक्रियावाद, अज्ञान के आधार पर अज्ञानवाद और विनय के आधार पर विनयवाद का निरूपण किया है।[1]

१. क्रियावाद

क्रियावाद की विस्तृत व्याख्या दशाश्रुतस्कंध में मिलती है। उससे क्रियावाद के चार अर्थ फलित होते हैं—आस्तिकवाद, सम्यग्वाद, पुनर्जन्म और कर्मवाद।[2] प्रस्तुत सूत्र में बतलाया है कि जो आत्मा, लोक, गति, अनागति, शाश्वत, जन्म, मरण, च्यवन, उपपात को जानता है तथा जो अधोलोक के प्राणियों के विवर्तन को जानता है, आस्रव, संवर, दुःख और निर्जरा को जानता है, वह क्रियावाद का प्रतिपादन कर सकता है।[3] इससे क्रियावाद के चार अर्थ फलित होते हैं—

१. अस्तित्ववाद—आत्मा और लोक के अस्तित्व की स्वीकृति।
२. सम्यग्वाद—नित्य और अनित्य—दोनों धर्मों की स्वीकृति—स्याद्वाद, अनेकान्तवाद।
३. पुनर्जन्मवाद।
४. आत्म-कर्तृत्ववाद।

क्रियावाद में उन सभी धर्म-वादों को सम्मिलित किया गया है जो आत्मा आदि पदार्थों के अस्तित्व में विश्वास करते थे और जो आत्मा के कर्तृत्व को स्वीकार करते थे।

आचारांग सूत्र में चार वादों का उल्लेख है—आत्मवाद, लोकवाद, कर्मवाद और क्रियावाद।[4] प्रस्तुत संदर्भ में आत्मवाद, लोकवाद और कर्मवाद का स्वतंत्र निरूपण है। इस अवस्था में क्रियावाद का अर्थ केवल आत्म-कर्तृत्ववाद ही होगा।

निर्युक्तिकार ने क्रियावाद के १८० प्रवादों का उल्लेख किया है।[5] चूर्णिकार ने १८० क्रियावादों का विवरण प्रस्तुत किया है। किन्तु वह विकल्प की व्यवस्था जैसा लगता है। उससे धर्म-प्रवादों की विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती। वह विवरण इस प्रकार है—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, पुण्य, पाप, संवर, निर्जरा और मोक्ष— ये नौ तत्त्व हैं। स्वतः और परतः की अपेक्षा इन नौ तत्त्वों के अठारह भेद हुए। इन अठारह भेदों के नित्य, अनित्य की अपेक्षा से छत्तीस भेद हुए। इनमें से प्रत्येक के काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर, आत्मा आदि कारणों की अपेक्षा पांच-पांच भेद करने पर (३६x५) १८० भेद हुए। इसकी चारणा इस प्रकार है— जीव स्वरूप से काल, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा की अपेक्षा नित्य है। ये नित्य पद के पांच भेद हुए। इसी प्रकार अनित्यपद के पांच भेद हुए। ये दस भेद जीव के स्व-रूप से नित्य-अनित्य की अपेक्षा से हुए। इसी प्रकार दस भेद जीव के पर-रूप से नित्य-अनित्य की

---

१. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा १११ : अत्थि त्ति किरियावादी, वयंति णत्थि त्ति अकिरियवादी य।
अण्णाणी अण्णाणं, विणइत्ता वेणइयवादी॥

२. दशाश्रुतस्कंध, दशा ६, सूत्र ७ : किरियावादी यावि भवति, तं जहा—आहियवादी आहियपण्णे आहियदिट्ठी सम्मावादी नीयावादी संतिपरलोगवादी अत्थि इहलोगे अत्थि परलोगे·········सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति·········।

३. सूयगडो, १।१२।२०,२१।

४. आयारो, १।५ : से आयावाई, लोगावाई, कम्मावाई, किरियावाई।

५. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा ११२ : असियसयं किरियाणं, अक्किरियाणं च होति चुलसीती।
अण्णाणिय सत्तट्ठी, वेणइयाणं च बत्तीसा॥

अपेक्षा से लेते हैं। इसी प्रकार शेष तत्त्वों के भी भेद होते हैं। सबका संकलन करने पर (२०x९) १८० भेद होते हैं।[1]

चूर्णिकार ने प्रस्तुत अध्ययन के प्रथम श्लोक की व्याख्या में क्रियावादों के बारे में संक्षिप्त सी जानकारी प्रस्तुत की है। क्रियावादी जीव का अस्तित्व मानते हैं। उसका अस्तित्व मानने पर भी वे उसके स्वरूप के विषय में एकमत नहीं हैं। कुछ जीव को सर्वव्यापी मानते हैं, कुछ उसे अ-सर्वव्यापी मानते हैं। कुछ मूर्त्त मानते हैं और कुछ अमूर्त्त। कुछ उसे अंगुष्ठ जितना मानते हैं और कुछ श्यामाक तंदुल जितना। कुछ उसे हृदय में अधिष्ठित प्रदीप की शिखा जैसा मानते हैं। क्रियावादी कर्म-फल को मानते हैं।[2]

आचार्य अकलंक ने क्रियावाद के कुछ आचार्यों का नामोल्लेख किया है—मरीचिकुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गल्यायन आदि।[3]

२. अक्रियावाद

निर्युक्तिकार ने 'नास्ति' के आधार पर अक्रियावाद की व्याख्या की है।[4] नास्ति के चार फलित होते हैं—१. आत्मा का अस्वीकार, २. आत्मा के कर्तृत्व का अस्वीकार, ३. कर्म का अस्वीकार और ४. पुनर्जन्म का अस्वीकार।[5] अक्रियावादी को नास्तिकवादी, नास्तिकप्रज्ञ, नास्तिकदृष्टि कहा गया है।[6] स्थानांग सूत्र में अक्रियावादी के आठ प्रकार बतलाए गए हैं[7]—

१. एकवादी
२. अनेकवादी
३. मितवादी
४. निर्मितवादी
५. सातवादी
६. समुच्छेदवादी
७. नित्यवादी
८. नास्तिपरलोकवादी।

विशेष जानकारी के लिए देखें—स्थानांग ८।२२ का टिप्पण (ठाणं, पृष्ठ ८३१-८३३)

एकवादी के अभिमत का निरूपण प्रस्तुत सूत्र के १।१।९ में मिलता है। निर्मितवादी का निरूपण १।१।६४-६७ तथा २।१।३२ में प्राप्त है। सातवादी का निरूपण १।३।६६ में मिलता है। नास्तिपरलोकवाद का निरूपण १।१।११,१२ तथा २।१।१३ में मिलता है।

जैन मुनि के लिए एक संकल्प का विधान है जो प्रतिदिन किया जाता है—अकिरियं परियाणामि किरियं उवसंपज्जामि—मैं अक्रिया का परित्याग करता हूं और क्रिया की उपसंपदा स्वीकार करता हूं।[8]

---

१. चूर्णि, पृ० २०६ : एवं असीतं किरियावादिसतं। एएसु पदेसु णं चिंतितं—
जीव अजीवा आसव, बंधो पुण्णं तहेव पावं ति।
संवर णिज्जर मोक्खो, सब्भूतपदा णव हवंति॥
इमो सो चारणोवाओ—अत्थि जीवः स्वतो नित्यः कालतः, अत्थि जीवो सतो अणिच्चो कालतो, अत्थि जीवो परतो निच्चो कालओ, अत्थि जीवो परतो अणिच्चो कालओ एक्कं, अत्थि जीवो सतो णिच्चो णियतितो एवं णियतितो एक, स्वभावतो एक, (ईश्वरतो एक), आत्मतः एक, एते पंच चउक्का वीसं। एवं अजीवादिसु वि वीसावीसामेत्ताओ, णव वीसाओ आसीतं किरियावादिसतं १८० भवति।

२. चूर्णि, पृ० २०७ : किरियावादीणं अत्थि जीवो, अत्थित्ते सति केसिंच सव्वगतो केसिंच असव्वगतो, केसिंच मुत्तो केसिंच अमुत्तो, केसिंच अंगुट्ठप्पमाणमात्रः केसिंच श्यामाकतन्दुलमात्रः, केसिंच हिययाधिट्ठाणे पदीवसिहोवमो, किरियावादी कम्मं कम्मफलं च अत्थि त्ति भणंति।

३. तत्त्वार्थवार्तिक ८।१ भाग २ पृष्ठ ५६२।

४. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा १११ :............णत्थि त्ति अकिरियवादी य।

५. दशाश्रुतस्कंध, दशा ६, सूत्र ३ : अकिरियावादी यावि भवति—नाहियवादी नाहियपण्णे नाहियदिट्ठी, नो सम्मावादी, नो नितियावादी, न संति-परलोगवादी, णत्थि इहलोए णत्थि परलोए............णो सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला भवंति, णो दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला भवंति।

६ वही, सूत्र ६ : नाहियवादी, नाहियपण्णे, नाहियदिट्ठी।

७. ठाणं, ८।२२ : अट्ठ अकिरियावाई पण्णत्ता, तं जहा—एगावाई, अणेगावाई, मितवाई, णिम्मित्तवाई, सायवाई समुच्छेदवाई, णितावाई, णसंतपरलोगवाई।

८. आवश्यक ४ सूत्र।

निर्युक्तिकार ने अक्रियावाद के ८४ प्रवादों का उल्लेख किया है।[1]

चूर्णिकार के अनुसार उनका विवरण इस प्रकार है—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष—ये सात तत्त्व हैं। इनके स्वत: और परत:—ये दो-दो भेद हैं। इस प्रकार ७x२=१४ भेद हुए। काल, यदृच्छा, नियति, स्वभाव, ईश्वर और आत्मा—इन छह तत्त्वों के साथ गुणन करने से (१४x६) ८४ भेद हुए।[2]

आचार्य अकलंक ने अक्रियावाद के कुछ प्रमुख आचार्यों का उल्लेख किया है—कौक्वल, कांठेविद्धि, कौशिक, हरिश्मश्रुमान्, कपिल, रोमश, हारित, अश्वमुंड, अश्वलायन आदि।[3]

चूर्णिकार ने सांख्य और ईश्वर को कारण मानने वाले वैशेषिक को अक्रियावादी माना है।[4] सांख्य-दर्शन के अनुसार क्रिया का मूल प्रकृति है। पुरुष अकर्त्ता है। पुरुष के अकर्तृत्व की दृष्टि से सांख्य दर्शन को अक्रियावाद की कोटि में परिगणित किया गया है।

वैशेषिकों के अनुसार जगत् के मूल उपादान परमाणु हैं। नाना प्रकार के परमाणुओं के संयोग से भिन्न-भिन्न वस्तुएं बनती हैं। कारण के विना कार्य नहीं होता। जगत् कार्य है और उसका कर्त्ता ईश्वर है। जैसे कुंभकार मिट्टी आदि उपादानों को लेकर घड़े की रचना करता है, वैसे ही ईश्वर परमाणुओं के उपादान से सृष्टि की रचना करता है। वह जीवों को कर्मानुसार फल देता है। कर्म का फल आत्मा के अधीन नहीं है इस दृष्टि से वैशेषिक दर्शन को अक्रियावाद की कोटि में परिगणित किया है।

क्रियावाद और अक्रियावाद का चिंतन आत्मा को केन्द्र में रख कर किया गया है। आत्मा है, वह पुनर्भवगामी है। वह कर्म का कर्त्ता है, कर्म-फल का भोक्ता है और उसका निर्वाण होता है—यह क्रियावाद का पूर्ण लक्षण है। इनमें से एक अंश को भी अस्वीकार करने वाला अक्रियावादी होता है। सांख्यदर्शन में आत्मा कर्म का कर्त्ता नहीं है और वैशेषिक दर्शन में आत्मा कर्म-फल भोगने में स्वतंत्र नहीं है। इसी अपेक्षा से चूर्णिकार ने दोनों दर्शनों को अक्रियावाद की कोटि में परिगणित किया, ऐसी संभावना की जा सकती है।

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में चूर्णिकार ने पंचमहाभौतिक, चतुर्भौतिक, स्कंधमात्रिक, शून्यवादी, लोकायतिक—इन्हें अक्रियावादी बतलाया है।[5]

३. अज्ञानवाद

अज्ञानवाद का आधार अज्ञान है।[6] अज्ञानवाद में दो प्रकार की विचारधाराएं संकलित हैं। कुछ अज्ञानवादी आत्मा के होने में संदेह करते हैं और उनका मत है कि आत्मा है तो भी उसे जानने से क्या लाभ? दूसरी विचारधारा के अनुसार ज्ञान सब समस्याओं का मूल है, इसलिए अज्ञान ही श्रेयस्कर है।

विस्तृत जानकारी के लिए देखें—१।४१ का टिप्पण।

निर्युक्ति के अनुसार अज्ञानवाद के ६७ प्रकार होते हैं। उनकी गाणितिक पद्धति इस प्रकार है—जीव, अजीव आदि नौ पदार्थों को सत्, असत्, सदसत्, अवक्तव्य, सद्-अवक्तव्य, असद्-अवक्तव्य तथा सद्-असद्-अवक्तव्य—इन सात भंगो से गुणन करने पर

---

१ सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा ११२............अक्किरियाणं च होति चुलसीति।

२. चूर्णि पृ० २०६ : इदाणिं अकिरियावादी—

काल-यदृच्छा-नियति-स्वभावेश्वरा-ऽऽत्मतश्चतुरशीतिः।
नास्तिकवादिगणमतं न सन्ति .सप्त स्व-परसंस्था: ८ ण्क ॥

इमेनोपायेन—णत्थि जीवो सतो कालओ १ णत्थि जीवो परतो कालतो २ एवं यदृच्छाए वि दो २ णियतीए वि दो २ इस्सरतो वि दो २ स्वभावतो वि दो २, (आत्मतो वि दो २,) सव्वे वि वारस, जीवादिसु सत्तसु गुणिता चतुरासीति भवंति ८४।

३. तत्त्वार्थवार्तिक ८।१, भाग २ पृष्ठ ५६२ : कौक्वलकाण्ठेविद्धिकौशिकहरिश्मश्रुमान्कपिलरोमशहारिताश्वमुण्डाश्वलायनादिमत-विकल्पात् क्रिया (अक्रिया) वादाश्चतुरशीतिविधा द्रष्टव्याः।

४. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा ११२, चूर्णि, पृ० २०६ : सांङ्ख्या वैशेषिका ईश्वरकारणादि अकिरियावादी चउरासीति।

५. चूर्णि, पृ० २०७ : ते तु जधा पंचमहाभूतिया चतुब्भूतिया खंधमेत्तिया सुण्णवादिणो लोगायतिगा इच्चादि अकिरियावादिणो।

६. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा १११ :............अण्णाणी अण्णाणं।

(९x७)=६३ हुए। तथा सत् भावोत्पत्ति को कौन जानता है? उसके जानने से क्या लाभ? असत् भावोत्पत्ति को कौन जानता है? उसके जानने से क्या लाभ? ये चार भंग मिलाने पर कुल ६७ भेद होते हैं।[1]

चूर्णिकार ने मृगचारिका की चर्या करने वाले, अटवी में रहकर पुष्प और फल खाने वाले त्यागशून्य संन्यासियों को अज्ञान-वादी कहा है।[2]

आचार्य अकलंक ने अज्ञानवादियों के कुछ आचार्यों का उल्लेख किया है—साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, नारायण, काठ, माध्यन्दिनी, मौद, पैप्पलाद, वादरायण आदि।[3]

अज्ञानवाद का उल्लेख प्रस्तुत सूत्र के १।१।४१-५०; १।६।२७; १।१२।२,३; में मिलता है।

अज्ञानवाद की विचारधारा की ओर मनुष्यों का झुकाव कई कारणों से हुआ था—

१. मनुष्य जानता है। अच्छे को अच्छा जानता और बुरे को बुरा जानता है। फिर भी अच्छाई को स्वीकार और बुराई को अस्वीकार नहीं कर पाता। इस प्रकार की मनोवृत्ति ने मनुष्य के मन में एक निराशा का भाव उत्पन्न किया कि जानने से क्या लाभ? जान लेने पर भी बुराई नहीं छूटती और अच्छाई पर नहीं चला जाता फिर उस ज्ञान की क्या सार्थकता? इस प्रकार की मनोवृत्ति ने अज्ञानवाद को जन्म दिया।

२. कुछ लोग सोचते थे कि सत्य वही है जो इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध है। अतीन्द्रिय सत्य के बारे में बहुत चर्चा होती है, किन्तु उसका साक्षात् करने वाला कोई नहीं है। यदि कोई हो भी तो हमें क्या पता कि वह है या नहीं? हम केवल उसकी कही हुई बात को सुनते हैं या मानते हैं। उसने अतीन्द्रिय विषय का साक्षात् किया हो—यह भी हम नहीं जान सकते और साक्षात् न किया हो—यह भी हम नहीं जान सकते। इसलिए अतीन्द्रियज्ञान की बात व्यर्थ है। इस चिन्तनधारा के अनुसार अज्ञानवाद का अर्थ होता है—अतीन्द्रिय विषयों को जानने का अप्रयत्न। अतीन्द्रिय विषयों के बारे में उलझने में इस विचारधारा के लोग सार्थकता का अनुभव नहीं करते। वे इन्द्रियगम्य सत्य के द्वारा ही जीवन की समस्याओं को सुलझाने और दुःखों से मुक्ति पाने का प्रयत्न करते हैं।

३. कुछ लोग वर्तमान जन्म में उपलब्ध विषयों से विरत होकर अदृष्ट पुनर्जन्म की खोज करने को यथार्थ नहीं मानते थे। प्राप्त को त्याग कर अप्राप्त के प्रति दौड़ना उन्हें बुद्धिमत्ता प्रतीत नहीं होती थी। उन्होंने जीवन के अतीत और भावी—दोनों पक्षों को छोड़कर केवल वर्तमान जीवन की समीक्षा करना ही पसन्द किया। उन्होंने वर्तमान जीवन के लिए इन्द्रियज्ञान को पर्याप्त समझ कर अतीन्द्रियज्ञान की उपेक्षा की और तद् विषयक अज्ञानवाद का समर्थन किया।

जयधवला में अज्ञानवाद के पश्चात् और विनयवाद के पूर्व 'ज्ञानवाद' का उल्लेख मिलता है।[4] ज्ञानवादी ज्ञान का ही समर्थन करते थे। विनयवाद की भूमिका के रूप में इसका उल्लेख महत्त्वपूर्ण है।

४. विनयवाद—

विनयवाद का मूल आधार विनय है।[5] चूर्णिकार के अनुसार विनयवादियों का अभिमत है कि किसी भी संप्रदाय या गृहस्थ

---

१. चूर्णि, पृ० २०६ : अज्ञानिकवादिमतं नव जीवादीन् सदादिसप्तविधान्।
भावोत्पत्तिः सदसद्-द्वैता-ऽवाच्यं च को वेत्ति? ६७॥

इमे दिट्ठिविधाण—सन् जीवः को वेत्ति?·········एवमेते सत्त णवगा तिसट्ठी ६३, इमेहिं संजुत्ता सत्तसट्ठी ६७ हवंति, तं जधा—सती भावोत्पत्तिः को वेत्ति? किं वा ताए णाताए? १ असती भावोत्पत्तिः को वेत्ति? किं वा ताए णाताए? २ सदसती भावोत्पत्तिः को वेत्ति? किं वा ताए णाताए? ३ अवचनीया भावोत्पत्तिः को वेत्ति? किं वा ताए णाताए? ४। उक्ता अज्ञानिकाः।

२ चूर्णि, पृ० २०७ : ते तु मिगचारियादयो अडवीए पुप्फ-फलभक्खिणो अच्चादि अण्णाणिया।

३. तत्त्वार्थवार्त्तिक ८।१, भाग २ पृष्ठ ५६२ : साकल्यवाष्कलकुथुमिसात्यमुग्रिनारायणकाठमाध्यन्दिनीमौदपैप्पलादबादरायणस्विष्ठि-कृदैतिकायनवसुजैमिनिप्रभृतिदृष्टिभेदात् सप्तषष्टिसंख्या अज्ञानिकवादा ज्ञेयाः।

४. कसायपाहुड, भाग १, पृष्ठ १३४ : किरियावादं अकिरियावादं अण्णाणवादं णाणवादं वेणइयवादं ····· ·····।

५. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा १११············विणइत्ता वेणइयवादी।

की निन्दा नहीं करनी चाहिए। सबके प्रति विनम्र होना चाहिए।[1] विनयवादियों के बत्तीस प्रकार निर्दिष्ट हैं। देवता, राजा, यति, ज्ञाति, स्थविर, कृपण, माता, पिता—इन आठों का मन से, वचन से, काया से और दान से विनय करना (८×४=३२)।[2]

विनयवादी दर्शन के कुछ प्रमुख आचार्य ये हैं—वशिष्ठ, पाराशर, वाल्मीकि, व्यास, इलापुत्र, सत्यदत्त आदि।[3]

चूर्णिकार ने निर्युक्ति गाथा (११२) की व्याख्या में 'दाणामा' 'पाणामा' आदि प्रव्रज्याओं को विनयवादी बतलाया है और प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में आणामा, पाणामा आदि का विनयवादियों के रूप में उल्लेख किया है।[4]

भगवती सूत्र में आणामा और पाणामा प्रव्रज्या का स्वरूप निर्दिष्ट है। तामलिप्ति नाम की नगरी में तामली गाथापति रहता था। उसने 'पाणामा' प्रव्रज्या स्वीकार की। उसका स्वरूप इस प्रकार है— पाणामा प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् वह तामली जहां कहीं इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, शिव, वैश्रमण, दुर्गा, चामुण्डा आदि देवियों तथा राजा, ईश्वर (युवराज आदि), तलवर, माडंविक, कौटुम्बिक ईभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, कौआ, कुत्ता या चांडाल को देखता तो उन्हें प्रणाम करता। उन्हें ऊंचा देखता तो ऊंचे प्रणाम करता, और नीचे देखता तो नीचे प्रणाम करता।[5]

पूरण गाथापति ने 'दाणामा' प्रव्रज्या स्वीकार की। उसका स्वरूप इस प्रकार है—प्रव्रज्या के पश्चात् वह चार पुट वाला लकड़ी का पात्र लेकर 'वेभेल' सन्निवेश में भिक्षा के लिए गया। जो भोजन पात्र के पहले पुट में गिरता उसे पथिकों को दे देता। जो भोजन दूसरे पुट में गिरता उसे कौए, कुत्तों को दे देता। जो भोजन तीसरे पुट में गिरता उसे मच्छ-कच्छों को दे देता। जो चौथे पुट में गिरता वह स्वयं खा लेता। यह दाणामा प्रव्रज्या स्वीकार करने वालों का आचार है।[6]

वृत्तिकार शीलांकाचार्य ने भी विनय का अर्थ विनम्रता ही किया है। किन्तु यह अर्थ विचारणीय है। यहां विनय का अर्थ आचार होना चाहिए। ज्ञानवादी जैसे ज्ञान के द्वारा ही सिद्धि मानते थे, वैसे ही आचारवादी केवल आचार पर ही बल देते थे। उनका घोष था—'आचारः प्रथमो धर्मः'। ज्ञानवाद और आचारवाद दोनों एकांगी होने के कारण मिथ्यादृष्टि की कोटि में आते हैं। प्राचीन साहित्य में आचार के अर्थ में विनय का बहुलता से प्रयोग हुआ है। ज्ञाताधर्मकथा सूत्र में जैन धर्म को विनयमूलक धर्म बतलाया गया है। थावच्चापुत्र ने शुकदेव से कहा— मेरे धर्म का मूल विनय है।[8] यहां विनय शब्द मुनि के महाव्रत और गृहस्थ के अणुव्रत के अर्थ में व्यवहृत है। बौद्धों के विनयपिटक में विनय—आचार की व्यवस्था है। विनय शब्द के आधार पर विनम्रता और आचार—दोनों अर्थ अभिप्रेत हैं। आचार पर अधिक बल देने वाली दृष्टि का प्रतिपादन बौद्ध साहित्य में भी मिलता है। जो लोग

---

१. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा १११, चूर्णि पृ० २०६ : वेणइयवाविणो भणंति—ण कस्स वि पासंडस्स गिहत्थस्स वा णिंदा कायव्वा, सव्वस्सेव विणीयविणयेण होतव्वं।

२. सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा ११३, चूर्णि, पृ० २०७ : वैनयिकमतं—
विनयश्चेतो-वाक्-काय-दानतः कार्यः।
सुर-नृपति-यति-ज्ञातृ-स्थविरा-ऽवम-मातृ-पितृषु सदा॥

३ षड्दर्शनसमुच्चय, श्री गुणरत्नसूरी, दीपिका, पृ० २९ : वशिष्ठपराशरवाल्मीकिव्यासेलापुत्रसत्यदत्तप्रभृतयः।

४ (क) सूत्रकृतांग निर्युक्ति, गाथा ११३, चूर्णि, पृ० २०६ : वेणइयवादीणं वत्तीसा दाणामा-पाणामादिप्रव्रज्यादि।
(ख) सूयगडो, १।१२।१, चूर्णि, पृ० २०७ : वेणइया तु आणाम-पाणामादीया कुपासंडा।

५. भगवई, ३।३४ : से केणट्ठेण भंते एवं वुच्चइ—पाणामा पव्वज्जा ? गोयमा ! पाणामाए णं पव्वज्जाए पव्वइए समाणे जं जत्थ पासइ—इंदं वा खंदं वा रुद्दं वा सिवं वा वेसमणं वा अज्जं वा कोट्टकिरियं वा रायं वा ईसरं वा तलवरं वा माडंवियं वा कोडुंबियं वा इब्भं वा सेट्ठिं वा सेणावइं वा सत्थवाहं वा काकं वा साणं वा पाणं वा—उच्चं पासइ उच्चं पणामं करेइ, नीयं पासइ नीयं पणामं करेइ, जं जहा पासइ तस्स तहा पणामं करेइ। से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चइ पाणामा पव्वज्जा।

६ भगवई ३।१०२ : तए णं तस्स पूरणस्स गाहावइस्स अण्णया कयाइ ···· सयमेव चउप्पुडयं दारुमयं पडिग्गहगं गहाय मुंडे भवित्ता दाणामाए पव्वज्जाए पव्वइत्तए।

७. वृत्ति, पत्र २१३ : इदानीं ······ विनयो विधेयः।

८. नायाधम्मकहाओ, १।५।५९ : तए णं थावच्चापुत्ते······सुदंसणं एवं वयासी— सुदंसणा ! विणयमूलए धम्मे पण्णत्ते।

आचार के नियमों का पालन करने मात्र से शील-शुद्धि होती है—ऐसा मानते थे, उन्हें 'सीलब्बतपरामास' कहा गया है।[1] केवल ज्ञानवादी और केवल आचारवादी—ये दोनों धाराएं उस समय प्रचलित थीं। विनयवाद के द्वारा एकान्तिक आचारवाद की दृष्टि का निरूपण किया गया है। विनम्रतावाद आचारवाद का ही एक अंग है, इसलिए उसका भी इसमें समावेश हो जाता है। किन्तु विनयवाद का केवल विनम्रतापरक अर्थ करने से आचारवाद का उसमें समावेश नहीं हो सकता।

२. समवसरण (समोसरणाणि)

समवसरण का अर्थ है—वाद-संगम। जहां अनेक दर्शनों या दृष्टियों का मिलन होता है, उसे समवसरण कहते हैं।[2]

३. प्रावादुक (प्रावादुया)

प्रावादुक का अर्थ है—प्रवक्ता, किसी दर्शन का प्रतिपादन करने वाला।[3]

श्लोक २ :

४. सम्मत नहीं है (असंथुया)

असंस्तुत का अर्थ है—असम्मत। जिनका सिद्धान्त लौकिक परीक्षकों के द्वारा भी सम्मत न हो, जो समस्त शास्त्रों से बाहिर हो, मुक्त हो, वह सिद्धान्त या दर्शन असंस्तुत कहलाता है।[4]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—असंबद्धभाषी किया है।[5]

५. संशय का (वितिगिंच्छ)

विचिकित्सा का अर्थ है—चित्तविलुप्ति, चित्तभ्रांति, संशय।[6]

६. मृषा बोलते हैं (मुसं वदंति)

चूर्णिकार ने शाक्यों को भी प्रायः अज्ञानवादी माना है। शाक्यों की मान्यता है कि अविज्ञानोपचित कर्म नहीं होता। इसलिए जो बालक, मत्त या सुप्त हैं, उनका ज्ञान स्पष्ट नहीं होता अतः उनके कर्म-बंध नहीं होता। वे सब अज्ञानी हैं। जैसा शास्त्रों में लिखा है वैसा ही वे शाक्य उपदेश करते हैं। 'अज्ञान' से बंध नहीं होता यह मान्यता उनके शास्त्रों में निबद्ध है।[7] इस दृष्टि से वे मृषा लोलते हैं।

श्लोक ३ :

७. श्लोक ३ :

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम दो चरण अज्ञानवादी मत के और शेष दो चरण विनयवादी मत के प्रतिपादक हैं। चूर्णिकार का यह

---

१. धम्मसंगणि [ना० सं], पृ० २७७ : तत्थ कतमो सीलब्बतपरामासो ? इतो बहिद्धा समण-ब्राह्मणानं सीलेन सुद्धिवतेन सुद्धि सीलब्बतेन सुद्धी ति—या एवरूपा दिट्ठि दिट्ठिगतं······पे०······विपरियासग्गाहो—अयं वुच्चति सीलब्बत-परामासो।

२. चूर्णि, पृ० २०७ : समवसरंति जेसु दरिसणाणि दिट्ठीओ वा ताणि समोसरणाणि।

३. चूर्णि, पृ० २०७ : प्रवदन्तीति प्रावादिकाः।

४. चूर्णि, पृ० २०८ : असंथुता णाम ण लोइयपरिक्खगाणं सम्मता सव्वसत्थबाहिरा मुक्का।

५. वृत्ति, पत्र २१६ : 'असंस्तुता'—अज्ञानमेव श्रेय इत्येवंवादितया असंबद्धाः।

६ वृत्ति, पत्र २१६ : विचिकित्सा—चित्तविलुप्तिश्चित्तभ्रान्तिः संशीतिः।

७. (क) चूर्णि, पृ० २०८ : शाक्या अपि प्रायशः अज्ञानिकाः, येषामविज्ञानोपचितं कर्म नास्ति, जेसिं च बाल-मत्त-सुत्ता अकम्मबद्धगा, ते सव्व एव अण्णाणिया। सत्थधम्मता सा तेसिं जध चेव ठितेल्लगा तध चेव उवदिसंति, जधा—अण्णाणेण बंधो णत्थि, तह चेव ताणि सत्थाणि णिबद्धाणि।

(ख) वृत्ति, पत्र २१७।

अभिमत है।[1]

वृत्तिकार ने पूरे श्लोक को विनयवादी मत का प्रतिपादक माना है।[2] यह भ्रांति है।

८. (सच्चं असच्चं..............उदाहरंता)

चूर्णिकार ने इन दो चरणों का अर्थ इस प्रकार किया है[3]—

अज्ञानवादी ऐसा चिन्तन करते हैं कि सत्य भी कभी-कभी असत्य हो जाता है, इसलिए सत्य भी नहीं कहना चाहिए।

साधु को देखकर भी उसे साधु न कहा जाए। कभी वह साधु हो सकता है और कभी असाधु हो सकता है। चोर कभी चोर हो सकता है और कभी अ-चोर हो सकता है।

वेष के आधार पर स्त्री को स्त्री न कहा जाए। वह स्त्री भी हो सकती है, पुरुष भी हो सकता है। इसी प्रकार पुरुष पुरुष भी हो सकता है और स्त्री भी हो सकता है।

इस प्रकार सभी विषयों में अभिशंकित होने के कारण उनके दर्शन के लिए असम्यग्दर्शन सम्यग् और सम्यग्दर्शन असम्यग् बन जाता है।

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—वे (विनयवादी) सत्य को असत्य और असत्य को सत्य तथा असाधु को साधु मानते हैं।[4]

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने जो अर्थ किए हैं वे मूल से बहुत दूर जा पड़ते हैं। यथार्थ में अज्ञानवादी प्रत्येक विषय में अभिशंकित होते हैं। वे किसी भी तथ्य का निश्चय नहीं कर पाते। प्रस्तुत दो चरणों में यही स्पष्ट किया गया है। परलोक, स्वर्ग, नरक सत्य हैं या असत्य हैं—ऐसा पूछने पर वे कहते हैं—हम नहीं जानते। वे यह नहीं कह सकते कि यह अच्छा है यह बुरा है। (विशेष विवरण के लिए देखें १।४१ का टिप्पण)।

९. विनय को ही यथार्थ बतलाते हैं (भावं विणइंसु)

भाव का अर्थ है— यथार्थ का उपलंभ। विनयवादी विनय को ही यथार्थ मानते हैं। कोई व्यक्ति उनसे पूछता है— तुम्हारा धर्म कैसा है ? वे कहते हैं—हमारा यह विनयमूल धर्म परिगणना, परीक्षा और मीमांसा करता रहता है। हम विनय धर्म की प्ररूपणा करते हैं। हम सबको अविरोधी मानते हैं—मित्र और अरि को सम मानते हैं। हम समस्त प्रव्रजित व्यक्तियों तथा देवों को प्रणाम करते हैं। जैसे दूसरे मतावलंबी परस्पर विरोध रखते हैं, हम वैसा नहीं करते। हम प्रव्रजित होते ही, इन्द्र हो या स्कन्द, जब ऊंचे को देखते हैं तो ऊंचा प्रणाम करते हैं, नीचे को देखते हैं तो नीचा प्रणाम करते हैं। जो स्थान या ऐश्वर्य से ऊंचा है, जैसे राजा, सेठ आदि उनको देखते ही हम ऊंचा प्रणाम करते हैं और जो क्षुद्र प्राणी हैं, जैसे कुत्ता आदि, उनको नीचा प्रणाम करते हैं। हम भूमि पर शिर रख कर नमन करते हैं।[5]

श्लोक ४ :

१०. अज्ञानवश (अणोवसंखा)

इसका संस्कृत रूप है—अनुपसंख्यया।

संख्या का अर्थ है—ज्ञान, 'उप' का अर्थ है—समीप। उपसंख्या अर्थात् ज्ञान के समीप। न उपसंख्या—अनुपसंख्या अर्थात् अज्ञान।[6]

---

१. चूर्णि, पृ० २०८ : सच्चं मोसं.........वुत्ता अण्णाणिया। इदाणीं वेणइयवादी—जेमे जणा वेणइया......।
२. वृत्ति, पत्र २१८ : साम्प्रतं वैनयिकवादं निराचिकीर्षुः प्रक्रमते—'सच्चं असच्चं'।
३. चूर्णि, पृ० २०८।
४. वृत्ति, पत्र २१८।
५. चूर्णि, पृ० २०८।
६. चूर्णि, पृ० २०९ : संखा इति णाणं, संखाए समीवे उवसंखा, ण उवसंखा अणोवसंखा अज्ञानं इत्यर्थः।

वृत्तिकार ने उपसंख्या का अर्थ—वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानना—किया है। अनुपसंख्या का अर्थ है—अपरिज्ञान।[1]

११. कर्म से बद्ध नहीं होता (लवावसक्की)

लव का अर्थ है—कर्म। अवष्वस्क का अर्थ है—दूर रहना अर्थात् कर्म से दूर रहना।[2]

चूर्णिकार ने लव के दो अर्थ किए हैं—कर्म तथा काल। क्षण, लव, मुहूर्त्त, अहोरात्र, पक्ष,मास, ऋतु, अयन, संवत्सर आदि काल के अनेक भेद हैं।[3]

अक्रियावादी मानते हैं कि आत्मा अतीत, वर्तमान और भविष्य में भी कर्म से बद्ध नहीं होता।

'लव' शब्द 'लू' धातु से बना है। लव का एक अर्थ है—विनाश। कर्म विनाश का मूल कारण है, अतः 'लव' का अर्थ 'कर्म' किया गया है।

श्लोक ५ :

१२. श्लोक ५ :

चूर्णिकार के अनुसार अक्रियावादी (लोकायतिक, बौद्ध, सांख्य) दर्शन दो प्रकार के धर्म (कर्म) का प्रतिपादन करते हैं—एकपाक्षिक और द्विपाक्षिक। एकपाक्षिक कर्म का अभिप्राय यह है कि उसमें क्रियामात्र होती है, कर्म का चय नहीं होता, बंध नही होता। वह कर्म इसी भव में भोग लिया जाता है। एकपाक्षिक कर्म के चार प्रकार हैं—अविज्ञानोपचित, परिज्ञोपचित, ईर्यापथ और स्वप्नान्तिक।

द्विपाक्षिक कर्म वह होता है जिसमें चार का योग होता है—(१) सत्त्व (२) सत्त्वसंज्ञा (३) मारने का संकल्प (४) प्राण-वियोजन। इससे होने वाला कर्म-बंध द्विपाक्षिक होता है—इस जन्म में भी भुगता जाता है और परजन्म में भी भुगता जाता है। जैसे—चोर यहां चोरी करते हैं। इसी भव में उन्हें कारावास, बन्धन, वध आदि दंड भुगतने पड़ते हैं। शेष परिणाम उन्हें अगले जन्म—नरक आदि में भुगतने पड़ते हैं।[4]

एकपाक्षिक

वृत्तिकार ने अक्रियावादियों के एकपाक्षिक तथा द्विपाक्षिक कर्म को विभिन्न प्रकार से व्याख्यात किया है—

वे (अक्रियावादी) कहते हैं—हमारा दर्शन एकपाक्षिक है, उसका कोई प्रतिपक्ष नहीं है। वह एकान्तिक और पूर्वापर-अविरुद्ध है।

द्विपाक्षिक

वे अक्रियावादी कहते हैं—हमारे दर्शन से भिन्न दर्शन द्विपाक्षिक हैं, क्योंकि उनका प्रतिपक्ष प्राप्त होता है, वे अनैकान्तिक और पूर्वापरविरुद्ध वचनों के प्रतिपादक हैं।

हम द्विपाक्षिक दो दृष्टियों से हैं—

१. हम कर्म वन्ध और कर्म-निर्जरण—इन दो पक्षों को स्वीकृति देते हैं।

---

१. वृत्ति, पत्र २१८ : संख्यानं संख्या—परिच्छेदः उप—सामीप्येन संख्या उपसंख्या—सम्यग्यथावस्थितार्थपरिज्ञानं, नोपसंख्याऽनुपसंख्या तयाऽनुपसंख्यया—अपरिज्ञानेन।

२. वृत्ति, पत्र २१८ : लवं—कर्म तस्मादपशङ्कितुम्—अपसर्तुं शीलं येषां ते लवापशङ्किनः।

३. चूर्णि, पृ० २०६ : लवमिति कर्म, वयं हि लवात्—कर्मबन्धात् अवसक्कामो किट्टामो अवसराम इत्यर्थः, संववहारबंधेणावि ण बज्झामो, किं पुण णिच्छयतो ? ······अथवा अवसक्कि त्ति क्षण-लव-मुहूर्त्त-अहोरात्र-पक्ष-मास-र्त्वयन-संवत्सरादिलक्षणे काले सर्वत्र कर्मवन्धादवशक्नुमः। लवः कालः, वर्त्तमानादवसक्कामो।

४. चूर्णि पृ० २१० : ते पुण अक्किरियावादिणो दुविधं धम्मं पण्णवेंति, तं जधा—इमं दुपक्खं इमं एगपक्खं तावत् अविज्ञानोपचितं परिज्ञोपचितं ईर्यापथं स्वप्नान्तिकं च चतुर्विधं कर्म चयं न गच्छति, एतद्धि एकपाक्षिकमेव कर्म भवति, का तर्हि भावना ? क्रियामात्रमेव, न तु चयोऽस्ति, बन्धं प्रतीत्याविकल्प इत्यर्थः एगपक्खियं। दुपक्खियं तु यदि सत्त्वश्च भवति सत्त्वसंज्ञा च सञ्चित्य जीविताद् व्यपरोपणं प्राणातिपातः, एतद् इह च परत्र चानुभूयते इत्यतो दुपक्खिकं, यथा चौरादयः इह पुप्फमात्रमनुभूय शेषं नरकादिष्वनुभवन्ति।

२. हमारा एक पक्ष यह है कि चार प्रकार के कर्म—अविज्ञोपचित, परिज्ञोपचित, ईर्यापथ और स्वप्नान्तिक—इहभव वेद्य होते हैं। हमारा दूसरा पक्ष यह है कि कुछ कर्म ऐसे होते हैं जिनका वेदन इहभव और परभव दोनों में होता है।[1]

इहभव वेद्य और जन्मान्तर वेद्य कर्मों के आधार पर बौद्ध एकपाक्षिक भी है और द्विपाक्षिक भी है। उसकी मान्यता है कि क्रियाचित्त से जो कर्म किया जाता है, उससे कर्मों का चय नहीं होता, बंध नहीं होता। वह इहभव वेद्य कर्म है। कुशलचित्त और अकुशलचित्त से जो कर्म किया जाता है, उससे कर्मों का चय होता है, बंध होता है। उसका परिणाम दोनों भवों—इहभव और परभव में भुगतना पड़ता है।

विपाक या फलदान के आधार पर वे चार प्रकार के कर्म मानते हैं—

१. दिट्ठधम्मवेदनीय—इसी शरीर में भुगते जाने वाले कर्म।
२. उपपज्जवेदनीय—परभव में भुगते जाने वाले कर्म।
३. अपरापरियवेदनीय—जन्म-जन्मान्तर में भुगते जाने वाले कर्म।
४. आहोसिकम्म—अविपाकी कर्म। वह कर्म जिसका कोई फल नहीं होता।[2]

चूर्णि और वृत्तिगत व्याख्या के आधार पर एकपक्ष और द्विपक्ष वाली मान्यता मुख्यत: बौद्धों की रही है। बौद्ध ग्रंथ इसके साक्षी हैं।

षट् आयतन

कर्म के छह आयतन या आश्रवद्वार ये हैं— १. श्रोत्र आयतन २. चक्षु आयतन ३. घ्राण आयतन ४. रसन आयतन ५. स्पर्शन आयतन ६. मन: आयतन। ये छह कर्म के उपादान कारण हैं।[3]

चूर्णिकार ने केवल यही एक अर्थ किया है। वृत्तिकार ने इसका एक वैकल्पिक अर्थ भी किया है। उनके अनुसार यह छल का आयतन—स्थान है। जैसे किसी ने कहा – 'नवकम्बलो देवदत्त:।' सुननेवाला इसके दो अर्थ निकाल सकता है। 'नव' शब्द के दो अर्थ होते हैं—नया और नौ (संख्या)। यह 'छल' है।[4]

श्लोक ७ :

१३. श्लोक ७ :

प्रस्तुत श्लोक की तुलना संयुक्तनिकाय के इस अंश से होती है[5]—

'न वाता वायंति, न नज्जो संदंति, न गब्भिणियो विजायंति, न चंदिम-सूरिया उदेंति वा अपेंति वा।'

---

१. वृत्ति, पत्र २२० : अस्मदभ्युपगतं दर्शनमेक: पक्षोऽस्येति एकपक्षमप्रतिपक्षतयैकान्तिकमविरुद्धार्थाभिधायितया निष्प्रतिबाधं पूर्वापराविरुद्धमित्यर्थ:,......द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं—सप्रतिपक्षमनैकान्तिकं पूर्वापरविरुद्धार्थाभिधायितया विरोधिवचनमित्यर्थ:,......यदिवेदमस्मदीयं दर्शनं द्वौ पक्षावस्येति द्विपक्षं—कर्मबन्धनिर्जरणं प्रतिपक्षद्वयसमाश्रयणात्, तत्समाश्रयणं चेहामुत्र च वेदनां चौरपारदारिकादीनामिव, ते हि करचरणनासिकादिच्छेदादिकामिहैव पुष्पकल्पां स्वकर्मणो विडम्बनामनुभवन्ति अमुत्र च नरकादौ तत्फलभूतां वेदनां समनुभवन्तीति, एवमन्यदपि कर्मोभयवेद्यमभ्युपगम्यते, तच्चेदं 'प्राणी प्राणिज्ञान' मित्यादि पूर्ववत्, तथैकमेक: पक्षोऽस्येत्येकपक्षं इहैव जन्मनि तस्य वेद्यत्वात्, तच्चेदम्—अविज्ञोपचितं परिज्ञोपचितमीर्यापथं स्वप्नान्तिकं चेति।

२. अभिधम्मत्थसंगहो ५।१९ : ...पाकदान परियायेन-दिट्ठधम्मवेदनीयं उपपज्जवेदनीयं अपरापरियवेदनीयं अहोसिकम्मञ्चेति—
नवनीत टीका:—
दिट्ठधम्मे इमस्मिं चेव अत्तभावे वेदनीयं फलदायकं। यस्य विपाको उपपज्जित्वा वेदनीयो, तं उपपज्जवेदनीयं, समनन्तरभवतो अपरापरेसु भवेसु विपच्चमानं अपरापरियवेदनीयं, यस्स विपाको न होति, तं आहोसिकम्मं नाम।

३. चूर्णि, पृ० २१० : षडायतनमिति षड् आयतनानि यस्य तदिदं आश्रवद्वारमित्यर्थ:, तद्यथा—श्रोत्रायतनं यावन्मनआयतनम्।

४. वृत्ति, पत्र २२० : छलायतनं—छलं नवकम्बलो देवदत्त इत्यादिकम्।

५. संयुक्तनिकाय, II, पृ० ४१४।

श्लोक ८ :

१४. निरुद्धप्रज्ञ (णिरुद्धपण्णा)

ज्ञानावरण के उदय से जिनकी प्रज्ञा निरुद्ध होती है, वे निरुद्धप्रज्ञ कहलाते हैं। वे वास्तविकता को नहीं देख पाते। जो अनिरुद्धप्रज्ञ होते हैं वे प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा अथवा परोक्षज्ञान—आगम के द्वारा जीव आदि पदार्थों को यथार्थ रूप में जानते हैं। अवधि, मनःपर्यव और केवल—ये तीन ज्ञान प्रत्यक्ष और मति और श्रुत—ये दो ज्ञान परोक्ष होते हैं। प्रत्यक्षज्ञानी जीव आदि पदार्थों को करतलामलकवत् साक्षात् देखते हैं। समस्त श्रुतज्ञानी उन्हें लक्षण द्वारा जान लेते हैं तथा अष्टांगमहानिमित्त के पारगामी निमित्त के द्वारा जान लेते हैं।[1]

श्लोक ९ :

१५. श्लोक ९ :

प्रस्तुत श्लोक में अष्टांग निमित्त का निर्देश मिलता है। निमित्त के आठ अंग हैं—भौम, उत्पात, स्वप्न, अन्तरिक्ष, अंग, स्वर, लक्षण और व्यंजन। यहां संवत्सर, स्वप्न, लक्षण, देह और उत्पात—ये पांच साक्षात निर्दिष्ट हैं, शेष तीन इनके द्वारा सूचित हैं। संवत्सर, अन्तरिक्ष और ज्योतिष—ये तीनों एकार्थक हैं। यह अष्टांग निमित्त नौवें पूर्व की तीसरी आचारवस्तु से उद्धृत है। इसका अध्ययन कर भविष्य को जाना जा सकता है तथा भूत और वर्तमान को भी जाना जा सकता है। अष्टांगनिमित्तज्ञ व्यक्ति केवली की तरह तीनों काल की बात बता सकता है।[2]

चूर्णिकार ने अष्टांगनिमित्त के ग्रन्थमान का भी उल्लेख किया है। अंग को छोड़कर शेष सात विषयों का अनुष्टुभ छन्द के अनुपात से १२५० सूत्र हैं और उनकी परिभाषा गत टीका साढे बारह लाख श्लोक परिमाण की है। अंग के सूत्र का परिमाण साढे बारह हजार और वृत्ति का परिमाण साढे बारह लाख श्लोक हैं। वार्तिक अपरिमित है। इतने विशाल अष्टांगनिमित्त का अध्ययन करने पर भी सब समान ज्ञानी नहीं होते। उनमें षट्स्थानपतित (अनन्तभागहीन और अनन्तगुणअधिक) अन्तर होता है। चतुर्दशपूर्वी तथा आचारधर आदि में भी इतना ही अन्तर होता है।[3]

श्लोक १० :

१६. (केई णिमित्ता……)

अभिन्नदशपूर्वी अष्टांगनिमित्त को नौवें पूर्व में ही पढ लेते हैं। फिर वह उनके गुणित और परिणत हो जाता है। इसलिए उनका निमित्त यथार्थ होता है। प्रत्येक ज्ञान में षट्स्थानपतित अन्तर होता है। कुछ लोग विशुद्ध नैमित्तिक पुरुषों की दृष्टि से हीन

१. चूर्णि, पृ० २११ : निरुद्धा येषां प्रज्ञा ते भवन्ति निरुद्धपन्ना णाणावरणोदयेण, अथवा ते वराकाः कथं ज्ञास्यन्ति ये आगमज्ञानपरोक्षा एव ? जे पुण अनिरुद्धपन्ना ते प्रत्यक्षेण वा आगमेन परोक्षेण जीवादीन् पदार्थान् यथावज्जानन्ति। तत्रावधि-मनःपर्याय-केवलानि प्रत्यक्षम्, मति-श्रुते परोक्षम्। प्रत्यक्षज्ञानिनस्तावज्जीवादीन् पदार्थान् करतलामलकवत् पश्यन्ति, समत्तसुतणाणिणो वि लक्षणेण, अट्ठंगमहानिमित्तपारगा वि साधवो जाणंति णिमित्तेणं।

२. (क) चूर्णि, पृ० २१२ : संवत्सर-निमित्ते इमे एगट्ठिया, तं०—संवत्सरे ति वा अंतरिक्खे ति वा जोतिसे ति वा। सुमिणं सुविणज्झाया व, लक्खणं सारीरं। एतेण चेव सेसयाएं पि सूइताएं, तं जधा—भोमं १ उप्पातं २ सुमिणं ३ अंतरिक्खं ४ अंगं ५ सरं ६ लक्खणं ७ वंजणं ८, णवमस्स पुव्वस्स ततियातो आयारवत्थूतो एतं णीणितं।……जाणंति अणागताइं, अतिक्रान्तवर्त्तमानानि च केवलिवद् वाकरेति।

(ख) वृत्ति, पत्र २२२।

३. (क) चूर्णि, पृ० २१२ : अङ्गवर्जानां अनुष्टुभेन च्छन्दसा अर्द्धत्रयोदश शतानि (सूत्रम्), एवं तावदेव शतसहस्राणि परिभाषाटीका। अङ्गस्य तु अर्द्धत्रयोदश सहस्राणि सूत्रम्, तावदेव शतसहस्राणि वृत्तिः, अपरिमितं वार्तिकम्। एवं निमित्त-मप्यधीत्य न सर्वे तुल्याः, परस्परतः षट्स्थानपतिताः, चोद्दसपुव्वी वि छट्ठाणपडिता, एवं आयारधरादी वि छट्ठाणवडिआ।

(ख) वृत्ति, पत्र २२२, २२३।

ज्ञान वाले होते हैं। वे सम्यक् तत्त्व को उपलब्ध नहीं होते, परिभाषा सहित निमित्तांगों का अध्ययन करने पर भी उनका निमित्त यथार्थ नहीं होता। कुछ लोग निमित्त का अध्ययन नहीं करते अथवा सम्यक् प्रकार से नहीं करते, उस स्थिति में उनका निमित्त यथार्थ नहीं होता, तब वे कहते हैं—यह सब मिथ्या है।[1]

किसी मनुष्य को जाने की शीघ्रता थी। वह जाने लगा तब किसी को छींक आ गई। वह शंकित मन से गया। उस समय कोई दूसरा शुभ शकुन हो गया। उससे छींक प्रतिहत हो गई। उसका काम सिद्ध हो गया, तब उसने सोचा—निमित्तशास्त्र झूठा है। मैं अपशकुन में चला था, फिर भी मेरा काम सिद्ध हो गया।

कोई आदमी शुभ शकुन में चला, किन्तु अन्य अशुभ शकुन के द्वारा उसका शुभ शकुन प्रतिहत हो गया। उसका काम सिद्ध नहीं हुआ तब उसने सोचा—निमित्त शास्त्र झूठा है। मैं शुभ शकुन में चला था, फिर भी मेरा कार्य सिद्ध नहीं हुआ।

इन दोनों प्रतिघातों (शुभ के द्वारा अशुभ का और अशुभ के द्वारा शुभ का) को नहीं जानने वाला मनुष्य कहता है कि निमित्तविद्या सारहीन है, इसलिए इसका परिमोक्ष कर देना चाहिए, इसे नहीं पढना चाहिए। निमित्त कहने वाले सब मिथ्यावादी हैं।[2]

बुद्ध ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा—'अभी बारह वर्षों का दुष्काल होने वाला है, इसलिए तुम सब देशान्तर में चले जाओ।' जब वे प्रस्थान करने लगे तब उन्हें रोक दिया और कहा—'अब सुभिक्ष होने वाला है।' कारण की जिज्ञासा करने पर बुद्ध ने कहा—आज एक पुण्यवान् पुरुष पैदा हुआ है। उसके कारण सुभिक्ष होगा, दुर्भिक्ष का खतरा टल गया।'

इससे ज्ञात होता है कि निमित्त जिस घटना की सूचना देता है, परिस्थिति बदल जाने पर वह घटना अन्यथा भी हो जाती है। इसलिए उसकी गहराई को न समझने वाले उसके परिमोक्ष की बात कह देते हैं। मोक्ष के प्रति निरर्थक मान उसे छोड़ देते हैं।[3]

श्लोक ११ :

१७. विद्या और आचरण के द्वारा (विज्जाचरणं)

विद्या का अर्थ है—ज्ञान और चरण का अर्थ है—चारित्र—क्रिया।

प्रस्तुत चरण—'आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं'—में ज्ञान और क्रिया के समन्वय से मुक्ति की बात कही है।

सांख्य आदि केवल ज्ञान से मुक्ति का कथन करते हैं। वे ज्ञानवादी हैं। अज्ञानवादी केवल क्रिया (शील या आचार) से मुक्ति का कथन करते हैं। इन दोनों एकान्तिक मतों का निरास करने के लिए सूत्रकार ने 'आहंसु विज्जाचरणं पमोक्खं' का उल्लेख किया है।[4] चूर्णिकार ने इस तथ्य की पुष्टि में सिद्धसेन दिवाकर का एक श्लोक उद्धृत किया है[5]—

---

१. चूर्णि, पृ० २२२ : अभिन्नदसपुव्विणो हेट्ठेण एतं अट्ठंगं पि महाणिमित्तं अधीतुं गुणितुं वा, अधित एमेव केचित् परिणामयंति, ते पडुच्चेति णिमित्ता तधिया भवंति, केति पुण बुद्धिकैवल्याद् विशुद्धणेमित्तिकेहितो छण्हं ठाणाणं अण्णतरं ठाणं परिहीणा अविसुद्धखयोवसमा······विपर्ययज्ञानं भवति, असम्यगुपलब्धिरित्यर्थः, (? सपरिभवमप्यङ्गमित्यर्थः ?) सपरिभवमप्यङ्गमधीत्य······अधीतेन निमित्तेण दुरधीतेन वितथं दृष्ट्वा निमित्तं वदंति—णिमित्तमेव णत्थि।

२. चूर्णि, पृ० २२२ : क्वचित् क्षुते त्वरितत्वात् शङ्कित एव गतः, तस्य चान्यः शुभः शकुन उत्थितः येनास्य तत् क्षुतं प्रतिहतम्, स च तेन शकुनेनोपलक्षितः सन् मन्यते—व्यलीकमेव निमित्तम्, येनाशकुनेऽपि सिद्धिर्जाता इति। एवं शोभनमपि शकुनमन्येनाशोभनेनाप्रतिहतमनुबुध्यमानः कार्यसिद्धिनिमित्तमेव नास्तीति मन्यते अपरिणानयन्।·····त एवं वराकाश्चक्षुर्ग्राह्यमपि णिमित्तमपरिणामयन्तः आहंसु विज्जापलिमोक्खमेव, निमित्तविद्यापरिमोक्षम्, एवं हि कर्तव्यम्, नाधीतव्यानि निमित्तशास्त्राणीत्यर्थः किञ्चित् तथा किञ्चिदन्यथेति कृत्वा मा भून्मृषावादप्रसङ्गः।

३. चूर्णि, पृ० २२२ : बुद्ध किल शिष्यानाहूयोक्तवान्—द्वादश वर्षाणि दुर्भिक्षं भविष्यति तेन देशान्तराणि गच्छत, ते प्रस्थितास्तेन प्रतिषिद्धाः, सुभिक्षमिदानीं भविष्यति, कथम् ? अद्यैकः सत्त्वः पुण्यवान् जातः तत्प्राधान्यात् सुभिक्षं भविष्यतीति। अतो निमित्तं तथा चान्यथा च भवतीति कृत्वा·····मोक्षं च प्रति निरर्थकमित्यतस्तैरुत्सृष्टम्।

४. चूर्णि, पृ० २१३ : विज्जया चरणेण पमोक्खो भवति, न तु यथा संख्या ज्ञानेनैवैकेन, अज्ञानिकाश्च शीलेनैवैकेन।

५. सिद्धसेन, द्वात्रिंशिका १, कारिका २९।

क्रियां च सज्ज्ञानवियोगनिष्फलां, क्रियाविहीनां च निबोधसंपदम् ।
निरर्थका क्लेशसमूहशान्तये, त्वया शिवायाऽलिखितेव पद्धतिः ॥

—सद् ज्ञान के विना क्रिया निष्फल है और क्रियाविहीन ज्ञानसंपदा भी निष्फल है। आपने (महावीर ने) केवल ज्ञान या केवल क्रिया को क्लेश-समूह की शांति के लिए निरर्थक वता कर जगत् को कल्याणकारी मार्ग वताया है।

श्लोक १२ :

१८. चक्षु (चक्खु)

छंद की दृष्टि से यहां ह्रस्व का प्रयोग है। इसका अर्थ है कि तीर्थंकर लोक के लिए चक्षु के समान या प्रदीप के समान होते हैं।[1]

१९. नायक (णायगा)

नायक का अर्थ है—ले जाने वाला। चूर्णिकार ने इसका अर्थ—देशक और प्रकर्षक[2] तथा वृत्तिकार ने 'प्रधान' किया है। तीर्थंकर प्रधान होते हैं, क्योंकि वे सदुपदेश देते हैं।[3]

२०. हितकर (हियं)

चूर्णिकार ने हित का अर्थ सुख किया है।[4] वृत्तिकार ने हितकर उसे माना है जो सद्गति का प्रापक और अनर्थ का निवारक हो।[5]

२१. (तहा तहा सासयमाहु लोए, जंसी पया······)

लोक शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। जैसे—कषायलोक, विषयलोक, आस्रवलोक। यहां लोक के दो अर्थ किए गए हैं—आस्रवलोक और संसार। संप्रगाढ का अर्थ है आसक्ति। उस आसक्ति के कारण लोक शाश्वत होता है अर्थात् कर्म की संतति अव्यवच्छिन्न होती चली जाती है। तव तक इस आस्रव लोक या संसार-परिभ्रमण का अंत नहीं होता जव तक मार्गानुशासन के द्वारा आसक्ति का वंधन टूट नहीं जाता।[6]

२२. हे मानव ! (माणव!)

चूर्णिकार ने 'मानव' शब्द से प्राणिमात्र का ग्रहण किया है। विकल्प में उसे मनुष्य का संवोधन भी माना है।[7]

यहां मानव का संवोधन इसलिए किया गया है कि वे ही उपदेश-श्रवण के योग्य होते हैं।[8]

२३. संप्रगाढ (संपगाढा)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—संप्रसृत सम्यक्रूप से फैला हुआ। इसका अर्थ अवगाढ और विगाढ भी है।[9]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—प्रकृष्टरूप से व्यवस्थित किया है। संसार में रहने वाले प्राणी नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव—

---

१. चूर्णि, पृ० २१३ : चक्षुर्भूता लोकस्य, प्रदीपभूता इत्यर्थः।
२. चूर्णि, पृ० २१३ : देशका नायकाः पगढगाः।
३ वृत्ति, पत्र २२४ : नायकाः—प्रधानाः······सदुपदेशदानतो नायकाः।
४. चूर्णि, पृ० २१३ : हितं सुहं।
५. वृत्ति, पत्र २२४ : हितं—सद्गतिप्रापकमनर्थनिवारकं च।
६. (क) चूर्णि, पृ० २१३।
   (ख) वृत्ति, पत्र २२५।
७. चूर्णि, पृ० २१३ : सर्वे एव सत्त्वा मानवा इत्यपदिश्यन्ते, मानवानां प्रजा माणवप्रजा। अथवा माणव ! इति हे मानवाः !।
८. वृत्ति, पृ० २२५ : हे मानव !, मनुष्याणामेव प्रायश उपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणम्।
९. चूर्णि, पृ० २१३ : संप्रसृताः संप्रगाढा, ओगाढा विगाढा सम्प्रगाढा इत्यर्थः।

इन चार गतियों में भलीभांति व्यवस्थित हैं।[1]

इसका एक अर्थ आसक्त भी होता है। यहां यही अर्थ प्रस्तुत है।

श्लोक १३ :

२४. श्लोक १३ :

प्रस्तुत श्लोक में जीवों का वर्गीकरण छह कायों में किया गया है, किन्तु ये काय षट्जीवनिकाय से भिन्न हैं। इस षट्जीवनिकाय में राक्षस, यमलौकिक, आसुर और गन्धर्व – ये चार देवकाय हैं। देवों का यह वर्गीकरण भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक—इस वर्गीकरण से भिन्न-काल का है। संभावना की जा सकती है कि द्वितीय वर्गीकरण, जो कि व्यवस्थित वर्गीकरण है, से पहले यह वर्गीकरण प्रचलित हो। इस प्रकार का एक वर्गीकरण उत्तराध्ययन में भी मिलता है। उसमें देवों की छह श्रेणियां बतलाई गई हैं--देव, दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर।[2] *आकाशगामी*—इस पद में खेचर जीवों तथा *पुढोसिता*—इस पद में स्थलचर और जलचर—दोनों प्रकार के जीवों का निर्देश है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने राक्षस आदि का चार देवनिकायों में समावेश करने का प्रयत्न किया है।[3]

	चूर्णिकार	वृत्तिकार
राक्षस	व्यन्तर	व्यन्तर
यमलौकिक[4]	भवनपति	भवनपति[5]
असुर	भवनपति	भवनपति
गंधर्व	व्यन्तर	व्यन्तर

श्लोक १४ :

२५. (जमाहु ·····अपारगं)

स्वयम्भुरमण समुद्र अपार जल-राशि का भंडार है। उसका पार न जलचर जीव पा सकते हैं और न स्थलचर जीव, केवल महर्द्धिक देव ही उसका पार पा सकते हैं। इसी प्रकार इस संसार का पार भी सम्यग्दर्शन के विना नहीं पाया जा सकता।[6]

---

१. वृत्ति, पत्र २२५ : सम्यग्नारकतिर्यङ्नरामरभेदेन 'प्रगाढाः'—प्रकर्षेण व्यवस्थिता इति।

२. उत्तराध्ययन, १६/१६ : देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिन्नरा।
बम्भयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करंति तं॥

३. (क) चूर्णि, पृ० २१४ : केषाञ्चिद् भवनपत्यादिदेवाः शाश्वताः तेण रक्खसगहणम्। अथवा व्यन्तरा गृहीता राक्षसग्रहणात्। जमलोइयग्रहणाद् वैमानिकाः सूचिताः, जेणं जमदेवकाइया तिविधा नमन्नः (?) सर्वे ते जमस्स महारायस्स आणा-उववात-वयणणिद्देसे चिट्ठंति। असुरग्रहणेन भवनवासिनः सूचिताः। गान्धर्वा व्यन्तरा एव।

(ख) वृत्ति, पत्र २२५ : ये केचन व्यन्तरभेदा राक्षसात्मानः, तद्ग्रहणाच्च सर्वेऽपि व्यन्तरा गृह्यन्ते तथा यमलौकिकात्मानः, अ (म्बाम्ब) म्बर्ष्यादयस्तदुपलक्षणात् सर्वे भवनपतयः तथा ये च 'सुराः'—सौधर्मादिवैमानिकाः च शब्दाज्ज्योतिष्काः सूर्यादयः, तथा ये 'गान्धर्वाः'—विद्याधरा व्यन्तरविशेषा वा, तद्ग्रहणं च प्राधान्यख्यापनार्थम्।

४. भगवई, ३/२५६।

५. भगवई, ३/२५७-२६०।

६. (क) चूर्णि, पृ० २१४ : द्रव्यौघः स्वयम्भुरमणः, स एवौघः सलिलः, ओघसलिलेन तुल्यं ओघसलिलम्। नास्य पारं जलचराः स्थलचरा वा शक्नुवन्ति गन्तुं णऽण्णत्थ देवेण महड्डिएण इत्यतः अपारगः।

(ख) वृत्ति, पत्र २२५ : यथा स्वम्भुरमणसलिलौघो न केनचिज्जलचरेण स्थलचरेण वा लङ्घयितुं शक्यते, एवमयमपि संसारसागरः सम्यग्दर्शनमन्तरेण लङ्घयितुं न शक्यत इति।

२६. दुर्मोक्ष (दुमोक्खं)

चूर्णिकार ने दुर्मोक्ष के दो हेतु प्रस्तुत किए हैं—मिथ्यात्व और सातगौरव। आस्तिक भी इन दो कारणों से संसार का पार नहीं पा सकते तो फिर नास्तिकों का तो कहना ही क्या ?[१]

भगवान् ऋषभ के साथ चार हजार व्यक्ति प्रव्रजित हुए थे। वे कालान्तर में सुविधावादी होकर श्रामण्यपालन में असमर्थ हो गए। भूख-प्यास को सहना कठिन प्रतीत होने लगा। वे कंद-मूल को खाने लगे और सचित्त जल पीने लगे। इस प्रकार वे षट् जीव-काय के हिंसक हो गए।[२] ऐसे व्यक्तियों के लिए यह संसार दुर्मोक्ष है। वे कभी संसार का पार नहीं पा सकते।

२७. विषय और अंगना (विसयंगणाहिं)

ये दो शब्द हैं—विषय और अंगना। विषय का अर्थ है—पांच प्रकार के इन्द्रिय-विषय और अंगना का अर्थ है—स्त्री।[३]

इस शब्द-समूह का दो प्रकार से अर्थ किया गया है—विषय-प्रधान स्त्रियां अथवा विषय और स्त्रियां। चूर्णिकार का अभिमत है कि पांच विषयों में स्पर्श का विषय गरीयान् है। स्पर्श में भी स्त्री का पहला स्थान है। स्त्रियों में पांचों विषय पाए जाते हैं।[४]

२८. दोनों प्रमादों से (दुहतो)

इसका अर्थ है—दोनों प्रमादों से अर्थात् विषय और अंगना से।

चूर्णिकार ने 'दुहतो' को स्वतंत्र और लोक का विशेषण मानकर उसके अनेक अर्थ किए हैं। द्विविध प्रमाद अनेक विषयों में हो सकता है, जैसे—वेश और स्त्री विषयक प्रमाद, आरंभ और परिग्रह द्वारा प्रमाद, राग और द्वेष द्वारा प्रमाद तथा अन्न और पानी विषयक प्रमाद।

'दुहतो' को लोक का विशेषण मानने पर इसके दो अर्थ होते हैं—त्रस और स्थावरलोक अथवा इहलोक और परलोक।[५]

वृत्तिकार ने 'दुहतो' को 'लोक' का विशेषण मान कर इसके दो अर्थ किए हैं—

१. आकाश आश्रित लोक और पृथ्वी आश्रित लोक।
२. स्थावर लोक और जंगम लोक।

वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप में 'दुहतो' को स्वतंत्र मानकर इसके दो अर्थ किए हैं—

१. लिंग मात्र प्रव्रज्या और स्त्री से।
२. राग तथा द्वेष से।[६]

---

१. चूर्णि पृ० २१४ : दुर्मोक्षेति मिच्छत्त-सातगुरुत्वेन च ण तरंति अणुपालेत्तए जे वि अत्थिवादिणो, किमंग पुण नास्तिकाः ? ।

२. (क) आवश्यक चूर्णि, पूर्वभाग पृ० १६२ : जेण जणो भिक्खं ण जाणति दाउं तो जे ते चत्तारि सहस्सा ते भिक्खं अलभंता तेण माणेण घरंपि ण वच्चंति भरहस्स य भएणं पच्छा वणमतिगता तावसा जाता, कंदमूलाणि खातिउमारद्धा।
(ख) चूर्णि, पृष्ठ २१४ : जधा ताणि चत्तारि तावससहस्साणि सातागुरुवत्तणेण छक्कायवधगाइं जाताइं।

३. वृत्ति, पत्र २२५ : विषयप्रधाना अङ्गना विषयाङ्गनास्ताभिः, यदि वा विषयाश्चाङ्गनाश्च विषयाङ्गनास्ताभिः।

४. चूर्णि, पृ० २१४ : सुगरीयान् स्पर्शः तेष्वप्यङ्गनाः, तासु हि पञ्च विषया विद्यन्ते।

५. चूर्णि, पृ० २१४ : दुहतो वि त्ति द्विविधेनापि प्रमादेन लोकं अणुसंचरंति। तं जधा—लिंग-वेस-पज्जाए अविरतीए य, अथवा आरम्भ-परिग्रहाभ्यां राग-द्वेषाभ्यां वा अन्न-पानाभ्यां वा त्रस-स्थावरलोगं वा इमं लोगं परलोगं वा।

६. वृत्ति, पत्र २२६ : 'द्विधाऽपि'—आकाशाश्रितं पृथिव्याश्रितं च लोकं·········यदि वा—'द्विधाऽपि' इति लिङ्गमात्रप्रव्रज्ययाऽविरत्या (च) रागद्वेषाभ्याम्।

२९. जिसमें प्रमत्त होकर (जंसी विसण्णा)

'जंसी' का अर्थ है—जिसमें। चूर्णिकार ने इस शब्द से अनेक अर्थों की कल्पना की है। जैसे—संसार में, सावद्य धर्म में, असमाधि में, कुमार्ग में, असत् मान्यता में अथवा इन्द्रियों के पांच विषयों में।[1]

वृत्तिकार ने इसका एक ही अर्थ किया है—संसार में।[2] 'विषण्ण' का अर्थ है—प्रमत्त या आसक्त।

श्लोक १५ :

३०. (ण कम्मुणा कम्म·········खवेंति धीरा)

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग—ये पांच आश्रव हैं, कर्म के मूल स्रोत हैं। इनसे कर्म-पुद्गलों का बंध होता है, इसलिए ये कर्म-बंध के हेतु हैं। संक्षेप में इन्हें कर्म कहा जाता है। सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय और अयोग—ये पांच संवर हैं। इनसे कर्म का निरोध होता है। संक्षेप में इन्हें अकर्म कहा जाता है। अज्ञानी मनुष्य कर्म-बंध के हेतुओं में वर्तमान होता है और कर्म को क्षीण करने की बात सोचता है। इस अवस्था में सूत्रकार कहते हैं—कर्म से कर्म को क्षीण नहीं किया जा सकता। उसे अकर्म से क्षीण किया जा सकता है।

देखें—८।३ का टिप्पण।

३१. मेधावी (मेधाविणो)

मेधा का अर्थ है—वह प्रज्ञा जो हित की प्राप्ति और अहित के परिहार से युक्त हो। इस प्रकार की मेधा से व्यक्ति मेधावी कहलाता है।[3]

चूर्णिकार ने मेधावी का अर्थ मर्यादाशील किया है।[4]

३२. लोभ और मद से अतीत (लोभमया वतीता)

यहां दो शब्द हैं—लोभ से अतीत और मद से अतीत।

लोभ से अतीत अर्थात् वीतराग।[5] चार कषायों में सबसे अन्त में नष्ट होने वाला है—लोभ कषाय। दसवें गुणस्थान में जब उसका संपूर्ण नाश हो जाता है तब साधक ऊपर आरोहण करता हुआ वीतराग बन जाता है।

'मया' का संस्कृत रूप है—मदात्। हमने मय का अर्थ मद किया है।

'मय' शब्द से माया का अर्थ भी ग्रहण हो सकता है। छन्द की दृष्टि से 'मा' के स्थान में 'म' प्रयोग भी होता है।[6] चूर्णिकार ने 'माया' शब्द मान कर इसका अर्थ 'माया से अतीत' किया है।[7]

३३. संतोषी मनुष्य पाप नहीं करता (संतोसिणो णो पकरेंति पावं)

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि प्रस्तुत श्लोक के तीसरे चरण में प्रयुक्त 'लोभ····· वतीता' लोभ से अतीत और अत्र प्रयुक्त 'संतोषी'—दोनों समानार्थक है। क्या यह पुनरुक्त नहीं है? चूर्णिकार समाधान देते हुए कहते हैं कि दोनों शब्द दो अर्थ-विशेष के द्योतक हैं, अतः वे समानार्थक नहीं हैं। इसलिए पुनरुक्त भी नहीं हैं। लोभातीत का अर्थ है—लोभ से शून्य वीतराग और संतोषी का

---

१. चूर्णि, पृ० २१४ : यत्र संसारे यत्र वा सावद्ये धर्मेऽसमाधौ कुमार्गे वा असत्समवसरणेषु, पंचसु वा विसएसु।
२. वृत्ति, पत्र २२५ : यत्र—यस्मिन् संसारे।
३. वृत्ति, पत्र २२६ : मेधा—प्रज्ञा सा विद्यते येषां ते मेधाविनः—हिताहितप्राप्तिपरिहाराभिज्ञाः।
४. चूर्णि, पृ० २१४ : मेराधाविणो मेधाविणो।
५. चूर्णि, पृ० २१४,२१५ : लोभमतीताः लोभातीताः, वीतरागा इत्यर्थः।
६. दशवैकालिक ६।१।१ : मयप्पमाया।
७. चूर्णि, पृ० २१५ : एवं मायामतीता मायातीता वा।

अर्थ है—जो निग्रह करने में उत्कृष्ट हैं, वे अवीतराग होने पर भी वीतराग हैं।[१]

वृत्तिकार ने इस पुनरुक्त प्रश्न का समाधान दो प्रकार से दिया है—

१. लोभ से अतीत—इसमें लोभ का प्रतिषेधांश दिखाया है। तथा 'संतोषी' इसके द्वारा लोभ की अल्प विद्यमानता अर्थात् लोभ का विधि अंश प्रदर्शित किया गया है।

२. लोभ से अतीत—अर्थात् समस्त लोभ का अभाव। संतोषी अर्थात् वीतराग न होने पर भी उत्कट लोभ से रहित।[२]

'णो पकरेंति पावं'—संतोषी पाप नहीं करते'—इसका तात्पर्य है कि वे लोभ को प्रतनु बना देते हैं इसलिए उनके लोभ से होने वाले कर्मबंध तद्भव वेदनीय हो जाता है।[३] वे दीर्घकालीन पाप कर्म का बंध नहीं करते तथा लोभ के वशीभूत होकर पापकारी आचरण नहीं करते।

श्लोक १६ :

३४. (ते तीतउप्पण्ण······तहागताइं)

अनिरुद्ध प्रज्ञा वाले पुरुष इस प्राणिलोक के पूर्वजन्म संबंधी तथा वर्तमान और भविष्य संबंधी सुख-दुःख को यथार्थरूप में जानते हैं। प्रत्यक्षज्ञानी (केवलज्ञानी) या चतुर्दश पूर्वधर (परोक्षज्ञानी) होने के कारण उनका ज्ञान अवितथ होता है। वे विभंग अज्ञानी की तरह वितथ बात नहीं जानते, नहीं कहते।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने यहां भगवती सूत्र का पाठ उद्धृत कर स्पष्ट किया है कि मायी, मिथ्यादृष्टि,····· विभंग-ज्ञानी अनगार यथार्थ को नहीं जानता।[४] वह अयथार्थ जानता है। उसका पूरा विवरण इस प्रकार है—

मायी मिथ्यादृष्टि भावितात्मा अनगार वीर्यलब्धि, वैक्रियलब्धि, और विभंगज्ञानलब्धि से युक्त है। वह वाणारसी नगरी में अपनी शक्ति का संप्रेषण कर क्या राजगृह नगर के रूपों को जानता-देखता है? प्रश्न का उत्तर मिला—हां, जानता-देखता है। प्रतिप्रश्न हुआ—भंते! क्या वह तथाभाव को जानता-देखता हे या अन्यथाभाव को जानता-देखता है? उत्तर मिला—गौतम। यह तथा-भाव को नहीं जानता-देखता, किन्तु अन्यथाभाव को जानता-देखता है। फिर पूछा—भंते! इसका क्या कारण है? उत्तर मिला—गौतम! उसको ऐसा होता है, मैं राजगृह नगरी में अपनी शक्ति का संप्रेषण कर वाणारसी नगरी के रूपों को जानता-देखता हूं। यह उसका दर्शन-विपर्यास है। इसलिए यह कहा जाता है—वह तथाभाव को नहीं जानता-देखता, अन्यथाभाव को जानता-देखता है।[५]

---

१. चूर्णि, पृ० २१५ : स्याद् बुद्धिः—अलोभाः सन्तोषिणश्च एकार्थमिति कृत्वा तेन पुनरुक्तम्, उच्यते, अर्थविशेषान्न पुनरुक्तम्, लोभातीता इति अतिक्रान्तलोभा वीतरागाः, संतोषिण इति निग्रहपरमा अवीतरागा अपि वीतरागाः।

२. वृत्ति, पत्र २२६ : न पुनरुक्ताशङ्का विधेयेति, अतो (विधेयाऽत्र यतो) लोभातीतत्वेन प्रतिषेधांशो दर्शितः, सन्तोषिण इत्यनेन च विध्यंश इति। यदि वा लोभातीतग्रहणेन समस्तलोभाभावः संतोषिण इत्यनेन तु सत्यप्यवीतरागत्वे नोत्कटलोभा इति लोभाभावं दर्शयन्नपरकषायेभ्यो लोभस्य प्राधान्यमाह।

३. चूर्णि, पृ० २१५ : णो पकरिंति पावं संतोसिणो पयणुयं पकरेंति, तब्भववेदणिज्जमेव। अथवा यत एव लोभाईया अत एव संतोसिणः।

४. (क) चूर्णि, पृ० २१५।
(ख) वृत्ति, पत्र २२६।

५. भगवती, ३।२२२-२२४।

अणगारे णं भंते! भावियप्पा मायी मिच्छदिट्ठी वीरियलद्धीए वेउव्वियलद्धीए विभंगनाणलद्धीए वाणारसिं नगरिं समोहए, समोहणित्ता रायगिहे नगरे रूवाइं जाणइ-पासइ?

से भंते! किं तहाभावं जाणइ-पासइ? अण्णहाभावं जाणइ-पासइ? गोयमा! नो तहाभावं जाणइ-पासइ, अण्णहाभावं जाणइ-पासइ। से केणट्ठेणं भंते! एवं वुच्चइ—नो तहाभावं जाणइ-पासइ? अण्णहाभावं जाणइ-पासइ?

गोयमा! तस्स णं एवं भवइ—एवं खलु अहं रायगिहे नगरे समोहए, समोहणित्ता वाणारसीए नगरीए रूवाइं जाणामि-पासामि। 'सेस दंसण-विवच्चासे' भवइ। से तेणट्ठेण गोयमा! एवं वुच्चइ—नो तहाभावं जाणइ-पासइ, अण्णहाभावं जाणइ-पासइ।

३५. वे दूसरों के नेता हैं (णेतारो अण्णेसिं)

वे केवलज्ञानी या चतुर्दश पूर्वविद् पुरुष संसार का पार पाने वाले भव्य पुरुषों को मोक्ष की ओर ले जाते हैं या उन्हें सदुपदेश देते हैं।[1]

३६. स्वयंबुद्ध (बुद्धा)

इसके दो अर्थ हैं—स्वयंबुद्ध या बुद्धबोधित। चूर्णिकार ने गणधर आदि को बुद्धबोधित के अन्तर्गत माना है, जब कि वृत्तिकार ने गणधर को स्वयंबुद्ध माना है।[2] वास्तव में गणधर बुद्धबोधित होते हैं, स्वयंबुद्ध नहीं होते। भगवान् महावीर के ग्यारह गणधरों का इतिवृत्त इसका साक्षी है।

३७. दूसरों के द्वारा संचालित नहीं हैं (अणण्णणेया)

वे अनन्य नेता होते हैं अर्थात् उनका कोई दूसरा नेता नहीं होता, कोई उन्हें चलाने वाला नहीं होता। वे स्वयंबुद्ध होते हैं, अतः कोई दूसरा उन्हे तत्त्वबोध नहीं कराता। हित की प्राप्ति और अहित के परिहार के विषय में कोई उनको ज्ञान नहीं देता। वे स्वयं इस विवेक से परिपूर्ण होते हैं।[3]

चूर्णिकार ने इसकी पुष्टि में एक गद्यांश उद्धृत किया है—'इत्ताव ताव समणेण वा माहणेण वा धम्मे अक्खाते, णत्थेतो उत्तरीए धम्मे अक्खाते' (   ) श्रमण, माहन (महावीर) ने जिस धर्म का प्रतिपादन किया है, उससे बढ़कर कोई धर्म प्रतिपादित नहीं है।' इसलिए वे महावीर अनन्य नेता हैं—उनका कोई दूसरा नेता नहीं है।[4]

३८. अन्त करने वाले (अंतकडा)

अंतकड या अंतकर—दोनों एकार्थक हैं। 'ड' और 'र' का एकत्व माना गया है। इसका अर्थ है—भव (संसार) का अन्त करने वाले अथवा भव के उपादानभूत कर्मों का अन्त करने वाले।[5] अंतकड का दूसरा संस्कृत रूप कृत+अन्त भी होता है।

श्लोक १७ :

३९. जिससे सभी जीव भय खाते हैं उस हिंसा से (भूताभिसंकाए)

भूत का अर्थ है—त्रस-स्थावर प्राणी। वे जिससे डरते हैं, उसे भूताभिशंका—हिंसा कहा जाता है।[6]

४०. उद्विग्न होने के कारण (दुगुंछमाणा)

इसका संस्कृत रूप है—जुगुप्समानाः। 'गुपङ्-गोपनकुत्सनयोः' इस धातु से निन्दा अर्थ में 'सन्' प्रत्यय करने पर 'जुगुप्सते' रूप निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—निन्दा करना।

---

१. (क) वृत्ति, पत्र २२६ : ते चातीतानागतवर्तमानज्ञानिनः प्रत्यक्षज्ञानिनश्चतुर्दशपूर्वविदो वा परोक्षज्ञानिनः 'अन्येषां'—संसारोत्तितीर्षुणां भव्यानां मोक्षं प्रति नेतारः सदुपदेशं वा प्रत्युपवेष्टारो भवन्ति।
   (ख) चूर्णि, पृ० २१५।

२. (क) चूर्णि, पृ० २१५ : बुद्धा स्वयंबुद्धा बुद्धबोधिता वा गणधराद्याः।
   (ख) वृत्ति, पत्र २२६ : 'बुद्धाः'—स्वयंबुद्धास्तीर्थंकरगणधरादयः।

३. वृत्ति, पत्र २२६ : न च ते स्वयम्बुद्धत्वादन्येन नीयन्ते—तत्त्वावबोधं कार्यं (धवन्तः क्रिय) 'न्त इत्यनन्यनेयाः, हिताहितप्राप्तिपरिहारं प्रति नान्यस्तेषां नेता विद्यत इति भावः।

४. चूर्णि, पृ० २१५।

५. (क) चूर्णि, पृ० २१५ : अन्तं कुर्वन्तीति अन्तकराः, भवान्तं कर्मान्तं वा।
   (ख) वृत्ति, पत्र २२६ : ते च भवान्तकराः संसारोपादानभूतस्य वा कर्मणोऽन्तकरा भवन्तीति।

६. चूर्णि, पृ० २१५ : भूताणि तस-थावराणि ताणि यतोऽभिसंकंति सा भूताभिसंका भवति, हिंसेत्यर्थः।

जुगुप्सा का एक अर्थ है—घृणा। वृत्तिकार ने इस शब्द का अर्थ—पाप कर्म से घृणा करना किया है।[1]

चूर्णिकार ने इसका अर्थ सर्वथा भिन्न किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ है—हिंसा तथा हिंसा करने वालों से उद्विग्न होना।[2]

४१. सदा संयमी (सदा जता)

इसका अर्थ है—प्रव्रज्या-काल से लेकर जीवन पर्यन्त संयम का आचरण करने वाला।[3]

४२. विशिष्ट पराक्रमी (विप्पणमंति)

इसका अर्थ है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र में विविध प्रकार से पराक्रम करना,[4] उनकी वृद्धि में सतत प्रयत्नशील रहना, संयमानुष्ठान के प्रति तत्पर रहना।[5]

४३. वाग्वीर (विण्णत्ति-वीरा)

विज्ञप्ति-वीर का अर्थ है—जो वाग्वीर हैं, करण-वीर नहीं, जो केवल कहने में वीरता दिखाते हैं, किन्तु करने की वेला आने पर पीछे खिसक जाते हैं।[6]

विज्ञप्ति का अर्थ ज्ञान या विज्ञापन है। जो ज्ञान या विज्ञापन मात्र से वीर हैं, अनुष्ठान से नहीं, वे विज्ञप्ति-वीर कहलाते हैं। वैसे व्यक्ति ज्ञान मात्र से ही लक्ष्य की प्राप्ति मान लेते हैं, किन्तु ज्ञान मात्र से इष्ट अर्थ की प्राप्ति नहीं होती। कहा है—

'अधीत्य शास्त्राणि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान्।
संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, न ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम्॥

—शास्त्रों को पढ़ लेने पर भी बहुत सारे लोग मूर्ख ही रह जाते हैं। जो पुरुष शास्त्रोक्त क्रिया से युक्त होता है वह विद्वान् है। औषधि के ज्ञान मात्र से कोई भी रोगी स्वस्थ नहीं हो जाता। नीरोग होने के लिए उसे औषधि का सेवन करना ही होता हैं।[7]

श्लोक १८ :

४४. छोटे (डहरे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ कुन्थु आदि सूक्ष्म जीव अथवा सूक्ष्मकायिक जीव किया है।[8]

४५. बड़े (वुड्ढे)

बड़े शरीर वाले अथवा बादर प्राणी।[9]

४६. जो आत्मा के समान देखता है (ते आततो पासइ)

इसका अर्थ है—जो व्यक्ति इन सब प्राणियों को आत्मा के समान देखता है। जिस प्रमाण वाली मेरी आत्मा है, उसी प्रमाण-

---

१. वृत्ति, पत्र २२७ : पापं कर्म जुगुप्समानाः।
२. चूर्णि, पृ० २१५ : तां भूताभिसंकां (हिंसां) तत्कारिणश्च जुगुप्साना उद्विजमाना इत्यर्थः।
३ चूर्णि, पृ० २१५ : सदेति सर्वकालं प्रव्रज्याकालादारभ्य यावज्जीवं।
४. चूर्णि, पृ० २१५ : ज्ञानादिषु विविधं प्रणमन्ति पराक्रमन्त इत्यर्थः।
५. वृत्ति, पत्र २२७ : विविधं—संयमानुष्ठानं प्रति 'प्रणमन्ति'—प्रह्वीभवन्ति।
६. चूर्णि, पृ० २१५ : विज्ञप्तिमात्रवीरा एवैके भवन्ति, ण तु करणवीराः।
७. वृत्ति, पत्र २२७ : विज्ञप्तिः—ज्ञानं, तन्मात्रेणैव वीरा नानुष्ठानेन, न च ज्ञानादेवाभिलषितार्थावाप्तिरुपजायते, तथाहि—'अधीत्य शास्त्राणि······।
८. चूर्णि, पृ० २१५ : डहराः सूक्ष्माः कुन्थ्वादयः सुहुमकायिका वा।
९. (क) चूर्णि, पृ० २१५ : वुड्ढा महासरीरा बादरा वा।
(ख) वृत्ति, पत्र २२७ : वृद्धाः बादरशरीरिणः।

वाली आत्मा सबकी है, हाथी और कुन्थु की आत्मा भी समान प्रमाणवाली है।[1] जैसे मुझे दुःख प्रिय नहीं है, वैसे ही सभी छोटे-बड़े प्राणियों को दुःख प्रिय नहीं है—इससे भी आत्मतुल्यता प्रमाणित होती है।[2]

गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा—भंते ! पृथ्वीकायिक जीव आक्रान्त होने पर किस प्रकार की वेदना का अनुभव करते हैं ?

भगवान् ने कहा—'गौतम ! जैसे एक तरुण और शक्तिशाली मनुष्य दुर्बल और जर्जरित मनुष्य के मस्तक पर मुष्ठि से जोर का प्रहार करता है, उस समय वह कैसी वेदना का अनुभव करता है ?'

'भंते ! वह अनिष्ट वेदना का अनुभव करता है।'

'गौतम ! जैसे वह जर्जरित मनुष्य अनिष्ट वेदना का अनुभव करता है, उससे भी अनिष्टतर वेदना का अनुभव पृथ्वीकायिक जीव आहत होने पर करता है।'[3]

इसी प्रकार सभी जीव ऐसी ही घोर वेदना का अनुभव करते हैं।

आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन में पृथ्वीकायिक आदि स्थावर प्राणियों और त्रसकायिक जीवों में वेदना-बोध का स्पष्ट निदर्शन प्राप्त है। वेदना की समान अनुभूति के कारण भी उनकी आत्म-तुल्यता प्रमाणित होती है।[4]

बृहत्कल्प चूर्णिकार का यह स्पष्ट अभिमत है कि स्थावर निकाय में चेतना का विकास क्रमशः अधिक होता है—चेतना का सबसे अल्प विकास पृथ्वीकायिक जीवों में है, उनसे अधिक अप्कायिक जीवों में, उनसे अधिक तेजस्कायिक जीवों में, उनसे अधिक वायुकायिक जीवों में और उनसे अधिक वनस्पतिकायिक जीवों में। स्थावर जीवों में वनस्पति के जीवों का चैतन्य-विकास सबसे अधिक है।[5] आज का विज्ञान भी इसे मान्यता देता है। इस चैतन्य-विकास के आधार पर स्थावर जीवों का संवेदन-बोध भी स्पष्ट-स्पष्टतर होता जाता है।

४७. इस महान् लोक को (लोगमिणं महंतं)

यहां लोक को महान् कहा गया है। इसके अनेक कारण हैं[6]—

१. यह लोक सूक्ष्म और बादर छह प्रकार के जीवों से भरा पड़ा है, इसलिए महान् है।

२. यहां के सभी प्राणी आठ प्रकार के कर्मों से आकुल हैं, इसलिए महान् है।

३. यह लोक अनादि और अनन्त है, इसलिए महान् है। तथा यहां कुछ प्राणी ऐसे हैं जो किसी भी काल में सिद्ध नहीं होंगे, इसलिए महान् है।

---

१. चूर्णि, पृ० २१५, २१६ : आत्मना तुल्यं आत्मवत्, यत्प्रमाणो वा मम आत्मा एतत्प्रमाणः कुन्थोरपि हस्तिनोऽपीति।

२. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १५४ : जह मम न पियं दुक्खं जाणिय एमेव सव्वजीवाणं।
न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो॥

३. भगवई १९।३५ : पुढविकाइए णं भंते ! अक्कंते समाणे केरिसियं वेदणं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ ? गोयमा ! से जहानामए—केइ पुरिसे तरुणे बलवं…… एगं पुरिसं जुण्णं जरा-जज्जरियदेहं ……जमलपाणिणा मुद्धाणंसि अभिहणेज्जा, से णं गोयमा ! पुरिसे……केरिसियं वेदणं पच्चणुब्भवमाणे विहरति ? अणिट्ठं समणाउसो ! तस्स णं गोयमा ! पुरिसस्स वेदणाहिंतो पुढविकाइए अक्कंते समाणे एत्तो अणिट्ठतरियं……वेदणं पच्चणुब्भवमाणे विहरइ।

४. आयारो, प्रथम अध्ययन, सूत्र २८-३०, ५१-५३, ८२-८४, ११०-११२, १३७-१३९, १६१-१६३।

५. बृहत्कल्पभाष्य, गाथा ७५, चूर्णि : तं च सव्वथोवं पुढविकाइयाणं, कस्मात् ? निश्चेष्टत्वात्। ततः क्रमाद् यावद् वनस्पतिकाइयाणं विसुद्धतरं।

६. (क) चूर्णि, पृ० २१६ : महान्त इति छज्जीवकायाकुलं अष्टविधकर्माकुलं वा, बलिपिंडोवमाए महंतो लोगो, अथवा कालतो महंते अनादिनिधनः, अस्त्येके भव्या अपि ये सर्वकालेनापि न सेत्स्यन्ति। अथवा द्रव्यतः क्षेत्रतश्च लोकस्यान्तः, कालतो भावतश्च नान्तः।

(ख) वृत्ति, पत्र २२७ : षड्जीवसूक्ष्मबादरभेदैराकुलत्वान्महान्तं, यदि वाऽनाद्यनिधनत्वान्महान् लोकः, तथाहि—भव्या अपि केचन सर्वेणापि कालेन न सेत्स्यन्तीति, यद्यपि द्रव्यतः षड्द्रव्यात्मकत्वात् क्षेत्रतश्चतुर्दशरज्जुप्रमाणतया सावधिको लोकस्तथापि कालतो भावतश्चानाद्यनिधनत्वात् पर्यायाणां चानन्तत्वान्महान् लोकस्तमुत्प्रेक्षत इति।

४. द्रव्य की दृष्टि से लोक षड् द्रव्यात्मक और क्षेत्र की दृष्टि से चौदह रज्जु प्रमाण वाला होने के कारण सावधिक है। काल और भाव की दृष्टि से अन्त रहित तथा पर्यायों की दृष्टि से अनन्त होने के कारण वह महान् है।

४८. उपेक्षा करता है (उवेहती)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[1]—

१. उपेक्षा करना, सर्वत्र मध्यस्थ रहना।

२. देखना।

वृत्तिकार ने केवल एक ही अर्थ किया है—उत्प्रेक्षा करना।[2]

४९. बुद्ध अप्रमत्त पुरुषों में (बुद्धप्पमत्तेसु)

व्याकरण की दृष्टि से यहां दो पदों में संधि की गई है—बुद्धे+अप्पमत्तेसु अथवा बुद्धे+पमत्तेसु।

चूर्णिकार ने इन दो पदों का अर्थ इस प्रकार किया है[3]—

१. बुद्ध धर्म, समाधि, मार्ग और समवसरण—इन पूर्ववर्ती चार अध्ययनों (९, १०, ११, १२) में वर्णित क्रियाओं के प्रति अप्रमत्त रहता है, तथा जो षड् जीव-निकाय के प्रति संयम रखता है।

२. बुद्ध प्रमत्त अर्थात् असंयत व्यक्तियों में जागृत रहता है। इस अर्थ के संदर्भ में पाठ होगा—'बुद्धे पमत्तेसु'। उत्तराध्ययन ४।६ में 'सुत्तेसु यावि पडिबुद्धजीवी' पाठ है। वह भी इसी आशय को स्पष्ट करता है।

३. 'बुद्धे अप्पमत्ते सुट्ठु परिव्वएज्जा'—ऐसा पाठ भी माना है। इसका अर्थ है—अप्रमत बुद्ध उचित प्रकार से परिव्रजन करे।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[4]—

१. सभी प्राणियों के स्थान अशाश्वत हैं, इस दुःखमय संसार में सुख का लेश भी नहीं है—ऐसा मानने वाला तत्त्वज्ञ-पुरुष (बुद्ध) संयमी मुनियों में............। (बुद्धेऽपमत्तेसु) यहां बुद्ध का अर्थ है,— तत्वज्ञ पुरुष और अप्रमत्त का अर्थ है— संयमी मुनि।

२. बुद्ध पुरुष गृहस्थों में अप्रमत्त रहता हुआ संयमानुष्ठान में परिव्रजन करे।

श्लोक १९ :

५०. स्वतः या परतः (आततो परतो वा)

ज्ञान दो प्रकार से होता है—स्वतः अर्थात् अपने अतीन्द्रिय ज्ञान से और परतः अर्थात् दूसरों से सुनकर।

जो व्यक्ति विशिष्ट ज्ञानी होता है, सर्वज्ञ होता है वह स्वतः सब कुछ जान लेता है।

जो व्यक्ति अल्प ज्ञानी होता है अथवा जो पूर्ण ज्ञानी नहीं है वह दूसरों से ज्ञान प्राप्त करता है।

तीर्थंकर सर्वज्ञ होते हैं। वे सब स्वतः जान लेते हैं। गणधर आदि तीर्थंकरों से ज्ञान प्राप्त करते हैं।[5]

---

१. चूर्णि, पृ० २१६ : उवेहती उपेक्षते, पश्यतीत्यर्थः, उपेक्षां करोति, सर्वत्र माध्यस्थ्यमित्यर्थः।

२. वृत्ति, पत्र २२७ : ......उत्प्रेक्षते।

३. चूर्णि, पृ० २१६ : बुद्धे नाम धर्मे समाधौ मार्गे समोसरणेसु च अप्रमत्तः कायेषु जयणाए य, अथवा प्रमत्तेषु असंजतेषु परिव्वएज्जासि त्ति बेमि। अथवा बुद्धे अप्पमत्ते सुट्ठु परिव्वएज्जा।

४. वृत्ति, पत्र २२७, २२८ : एवं च लोकमुत्प्रेक्षमाणो बुद्धः—अवगततत्त्वः सर्वाणि प्राणिस्थानान्यशाश्वतानि, तथा नात्रापसदे संसारे सुखलेशोऽप्यस्तीत्येवं मन्यमानः 'अप्रमत्तेषु'—संयमानुष्ठायिषु यतिषु मध्ये तथाभूत एव परिः—समन्ताद् व्रजेत् परिव्रजेत्, यदि वा बुद्धः सन् 'प्रमत्तेषु'—गृहस्थेषु अप्रमत्तः सन् संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति।

५ (क) चूर्णि, पृ० २१६ : आत्मनः स्वयं तीर्थकरा जाणंति जीवादीन् पदार्थान् परतो गणधरादयः।

(ख) वृत्ति, पत्र २२८ : स्वयं सर्वज्ञ आत्मनस्त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्थदर्शी यथाऽवस्थितं लोकं ज्ञात्वा, तथा यश्च गणधरादिकः 'परतः'—तीर्थंकरादेर्जीवादीन् पदार्थान् विदित्वा परेभ्य उपदिशति।

५१. ज्योतिर्भूत पुरुष के पास सतत रहना चाहिए (जोइभूयं सततावसेज्जा)

'जोइभूयं' का अर्थ है—ज्योति के समान, प्रकाशतुल्य। ज्योति चार हैं—सूर्य, चन्द्रमा, मणि और प्रदीप। जैसे ये चारों प्रकाश देते हैं, प्रकाशित करते हैं, वैसे ही जो लोक और अलोक को ज्योतिर्मय करता है वह ज्योतिर्भूत होता है। तीर्थंकर, गणधर आदि ज्योतिर्भूत होते हैं।[1]

सततावसेज्जा—यहां दो पदों में संधि की गई है—सततं+आवसेज्जा। इसका अर्थ है—यावज्जीवन तक उन (तीर्थंकर, गणधर) की सेवा करे। अथवा जो व्यक्ति जिस काल में प्रकाश देने वाला हो, उसकी सेवा करे।[2]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—सतत गुरु के पास रहे, सदा गुरुकुलवास में रहे—किया है।[3]

श्लोक २० :

५२. आत्मा को जानता है (अत्ताण जो जाणइ)

जो आत्मा को जानता है अर्थात् जो आत्मज्ञ है। इसका तात्पर्य यह है कि जो आत्मा को परलोक में जाने वाला, शरीर से भिन्न और सुख-दुःख का आधार जानता है तथा जो आत्महित की प्रवृत्ति में प्रवृत्त होता है वह आत्मा को जानता है, वह आत्मज्ञ है।[4]

छंद की दृष्टि से यहां 'अत्ताणं' में अनुस्वार का लोप माना है।

५३. लोक को जानता है (लोयं)

चूर्णिकार ने लोक का अर्थ प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप लोक किया है। जैसे—दृष्ट पदार्थों में मेरी प्रवृत्ति और निवृत्ति होती है, वैसे ही सब जीवों की होती है।[5] प्रस्तुत प्रकरण में यह अर्थ बुद्धिगम्य नहीं होता। आचारांग चूर्णि में 'लोयवाई' पद के लोक शब्द का जो अर्थ किया गया है, वह संगत लगता है। जैसे 'मैं हूं वैसे अन्य जीव भी हैं।' जीव लोक के भीतर ही होते हैं। जीव और अजीव का समुदय लोक है।[6]

५४. जो आगति को जानता है (जो आगतिं जाणइ)

मनुष्य कहां से आकर उत्पन्न होते हैं ? कौन से कौन से कर्मों से कहां-कहां उत्पन्न होते है ? मैं कहां से आया हूं ?, मैं कहां जाऊंगा ? इन सबको जानना आगति को जानना है।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० २१६ : ज्योतयतीति ज्योतिः आदित्यश्चन्द्रमाः मणिः प्रदीपो वा, यथा प्रदीपो ज्योतयति एवमसौ लोका-ऽलोकं ज्योतयतीति ज्योतिस्तुल्य इत्यर्थ ·····तित्थगरं गणधरे वा (यो) यस्मिन् काले ज्योतिर्भूतः।

२ चूर्णि, पृ० २१६ : सततं आवसेज्जासि त्ति जावज्जीवाए सेवेज्जा तित्थगरं गणधरे वा (यो) यस्मिम् काले ज्योतिर्भूतः।

३ वृत्ति, पत्र २२८ : 'सततम्'—अनवरतम् 'आवसेत्'—सेवेत, गुर्वन्तिक एव यावज्जीवं वसेत्।

४ (क) वृत्ति, पत्र २२८ : यो ह्यात्मानं परलोकयायिनं शरीराद् व्यतिरिक्तं सुखदुःखाधारं जानाति यश्चात्महितेषु प्रवर्तते स आत्मज्ञो भवति।

(ख) चूर्णि, पृ० २१६ : आत्मानं यो वेत्ति यथा 'अहमस्ति' इति संसारी च। अथवा स आत्मज्ञानी भवति य आत्महितेष्वपि प्रवर्त्तते। अथवा त्रैलोक्य (त्रैकाल्य) कार्यपदेशादात्मा प्रत्यक्ष इति कृत्वानित्यादि।

५. चूर्णि, पृ० २१६ : येनाऽऽत्मा (ज्ञातो) भवति तेन प्रवृत्ति-निवृत्तिरूपो लोको ज्ञात एव भवति आत्मौपम्येन, यथा—ममेष्टानि, दृष्टेष्वर्थेषु प्रवृत्ति-निवृत्ति भवतः यथाऽऽस्तीति।

६. आचारांग चूर्णि, पृ० १४ : लोगवादी णाम जह चेव अहं अत्थि एवं अन्नेऽवि देहिणो संति, लोगअब्भंतरे एव जीवा, जीवाजीवा लोगसमुदयो इति भणितो लोगवादी।

७. (क) चूर्णि, पृ० २१६ : कुतो मनुष्या आगच्छन्ति ?······कैर्वा कर्मभिः कुत्र वा गच्छन्ति ?, न विद्मः—कुतोऽहमागतः गमिष्यामि वा ?।

(ख) वृत्ति, पत्र २२८ : यश्च जीवानाम् 'आगतिम्'—आगमनं कुतः समागता नारकास्तिर्यञ्चो मनुष्या देवाः? कैर्वा कर्मभिर्नारकादित्वेनोत्पद्यन्ते ?, एवं यो जानाति।

५५. अनागति (मोक्ष) को जानता है (अणागतिं)

अनागति का अर्थ है—सिद्धि, मुक्ति। समस्त कर्म-क्षय को भी सिद्धि या मुक्ति कहा जाता है और लोकाग्र भाग में संस्थित सिद्धशिला को भी सिद्धि या मुक्ति कहा जाता है। वहां जाने के बाद पुनः आगमन नहीं होता, अतः वह अनागति है। वह सादि और अनन्त है।[1]

५६. (जातिं मरणं च चयणोववातं)

संसारवर्ती प्रत्येक प्राणी का जन्म और मरण होता है। जैन दर्शन में इस स्थिति का अवबोध कराने के लिए पांच शब्द व्यवहृत होते हैं—जन्म, मरण, उपपात, च्यवन और उद्वर्तन। वे भिन्न-भिन्न गति के जीवों के जन्म-मरण के द्योतक हैं—

जन्म-मरण—औदारिक शरीर वाले मनुष्य और तिर्यञ्चों के लिए।

उपपात (जन्म)—नारक और देवों के लिए।

च्यवन (मरण)—ज्योतिष और वैमानिक देवों के लिए।

उद्वर्तन (मरण)—भवनपति और व्यंतर देवों तथा नारक जीवों के लिए।

प्रस्तुत चरण के 'चयणोवपातं' में च्यवन का उल्लेख पहले और उपपात का उल्लेख बाद में हुआ है। छन्द की दृष्टि से ऐसा करना पड़ा है। अन्यथा उपपात (उत्पत्ति, जन्म) का कथन पहले और च्यवन (मरण) का कथन बाद में होना चाहिए था।[2]

श्लोक २०-२१ :

५७. श्लोक २०-२१ :

प्राचीन काल में क्रियावाद और अक्रियावाद—ये दो मुख्य समवसरण थे। वर्तमान में जैसे—आस्तिक और नास्तिक—ये शब्द बहु प्रचलित हैं वैसे ही उस समय क्रियावाद और अक्रियावाद बहुप्रचलित थे। सूत्रकार ने प्रस्तुत अध्ययन के उपसंहार में यह बतलाया है कि बहुत सारे दर्शन स्वयं को क्रियावादी घोषित करते हैं, किन्तु केवल घोषणा करने से कोई क्रियावादी नहीं हो सकता। क्रियावादी वही हो सकता है जो क्रियावाद के आधारभूत सिद्धान्तों को जानता है। वे ये हैं—

१. आत्मा
२. लोक
३. आगति और अनागति
४. शाश्वत और अशाश्वत
५. जाति और मरण
६. उपपात और च्यवन
७. अधोगमन
८. आश्रव और संवर
९. दुःख और निर्जरा।

कुछ दार्शनिक दुःख और दुःख हेतु (आश्रव), मोक्ष (संवर), मोक्षहेतु (निर्जरा) को जानते हैं, पर शाश्वत को नहीं जानते। कुछ शाश्वत को जानते हैं, पर अशाश्वत को नहीं जानते। कुछ आगति को जानते हैं, पर अनागत को नहीं जानते। कुछ जन्म और मरण को जानते हैं, पर उपपात और च्यवन को नहीं जानते। इस स्थिति में वे सही अर्थ में क्रियावाद के प्रवक्ता नहीं हो सकते। आचारांग में आत्मवाद, लोकवाद, क्रियावाद और कर्मवाद—ये चार सिद्धांत मिलते हैं। प्रस्तुत दो श्लोकों में उनका विस्तार है। यहां प्रतिपादित सिद्धान्तों का विस्तार इसी सूत्र के पांचवें अध्ययन (श्लोक १२ से २८) में मिलता है। भगवान् महावीर क्रियावादी थे। उनकी वाणी में ये सिद्धान्त मुख्य रूप से चर्चित हुए हैं। उदाहरण स्वरूप कुछ स्थलों का निर्देश किया जा रहा है—

१. आत्मवाद—अंगसुत्ताणि भाग १, आयारो १।१-४; ५।१०४-१०६,१२३-१४०। अंगसुत्ताणि भाग २, भगवई १।१६७-१६६; २।१३६,१३७; ६।१७४-१८२; १२।१३०, १३२।

---

१. वृत्ति, पत्र २२८ : तत्रानागतिः—सिद्धिरशेषकर्मच्युतिरूपा लोकाग्राकाशदेशस्थानरूपा वा ग्राह्या, सा च सादिरपर्यवसाना।

२. चूर्णि, पृ० २१६ : जातिं मरणं च जानीते, औदारिकानां सत्त्वानां जातिः, एत्थ जोणीसंगहो भाणितव्वो णवविधो वि।········ ओरालियाणं चेव मरणम्। बन्धानुलोम्यात् चयणोपवादं, इतरथा तु पूर्वं उपपातो वक्तव्यः, स तु नारक-देवानाम्, चयणं तु जोतिसिय-वेमाणियाणं, उव्वट्टणा भवणवासियाणं वंतराणं नेरइयाणं च।

२. लोकवाद—अंगसुत्ताणि भाग १, आयारो १।५। अंगसुत्ताणि, भाग २ भगवई २।४५, १३८-१४०; ७।३; ९।१२२, २३१-२३३; ११।९०-११४; १३।४७-५०, ५५-६०, ८८-९२; १६।११०-११५; २०।१०-१३; २५।२१-२३;

३. आगति—अंगसुत्ताणि भाग २, भगवई ११।३०-४०; २१।७; २४।२७-३३, ३८, ४०, ४४, ४७, ५०, ५३, ६२, ६४, ६५, ६७, ६९, ७१, ७३, ७५, ७७, ७९, ८१, ८४, ८६, ८८, ९० आदि-आदि।

४. अनागति (मोक्ष)—भगवई १।२००-२१०; ३।१४६-१४८; ६।३२।

५. शाश्वत-अशाश्वत—अंगसुत्ताणि भाग २, भगवई ९।२३३; ७।५८-६०, ९३-९५; १९५; ९।१७६, २३१, २३३; १४।४९,५०।

६ जन्म-मरण—भगवई ६।८७, ८८, १०४; ११।४०, ४२, ५६; १२।१३०-१५३; १९।६५;

७. उपपात-च्यवन— भगवई १।११३, ४४६, ४४७; २।११७; ८।३४१-३४३; ११।२; १२।१५४, १६९-१७७; ठाणं २।२५२।

८. अधोगमन—भगवई १।३८४।

९. आस्रव—भगवई १।३१२-३१३; २।९४; ३।१३३-१४५।

१०. संवर—भगवई १।४२३; ४२४, ४२६; २।९४, २।१११; ५।११५; ७।१५६; ९।१९, २०, ३१; १७।४८।

११. दुक्ख—भगवई १।४४-४७, ५३, ५६, ५९; ६।१८३-१८५; ७।१६-१९।

१२. निर्जरा—भगवई १८।६६-७१।

श्लोक २१ :

५८. अधोलोक में (अहो वि)

'अधो' का अर्थ है—'सर्वार्थसिद्ध'—अनुत्तर विमान से लेकर नीचे सातवीं नरक भूमि तक का भाग।[1]

५९. विवर्तन (जन्म-मरण) को (विउट्टणं)

चूर्णिकार ने 'विकुट्टन' शब्द मानकर इसका अर्थ जन्म, मरण किया है।[2]

वृत्तिकार ने 'वि' का अर्थ नाना प्रकार की या विकृत रूप वाली और 'कुट्टना' का अर्थ—जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक आदि से उत्पन्न शारीरिक पीड़ा किया है।[3] दोनों के अर्थ में भिन्नता है।

हमने इसका संस्कृत रूप 'विवर्तन' किया है। विवर्तन का अर्थ जन्म-मरण है।

६०. संवर को (संवरं)

आश्रव के निरोध को संवर कहा जाता है। यह आश्रव का प्रतिपक्षी है। संवर का अर्थ है—संयम। समस्त योगों का निरोध चौदहवें गुणस्थान में होता है। यह उत्कृष्ट संवर है।

> यथाप्रकारा यावन्तः संसारावेशहेतवः।
> तावन्तस्तद्विपर्यासान्निर्वाणावेशहेतवः ॥

—जिस प्रकार के जितने हेतु संसार-प्राप्ति के कारण हैं, उतने ही उनसे विपरीत हेतु निर्वाण-प्राप्ति के हेतु हैं।[4]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० २१७ : सर्वार्थसिद्धादारभ्य यावदधोसप्तम्याः तावदधो वर्त्तन्ते।
   (ख) वृत्ति, पत्र २२९ : सर्वार्थसिद्धादारतोऽधःसप्तमीं नरकभुवम्।
२. चूर्णि, पृ० २१७ : विविधं कुट्टंति विकुट्टंति, जातन्ते म्रियन्त इत्यर्थः।
३. वृत्ति, पत्र २२९ : विविधां विरूपां वा कुट्टनां—जातिजरामरणरोगशोककृतां शरीरपीडाम्।
४. (क) चूर्णि, पृ० २१७।
   (ख) वृत्ति, पत्र २२९।

६१. दुःख (को) दुक्खं)

चूर्णिकार ने कर्मबंध और कर्म के उदय को दुःख माना है। कर्म-बन्ध के चार प्रकार हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाव और प्रदेश।[1]

६२. वही क्रियावाद का प्रतिपादन कर सकता है (सो भासिउ ·····किरियवादं)

चूर्णिकार ने प्रस्तुत आगम के धर्म, समाधि, मार्ग और समवसरण (९,१०;११,१२ वां अध्ययन) के प्रतिपादन को क्रियावाद का प्रतिपादन माना है।[2]

श्लोक २२ :

६३. जीवन और मरण की आकांक्षा नहीं करता (णो जीवियं णो मरणाभिकंखे)

जीवन और मरण की आकांक्षा नहीं करता—इसका यह भी तात्पर्य है कि वह नहीं सोचता कि मैं लंबे काल तक रहूं या शीघ्र ही मर जाऊं।[3]

मरणाभिकंखे—इसमें दो पदों में संधी की गई है—मरणं+अभिकंखे।

६४. इन्द्रियों का संवर करता है (आयाणगुत्ते)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—संयम से गुप्त, कर्म से गुप्त।[4]

हमने आदान का अर्थ इन्द्रिय किया है। जो इन्द्रिय-गुप्त होता है वह आदानगुप्त कहलाता है।

६५. वलय (संसारचक्र) से (वलया)

वलय का अर्थ है—वक्रता, कुटिलता। उसके दो प्रकार हैं—१. द्रव्य वलय—नदी का वलय, शंख का वलय।

२. भाव वलय—कर्म।[5]

तात्पर्य में इसका अर्थ है—संसार-चक्र।

वृत्तिकार ने माया को भाव वलय माना है।[6]

---

१. चूर्णि, पृ० २१७ : दुक्खमिति कर्मबन्धः प्रकृति-स्थित्यनुभाव-प्रदेशात्मकः तदुदयश्च।

२. चूर्णि, पृ० २१७ : सो धम्मं समाधि मग्गं समोसरणाणि य भाषितुमर्हति।

३. चूर्णि, पृ० २१७ : असंजमजीवितं अणेगविधं पत्थए विपत्थए, ण वा परीसहपराइया मरणं विपत्थए। अथवा मा हु चिंतेज्जासी—जीवामि चिरं, मरामि व लहुं।

४. वृत्ति, पत्र २३५ : तथा मोक्षार्थिनाऽऽदीयते—गृह्यत इत्यादानं—संयमस्तेन तस्मिन्वा सति गुप्तो, यदि वा—मिथ्यात्वादिनाऽऽदीयते इत्यादानम्—अष्टप्रकारं कर्म तस्मिन्नादातव्ये मनोवाक्कायैर्गुप्तः समितश्च।

५. चूर्णि पृ० २१७ : वलयं कुडिलमित्यर्थः। तत्र द्रव्यवलयं नदीवलयं वा संखवलयं वा भाववलयं तु कर्मं।

६. वृत्ति, पत्र २३५ : भाववलयं—माया।

तेरसमं अज्झयणं

आहत्तहीयं

तेरहवां अध्ययन

याथातथ्य

आमुख

आदानपद के आधार पर इस अध्ययन का नाम 'याथातथ्य' है । इस अध्ययन का प्रमुख उद्देश्य है—शिष्य के दोष और गुणों का यथार्थ चित्रण करना । निर्युक्तिकार ने बताया है कि यथातथ धर्म को उपलब्ध होकर भी आत्मोत्कर्ष करने वाला विनष्ट हो जाता है । इसलिए आत्मोत्कर्ष का वर्जन करना चाहिए ।[1] प्रस्तुत अध्ययन के दूसरे श्लोक से निर्युक्तिकार के उक्त आशय की पुष्टि होती है।

याथातथ्य का अर्थ है—यथार्थ, परमार्थ, सत्य । शील, व्रत, इन्द्रिय संवर, समिति, गुप्ति, कषाय-निग्रह, त्याग आदि परमार्थ हैं, यथार्थ हैं, सत्य हैं ।[2]

प्रस्तुत अध्ययन के तेवीस श्लोकों में निर्वाण के साधक-बाधक तत्वों, शिष्य के दोष-गुणों तथा अनेक मद-स्थानों का वर्णन है ।

सूत्रकार ने शिष्य के निम्न गुण-दोषों का उल्लेख किया है—

गुण	दोष
आचार्य की आज्ञा मानना	मोक्ष समाधि का अप्रतिपालन
आगम की आज्ञा मानना	आचार्य का अवर्णवाद कहना
संयम का पालन करना	स्वच्छन्द व्याकरण करना
एकान्तदृष्टि-सम्यग्दृष्टि होना	अनाचार का सेवन करना
माया रहित व्यवहार करना	असत्य वचन कहना
मृदु और मित बोलना	विद्या-गुरु का अपलाप करना
जैसे कहे वैसे करना	असाधु होकर स्वयं को साधु मानना
अनुशासित होने पर मध्यस्थ रहना	मायाचार का सेवन करना
कलह से दूर रहना	क्रोध करना
मद-स्थानों का सेवन नहीं करना	पापकारी भाषा बोलना
जाति-कुल, गण, कर्म और शिल्प का	उपशान्त कलह की उदीरणा करना
प्रदर्शन कर आजीविका नहीं कमाना	विग्रह करना
सत्य भाषी, प्रणिधानवान्,	प्रतिकूल भाषा बोलना
विशारद, आगाढप्रज्ञ, भावितात्मा	अपने आपको उत्कृष्ट संयमी समझना ।
प्रतिभावान् होना ।	

सूत्रकार ने सात श्लोकों (१०-१६) में मद-स्थानों और उनके परिहार के उपाय-सूत्र बतलाए हैं— गोत्रमद, प्रज्ञामद, जाति-मद, कुलमद, लाभमद, तपोमद, आजीविकामद—ये मदस्थान हैं । इनके परिहार के लिए कुछ उपाय-सूत्र बतलाए गए हैं—संयम और मोक्ष अगोत्र होते हैं, जाति और कुल त्राण नहीं देते, भिक्षु सुधीर होता है, मृतार्चा होता है, दृष्टधर्मा होता है ।

अंतिम पांच श्लोकों (१९-२३) में धर्मकथी के स्वरूप का विमर्श किया गया है । यह माना जाता है कि मुनि बनने मात्र से ही किसी को धर्मकथा करने का अधिकार प्राप्त नहीं हो जाता । आचारांग आदि आगमों में धर्मदेशना देने का अधिकारी कौन हो सकता है, इसका स्पष्ट निरूपण है । प्रस्तुत श्लोकों में बताया गया है कि धर्मकथी मुनि दो प्रकार के होते हैं—

१. अतीन्द्रियज्ञान से संपन्न ।

२. परोक्षज्ञानी—प्रत्यक्षज्ञानी से सुने हुए या समझे हुए तथ्य का प्रतिपादन करने वाले ।

---

१. निर्युक्ति, गाथा ११८, ११९ ।

२. चूर्णि, पृ० २११ ।

अतीन्द्रियज्ञान से संपन्न धर्मकथी के लिए कोई निर्देश आवश्यक नहीं होता। जो परोक्षज्ञानी है, आगम और श्रुत के आधार पर धर्म-प्रवचन करते हैं, उनके लिए निर्देश आवश्यक होते हैं। वे ये हैं—

१. धर्मकथी पूछे जाने पर या बिना पूछे भी संयमपूर्वक बोले। वह धर्म संबंधी ऐसी बात कहे जो संयम को पुष्ट करने वाली हो।

२. धर्मकथी मुनि हिंसा और परिग्रह को बढ़ावा देने वाली, कुतीर्थिकों की प्रशंसा करने वाली या सावद्यदान की प्रतिष्ठापना करने वाली भाषा न बोले।

३. वह ऐसे तर्कों का प्रयोग न करे, जिससे अश्रद्धालु व्यक्ति कुपित होकर अनर्थ घटित कर सकता है, मार सकता है।

४. धर्मकथी मुनि अनुमान के द्वारा दूसरे के भावों को जानकर धर्म-देशना करे। वह यह जान ले कि यह मनुष्य कौन है? किस दर्शन को मानने वाला है? मैं जो कह रहा हूं, वह परिषद् को प्रिय लग रहा है या अप्रिय? जब उसे लगे कि अप्रिय लग रहा है तो तत्काल विषय को मोड़ दे।

५. धर्म-प्रवचन करते समय मत-मतान्तरों की बात छोड़कर ऐसी बात कहे जिससे स्वयं का और सुनने वालों का कल्याण हो, इहलोक और परलोक सुधरे।

६. धर्मकथी मुनि परिषद् की रुचि को ध्यान में रखे। जो परिषद् जिससे प्रभावित होती हो, वैसी धर्मदेशना दे।

७. धर्मकथी मुनि अक्षोभ्य और अनुत्तेजित रहे।

८. धर्मकथी मुनि पूजा और श्लाघा प्राप्त करने के लिए धर्मकथा न करे। वह यह कामना न करे कि धर्मकथा करने से मुझे अच्छे वस्त्र, पात्र, अन्न, पान, लयन, शयन प्राप्त होंगे। वह यह भी न सोचे कि लोग मेरी प्रशंसा करेंगे। लोग कहेंगे—अरे! हमने इस जैसे अर्थ का विस्तार करने वाला नहीं देखा। अरे, यह बहुत मिष्टभाषी है।

९. वह प्रियता या अप्रियता पैदा करने के लिए धर्मकथा न करे। वह श्रोता के अभिप्राय को जानकर, रागद्वेष से रहित होकर, सम्यग् दर्शन आदि यथार्थ धर्म का उपदेश करे।

१०. धर्मकथी मुनि क्षुधा आदि परीसहों को सहने में धीर और पवित्र रहे।

११. धर्मकथी मुनि निष्प्रयोजन—केवल निर्जरा के लिए धर्मकथा करे।

१२. धर्मकथी मुनि अकषायी रहे—न क्रोध करे, न अहंकार करे, न माया करे और न लोभ के वशीभूत हो।

तेरसमं अज्झयणं : तेरहवां अध्ययन

आहत्तहीयं : याथातथ्य

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. आहत्तहीयं तु पवेयइस्सं णाणप्पगारं पुरिसस्स जातं। सतो य धम्मं असतो य सीलं *संति असंति करिस्सामि पाउं॥*	याथातथ्यं तु प्रवेदयिष्यामि, नाना प्रकारं पुरुषस्य जातम्। सतश्च धर्मं असतश्चाऽशीलं, *शान्ति अशान्ति करिष्यामि प्रादुः॥*	१. मैं यथार्थ का[1] निरूपण करूंगा। पुरुष-समूह नाना प्रकार का होता है।[2] मैं साधु के धर्म, असाधु के अधर्म तथा साधु की शांति और असाधु की अशांति को प्रगट करूंगा।[3]
२. अहो य रातो य समुट्ठितेहिं तहागतेहिं पडिलब्भ धम्मं। समाहिमाघातमजोसयंता सत्थारमेवं फरुसं वयंति॥	अहश्च रात्रौ च समुत्थितेभ्यः, तथागतेभ्यः प्रतिलभ्य धर्मम्। समाधिमाख्यातमजोषयन्तः, शास्तारमेवं परुषं वदन्ति॥	२. दिन-रात जागरूक तथागतों (तीर्थंकरों) से[4] धर्म को प्राप्त कर, उनके द्वारा आख्यात समाधि का सेवन नहीं करते हुए[5] वे (अविनीत शिष्य) शास्ता के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं।[6]
३. विसोहियं ते अणुकाहयंते जे याऽऽतभावेण वियागरेज्जा। अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं जे णाणसंकाए मुसं वदेज्जा॥	विशोधिकां तान् अनुकथयतः, यश्चात्मभावेन व्यागृणीयात्। अस्थानिको भवति बहुगुणानां, यो ज्ञानशंकया मृषा वदेत्॥	३. जो विशोधिका (धर्मकथा या सूत्रार्थ) का[7] परंपरागत निरूपण करने वाले आचार्य के अर्थ को उलट कर अपना अर्थ बतलाता है[8], जो ज्ञान में शंकित हो[9] असत्य बोलता है, वह बहुत गुणों का अस्थान बन जाता है।[10]
४. जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति आदाणमट्ठं खलु वंचयंति। असाहुणो ते इह साहुमाणी मायण्णिएहिंति अणंतघातं॥	ये चापि पृष्टाः परिकुञ्चयन्ति, आदानमर्थं खलु वञ्चयन्ति। असाधवस्ते इह साधुमानिनः, मायान्विताः एष्यन्ति अनन्तघातम्॥	४. जो पूछने पर (अपने गुरु का) नाम छिपाते हैं[11], वे आदानीय अर्थ (ज्ञान आदि) से अपने आपको वंचित करते हैं। वे असाधु होते हुए अपने आपको साधु मानने वाले छलनापूर्वक व्यवहार कर अनन्त बार जन्म-मरण को प्राप्त होते हैं।[12]
५. जे कोहणे होइ जगट्ठभासी विओसितं जे य उदीरएज्जा। अद्धे व से दंडपहं गहाय अविओसिते घासति पावकम्मी॥	यः क्रोधनो भवति जगदर्थभाषी, व्यवसितं यश्च उदीरयेत्। अध्वनि इव स दंडपथं गृहीत्वा, अव्यवसितो ग्रस्यते पापकर्मा॥	५. जो क्रोधी होता है, जो ग्राम्यजन की भांति अशिष्ट बोलता है[13], जो उपशांत कलह की उदीरणा करता है[14], वह अनुपशान्त कलह वाला पापकर्मा मनुष्य राजपथ के स्थान पर पगडंडी लेकर (चलने वाले पुरुष की भांति) कठिनाई में फंस जाता है।[15,16]

६. जे विग्गहिए अ णायभासी
ण से समे होइ अझंझपत्ते ।
ओवायकारी य हिरीमणे य
एगंतदिट्ठी य अमाइरूवे ॥

यो वैग्रहिकश्च ज्ञातभाषी,
न सः समो भवति अझंझाप्राप्तः ।
अवपातकारी च ह्रीमनाश्च,
एकान्तदृष्टिश्च अमायिरूपः ॥

६. जो झगड़ालू और ज्ञातभाषी[17] (जानी हुई हर बात को कहने वाला) है, वह सम (मध्यस्थ), कलह से परे[18], गुरु के निर्देश में चलने वाला[19], लज्जालु[20], (संयम में) एकान्तदृष्टि वाला[21] और छद्म से मुक्त नहीं होता ।[22]

७. से पेसले सुहुमे पुरिसजाते
जच्चण्णिते चेव सुउज्जुयारे ।
बहुं पि अणुसासिए जे तहच्ची
समे हु से होइ अझंझपत्ते ॥

स पेशलः सूक्ष्मः पुरुषजातः,
जात्यान्वितश्चैव सु-ऋजुचारः ।
बहु अपि अनुशासितः यस्तथार्चिः,
समः खलु स भवति अझंझाप्राप्तः ॥

७. जो पुरुषजात[23] प्रिय[24] और परिमित बोलता है[25], जातिमान् है, ऋजु आचरण करता है[26], गुरु के द्वारा बहुत अनुशासित होने पर भी शांतचित्त रहता है[27], वह सम (मध्यस्थ) और कलह से परे होता है ।[28]

८. जे यावि अप्पं वसुमं ति मंता
संखाय वायं अपरिच्छ कुज्जा ।
तवेण वाहं सहिए त्ति मंता
अण्णं जणं पस्सति बिंबभूतं ॥

यश्चापि आत्मानं वसुमान् इति मत्वा,
संख्याकः वादं अपरीक्ष्य कुर्यात् ।
तपसा वा अहं अधिकः इति मत्वा,
अन्यं जनं पश्यति बिम्बभूतम् ॥

८. जो अपने आपको संयमी और ज्ञानी[29] मानकर परीक्षा किए बिना आत्मोत्कर्ष दिखाता है[30], 'मैं सबसे बड़ा तपस्वी हूं[31]'—ऐसा मानकर दूसरे लोगों को प्रतिबिम्ब (केवल मनुष्य-आकृति) जैसा देखता है[32]—

९. एगंतकूडेण तु से पलेइ
ण विज्जई मोणपदंसि गोते ।
जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा
वसुमण्णतरेण अबुज्झमाणे ॥

एकान्तकूटेन तु स पर्येति,
न विद्यते मौनपदे गोत्रम् ।
यः माननार्थेन व्युत्कर्षयेत्,
वसु-अन्यतरेण अबुध्यमानः ॥

९. वह एकान्त माया के द्वारा[33] संसार में भ्रमण करता है ।[34] मुनि-पद में[35] गोत्र[36] (उच्चत्वाभिमान) नहीं होता । जो सम्मान के लिए संयम अथवा अन्य किसी प्रकार से उत्कर्ष दिखाता है वह परमार्थ को नहीं जानता ।[37]

१०. जे माहणे खत्तिए जाइए वा
तहुग्गपुत्ते तह लेच्छवी वा ।
जे पव्वइए परदत्तभोई
गोतेण जे थब्भति माणबद्धे ॥

यो ब्राह्मणः क्षत्रियः जात्या वा,
तथोग्रपुत्रः तथा लिच्छविर्वा ।
यः प्रव्रजितः परदत्तभोजी,
गोत्रेण य स्तभ्नाति मानबद्धः ॥

१०. जो जाति से ब्राह्मण, क्षत्रिय[38], उग्रपुत्र और लिच्छवी[39] हो, किन्तु जो प्रव्रजित[40] होने पर दूसरे का दिया हुआ खाता है[41], फिर भी जो मान के वशीभूत होकर गोत्र का मद करता है[42]—

११. ण तस्स जाती व कुलं व ताणं
णण्णत्थ विज्जाचरणं सुचिण्णं ।
णिक्खम्म से सेवइऽगारिकम्मं
ण से पारए होति विमोयणाए ॥

न तस्य जातिर्वा कुलं वा त्राणं,
नान्यत्र विद्याचरणात् सुचीर्णात् ।
निष्क्रम्य स सेवते अगारिकर्म,
न स पारको भवति विमोचनाय ॥

११. जाति और कुल[43] उसे त्राण नहीं दे सकते । केवल सु-आचरित विद्या और आचरण[44] ही त्राण दे सकते हैं । जो घर से निष्क्रमण कर गृहस्थ-कर्म (जाति और कुल के मद) का[45] सेवन करता है, वह विमुक्ति के लिए समर्थ नहीं होता ।[46]

१२. णिक्किंचणे भिक्खु सुलहजीवी
जे गारवं होइ सिलोगगामी ।
आजीवमेयं तु अबुज्झमाणो
पुणो-पुणो विप्परियासुवेति ॥

निष्किञ्चनो भिक्षुः सुरूक्षजीवी,
यो गौरववान् भवति श्लोककामी ।
आजीवमेतं तु अबुध्यमानः,
पुनः पुनः विपर्यासमुपैति ॥

१२. जो अकिंचन, भिक्षा करने वाला और रूक्षजीवी होकर भी (जाति आदि का) गर्व करता है, (उसका प्रकाशन कर) प्रशंसा चाहता है—यह आजीविका है, इस बात को नहीं जानता हुआ वह बार-बार विपर्यास (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है।

१३. जे भासवं भिक्खु सुसाहुवादी
पडिहाणवं होइ विसारए य ।
आगाढपण्णे सुय-भावियप्पा
अण्णं जणं पण्णसा परिहवेज्जा ॥

यो भाषावान् भिक्षुः सुसाधुवादी,
प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च ।
आगाढप्रज्ञः श्रुतभावितात्मा,
अन्यं जनं प्रज्ञया परिभवेत् ॥

१३. जो भिक्षु सुसंस्कृतभाषी, वाक्पटु, प्रतिभा-संपन्न, विशारद, प्रखर प्रज्ञावान् और श्रुत से भावितात्मा है वह दूसरे लोगों को अपनी प्रज्ञा से पराजित कर देता है।

१४. एवं ण से होति समाहिपत्ते
जे पण्णसा भिक्खु विउक्कसेज्जा ।
अहवा वि जे लाभमदावलित्ते
अण्णं जणं खिसति बालपण्णे ॥

एवं न स भवति समाधिप्राप्तः,
यः प्रज्ञया भिक्षुः व्युत्कर्षयेत् ।
अथवापि यो लाभमदावलिप्तः,
अन्यं जनं निन्दति बालप्रज्ञः ॥

१४. ऐसा होने पर भी वह समाधि को प्राप्त नहीं होता। जो भिक्षु अपनी प्रज्ञा का उत्कर्ष दिखलाता है अथवा जो लाभ के मद से मत्त होकर दूसरे लोगों की अवहेलना करता है, वह बालप्रज्ञ (बचकानी बुद्धि वाला) है।

१५. पण्णामदं चेव तवोमदं च
णिण्णामए गोयमदं च भिक्खू ।
आजीवगं चेव चउत्थमाहु
से पंडिए उत्तमपोग्गले से ॥

प्रज्ञामदं चैव तपोमदं च,
निर्नामयेद् गोत्रमदं च भिक्षुः ।
आजीवकं चैव चतुर्थमाहुः,
सः पंडितः उत्तमपुद्गलः सः ॥

१५. जो भिक्षु प्रज्ञामद, तपोमद, गोत्रमद और चौथे आजीविका-मद को निरस्त कर देता है वह पंडित है और उत्तम आत्मा है।

१६. एयाइं मदाइं विगिंच धीरा
णेताणि सेवंति सुधीरधम्मा ।
ते सव्वगोतावगता महेसी
उच्चं अगोतं च गतिं वयंति ॥

एतान् मदान् विविच्य धीराः,
नैतान् सेवन्ते सुधीरधर्माणः ।
ते सर्वगोत्रापगताः महर्षयः,
उच्चां अगोत्रां च गतिं व्रजन्ति ॥

१६. धीर और चारित्र-संपन्न मुनि जिन मदों को छोड़कर प्रव्रजित हुए हैं, फिर उनका सेवन न करें। वे सारे गोत्रों से मुक्त महर्षि ही उस उच्च गति को प्राप्त होते हैं जहां कोई गोत्र नहीं है।

१७. भिक्खू मुतच्चे तह दिट्ठधम्मे
गामं व णगरं व अणुप्पविस्सा ।
से एसणं जाणमणेसणं च
जो अण्णपाणे य अणाणुगिद्धे ॥

भिक्षुर्मृतार्चः तथा दृष्टधर्मा,
ग्रामं वा नगरं वा अनुप्रविश्य ।
स एषणां जानन् अनेषणां च,
यः अन्नपाने च अननुगृद्धः ॥

१७. भिक्षु मृत शरीर वाला तथा धर्म को प्रत्यक्ष करने वाला होता है, इसलिए वह ग्राम या नगर में प्रवेश कर एषणा और अनेषणा को जानता है तथा अन्न-पान के प्रति अनासक्त होता है।

१८. अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्खू
बहुजणे वा तह एगचारी ।
एगंतमोणेण वियागरेज्जा
एगस्स जंतो गतिरागती य ॥

अरतिं रतिं च अभिभूय भिक्षुः,
बहुजनो वा तथा एकचारी ।
एकान्तमौनेन व्यागृणीयात्,
एकस्य जन्तोः गतिरागतिश्च ॥

१८. अरति और रति को अभिभूत करने वाला भिक्षु संघवासी हो या एकचारी (अकेला विचरण करने वाला), एकांत मौन (संयम) से सम्मत किसी तत्त्व का निरूपण करे,—जीव अकेला जाता है और अकेला आता है।

१९. सयं समेच्चा अदुवा वि सोच्चा
भासेज्ज धम्मं हितयं पयाणं ।
जे गरहिता सणिदाणप्पओगा
ण ताणि सेवंति सुधीरधम्मा ॥

स्वयं समेत्य अथवापि श्रुत्वा,
भाषेत धर्मं हितकं प्रजानाम् ।
ये गर्हिताः सनिदानप्रयोगाः,
न तान् सेवन्ते सुधीरधर्माणः ॥

१९. स्वयं जानकर[७५] या सुनकर प्रजा के लिए हितकर धर्म का प्रतिपादन करे। धर्मकथी मुनि निदान के प्रयोग[७६], जो गर्हित हैं, का सेवन न करे।

२०. केसिंचि तक्काए अबुज्झ भावं
खुद्दं पि गच्छेज्ज असद्दहाणे ।
आउस्स कालातियारं वघातं
लद्धाणुमाणे य परेसु अट्ठे ॥

केषांचित् तर्केण अबुद्ध्वा भावं,
क्षौद्रमपि गच्छेद् अश्रद्दधानः ।
आयुषः कालातिचारं व्याघातं,
लब्धानुमानश्च परेषु अर्थान् ॥

२०. अपनी तर्क-बुद्धि के द्वारा दूसरों के भावों को न जानकर (तत्त्व चर्चा करने पर) अश्रद्धालु मनुष्य क्रोध को[७७] प्राप्त हो सकता है और वक्ता को मार सकता है[७८] या कष्ट दे सकता है, इसलिए (धर्मकथा करने वाला मुनि) अनुमान के द्वारा दूसरों के भावों को जानकर[७९] धर्म कहे।

२१. कम्मं च छंदं च विगिंच धीरे
विणएज्ज तु सव्वतो आतभावं ।
रूवेहिं लुप्पंति भयावहेहिं
विज्जं गहाय तसथावरेहिं ॥

कर्म च छन्दं च विविच्य धीरः,
विनयेत् तु सर्वतः आत्मभावम् ।
रूपेषु लुप्यन्ति भयावहेषु,
विद्यां गृहीत्वा त्रसस्थावरेषु ॥

२१. धीर पुरुष[८०] श्रोता के कर्म[८१] और छंद (रुचि) का[८२] विवेचन कर, (बाह्य पदार्थों में होने वाले) उसके आत्मीय[८३] भाव का सर्वथा विनयन करे। इस तत्त्व को जानकर[८४] कि भय पैदा करने वाले चल-अचल[८५] रूपों (आकृतियों) में[८६] मूर्छित होकर मनुष्य नष्ट होते हैं।

२२. ण पूयणं चेव सिलोय कामे
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा ।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते
अणाइले या अकसाइ भिक्खू ॥

न पूजनं चैव श्लोकं कामयेत्,
प्रियमप्रियं कस्यचिद् नो कुर्यात् ।
सर्वान् अनर्थान् परिवर्जयन्,
अनाविलश्च अकषायी भिक्षुः ॥

२२. निर्मल[८७] और उपशान्त भिक्षु पूजा और श्लाघा का कामी हो (धर्मकथा न करे।)[८८] किसी का प्रिय या अप्रिय न करे।[८९] (प्रियता या अप्रियता उत्पन्न करने के लिए धर्मकथा न करे।) सब अनर्थों का[९०] परिवर्जन करे।

२३. आहत्तहीयं समुपेहमाणे
सव्वेहिं पाणेहिं णिहाय दंडं ।
णो जीवियं णो मरणाहिकंखे
परिव्वएज्जा वलया विमुक्के ॥

याथातथ्यं समुपेक्षमाणः,
सर्वेषु प्राणेषु निहाय दण्डम् ।
नो जीवितं नो मरणं अभिकांक्षेत्,
परिव्रजेद् वलयाद् विमुक्तः ॥

२३. याथातथ्य को भली भांति-देखता हुआ (भिक्षु) सब प्राणियों की हिंसा का[९१] परित्याग करे।[९२] जो जीवन और मरण की अभिलाषा नहीं करता हुआ परिव्रजन करता है[९३] वह वलय (संसार-चक्र) से[९४] मुक्त हो जाता है।

—त्ति बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

टिप्पण : अध्ययन १३

श्लोक १ :

१. यथार्थ का (आहत्तहियं)

इसका अर्थ है—यथार्थता, परमार्थ, सत्य।

चूर्णिकार ने शील, व्रत, इन्द्रिय-संवर, समिति, गुप्ति, कषाय-निग्रह आदि को यथार्थ बतलाया है।[1] विकल्प में व्रत और समिति के ग्रहण और रक्षण तथा कषायों के निग्रह और त्याग को यथार्थ बतलाया है।[2]

वृत्तिकार ने तत्त्व और परमार्थ को याथातथ्य माना है।[3]

इसी अध्ययन के तेवीसवें श्लोक में 'आहत्तहीयं' शब्द की व्याख्या में चूर्णिकार ने याथातथ्य से इसी सूत्र के चार अध्ययनों (९ से १२)—धर्म, समाधि, मार्ग और समवसरण का ग्रहण किया है।[4] वृत्तिकार ने उस श्लोक में याथातथ्य से नौवें, दसवें और बारहवें अध्ययन (धर्म, मार्ग और समवसरण) में वर्णित तत्त्व, सम्यक्त्व या चारित्र को ग्रहण किया है।[5]

२. पुरुष समूह नाना प्रकार का होता है (णाणप्पगारं पुरिसस्स जातं)

पुरुष समूह नाना प्रकार का होता है। 'नाना प्रकार' का तात्पर्य है—अनेक अभिप्राय वाला, अनेक शील वाला।

अनेक पुरुष अनेक अभिप्राय वाले हों, भिन्न-भिन्न शील वाले हों, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु एक ही पुरुष अनेक परिणामों में परिणत होता हुआ अनेक प्रकार का पुरुष हो जाता है, एक अनेक हो जाता है। वह कभी तीव्र परिणाम वाला, कभी मंद परिणाम वाला और कभी मध्यम परिणाम वाला हो जाता है। कभी वह मृदु और कभी कठोर हो जाता है। कभी अकार्य कर उससे निवृत्त हो जाता है तो कभी उसमें प्रवृत्त हो जाता है, सतत उसका आचरण करता है।

किसी व्यक्ति को कोई कष्ट अत्यन्त दुःखदायी होता है और किसी को किसी दूसरे के कष्ट से दुःख होता है। दारुण और अदारुण स्वभाव से वह एक होते हुए भी अनेक हो जाता है।[6]

वृत्तिकार ने लिखा है कि पुरुष का स्वभाव विचित्र होता है। वह कभी प्रशस्त और कभी अप्रशस्त, कभी ऊंचा और कभी नीचा होता है।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० २१९ : आधत्तधियं याथातथ्यम्, शीलव्रतानीन्द्रियसंवरसमिति-गुप्तिकषायनिग्रहसर्वमवितथं यथातथम्।

२. वही, पृ० २१९ : अथवा व्रत-समिति-कषायाणां धारणारक्षणं विनिग्रहत्यागौ।

३. वृत्ति, पत्र २३७ : यथातथाभावो याथातथ्यं—तत्त्वं परमार्थः।

४. चूर्णि, पृ० २२६ : आधत्तधिज्जं धम्मं मग्गं समाधिं समोसरणाणि य यथावदुदितानि।

५. वृत्ति, पत्र २४६ : यथातथाभावो याथातथ्यं— धर्ममार्गसमवसरणाख्याध्ययनत्रयोक्तार्थतत्त्वं सूत्रानुगतं सम्यक्त्वं चारित्रं वा।

६. चूर्णि, पृ० २१९ : नाना अर्थान्तरभावे, पुरिस (स्स) जातमिति केचित् प्रियधर्माः, केयि अधाछन्दाः, सत्पुरुषशीलगुणांश्चोपदेश्या-(श्या) मः, समोसरणे तु अण्णउत्थिय-गिहत्थाण दृष्टयो दर्शिताः इत्यतो णाणप्पगारं पुरिस (स्स) जातं, तिष्ठन्तु तावन्नाना-प्रकारा गृहस्थाः, अन्यतीर्थिका पासत्थादयो संविग्गा य णाणापगारा पुरिसजाता, णाणाछन्दा इत्यर्थः। अथवा किं चित्रं यदि नाना-विधाः पुरुषाः नानाशीला एव भवन्ति ?, एक एव हि पुरुषस्तानि तानि परिणामान्तराणि परिणामयन् णाणापगारो पुरिसज्जातो भवति। तं जधा—कदाचित् तीव्रपरिणामः, कदाचित्मंदस्वभावः, कदाचिन्मध्यमः, कदाचिन्मृदुस्वभावः, कदाचिन्निर्धर्म एव भवति, कृत्वा चाकृत्यं कश्चिन्निवर्त्तते, कश्चित् सुतरां प्रवर्त्तते, अन्यस्य चान्यः परीषहो दुर्विषहो भवति, अथवा (दारुणा-ऽ) दारुण-स्वभावत्वाच्च नानाप्रकारं पुरुषजातं भवति।

७. वृत्ति, पत्र २३८ : विचित्रं पुरुषस्य स्वभावम्—उच्चावचं प्रशस्ताप्रशस्तरूपम्।

३. (सतो य धम्मं…………)

सत् पुरुष के साथ शील और शान्ति का तथा असत् पुरुष के साथ अशील और अशांति का संबंध जुड़ता है।

चूर्णिकार ने शील का अर्थ धर्म, समाधि और मार्ग किया है।[1] इस आधार पर अशील का अर्थ अधर्म, असमाधि और अमार्ग अपने आप हो जाता है। शांति का अर्थ है—अशुभ से निवृत्ति अथवा पूर्व संचित कर्म की निर्जरा। परम शान्ति को निर्वाण कहा जाता है। अशान्ति का अर्थ है—अशुभ में प्रवृत्ति और कर्म-बंध के हेतु।

श्लोक २ :

४. जागरूक तथागतों (तीर्थंकरों) से (समुट्ठितेहिं तहागतेहिं)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इन दोनों की व्याख्या भिन्न पद मान कर की है।

मुनि संयमगुणों में स्थित व्यक्तियों से दोनों प्रकार की शिक्षा ग्रहण कर तथागत—तीर्थंकर से संसार-तरण का उपाय जाने।[3]

वृत्तिकार ने 'समुट्ठितेहिं' का अर्थ—ऐसे श्रुतधर मुनि जो सदनुष्ठान में तत्पर रहते हैं—किया है और तथागत का अर्थ तीर्थंकर किया है।[4]

५. सेवन नहीं करते हुए (अजोसयंता)

'जुषी प्रीतिसेवनयोः' धातु से इसका संस्कृत रूप 'अजोषयन्तः' होगा। इसके दो अर्थ हैं—प्रेम रखना और सेवन करना। यहां यह सेवन के अर्थ में प्रयुक्त है। इसका अर्थ है—सेवन नहीं करते हुए।

कुछ पुरुष समाधि को प्राप्त करके भी अपने कर्मोदय के कारण तथा ज्ञान के झूठे अहं के कारण उस पर श्रद्धा नहीं करते। कुछ श्रद्धा करते हुए भी अपने धृति-दौर्बल्य के कारण उसका यावज्जीवन पालन नहीं कर सकते।[5]

६. शास्ता के प्रति कठोर शब्दों का प्रयोग करते हैं (सत्थारमेवं फरुसं वयंति)

शास्ता का अर्थ है—आचार्य।[6]

जब व्यक्ति कहीं भूल कर बैठता है, तब उसके आचार्य, जिन्होंने निःस्वार्थ वत्सलता से उसे पाला-पोषा है, उसे कहते हैं—तुम ऐसा मत करो। यह शास्ता के उपदेश के विपरीत है।' तब वह अपने उपदेष्टा को कहता है—'दूसरों को उपदेश देने में क्या लगता है ? दूसरों के हाथों से जलते अंगारों को निकलवाना सरल होता है।' इस प्रकार वह कठोर वचन कहता है।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० २१९ : धर्मो भवति यथार्थः, एवं समाधिमार्गश्च।

२. चूर्णि, पृ० २१९ : सर्वाशुभनिवृत्तिः शांतिः, सर्वभूतशान्तिकरत्वात् सर्वाशुभनिवृत्तिः शांतिः, तथा च परमशांतिः निर्वाणं भवति। अशांतिः अशीलः, आत्मनः परेषां च इह वा शान्तिर्भवत्यमुत्र च, तां कर्मनिर्जरणशांति …………कर्मबन्धकारणं चाशान्ति।

३. चूर्णि, पृ० २१९ : सम्यग् उत्थिताः समुत्थिताः, सम्यग्ग्रहणात् समुत्थितेभ्यः संयमगुणस्थितेभ्यश्च द्विविधां शिक्षां गृहीत्वा तीर्थकरादिभ्यः तथागतेभ्यः संसारनिस्सरणोपायस्तावत् प्रतिलभ्येत।

४. वृत्ति, पत्र २३८ : सम्यगुत्थिताः समुत्थिताः सदनुष्ठानवन्तस्तेभ्यः श्रुतधरेभ्यः, तथा 'तथागतेभ्यो'—वा तीर्थंकृद्भ्यो।

५. चूर्णि, पृ० २२० : "जुषी प्रीति-सेवनयोः" तं अभूसयंता कम्मोदयदोसेणं केयि दुव्वियड्ढबुद्धी असद्दहंता, केचित् श्रद्दधतोऽपि धृति-दुर्बलाः यावज्जीवमशक्नुवन्तो यथारोपितमनुपालयितुम्।

६. चूर्णि, पृ० २२० : यः शास्ति स शास्ता आचार्य एव।

७. वही, पृ० २२० : जेहिं चेव णिक्कारणवत्सलेहिं पुत्रवत् सङ्गृहीताः ते चेव कहिंचि चुक्क-खलिते चोदेमाणा अण्णतरं वा साधुं पडिचोदेंति फरुसं वदंति, 'मा एवं करेहि त्ति नैष शास्तारोपदेशः इति सत्थारमेव फरुसं वदति, सो हि न ज्ञातवान्, किं वा तस्स उवदिसंतस्स पारक्कस्स छिज्जति ? सुहं परायएहिं हत्थेहिं इंगालाकड्ढिज्जंति।

श्लोक ३ :

७. विशोधिका (धर्मकथा या सूत्रार्थ) का (विसोहियं)

चूर्णिकार ने विशोधिका के दो अर्थ किए हैं[1]—

१. धर्मकथा।

२. सूत्रार्थ।

वृत्तिकार के अनुसार जो मार्ग विविध प्रकार से निर्दोष कर दिया गया है, शुद्ध कर दिया गया है, वह विशोधित (मार्ग) कहलाता है। तात्पर्य में इसका अर्थ है—मोक्ष मार्ग।[2]

८. अपना अर्थ बतलाता है (आतभावेण वियागरेज्जा)

भाव के दो अर्थ हैं—ज्ञान अथवा अभिप्राय। आत्मभाव का अर्थ है—स्वयं का ज्ञान अथवा स्वयं का अभिप्राय। जो पुरुष आत्मोत्कर्ष के कारण तथा अपनी व्याख्या के प्रति आसक्ति के कारण, आचार्य-परंपरा से आए हुए अर्थ को गौण कर अपने अभिप्राय के अनुसार तथ्यों की व्याख्या करते हैं, विपरीत अर्थ बतलाते हैं वे गंभीर अभिप्राय वाले सूत्र और अर्थ को सही नहीं समझते। अपने कर्मों के उदय के प्रभाव से वे उसे यथार्थ रूप में परिणत नहीं कर पाते। वे पंडितमानी पुरुष उत्सूत्र की प्ररूपणा करने लग जाते हैं। वे गोष्ठामाहिल की तरह आचार्य की अनुपस्थिति में विपरीत कथन करते हैं। वे जमालि की तरह शासन से पृथक् होकर कहते हैं—'यह ऐसा नहीं है। जैसा मैंने कहा है, वैसे ही है।' उन्हें जब कोई कुछ कहता है तब वे कहते हैं—'जैसे तुम कहते हो, यह वैसे नहीं है। यह इस प्रकार होना चाहिए।' वह स्वच्छंद प्ररूपणा करने लग जाता है।[3]

९. ज्ञान में शंकित हो (णाणसंकाए)

इसके दो अर्थ हैं[4]—

१. ज्ञान में शंका या संदेह।

२. अपने आपको ज्ञानी मानना।

पहले अर्थ में 'शंका' का अर्थ है—संदेह और दूसरे में उसका अर्थ है—मानना।

१०. बहुत गुणों का अस्थान बन जाता है (अट्ठाणिए होइ बहूगुणाणं)

इसका अर्थ है—वैसा पुरुष अनेक गुणों का अस्थान (अपात्र) बन जाता है। चूर्णिकार ने अनायतन, असंभव, अनाचार और अस्थान को एकार्थक माना है।[5]

वृत्तिकार ने 'अस्थानिक' का अर्थ अनाधार, अभाजन किया है।[6]

यहां 'गुण' शब्द से निम्न गुणों का ग्रहण किया गया है—आचार्य के प्रति विनय, जिज्ञासा करना, आचार्य के कथन को सुनना, उसे ग्रहण करना, उसके विषय में तर्क-वितर्क करना, अर्थ का निश्चय करना, बार-बार प्रत्यावर्तन के द्वारा उसे आत्मसात्

---

१. चूर्णि, पृ० २२० : विसोधिकरं विसोधियं, धम्मकधा सुत्तत्थो वा।

२ वृत्ति, पत्र २३८ : विविधम्—अनेकप्रकारं शोधितः—कुमार्गप्ररूपणापनयनद्वारेण निर्दोषतां नीतो विशोधितः—सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राख्यो मोक्षमार्गः।

३. चूर्णि, पृ० २२० : भावो नाम ज्ञानं अभिप्रायो वा, उस्सुत्तं पण्णवेंति, पौर्वापर्येणाशक्नुवन्तः परिणमयितुं वितधं कथयन्ति आचार्यसमीपे, गोष्ठामाहिलवत्। निग्गता वा जमालिवत् 'एवं न युज्यते यथोदितमेव संयुज्यते' इत्येवं आत-भावेन वियागरेंति। केचित् कथ्यमानमपि ब्रुवते -नैतदेवं युज्यते यथा भवानाह, स्यादेवं तु युज्यते। स एवं स्वच्छन्दः।

४. (क) चूर्णि, पृ० २२० : णाणे संका णाणसंका, तेसु तेसु णाणंतरेसु एवमेतन्न युज्यते, अथवा संकेति मान्यार्थाः ये ज्ञानवन्तमात्मानं मन्यमानाः।

(ख) वृत्ति, पत्र २३९ : ज्ञाने—श्रुतज्ञाने शङ्का ज्ञानशङ्का············यदि वा ज्ञानशङ्कया पाण्डित्याभिमानेन।

५. चूर्णि, पृ० २२० : अनायतनं असम्भवः अनाचारः अस्थानमित्यनर्थान्तरम्।

६. वृत्ति, पत्र २३८ : 'अस्थानिकः'—अनाधारो बहूनां ज्ञानादिगुणानामभाजनं भवतीति।

करना और तदनुसार सम्यक् आचरण करना।[1] अथवा पारस्परिक वैयावृत्य करना, विनय करना।[2]

वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप में गुणों के विषय में इस प्रकार प्रतिपादन किया है[3]—

गुरु की सेवा-शुश्रूषा करने से सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है, उससे सम्यक् प्रवृत्ति होती है और अन्त में समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है, मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

यहां छन्द की दृष्टि से 'बहू' में दीर्घ उकार का प्रयोग किया गया है।

श्लोक ४ :

११. (जे यावि पुट्ठा पलिउंचयंति)

कोई व्यक्ति ऐसे आचार्य से विद्या सीखता है जो जाति आदि से कुछ न्यून है। दूसरा व्यक्ति उससे पूछता है—अरे, तुमने यह विद्या किससे सीखी ?' वह आचार्य से अपने आपको जातिवान् मानता हुआ उस आचार्य का नाम नहीं बताता, उसको छुपा देता है और उसके स्थान पर किसी प्रख्यात आचार्य का नाम ले लेता है।

वज्रस्वामी पदानुसारीलब्धि से सम्पन्न थे। वे अपने आचार्य से अधिक प्रज्ञापना करने में समर्थ थे। इसी प्रकार कोई शिष्य अपने आचार्य से अधिक ज्ञानी हो, फिर भी उसे अपने आचार्य के नाम को नहीं छिपाना चाहिए। जो व्यक्ति ज्ञान आदि की दृष्टि से आचार्य के समान हों, या उनसे न्यून हों, उनको तो वैसा करना ही नहीं चाहिए। उनको गुरु के विषय में पूछने पर वे उत्कर्ष के साथ कहते हैं—मैंने ही इस सूत्र के अर्थ का विस्तार से वर्णन किया है। मैंने ही इस सूत्र और अर्थ पद का विशोधन किया है। ऐसा व्यक्ति अशांतिभाव में स्थित निन्हवक होता है।

कोई व्यक्ति किसी के पास विद्या ग्रहण करता है। वह अपनी ग्रहणशक्ति की प्रबलता के कारण व्याकरण, छन्द-शास्त्र, न्याय-शास्त्र का अधिक विद्वान् बन जाता है। अथवा गृहस्थावस्था में इन शास्त्रों का पारगामी होकर फिर प्रव्रजित होता है। तब कोई उसे पूछता है—'क्या तुमने यह सारा अमुक आचार्य के पास सीखा है ? वह कहता है—अरे! वह बेचारा क्या जानता है ? वह तो मिट्टी का लोंदा है। उसके होठ भी ठीक नहीं हैं तो वह मुझे क्या वाचना दे पाएगा ? (यह सब मैंने अपनी बुद्धि से ही जाना, सीखा है।) इस प्रकार वह आचार्य के प्रति किए जाने वाले अभ्युत्थान आदि विनयों से डर कर उनका नाम छिपाता है। यह ज्ञान और दर्शन की परिकुंचना है।

इसी प्रकार चारित्र की भी परिकुंचना होती है, जैसे—कोई शिथिलाचारी मुनि पृथ्वी आदि जीवों की हिंसा करता है। उस समय कल्प्य और अकल्प्य की विधि को जानने वाला कोई श्रावक उससे पूछता है—'महाराज!' क्या यह आपको कल्पता है ? क्या ऐसा करना आपके लिए विहित है ?

सजीव जल से गीली वस्तु को ग्रहण करते हुए देखकर वह श्रावक मुनि से कहता है—अमुक मुनि इस प्रकार की गीली वस्तु नहीं लेते। आप इसे कैसे ले रहे हैं ? ऐसी कौनसी दरिद्रता आपके आ गई है ?

इस प्रकार पूछने पर वह सचित्त-अचित्त विषयक परिकुंचना करते हुए कहता है—वह इस विषय में क्या जानता है ? अथवा तुम भी इस विषय में क्या जानते हो ? मैं इतने वर्षों से संयम का पालन कर रहा हूं, व्रतों को पाल रहा हूं। मैं जानता हूं कि क्या लेना है, क्या नहीं लेना है ?

इस प्रकार वह गोपन करता है।[4]

---

१. आवश्यक निर्युक्ति, गाथा २२ : 'सुस्सूसति पडिपुच्छति, सुणेति गेण्हति य ईहए यावि।
तत्तो अपोहए वा, धारेति करेति वा सम्मं॥'

२. चूर्णि, पृ० २२०।

३. वृत्ति, पत्र २३८ : यदि वा गुरुशुश्रूषादिना सम्यग्ज्ञानावगमस्ततः सम्यगनुष्ठानमतः सकलकर्मक्षयलक्षणो मोक्षः।

४. (क) चूर्णि, पृ० २२०, २२१।
(ख) वृत्ति, पत्र २३६।

वृत्तिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया है—

कोई शिष्य स्वयं प्रमादवश भूल करता है और उसका प्रायश्चित्त करते समय, गुरु के पूछने पर उसको इस दृष्टि से छिपाता है कि कहीं मेरी निन्दा न हो।[1]

१२. (मायण्णिएहिंति अणंतघातं)

यहां दो पदों में संधि की गई है— मायण्णिआ— एहिंति। 'घात' शब्द के तीन अर्थ हैं—जन्म-मरण,[2] विनाश,[3] संसार। वे मायावी पुरुष दो दोषों से युक्त होते हैं— एक तो वे स्वयं असाधु होते हैं और दूसरे में वे अपने आपको साधु मानते हैं। जो व्यक्ति स्वयं पाप में प्रवृत्त होकर अपने आपको शुद्ध बताता है, वह दुगुना पाप करता है। यह अज्ञानी व्यक्ति की दूसरी अज्ञानता है।[4]

इस प्रकार जो व्यक्ति अपने शिक्षक-गुरु का अपलाप करते हैं, वे अपने अहं के कारण बोधि-लाभ से वंचित रहते हैं तथा अनन्त जन्म-मरण करते हैं।[5]

आचार के पांच प्रकार हैं—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तपः-आचार और वीर्याचार। इनके अनेक प्रकार हैं। ज्ञानाचार के आठ भेद हैं—काल, विनय, बहुमान, उपधान, अनिन्हवन, व्यंजन, अर्थ और व्यंजन-अर्थ।[6]

प्रस्तुत श्लोक में 'अनिन्हवन' का उल्लेख है। दशवैकालिक सूत्र के चूर्णिकार अगस्त्यसिंह स्थविर ने इस प्रसंग में एक कथा प्रस्तुत की है। वह इस प्रकार है—

एक नाई था। उसे एक विद्या प्राप्त थी। उस विद्या-बल से वह अपनी हजामत की पेटी को आकाश में अधर रख सकता था। एक परिव्राजक ने यह देखा। विद्या के प्रति उसका मन ललचा गया। उसने नाई की खूब सेवा की। उसका बार-बार सत्कार किया। नाई ने प्रसन्न होकर उस परिव्राजक को यह विद्या सिखाई।

एक बार परिव्राजक कहीं दूर देश में चला गया। वह विद्या-बल से अपने त्रिदंड को आकाश में अधर खड़ा कर देता। लोगों ने देखा, वे चमत्कृत हुए। उसकी खूब पूजा होने लगी। राजा ने यह चमत्कार सुना। उसने परिव्राजक को अपनी सभा में बुला भेजा। परिव्राजक से राजा ने पूछा— 'आपका त्रिदंड आकाश में अधर टिक जाता है। क्या यह विद्या का चमत्कार है या तपस्या का? परिव्राजक ने कहा—राजन्! यह विद्या का चमत्कार है।' भगवन्! आपने यह विद्या कहां से सीखी? राजन्! एक बार मैं हिमालय की यात्रा पर गया था। वहां मुझे एक महान् ऋषि के दर्शन हुए। उन्होंने कृपा कर मुझे यह विद्या दी। यह कहते ही वह त्रिदंड धडाम से भूमी पर आ गिरा।

इस प्रकार आचार्य या विद्या-गुरु, चाहे वह कोई भी क्यों न हो, उसका अपलाप नहीं करना चाहिए।[7]

श्लोक ५ :

१३. जो ग्राम्यजन की भांति अशिष्ट बोलता है (जगट्ठभासी)

चूर्णिकार ने इसके चार अर्थ किए हैं—

१. संसार में बोली जाने वाली रूखी, कठोर और निष्ठुर भाषा बोलने वाला।

---

१. वृत्ति, पत्र २३९ : यदि वा—सदपि प्रमादस्खलितमाचार्यादिनाऽऽलोचनादिके अवसरा पृष्टाः सन्तो मातृस्थानेनावर्णवादभयान्निह्नुवते।

२. चूर्णि, पृ० २२१ : जाइतव्व-मरितव्वाइं घातं।

३. वृत्ति, पत्र २३९ : 'घातं'—विनाशं संसारं वा।

४. वही, पत्र २३९ : दोषद्वयदुष्टत्वात्तेषाम्, एकं तावत्स्वयमसाधवो द्वितीयं साधुमानिनः, उक्तं च—

"पावं काऊण सयं, अप्पाणं सुद्धमेव वाहरइ।
दुगुणं करेइ पावं, बीयं बालस्स मंदत्तं॥

५. वही, पृ० २३९ : तदेवमात्मोत्कर्षदोषाद् बोधिलाभमप्युपहत्यानन्तसंसारभाजो भवन्त्यसुमन्त इति।

६. दशवैकालिक निर्युक्ति गाथा, १८१,१८४।

७. दसवेआलियं......, अगस्त्यसिंहस्थविर चूर्णि पृ० ५३।

२. आचार्य, साधु या गृहस्थ को रूखे, कठोर या निष्ठुर वचन कहने वाला।

३. छेदो, भेदो, बांधो, मारो—कहने वाला।

४. लोक-सम्मत जातिवाद के आधार पर बोलने वाला, काने को काना कहने वाला।[1]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जगत् में जो जैसे व्यवस्थित है, उसको वैसे ही कहता है, जैसे—ब्राह्मण को 'डोड', बनिये को 'किराट', शूद्र को आभीर, श्वपाक को चांडाल, काने को काना, लंगड़े को लंगड़ा, कुबड़े को कुबड़ा, कुष्ट वाले को कुष्टी और क्षयरोग से ग्रस्त को क्षयी कहता है। जो पुरुष जिस दोष से युक्त है उसे उसी दोष के माध्यम से कठोर वचन कहता है, वह जगदर्थभाषी होता है।[2]

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसके पाठान्तर के रूप में 'जयट्ठभासी' शब्द दिया है। इसका अर्थ है—जिस किसी प्रकार से असद् बात कहकर अपनी जय चाहने वाला।[3]

१४. जो उपशान्त कलह की उदीरणा करता है (विओसितं जे य उदीरएज्जा)

दो व्यक्ति परस्पर कलह करते हैं। कालान्तर में वे परस्पर क्षमायाचना कर उस कलह को शान्त कर देते हैं। किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो समय-समय पर ऐसी बातें कह देते हैं, जिससे उपशान्त कलह पुनः भडक उठता है।[4]

१५. (अट्ठे व से······पावकम्मो)

अध्व का अर्थ है—राजपथ[5] और दंडपथ का अर्थ है—पगडंडी।[6] कोई व्यक्ति राजपथ के उद्देश्य से पगडंडी पर चल पड़ता है। आगे जाकर वह पगडंडी समाप्त हो जाती है। वह किंकर्त्तव्यविमूढ हो आगे चलता है। उसे अनेक विपदाओं का सामना करना पड़ता है। कभी वह गड्ढे में गिर पड़ता है और कभी विषम कूप में जा पड़ता है। इसी प्रकार विषम मार्ग में चलते हुए उसे पत्थर, कांटे, अग्नि, सर्प और हिंस्र पशुओं का सामना करना पड़ता है।[7]

१६. कठिनाई में फंस जाता है (घासति)

इसका संस्कृत रूप है—ग्रस्यते। इसका अर्थ है—कठिनाई में फंसना। वह पुरुष शारीरिक और मानसिक दुःखों से पीड़ित होता है।[8]

---

१. चूर्णि, पृ० २२१ : जगतः अट्ठा जगतट्ठा जे जगति भाषन्ते, जगति जगति तावत् खर-फरुस-णिट्ठुरा, ण संयतार्था इत्यर्थः। ते पुनराचार्यादीन् साधून् गृहिणो वा खर-फरुस-णिट्ठुराणि भणंति, कक्कसकडुगादीणि वा। अथवा जगदर्था छिन्द्धि भिन्द्धि बद्ध मारयत, जातिवादं वा काण-कुंटादिवादं वा फुडंभाणी वा।

२. वृत्ति, पत्र २३९ : जगत्यर्था जगदर्था ये यथा व्यवस्थिताः पदार्थास्तानाभाषितुं शीलमस्य—जगदर्थभाषी, तद्यथा—ब्राह्मणं डोडमिति ब्रूयात्तथा वणिजं किराटमिति, शूद्रमाभीरमिति, श्वपाकं चाण्डालमित्यादि; तथा काणं काणमिति, तथा खञ्जं कुब्जं वडभमित्यादि; तथा कुष्ठिनं क्षयिणमित्यादि, यो यस्य दोषस्तं तेन खरपरुषं ब्रूयात् यः स जगदर्थभाषी।

३. (क) चूर्णि पृ० २२१ : 'जयट्ठभासी'—पठ्यते च येन तेन प्रकारेणाऽऽत्मजयमिच्छंति।

(ख) वृत्ति, पत्र२३९,२४० : यदि वा जयार्थभाषी यथैवाऽऽत्मनो जयो भवति तथैवाविद्यमानमप्यर्थं भासते तच्छीलश्च—येन केनचित् प्रकारेणासदर्थभाषणेनाप्यात्मनो जयमिच्छतीत्यर्थः :

४. (क) चूर्णि, पृ० २२१ : विसेसेण ओसवितं, विओसितं खामितमित्यर्थः, तं सपक्खं परपक्खं वा क्षामयित्वा पुनरुदीरयति।

(ख) वृत्ति, पत्र २४० : 'विओसियं' ति—विविधमवसितं—पर्यवसितमुपशान्तं द्वन्द्वं—कलहं यः पुनरप्युदीरयेत्, एतदक्तं भवति - कलहकारिभिर्मिथ्यादुष्कृतादिना परस्परं क्षामितेऽपि तत्तद् ब्रूयाद्येन पुनरपि तेषां क्रोधोदयो भवति।

५. चूर्णि, पृ० २२१ : अद्धे·········महापथ इत्यर्थः।

६. (क) चूर्णि, पृ० २२१ : दंडपथ णाम एक्कपदय।

(ख) वृत्ति, पत्र २४० : 'दण्डपथं'—गोदण्डमार्गं (लघुमार्गं)।

७. चूर्णि, पृ० २२१ : तं अध्वउद्देसतो गृहीत्वा गर्तायां घृष्टविषमे कूपे वा पतति, पाषाण-कण्टका-ऽग्न्यहि-श्वापदेभ्यो वा दोषमवाप्नोति।

८. (क) चूर्णि, पृ० २२१ : घासति सारीर-माणसेहिं दुक्खेहिं ति।

(ख) वृत्ति, पत्र २४० : असौ पापकर्मा घृष्यते चतुर्गतिके संसारे यातनास्थानगतः पौनःपुन्येन पीड्यत इति।

श्लोक ६ :

१७. ज्ञातभाषी (णायभासी)

चूर्णिकार ने 'नायभासी' का संस्कृत रूप 'नात्याभाषी' किया है। किन्तु यह शब्द स्पष्ट अर्थ देने वाला नहीं है। इसके तीन अर्थ किए गए हैं—[1]

१. अस्थानभाषी।

२. गुरु पर आक्षेप करने वाला।

३. प्रतिकूलभाषी।

वृत्तिकार ने 'अन्नायभासी' पाठ मानकर उसके दो अर्थ किए हैं—[2]

१. अन्यायपूर्ण वाणी बोलने वाला।

२. जो कुछ मन में आया, उसे बोलने वाला।

हमने इसका अर्थ ज्ञातभाषी—जानी हुई हर बात को कहने वाला किया है।

१८. कलह से परे (अझंझपत्ते)

झंझा का अर्थ है—'कलह'।[3] 'अझंझाप्राप्त' अर्थात् जो कलह को प्राप्त नहीं है।

वृत्तिकार ने इसका एक अर्थ—अमायाप्राप्त भी किया है।[4] सातवें श्लोक में वृत्तिकार ने झंझा के दो अर्थ किए हैं—क्रोध और माया।[5]

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने विकल्प में इसे तृतीया विभक्ति के बहुवचन का रूप 'अझञ्झाप्राप्तैः' मानकर इसका अर्थ—वह अकलहप्राप्त व्यक्तियों के समान नहीं होता, किन्तु गृहस्थों के समान होता है—किया है।[6]

१९. गुरु के निर्देश में चलने वाला (ओवायकारी)

अवपात का अर्थ है—आचार्य का निर्देश, जैसे—ऐसा करो, ऐसा मत करो, जाओ, आओ आदि को मानने वाला 'अवपातकारी, होता है। एक शब्द में इसका अर्थ है—आचार्यनिर्देशकारी।[7]

वृत्तिकार ने 'उववायकारी' शब्द मानकर उसका संस्कृत रूप 'उपपातकारी' दिया है। इसका वही अर्थ है जो 'ओवायकारी' का है।[8]

वृत्तिकार ने पाठान्तर के रूप में 'उवायकारी' शब्द मानकर उसका अर्थ—शास्त्रोक्त विधि के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला—किया है।[9]

चूर्णिकार ने वैकल्पिक रूप में 'उववाय' पाठ देकर उसका अर्थ सूत्रोपदेश किया है।[10]

---

१. चूर्णि पृ० २२१ : नात्याभाषी अस्थानभाषी गुर्वधिक्षेपी प्रतिकूलभाषी।

२. वृत्ति, पत्र २४० : अन्याय्यं भाषितुं शीलमस्य सोऽन्याय्यभाषी, यत्किञ्चनभाष्यस्थानभाषी गुर्वाद्यधिक्षेपकरो वा।

३. चूर्णि, पृ० २२१ : झंझा णाम कलहः।

४. वृत्ति, पत्र २४० : अझञ्झां प्राप्तः—अकलहप्राप्तो वा भवत्यमायाप्राप्तो वा।

५. वृत्ति, पत्र २४०,२४१ : अझंझा—अक्रोधोऽमाया वा।

६. (क) चूर्णि, पृ० २२१ : अथवा नासौ समो भवति अझञ्झाप्राप्तैः, (झञ्झाप्राप्तः) तु गृहिभिः समो भवति, तेन नैवंविधेन भाव्यं शिष्येण।

(ख) वृत्ति, पत्र २४०।

७ चूर्णि, पृ० २२१ : ओवातो णाम आचार्यनिर्देशः, तद्धि एवं कुरु मा चैवं कुरु तथा गच्छ आगच्छेति वा।

८. वृत्ति, पत्र २४० : उपपातकारी—आचार्यनिर्देशकारी—यथोपदेशं क्रियासु प्रवृत्तः।

९. वही, पत्र २४० : यदि वा उपायकारित्ति सूत्रोपदेशप्रवर्त्तकः।

१०. चूर्णि, पृ० २२१ : अथवा सूत्रोपदेशः उववायः।

२०. लज्जालु (हिरीमणे)

ह्री, लज्जा और संयम—ये तीनों एकार्थक हैं। ह्रीमान् अर्थात् लज्जावान् या संयमवान्। वह संयमी व्यक्ति अनाचार का सेवन करते हुए आचार्य आदि गुरुजनों तथा लोक व्यवहार से लज्जा का अनुभव करता है।[1]

२१. एकान्तदृष्टि वाला (एगंतदिट्ठी)

एकान्तदृष्टि का अर्थ है—एक अन्त वाली दृष्टि, वैसी दृष्टि जिसका एक ही अन्त हो—लक्ष्य हो। आगमों में यह साधु के विशेषण के रूप में बहु-प्रयुक्त शब्द है। स्थान-स्थान पर साधु को 'अहीव एगंतदिट्ठी'—सर्प की भांति एकांतदृष्टि वाला होना कहा है। सर्प जैसे अपने लक्ष्य पर ही दृष्टि रखता है उसी प्रकार मुनि को भी लक्ष्यवेध दृष्टि वाला होना चाहिए।

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—सम्यग्दृष्टि और असहायी।[2]

वृत्तिकार ने जीव आदि पदार्थों के प्रति एक मात्र दृष्टि रखने वाले को एकान्तदृष्टि कहा है।[3]

देखें—५।५१ का टिप्पण।

२२. छद्म से मुक्त...होता (अमाइरूवे)

जो छद्म से मुक्त होकर धर्म और गुरु की सेवा करता है वह 'अमायिरूप' होता है।[4]

श्लोक ७ :

२३. पुरुषजात (पुरिसजाते)

यह सामान्य रूप से पुरुष प्रकारवाची शब्द है। स्थानांग सूत्र में इसका बहुलता से प्रयोग मिलता है।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—पुरुषार्थकारी किया है।[5]

२४. प्रिय (पेसले)

इसके दो अर्थ हैं—मीठा बोलने वाला अथवा विनय आदि गुणों से प्रीति उत्पन्न करने वाला।[6]

२५. परिमित बोलता है (सुहुमे)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—१. जो सूक्ष्म बोलता है अर्थात् अधिक नहीं बोलता, २. जो जोर-जोर से नहीं बोलता।[7]

वृत्तिकार ने इसका भिन्न अर्थ किया है। जो सूक्ष्म अर्थ को देखने वाला है या सूक्ष्म (थोड़ा) बोलने वाला है, वह सूक्ष्म है।[8]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० २२१ : ह्रीः लज्जा संयम इत्यनर्थान्तरम्, ह्रीमान् संयमवानित्यर्थः। लज्जते च आचार्यादीनां अनाचारं कुर्वन् लोकतश्च।
(ख) वृत्ति, पत्र २४० : ह्री :—लज्जा संयमो मूलोत्तरगुणभेदभिन्नस्तत्र मनो यस्यासौ ह्रीमनाः, यदि वा अनाचारं कुर्वन्नाचार्यादिभ्यो लज्जते स एव मुच्यते।

२ चूर्णिः पृ० २२१ : एगंतदिट्ठी नाम सम्मद्दिट्ठी असहायी।

३ वृत्ति, पत्र २४० : तथैकान्तेन तत्त्वेषु—जीवादिषु पदार्थेषु दृष्टिर्यस्यासावेकान्तदृष्टिः।

४. (क) चूर्णि, पृ० २२१ : अमायरूपी नाम न छद्मना धर्मं गुर्वादींश्चोपचरति।
(ख) वृत्ति, पत्र २४० : अमायिनो रूपं यस्यासावमायिरूपोऽशेषच्छद्मरहित इत्यर्थः, न गुर्वादीन् छद्मनोपचरति नाप्यनेन केनचित्साधं छद्मव्यवहारं विधत्त इति।

५. वृत्ति, पत्र २४० :········ पुरुषार्थकारी।

६. चूर्णि, पृ० २२२ : पेसलो नाम पेसलवाक्यः, अथवा विनयादिभिः शिष्यगुणैः प्रीतिमुत्पादयति पेशलः।

७ चूर्णि, पृ० २२२ : सुहुमो णाम सुहुमं भाषते अबहुं च अविघुष्टं च नोच्चैः।

८. वृत्ति, पत्र २४० : सूक्ष्मः—सूक्ष्मदर्शित्वात् सूक्ष्मभाषि (वि) त्वाद्वा सूक्ष्मः।

२६. ऋजु आचरण करता है (सुउज्जुयारे)

इसका अर्थ है—अच्छी प्रकार से ऋजु आचरण करने वाला। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने ऋजु के दो अर्थ किए हैं—संयम और सरल। ऋजुकारी वह है जो संयमपूर्ण प्रवृत्ति करता है या सरल प्रवृत्ति करता है, जो कहता है वैसे ही सरलता से करता है, विलोम नहीं करता। जो गुरु के उपदेश के अनुसार आचरण करता है किन्तु वक्रता से आचार्य आदि के वचन का खंडन नहीं करता, वह ऋजु आचार वाला होता है।[1]

२७. शान्तचित्त रहता है (तहच्ची)

अचि का अर्थ है लेश्या, चित्तवृत्ति। जो गुरु द्वारा अनुशासित होने पर भी पूर्ववत् अपनी चित्तवृत्ति को शुद्ध रखता है, शान्त रखता है वह तथार्चि होता है। अनुशासन से पूर्व उसकी चित्तवृत्ति शांत थी, विशुद्ध थी और अनुशासित होने पर भी उसमें कोई अन्तर नहीं आया, वह पुरुष तथार्चि होता है। जो व्यक्ति अनुशासित होने पर क्रोध या मान करता है, वह तथार्चि नहीं होता।[2]

२८. (समे हु से होइ अभंझपत्ते)

चूर्णिकार का अर्थ है--वही मुनि वीतराग व्यक्तियों के तुल्य होता है।

चूर्णिकार ने 'सम' का अर्थ तुल्य और 'अभंझपत्ते' का अर्थ—वीतराग व्यक्तियों से—किया है।[3]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—

१. वह मध्यस्थ होता है—न निन्दा से रुष्ट होता है और न प्रशंसा से तुष्ट। वह अक्रोधी और अमायावी होता है।
२. वह मध्यस्थ होता है तथा वीतराग व्यक्तियों के तुल्य होता है।[4]

श्लोक ८ :

२९. संयमी और ज्ञानी (वसुमं ··संखाय)

'वसु' का अर्थ है—द्रव्य। लोकोत्तर प्रसंग में इसका अर्थ है—संयम।[5]

चूर्णिकार ने 'वुसिमं' पाठ मान कर उसका अर्थ संयममय आत्मा वाला किया है।[6]

संख्या का अर्थ है--ज्ञान।[7] हमने इस शब्द का संस्कृत रूप 'संख्याक:' दिया है और वृत्तिकार ने 'संख्यावन्तम्'।[8] इसका अर्थ है ज्ञानी।

३०. (संखाय वायं अपरिच्छ कुज्जा)

वह अपने आपको ज्ञानी मानता हुआ कहता है—आज इस संसार में मेरे जैसा संयमी और सामाचारी का पालन करने वाला दूसरा कौन है?' रोप, प्रतिनिवेश या अकृतज्ञता के भाव से अथवा मान के वशीभूत होकर वह परीक्षा किए बिना ही अपना

---

१. (क) चूर्णि, पृ० २२२ : उज्जुगो णाम संजमो, जं वा वुच्चति तं उज्जुगमेव करेति ण विलोमेति।
(ख) वृत्ति, पत्र २४० : ऋजु--संयमस्तत्करणशील:—ऋजुकर:, यदि वा उज्जुचारे त्ति यथोपदेशं य: प्रवर्तते, न तु पुनर्वक्रतयाऽऽचार्यादिवचनं विलोमयति—प्रतिकूलयति।

२. चूर्णि, पृ० २२२ : अर्चिरिति लेश्या, तथेति यथा पूर्वं लेश्या तथालेश्य एव भवति, पूर्वमसौ विशुद्धलेश्य आसीत् अनुशास्यमानोऽपि तथैव भवायतो। तथा च न क्रोधाद्वा मानाद्वा विशुद्धलेश्यो भवति।

३. चूर्णि, पृष्ठ २२२ : समो नाम तुल्य: असौ हि समो भवत्यझञ्झप्राप्तै: वीतरागैरित्यर्थ:।

४. वृत्ति, पत्र २४०-२४१ : समो मध्यस्थो निन्दायां पूजायां च न रुष्यति, नापि तुष्यति; तथा अझंझा—अक्रोधोऽमाया वा तां प्राप्तोऽझंझाप्राप्त:, यदि वाऽझंझाप्राप्तै:—वीतरागै: सम:—तुल्यो भवतीति।

५. चूर्णि पृ० २२२ : वुसिमं संय [म] मयमात्मानं।

६. वृत्ति, पत्र २४१ : वसु—द्रव्यं, तच्च परमार्थचिन्तायां संयम:।

७. चूर्णि, पृ० २२२ : संख्या इति ज्ञानम्।

८. वृत्ति, पत्र २४१ : संख्यायन्ते—परिच्छिद्यन्ते जीवादय: पदार्था येन तज्ज्ञानं संख्येत्युच्यते।

आत्मोत्कर्ष दिखाता है।[१]

३१. मैं सबसे बड़ा तपस्वी हूं (तवेण वा……)

'मैं सबसे बड़ा तपस्वी हूं' ऐसा मान कर वह दूसरे साधुओं को कहता है—तुम सब ओदनमुंड हो—रोटी के लिए साधु बने हो। तुम में से कौन है मेरे जैसी तपस्या करने वाला ?[२]

३२. (अण्णं जणं पस्सति बिंबभूतं)

वैसा आत्मोत्कर्षी दूसरों को केवल बिंबभूत—मनुष्य आकृति मात्र मानता है। उनमें प्राप्त विज्ञान आदि मानवीय गुणों को नहीं देखता।[३]

चूर्णिकार ने 'बिंबभूतं' के स्थान पर 'चिंधभूतं' पाठान्तर का उल्लेख कर उसका अर्थ इस प्रकार किया है—वह आत्माभिमानी व्यक्ति दूसरों को जल में प्रतिबिंबित चन्द्रमा या नकली सिक्के की भांति अर्थशून्य मानता है। वह केवल उन्हें लिंगमात्र को धारण करने वाला मानता है। उनमें श्रमणगुणों को नहीं मानता।[४]

वृत्तिकार ने 'बिंबभूत' का यही अर्थ किया है।[५]

श्लोक ९ :

३३. माया के द्वारा (कूडेण)

'कूट' शब्द के अनेक अर्थ हैं—माया, झूठ, यथार्थ का अपलाप, धोखा, चालाकी, अन्त, समूह, मृग को पकड़ने का यंत्र, आदि-आदि।[६]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—मृग को बांधने का पाश किया है।[७]

प्रस्तुत श्लोक में इसका अर्थ 'माया' ही उचित लगता है। क्योंकि पूर्व श्लोक में मुनि किस प्रकार माया कर अपनी यथार्थता को छिपाकर लोगों को धोखा देता है, उसका स्पष्ट उल्लेख है।

३४. संसार में भ्रमण करता है (पलेइ)

वह जन्म-कुटिल संसार में बार-बार प्रलीन होता है, अनेक बार जन्म-मरण करता है।[८]

---

१. चूर्णि, पृ० २२२ : संखाए त्ति एवं गणयित्वा, अथवा संख्या इति ज्ञानम्, ज्ञानवन्तमात्मानं मत्वा। वदनं वादः, किं वदति ? कोऽन्यो मयाऽद्यकाले संयमे सदृशः सामाचारीए वा ? । अपरिक्ख णाम अपरीक्ष्य भणति रोस-पडिणिवेस-अकयण्णुताए वा, अथवा मानदोषावपरीक्ष्य वदति।

२. (क) चूर्णि, पृ० २२२ : षष्ठादीनां तपसां कोऽन्यो मया सदृशो भवतामोदनमुण्डानाम् ?
(ख) वृत्ति, पत्र २४१ : तपसा—द्वादशभेदभिन्नेनाहमेवात्र सहितो—युक्तो न मत्तुल्यो विकृष्टतपोनिष्टप्तदेहोऽस्तीत्येवंमत्वाऽऽत्मोत्कर्षाभिमानीति।

३. चूर्णि, पृ० २२२ : बिंबभूतमिति मनुष्याकृतिमात्रम्, द्रव्यमेव च केवलं पश्यति न तु विज्ञानादिमनुष्यगुणानन्यत्र प्रतिमन्यते।

४. वही, पृष्ठ २२२ : अथवा—"चिंध [भूत] मिति" लिङ्गमात्रमेवान्यत्र पश्यति, न तु श्रमणगुणान् उदकचन्द्रकवत् कूटकार्षापणवच्चेत्यादि।

५ वृत्ति, पत्र २४१ : अन्यं जनं—साधुलोकं गृहस्थलोकं वा, 'बिम्बभूतं' जलचन्द्रवत्तदर्थशून्यं कूटकार्षापणवद्वा लिङ्गमात्रधारिणं पुरुषाकृतिमात्रं वा 'पश्यति'—अवमन्यते।

६. आप्टे, संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—'कूट' शब्द।

७. वृत्ति, पत्र २४१ : कूटवत्कूटं यथा कूटेन मृगादिर्बद्धः।

८ (क) चूर्णि, पृ० २२२ : संयमातो पलेऊण पुनर्जन्मकुटिले संसारे पुनः पुनर्लीयन्ते प्रलीयन्ते।
(ख) वृत्ति, पत्र २४१ : असौ संसारचक्रवालं पर्यैति, तत्र वा प्रकर्षेण लीयते प्रलीयते अनेकप्रकारं संसारं बंभ्रमीति।

३५. मुनि-पद में (मोणपदंसि)

चूर्णिकार ने मौन पद का अर्थ—संयम-स्थान किया है।[1] वृत्तिकार ने भी मूल अर्थ यही किया है। वैकल्पिक रूप में उन्होंने इसका अर्थ—सर्वज्ञ द्वारा प्रतिपादित मार्ग—किया है।[2]

३६. गोत्र (उच्चत्वाभिमान) (गोते)

चूर्णिकार ने 'गोत्र' के दो अर्थ किए हैं[3]—

१. गौरव—अभिमान। वह तीन प्रकार का है—ऋद्धि का गौरव, रस का गौरव, और सुख-सुविधा का गौरव।
२. अठारह हजार शील के अंग।

वृत्तिकार के अर्थ इनसे भिन्न हैं[4]—

१. जो यथार्थ अर्थ का प्रतिपादन कर वाणी की रक्षा करता है, वह समस्त आगमों का आधारभूत सर्वज्ञ का मत।
२. उच्च गोत्र आदि।

हमने इसका अर्थ—उच्चत्व का अभिमान—किया है।

जैन आगमों में 'गोत्रमद' न करने का स्थान-स्थान पर निषेध किया गया है। निर्ग्रन्थ धर्म में प्रत्येक वर्ग के लोग दीक्षित होते थे। वे विभिन्न गोत्रों से आते थे। यदि गोत्र के आधार पर एक-दूसरे को उच्च या हीन माना जाए तो फिर परंपरा रह नहीं सकती। इसीलिए भगवान् महावीर ने तथा उनके उत्तरवर्ती आचार्यों ने गोत्रमद पर प्रहार किया और कहा कि प्रव्रज्या ले लेने पर सभी बन्धु हो जाते हैं, फिर चाहे वे किसी भी गोत्र के हों, किसी भी जाति या वर्ग के हों। इस समानता के प्रतिपादन ने जैन परंपरा का द्वार सबके लिए उद्घाटित रखा और इसीलिए सभी वर्ग, जाति और गोत्र के लोग इसमें सम्मिलित हुए।

अगले दो श्लोकों में गोत्र-मद के परिहार की बात कही गई है। यह श्लोक उनकी पृष्ठभूमि है।

३७. (जे माणणट्ठेणः······अबुज्झमाणे)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इनका भिन्न-भिन्न प्रकार से अर्थ किया है।

चूर्णिकार के अनुसार 'माणणऽट्ठेण विउक्कसेज्जा' का अर्थ है—वह पुरुष मान के लिए (संयम, प्रज्ञा अथवा) अन्य किसी प्रकार से उत्कर्ष दिखाता है।[5]

वृत्तिकार के अनुसार प्रस्तुत दो चरणों का अर्थ है[6]—

जो पुरुष लाभ, पूजा सत्कार आदि के द्वारा अपना उत्कर्ष दिखाता है, (वह मुनिपद में नहीं है।) जो परमार्थ को नहीं जानता हुआ संयम अथवा अन्य किसी प्रकार से उत्कर्ष दिखाता है वह सब शास्त्रों को पढ़ता हुआ तथा अर्थ को जानता हुआ भी सर्वज्ञ के मत को यथार्थरूप में नहीं जानता।

चूर्णिकार ने 'वसुमण्णतरेण' के स्थान पर 'वसु पण्णऽण्णतरेण' पाठ मान कर व्याख्या की है।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० २२२ : पदं नाम स्थानम्, मुनेः पदं मौनपदम्, संयमस्थानमित्यर्थः।

२. वृत्ति, पत्र २४१ : मुनीनामिदं मौनं तच्च तत्पदं च मौनपदं—संयमस्तत्र मौनीन्द्रे वा पदे—सर्वज्ञप्रणीतमार्गे।

३. चूर्णि, पृ० २२२ : गोते त्ति गारवः·········अथवा गोत्रमिति अष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि।

४. वृत्ति, पत्र २४१ : सर्वज्ञमतमेव विशिनष्टि—गां—वाचं त्रायते—अर्थाविसंवादनतः पालयतीति गोत्रं तस्मिन् समस्तागमाधारभूत इत्यर्थः।

५. चूर्णि, पृ० २२२ : जे माणणट्ठेण विउक्कसेज्जा, माननं एवार्थः माननार्थः, मानप्रयोजनः माननिमित्त इत्यर्थः, विविधं उत्कर्षं करोति।

६. वृत्ति, पत्र २४१ : यश्च माननं-पूजनं सत्कारस्तेनार्थः प्रयोजनं तेन माननार्थेन विविधमुत्कर्षमेवात्मानं, यो हि माननार्थेन-लाभ पूजासत्काराविना मदं कुर्यान्नासौ सर्वज्ञपदे विद्यते।

७. चूर्णि, पृ० २२२।

वृत्तिकार ने 'अण्णतर' शब्द से ज्ञान आदि का ग्रहण किया है ।[1]

चूर्णिकार ने 'प्रज्ञा' का अर्थ ज्ञान किया है। वह तीन प्रकार का है —सूत्र, अर्थ और सूत्र-अर्थ (तदुभय) । ज्ञान का मद करते हुए वह कहता है—मेरे पास शुद्ध सूत्र है। मैं सूत्र का विशुद्ध उच्चारण कर सकता हूं। मुझ में अर्थ-ग्रहण की पटुता भी है। मैं अर्थ का विस्तार करने में समर्थ हूं। मैं लौकिक सिद्धान्तों का ज्ञाता हूं। दूसरे लोगों से क्या। दूसरे सभी पशु की तरह विचरण करते हैं, चन्द्रमा के नीचे घूमते रहते हैं ।[2]

'वसुम' इसमें मकार अलाक्षणिक है ।

श्लोक १० :

३८. ब्राह्मण, क्षत्रिय (माहणे खत्तिए)

चूर्णिकार ने माहण का अर्थ—साधु किया है। वैकल्पिक रूप में इसका अर्थ है—वह व्यक्ति जो साधु बनने से पूर्व ब्राह्मण जाति का सदस्य था ।[3]

चूर्णि के अनुसार क्षत्रिय के तीन अर्थ हैं—राजा, राजा के कुल में उत्पन्न या उस जाति में उत्पन्न कोई दूसरा ।[4]

वृत्तिकार ने इक्ष्वाकु आदि विशिष्ट वंशो में उत्पन्न व्यक्ति को क्षत्रिय माना है ।[5]

३९. उग्रपुत्र और लिच्छवी (उग्गपुत्ते ·····लेच्छवी)

चूर्णिकार ने उग्र और लिच्छवी को क्षत्रियों का ही गोत्र-विशेष बतलाया है ।[6]

वृत्तिकार ने 'उग्रपुत्र' और 'लिच्छवी' को इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न क्षत्रियों की विशेष जाति माना है ।[7]

४०. प्रव्रजित (पव्वइए)

जो राज्य और राष्ट्र को छोड़कर अथवा अल्प या वहुत परिग्रह को छोड़कर प्रव्रजित होता है ।[8]

४१. दूसरे का दिया हुआ खाता है (परदत्तभोई)

दूसरे (गृहस्थ) के लिए पका कर दिया हुआ तथा एषणीय आहार-पानी लेने वाला 'परदत्तभोजी' कहलाता है। इस गुणके उपलक्षण से अन्य सभी संयमगुणों का ग्रहण किया गया है ।[9]

४२. मान के वशीभूत होकर गोत्र का मद करता है (गोतेण जे थब्भति माणबद्धे)

हमने इसका अर्थ—मान के वशीभूत होकर गोत्र का मद करता है—ऐसा किया है ।

वृत्तिकार ने 'गोत्ते ण जे थंभभिमाणबद्धे'—ऐसा पाठ मानकर सर्वथा भिन्न अर्थ किया है। उनके अनुसार इसका अर्थ है—मुनि अभिमानास्पद गोत्र में उत्पन्न होकर भी गर्व न करे ।[10]

---

१. वृत्ति, पत्र २४१ : अन्यतरेण ज्ञानादिना ।

२. चूर्णि, पृ० २२२ : प्रज्ञानं—ज्ञानं नाम सूत्रमर्थं उभयं वा, ममाहि (? मम हि) कंठोट्ठविप्पमुक्कं विशुद्धं सुत्तं, अर्थग्रहणपाटवविस्तरतश्चैतान् कथयामि लोक-सिद्धान्तवेत्ताऽहम्, किमन्यैर्जनैः? मृगास्त्वन्ये चरन्ति चन्द्राधस्ताद्वा भ्रमन्ति ।

३. चूर्णि, पृ० २२३ : माहण इति साधुरेवः जो वा पूर्वं ब्राह्मणजातिरासीत् ।

४. चूर्णि, पृ० २२३ : क्षत्रियो राजा तत्कुलीयोऽन्यतरो वा ।

५ वृत्ति, पत्र २४१ : क्षत्रियो वा इक्ष्वाकुवंशादिकः ।

६. चूर्णि, पृ० २२३ : उग्ग इति लेच्छवीति च क्षत्रियाणामेव गोत्रभाव ।

७. वृत्ति, पत्र २४१ : इक्ष्वाकुवंशादिकः तद्भेदमेव दर्शयति—'उग्रपुत्रः'—क्षत्रियविशेषजातीयः, तथा 'लेच्छइ' त्तिक्षत्रियविशेष एव ।

८. चूर्णि, पृ० २२३ : चइत्ताणं रज्जं रट्ठं च पव्वइतो, अथवा अप्पं वा बहुं वा चइत्ता पव्वइतो ।

९. चूर्णि, पृ० २२३ : परतो पापच्चदत्तमेषणीयं च भुंक्ते, शेषैरन्यैः सर्वैरपि संयमगुणैः युक्तः ।

१०. वृत्ति, पत्र २४१, २४२ : गोत्रे—उच्चैर्गोत्रे—हरिवंशस्थानीये समुत्पन्नोऽपि नैव 'स्तम्भं'—गर्वमुपयायादिति, किंभूते गोत्रे ? 'अभिमानबद्धे'—अभिमानास्पदे इति :

वृत्तिकार ने 'गोत्तेण' में 'गोत्ते' को और 'ण' को अलग-अलग मान लिया है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि जिसने सिर मुंडा लिया, जिसने तुण्ड (मुंह) भी मुंडा लिया अर्थात् जो घर-घर से भीख मांग कर खाता है, वह फिर गर्व कैसे कर सकता है।[1]

श्लोक ११ :

४३. जाति और कुल (जाती व कुलं)

जाति और कुल दो हैं। जाति का संबंध मातृपक्ष से होता है और कुल का संबंध पितृपक्ष से होता है। यही जाति और कुल में अन्तर है।[2]

४४. विद्या और आचरण (विज्जाचरणं)

चूर्णिकार ने विद्या से ज्ञान और दर्शन तथा आचरण से चारित्र और तप का ग्रहण किया है।[3] विद्या और आचरण के अतिरिक्त कोई भी साधन त्राण नहीं दे सकता। दूसरे शब्दों में विद्या से 'ज्ञान' और आचरण से 'क्रिया' का ग्रहण किया जा सकता है। यह शब्द 'ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षः' का संवादी है।

४५. गृहस्थ-कर्म (जाति और कुल के मद) का (अगारिकम्मं)

इसका शब्दार्थ है—गृहस्थ-कर्म। चूर्णिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में जाति आदि के मद को और ममकार तथा अहंकार को गृहस्थ-कर्म माना है।[4]

वृत्तिकार ने पापमयी प्रवृत्ति अथवा जाति आदि के मद को गृहस्थ-कर्म कहा है।[5]

४६. वह समर्थ नहीं होता (ण से पारए)

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं[6]—

१. जो गृहस्थ-कर्म का सेवन करता है वह व्यक्ति धर्म, समाधि और मार्ग का पारगामी नहीं होता।

२. वह मोक्ष का पारगामी नहीं होता।

३ वह न स्वयं को और न 'पर' को पार पहुंचाने में समर्थ होता है।

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जो गृहस्थ-कर्म का सेवन करता है वह समस्त कर्मों का क्षय करने में समर्थ नहीं होता।[7]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० २२३ : जो गोतेण जात्यादिना स्तभ्यते, स्वरूपतो जो कोइ हरिएसबलत्याणीयो मेतज्जयाणीयो वा। अन्यतरं वा एवंविधं द्रमकादिप्रव्रजितं निन्दति। अथवा जे माहणा खत्तिया अवुया उग्गपुत्ता अवु लेच्छवी वा जे पव्वइता प्रव्रजिता अपि भूत्वा शिरस्तुण्डमुण्डनं कृत्वा परगृहाणि भिक्षार्थमटन्तः मानं कुर्वन्तीत्यतीव हास्यम्, कामं मानोऽपि क्रियते यद्यसौ श्रेयसे स्यात्।

(ख) वृत्ति, पत्र २४२ : एतदुक्तं भवति विशिष्टजातीयतया सर्वलोकाभिमान्योऽपि प्रव्रजितः सन् कृतशिरस्तुण्डमुण्डनो भिक्षार्थं परगृहाण्यटन् कथं हास्यास्पदं गर्वं कुर्यात् ?, नैवासौ मानं कुर्यादिति तात्पर्यार्थः।

२. (क) चूर्णि. पृ० २२३ : जातिकुलयोर्विभाषा मातृसमुत्थेत्यादि।

(ख) वृत्ति, पत्र २४२ : मातृसमुत्था जातिः, पितृसमुत्थं कुलम्।

३. चूर्णि पृ० २२३ : विद्याग्रहणाद् ज्ञानदर्शने गृहीते, चरणग्रहणात् संयम-तपसी।

४ चूर्णि, पृ० २२३ : अकारिणं कर्म अकारिकर्म, तद्यथा—अहं जात्यादिशुद्धो, न भवानिति, ममकारा-ऽहङ्कारो वा इत्यादि अगारिकर्म।

५. वृत्ति, पत्र २४२ : अगारिणां कर्म—अनुष्ठानं सावद्यमारम्भं जातिमदादिकं वा।

६. चूर्णि, पृ० २२३ : नासौ पारगो भवति धर्म-समाधि-मार्गाणां विमोक्षस्य वा, अथवा नाऽऽत्मनः परेषां वा तारको भवति।

७. वृत्ति, पत्र २४२ : न चासावगारिकर्मणां सेवकोऽशेषकर्ममोचनाय पारगो भवति, निःशेषकर्मक्षयकारी न भवतीति भावः।

श्लोक १२ :

४७. अकिंचन (णिक्किंचणे)

चूर्णिकार ने 'णिगिणे' पाठ मान कर उसका अर्थ—द्रव्य अचेल किया है।[1]

४८. रूक्षजीवी (सुलूहजीवी)

चूर्णिकार ने 'रूक्ष' के दो अर्थ किए है—संयम और अन्त-प्रान्त आहार। जो संयमी जीवन जीता है या जो अन्त-प्रान्त आहार से जीवन यापन करता है, वह सुरूक्षजीवी होता है।[2]

वृत्तिकार ने चने आदि अन्त-प्रान्त आहार करने वाले को रूक्षजीवी माना है।[3]

४९. गर्व करता है (गारवं)

यहां छन्द की दृष्टि से एक 'वकार' का लोप माना गया है—गारववं। गौरववान् का अर्थ है—जाति आदि का गर्व करने वाला।

५०. प्रशंसा चाहता है (सिलोगगामी)

इसका अर्थ है—जाति आदि का प्रकाशन कर दूसरों से प्रशंसा चाहने वाला।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—आत्मश्लाघा चाहने वाला किया है।[4]

चूर्णिकार ने इस शब्द की कोई व्याख्या नहीं की है।

५१. यह आजीविका है (आजीवमेयं)

अकिंचनता, भिक्षाचरी और रूक्षभोजित्व—ये आजीविका के साधन मात्र बन जाते हैं यदि भिक्षु इनके माध्यम से अभिमान करता है और आत्म प्रशंसा चाहता है।[5]

जाति, कुल, गण, कर्म और शिल्प—ये पांच आजीविकाएं हैं, आजीविका के साधन हैं। जो व्यक्ति इनका उत्कर्ष दिखाकर या इनके आधार पर जीवन-यापन करता है, वह वस्तुतः साधक नहीं है, केवल अपना पेट पालने वाला है।[6]

५२. विपर्यास (जन्म-मरण) को प्राप्त होता है (विप्परियासुवेति)

यहां छन्द की दृष्टि से 'मुवेति' के मकार का लोप किया गया है।

चूर्णिकार के अनुसार विपर्यास का अर्थ है—जन्म-मरण।[7]

वृत्तिकार ने जन्म, जरा, मरण, रोग, शोक, आदि उपद्रवों को विपर्यास माना है।[8]

---

१. चूर्णि, पृ० २२३ : निगिणो नाम द्रव्याचेलः।

२. चूर्णि, पृ० २२३ : लूहो संयमः, तेन जीवति अन्तप्रान्तेन।

३. वृत्ति, पत्र २४२ : सुष्ठु रूक्षम्—अन्तप्रान्तं वल्लचणकादि तेन जीवितुं प्राणधारणं कर्तुं शीलमस्य स सुरूक्षजीवी।

४. वृत्ति, पत्र २४२ : श्लोककामी—आत्मश्लाघाभिलाषी।

५. वृत्ति, पत्र २४२ : स चैवंभूतः परमार्थमबुध्यमान एतदेवाकिञ्चनत्वं सुरूक्षजीवित्वं वाऽऽत्मश्लाघातत्परतया आजीवम्—आजीविकामात्मवर्तनोपायं कुर्वाणः।

६. चूर्णि, पृ० २२३ : जाती कुल गण कम्मे सिप्पे आजीवणा तु पचंविधा। [पिण्डनि० गा ४३७] जात्या सम्पन्नोऽहम् इति मानं करोति, प्रकाशयति चाऽऽत्मानं स्वपक्षे परपक्षे, तथा चैनं कश्चित् पूजयति एसा हि आजीविका भवति भवबोधस्य।

७. चूर्णि, पृ० २२३ : विपर्यासो नाम जाति-मरणे।

८. वृत्ति, पत्र २४२ : विपर्यासं—जातिजरामरणरोगशोकोपद्रवमुपैति—गच्छति।

श्लोक १३ :

५३. सुसंस्कृतभाषी (भासवं)

भाषावान् के दो अर्थ हैं--सत्यभाषी या धर्मकथा करने की लब्धि से युक्त।[1]

भाषा के दोषों और गुणों को जानने के कारण सही भाषा बोलने वाला भाषावान् कहलाता है—यह वृत्तिकार का अर्थ है।[2]

५४. वाग्पटु (सुसाहुवादी)

जो हित, मित, और प्रिय बोलता है उसे सुसाधुवादी कहते हैं। जो मुनि क्षीरमध्वाश्रव आदि लब्धि से संपन्न होते हैं, उनकी वाणी बहुत ही मधुर होती है। वे सुसाधुवादी कहे जाते हैं।[3]

५५. प्रतिभा-संपन्न (पडिहाणवं)

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[4]—

१. जो औत्पत्तिकी आदि बुद्धि के गुणों से युक्त है, जो दूसरे व्यक्ति द्वारा किए गए आक्षेपों का तत्काल उत्तर देने में समर्थ है, वह प्रतिभावान् होता है।

२. जो धर्मकथा करने के समय परिषद् में उपस्थित व्यक्ति कौन-कैसे हैं? वे किस देव को मानने वाले हैं? वे किस दर्शन में विश्वास करते हैं?— आदि का अपनी बुद्धि से संकलन कर फिर धर्मकथा में प्रवृत्त होता है, वह प्रतिभावान् कहलाता है।

चूर्णिकार ने आक्षेप का उत्तर देने वाले औत्पत्तिकी आदि बुद्धि से युक्त मुनि को प्रतिभानवान् बतलाया है।[5] उनके अनुसार यह वैकल्पिक पाठ है। उनका मूल पाठ है—पणिधाणवं—प्रणिधानवान्।[6] चूर्णिकार ने इस शब्द की व्याख्या में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध के दो स्थल उद्धृत किए हैं[7]—

१. वह भिक्षु कालज्ञ, बलज्ञ, मात्रज्ञ, क्षेत्रज्ञ, क्षणज्ञ, विनयज्ञ, समयज्ञ, भावज्ञ,············आदि होता है।

२. यह पुरुष कौन है? यह किस दर्शन का अनुयायी है?, ऐसा विमर्श करना।

प्रस्तुत आगम के १४।१७ में 'पडिभाणवं' शब्द आया है। चूर्णिकार ने 'प्रतिभा' के दो निरुक्त किए हैं—'तांस्तान् प्रति अर्थान् भातीति प्रतिभा 'पभणति वा प्रतिभा।' इनका अर्थ है—उन-उन लोगों के प्रति अर्थ का प्रकाश करने वाली तथा जो प्रकृष्टरूप में निरूपण करती है। उन्होंने प्रतिभावान् का अर्थ—श्रोताओं के संशय को मिटाने वाला किया है।[8]

वृत्तिकार ने यहां इसका अर्थ—उत्पन्न प्रतिभा वाला किया है।[9]

---

१. चूर्णि, पृ० २२३ : सत्यभाषावान् धर्मकथालब्धियुक्तो वा भाषावान्।

२. वृत्ति, पत्र २४२ : भाषागुणदोषज्ञतया शोभनभाषायुक्तो भाषावान्।

३. (ख) चूर्णि, पृष्ठ २२३ : सण्ठु साधु वदति सुसाधुवादी, मृष्टाभिधानो वा क्षीरमध्वाश्रवादि।

(ख) वृत्ति, पत्र २४२ : सुष्ठु साधु—शोभनं हितं मितं प्रियं वदितुं शीलमस्येत्यसौ सुसाधुवादी, क्षीरमध्वाश्रववादीत्यर्थः।

४. वृत्ति, पत्र २४२, २४३ : प्रतिभा प्रतिभानम्—औत्पत्तिक्यादिबुद्धिगुणसमन्वितत्वेनोत्पन्नप्रतिभत्वं तत्प्रतिभानं विद्यते यस्यासौ प्रतिभानवान्—अपरेणाक्षिप्तस्तदनन्तरमेवोत्तरदानसमर्थः। यदि वा धर्मकथावसरे कोऽयं पुरुषः? कं च देवताविशेषं प्रणतः? कतरद्वा दर्शनमाश्रित इत्येवमासन्नप्रतिभतयाऽवेत्य यथायोगमाचष्टे।

५. चूर्णि, पृ० २२४ : अक्षिप्तः पडिभणति उत्तरं भाषते प्रतिभणतीति (पडि) भाणवं, औत्पत्तिक्यादिबुद्धियुक्तः सन् प्रतिभानवान्।

६. चूर्णि, पृ० २२३; फुटनोट १५।

७. (क) आयारो २।११० : से भिक्खू कालण्णे बलण्णे मायण्णे खेयण्णे खणयण्णे विणयण्णे समयण्णे भावण्णे, परिग्गहं अममायमाणे, कालेणुट्ठाई अपडिण्णे।

(ख) वही, २।१७७ : के यं पुरिसे? कं च णए?

८. चूर्णि पृ० २२३ : तांस्तान् प्रति अर्थान् भातीति प्रतिभा, पभणति वा पतिभा श्रोतृणां संशयोच्छेत्ता।

९. वृत्ति, पत्र २५४ : प्रतिभानवान्—उत्पन्नप्रतिभः।

५६. विशारद (विसारए)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[1]—

१. अर्थ ग्रहण करने में समर्थ ।
२. प्रियता से कथन करने वाला ।

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं[2]—

१. अर्थ ग्रहण करने में समर्थ ।
२. अनेक प्रकार से व्याख्या करने में समर्थ ।
३. श्रोता के अभिप्राय को जानने वाला ।

प्रस्तुत सूत्र के १४।१७ में विशारद शब्द आया है । चूर्णिकार ने इसका अर्थ अपने सिद्धान्तों का जानकार[3] और वृत्तिकार ने अपने सिद्धान्तों का यथार्थ प्रतिपादन करने वाला—किया है ।[4]

५७. प्रखर प्रज्ञावान् (आगाढपण्णे)

आगाढप्रज्ञ का अर्थ है—प्रखर प्रज्ञावान्, परमार्थ पर्यवसित और तत्त्वनिष्ठ प्रज्ञा से सम्पन्न व्यक्ति ।[5]

५८. श्रुत से भावित आत्मा (सुय-भावियप्पा)

चूर्णिकार ने श्रुत का अर्थ · वैशेषिक आदि के हेतुशास्त्र (तर्कशास्त्र) किया है । उससे जिसकी आत्मा भावित है, वह श्रुत-भावितात्मा कहलाता है ।[6] चूर्णिकार का यह अर्थ सामयिक वाद-विवाद से प्रभावित होकर किया गया प्रतीत होता है ।

वृत्तिकार ने 'सुविभाविअप्पा' पाठ मानकर उसका अर्थ सम्यक् और विविध प्रकार से धर्म की वासना से वासित आत्मा किया है ।[7]

५९. पराजित कर देता है (परिहवेज्जा)

परिभव के दो अर्थ हैं—पराजित करना, तिरस्कृत करना । वृत्तिकार ने दूसरा अर्थ स्वीकृत किया है ।[8]

वृत्तिकार ने प्रस्तुत श्लोक के अंतिम चरण का तात्पर्य भिन्न प्रकार से किया है[9]—निर्जरा के हेतुभूत पूर्वोक्त गुणों में मद करता हुआ वह मानता है—मैं ही भाषाविधिज्ञ हूं, मैं ही साधुवादी हूं, मेरे जैसा प्रतिभावान् दूसरा कोई नहीं है, लोकोत्तर शास्त्र का अर्थ करने में मेरे समान कोई प्रवीण नहीं है, मेरी प्रज्ञा तत्त्वनिष्ठ है, मैं ही सुभावितात्मा हूं—इस प्रकार आत्मोत्कर्ष करता हुआ वह दूसरे व्यक्ति की अवमानना करता है और कहता है—इस कुंठित वाणी वाले, कुंडिका में पड़ी सूई के समान तथा आकाश की

---

१. चूर्णि, पृ० २२४ : अर्थग्रहणसमर्थो विशारदः प्रियकथनो वा ।
२. वृत्ति, पत्र २४३ : विशारदः—अर्थग्रहणसमर्थो बहुप्रकारार्थकथनसमर्थो वा, च शब्दाच्च श्रोत्रभिप्रायज्ञः ।
३. चूर्णि, पृ० २३३ : विशारदः स्वसिद्धान्तजानकः ।
४. वृत्ति, पत्र २५४ : सम्यक् स्वसिद्धान्तपरिज्ञानाच्छ्रोतृणां यथावस्थितार्थानां 'विशारदो भवति'—प्रतिपादको भवति ।
५. वृत्ति, पत्र २४३ : अवगाढा परमार्थपर्यवसिता तत्त्वनिष्ठा प्रज्ञा—बुद्धिर्यस्यासावागाढप्रज्ञः ।
६. चूर्णि, पृ० २२४ : (श्रुतं) वैशेषिकादिहेतुशास्त्राणि, तैरस्य भावितः आत्मा स भवति (श्रुत) भावितात्मा ।
७. वृत्ति, पत्र २४३ : सुष्ठु विविधं भावितो—धर्मवासनया वासित आत्मा यस्यासौ सुविभावितात्मा ।
८. वृत्ति, पत्र २४३ : परिभवेत् अवमन्येत ।
९. वृत्ति, पत्र २४३ : यश्चैभिरेव निर्जराहेतु भूतैरपि मदं कुर्यात्, तद्यथा—अहमेव भाषाविधिज्ञस्तथा साधुवाद्यहमेव च न मत्तुल्यः प्रतिभानवानस्ति, नापि च मत्समानोऽलौकिकः लोकोत्तरशास्त्रार्थविशारदोऽवगाढप्रज्ञः सुभावितात्मेति च, एवमात्मोत्कर्षवानन्यं जनं स्वकीयया प्रज्ञया परिभवेत्, अवमन्येत, तथाहि किमनेन वाक्कुण्ठेन दुर्दुरूढेन कुण्डिकाकार्पासकल्पेन खसूचिना कार्यमस्ति ? क्वचित्सभायां धर्मकथावसरे वेति, एवमात्मोत्कर्षवान् भवति तथा चोक्तम् ।

अन्यैः स्वेच्छारचितानर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय ।
कृत्स्नं वाङ्मयमित इति खादत्यङ्गानि दर्पेण ॥

ओर झांकने वाले से क्या कार्य हो सकता है। धर्मकथा के अवसर पर परिषद् में इस प्रकार अपना उत्कर्ष प्रदर्शित करता है।

वह दूसरों द्वारा स्वेच्छारचित अर्थों को श्रमपूर्वक जान लेता है और फिर पूरा वाङ्मय मेरे पास है इस प्रकार दर्प के साथ अपने ही अवयवों को काटता है।

श्लोक १४ :

६०. समाधि को प्राप्त (समाहिपत्ते)

चूर्णिकार ने समाधि से चार प्रकार की समाधि का ग्रहण किया है—ज्ञान समाधि, दर्शन समाधि, चारित्र समाधि, और तपः समाधि।[1]

वृत्तिकार ने समाधि के दो अर्थ किए हैं[2]—

१. ज्ञान, दर्शन और चारित्र-रूप मोक्ष मार्ग।

२. धर्म-ध्यान।

६१. लाभ के मद से मत्त (लाभमदावलित्ते)

वह सोचता है—मैं वस्त्र, पात्र, पीढ, फलक, शय्या, संस्तारक आदि पदार्थ दूसरों को भी देने में समर्थ हूं तो भला स्वयं के उपभोग की तो बात ही क्या !

दूसरे व्यक्ति (तुम और वह) बेचारे स्वयं के लिए भी अन्न-पान प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं।[3]

श्लोक १५ :

६२. प्रज्ञामद, तपोमद, गोत्रमद (पण्णामदं······तवोमदं······गोयमदं)

प्रज्ञा का गर्व करना, जैसे—मैं ही शास्त्र के यथार्थ अर्थ को जानने वाला हूं। तपस्या का गर्व करना, जैसे—मैं ही विकृष्ट तप करने वाला हूं, मुझे तपस्या से कभी ग्लानि नहीं होती। गोत्र का मद, जैसे—मैं इक्ष्वाकुवंश, हरिवंश आदि उच्च वंशों में उत्पन्न व्यक्ति हूं।[4]

६३. आजीविका मद (आजीवगं)

जिसके द्वारा प्राणी जीवन यापन करते हैं उसे 'आजीव' कहा जाता है। वह है—अर्थसमूह।[5]

६४. उत्तम आत्मा (उत्तमपोग्गले)

पुद्गल का एक अर्थ आत्मा भी है।[6] उत्तम पुद्गल अर्थात् उत्तम आत्मा, श्रेष्ठ जीव।

वृत्तिकार ने प्रस्तुत प्रसंग में पुद्गल शब्द को प्रधानवाची मान कर 'उत्तम पुद्गल' का अर्थ—उत्तम से भी उत्तम अर्थात् महान् से भी महान् किया है।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० २२४ :············समाधिश्चतुर्विधः।

२. वृत्ति, पत्र २४३ : 'समाधिं' मोक्षमार्गं—ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं—धर्मध्यानाख्यं वा।

३. चूर्णि, पृ० २२४ : अहं वत्थ-पडिग्गह-पीढ-फलग-सेज्जासंथारगमादी अण्णस्स वि ताव दावेउं सत्तो, किमंग पुण अप्पणो अप्पावितुं तुमं सो वा सअण्ण-पाणगमवि ण लभसि।

४. वृत्ति, पत्र २४३।

५. वृत्ति, पत्र २४३ : आ—समन्ताज्जीवन्त्यनेनेत्याजीवः—अर्थनिचयस्तम्।

६. (क) भगवई, ८।४९९ : जीवे णं भंते ! किं पोग्गली ? पोग्गले ?
गोयमा ! जीवे पोग्गली वि, पोग्गले वि।

(ख) वृत्ति, पत्र २४३ : पुद्गल आत्मा भवति।

७. वृत्ति, पत्र २४३ : प्रधानवाची वा पुद्गलशब्दः, ततश्चायमर्थः उत्तमोत्तमो—महतोऽपि महीयान् भवतीत्यर्थः।

चूर्णिकार ने इसका वैकल्पिक अर्थ इस प्रकार किया है—लाटदेश वासी सुन्दर को 'पुद्गल' कहते हैं, जैसे—पुद्गल जन्म, अर्थात् सुन्दर जन्म, पुद्गल जव अर्थात् सुन्दर यव।[1]

आप्टे की डिक्शनरी में पुद्गल का एक अर्थ--सुन्दर, प्रिय किया है। दूसरे अर्थ ये हैं—परमाणु, शरीर, आत्मा, अहं, पुरुष आदि।[2]

श्लोक १६ :

६५. चारित्र-संपन्न मुनि (सुधीरधम्मा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ किया है—ज्ञानधर्मी, गीतार्थ।[3] वृत्तिकार ने इसका अर्थ—श्रुत और चारित्र धर्म में प्रतिष्ठित किया है।[4]

६६. उनका सेवन न करें (णेताणि सेवंति)

'मुनि उन पदों का सेवन नहीं करते'—इस कथन का तात्पर्य यह है कि मुनि जाति आदि का मद नहीं करते। जैसे—मुनि के लिए यह निषेध है कि वह पूर्वक्रीडित कामभोगों का स्मरण न करे, उसी प्रकार प्रव्रजित होने के पश्चात् अपनी उच्च जाति, वंश तथा विपुल ऐश्वर्य आदि को याद न करे। प्रव्रज्या के बाद जो श्रुत सीखा है, उस बहुश्रुतता का भी उत्कर्ष न दिखाए।[5]

६७. (उच्चं अगोतं च गतिं वयंति)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इस चरण का अर्थ भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है।

वे इस संसार में उच्च अर्थात् सर्वलोक की उत्तमता को प्राप्त कर निर्वाणसंज्ञक अगोत्र स्थान को प्राप्त करते हैं—यह चूर्णिकार का अभिमत है।[6]

वे उच्च अर्थात् मोक्ष गति या सर्वोत्तम गति को प्राप्त होते हैं जहां गोत्र आदि कोई कर्म नहीं है। यह वृत्तिकार का अभिमत है। उन्होंने 'च' शब्द से पांच कल्पातीत विमानों का ग्रहण किया है।[7]

श्लोक १७ :

६८. मृत शरीर वाला (मुतच्चे)

इसमें दो पद हैं—मृत और अर्चा। यहां अर्चा का अर्थ शरीर है।[8] इस संयुक्त पद का अर्थ होगा—मृत शरीर वाला। भिक्षु को मृत शरीर की भांति व्यवहार करना चाहिए। जैसे मृत व्यक्ति न सुनता है, न देखता है, उसी प्रकार भिक्षु सुनता हुआ भी न सुने, देखता हुआ भी न देखे। यही मृतार्च की परिभाषा है।[9]

---

१. चूर्णि, पृ० २२४ : उत्तमपुद्गलश्च, उत्तमजीव इत्यर्थः। अथवा जो शोभणो लाडाणं सो पुद्गलो वुच्चति, जधा पुद्गलजम्मो पुग्गलजवत्ती।

२. आप्टे, संस्कृतइंग्लिश डिक्शनरी, 'पुद्गल' शब्द।

३. चूर्णि, पृ० २४४ : सुष्ठु धीरधर्माणः ज्ञानधर्मिणो गीतार्थाः।

४. वृत्ति, पत्र २२४ : सुप्रतिष्ठितो धर्मः— श्रुतचारित्राख्यो येषां ते सुधीरधर्माणः।

५. चूर्णि, पृ० २२४ : न जात्यादिभिरात्मानं उत्कर्षेत्, यथापूर्वरतादीनि न स्मर्यन्ते तथा तान्यपि, न वा पश्चाज्जातैर्बहुश्रुतादिभिरात्मानं उत्कर्षेत्।

६ चूर्णि, पृ० २२४ : उच्चं नाम इहैव सर्वलोकोत्तमतां प्राप्य लोकाग्रं निर्वाणसंज्ञकं अगोत्रस्थानं प्राप्नोति।

७. वृत्ति, पत्र २४४ : उच्चां—मोक्षाख्यां सर्वोत्तमां वा गतिं व्रजन्ति—गच्छन्ति, च शब्दात् पञ्चमहाविमानेषु कल्पातीतेषु वा व्रजन्ति, अगोत्रोपलक्षणाच्चान्यदपि नामकर्मायुष्कादिकं तत्र न विद्यत इति द्रष्टव्यम्।

८. (क) चूर्णि, पृ० २२५ : अर्चयन्ति तां विविधैराहारैर्वस्त्राद्यलङ्कारैश्चेत्यर्चा।
(ख) वृत्ति, पत्र २४४ : अर्चा—तनुः शरीरम्।

९. चूर्णि, पृ० २२५ : मतो हि न शृणोति न पश्यतीत्यर्थः, एवं भिक्षुरपि शृण्वन्नपि न शृणोति, पश्यन्नपि न पश्यतीत्यादि इत्यतो मुतच्चा।

अथवा 'मुत्' का अर्थ है—संयम और अर्चा का अर्थ है—लेश्या। जिसके संयममय लेश्या होती है वह मुदर्च कहलाता है। तीन प्रशस्त लेश्याएं संयममय होती हैं।[1]

वृत्तिकार ने भी इसके दो अर्थ किए हैं—[2]

१. जो मरे हुए शव की तरह अपने शरीर का स्नान, विलेपन आदि संस्कार नहीं करता वह 'मृतार्च' कहलाता है।

२. मुद् का अर्थ है सुन्दर, प्रशस्त और अर्चा का अर्थ है—लेश्या। जिसकी लेश्याएं प्रशस्त हैं, वह मुदर्च कहलाता है।

इसकी तुलना 'वोसट्ठचत्तदेहे'— व्युत्सृष्टत्यक्तदेह से की जा सकती है।

६९. धर्म को प्रत्यक्ष करने वाला (दिट्ठधम्मे)

यहां दृष्ट का अर्थ केवल देखना नहीं है। इसका अर्थ है—प्रत्यक्ष करना, साक्षात् करना। दृष्टधर्मा वही होता है जो धर्म को प्रत्यक्ष कर लेता है, धर्म जिसके जीवन में साक्षात् हो जाता है।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ— दृष्टसार अर्थात् जिसने सार देख लिया है—किया है। जो सूत्र और अर्थ का ज्ञाता होता है, वह दृष्टधर्मा है।[3]

वृत्तिकार ने श्रुत और चारित्र धर्म के ज्ञाता को दृष्टधर्मा कहा है।[4]

७०. एषणा और अनेषणा को जानता है (एसणं ·····अणेसणं)

एषणा के तीन अर्थ हैं—

१. स्थविरकल्पी मुनियों के लिए बयालीस दोषों से रहित आहार-पान एषणीय है, शेष अनेषणीय।

२. जिनकल्पी मुनि के लिए अलेप आदि पांच प्रकार की एषणा और शेष अनेषणा।

३. जिसका जो अभिग्रह है, वह उसके लिए एषणा है, शेष अनेषणा।[5]

श्लोक १८ :

७१. अरति और रति को (अरतिं रतिं)

प्रस्तुत प्रकरण में संयम में होने वाली अरति और असंयम में होने वाली रति के अभिभव का निर्देश किया गया है। सहज ही मनुष्य मन असंयम में रमण करता है, संयम में रमण नहीं करता। इस स्वाभाविक वृत्ति को साधना के द्वारा ही बदला जा सकता है।

७२. संघवासी हो (बहुजणे)

जिसकी संयम यात्रा में अनेक जन सहायक होते हैं वह 'बहुजन' होता है। यह संघवासी, गच्छवासी का द्योतक है।

---

१. चूर्णि, पृ० २२५ : संयमं वा मुतमुच्यते, अर्चेति लेश्या, स मुतलेश्यो मुतच्चा, विसुद्धाओ सम्मताओ अविसुद्धाओ असम्मताओ।

२. वृत्ति, पत्र २४४ : मृतेव स्नानविलेपनादिसंस्काराभावादर्चा—तनुः—शरीरं यस्य स मृतार्चः; यदि वा मोदनं मुत् तद् भूता शोभनार्चापद्मादिका लेश्या यस्य स भवति मुदर्चः-प्रशस्तलेश्यः।

३. चूर्णि, पृ० २२५ : सूत्रे चार्थे च दृष्टधर्मा, दृष्टसारो दृष्टधर्मा इत्यर्थः।

४ वृत्ति, पत्र २४४ : दृष्टः—अवगतो यथावस्थितो धर्मः—श्रुतचारित्राख्यो येन सः।

५. (क) चूर्णि, पृ० २२५ : स एषणा बातालीसदोसविसुद्धा, तव्विवरीता अणेसणा। अथवा एसणा जिणकप्पियाणं पंचविधा अलेवाडादि, हेट्ठिल्लगातो अणेसणातो। अथवा जा अभिग्गहिताणं सा एसणा, सेसा अणेसणा।

(ख) वृत्ति, पत्र २४४।

जैन परम्परा में कुछ पुरुष संघबद्ध साधना करते हैं और कुछ अकेले रहकर साधना करते हैं। यह शब्द 'संघवासी' साधना का प्रतीक है।[1]

७३. एकचारी (अकेला विचरण करने वाला) (एगचारी)

इसका अर्थ है—अकेला साधना करने वाला, एकलविहारी।[2]

हर कोई मुनि एकलविहारी नहीं हो सकता। यह एक विशेष 'प्रतिमा' है, जिसे विशिष्ट श्रुतसंपन्न और गुणसम्पन्न व्यक्ति ही ग्रहण कर सकता है। एकलविहार प्रतिमा का अर्थ है—अकेला रहकर साधना करने का संकल्प। स्थानांग सूत्र (८।१) में एकल-विहार प्रतिमा स्वीकार करने वाले साधक की योग्यता के आठ अंग वतलाए हैं—

१. श्रद्धावान्—अपने अनुष्ठान के प्रति पूर्ण आस्थावान्।
२. सत्यवादी।
३. मेधावी।
४. वहुश्रुत।
५. शक्तिमान्।
६. अल्पाधिकरण—उपशान्त कलह की उदीरणा एवं नए कलहों की उद्भावना न करने वाला।
७. धृतिमान्।
८. वीर्यसंपन्न—साधना में सतत उत्साह रखने वाला।[3]

वृत्तिकार ने 'एगचारी' से एकलविहारी अथवा जिनकल्पी का ग्रहण किया है।[4] जिनकल्पी मुनि अकेले रहते हैं किन्तु 'एकलविहारी' और जिनकल्पी की चर्या और साधना में अन्तर होता है। जिनकल्प की चर्या के लिए देखें—ठाणं, पृष्ठ ७०४—७०६।

७४. एकान्त मौन (संयम) के साथ किसी तत्त्व का निरूपण करे (एगंतमोणेण वियागरेज्जा)

मौन का अर्थ है—संयम। एकान्त मौन अर्थात् एकान्त संयम। धर्मकथा करने के अवसर पर मुनि पूछे जाने पर या विना पूछे भी संयमपूर्वक वोले। वह धर्म संबंधी ऐसी वात कहे जिससे संयम में कोई वाधा न आए। वह पापकारी, सावद्य या कार्य का प्रत्यक्ष निर्देश देने वाली भाषा न वोले।[5]

श्लोक १६ :

७५. जानकर (समेच्चा)

धर्म का प्रतिपादन करने वाले साधक दो प्रकार के होते हैं। कुछ साधक अतीन्द्रियज्ञान को विकसित कर सत्य को स्वयं जान लेते हैं, उसका साक्षात्कार कर लेते हैं। कुछ साधक परोक्षज्ञानी होते हैं। वे प्रत्यक्षज्ञानी से सुन कर सत्य का प्रति-पादन करते हैं।

७६. निदान के प्रयोग (सणिदाणप्पओगा)

प्रस्तुत श्लोक के अंतिम दो चरणों का अर्थ है—धर्मकथी मुनि निदान के प्रयोगों (बंधन पैदा करने वालों) का सेवन न करे।

---

१. (क) चूर्णि, पृ० २२५ : बहुजणमज्झम्मि गच्छवासी।
(ख) वृत्ति, पत्र २२४-२४५ : बहवो जना:—साधवो गच्छवासितया संयमसहाया यस्य स बहुजन:।

२. चूर्णि, पृ० २२५ : एगचारि त्ति एगल्लविहारपडिवण्णगो।

३. विशेष विवरण के लिए देखें—ठाणं ८।१ का टिप्पण, पृष्ठ ८२३।

४. वृत्ति, पत्र २४५ : तयैक एव चरति तच्छीलश्चैकचारी, स च प्रतिमाप्रतिपन्न एकलविहारी जिनकल्पादिर्वा स्यात्।

५. (क) चूर्णि, पृ० २२५ : एगंतमोणेण तु एगंतसंयमेणं, एकान्तेनैव संजममवलम्बमान: पृष्टो वा किञ्चिद् वाकरोति, न तु यथा मौनोपरोधो भवति, संयमोपरोध इत्यर्थ:। तद्यथा—'जा य भासा पाविका सावज्जा सकिरिया।"
(ख) वृत्ति, पत्र २४५।

वे गर्हित होते हैं।

चूर्णिकार ने इन दो चरणों का अर्थ इस प्रकार से किया है—[1]

१. मन, वचन और काया की प्रवृत्ति, जो निन्दित और कर्म-बंधन युक्त है, धर्मकथी उनका प्रयोग न करे।

२. धर्मकथी धर्मकथा करने के समय जो वाक्प्रयोग गर्हित हैं उनका कथन न करे। जैसे—जो वचन, हिंसा और परिग्रह का प्रज्ञापन करते हों वे न कहे। कुतीर्थी भी कायक्लेश आदि करते हैं—इस प्रकार उनकी प्रशंसा न करे। सावद्य दान की प्रशंसा न करे। ऐसी धर्मकथा न करे जिससे दूसरा कुपित हो। वह वचन के दोषों का वर्जन करे।

वृत्तिकार ने इन दो चरणों का अर्थ दो प्रकार से किया है—[2]

१. जो निदान कर्म-बंध का कारण है, तथा जो प्रवृत्ति (धर्मकथा आदि) निदानयुक्त है—भविष्य के लाभ की आशंसा से युक्त है—महर्षि उसका सेवन न करे।

२. जो वाक्प्रयोग गर्हित और निदानयुक्त है, सुधीरधर्मा व्यक्ति उसको न बोले। वह ऐसा न कहे—कुतीर्थिक सावद्य अनुष्ठान में रत रहते हैं। वे शील रहित और व्रत रहित हैं। वे जादू-टोना करने वाले हैं। इस प्रकार दूसरे के दोष को प्रगट करने वाला तथा मर्मभेदी वचन न कहे।

श्लोक २० :

७७. क्रोध को (खुद्दं)

इसका अर्थ है—क्रोध। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ क्षुद्रत्व—नीचता[3] किया है और तीसरे चरण की ओर संकेत करते हुए कहा है कि वह पुरुष मार डालने तक की नीचता कर सकता है।[4]

७८. वक्ता को मार सकता है (आउस्स कालातियारं)

जिस प्राणी ने जितना आयुष्य निर्वर्तित किया है, अर्जित किया है, वह उसका आयुष्य-काल कहलाता है। अतिचार का अर्थ है—अतिक्रमण करना।[5]

७६. अनुमान के द्वारा दूसरे के भावों को जानकर (लद्धाणुमाणे)

इस चरण में धर्मकथी मुनि के लिए यह निर्देश दिया गया है कि वह अनुमान आदि के द्वारा परिषद् में उपस्थित लोगों के भावों को जानकर धर्मकथा करे। धर्मकथा करना भी एक कला है। वह पुरुष-विशेष को ध्यान में रखकर करनी चाहिए।

चूर्णिकार के अनुसार—मुनि धर्मकथा करते समय सतत परिषद् की ओर दृष्टि रखे और जानता रहे कि उसके कथन का किस पर क्या असर हो रहा है? यह कहा गया है कि मनुष्य के नेत्र और मुंह पर होने वाले परिवर्तनों से उसके अन्तर्मन को जाना जा सकता है, इसलिए मुनि लोगों को सतत देखता रहे। वह सोचे कि जो मैं कह रहा हूं वह परिषद् में उपस्थित व्यक्ति (या व्यक्तियों) को प्रिय लग रहा है या अप्रिय? यदि उसे लगे कि उसका कथन अप्रियता पैदा कर रहा है तो यह तत्काल विषय को मोड़ दे और दूसरे विषय पर व्याख्यान करने लग जाए। वह मत-मतान्तर की बातों को छोड़कर केवल ऐसी बात कहे जिससे स्वयं का और दूसरे का कल्याण हो, जिससे इहलोक और परलोक सुधरे।[6]

---

१. चूर्णि, पृ० २२५।
२. वृत्ति, पत्र २४५।
३. चूर्णि, पृ० २२५ :······क्षौद्रम्।
   (ख) वृत्ति पत्र २४५ :······क्षुद्रत्वम्।
४. (क) चूर्णि, पृ० २२५,२२६।
   (ख) वृत्ति, पत्र २४५।
५. चूर्णि, पृ० २२६ : यावद् येनाऽऽयुष्कालो निर्वर्तितः स तस्यायुःकालः अतिचरणमतीचारः।
६. चूर्णि, पृ० २२६।

वृत्तिकार के अनुसार—सबसे पहले धर्मकथा करने वाला मुनि यह जाने कि परिषद् में उपस्थित पुरुष कौन है ? यह किस देवता विशेष को मानने वाला है ? यह किस दर्शन को मानने वाला है ? इसके मन में किसी मत विशेष के प्रति आग्रह है या नहीं ? इन सारी बातों को अच्छी तरह जानकर ही उसे धर्मकथा करनी चाहिए। जो व्यक्ति इन बातों को जाने बिना धर्मोपदेश करता है और दूसरे के मत पर, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, आक्षेपकारी वचन कह देता है, उसको अनेक प्रकार की विपत्तियां झेलनी पड़ती हैं। कभी-कभी उसे मृत्यु का सामना भी करना पड़ सकता है। अतः उसे दूसरे के अभिप्राय को जानकर, सत्य की उपलब्धि कराने मात्र के लिए, तत्त्वज्ञान कराने के लिए, धर्मकथा करनी चाहिए।[1]

श्लोक २१ :

८०. धीर पुरुष (धीरे)

विषय और कषायों से अक्षोभ्य या उत्तम बुद्धि सम्पन्न पुरुष 'धीर' कहलाता है।[2]

८१. कर्म (कम्मं)

चूर्णिकार के अनुसार कर्म का अर्थ है—आजीविका का साधन, व्यवसाय।

वे किसी को उसके व्यवसाय से संबोधित करने या उस व्यवसाय के आधार पर निन्दा करने का निषेध करते हैं। जैसे—हे जुलाहा, हे चर्मकार ! आदि। अरे, तुम तो चर्मकार हो, तुम तो जुलाहे हो—आदि-आदि।[3]

वृत्तिकार ने कर्म के दो अर्थ किए हैं—

१. अनुष्ठान।
२. गुरु-लघु कर्म का भाव।[4]

८२. छंद (रुचि) का (छंदं)

चूर्णिकार के अनुसार इसके तीन अर्थ हैं—

१. अभिप्राय, रुचि।
२. जिससे सुनने वाला प्रभावित हो वह अभिप्राय या वचन। जैसे—कोई व्यक्ति शृंगार रस से, कोई वैराग्य रस से, और कोई दूसरे रस से प्रभावित होता है। धर्मकथी मुनि उसका विवेचन करे।
३. श्रोता कौन है ? वह किस दर्शन का अनुयायी है ?[5] यह जानना।

८३. आत्मीयभाव (आतभावं)

चूर्णिकार ने आतमभाव से मिथ्यात्व या अविरति का ग्रहण किया है। ये अप्रशस्त आत्मभाव हैं।[6]
वृत्तिकार ने अनादि जन्मों में अभ्यस्त मिथ्यात्व आदि को अथवा विषयासक्ति को आत्मभाव कहा है।[7]
उन्होंने मूलपाठ 'पापभावं' मानकर 'आतभावं' को पाठान्तर माना है। 'पापभाव' का अर्थ है—अशुद्ध अन्तःकरण।[8]
हमने इसका अर्थ बाह्य पदार्थों में होने वाले आत्मीयभाव अर्थात् विषयानुरक्ति किया है।

---

१. वृत्ति, पत्र २४५।
२. वृत्ति, पत्र २४६ : 'धीरः'—अक्षोभ्यः सद्बुद्ध्यलंकृतो वा।
३. चूर्णि, पृ० २२६ : येन कर्मणा जीवति न तेनैनं परिभावेत्, यथा हे कोलिक !, न चैवैनं तेन कर्मणा निन्दयेदिति, यथा—चर्मकारो भवान् कोलिको वा, मा सो उड्डुरुट्ठो णं गेण्हेज्ज।
४. वृत्ति, पत्र २४६ : 'कर्म'—अनुष्ठानं गुरुलघुकर्मभावं वा।
५. चूर्णि, पृ० २२६ : छन्दं चास्य जाणेज्ज तद्यथा—दारुणो मृदुर्वा। अथवा छन्द इति येनाऽऽक्षिप्यते वैराग्येन शृंगारेण वा, तथा के अयं पुरिसे ? कं वा दरिसणमभिप्पसण्णे ?
६. चूर्णि, पृ० २२६ : आतभावो णाम मिथ्यात्वं अविरतिर्वा, ततो अप्रशस्तादात्मभावात्।
७. वृत्ति, पत्र २४६ : 'आत्मभावः; अनादिभवाभ्यस्तो मिथ्यात्वादिकस्तमपनयेत, यदि वाऽऽत्मभावो—विषयगृध्नुता।
८. वृत्ति, पत्र २४६ : पापभावम्'—अशुद्धमन्तःकरणम्······आयभावं' ति क्वचित्पाठः।

८४. तत्त्व को जानकर (विज्जं गहाय)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—विद्या को जान कर किया है।[1]

वृत्तिकार ने 'विज्जं' का अर्थ—विद्वान्, धर्म-देशना देने में निपुण और 'गहाय' का अर्थ—दूसरे के अभिप्राय को सम्यग् जानकर—किया है।[2]

८५. चल-अचल (तसथावरेहिं)

हमने प्रस्तुत श्लोक के प्रसंग में इनका अर्थ—चल, अचल पदार्थ किया है।

प्रस्तुत श्लोक की व्याख्या में चूर्णिकार और वृत्तिकार सर्वथा भिन्न मत रखते हैं।

चूर्णिकार के अनुसार[3]—

धीर मुनि किसी पुरुष को उसके व्यवसाय से संबोधित न करे। (अथवा उस व्यवसाय के द्वारा उसकी निन्दा न करे।) वह श्रोता के अभिप्राय को जानकर उसके मिथ्यात्व का सर्वथा अपनयन करे। रूप आदि इन्द्रिय-विषय भयावह होते हैं। जो इनमें आसक्त होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं। (इन इन्द्रिय-विषयों से उत्पन्न दोषों को) जानकर मुनि त्रस-स्थावर प्राणियों के रक्षण करने वाले धर्म का कथन करे।

वृत्तिकार के अनुसार[4]—

धीर मुनि श्रोताओं के अनुष्ठान और अभिप्राय को जानकर (धर्मोपदेश करे) तथा उनके पापभाव (मिथ्यात्व) को सर्वथा दूर करे। स्त्रियों के रूप भयावह होते हैं। (जो इनमें आसक्त होते हैं), वे धर्म से च्युत हो जाते हैं। विद्वान् मुनि दूसरे के अभिप्राय को जानकर त्रस और स्थावर प्राणियों के लिए हितकर धर्म का उपदेश दे।

चूर्णिकार और वृत्तिकार द्वारा कृत अर्थाभिव्यक्ति स्पष्ट नहीं है। उसका पौर्वापर्य भी सम्यग् घटित नहीं होता।

८६. रूपों (आकृतियों) में (रूवेहिं)

चूर्णिकार का कथन है कि इन्द्रियों के पांच विषयों में रूप प्रधान है। उसमें भी स्त्रीरूप सबसे प्रधान है।[5]

वृत्तिकार ने नयन और मन को लुभाने वाले स्त्रियों के अंग, प्रत्यंग, अर्द्ध-कटाक्ष, निरीक्षण आदि को 'रूप' माना है।[6]

हमने इसका अर्थ 'मूर्त्त पदार्थ' किया है।

श्लोक २२ :

८७. निर्मल (अणाइले)

अनाविल का अर्थ है—निर्मल, पवित्र।

चूर्णिकार ने इसका अर्थ अनातुर किया है। जो क्षुधा आदि परिषहों से अनातुर होता है, वह अनाविल कहलाता है।[7]

वृत्तिकार ने अनाकुल का अर्थ—सूत्र के अर्थ से दूर न जाने वाला किया है।[8]

---

१. चूर्णि, पृ० २२६ : विद्यां गृहीत्वा ज्ञात्वेत्यर्थः :
२. वृत्ति, पत्र २४६ : 'विद्वान्'—पण्डितो धर्मदेशनाभिज्ञो गृहीत्वा पराभिप्रायम्।
३. चूर्णि, पृ० २२६।
४. वृत्ति, पत्र २४६।
५. चूर्णि, पृ० २२६ : रूपं सर्वप्रधानं विषयाणाम्, तत्रापि स्त्रीरूपादि।
६. वृत्ति, पत्र २४६ : 'रूपैः' नयनमनोहारिभिः स्त्रीणामङ्गप्रत्यङ्गार्द्धकटाक्षनिरीक्षणादिभिः।
७. चूर्णि, पृ० २२६ : अणाइलो णाम अनातुरः क्षुधादिभिः परीषहैः।
८. वृत्ति, पत्र २४६ : अनाकुलः सूत्रार्थादनुत्तरन्।

८८. पूजा और श्लाघा का कामी हो (धर्मकथा न करे) (ण पूयणं चेव सिलोय कामे)

पूजा का अर्थ है— वस्त्र, पात्र, आदि का लाभ। श्लोक का अर्थ है—श्लाघा, कीर्त्ति, आत्मप्रशंसा, यश आदि। मुनि पूजा और श्लाघा प्राप्त करने के लिए धर्मकथा न करे। वह यह कामना न करे कि धर्मकथा करने से मुझे अच्छे वस्त्र, पात्र, अन्न-पान आदि मिलेगा। लोग यह कहने लगेंगे कि यह मुनि अर्थ का विस्तार करने में निपुण है। हमने इस जैसे अर्थ का विस्तार करने वाला नहीं देखा। यह बहुत मिष्टभाषी है।[1]

८९. किसी का प्रिय या अप्रिय न करे (पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा)

इसके अनेक अर्थ हैं—

१. मुनि सावद्य उपकार के द्वारा किसी गृहस्थ का न प्रिय करे और न अप्रिय करे।

२. यह मेरा प्रिय है, यह मेरा अप्रिय है—मुनि ऐसा न माने।

३. जो जिसके लिए प्रिय हो, उसको चुगली या विद्वेष के द्वारा अप्रिय न बनाए।[2]

४. श्रोता के लिए जो प्रिय (राजकथा आदि) हो तथा जो अप्रिय (इष्टदेव की निन्दा आदि) हो, वैसा कथन न करे।[3]

मुनि समता की साधना करता है। वह किसी के प्रति अनुरक्त और किसी के प्रति द्विष्ट नहीं होता। वह राग-द्वेष से दूर रहता है। इसलिए यह उपयुक्त है कि वह न किसी का प्रिय करे और न किसी का अप्रिय करे। प्रियता और अप्रियता राग-द्वेष के द्योतक हैं। जो एक के लिए प्रिय होती है वह दूसरे के लिए अप्रिय भी हो सकती है। जो एक के लिए अप्रिय होती है वह दूसरे के लिए प्रिय भी हो सकती है। समता की आराधना करने वाला मुनि मध्यस्थ रहे, न कहीं प्रियता करे और न कहीं अप्रियता करे।

वह प्रियता और अप्रियता पैदा करने के लिए धर्मकथा न करे। वह श्रोता के अभिप्राय को जानकर अरक्तद्विष्ट होकर सम्यग् दर्शन आदि यथार्थ धर्म का उपदेश करे।[4]

९०. अनर्थों का (अणट्ठे)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—अशोभन या संयम में बाधा उपस्थित करने वाला कार्य। इसका तात्पर्यार्थ है—अनर्थदण्ड।[5]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—पूजा, सत्कार और लाभ के अभिप्राय से किया जाने वाला तथा दूसरे पर दोषारोपण रूप अनर्थ।[6]

प्रकरण की दृष्टि से यहां अनर्थ का अर्थ है—अप्रयोजन।

इसी आगम के द्वितीय श्रुतस्कन्ध में बताया है कि मुनि अन्न प्राप्त करने के लिए, पान प्राप्त करने के लिए, वसति प्राप्त करने के लिए, शय्या प्राप्त करने के लिए तथा विभिन्न प्रकार के कामभोगों को प्राप्त करने के लिए धर्म-देशना न करे। ये धर्म-

---

१. (क) चूर्णि, पृ० २२६ : ण पूया मे भविस्सती, सिलोगो णाम जसोकित्ती, यथा नानेन तुल्य· प्रज्ञप्तविस्तरो कथको मृष्टवाक्य इत्यादि।

(ख) वृत्ति, पत्र २४६ : साधुदेशनां विदधानो न पूजनं—वस्त्रपात्रादिलाभरूपमभिकाङ्क्षेन्नापि श्लोकं —श्लाघां कीर्तिम्—आत्मप्रशंसां कामयेद् अभिलषेत्।

२. चूर्णि, पृ० २२६ : प्रियं च न कुर्यादसंयतानां अन्यतरेण सावद्योपकारेण वा अप्रियम्। अथवा ममायं प्रियः अयं चाप्रिय इति, अथवा यो यस्य प्रियः स न तस्य पिशुनवचन-विद्वेषणादिभिः कुर्यात् कर्मकथाम्।

३. वृत्ति, पत्र २४६ : तथा श्रोतुर्यत्प्रियं राजकथाविकथादिकं छलितकथादिकं च तथाऽप्रियं च तत्समाश्रितदेवता विशेषनिन्दादिकं न कथयेत्।

४. वृत्ति, पत्र २४६।

५. चूर्णि, पृ० २२६ : अणट्ठे अशोभना अर्थाः अनर्थाः संयमोपरोधकृद् अर्थोऽनर्थः, अनर्थदण्ड इत्यर्थः।

६. वृत्ति, पत्र २४६ : अनर्थान् पूजासत्कारलाभाभिप्रायेण स्वकृतान् परदूषणतया च परकृतान्।

देशना के अनर्थ हैं।[1]

श्लोक २३ :

६१. हिंसा का (दंडं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ घात किया है।[2] वृत्तिकार ने प्राणव्यपरोपण की विधि को दंड माना है।[3]

६२. परित्याग करे (णिहाय)

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'निधाय' कर इसका अर्थ 'परित्यज्य' किया है।[4] निधाय का अर्थ परित्यज्य (त्याग करके) कैसे हो सकता है ?

इसका संस्कृत रूप 'निहाय' होना चाहिए। ओहांक् त्यागे' धातु से यह रूप निष्पन्न होता है। इसका अर्थ होगा—त्याग करके।

प्राचीन प्रयोगों में 'हकार' का धकार के रूप में वर्ण-परिवर्तन मिलता है। इसी सूत्र के १४।१ में चूर्णिकार ने 'विहाय' के स्थान पर 'विधाय' पाठ स्वीकृत कर उसका अर्थ 'विशेषेण हित्वा' किया है।

६३. (णो जीवियं णो मरणाहिकंखे)

मुनि जीने और मरने की आकांक्षा न रखे। जीने की आकांक्षा राग है और मरने की आकांक्षा द्वेष है। मुनि दोनों की वांछा न करे। वह केवल संयम-यात्रा की आकांक्षा करे।

चूर्णिकार ने असंयममय जीवन और परीषहों के उदय से मरण की वाञ्छा न करे—यह अर्थ किया है।[5]

वृत्तिकार ने इस भावना का विस्तार किया है—मुनि असंयम जीवन की इच्छा न करे तथा स्थावर और जंगम प्राणियों की घात कर लंबे जीवन की वांछा न करे। मुनि परीषहों से पीडित होकर तथा अन्यान्य वेदनाओं से दुःखित होकर, उन दुःखों को न सह सकने के कारण जल में डूब कर, आग में जलकर अथवा हिंसक प्राणी से अपना वध कराकर मरने की वांछा न करे।[6]

६४. वलय (संसारचक्र) से (वलया)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ माया[7] और वृत्तिकार ने माया तथा मोहनीय कर्म किया है।[8]

प्रस्तुत प्रसंग में इसका अर्थ संसार-चक्र उपयुक्त लगता है।

---

१. सूयगडो २।१।६६ : णो अण्णस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो पाणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो वत्थस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो लेणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो सयणस्स हेउं धम्ममाइक्खेज्जा। णो अण्णेसिं विरूवरूवाणं कामभोगाणं हेउं धम्ममाइक्खेज्जा।

२. चूर्णि, पृ० २२६ : दंडो नाम घातः।

३. वृत्ति, पत्र २४६ : दण्ड्यन्ते प्राणिनो येन स दण्डः—प्राणव्यपरोपणविधिः।

४. वृत्ति पत्र २४६ : निधाय परित्यज्य।

५. चूर्णि, पृ० २२६ : असंजमजीवितं परीषहोदयाद्वा मरणं।

६. वृत्ति, पत्र २४६ : असंयमजीवितं दीर्घायुष्कं वा स्थावरजङ्गमजन्तुदण्डेन नाभिकाङ्क्षी स्या (त्) त् परीषहपराजितो वेदना-समुद्घात (समव) हतो वा तद्वेदनाम (भि) सहमानो जलानलसंपातापादितजन्तूपमर्दनं नापि मरणाभिकाङ्क्षी स्यात्।

७. चूर्णि, पृ० २२६ : वलया—माया।

८. वृत्ति, पत्र २४७ : वलयेन—मायारूपेण मोहनीयकर्मणा वा।

चउद्दसमं अज्झयणं

गंथो

चौदहवां अध्ययन

ग्रन्थ

आमुख

इस अध्ययन का नामकरण भी आदानपद के आधार पर 'ग्रन्थ' रखा गया है। वृत्तिकार ने नामकरण का आधार गुण-निष्पन्नता भी माना है।[1]

ग्रन्थ का अर्थ है—आत्मा को बांधने वाला तत्त्व। चूर्णिकार के अनुसार ग्रन्थ दो प्रकार का होता है—द्रव्यग्रन्थ और भाव-ग्रन्थ। द्रव्यग्रन्थ सावद्य होता है। भावग्रन्थ के दो प्रकार हैं—

प्रशस्तभावग्रन्थ—ज्ञान, दर्शन चारित्र।

अप्रशस्तभावग्रन्थ प्राणातिपात आदि तथा मिथ्यात्व आदि।

ग्रन्थ का अर्थ आचारांग आदि आगम भी है। जो शिष्य उनको पढ़ता है, वह भी ग्रन्थ कहलाता है। शिष्य दो प्रकार के होते हैं—

१. प्रव्रज्या शिष्य—स्वयं गुरु द्वारा दीक्षित।

२. शिक्षा-शिष्य - आचार्य आदि के पास शिक्षा ग्रहण करने वाला शिष्य।

आचार्य भी दो प्रकार के होते हैं—प्रव्रज्या-आचार्य और शिक्षा-आचार्य (वाचनाचार्य)। शिक्षा-आचार्य दो प्रकार के होते हैं—

१. शास्त्रपाठ की वाचना देने वाले।

२. अर्थ की वाचना देने वाले तथा सामाचारी का सम्यग् पालन कराने वाले।

दोनों प्रकार के ग्रन्थों—बाह्य और आभ्यन्तर की पूरी जानकारी आचार्य से ही प्राप्त हो सकती है। वे श्रुत-पारगामी होते हैं। उनकी शिक्षा के अनुसार शिष्य 'ग्रन्थ' (ग्रन्थियों) के स्वरूप को समझकर धन-धान्य आदि बाह्य ग्रन्थों तथा, मिथ्यात्व, अज्ञान आदि आभ्यन्तर ग्रन्थों (ग्रन्थियों) को क्षीण करने का प्रयत्न करे। मुनि ग्रन्थ विनिर्मुक्त होकर ही निर्ग्रन्थ बन सकता है। निर्ग्रन्थ ही मोक्ष का अधिकारी होता है।

जैसे रोगी चतुर वैद्य के निर्देश का पालन करता हुआ रोगमुक्त हो जाता है वैसे ही मुनि भी सावद्य ग्रन्थों को छोड़कर पाप-कर्म को दूर करने वाली औषधि-रूप प्रशस्त भावग्रन्थ—ज्ञान, दर्शन, चारित्र को स्वीकार करे। उसका कर्मरूपी रोग शान्त हो जाएगा।[2]

प्रस्तुत अध्ययन में गुरुकुलवास की निष्पत्तियों का बहुत सुन्दर विवेचन है। सूत्रकार ने उदाहरणों से उन्हें स्पष्ट किया है। गुरुकुलवास का वाचक शब्द है—'ब्रह्मचर्य'। ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हैं— चारित्र, नौ गुप्तियुक्त मैथुन-विरति और गुरुकुलवास।[3] आचार, आचरण, संवर, संयम और ब्रह्मचर्य—ये एकार्थक हैं।[4]

जो गुरुकुल (ब्रह्मचर्य) में वास करता है उसे ग्रन्थ का सम्यग्ज्ञान हो सकता है। गुरुकुलवास में ही सामाचारी और परंपराओं की जानकारी होती है। इनकी जानकारी के अभाव में मुनि अपरिपक्व रह जाता है। वह अपुष्टधर्मा मुनि अहंकार से ग्रस्त होकर, आचार्य की अवज्ञा कर, एकलविहार आदि प्रतिमा के लिए सक्षम न होने पर भी उसे स्वीकार कर गण से अलग हो जाता है। वह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जैसे पंखहीन पक्षी का बच्चा घोंसले से निकल कर उड़ने की चेष्टा करने पर दूसरे पक्षियों द्वारा मार दिया जाता है। इसलिए मुनि ग्रन्थ की शिक्षा के लिए गुरुकुलवास में रहे। यह प्रथम छह श्लोकों का प्रतिपाद्य है।

आगे के छह श्लोकों (७-१२) में गुरुकुलवास में रहने वाले मुनि को अनुशासन सहन करने की क्षमता अर्जित करने का उपदेश है। अकेले के लिए कोई अनुशासन नहीं होता। संघ अनुशासन से ही चलता है। गुरुकुलवास में सभी का सहावस्थान होता

---

१. वृत्ति, पत्र २४७ :······आदानपदात् गुणनिष्पन्नत्वाच्च ग्रन्थ इति नाम।

२. वृत्ति, पत्र २४८।

३. चूर्णि, पृ० २२८।

४. चूर्णि, पृ० ४०३।

हैं। वहां एक दूसरे को सहने से ही प्रियसंवास हो सकता है। मुनि जन्म-पर्याय से छोटे-बड़े या दीक्षा-पर्याय से छोटे-बड़े, सहदीक्षित या अन्य किसी भी प्रकार से मुनि द्वारा अनुशासित किए जाने पर, अनुशासन को स्वीकार करे। अत्यन्त तुच्छ गृहस्थ भी यदि अनुशासना करे तो उस पर भी क्रोध न करे, कठोर वचन न कहे। 'यह मेरे लिए श्रेयस्कर है, ऐसा सोचकर उसे स्वीकार करे।'

इसी प्रकार आगे के छह श्लोकों में ब्रह्मचर्य—गुरुकुलवास में रहने का फल बतलाया गया है। वह इस प्रकार है—

१. ज्ञानप्राप्ति और धर्म की सम्यग् अवगति।
२. संयम की परिपक्वता।
३. मानसिक प्रद्वेष का विनयन।
४. समाधि-प्राप्ति का अवबोध।
५. धर्म, समाधि और मार्ग का ज्ञान और आचरण की निपुणता।
६. चित्त की शांति और निरोध की प्रक्रिया का अवबोध।
७. अप्रमत्त साधना का अभ्यास।
८. प्रतिभा और विशारदता का विकास।

अंतिम दस श्लोकों (१८-२७) में ग्रन्थी के कर्त्तव्यों का स्फुट निर्देश है। जो गुरुकुलवास में रहता है वह निपुण ग्रन्थी (भाव-ग्रन्थी) बन जाता है। उसे क्या कहना चाहिए और क्या नहीं कहना चाहिए, इसका स्पष्ट विवेक इन श्लोकों में प्रतिपादित है।

इन श्लोकों में भाषा-विवेक के निर्देश इस प्रकार प्राप्त हैं—

अर्थ को न छिपाए।
अप-सिद्धान्त का निरूपण न करे।
परिहास न करे।
प्रशस्ति वचन न कहे।
असाधु वचन न कहे।
स्व-प्रशंसा न करे।
विभज्यवाद से बोले।
सत्यभाषा और व्यवहार भाषा का प्रयोग करे।
मंदमति श्रोता के लिए हेतु, दृष्टान्त आदि का प्रयोग करे।
कर्कश वचन न बोले।
किसी के वचनों का तिरस्कार न करे।
शीघ्र समाप्त होने वाली बात को न लंबाए।
संगत, अर्थपूर्ण और अस्खलित बात कहे।
आज्ञासिद्ध वचन का प्रयोग करे।
पाप का विवेक करने वाले वचन का संधान करे।
मर्यादा का अतिक्रमण कर न बोले।
सिद्धान्त की यथार्थ प्ररूपणा करे।
अपरिणत को रहस्य न बताए।
सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे।
वाद और श्रुत का सम्यक् प्रतिपादन करे।
सूत्रपाठ का शुद्ध उच्चारण करे।

प्रस्तुत अध्ययन में कुछेक शब्द विमर्शनीय हैं—

आसिसावाद (श्लोक १९)

मुनि किसी पर संतुष्ट होकर आशीर्वाद देते हुए यह न कहे—स्वस्थ रहो, भाग्यशाली हो, तुम्हारा धन बढे, तुम्हें पुत्रों की प्राप्ति हो, आदि-आदि।

जैन मुनि भौतिक अभ्युत्थान का वाचक आशीर्वाद न दे। वह आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए आशीर्वाद या निर्देश दे । कुछ विद्वान् इसका अर्थ—अ-स्याद्वाद करते हैं, जो सही नहीं है।

विभज्जवायं (श्लोक २२)

बावीसवें श्लोक में 'विभज्जवायं च वियागरेज्जा' ऐसा निर्देश है। इसका अर्थ है— मुनि विभज्यवाद के आधार पर वचन-प्रयोग करे।

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं— भजनीयवाद और अनेकान्तवाद। वृत्ति के अनुसार इसके तीन अर्थ हैं—

१. पृथक्-पृथक् अर्थों का निर्णय करने वाला वाद।

२. स्याद्वाद।

३. अर्थों का सम्यग् विभाजन करने वाला वाद।

बौद्ध साहित्य में विभज्यवाद की अनेक स्थलों पर चर्चा प्राप्त होती है। उसका स्वरूप-निर्णय भी वहां से होता है। बुद्ध ने स्वयं को विभज्यवाद का निरूपक कहा है।

विशेष विवरण के लिए देखें—टिप्पण संख्या ८१।

चउद्दसमं अज्झयणं : चौदहवां अध्ययन

गंथो : ग्रन्थ

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. गंथं विहाय इह सिक्खमाणो उट्ठाय सुबंभचेरं वसेज्जा। ओवायकारी विणयं सुसिक्खे जे छेए से विप्पमादं ण कुज्जा॥	ग्रन्थं विहाय इह शिक्षमाणः, उत्थाय सुब्रह्मचर्यः वसेत्। अवपातकारी विनयं सुशिक्षेत्, यश्छेकः स विप्रमादं न कुर्यात्॥	१. ग्रन्थ (परिग्रह) को[1] छोड़ भावग्रन्थ (श्रुतज्ञान) को प्राप्त कर, जिन-शासन में शिक्षा प्राप्त करता हुआ प्रव्रजित हो गुरुकुल-वास में रहे[2], निर्देश का पालन करे और विनय का[3] अभ्यास करे। जो चतुर होता है वह प्रमाद नहीं करता।[4]
२. जहा दिया-पोतमपत्तजातं सावासगा पवितुं मण्णमाणं। तमचाइयं तरुणमपत्तजायं ढंकादि अव्वत्तगमं हरेज्जा॥	यथा द्विजपोतमपत्रजातं, स्वावासकात् प्लवितुं मन्यमानः। तमशक्तं तरुणमपत्रजातं, ध्वांक्षादिः अव्यक्तगमं हरेत्॥	२. जैसे पूरे पंख आए बिना पक्षी का बच्चा अपने घोंसले से उड़ना चाहता है, किन्तु वह उड़ नहीं सकता। उड़ने में असमर्थ उस पंखहीन बच्चे को कौए[5] आदि उठाकर ले जाते हैं।[6]
३. एवं तु सिक्खे वि अपुट्ठधम्मे णिस्सारं वुसिमं मण्णमाणो। दियस्स छावं व अपत्तजातं हरिंसु णं पावधम्मा अणेगे॥	एवं तु शैक्षोऽपि अपुष्टधर्मा, निस्सारं वृषिमन्तं मन्यमानः। द्विजस्य शावमिव अपत्रजातं, अहार्षुः पापधर्माणः अनेके॥	३. इसी प्रकार अपुष्ट-धर्म वाला[7] शैक्ष (नव-दीक्षित) चारित्र को[8] निस्सार मानकर (गुरुकुल-वास से) निकलना चाहता है। उसे अनेक पाप-धर्म वाले[9] वैसे ही हर लेते हैं[10] जैसे पंखहीन पक्षी के बच्चे को कौए आदि।
४. ओसाणमिच्छे मणुए समाहिं अणोसिते णंतकरे ति णच्चा। ओभासमाणे दवियस्स वित्तं ण णिक्कसे बहिया आसुपण्णो॥	अवसानमिच्छेद् मनुजः समाधिं, अनुषितो नान्तकरः इति ज्ञात्वा। अवभाषमाणः द्रव्यस्य वित्तं, न निष्कसेत् बहिराशुप्रज्ञः॥	४. जो गुरुकुल-वास में[11] नहीं रहता वह साधु[12] (असमाधि या संसार का) अन्त नहीं कर सकता—यह जानकर[13] शिष्य गुरुकुलवास में आजीवन रहने और समाधि प्राप्त करने की इच्छा करे। गुरु साधु के[14] वित्त (या वृत्त) पर[15] अनुशासन करता है[16], इसलिए आशुप्रज्ञ शिष्य[17] गुरुकुलवास से बाहर न निकले।
५. जे ठाणओ या सयणासणे या परक्कमे यावि सुसाहुजुत्ते। समितीसु गुत्तीसु य आयपण्णे वियागरेंते य पुढो वएज्जा॥	यः स्थानतश्च शयनासनयोश्च, पराक्रमे चापि सुसाधुयुक्तः। समितिषु गुप्तिषु च आत्मप्रज्ञः, व्याकुर्वंश्च पृथग् वदेत्॥	५. स्थान, शयन, आसन और प्रत्येक चेष्टा में जो सु-साधुओं से युक्त[18] तथा समितियों और गुप्तियों में आत्मप्रज्ञ[19] होता है वह (दूसरों को) कहता है तो बहुत अच्छे ढंग से[20] कह सकता है।

६. सद्दाणि सोच्चा अदु भेरवाणि
अणासवे तेसु परिव्वएज्जा ।
णिद्दं च भिक्खू ण पमाय कुज्जा
कहं कहं वी वितिगिच्छ तिण्णे ।।

शब्दान् श्रुत्वा अथ भैरवान्,
अनाश्रवः तेषु परिव्रजेत् ।
निद्रां च भिक्षुः न प्रमादं कुर्यात्,
कथं कथं अपि विचिकित्सां तीर्णः ।।

६. मुनि प्रशंसा या कठोर शब्दों को सुनकर[२१] उनके प्रति मध्यस्थ[२२] रहता हुआ परिव्रजन करे । भिक्षु निद्रा-प्रमाद[२३] न करे । 'कैसे होगा ?' 'कैसे होगा ?'—[२४] इस प्रकार की विचिकित्सा को[२५] तर जाए ।

७. डहरेण वुड्ढेण ऽणुसासिते तु
रातिणिएणाऽवि समव्वएणं ।
सम्मं तयं थिरतो णाभिगच्छे
णिज्जंतए वावि अपारए से ।।

दहरेण वृद्धेन अनुशासितस्तु,
रात्निकेनापि समव्रतेन ।
सम्यक् तकं स्थिरतः नाभिगच्छेद्,
नीयमानो वापि अपारगः सः ।।

७. (जन्म-पर्याय से) छोटे-बड़े तथा (दीक्षा-पर्याय से) छोटे-बड़े[२६], रात्निक[२७] या सह-दीक्षित के द्वारा[२८] अनुशासित होने पर जो उस अनुशासन को भली भांति स्थिर रूप में[२९] (भूल को पुनः न दोहराने की दृष्टि से) स्वीकार नहीं करता वह संसार के पार ले जाया जाता हुआ भी उसका पार नहीं पा सकता ।[३०]

८. विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे
डहरेण वुड्ढेण ऽणुसासिते तु ।
अब्भुट्ठिताए घडदासिए वा
अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे ।।

व्युत्थितेन समयानुशिष्टः,
दहरेण वृद्धेन अनुशासितस्तु ।
अभ्युत्थितया घटदास्या वा,
अगारिणा वा समयानुशिष्टः ।।

८. किसी शिथिलाचारी व्यक्ति के द्वारा समय (धार्मिक सिद्धांत) के अनुसार[३१], किसी छोटे या बड़े के द्वारा, किसी पतित घटदासी के द्वारा[३२] अथवा किसी गृहस्थ के द्वारा समय (सामाजिक सिद्धांत) के अनुसार अनुशासित होने पर[३३] [३४]—

९. ण तेसु कुज्झे ण य पव्वहेज्जा
ण यावि किंची फरुसं वदेज्जा ।
तहा करिस्सं ति पडिस्सुणेज्जा
सेयं खु मेयं ण पमाद कुज्जा ।।

न तेषु क्रुध्येत् न च प्रव्यथयेत्,
न चापि किञ्चित् परुषं वदेत् ।
तथा करिष्यामि इति प्रतिश्रृणुयात्,
श्रेयः खलु ममैतद् न प्रमादं कुर्यात् ।।

९. उन (अनुशासन करने वालों) पर क्रोध न करे[३५], उन्हें चोट न पहुंचाए[३६], कठोर वचन न कहे, 'अब मैं वैसा करूंगा', 'यह मेरे लिए श्रेय है'[३७]—ऐसा स्वीकार कर फिर प्रमाद न करे ।

१०. वणंसि मूढस्स जहा अमूढा
मग्गाणुसासंति हितं पयाणं ।
तेणा वि मज्झं इणमेव सेयं
जं मे बुधा सम्मऽणुसासयंति ।।

वने मूढस्य यथा अमूढाः,
मार्गमनुशासति हितं प्रजानाम् ।
तेनापि मम इदमेव श्रेयः,
यद् मे बुधाः सम्यग् अनुशासति ।।

१०. जैसे वन में दिग्मूढ व्यक्ति को अमूढ व्यक्ति[३८] सर्व-हितकर मार्ग दिखलाते हैं[३९] और वह दिग्मूढ व्यक्ति (सोचता है) जो अमूढ पुरुष मुझे सही मार्ग बता रहे हैं[४०], वही मेरे लिए श्रेय है ।

११. अह तेण मूढेण अमूढगस्स
कायव्व पूया सविसेसजुत्ता ।
एतोवमं तत्थ उदाहु वीरे
अणुगम्म अत्थं उवणेइ सम्मं ।।

अथ तेन मूढेन अमूढकस्य,
कर्त्तव्या पूजा सविशेषयुक्ता ।
एतां उपमां तत्र उदाहृ वीरः,
अनुगम्य अर्थं उपनयति सम्यक् ।।

११. (गन्तव्य-स्थल प्राप्त होने पर) उस दिग्मूढ व्यक्ति के द्वारा अमूढ (पथ-दर्शक) पुरुष की कुछ विशेषता सहित पूजा करणीय होती है । महावीर ने[४१] इस प्रसंग में यह उपमा कही है । इसके अर्थ को समझकर मुनि इसका भलीभांति उपनय करता है—अपने पर घटित करता है ।[४२]

१२.णेता जहा अंधकारंसि राओ
मग्गं ण जाणाति अपस्समाणे ।
से सुरियस्सा अब्भुग्गमेणं
मग्गं वियाणाति पगासितंसि ॥

नेता यथा अन्धकारे रात्रौ,
मार्गं न जानाति अपश्यन् ।
स सूर्यस्य अभ्युद्गमने,
मार्गं विजानाति प्रकाशिते ॥

१२. जैसे नेता (चलने वाला) रात के अंधकार में नहीं देखता हुआ मार्ग को नहीं जानता[४३], वह सूर्य के उगने पर प्रकाश में मार्ग को जान लेता है—

१३.एवं तु सेहे वि अपुट्ठधम्मे
धम्मं ण जाणाति अबुज्झमाणे ।
से कोविए जिणवयणेण पच्छा
सूरोदए पासइ चक्खुणेव ॥

एवं तु सेधोऽपि अपुष्टधर्मा,
धर्मं न जानाति अबुध्यमानः ।
स कोविदः जिनवचनेन पश्चात्,
सूरोदये पश्यति चक्षुषेव ॥

१३. इसी प्रकार अपुष्ट-धर्म वाला[४४] शैक्ष, अज्ञानी होने के कारण, धर्म को[४५] नहीं जानता। वह जिन-प्रवचन के द्वारा ज्ञानी[४६] होकर धर्म को जान लेता है, जैसे नेता सूरज के उगने पर चक्षु के द्वारा मार्ग को देख लेता है।

१४.उड्ढं अहे यं तिरियं दिसासु
तसा य जे थावर जे य पाणा ।
सया जए तेसु परिव्वएज्जा
मणप्पओसं अविकंपमाणे ॥

ऊर्ध्वं अधश्च तिर्यग् दिशासु,
त्रसाश्च ये स्थावराः ये च प्राणाः ।
सदा यतः तेषु परिव्रजेत्,
मनःप्रदोषं अविकल्पमानः ॥

१४. ऊंची, नीची और तिरछी दिशाओं में जो त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनके प्रति सदा संयम करता हुआ परिव्रजन करे, मानसिक प्रद्वेष[४७] का विकल्प न करे।[४८]

१५.कालेण पुच्छे समियं पयासु
आइक्खमाणो दवियस्स वित्तं ।
तं सोयकारी य पुढो पवेसे
संखाइमं केवलियं समाहिं ॥

कालेन पृच्छेत् सम्यक् प्रजासु,
आचक्षाणं द्रव्यस्य वित्तम् ।
तं श्रोतःकारी च पृथक् प्रवेशयेत्,
संख्याय इमं कैवलिकं समाधिम् ॥

१५. प्रजा के बीच में मुनि के वित्त (ज्ञान आदि) की व्याख्या करने वाले आचार्य से, समय पर विनयावनत हो[४९], पूर्ण समाधि के विषय में पूछे, उसे ग्रहण करे[५०] और इस पूर्ण या केवली-सबंधी समाधि को जानकर उसे विस्तार से अपने हृदय में स्थापित करे।[५१]

१६.अस्सिं सुठिच्चा तिविहेण तायी
एएसु या संति णिरोधमाहु ।
ते एवमक्खंति तिलोगदंसी
ण भुज्जमेतं ति पमायसंगं ॥

अस्मिन् सुस्थित्य त्रिविधेन तादृग्,
एतेषु च शान्ति निरोधमाहुः ।
ते एवमाख्यान्ति त्रिलोकदर्शिनः
न भूयः एतं एति प्रमादसंगम् ॥

१६. वैसा मुनि धर्म, समाधि और मार्ग की[५२] आराधनापूर्वक गुरुकुल-वास में सम्यग्-स्थित होकर, इन (धर्म, समाधि और मार्ग) में प्रवृत्त होता है, उससे (चित्त की)[५३] शान्ति और निरोध[५४] होता है। त्रिलोकदर्शी तीर्थंकर[५५] ऐसा कहते हैं कि वैसा मुनि फिर प्रमाद में लिप्त नहीं होता।

१७.णिसम्म से भिक्खु समीहमट्ठं
पडिभाणवं होति विसारदे य ।
आदाणमट्ठी वोदाण-मोणं
उवेच्च सुद्धेण उवेइ मोक्खं ॥

निशम्य स भिक्षुः समीक्ष्य अर्थं,
प्रतिभानवान् भवति विशारदश्च ।
आदानार्थी व्यवदान-मौनं,
उपेत्य शुद्धेन उपैति मोक्षम् ॥

१७. वह भिक्षु अर्थ को सुन, उसकी समीक्षा कर, प्रतिभावान्[५६] और विशारद[५७] हो जाता है। वह आदान (ज्ञान आदि) का अर्थी बना हुआ[५८], तपस्या[५९] और संयम[६०] को प्राप्त कर शुद्ध (धर्म, समाधि और मार्ग) के द्वारा मोक्ष को प्राप्त होता है।

१८. संखाए धम्मं च वियागरंति
बुद्धा हु ते अंतकरा भवंति ।
ते पारगा दोण्ह विमोयणाए
संसोधियं पण्हमुदाहरंति ॥

संख्याय धर्मं च व्याकुर्वन्ति,
बुद्धाः खलु ते अन्तकरा भवन्ति ।
ते पारगाः द्वयोर्विमोचनाय,
संशोधितं प्रश्नमुदाहरन्ति ॥

१८. जो आचार्य[६१] (क्षेत्र, काल, पुरुष और सामर्थ्य को) जानकर[६२] धर्म का प्रतिपादन करते हैं वे (शिष्यों के संदेहों का) अन्त करने वाले होते हैं।[६३] वे श्रुत के पारगामी आचार्य[६४] अपने और शिष्य के (संदेह-) विमोचन के लिए संशोधित प्रश्न की व्याख्या करते हैं।[६५]

१९. णो छादए णो वि य लूसएज्जा
माणं ण सेवेज्ज पगासणं च ।
ण यावि पण्णे परिहास कुज्जा
ण याऽऽसिसावाद वियागरेज्जा ॥

नो छादयेद् नो अपि च लूषयेत्,
मानं न सेवेत प्रकाशनं च ।
न चापि प्राज्ञः परिहासं कुर्यात्,
न च आशीर्वादं व्याकुर्यात् ॥

१९. प्रज्ञावान् न अर्थ को छिपाए[६६], न अपसिद्धान्त का निरूपण करे[६७], न अभिमान करे, न अपना स्थापन करे[६८], (सही न समझने वाले का) परिहास[६९] न करे और (तुष्ट होकर) आशीर्वचन (प्रशस्ति-वचन)[७०] न कहे।

२०. भूयाभिसंकाए दुगुंछमाणे
ण णिव्वहे मंतपएण गोयं ।
ण किंचिमिच्छे मणुए पयासु
असाहुधम्माणि ण संवएज्जा ॥

भूताभिशंकया जुगुप्समानः,
न निर्वहेद् मंत्रपदेन गोत्रम् ।
न किञ्चिद् इच्छेद् मनुजः प्रजासु,
असाधुधर्मान् न संवदेत् ॥

२०. जीव-वध की आशंका से जुगुप्सा करता हुआ मंत्र-पद के द्वारा[७१] सयम जीवन का[७२] निर्वाह[७३] न करे। प्रजा में प्रवचन करता हुआ वह प्रवचनकार कुछ भी (यश, कीर्ति आदि की) इच्छा न करे और असाधु-धर्मों का[७४] सवाद न करे।

२१. हासं पि णो संधए पावधम्मे
ओए तहियं फरुसं वियाणे ।
णो तुच्छए णो य विकत्थएज्जा
अणाइले या अकसाइ भिक्खू ॥

हासमपि नो संधत्ते पापधर्मे,
ओजा तथ्यं परुषं विजानीयात् ।
नो तुच्छयेद् नो च विकत्थयेत्,
अनाविलश्च अकषायी भिक्षुः ॥

२१. निर्मल[७५] और प्रशान्त भिक्षु पाप-धर्म (असाधु-धर्म) की स्थापना करने वालों का परिहास न करे।[७६] तटस्थ रहे।[७७] सत्य कठोर होता है, इसे जाने।[७८] न अपनी तुच्छता प्रदर्शित करे[७९] और न अपनी प्रशंसा करे।

२२. संकेज्ज याऽसंकितभाव भिक्खू
विभज्जवायं च वियागरेज्जा ।
भासादुगं धम्मसमुट्ठितेहिं
वियागरेज्जा समयाऽऽसुपण्णे ॥

शंकेत च अशंकितभावो भिक्षुः,
विभज्यवादं च व्याकुर्यात् ।
भाषाद्विकं धर्मसमुत्थितैः,
व्याकुर्यात् समया आशुप्रज्ञः ॥

२२. भिक्षु किसी पदार्थ के प्रति अशंकित हो, फिर भी सत्य के प्रति विनम्र होकर प्रतिपादन करे।[८०] प्रतिपादन में विभज्यवाद (भजनीयवाद या स्याद्वाद) का[८१] प्रयोग करे। आशुप्रज्ञ मुनि धर्म के लिए समुत्थित पुरुषों के साथ[८२] विहार करता हुआ दो भाषाओं[८३] (सत्य भाषा और व्यवहार भाषा) का समतापूर्वक[८४] प्रयोग करे।

२३. अणुगच्छमाणे वितहं ऽभिजाणे
तहा तहा साहु अकक्कसेणं ।
ण कत्थई भास विहिंसएज्जा
णिरुद्धगं यावि ण दीहएज्जा ॥

अनुगच्छन् वितथमभिजानाति,
तथा तथा साधु अकर्कशेन ।
न कुत्रचिद् भाषां विहिंस्यात्,
निरुद्धकं वापि न दीर्घयेत् ॥

२३. (वक्ता के वचन को) कोई श्रोता यथार्थ रूप में जान लेता है और कोई उसे यथार्थ रूप में नहीं जान पाता।[८५] उस (मंदमति) को वैसे-वैसे (हेतु, दृष्टांत आदि के द्वारा) भली-भांति समझाए, किन्तु कर्कश वचन का प्रयोग न करे।[८६] कहीं भी उसकी भाषा की हिंसा (तिरस्कार) न करे।[८७] शीघ्र समाप्त होने वाली बात को न लंबाए।[८८]

२४. समालवेज्जा पडिपुण्णभासी
णिसामिया समियाअट्ठदंसी ।
आणाए सिद्धं वयणं भिजुंजे
अभिसंधए पावविवेग भिक्खू ॥

समालपेत् प्रतिपूर्णभाषी,
निशम्य सम्यग् अर्थदर्शी ।
आज्ञया सिद्धं वचनं अभियुञ्जीत,
अभिसंधत्ते पापविवेकं भिक्षुः ॥

२४. आचार्य के पास सुनकर भलीभांति अर्थ को देखने वाला[८९] भिक्षु संगत बात कहे,[९०] अर्थपूर्ण और अस्खलित वचन बोले,[९१] आज्ञा-सिद्ध वचन का प्रयोग करे[९२] और पाप का विवेक करने वाले वचन का संधान करे।[९३]

२५. अहाबुइयाइं सुसिक्खएज्जा
जएज्ज या णाइवेलं वएज्जा ।
से दिट्ठिमं दिट्ठि ण लूसएज्जा
से जाणइ भासिउं तं समाहिं ॥

यथोक्तानि सुशिक्षेत,
यतेत च नातिवेलं वदेत् ।
स दृष्टिमान् दृष्टिं न लूषयेत्,
स जानाति भाषितुं तं समाधिम् ॥

२५. यथोक्त वचन को[९४] सम्यक् प्रकार से सीखे, उसे क्रियान्वित करे और मर्यादा का अतिक्रमण कर न बोले।[९५] वह दृष्टिमान् भिक्षु दृष्टि को खंडित या दूषित न करे।[९६] ऐसा भिक्षु ही उस कैवलिक समाधि को[९७] कहने की विधि जान सकता है।

२६. अलूसए णो पच्छण्णभासी
णो सुत्तमत्थं च करेज्ज अण्णं ।
सत्थारभत्ती अणुवीचि वायं
सुयं च सम्मं पडिवादएज्जा ॥

अलूषकः नो प्रच्छन्नभाषी,
नो सूत्रमर्थं च कुर्याद् अन्यम् ।
शास्तृभक्तिः अनुवीचि वादं,
श्रुतं च सम्यक् प्रतिपादयेत् ॥

२६. सिद्धांत को यथार्थरूप में प्रस्तुत करे,[९८] (अपरिणत को) रहस्य न बताए,[९९] सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे।[१००] शास्ता की भक्ति[१०१] और परम्परा के अनुसार[१०२] वाद (सिद्धान्त) और श्रुत का सम्यक् प्रतिपादन करे।[१०३]

२७. से सुद्धसुत्ते उवहाणवं च
धम्मं च जे विंदति तत्थ तत्थ ।
आएज्जवक्के कुसले वियत्ते
से अरिहइ भासिउं तं समाहिं ॥

स शुद्धसूत्रः उपधानवांश्च,
धर्मं च यो विन्दति तत्र तत्र ।
आदेयवाक्यः कुशलः व्यक्तः,
स अर्हति भाषितुं तं समाधिम् ॥

२७. जो सूत्र का शुद्ध उच्चारण करता है,[१०४] तपस्वी है,[१०५] धर्म को विविध दृष्टिकोणों से प्राप्त करता है,[१०६] जिसका वचन लोकमान्य होता है,[१०७] जो कुशल[१०८] (आत्मज्ञ) है और व्यक्त (परिणत) है, वह (ग्रन्थी या शास्त्रज्ञ भिक्षु) उस कैवलिक समाधि का प्रतिपादन कर सकता है।

—ति बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूं ।

टिप्पण : अध्ययन १४

श्लोक १ :

१. ग्रन्थ (परिग्रह) को (गंथं)

ग्रन्थ का अर्थ है—आत्मा को बांधने वाला तत्त्व।[1]

चूर्णिकार के अनुसार ग्रंथ के दो प्रकार हैं—द्रव्य-ग्रन्थ और भाव-ग्रन्थ। द्रव्य-ग्रन्थ सावद्य होता है। भाव ग्रन्थ के दो प्रकार हैं—

प्रशस्तभावग्रन्थ—ज्ञान, दर्शन और चारित्र।

अप्रशस्तभावग्रन्थ—प्राणातिपात आदि तथा मिथ्यात्व आदि।[2]

२. प्रव्रजित हो गुरुकुलवास में रहे (उट्ठाय सुबंभचेरं)

उत्थाय का अर्थ है—सम्यग् अनुष्ठान को स्वीकार करने के लिए उठकर अर्थात् प्रव्रजित होकर।[3]

सुब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हैं—[4]

१. सुचारित्र।

२. नौ गुप्तियुक्त मैथुन-विरति।

३. गुरुकुलवास।

सूत्रकृतांग २।५।१ में 'बंभचेरं' की व्याख्या में चूर्णिकार ने आचार, आचरण, संवर, संयम और ब्रह्मचर्य को एकार्थक माना है।[5]

३. विनय का (विणयं)

विनय के अनेक अर्थ हैं—

१. भाषा का शुद्ध प्रयोग।[6]

२. आचार।[7]

३. विनय।

यहां विनय का अर्थ है—आचार। शिष्य गुरु के प्रत्येक वचन को सम्यक् रूप से ग्रहण करे और उससे भावित होकर उसको

---

१. वृत्ति, पत्र २४८ : ग्रथ्यते आत्मा येन स ग्रन्थः।

२. चूर्णि, पृ० २२७,२२८।

३. चूर्णि, पृ० २२८ : उत्थायेति प्रव्रज्य।

४. (क) चूर्णि, पृ० २२८ : सोभणं बंभचेरं वसेज्जा सुचारित्रमित्यर्थः, गुप्तिपरिसुद्धं वा मैथुनं बंभचेरं वुच्चति, गुरुपादमूले जावज्जीवाए जाव अब्भुज्जतविहारं ण पडिवज्जति ताव वसे।

(ख) वृत्ति, पत्र २४८।

५. सूयगडो २।५।१, चूर्णि, पृ० ४०३ : आचारोत्ति वाऽऽचरणंति वा संवरोत्ति वा संजमोत्ति वा बंभचेरंति वा एगट्ठं।

६. (क) दसवेआलियं, ७।१, जिनदासचूर्णि पृ० २४४ : जं भासमाणो धम्मं णातिक्कमइ, एसो विणयो भण्णइ।

(ख) वही, हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र २१३ : विनयं शुद्धप्रयोगम्।

७. दसवेआलियं, ९।२।१ : धम्मस्स विणओ मूलं।

कार्य रूप में परिणत करे।[1]

'विनय' शब्द के विविध अर्थों के लिए देखें—

१. दसवेआलियं—७।१ टिप्पण, पृष्ठ ३४६।

९।१।१, टिप्पण, पृष्ठ ४२५, ४३०।

४. (जे छेए …)

संयम का पालन करता हुआ निपुण मुनि संयम या आचार्य के उपदेश में किसी भी प्रकार के प्रमाद का सेवन न करे। प्रमाद का अर्थ है—संयम में अनुद्यम। विप्रमाद का अर्थ है—जैसा कहना वैसा करना। वही मुनि निपुण होता है जो जैसा कहता है वैसा ही करता है।

जैसे रोगी चतुर वैद्य के निर्देश का पालन करता हुआ रोगमुक्त होकर शांति और श्लाघा को प्राप्त करता है, वैसे ही साधु भी सावद्य ग्रन्थों को छोड़कर पापकर्म को दूर करने वाली औषधि रूप प्रशस्तभावग्रन्थ या आचार्य-वचनों को स्वीकार कर कर्मरूपी रोग को शान्त करता है। इससे दूसरे साधुओं में उसकी प्रशंसा भी होती है और अशेष कर्मक्षय भी होता है।[2]

श्लोक २ :

५. ढंक आदि (ढंकादि)

देखें—१।६२ का १२० वां टिप्पण।

६. (ढंकादि ··हरेज्जा)

उस पंखहीन शिशु को ढंक आदि उठाकर ले जाते हैं। चूर्णिकार ने आदि शब्द से निम्न सूचनाएं दी हैं—चींटियां उसे खा डालती हैं, दूसरे पक्षी उसे मार डालते हैं, बच्चे उसे डराते हैं अथवा कौआ उसे उठाकर ले जाता है।[3]

इस श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि जो मुनि एकलविहार प्रतिमा की साधना के लिए योग्य नहीं होता, गच्छ में कोई भी मुनि उसे एकलविहार प्रतिमा स्वीकार नहीं करवाता क्योंकि वह अभी तक उतने शास्त्रों को नहीं पढ़ पाया है जितने शास्त्र उसको पढ़ने चाहिए थे, तब वह आचार्य के उपदेश के विना भी स्वच्छन्दता से गच्छ से बहिर्गमन कर एकलविहारी बन जाता है, तब वह अनेक दोषों का आसेवन करने वाला होता है। वह उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे पंखहीन पक्षी का बच्चा घोंसले से निकल कर उड़ने की चेष्टा करने पर दूसरों द्वारा मार दिया जाता है।[4]

---

१. वृत्ति, पत्र २४८ : विनीयते—अपनीयते कर्म येन स विनयस्तं सुष्ठु शिक्षेद्—विदध्यात् ग्रहणसेवनाभ्यां विनयं सम्यक् परिपालयेदिति।

२. (क) चूर्णि, पृ० २२८ : यश्छेकः स विप्रमादं प्रमादो नाम अनुद्यमः, (विप्रमादः) यथोक्तकरणम्, यथाऽऽतुरः सम्यग्वैद्योपपातकारी शांति लभते एवं साधुरपि सावद्यग्रन्थपरिहारी पापकर्मभेषजस्थानीयेन प्रशस्तभावग्रन्थेन कर्मामयशांति लभते।

(ख) वृत्ति, पत्र २४८ : 'छेको'—निपुणः स संयमानुष्ठाने सदाचार्योपदेशे वा विविधं प्रमादं न कुर्याद्, यथा हि आतुरः सम्यग्वैद्योपदेशं कुर्वन् श्लाघां लभते, रोगोपशमं च, एवं साधुरपि सावद्यग्रन्थपरिहारी पापकर्मभेषजस्थानभूतान्याचार्यवचनानि विदधदपरसाधुभ्यः साधुकारमशेषकर्मक्षयं चावाप्नोतीति।

३. चूर्णि, पृ० २२८ : ढङ्क पंखी, ढङ्क आदिर्येषां ते भवति ढंकादिणो अन्यतराः, अध्यक्तगम इति अपर्याप्तः, हरेज्ज वा पिवीलिकाओ व णं खाएज्जा, मारेज्ज वा णं चेडरूवाणि धाडेज्ज वा अपि कानेनापि ह्रियते।

४. (क) चूर्णि, पृ० २२८ : जो पुण एगल्लविहारपडिमाए अप्पज्जत्तो, गच्छम्मि केयि पुरिसे अविविणि (?ण्णे) णिगच्छंति अवितीर्णश्रुतमहोदधी, यद्वा नासौ तीर्थंकराविर्भिविधत्तः तस्य दुज्जावादी दोसा भवंति।

(ख) वृत्ति, पत्र २४९ : यः पुनराचार्योपदेशमन्तरेण स्वच्छन्दतया गच्छान्निर्गत्य एकाकिविहारितां प्रतिपद्यते, स च बहुदोषभाग् भवति ……व्यापादयेयुरिति।

श्लोक ३ :

७. अपुष्ट धर्म वाला (अपुट्ठधम्मे)

चूर्णिकार ने इसको 'अस्पृष्टधर्मा' मानकर इसका अर्थ—अगीतार्थ किया है।[1]

वृत्तिकार ने अपुष्टधर्मा का अर्थ—सूत्र और अर्थ से अनिष्पन्न—अगीतार्थ तथा ऐसा व्यक्ति जिसमें धर्म का परमार्थ सम्यक् रूप से परिणत नहीं हुआ है—किया है। इसी अध्ययन के तेरहवें श्लोक में भी इस शब्द का यही अर्थ किया है।[2]

८. चारित्र को (वुसिमं)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ चारित्र किया है।[3] वृत्तिकार ने इसका मुख्य अर्थ 'वश्य' और वैकल्पिक अर्थ चारित्र माना है।[4]

देखें—सूयगडो ८।२० में 'वुसीमओ' का टिप्पण।

९. पाप धर्म वाले (पावधम्मा)

जो व्यक्ति मिथ्यादृष्टि वाले और अविरत हैं, वे पाप धर्म वाले होते हैं। चूर्णिकार ने ३६३ प्रावादुकों को इसके अन्तर्गत माना है।[5]

वृत्तिकार के अनुसार सभी कुतीर्थिक मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय से कलुषित होते हैं। वे सभी पापधर्मा कहलाते हैं।[6]

१०. हर लेते हैं (हरिंसु)

पाखण्डी व्यक्ति अगीतार्थ मुनि के पास आकर उसको पथच्युत करने के लिए कहते हैं—'देखो, तुम्हारे जैन दर्शन में अग्नि-प्रज्वालन, विषापहार, चोटी कटाना आदि के विषय में कोई विश्वास नहीं है। अणिमा, लघिमा आदि आठ प्रकार की ऋद्धियां भी नहीं हैं। तुम्हारा मत न राजा आदि विशिष्ट पुरुषों के द्वारा आश्रित ही है। तुम्हारे आगमों में जो अहिंसा का विधान है वह दुःसाध्य है, क्योंकि समूचा लोक जीवों से आकुल है, व्याप्त है। तुम्हारे मत में स्नान आदि का विधान भी नहीं है। उसमें शौच के लिए कोई स्थान नहीं है।'

स्वजन, बन्धु-बान्धव आकर उस अगीतार्थ मुनि को कहते हैं—'आयुष्मन्! तुम ही हमारे आधार हो, तुम्हारे बिना हमारा पोषण करने वाला दूसरा कोई नहीं है। तुम ही हमारे सर्वस्व हो। तुम्हारे बिना सारा संसार सूना है।'

इसी प्रकार स्त्रियां आकर उसे भोग का निमन्त्रण देती हैं और विविध प्रकार से उसे संयमच्युत करने का प्रयत्न करती हैं।[7]

श्लोक ४ :

११. गुरुकुलवास में (ओसाणं)

चूर्णिकार ने 'अवसान' के दो अर्थ किए हैं—जीवनपर्यन्त अथवा गुरुकुलवास।[8] वृत्तिकार ने इसका अर्थ गुरुकुलवास

---

१. चूर्णि, पृ० २२८ : न स्पृष्टो येन धर्मः स भवति अपुट्ठधम्मे, अगीतार्थ इत्यर्थः।

२ (क) वृत्ति, पत्र २४६ : सूत्रार्थानिष्पन्नमगीतार्थम् 'अपुष्टधर्माणं'—सम्यगपरिणतधर्मपरमार्थम्।

(ख) सूयगडो १४।१३, वृत्ति पत्र २५३ : अपुट्ठधम्मे ·····सूत्रार्थानिष्पन्नः अपुष्टः—अपुष्कलः सम्यगपरिज्ञातः।

३. चूर्णि, पृ० २२८ : वुसिमं णाम चारित्रं।

४. वृत्ति, पत्र २४६ :······वश्यम्······यदि वा 'वुसिम' त्ति चारित्रम्।

५ चूर्णि, पृ० २१८ : पापो येषां धर्मः—मिथ्यादर्शनं अविरतिश्च ते पापधर्माः भिक्षुकादीनि तिण्णि तिसट्ठाणि पावादियसताणि।

६. वृत्ति, पत्र २४६ : पापधर्माणो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायकलुषितान्तरात्मानः कुतीर्थिकाः।

७. वृत्ति, पत्र २४६।

८ चूर्णि पृ० २२६ : ओसाणमित्यवसानं जीवितावसानमित्यर्थः, अथवा ओसाणमिति स्थानमेव गुरुपादमूले। उक्तं हि—आसवपदमोसाणं मल्लिस्स मणोरमे चेव।

किया है।[1]

आचार्य के निकट रहना गुरुकुलवास है। जो मुनि अन्यत्र रहता हुआ भी गुरु के निर्देशों का पालन करता है वह भी गुरुकुलवासी माना जाता है। जो गुरु के अत्यन्त निकट रहकर भी उनके निर्देशों का पालन नहीं करता, व गुरु के निकट नहीं है, दूर है। वह गुरुकुलवास में नहीं है। गुरु के कालगत हो जाने पर वह किसी अन्य गीतार्थ के पास चला जाए।[2]

१२. साधु (मणुए)

यहां मनुज शब्द साधु के अर्थ में प्रयुक्त है।[3]

चूर्णिकार का अभिमत है कि जब तक मनुष्यत्व (मनुज-पर्याय) हो तब तक मुनि गुरुकुलवास में रहे।[4]

वृत्तिकार का मानना है कि वही वास्तव में मनुज है जो अपनी प्रतिज्ञा का यथार्थ निर्वाह करता है। प्रतिज्ञा का यथार्थ निर्वाह गुरु के निकट रहकर समाधि का पालन करने वाला ही कर सकता है।[5]

१३. (अणोसिते णंतकरे ति णच्चा)

'अणोसिते' का संस्कृत रूप है—अनुषितः। इसका अर्थ है—जो गुरुकुलवास में नहीं रहता, जो अव्यवस्थित है, स्वच्छन्दाचारी है।[6]

जो मुनि गुरुकुलवास में नहीं रहता वह भव-संसार का अन्त नहीं कर सकता।

वृत्तिकार के अनुसार जो स्वच्छन्दविहारी होता है, वह समाधि या यथाप्रतिज्ञात कार्य का पार पाने वाला नहीं होता।[7]

चूर्णिकार तथा वृत्तिकार ने यहां 'वालुंक वैद्य' के दृष्टान्त की सूचना दी है। वह इस प्रकार है[8]—

राजघराने में एक वैद्य था। वह मर गया। राजा ने लोगों से पूछा—क्या उसके कोई पुत्र था या नहीं। लोगों ने कहा—एक पुत्र है, परन्तु वह अशिक्षित है। राजा ने उसे बुलाकर कहा—जाओ, विद्या का अध्ययन करो। राजा की आज्ञा पाकर वह अन्यत्र गया और एक वैद्य के पास विद्या-अध्ययन करने लगा। एक बार एक व्यक्ति अपनी बकरी लेकर वैद्य के पास आया। उसके गले में कुछ फंस गया था। गला सूज गया। वैद्य ने पूछा—यह कहां चर रही थी? उसने कहा—अमुक स्थान पर। वैद्य ने जान लिया कि इसके गले में 'ककड़ी' फंस गई है। वैद्य ने बकरी के गले पर एक कपड़ा बांधा और जोर से मरोड़ा, ककड़ी टूट गई वह गले से बाहर आकर गिर पड़ी। बकरी स्वस्थ हो गई।

उस वैद्यपुत्र विद्यार्थी ने यह देखा। उसने जान लिया कि यही वैद्य-क्रिया है, वैद्यक रहस्य है। वह वहां से चला और राजा के पास आ गया। राजा ने कहा—'वैद्य-विद्या का अध्ययन कर लिया? उसने कहा—हां। राजा ने कहा—बहुत शीघ्रता से तुमने ज्ञान कर लिया। तुम मेधावी हो। राजा ने उसका सत्कार किया। एक बार रानी के गले में गांठ (गलगंड) उठी। उस वैद्यपुत्र को बुला भेजा। उसने गले की गांठ देखी। अपने शिक्षक वैद्य की बात उसे स्मृत हो आई। उसने रानी के गले में कपड़ा बांधा और जोर से मरोड़ा। रानी मर गई। तब राजा ने दूसरे वैद्यों से पूछा—क्या इसने शास्त्र के अनुसार चिकित्सा की है अथवा अशास्त्र के अनुसार? वैद्यों ने कहा—अशास्त्र के अनुसार। राजा ने उसे शारीरिक दण्ड देकर विसर्जित किया, निकाल दिया।

---

१. वृत्ति, पत्र २४६ : अवसानं—गुरोरन्तिके स्थानं।

२. चूर्णि पृ० २०३ : अन्यत्रापि हि वसन् जो गुरुणिदेशं वहति स गुरुकुलवासमेव वसति, अनिर्देशवर्ती तु सन्निकृष्टोऽपि दूरस्थ एव, लोकेऽपि सिद्धा प्रत्यक्ष-परोक्षा सेवा। आह च—"कामक्रोधावनिर्जित्य, किमारण्यं करिष्यसि? कालगतेऽपि गुरौ असहायेन गीतार्थेन चान्यत्र गन्तव्यम्।

३. वृत्ति, पत्र २४६ : मनुजो—मनुष्य साधुरित्यर्थः।

४. चूर्णि, पृ० २२६ : मनुष्य इति यावन्मनुष्यत्वमस्य तावदिच्छति वसितुं।

५. वृत्ति, पत्र २४६ : स एव च परमार्थतो मनुष्यो यो यथाप्रतिज्ञातं निर्वाहयति, तच्च सदा गुरोरन्तिके व्यवस्थितेन सदनुष्ठानरूपं समाधिमनुपालयता निर्वाह्यते नान्यथा।

६. (क) चूर्णि, पृ० २२६ : ण उषितः गुरुकुलेहिं अनुषितः।
(ख) वृत्ति, पत्र २४६ : गुरोरन्तिके 'अनुषितः'—अव्यवस्थितः स्वच्छन्दविधायी।

७. वृत्ति, पत्र २४६ : समाधेः सदनुष्ठानरूपस्य कर्मणो यथाप्रतिज्ञातस्य वा नान्तकरो भवतीत्येवं ज्ञात्वा सदा गुरुकुलवासोऽनुसर्तव्यः।

८. बृहत्कल्पभाष्य गाथा ३७६, पृ० १११, ११२।

१४. साधु के (दवियस्स)

चूर्णिकार ने इसको तीर्थंकर का वाचक माना है।[1]

वृत्तिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं[2]—

१. मुक्तिगमन योग्य साधु।
२. रागद्वेष रहित व्यक्ति।
३. सर्वज्ञ।

१५. वित्त (या वृत्त) पर (वित्तं)

इसके संस्कृत रूप दो बनते हैं—वित्त या वृत्त। वित्त का अर्थ है—ज्ञान। इसका वैकल्पिक अर्थ है—ज्ञान, दर्शन और चारित्र।[3] वृत्त का अर्थ है—अनुष्ठान।[4]

इस पूरे चरण का तात्पर्य यह होगा—

जो मुनि आचार्य के पास रहता है, आचार्य समय-समय पर उसके ज्ञान-दर्शन और चारित्र को प्रकाशित करते हैं। वह मुनि वादी है, धर्मकथी है, विशुद्ध चारित्र वाला है या तपस्वी है—इसको प्रकाशित करते हैं, उसे इस ओर बढ़ने में प्रेरित करते हैं।

जब मुनि इन्द्रिय-विषयों में आसक्त होकर पथ-च्युत होने लगता है या कषाय के वशीभूत हो जाता है तब आचार्य उस पर अनुशासन करते हुए कहते हैं—ऐसा मत करो।[5]

१६. अनुशासन करता है (ओभासमाणे)

चूर्णिकार ने 'अवभाष' के दो अर्थ किए है—प्रकाशित करना, अनुशासन करना।[6]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—उद्भासित करता हुआ, अनुष्ठान का सम्यग् पालन करता हुआ—किया है।[7]

१७. आशुप्रज्ञ शिष्य (आसुपण्णे)

इसका अर्थ है—शीघ्र प्रज्ञा वाला अर्थात् प्रतिक्षण जागरूक।[8]

प्रस्तुत सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कंध के ५।१ में आशुप्रज्ञ शब्द प्रयुक्त है। वहां चूर्णिकार ने इसका अर्थ—केवली, तीर्थंकर[9] और वृत्तिकार ने पटुप्रज्ञा वाला, सदसद्विवेकज्ञ किया है।[10]

साधना की दृष्टि से प्रतिक्षण जागरूक व्यक्ति आशुप्रज्ञ होता है। यह अप्रमत्त अवस्था का सूचक है। तात्पर्य में यह वीतराग अवस्था का द्योतक है।

श्लोक ५ :

१८. श्लोक ५ :

चूर्णिकार ने प्रस्तुत श्लोक को छठा श्लोक और छठे श्लोक को पांचवा श्लोक मानकर व्याख्या की है।

---

१. चूर्णि, पृ० २२६ : दवियस्स ·····णाम द्वेषरहितत्वात् तीर्थंकर एव भगवान्।
२. वृत्ति, पत्र २५० : द्रव्यस्य—मुक्तिगमनयोग्यस्य सत्साधो रागद्वेषरहितस्य सर्वज्ञस्य वा।
३. चूर्णि, पृ० २२६ : ज्ञानधना हि साधवः इति कृत्वा वित्तं ज्ञानमेव, ज्ञानदर्शनचारित्राणि वा।
४. वृत्ति, पत्र २५० : वृत्तम् अनुष्ठानम्।
५. चूर्णि, पृ० २२६।
६. चूर्णि, पृ० २२६ :······प्रकाशयति—वादी वा धम्मकथी वा विशुद्धचरित्रो वा तपस्वी वा।
७. वृत्ति, पत्र २५० : 'अवभासयन्'—उद्भासयन् सम्यगनुतिष्ठन्।
८. चूर्णि, पृ० २२६ : आशुप्रज्ञ इति क्षिप्रप्रज्ञः क्षण-लव-मुहुर्त्तप्रतिबुद्ध्यमानता।
९. चूर्णि, पृ० ४०३ : आसुपण्णे—आसु प्रज्ञा यस्य भवति स आसुप्रज्ञो, केवली तीर्थंकर एव।
१०. वृत्ति, पत्र ११६ : आशुप्रज्ञः पटुप्रज्ञः सदसद्विवेकज्ञः।

चूर्णिकार के अनुसार प्रस्तुत श्लोक के प्रथम दो चरणों की व्याख्या इस प्रकार है—

जो मुनि स्थान का सम्यक् प्रतिलेखन और प्रमार्जन करता है, बिछौने पर सोते समय जाग्रत अवस्था में सोता है, आसन पर बैठते समय उन पीढ, फलक आदि का सम्यक् प्रतिलेखन करता है और आसनों को कब ग्रहण करना चाहिए, कब उनका उपभोग करना चाहिए—इसका विवेक रखता है, पांच प्रकार की निषद्याए[1]—पर्यंकादि का उपभोग करता है तथा जो प्रत्येक प्रवृत्ति में संयत रहता है, वह सुसाधु युक्त (सुसाधु की क्रिया से युक्त) होता है।[2]

वृत्तिकार के अनुसार इन दो चरणों की व्याख्या इस प्रकार है—

जो मुनि स्थान की दृष्टि से सदा गुरुकुलवास में रहता है तथा शयन, आसन, गमनागमन और तपश्चरण में पराक्रम करते समय उद्यतविहारी मुनियों के साथ रहता है वह सुसाधु युक्त होता है। वह मेरु पर्वत की भांति निष्प्रकम्प तथा शरीर से निःस्पृह होकर कायोत्सर्ग करता है। सोते समय वह शयनभूमी, बिछौना और शरीर का सम्यक् प्रतिलेखन करता है और गुरु की आज्ञा प्राप्त कर, गुरु द्वारा निर्दिष्ट समय में सोता है। सोते समय भी वह जागते हुए की भांति सोता है। आसन पर बैठते समय भी वह अपने शरीर को संकुचित और संयत कर, स्वाध्याय तथा ध्यान की मुद्रा में बैठता है।[3]

१९. आत्मप्रज्ञ (आयपण्णे)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'आगतप्रज्ञः' दिया है।[4] इसका अर्थ है—प्रज्ञावान्, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य के विवेक से युक्त।[4]

२०. बहुत अच्छे ढंग से (पुढो)

चूर्णिकार के अनुसार इसके तीन अर्थ फलित होते हैं[5]—

१. विस्तार से।

२. प्रत्येक को।

३. परस्पर।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—पृथक्-पृथक् रूप से अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार से—किया है।[6]

श्लोक ६ :

२१. मुनि प्रशंसा या कठोर शब्दों को सुनकर (सद्दाणि ·· ······भेरवाणि।)

शब्द दो प्रकार के होते हैं—मनोज्ञ और अमनोज्ञ, कर्णप्रिय और कर्णकटु। स्तुति, वन्दना, आशीर्वचन, निमंत्रण आदि के शब्द मनोज्ञ होते हैं। इसी प्रकार वेणु, वीणा आदि वाद्यों के शब्द भी कर्णप्रिय होते हैं।

जो शब्द भय उत्पन्न करते हैं वे भैरव कहलाते हैं। वे अप्रिय होते हैं। इसी प्रकार खर, परुष और निष्ठुर शब्द भी अप्रिय होते हैं।[7]

---

१. ठाणं ५/५०।

२. चूर्णि, पृ० २२९, २३०।

३. वृत्ति, पत्र २५०।

४. (क) चूर्णि, पृ० २३० : आगता प्रज्ञा यस्य स भवति आगतप्रज्ञः।

(ख) वृत्ति, पत्र २५० : आगता—उत्पन्ना प्रज्ञा यस्यासावागतप्रज्ञः—संजात-कर्तव्याकर्तव्यविवेकः स्वतो भवति।

५. चूर्णि, पृ० २३० : पुढो विस्तरतः कथयति, पुढो—पतिचोविज्ज स्वयम्,······अथवा पुढो त्ति परस्परं चोदयति।

६. वृत्ति, पत्र २५० : ······पृथक् पृथक्।

७. (क) चूर्णि, पृ० २२९ : वन्दन-स्तुत्याशीर्वाद-निमन्त्रणादीन् तथोपसेवनादीनि। ·····भयं कुर्वन्तीति भैरवाणि, तद्यथा—खर-फरुस-णिट्ठुर-भैरवादीनि।

(ख) वृत्ति, पत्र २५० : शब्दान् वेणुवीणादिकान् मधुरान् श्रुतिपेशलान् ·· ··भैरवान्—भयावहान् कर्णकटून्।

२२. मध्यस्थ (अणासवे)

आस्रव का अर्थ है—राग-द्वेष युक्त प्रवृत्ति । जो मध्यस्थ या राग-द्वेष रहित होता है वह अनाश्रव कहलाता है ।

शब्दों को अच्छे या बुरे रूप में ग्रहण करना आस्रवण है । इसके विपरीत जो शब्द आदि के प्रति राग-द्वेष नहीं करता, उनके विषयों में मध्यस्थ रहता है, वह अनास्रव होता है ।

चूर्णिकार ने 'अणासए' पाठ माना है । उसके संस्कृत रूप तीन हो सकते हैं—अनाशय, अनाश्रय और अनाश्रव ।[1]

२३. निद्रा (णिद्दं)

निद्रा प्रमाद का एक प्रकार है । भिक्षु दिन में सोकर नींद न ले । जिनकल्पी मुनि के लिए यह विधान है कि वह रात्री में भी दो प्रहर से ज्यादा नींद नहीं लेता । बहुत थोड़ी नींद लेने वाला भी शरीर-धारण के लिए नींद लेता है, क्योंकि नींद परम विश्राम है ।[2]

२४. कैसे होगा ? कैसे होगा ? (कहं कहं)

क्या मैं अपनी प्रव्रज्या को जीवन भर नहीं निभा पाऊंगा ? क्या मुझे समाधि-मरण प्राप्त नहीं होगा ? मैं जो साधना करता हूं उसका कुछ फल होगा या नहीं ? इस प्रकार का चिन्तन करना ।[3]

२५. विचिकित्सा को (वितिगिच्छ)

विचिकित्सा का सामान्य अर्थ है—संदेह, शंका । साधक अपनी साधना के प्रति संदेहशील न रहे । वह निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति भी निःशंक रहे । वह यही माने—'तमेव सच्चं निस्संकं जं जिणेहिं पवेइयं ।' वह प्रवचन करते समय तथा अन्यकाल में भी इस सूत्र को याद रखे । वह ऐसा प्रवचन न करे जिससे दूसरों के मन में विचिकित्सा उत्पन्न हो ।[4]

श्लोक ७ :

२६ (जन्म-पर्याय से) छोटे-बड़े तथा (दीक्षा-पर्याय से) छोटे-बड़े (डहरेण वुड्ढेण)

'डहर' का अर्थ है छोटा और 'वुड्ढ' का अर्थ है बूढा । प्रस्तुत प्रसंग में दीक्षा-पर्याय और अवस्था की दृष्टि से छोटे-बड़े का उल्लेख किया गया है ।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने 'डहर' के साथ जन्म-पर्याय और दीक्षा-पर्याय को जोड़ा है ।[5] चूर्णिकार ने वृद्ध के साथ अवस्था का और वृत्तिकार ने अवस्था और श्रुत—दोनों का संबंध जोड़ा है ।[6]

२७. रात्निक (रातिणिएण)

'रात्निक' का शाब्दिक अर्थ है—दीक्षा-पर्याय में बड़ा । चूर्णिकार ने आचार्य, दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ तथा प्रवर्तक, गणी, गणधर, गणावच्छेदक और स्थविर को 'रात्निक' शब्द के अन्तर्गत गिनाया है ।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० २२९ ।

२. चूर्णि, पृ० २२९ : दिवसतो ण णिद्दायति, रत्तिं पि दोण्हि जामे जिणकप्पी, एकान्तं पि तणुणिद्दो सरीरधारणार्थं स्वपिति, निद्रा हि परमं विश्रामणम् ।

३. चूर्णि पृ० २२९ : कथं कथमिति, किमहं पव्वज्जं ण णित्थरेज्ज ? समाधिमरणं ण लभेज्ज ? अथवा कथं कथमिति सम्यगनुचीर्णस्यास्य किं फलमस्ति नास्ति ?

४. चूर्णि पृ० २२९ ।

५. (क) चूर्णि, पृ० २३० : डहरो जन्म-पर्यायाभ्याम् ।
   (ख) वृत्ति, पत्र २५१ : वयः पर्यायाभ्यां क्षुल्लकेन-लघुना ।

६. (क) चूर्णि, पृ० २३० : वुड्ढो वयसा ।
   (ख) वृत्ति, पत्र २५१ : 'वृद्धेन वा' वयोऽधिकेन श्रुताधिकेन वा ।

७. चूर्णि, पृ० २३० : रायणिओ आयरिओ परियाएण वा पवत्तगाईण वा पञ्चानामन्यतमेन ।

वृत्तिकार ने दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ तथा श्रुत में विशिष्ट मुनि को 'रात्निक' माना है।[1]

देखें दसवेआलियं ६।३।३।

२८. सह-दीक्षित के द्वारा (समव्वएण)

इसका अर्थ है— दीक्षा-पर्याय अथवा अवस्था में समान।[2] हमने इसका संस्कृत रूप 'समव्रतेन' और अर्थ सहदीक्षित किया है। चूर्णि और वृत्ति के अनुसार इसका संस्कृत रूप 'समवयसा' होता है।[3] 'समवयस्' का प्राकृत रूप 'समवय' होता है। यहां वकार का द्वित्वीकरण छन्द की दृष्टि से माना जाए तभी इसका 'समव्वय' रूप बन सकता है। रात्निक के संदर्भ में 'समव्वय' का अर्थ समव्रत अधिक संगत प्रतीत होता है।

२९. स्थिर रूप में (थिरओ)

इसका अर्थ है—प्रमाद के प्रति सावधान किए जाने पर प्रमाद पुनः न दोहराना।[4]

३०. (णिज्जंतए............अपारए से)

'नीयमान' का अर्थ है—ले जाया जाता हुआ, अनुशासित किया जाता हुआ।[5]

कोई व्यक्ति नदी की धारा में बहता जा रहा है। कोई उसे कहता है—'भाई! तुम वेग से बहते हुए इस काठ का, सरकने के स्तंब का या वृक्ष की शाखा का मुहूर्त्त मात्र के लिए अवलंबन लो। तुम पानी में डूबने से बच कर पार पा जाओगे।' ऐसा कहने पर वह उस पर कुपित होता है और वैसा नहीं करता। वह व्यक्ति नदी में डूब कर मरता है, कभी उस पार नहीं जा पाता।

इसी प्रकार प्रमादाचरण करने वाले मुनि को आचार्य बार-बार सावधान करते हैं और उसे मोक्ष-मार्ग की ओर अग्रसर करने का प्रयत्न करते हैं। किन्तु वह कषाय के वशीभूत होकर उनके उपदेश को स्वीकार नहीं करता। अथवा अन्य मुनियों द्वारा सावधान किए जाने पर वह अहं से परिपूर्ण होकर सोचता है—'ये छोटे और अल्पश्रुत मुनि भी मुझे सावधान कर रहे हैं।' ऐसा व्यक्ति कभी संसार का पार नहीं पा सकता।[6]

श्लोक ८ :

३१. किसी शिथिलाचारी व्यक्ति के द्वारा समय (धार्मिक सिद्धान्त) के अनुसार (विउट्ठितेणं समयाणुसिट्ठे)

व्युत्थित का अर्थ है— संयम के प्रतिकूल आचरण करने वाला। व्युत्थान चित्त की चंचल अवस्था है। पातंजल योगदर्शन में व्युत्थान-संस्कार निरोधसं-स्कार का प्रतिपक्षी है।[7] व्युत्थान धर्म की प्रधानता वाला व्युत्थित व्यक्ति संयम से विचलित हो जाता है, इसलिए उसकी संज्ञा व्युत्थित है। वह स्वतीर्थिक भी हो सकता है और परतीर्थिक भी। कोई मुनि प्रमाद का आचरण करता है। वह ईर्या-समिति का सम्यग् शोधन न करता हुआ त्वरित गति से चल रहा है। तब व्युत्थित व्यक्ति उसे कहता है—'मुने! ऐसा चलना

---

१. वृत्ति, पत्र २५१ : रत्नाधिकेन वा प्रव्रज्यापर्यायाधिकेन श्रुताधिकेन वा।

२. चूर्णि, पृ० २३० : समवयो परियाएण वयसा वा।

३. (क) चूर्णि, पृ० २३०।
   (ख) वृत्ति, पत्र २५१ : समवयसा वा।

४. चूर्णि, पृ० २३० : थिरं नाम जं अपुणक्कारयाए अब्भुट्ठेति।

५. वृत्ति, पत्र २५१ : नीयमानः'—उह्यमानोऽनुशास्यमानः।

६. चूर्णि, पृ० २३० : यथा नदीपूरेण ह्रियमाणः केनचिदुक्तः—इदं तुरकाष्ठं अवलम्बस्व शरस्तम्बं वृक्षशाखां वा मुहूर्त्तमात्रं चाऽऽत्मानं धारय, इत्युक्तो रुष्यति न वा करोति, यदुच्यते स हि अपारगो भवति, पारं गच्छतीति पारगः, एवं समिओ वि। अथवा निर्यन्त्रणामिवाऽऽतुरः न रागपारं गच्छति। अथवा णिज्जंतग इति णिज्जंततो, स हि आचार्यैर्मोक्षं प्रति नीयमानोऽपि सम्यगुपदेशैः पडिचोअणाहि य ण पारं गच्छति संसारस्य कषायवशात्, अहं पि चोइज्जामि डहरेहिं अप्पसुत्तेहि य।

७. पातञ्जलयोगदर्शन ३।९

तुम्हारे लिए योग्य नहीं है, क्योंकि तुम्हारे आगमों में यह प्रतिपादित है कि मुनि युग-प्रमाण भूमि को देखता हुआ धीरे-धीरे चले ।[1]

इस प्रकार व्युत्थित के द्वारा आगम-प्रमाण पुरस्सर अनुशासित होने पर समता में रहना मुनि का सामायिक धर्म है।

३२. किसी पतित घटदासी के द्वारा (अब्भुट्ठिताए घडदासिए)

अभ्युत्थित का अर्थ है—तत्पर होना। प्रकरणवश अभ्युत्थित का अर्थ दुःशील के आचरण में तत्पर किया गया है।[2]

घटदासी का अर्थ है—पानी लाने वाली दासी। घटदासी के द्वारा भी प्रमादाचरण के प्रति सावधान किए जाने पर समता में रहना मुनि का सामायिक धर्म है। घटदासी के विषय में यह कथन है तो भला अल्पशील वाले व्यक्ति के द्वारा कहने पर तो अस्वीकार करने की बात ही नहीं होनी चाहिए।

वह घटदासी सर्पिणी की भांति फुफकार करती हुई मुनि को सावधान करते हुए कहे—'अरे! क्या तुम ऐसा कर सकते हो?

अथवा अत्यन्त पतित दासदासी भी सावधान करे तो मुनि ऐसा न कहे—'तुम भले ही सच कह रही हो, परन्तु मुझे कहने वाली तुम कौन हो?[3]

'घडदासिए'—यह शब्द 'घडदासीए' होना चाहिए था। किन्तु छन्द की दृष्टि से ह्रस्व का प्रयोग किया है।

३३. (अगारिणं वा समयाणुसिट्ठे)

अगारी अर्थात् घर-गृहस्थी, चाहे फिर वह स्त्री, पुरुष या नपुंसक हो।[4]

प्रस्तुत प्रसंग में 'समय' का अर्थ है—सामाजिक-शास्त्र।

गृहस्थों के सारे अनुष्ठान सामाजिक-शास्त्र के द्वारा अनुशासित होते हैं। प्रमादाचरण करने वाले मुनि को गृहस्थ कहता है—'मुने! गृहस्थ के लिए भी ऐसा आचरण करना विहित नहीं है और आप ऐसा आचरण कर रहे हैं?[5]

३४. श्लोक ८:

प्रस्तुत श्लोक में 'समय' शब्द का दो बार प्रयोग हुआ है। यहां अनुशासन का प्रयोग करने वालों के चार युगल हैं—

१. स्वपक्ष और प्रतिपक्ष के व्युत्थित।
२. बच्चे या बूढ़े।
३. घटदासी।
४. गृहस्थ।

---

१. चूर्णि, पृ० २३० : विउट्ठितो णाम विगुतो, यथा व्युत्थितपरः—व्युत्थितोऽस्य विभवः सम्पत्, व्युत्थिताः संयमविप्रतिपन्ना इत्यर्थः। पार्श्वस्थादीनामन्यतमेन वा क्वचित् प्रमादाच्चातुर्येण वा त्वरितत्वरितं गच्छन् 'जधा तुब्भं ण वट्टति तुरितं गंतुं, कहं कीडगादीनि न हिंसध? हसिहित्तु वा। एवं मूलगुणेसु वा उत्तरगुणेसु वा विराधणाए अण्णतरेण वा समयेनाऽनुशास्त—ण तुब्भं वट्टति एवं काउं, जुअंतरपलोअणेण होतव्वं।
(ख) वृत्ति, पत्र २५१।

२. (क) चूर्णि, पृ० २३० : अतीव उत्थिता अब्भुट्ठिता, कुत्रोत्थिता? दौःशील्ये।
(ख) वृत्ति, पत्र २५१ : अतीवाकार्यकरणं प्रति उत्थिता।

३. चूर्णि, पृ० २३० : घटदासीग्रहणं तोसे वि ताव णोदिज्जंते ण रुस्सितव्वं, किं पुण जो तणुआणि वि सीलाणि धरेति? अथवा अब्भुट्ठिता सा दंडघट्टिता भुयंगीव धमधमेंती रुट्ठा णं भणेंति—तुब्भं वट्टति एवं कातु? अथवा अब्भुट्ठिते त्ति पडिपक्खवयणेण गतं, चन्द्रगुप्तस्त्रीवत् पुरुषः, तद्यथा—दासदासी पतितेभ्योऽपि पतिता सा वि चोदंति णं वत्तव्या—सच्चा वि ताव तुमं का होसि ममं चोदेतुं?

४. चूर्णि, पृ० २३० : अगारिणं ति स्त्री-पुं-नपुंसकं वा

५. वृत्ति, पत्र २५१ : गृहस्थानामपि एतन्न युज्यते कर्तुं यदारब्धं भवता।

पहले युगल के संदर्भ में 'समय' का अर्थ आगम[1] तथा शेष तीन के संदर्भ में 'समय' का अर्थ लौकिक सिद्धान्त[2] किया गया है। प्रसंगवश यह उचित प्रतीत होता है।

श्लोक ९ :

३५. क्रोध न करे (ण...कुज्झे)

दूसरे के द्वारा दुर्वचन कहने पर वह मुनि सोचे—

> 'आक्रुष्टेन मतिमता, तत्त्वार्थविचारणे मतिः कार्या।
> यदि सत्यं कः कोपः, स्यादनृतं किं नु कोपेन ? ॥

—'कोई व्यक्ति आक्रुष्ट हो तब वह उसके आक्रोश करने के कारणों को खोजे। यदि आक्रोश करने का कारण उपस्थित है तो उस पर क्रोध क्यों किया जाए ? यदि आक्रोश व्यर्थ ही हो रहा है तो उससे क्या, उस पर क्रोध क्यों किया जाए ?'[3]

३६. चोट न पहुंचाए (पव्वहेज्जा)

इसका अर्थ है—लकड़ी, पत्थर या ईंट आदि से मारना, चोट पहुंचाना।[4]

३७. (तहा करिस्सं .... सेयं खु मेयं)

अनुसासन किए जाने पर कोप करना, व्यथित करना और परुष वचन बोलना—ये वर्जित हैं। अनुशासन के उत्तर में दो वाक्यों का प्रयोग होना चाहिए—(१) तहा करिस्सं और (२) सेयं खु मेयं।

चूर्णिकार के अनुसार 'तथा करिष्यामि'—वैसा करूंगा—यह स्वपक्ष में 'मिच्छामि दुक्कडं' के समान तथा पर-पक्ष वालों के लिए—'श्रेयः खलु मम'—'यह मेरे लिए श्रेय है'—यह कहना उचित है।[5]

वृत्तिकार ने स्व-पक्ष या पर-पक्ष का विभाजन नहीं किया है।[6]

श्लोक १० :

३८. अमूढ व्यक्ति (अमूढा)

इसका अर्थ है—सही मार्ग का जानकार। वह पथदर्शक जो सही-सही जानता है कि कौन-सा मार्ग किस ओर जाता है।[7]

३९. मार्ग दिखलाते हैं (मग्गाणुसासंति)

यहां दो पदों—मग्ग+अणुसासंति में संधि हुई है। इसका अर्थ है कि पथदर्शक उस दिग्मूढ पथिक को सही मार्ग दिखाता है। वह कहता है—तुम इस मार्ग से चलो, अपने गन्तव्य तक पहुंच जाओगे। यह मार्ग तुम्हारे लिए हितकर और क्षेमंकर है। इस

---

१ वृत्ति, पत्र २५१ : चोदितः स्वसमयेन, तद्यथा—नैवंविधमनुष्ठानं भवतामागमे व्यवस्थितं येनाभिप्रवृत्तोऽसि। .... यदि वा व्युत्थितः—संयमाद् भ्रष्टस्तेनापरः साधुः स्खलितः सन् स्वसमयेन—अर्हत्प्रणीतागमानुसारेणानुशासितः।

२. वृत्ति, पत्र २५१ : गृहस्थानां यः समयः अनुष्ठानं तत्समयेनानुशासितः।

३. वृत्ति, पत्र २५२।

४. (क) चूर्णि, पृ० २३१ : कट्ठ-लोट्ठु-इट्टादीहिं।
   (ख) वृत्ति, पत्र २५२ : प्रकर्षेण 'व्यथेद्'—दण्डादिप्रहारेण पीडयेत्।

५. चूर्णि, पृ० २३१ : सपक्खेण वा ओसण्णेण चोदितो भणति—को तुमं ममट्ठे वा चोदेतुं भवति ? तधा करिस्सं ति सपक्खे मिच्छामि दुक्कडं, परपक्खे ममैवैतच्छ्रेयः।

६. वृत्ति, पत्र २५२ : ममैवायमसदनुष्ठायिनो दोषो येनायमपि मामेवं चोदयति, चोदितश्चैवंविधं भवता असदाचरणं न विधेयमेवंविधं वाक्यं तथा करिष्यामीत्येवं मध्यस्थवृत्त्या प्रतिशृणुयाद् अनुतिष्ठच्च पूर्वर्षिभिरनुष्ठितमनुष्ठेयमित्येवंविधं च मिथ्यादुष्कृताविना निवर्तेत, यदेतच्चोदनं नामैतन्ममैव श्रेयः।

७. वृत्ति, पत्र २५२ : अमूढाः सदसन्मार्गज्ञाः।

मार्ग में फलों से लदे वृक्ष तथा स्थान-स्थान पर जल के सरोवर हैं। इस मार्ग पर चलते हुए तुम्हें भूख-प्यास से पीड़ित नहीं होना पड़ेगा।[1]

४०. सही मार्ग बता रहे हैं (सम्मऽणुसासयंति)

यहां दो पदों— सम्मं+अणुसासयंति में संधि हुई है। चूर्णिकार ने सम्यक् का अर्थ ऋजु और अनुशासना का अर्थ—मार्गोपदेशना किया है।[2]

श्लोक ११ :

४१. महावीर ने (वीरे)

वृत्तिकार ने 'वीर' शब्द से तीर्थंकर अथवा गणधर आदि का ग्रहण किया है।[3]

४२. (एतोवमं ······· उवणेइ सम्मं)

गन्तव्य स्थान प्राप्त कर लेने पर दिग्मूढ व्यक्ति अपने मार्ग-दर्शक की कुछ विशेष पूजा करता है, उसका सम्मान करता है। फिर चाहे पथदर्शक चाण्डाल, पुलिन्द, गन्द, गोपाल आदि ही क्यों न हो और स्वयं उससे विशिष्ट जाति या बलोपेत भी क्यों न हो। वह यह सोचता है— इस पथदर्शक ने मुझे दुर्ग आदि दुर्लंघ्य स्थानों तथा हिंस्र पशुओं के भय से बचाकर निर्विघ्न रूप से गन्तव्य तक पहुंचाया है। मुझे इसके प्रति विशेष कृतज्ञ होना चाहिए। इसने जो मेरी सहायता की है, उससे भी अधिक मैं इसे कुछ दूं। ऐसा सोचकर वह उस मार्ग-दर्शक को वस्त्र, अन्न, पान तथा अन्य भोग-सामग्री स्वयं देता है।

यह एक दृष्टान्त है। धर्म के क्षेत्र में भी साधक के लिए अपने मार्ग-दर्शक के प्रति विशेष पूजा का व्यवहार करणीय है। अपने आचार्य को आहार आदि लाकर देना द्रव्य-पूजा है। उनकी भक्ति और गुणानुवाद करना भाव-पूजा है।

प्रस्तुत श्लोकगत अर्थ को भलीभांति समझकर मुनि उसको अपने पर घटित करे। वह यह सोचे—गुरु ने अपने सद् उपदेशों के द्वारा मुझे मिथ्यात्व रूपी वन से तथा जन्म-मरण आदि अनेक उपद्रव-बहुल अवस्थाओं से बचाया है। ये मेरे परम उपकारी हैं। मुझे इनके प्रति बहुत कृतज्ञ रहना चाहिए। अभ्युत्थान आदि विनय प्रदर्शित कर मुझे इनकी पूजा करनी चाहिए।

मुनि चाहे चक्रवर्ती ही क्यों न रहा हो और आचार्य यदि तुच्छ जाति के भी हों, तो भी मुनि का कर्तव्य है कि वह आचार्य के प्रति पूर्ण कृतज्ञ रहे, उनकी विशेष पूजा करे।

दिग्मूढ मुनि को सत्पथ पर लाने वाले आचार्य उसके परमबन्धु होते हैं। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने यहां दो पद्य उद्धृत किए हैं—

'जो व्यक्ति जलते हुए घर में सोए हुए व्यक्ति को जगाता है, वह उसका परमबन्धु होता है।'

'कोई अज्ञानी व्यक्ति विष-मिश्रित भोजन करता है और ज्ञानी उसे विष बता देता है, वह उसका परमबन्धु होता है।'[4]

---

१. चूर्णि, पृ० २३१ : दिग्मूढस्य उत्पथप्रतिपन्नस्य वा अमूढः कश्चित् पुमान् अन्यो ग्रामो वा अविसं गच्छतो मार्गं कथयति—यथा कथयामि तथा तथाऽयं मार्गं ईप्सितां भुवं गच्छति, अनुशासन्तो यदि उन्मार्गापायान् दर्शयित्वा ब्रवीति—अयं ते मग्गो हितः क्षेमः अकुटिलत्वादितः फलोवगादिवृक्षजलोपेतत्वाच्च।

२. चूर्णि, पृ० २३१ : सम्मं उज्जुगं, न वा द्वेषेण, अनुशासना नाम मार्गोपदेशनैव।

३. वृत्ति, पत्र २५२ : वीरः—तीर्थंकरोऽन्यो वा गणधरादिकः।

४. (क) चूर्णि, पृ० २३१ : ततः तेन मूढेनेश्वरेण वा अमूढस्येति देशिकस्य, यद्यपि चण्डाल-पुलिन्द-गन्द-गोपालादि च तस्यापि तेन निस्तीर्णकान्तारेण सता शक्त्यनुरूपा कायव्वा पूया सविसेसजुत्ता, अहमनेन दुर्गात्श्वापदभयादिदोषेभ्यो मोक्षित इत्यतोऽस्य कृतज्ञत्वात् प्रतिपूजां करोमि। विशेषयुक्ता नाम यावती मे तेन पूजा कृता अतो अस्याधिकं करोमि, तद्यथा वस्त्राऽन्नपान भोगप्रदानं च राजा दद्यात्। ··· ·······

तेनापि मिथ्यात्ववनाद् उत्तरन्तेन अभ्युत्थानादि सविशेषा पूजा कर्तव्या, यद्यप्यसौ चक्रवर्ती निष्क्रान्तः आचार्यश्चन्द्रमः कुलादिजातः। द्रव्यपूजा आहारादि भावे भक्तिः वर्णवादश्च। वार्त्तास्वन्येऽपि दृष्टान्ताः। तद्यथा—

'गेहे वि अग्गिजालाउलम्मि, जलमाण-डज्झमाणम्मि।
जो बोधेति सुबंधुं, सो तस्स जणो परमबंधू॥
जध वा विससंजुत्तं, भत्तं मिट्ठमिह भोत्तुकामस्स।
जो विसदोसं साहति, सो तस्स जणो परमबंधू॥

(ख) वृत्ति, पत्र २५२।

श्लोक १२ :

४३. (मग्गं ण.........)

एक अटवी है। वह गढों, पत्थरों, कन्दराओं तथा वृक्षों से दुर्गम है। ऐसी अटवी से प्रतिदिन आने-जाने के कारण कोई व्यक्ति उसकी पगडंडियों से परिचित हो जाता है। किन्तु वह भी उस अटवी में अंधकार के कारण पूर्व परिचित पगडंडियों को भी नहीं देख पाता।[1]

श्लोक १३ :

४४. अपुष्ट धर्मवाला (अपुट्ठधम्मे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ *'अदृष्टधर्मा'* किया है।[2] संभव है उनके सामने 'अदिट्ठधम्मे' पाठ रहा हो।

देखें—तीसरे श्लोक का ७ वां टिप्पण।

४५. धर्म को (धम्मं)

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं—*प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रधान धर्म, चारित्र धर्म अथवा अप्रमाद धर्म।*[3]

४६. ज्ञानी (कोविए)

चूर्णिकार के अनुसार कोविद का अर्थ है—ज्ञानी। जो ग्रहण शिक्षा में निपुण होता है, वह जान लेता है कि उसे कैसा आचरण करना चाहिए और कैसा आचरण नहीं करना चाहिए।[4]

जो व्यक्ति सर्वज्ञप्रणीत आगमों के अनुसार वर्तन करने में निपुण होता है वह कोविद कहलाता है, यह वृत्तिकार का अर्थ है।[5]

श्लोक १४ :

४७. (उड्ढं अहे......)

हिंसा की व्याख्या चार दृष्टियों से की जाती है—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव।

दिशा—यह क्षेत्रीय दृष्टिकोण है।

त्रस या स्थावर—यह द्रव्य संबंधी दृष्टिकोण है।

सदा—यह काल संबंधी दृष्टिकोण है।

मानसिक प्रद्वेष का अभाव—यह भावात्मक दृष्टिकोण है।

इन चारों दृष्टिकोणों से हिंसा की समग्रता समझी जा सकती है।[6]

---

१ चूर्णि, पृ० २३२ : अन्धं करोतीति अन्धकारः मेघान्धकारं अचन्द्रा वा रात्रिः, अडवी या गर्त्ता-पाषाण-दरी-वृक्षदुर्गमा, से तस्यां पूर्वदृष्टमपि वण्डकपथं न पश्यति।

२. चूर्णि, पृ० २३२ : अपुट्ठधम्मो णाम अदृष्टधर्मा।

३. चूर्णि, पृ० २३२ : धम्मं......प्रवृत्ति-निवृत्तिलक्षणं धर्मं ज्ञानादि-प्राणातिपातादिषु यथासंख्यं, अथवा चारित्रधर्मं अप्रमादधर्मं वा।

४. चूर्णि, पृ० २३२ : कोवितो णाम विपश्चित्कृतः गहणसिक्खाए कोवितो, आसेवितव्वं च ग्रहणशिक्षया ज्ञायते।

५. वृत्ति, पत्र २५३ : कोविदः अभ्यस्तसर्वज्ञप्रणीतागमत्वान्निपुणः।

६. (क) चूर्णि, पृ० २३२ : उड्ढं अधेयं ति खेत्तपाणातिवातो। जे थावरा जे य तसा दव्वपाणातिवातो। सदा जतो त्ति कालप्राणातिपातः। तंसि परक्कमंतो मणप्पयोसं अविकंपमाणे त्ति भावपाणातिवातो।

(ख) वृत्ति, पत्र २५३ :

४८. प्रकम्पित न हो (अविकंपमाणे)

वृत्तिकार ने इसका अर्थ 'संयम से अविचलित रहता हुआ'—किया है।[1]

चूर्णिकार ने 'अविकप्पमाणे' पाठ मानकर इसका अर्थ 'विविध कल्पना न करता हुआ' किया है।[2]

श्लोक १५ :

४९. विनयावनत हो (समियं)

इसके संस्कृत रूप दो हो सकते हैं—समितं, सम्यक्। चूर्णिकार ने सम्यक् का अर्थ तीन प्रकार की पर्युपासना (कायिकी, वाचिकी और मानसिकी) किया है।[3]

५०. ग्रहण करे (सोयकारी)

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं[4]—

१. ग्रहण करने वाला।

२. श्रोत्र से ग्रहण कर हृदय में धारण करने वाला।

३. सुनकर करने वाला।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ यथोपदेशविधायी—आज्ञा का पालन करने वाला किया है।[5]

५१. विस्तार से अपने हृदय में स्थापित करे (पुढो पवेसे)

इस वाक्य में निर्देश दिया गया है कि धर्म के उपदेश का पृथक्-पृथक् या वार-वार पुनरावर्तन करे। वार-वार पुनरावर्तित विद्या हजार गुनी हो जाती है। इसका तात्पर्य है, केवल सुने नहीं, किन्तु सुने हुए तत्त्व पर चिन्तन और मनन करे।

इस वाक्य का दूसरा अर्थ होता है—जो धर्म का उपदेश मिले उसे भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से स्वीकार करे। सब तत्वों को एक ही दृष्टि से देखने पर यथार्थ का बोध नहीं होता। उत्सर्ग सूत्र को उत्सर्ग की दृष्टि से, अपवाद सूत्र को अपवाद की दृष्टि से देखे। इसी प्रकार स्व-समय को स्व-समय की दृष्टि से और पर-समय को पर-समय की दृष्टि से देखे। भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से देखा हुआ सत्य चित्त में समाधि उत्पन्न करता है।[6]

श्लोक १६ :

५२. धर्म, समाधि और मार्ग की (तिविहेण)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ दो प्रकार से किया है[7]—

१. समिति, गुप्ति और अप्रमाद—इन तीनों से।

२. धर्म, समाधि और मार्ग—इन तीनों से (नौवें, दसवें और ग्यारहवें अध्ययन के ये नाम हैं)।

---

१. वृत्ति, पत्र २५३ : अविकम्पमानः—संयमादचलन्।

२. चूर्णि, पृ० २३२ : विविधं कप्पयति विकप्पमाणो।

३. चूर्णि, पृ० २३२ : सम्यगिति तिविधाए पज्जुवासणताए।

४ चूर्णि, पृ० २३२ : श्रोतसि करोतीति श्रोतःकारी ग्रहीतेत्यर्थः गृह्णाति। अथवा श्रोत्रेण गृहीत्वा हृदि करोतीति श्रोतःकारी, श्रुत्वा वा करोतीति श्रोतःकारी।

५. वृत्ति, पत्र २५४ : श्रोत्रे-कर्णे कर्त्तुं शीलमस्य श्रोतकारी—यथोपदेशकारी आज्ञाविधायी।

६. चूर्णि, पृ० २३२, २३३ : पुढो पवेसे त्ति पृथक् पृथक् पुणो पुणो वा पवेसे हृदयं पुढो पवेसे, सहस्रगुणिता विद्या शतशः परिवर्तिताः।' पत्तेयं वा पत्तेयं पवेसे पुढो पवेसे, तं जधा—उस्सग्गे उस्सग्गं अववाते अववातं, एवं ससमये ससमयं परसमये परसमयं वा, अतिक्रान्ते अतिक्रान्तकालम्।

७. चूर्णि, पृ० २३३ : समिति-गुप्त्यप्रमादेषु धर्म्म-समाधि-मार्गेषु च।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है[1]—

१. मन, वचन और काया से।

२. कृत, कारित और अनुमति से।

चूर्णिकार का अर्थ प्रकरणानुसारी होने के कारण अधिक उपयुक्त लगता है।

५३. चित्त की शांति (संति)

इसका अर्थ है—शांति, सुख, सर्वकर्मशान्ति, समस्त द्वन्द्वों से उपरति।[2] हमने इसका अर्थ—चित्त की शान्ति किया है।

५४. निरोध (णिरोधं)

निरोध का अर्थ है—कर्म-प्रवाह का रुकना। प्रत्येक प्राणी में निरंतर कर्म पुद्गलों का प्रवाह आता है। उसके आने का हेतु है—अशांति और उसके निरोध का हेतु है शान्ति।

प्रस्तुत सूत्र के १।३।८० में शान्ति को निर्वाण (संति निव्वाणमाहियं) कहा है और यहां शान्ति को निरोध कहा है (संति णिरोधमाहु)। शान्ति निर्वाण का हेतु है या शान्ति ही निर्वाण है। इसी प्रकार शान्ति निरोध का हेतु है या शान्ति ही निरोध है। ये दोनों अर्थ किए जा सकते हैं।

५५. त्रिलोकदर्शी तीर्थंकर (तिलोगदंसी)

इसका अर्थ है—तीन लोक को देखने वाला। चूर्णिकार ने—ज्ञान, दर्शन, और चारित्र—को तीन लोक माना है। उसको देखने वाला होता है—तीर्थंकर। उन्होंने विकल्प में ऊंचा, नीचा और तिरछा लोक देखने वाला—यह अर्थ किया है।[3] वृत्ति में यह वैकल्पिक अर्थ ही मिलता है।[4]

श्लोक १७ :

५६. प्रतिमावान् (पडिमाणवं)

देखें—१३।१३ का ५५ वां टिप्पण।

५७. विशारद (विसारदे)

देखें—१३।१३ का ५६ वां टिप्पण।

५८. आदान (ज्ञानादि) का अर्थी बना हुआ (आदाणमट्ठी)

आदान का अर्थ है—ज्ञान आदि।[5] यहां मकार अलाक्षणिक है।

५९. तपस्या (वोदाण)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ तप किया है।[6] स्थानांग (३।१४८) के अनुसार व्यवदान तप नहीं है वह तपस्या का फल है। तप और तप के फल में अभेदोपचार कर तप के अर्थ में व्यवदान शब्द का प्रयोग किया है।

---

१. वृत्ति, पत्र २५४ : त्रिविधेनेति मनोवाक्कायकर्मभिः कृतकारितानुमतिभिर्वा।

२. चूर्णि, पृ० २३३ : शान्तिर्भवति, इहान्यत्र च सौख्यमित्यर्थः सर्वकर्मशान्तिर्वा।

३. चूर्णि पृ० २३३ : ते तीर्थंकराः, ज्ञान-दर्शन-चारित्राख्यांस्त्रीन् लोकान् पश्यतीति त्रिलोकदर्शिनः, ऊर्ध्वादि वा त्रिलोकं पश्यति।

४. वृत्ति, पत्र २५४ : त्रिलोकम्—ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्लक्षणं द्रष्टुं शीलं येषां ते त्रिलोकदर्शिनः तीर्थकृतः सर्वज्ञाः।

५. (क) चूर्णि, पृ० २३३ : आदीयत इत्यादानम्, ज्ञानादीनि आदानानि।

(ख) वृत्ति, प० २५३ : मोक्षार्थिनाऽऽदीयत इत्यादानं—सम्यग्ज्ञानादिकम्।

६. (क) चूर्णि, पृ० २३३ : वोदानं विदारणं तपः।

(ख) वृत्ति, पत्र २५४ : व्यवदानं द्वादशप्रकारं तपः।

६०. संयम (मोणं)

मौन का अर्थ है—संयम ।[1]

श्लोक १८ :

६१. आचार्य (बुद्धा)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'बुद्धबोधित आचार्य'[2] और वृत्तिकार ने 'त्रिकालवेदी' किया है ।[3]

६२. जानकर (संखाए)

इसका संस्कृत रूप है—संख्याय और अर्थ है—जानकर। मुनि क्षेत्र, काल, परिषद् और अपने सामर्थ्य को भलीभांति जानकर धर्म का उपदेश देता है ।

अथवा गुरु यह भलीभांति जान ले कि अमुक शिष्य अमुक मात्रा में श्रुत के योग्य है, उससे आगे श्रुतग्रहण की शक्ति उसमें नहीं है । शक्ति के होने पर जितना वह पा सकता है उतना पा लिया—ऐसा जानकर अथवा यह शिष्य परंपरा या श्रुत को अविच्छिन्न रूप से चला सकता है—यह जानकर गुरु उसे धर्म कहता है ।[4]

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'संख्यया' देते हुए संख्या का अर्थ सद्बुद्धि किया है ।[5]

मुनि अपनी तथा श्रोतृवर्ग की शक्ति को जानकर, परिषद् की पूरी पहचान कर तथा प्रतिपाद्य अर्थ के तात्पर्य को भली प्रकार से जानकर फिर धर्म का प्रतिपादन करता है, यह वृत्तिकार का वैकल्पिक अर्थ है ।[6]

६३. (शिष्यों के संदेहों का) अंत करने वाले होते हैं (अंतकरा भवंति)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ—कर्मों का अंत करने वाला किया है ।[7]

पूरे श्लोक के सन्दर्भ में चूर्णिकार और वृत्तिकार का अर्थ सम्यग् नहीं लगता ।

प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य यह है कि वे बहुश्रुत आचार्य अपने शिष्यों के मन में उत्पन्न होने वाले प्रश्नों और सन्देहों का सम्यग् समाधान देकर उन्हें समाहित करते हैं । शिष्य सन्देहों से मुक्त हो जाते हैं ।

६४. श्रुत के पारगामी आचार्य (पारगा)

धर्म की व्याख्या करते हुए वे आचार्य धर्म का पार पा जाते हैं, उसकी सूक्ष्मतम व्याख्या प्रस्तुत कर देते हैं । वे स्व-पर संदेहों को दूर करने के लिए पार तक चले जाते हैं ।[8]

---

१. (क) चूर्णि पृ० २३३ : मौनं संयमः ।
   (ख) वृत्ति, पत्र २५४ : मौनं—संयमः—आश्रवनिरोधरूपः ।

२. चूर्णि, पृ० २३३ : [बुद्धा] बुद्धबोधितास्ते आचार्या ।

३. वृत्ति, पत्र २५५ : बुद्धाः—कालत्रयवेदिनः ।

४. चूर्णि, पृ० २३३ : संखाए त्ति धर्मं ज्ञात्वा श्रुतं धर्मं वा कथयति, सिस्सपडिच्छगाणं धर्मकथा च कथयति । अथवा संख्यायेति खेत्तं कालं परिसं सामत्थं चऽप्पणो वियाणित्ता परिकथयति । अथवा के अयं पुरिसे ? कं च णये ?" अथवा संख्यायेति एतन्मात्रस्यायं श्रुतस्य योग्यः, अतः परं शक्तिर्नास्ति, सत्यां वा शक्तौ जत्तियं प्रचरति तत्तियं गहियं एवं संखयाय । अव्वोच्छित्तिकरे त्ति एवमादिभिः प्रकारैः संखयाय धम्मं वागरयंता ।

५. वृत्ति, पत्र २५५ : सम्यक् ख्यायते—परिज्ञायते यया सा संख्या—सद्बुद्धिस्तया ।

६. वृत्ति, पत्र २५५ : यदि वा स्वपरशक्तिं परिज्ञाय पर्षदं वा प्रतिपाद्यं चार्थं सम्यगवबुध्य धर्मं प्रतिपादयन्ति ।

७. (क) चूर्णि, पृ० २३३ : कम्माणं अंतं करेंतीति अंतकराः ।
   (ख) वृत्ति, पत्र २५५ : जन्मान्तरसंचितानां कर्मणामन्तकरा भवन्ति ।

८. चूर्णि, पृ० २३३ : धर्मं व्याकरयन्तः पारं गच्छंतीति पारगा।, आत्मनः परस्य च दोण्ह वि विमोयणाए पारं गच्छंति ।

वे आचार्य संसार समुद्र का पार पा जाते हैं—यह वृत्तिकार का अर्थ है।[1]

६५. संशोधित प्रश्न की व्याख्या करते हैं (संसोधियं पण्हमुदाहरंति)

वे आचार्य संशोधित प्रश्न की व्याख्या करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि धर्म-प्रवचन करने से पूर्व या किसी के प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व आचार्य अपनी बुद्धि से यह सम्यक् पर्यालोचन कर लेते हैं कि सुनने वाली परिषद् किस मान्यता को स्वीकार करने वाली है, प्रश्नकर्त्ता किस दर्शन का अनुयायी है, यह किस अर्थ को ग्रहण करने में समर्थ है अथवा मैं स्वयं किस अर्थ की अभिव्यक्ति अच्छे प्रकार से कर सकता हूं। इस प्रकार अनेक पहलुओं से सम्यक् परीक्षा कर फिर वह धर्म-प्रवचन करता है या प्रश्न का उत्तर देता है।

अथवा एक व्यक्ति कोई प्रश्न पूछता है तो यह आवश्यक है कि उत्तरदाता उस प्रश्न की सम्यग् परीक्षा कर फिर उचित उत्तर दे।[2]

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—पूर्वापर की समीक्षा कर, अपनी या पराई शक्ति को जानकर, द्रव्य-गुण और पर्यायों को जानकर, सूत्र से परिचित होकर जो उत्तर दिया जाता है वह है संशोधित प्रश्न का उदाहरण।

अच्छिद्र प्रश्न (गूढ़ प्रश्न) का व्याकरण करने वाले अ-केवली हों या केवली रत्नकरंडक के समान तथा कुत्रिकापण (वह दुकान जहां तीन लोक की सारी वस्तुएं विक्रय के लिए उपलब्ध हों) तुल्य होते हैं। वे तथा चतुर्दशपूर्वी, दशपूर्वी और नौपूर्वी यावत् दशवैकालिक सूत्र के अध्येता धर्म की प्रथा को अविच्छिन्न करते हैं।[3]

श्लोक १६ :

६६. अर्थ को न छिपाए (णो छादए)

अर्थ को छिपाने के तीन कारण हो सकते हैं :—

१. मात्सर्य— इस कारण से व्यक्ति अर्थ को छिपा लेता है।

२. कभी-कभी धर्म की कथा करने वाला भी स्वार्थ के वशीभूत हो यथार्थ को छिपा लेता है।

३. अहंकारवश अपने वाचनाचार्य का नाम छिपा लेता है।[4]

६७. अप-सिद्धान्त का निरूपण (लूसएज्जा)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[5]—

---

१ वृत्ति, पत्र २५५ : संसारसमुद्रस्य पारगा भवन्ति।

२. वृत्ति, पत्र २५५ : सम्यक् शोधितं—पूर्वोत्तराविरुद्धं प्रश्नं—शब्दमुदाहरन्ति, तथाहि—पूर्वं बुद्ध्या पर्यालोच्य कोऽयं पुरुषः कस्य चार्थ-
स्य ग्रहणसमर्थोऽयं वा किंभूतार्थप्रतिपादनशक्त इत्येवं सम्यक् परीक्ष्य व्याकुर्यादिति अथवा परेण कञ्चिदर्थं पृष्ट-
स्तं प्रश्नं सम्यक् परीक्ष्योदाहरेत्—सम्यगुत्तरं दद्यादिति।

३. चूर्णि, पृ० २३३, २३४ : जं संसोधिगा पण्हमुदाहरंति सम्यक् समस्तं वा सोधिया संसोधिया, पृच्छंति तमिति प्रश्नः, पूर्वापरेण समी-
क्षितुं आत्मपरशक्ति च ज्ञात्वा द्रव्यादीनि च तथा "केऽयं पुरिसे" त्ति परिचितं च सुत्तं कातूण—
'आयरियादेसा धारितेण अत्येण [गुणिय] सरितेणं।
तो संघमज्झयारे ववहरितुं जे सुहं होति॥'
(व्यवहार उ० ३, भाष्य गाथा ३५९)

अच्छिद्दपसिण-वागरणा अकेवली केवली वा, रयणकरंडगसमाणा कुत्तियावणभूता तधा चोद्दस-दस-णवपुव्वी जाव दसकालियं
ति संसाधितुं अवोच्छिन्नं करेति।

४. (क) चूर्णि, पृ० २३४ : मत्सरित्वेनार्थं नो छादयेत्, पात्रस्य धर्मस्य कथां कथयन् न सद्भूतगुणान् छादयेत्, न वा वायणायरियं
छादयेत्।
(ख) वृत्ति, पत्र २५५ : सूत्रार्थं 'न छादयेत्'—नान्यथा व्याख्यानयेत् स्वाचार्यं वा नापलपेत् धर्मकथां वा कुर्वन्नार्थं छादयेद्
आत्मगुणोत्कर्षाभिप्रायेण वा परगुणान्न छादयेत्।

५. चूर्णि, पृ० २३४ : लूसिता णाम अवसिद्धान्तं कथयति सिद्धान्तविरुद्धं वा।

१. अपसिद्धान्त का प्रतिपादन ।

२. सिद्धान्त-विरुद्ध तत्त्व का प्रतिपादन ।

वृत्तिकार ने ये दो अर्थ किए हैं[1]—

१. दूसरों के गुणों की विडंबना ।

२. अपसिद्धान्त का प्रतिपादन ।

६८. न अभिमान करे, न अपना स्थापन करे (माणं ण सेवेज्ज पगासणं च)

अपनी प्रज्ञा का, स्वयं के आचार्य होने का, अपने तथा दूसरों के संदेहों का अपनयन करने का मद हो सकता है । इसलिए उसका निषेध किया गया है ।

'मैं समस्त शास्त्रों का जानकार हूं । सारे लोक में मेरी प्रसिद्धि है । मैं सभी प्रकार के संशयों को दूर करने में समर्थ हूं । मेरे जैसा हेतु और युक्ति के द्वारा तत्त्वों का प्रतिपादन करने वाला दूसरा नहीं है'—इस प्रकार अभिमान न करे ।

आत्मप्रकाशन अभिमान का ही एक पहलू है । इसके द्वारा अपना उत्कर्ष प्रदर्शित करने का प्रयत्न होता है ।

मैं बहुश्रुत और तपस्वी हूं, मैं आचार्य हूं, मैं धर्मकथी हूं – इस प्रकार के आत्म-स्थापन का निषेध किया गया है ।[2]

६९. परिहास (परिहास)

यह विभक्तिरहित प्रयोग है । यहां 'परिहासं' होना चाहिए था ।

परिहास का अर्थ है—हंसी, मजाक । चूर्णिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—मुनि ऐसी धर्मकथा न करे जिससे सुनने वालों को तथा स्वयं को हंसी आए । अथवा धर्मकथा करने पर सुनने वाले उसके हार्द को न समझ सकें या अन्यथा समझें, तो भी अपने प्रज्ञामद के कारण उनका परिहास न करे, हंसी न करे ।[3]

७०. आशीर्वचन (प्रशस्तिवचन) (आसिसावाद)

आसिसावाद—यह विभक्तिरहित प्रयोग है ।

किसी व्यक्ति द्वारा वंदना करने पर या दान आदि देने पर मुनि संतुष्ट होकर उसे आशीर्वचन देते हुए ऐसा न कहे—स्वस्थ रहो, भाग्यशाली हो, पुत्रों की प्राप्ति हो, धन बढ़े आदि आदि ।

इसका पाठान्तर 'ण यासियावाय' मिलता है । इस आधार पर डा० ए० एन० उपाध्ये ने असियावाय का अर्थ किया था—अस्याद्‌वाद । उन्होंने टीकाकार के 'आशीर्वाद' अर्थ की आलोचना की है । यदि वे मूल पाठ और टीका के सम्बन्ध में विचार करते तो ऐसा नहीं होता । चूर्णिकार और वृत्तिकार के सामने 'आसिसावाय' पाठ था और इसके आधार पर उन्होंने इसका अर्थ आशीर्वाद किया था । चूर्णि और वृत्ति में 'असियावाय' का पाठान्तर के रूप में भी उल्लेख नहीं है ।[4]

---

१ वृत्ति, पत्र २५५ : परगुणान्न लूषयेद्—न विडम्बयेत् शास्त्रार्थं वा नापसिद्धान्तेन व्याख्यानयेत् ।

२. (क) चूर्णि, पृ० २३४ : प्रज्ञामानमाचार्यमानं वा संशयान् वाऽऽत्मनः परस्य वा छेत्तुं न मदं कुर्यात् । न वा प्रकाशयेदात्मानम् यथा-ऽहमाचार्यः कथको बहुश्रुतो वा ।

(ख) वृत्ति, पत्र २५५ : तथा समस्तशास्त्रवेत्ताऽहं सर्वलोकविदितः. समस्तसंशयापनेता, न मत्तुल्यो हेतुयुक्तिभिरर्थप्रतिपादयितेत्येव-मात्मकं मानम्—अभिमानं गर्वं न सेवेत, नाप्यात्मनो बहुश्रुतत्वेन तपस्वित्वेन वा प्रकाशनं कुर्यात्, च शब्दा-दन्यदपि पूजासत्कारादिकं परिहरेत् ।

३. चूर्णि, पृ० २३४ : प्रज्ञावान् प्राज्ञः न चेदृशीं कथां कथयेद् येन श्रोतुरात्मनो वा हास्यमुत्पद्यते, अपरियच्छंते वा परे अण्णधा वा बुज्झमाणे न प्रज्ञामदेन परिहासं कुर्यात् "यथा राजा तथा प्रजा" इति कृत्वा न सर्वत्रैव परिहासः ।

४. (क) चूर्णि, पृ० २३४ : "शंसु स्तुतौ" तस्य आशीर्भवति, स्तुतिवादमित्यर्थः न तद्दान-वन्दनादिभिस्तोषितो ब्रूयाद्—आरोग्यमस्तु ते दीर्घं चाऽऽयुः, तथा सुभगा भवाष्टपुत्रा, इत्येवमादीनि न व्याकरेत् । एवं वाक्समितः स्यात् ।

(ख) वृत्ति, पत्र २५५ : तथा नापि चाशीर्वादं बहुपुत्रो बहुधनो [बहुधर्मो] दीर्घायुस्त्वं भूया इत्यादि व्यागृणीयात्, भाषासमिति-युक्तेन भाव्यमिति ।

श्लोक २० :

७१. मन्त्र पद के द्वारा (मंतपएण)

चूर्णिकार ने मंत्र का मुख्य अर्थ—सामान्य वचन और वैकल्पिक अर्थ—विद्या, मंत्र आदि किया है।[1]

वृत्तिकार के अनुसार इसके दो अर्थ हैं—विद्या और राजा आदि के साथ गुप्त-मंत्रणा।[2]

७२. संयम जीवन का (गोयं)

चूर्णिकार ने इसके चार अर्थ किए हैं[3]—

१. सतरह प्रकार का संयम।
२. अठारह हजार शीलांग।
३. छह जीवनिकाय।
४. जीवन।

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं[4]—

१. मौन—वाक्संयम।
२. प्राणियों का जीवन।

७३. निर्वाह ..(णिव्वहे)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—संयम से बाहर निकलना या संयम को गाल देना, नष्ट कर देना।[5]

वृत्तिकार ने भी दो अर्थ किए हैं—संयम को निःसार करना या जीवों को मारना।[6]

७४. असाधु धर्मो का (असाहुधम्माणि)

चूर्णिकार के अनुसार असाधु धर्म तीन प्रकार का होता है[7]—

१. दर्प, मद, अहंकार आदि असाधु धर्म।
२. पचन-पाचन आदि सावद्य कर्म।
३. असंयत दान तथा कुतीर्थिक आदि की प्रशंसा।

वृत्तिकार ने भी असाधु धर्म के तीन निर्देश दिए हैं[8]—

१. वस्तुओं का दान-तर्पण आदि।
२. असाधु धर्म कहने वालों का अनुमोदन।
३. धर्मकथा या व्याख्यान करते हुए आत्मश्लाघा या कीर्ति की इच्छा।

---

१. चूर्णि, पृ० २३४ :मन्त्र्यत इति मन्त्रः वचनम्, मन्त्र एव पदं मन्त्रपदम्। अथवा मन्त्रा इति विद्या-मन्त्रादयो गृह्यन्ते।
२. वृत्ति, पत्र २५६ : मन्त्रपदेन—विद्यापमार्जनविधिना ·····यदि वा 'मन्त्रपदेन'—राजादिगुप्तभाषणपदेन।
३. चूर्णि, पृ० २३४ : गुप्यत इति गोत्रं संयमः सप्तदशविधः अष्टादश च शीलाङ्गसहस्राणि इति,·········षट् काया वा गोत्रम्······ गोत्राद् जीवितादित्यर्थः।
४. वृत्ति, पत्र २५६ : गास्त्रायत इति गोत्रं—मौनं वाक्संयमः············यदि वा गोत्रं—जन्तूनां जीवितम्।
५. चूर्णि, पृ० २३४ : संयमे निर्गच्छेदित्यर्थः, न वाऽनेन णिव्वहे, संयमं निर्गालयेदित्यर्थः।
६. वृत्ति, पत्र २५६ : न निःसारं कुर्यात् ········नापनयेत्।
७. चूर्णि, पृ० २३४ : असाधूनां धर्माः तान् असाधुधर्मान् ण संठवेज्जा, ते च दर्प-मदाऽहङ्कारादयः, अथवा न तत् कथयेद् येन असाधुधर्माणां 'सन्धानं' भवति पचन-पाचनादीनाम्, असंयतदानादि वा कुतीर्थिकान् वा प्रशंसंति।
८. वृत्ति, पृ० २५६ : तथा कुत्सितानाम्—असाधूनां धर्मान्—वस्तुदानतर्पणादिकान् न संवदेत्' न ब्रूयात्; यदि वा नासाधुधर्मान् ब्रुवन् संवादयेद्, अथवा धर्मकथां व्याख्यानं वा कुर्वन् प्रजास्वात्मश्लाघारूपां कीर्ति नेच्छेदिति।

श्लोक २१:

७५. निर्मल (अणाइले)

अनाविल का अर्थ है—निर्मल। जो मुनि लाभ आदि से निरपेक्ष होकर व्याख्यान देता है या धर्मकथा करता है वह अनाविल होता है।[1]

चूर्णिकार ने 'अणाउले' मानकर व्याख्या की है कि मुनि धर्म-देशना करता हुआ आतुर न हो अथवा किसी बात के लिए प्रेरित किए जाने पर आकुल-व्याकुल न हो।[2]

७६. पाप-धर्म (असाधु-धर्म) की स्थापना करने वालों का परिहास न करे (हासं पि णो संधए पावधम्मे)

इस चरण की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है—

१. मुनि पाप धर्मों की स्थापना करने वालों का परिहास न करे।

२. हास्य में भी पाप-धर्म का संधान न करे—प्रतिपादन न करे, जैसे—इसको छेदो, भेदो। इसको खाओ। ऐसे प्रसन्न होओ आदि।

३. हास्य द्वारा भी कुतीर्थिकों की प्रशंसा न करे।

४. मुनि कुप्रावचनिकों से मजाक करते हुए ऐसा वचन न कहे जिससे उनके मन में अमर्ष पैदा हो, जैसे—'अरे! आपके व्रत तो बड़े अच्छे हैं। सोने के लिए मृदु शय्या, प्रातःकाल उठते ही अच्छे-अच्छे पेय, मध्यकाल में भोजन, अपरान्ह में पीने के लिए पानक, अर्धरात्रि में द्राक्षाखंड और शर्बत (शर्करा) इस प्रकार सुविधापूर्वक जीवन यापन करते हुए भी आपको मोक्ष-प्राप्ति हो जाती है।

हंसी में भी दूसरों के दोषों की अभिव्यक्ति करना पाप-कर्म के बंधन का हेतु होता है—ऐसा समझकर मुनि हंसी में भी पाप-धर्मों का संधान न करे।[3]

७७. तटस्थ रहे (ओए)

आचारांग सूत्र में 'ओज' के दो अर्थ किए हैं—

१. अकेला।[4]

२. पक्षपात-शून्य।[5]

प्रस्तुत प्रसंग में चूर्णिकार ने 'ओज' के दो अर्थ किए हैं—राग-द्वेष रहित, सत्य को विपरीत न करने वाला।[6]

वृत्तिकार ने इसका एक अर्थ अकिंचन किया है।[7] सामान्यतः ओज का अर्थ है शारीरिक शक्ति। आयुर्वेद के ग्रन्थों में रस से लेकर शुक्र तक की धातुओं के पश्चात् होने वाले तेज को 'ओज' माना है।[8]

जैन आगमों में यह शब्द बहुधा प्रयुक्त है और विशेषतः यह मुनि के विशेषण के रूप में आता है। यह शब्द वीतरागता और आकिञ्चन्य का सूचक है।

---

१. वृत्ति, पत्र २५६ : व्याख्यानावसरे धर्मकथावसरे वाऽनाविलो लाभादिनिरपेक्षो भवेत्।

२ चूर्णि, पृ० २३५ : अणाउले त्ति न धर्मं देशमानो आतुरो भवति, चोदितो वा आकुलव्याकुलीभवति।

३. (क) चूर्णि, पृ० २३५।
   (ख) वृत्ति, पत्र २५६।

४. आयारो ५/१२६, वृत्ति, पत्र २०९ : 'ओजः' एकोऽशेषमलकलङ्काङ्कुरहितः।

५ आयारो ६/१००, वृत्ति, पत्र २३१ : 'ओजः' एको रागादिविरहात्।

६ चूर्णि, पृ० २३५ : ओये त्ति राग-द्वेषरहितः, न विगंतव्वं सद्भूतम्।

७. वृत्ति, पत्र २५६ : 'ओजो'-राग-द्वेषरहितः सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थत्यागाद्वा निष्किञ्चनः।

८ सुश्रुत ········रसादीनां शुक्रान्तानां धातूनां यत् परं तेजस्तत् खलु ओजः।

७८. सत्य कठोर होता है इसे जाने (तहियं फरुसं वियाणे)

तथ्य अर्थात् सत्य । चूर्णिकार ने इसका अर्थ—संयम किया है ।[1] वृत्तिकार ने वैकल्पिक रूप में इसके तीन अर्थ किए हैं—परमार्थभूत, अकृत्रिम, अप्रतारक ।[2]

परुष का अर्थ है—कठोर । चूर्णिकार ने इसका तात्पर्यार्थ संयम किया है ।[3] वृत्तिकार ने मुख्य रूप से उस वचन को परुष माना है जो दूसरे के चित्त को विकृत करता है । उन्होंने इसका वैकल्पिक अर्थ संयम किया है । उनका कथन है कि संयम परुष होता है, क्योंकि उसमें कर्मों का श्लेष नहीं होता, ममत्व नहीं रहता और वह सामान्य शक्ति वाले व्यक्तियों के द्वारा अयापनीय होता है अथवा संयम परुष इसलिए है कि संयमी मुनि को अंत-प्रान्त आहार का सेवन करना होता है ।[4]

इस पूरे चरण का अर्थ है—'सत्य कठोर होता है, मुनि इसे जाने ।'

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—संयम तथ्य है, इसे साक्षात् जाने ।[5]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—संयम परमार्थभूत, वास्तविक और हितकर है । उसका स्वतः पालन कर मुनि सम्यग् ज्ञान करे ।[6]

७९. न अपनी तुच्छता प्रदर्शित करे (णो तुच्छए)

मुनि अपनी तुच्छता प्रदर्शित न करे । इसका तात्पर्य है कि मुनि किसी अर्थ विशेष या लब्धि विशेष की प्राप्ति कर अथवा पूजा-सत्कार आदि प्राप्त कर उन्मत्त न हो । उन्मत्त होना अपनी तुच्छता दिखाना है, यह वृत्तिकार का अर्थ है ।[7]

चूर्णि के अनुसार इसका अर्थ है—मुनि जैसे तुच्छ कठियारे को धर्म का उपदेश देता है, वैसे ही वह राजा को भी उपदेश दे ।[8]

श्लोक २२ :

८०. सत्य के प्रति विनम्र होकर प्रतिपादन करे (संकेज्ज)

सत्य की साधना करने वाला भिक्षु—मैं ही इस अर्थ का जानकार हूं, दूसरा नहीं—इस प्रकार गर्व न करे । वह अपनी उद्दंडता को मिटाए । वह गूढार्थ की अभिव्यक्ति करता हुआ सशंक होकर प्रतिपादन करे । अथवा अर्थ को स्पष्टता से जानता हुआ, अर्थ के प्रति निःशंक होने पर भी, वह इस प्रकार से उसको प्रस्तुत न करे जिससे दूसरे में शंका पैदा हो ।[9]

तत्त्व की व्याख्या करते समय वह नम्रतापूर्वक यह कहे—मैं इस तत्त्व का इतना ही अर्थ जानता हूं । इससे आगे जिन भगवान् जानें ।' चूर्णिकार ने यह अर्थ संकेज्ज और संकितभाव—इन दो पदों के आधार पर किया है ।[10]

ज्ञानी मनुष्य सत्य के प्रति समर्पित होता है । वह ऐसा कोई वचन नहीं बोलता जिससे सत्य की प्रतिमा खंडित हो । सत्य हैं—द्रव्य और पर्याय । अनेक द्रव्य और अनन्त पर्याय । उन सबको जानना प्रत्येक सत्यान्वेषी के लिए भी संभव नहीं है । सत्य

---

१. चूर्णि, पृ० २३५ : तथ्यं संयमम् ।
२. वृत्ति, पत्र २५६ : 'तथ्य' मिति परमार्थतः सत्यम् ·········यदि वा तथ्यं—परमार्थभूतमकृत्रिममप्रतारकं ।
३. चूर्णि, पृ० २३५ : राग-द्वेषबन्धनाभावात् फरुषः संयमः, कर्मणामनाश्रय इत्यर्थः ।
४. वृत्ति, पत्र २५६ : परुषं—कर्मसंश्लेषाभावान्निर्ममत्वादल्पसत्त्वैर्दुरनुष्ठेयत्वाद्वा कर्कशमन्तप्रान्ताहारोपभोगाद्वा परुषं—संयमम् ।
५. चूर्णि, पृ० २३५ ।
६ वृत्ति, पत्र २५६ ।
७. वृत्ति, पत्र २५६ : तथा स्वतः कञ्चिदर्थविशेषं परिज्ञाय पूजासत्कारादिकं वाऽवाप्य न तुच्छो भवेद्—नोन्मादं गच्छेत् ।
८. चूर्णि, पृ० २३५ : जधा तुच्छस्स कधेति तणहारगस्स वि तधा राज्ञोऽपि । अशङ्कितभावोऽपि 'शङ्केत'—औद्धत्यं परिहरन्नहमेवार्थस्य वेत्ता
९. वृत्ति, पत्र २५६ : साधुर्व्याख्यानं कुर्वन्सर्वार्थदर्शित्वादर्थनिर्णयं प्रति नापरः कश्चिदित्येवं गर्वं न कुर्वीत, किंतु विषममर्थं प्ररूपयन् साशङ्कमेव कथयेद्, यदि वा परिस्फुटमप्यशङ्कित भावमप्यर्थं न तथा कथयेत् यथा परः शङ्केत ।
१०. चूर्णि, पृ० २३५ : यच्छङ्कितमस्य ज्ञानादिषु तन्न कथयति, अपृष्टः पृष्टो वा शङ्केत शङ्कितभावः—एवं तावद् ज्ञायते, अतः परं जिना जानन्ति ।

का अन्वेषण करने वाला जितने सत्य को जान जाता है, उसे विनम्रता से स्वीकार करता है। उसके लिए आग्रह की खाइयां नहीं खोदता। सत्य की स्वीकृति के दो रूप बन जाते हैं—विनम्र स्वीकृति और आग्रहपूर्ण स्वीकृति। विनम्र स्वीकृति का स्वर यह होता है—'मैं इतना जानता हूं। इससे आगे मुझसे अधिक ज्ञानी जानते हैं।' अपनी ज्ञान की सीमा का अनुभव करना, यह शंकितवाद है। शंकितवाद का प्रयोग यह होता है—मेरी दृष्टि में यह तत्त्व ऐसा है, पर मेरे पास समग्र ज्ञान नहीं है जिसके आधार पर मैं कह सकूं—यह ऐसा ही है, अन्यथा नहीं है। इस प्रकार सत्य की विनम्र स्वीकृति शंकितवाद है। शंकित का तात्पर्य संदिग्ध नहीं किन्तु अनाग्रह है।

८१. विभज्यवाद (भजनीयवाद या स्याद्वाद) का (विभज्जवायं)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए है—भजनीयवाद या अनेकान्तवाद। तत्त्वार्थ के प्रति अशंकित न होने पर भजनीयवाद का सहारा लेकर मुनि कहे—'मैं इस विषय में ऐसा मानता हूं। इस विषय की विशेष जानकारी करने के लिए अन्य विद्वानों को भी पूछना चाहिए।'

विभज्यवाद का दूसरा अर्थ है—अनेकान्तवाद। जहां जैसा उपयुक्त हो वहां अपेक्षा का सहारा लेकर वैसा प्रतिपादन करे। अमुक नित्य है या अनित्य? ऐसा प्रश्न करने पर अमुक अपेक्षा से यह नित्य है, अमुक अपेक्षा से यह अनित्य है—इस प्रकार उसको सिद्ध करे।[1]

वृत्तिकार ने विभज्यवाद के तीन अर्थ किए हैं—

१. पृथग्-पृथग् अर्थों का निर्णय करने वाला वाद।
२. स्याद्वाद।
३. अर्थों का सम्यग् विभाजन करने वाला वाद, जैसे—द्रव्य की अपेक्षा से नित्यवाद, पर्याय की अपेक्षा से अनित्यवाद। सभी पदार्थों का अस्तित्व अपने-अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से है। पर-द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से नहीं है।[2]

बौद्ध साहित्य में विभज्यवाद, विभज्यवाक् आदि का उल्लेख अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। विभज्य के दो अर्थ हैं—

विभज्य—विश्लेषण पूर्वक कहना (analysis)[3]
विभज्य—संक्षेप का विस्तार करना[4]

बुद्ध ने स्वयं को 'विभज्यवाद' का निरूपक कहा है। इसका तात्पर्य इस प्रकार समझाया गया है। बुद्ध से पूछा गया—

'गहट्ठो आराधको होतिञायं धम्मं कुसलं ?'
'न पब्बजितो आराधको होतिञायं धम्मं कुसलं ?'

क्या गृहस्थ आराधक होता है—न्याय, धर्म और कुशल को पाने में सफल होता है?
क्या प्रव्रजित आराधक नहीं होता—न्याय, धर्म और कुशल को पाने में सफल नहीं होता है?

---

१. चूर्णि, पृ० २३५ : विभज्यवादो नाम भजनीयवादः। तत्र शंकिते भजनीयवाद एव वक्तव्यः—अहं तावदेवं मन्ये, अतः परमन्यत्रापि पुच्छेज्जसि। अथवा विभज्यवादो नाम अनेकांतवादः, स यत्र यत्र यथा युज्यते तथा तथा वक्तव्यः, तद्यथा—नित्यानित्यत्वमस्तित्वं वा प्रतीत्यादि।

२ वृत्ति, पत्र २५६, २५७ : तथा विभज्यवादं पृथगर्थनिर्णयवादं व्यागृणीयात्, यदि वा विभज्यवादः—स्याद्वादस्तं सर्वत्रास्खलितं लोकव्यवहाराविसंवादितया सर्वव्यापिनं स्वानुभवसिद्धं वदेद्, अथवा सम्यगर्थान् विभज्य—पृथक्कृत्वा तद्वादं वदेत्, तद्यथा—नित्यवादं द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतया त्वनित्यवादं वदेत्, तथा स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैः सर्वेऽपि पदार्थाः सन्ति, परद्रव्यादिभिस्तु न सन्ति, तथा चोक्तम्—'सदेव सर्वं को नेच्छेत्स्वरूपादिचतुष्टयात् ?।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥'

३. Early Buddhist Theory of Knowledge, K.N. Jayatilleke, Page 280.

४. Early Buddhist Theory of Knowledge, Page 293:

The term vi+√bhaj—is found in another important sense in the Pali Canon to denote a detailed classification, exposition or explanation of a brief statement or title.

बुद्ध ने कहा – इसका निश्चित उत्तर (सत्य या असत्य) नहीं दिया जा सकता। क्योंकि यदि गृहस्थ मिथ्या प्रतिपन्न है तो पहला भंग असत्य है और यदि गृहस्थ सम्यक् प्रतिपन्न है तो पहला भंग सत्य है। इसी प्रकार यदि प्रव्रजित मिथ्या प्रतिपन्न है तो पहला भंग सत्य है और यदि वह सम्यक् प्रतिपन्न है तो पहला भंग असत्य है। इसलिए कुछ कथन ऐसे होते हैं, जिनका पूरा विश्लेषण किए बिना, वे सत्य है या असत्य, ऐसा नही कहा जा सकता।[1]

बौद्ध साहित्य में चार प्रकार के प्रश्नों का उल्लेख है[2]—

१. पञ्हो एकंसब्याकरणीयो—वैसा प्रश्न जिसका उत्तर एकांशकामी हो।

२. पञ्हो पतिपुच्छब्याकरणीयो—वैसा प्रश्न जिसका उत्तर प्रतिप्रश्न से दिया जाए।

३. पञ्होथापणीयो—वैसा प्रश्न जिसका उत्तर अपेक्षित नहीं होता।

४. पञ्हो विभज्जब्याकरणीयो—वैसा प्रश्न जिसका उत्तर विश्लेषण के साथ दिया जाए।

विभज्यवाद को अनेकांशिकवाद भी कहा जा सकता है।

इसका अंग्रेजी रूपान्तर है—Conditional assertions or Analytical assertions.

पालि साहित्य में 'वि' पूर्वक 'भज्' धातु विशेष अर्थ में प्रयुक्त है। उसका अर्थ है—विस्तारपूर्वक कहना। पालि भाषा में 'उद्देश'—का अर्थ है—संक्षेप में कहना और 'विभज्ज या विभंग' का अर्थ है—विस्तारपूर्वक कहना।[3]

'अर्ली बुद्धिस्ट थियरी ऑफ नोलेज' के विद्वान् लेखक ने बौद्धों के अनेकांशिकवाद की तुलना जैन दर्शन सम्मत 'अनेकान्तवाद' से की है। वे लिखते

Anekaṁsika=an+ek (a)+aṁs (a)+ika and anekānta=an+ek (a)+anta and while aṁsa means 'part, corner or edge' (s. v. aṁsa, PTS. Dictonary') anta means 'end or edge'.[4]

यह शाब्दिक दृष्टि से तुलना हो सकती है। किन्तु अनेकान्तवाद की जो दार्शनिक पृष्ठभूमि है, वह अनेकांशिकवाद की नहीं है। अनेकान्तवाद प्रत्येक पदार्थ में अनन्तविरोधी धर्म युगलों की स्वीकृति देता है। अनेकांशवाद मे ऐसा नहीं है। लेखक ने अनेकांशवाद को विभज्यवाद का पर्याय कहा है।[5]

बुद्ध स्वयं कहते हैं—एकांसिकापि मया धम्मा देसिता पञ्ञत्ता, अनेकांसिकापि मया धम्मा देसिता पञ्ञत्ता।[6]

उन्हें पूछा गया—एकांशिक धर्म कौन से है और अनेकांशिक धर्म कौन से है ? उत्तर में उन्होंने कहा—'इदं दुक्खं इति'—यह दुःख है—यह एकांशिक धर्म की प्रज्ञप्ति है और 'सस्सतो लोको ति वा'—लोक शाश्वत भी है—यह अनेकांशिक धर्म की प्रज्ञप्ति है।[7]

८२. धर्म के लिए समुत्थित पुरुषों के साथ (धम्मसमुट्ठितेहिं)

धर्म या संयम के अनुष्ठान से सम्यक् उत्थित अर्थात् सत्साधु, उद्यतविहारी। ऐसे साधु जो यथार्थ में साधनारत हैं और जो संयम से ओतप्रोत हैं। केवल प्रयोजन मात्र को सिद्ध करने के लिए मुनिवेश को धारण करने वाले धर्म में समुत्थित नहीं हो सकते।

८३. दो भाषाओं (भासादुगं)

भाषा के चार प्रकार हैं—

---

१. मज्झिमनिकाय II, ४६।१, २ पृ० ४६६।

२. अंगुत्तरनिकाय II ४६।

३. मज्झिमनिकाय III १६३। अंगुत्तरनिकाय II १६८, २२३।

४. Early Buddhist Theory of Knowledge, Page 280.

५. Early Buddhist Theory of Knowledge, Page 280
A Conditional assertion (vibhajja-vāda-) would be an anekaṁsa-(or anekaṁsika.) vāda.

६. दीघनिकाय I, १६१।

७. वही, I १६१।

१. सत्य भाषा।
२. मृषा भाषा।
३. सत्यामृषा—मिश्र भाषा।
४. असत्यामृषा—व्यवहारभाषा।

मुनि के लिए प्रथम और अन्तिम—इन दो भाषाओं का प्रयोग करणीय और शेष दो भाषाओं का प्रयोग अकरणीय है। दशवैकालिक सूत्र के सातवें अध्ययन का नाम है- 'वाक्यशुद्धि।' इसमें चारों प्रकार की भाषाओं का स्वरूप-कथन तथा विधि-निषेध का सुन्दर प्रतिपादन हुआ है।

प्रस्तुत प्रसंग में 'भाषाद्विक'— सत्यभाषा और व्यवहार भाषा के बोलने का कथन किया गया है।[1]

वृत्तिकार का कथन है कि मुनि विभज्यवाद का प्रतिपादन भी इन दो भाषाओं से ही करे। किसी के प्रश्न किए जाने पर या न किए जाने पर अथवा धर्म का व्याख्यान करते समय या और किसी अवसर पर मुनि इन दो भाषाओं का ही सहारा ले।[2]

८४. समतापूर्वक (समया)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ 'सम्यक्' किया है।[3]

चक्रवर्ती और कंगाल—दोनों के प्रति समभाव रखता हुआ या राग-द्वेष से रहित होकर मुनि विहरण करे।[4]

श्लोक २३ :

८५. (अणुगच्छमाणे वितहंऽभिजाणे)

आचार्य, मुनि आदि जब धर्मकथा करते हैं या तत्त्व का प्रतिपादन करते हैं तब कोई मेधावी शिष्य अपनी प्रखर बुद्धि से उस तत्त्व को सम्यक् ग्रहण कर लेता है, उस तत्त्व का अनुसरण कर लेता है और कोई मन्द बुद्धि वाला शिष्य उस तत्त्व को विपरीत रूप से ग्रहण करता है।[5]

८६. (तहा तहा साहु अकक्कसेणं)

यहां 'साहु' शब्द दीर्घ होना चाहिए था। छन्द की दृष्टि से ह्रस्व का प्रयोग हुआ है।

जो मंद मेधा वाला शिष्य तत्त्व का यथार्थ अनुसरण नहीं कर पाता तब आचार्य उसे वैसे-वैसे हेतु, दृष्टान्त, युक्ति, उपसंहार आदि के द्वारा भलीभांति समझाने का प्रयत्न करें, किन्तु कर्कश वचनों से उसकी निर्भर्त्सना करते हुए यह न कहें—अरे! तुम तो निरे मूर्ख हो। धिक्कार है तुम्हें! इस अर्थ से तुम्हारा क्या प्रयोजन! तुम दुर्बोध्य हो। तुम्हे ब्रह्मा भी नहीं समझा सकता।

मुनि तत्त्व समझाते समय मन, वचन और काया से भी शिष्य की अवहेलना न करे, भर्त्सना न करे। मन से भर्त्सना, जैसे—आंख, मुंह को विकृत करना। वचन से भर्त्सना—तुम मूर्ख हो, दुर्बोध्य हो आदि कहना। काया से भर्त्सना—क्रुद्धमुख होना तथा हाथ और होठों को फड़फड़ाना।[6]

---

१. चूर्णि, पृ० २३५ : सत्या असत्यामृषा च भाषादुगं ....पढम चरिमाओ दुवे भासाओ।

२. वृत्ति, पत्र २५७ : विभज्यवादमपि भाषाद्वितयेनैव ब्रूयादित्याह—भाषयोः—आद्यचरमयोः सत्यासत्यामृषयोर्द्विकं भाषाद्विकं तद्-भाषाद्वयं क्वचित्पृष्टोऽपृष्टो वा धर्मकथावसरेऽन्यदा वा सदा वा।

३. चूर्णि, पृ० २३५ : समयेत्ति सम्यग्।

४. वृत्ति, पत्र २५७ : सह विहरन् चक्रवर्तिद्रमकयोः समतया रागद्वेषरहितो वा।

५. (क) चूर्णि, पृ० २३५ : तस्यैवं कथयतः कश्चिद् ग्रहण-धारणासम्पन्नः यथोक्तमेवावितथं गृह्णाति, कश्चित्तु मन्दमेधावी वितथऽभि-जाणाति।

(ख) वृत्ति, पत्र २५७ : तस्यैवं भाषाद्वयेन कथयतः कश्चिन्मेधावितया तथैव तमर्थमाचार्यादिना कथितमनुगच्छन् सम्यगवबुध्यते, अपरस्तु मन्दमेधावितया वितथम्—अन्यथैवाभिजानीयात्।

६. (क) चूर्णि, पृ० २३५।

(ख) वृत्ति, पत्र २५७।

८७. (ण कत्थई भास विहिंसएज्जा)

इसका अर्थ है—भाषा की हिंसा न करे, दूसरे के कथन का तिरस्कार न करे, निन्दा न करे। दूसरे के कुछ कहने पर, उसके कथन में असंबद्धता का उद्घाटन कर उस प्रश्नकर्त्ता की विडम्बना न करे।[1]

८८. (णिरुद्धगं वावि ण दीहएज्जा)

निरुद्ध का अर्थ है—थोड़े अर्थ वाला व्याख्यान या थोड़े समय में पूरा होने वाला व्याख्यान।[2]

इसका तात्पर्य है कि मुनि तत्त्व की व्याख्या करते समय या धर्मकथा करते हुए, अर्थ को बढ़ाकर उसे अधिक लम्बा न करे। केवल उतना ही अर्थ बताए जो अक्षरों में निबद्ध है—सो अत्थो वत्तव्वो जो अत्थो अक्खरेहिं आरूढो।[3]

चार प्रकार के सूत्र होते हैं—

१. अक्षर अल्प, अर्थ महान्।

२. अक्षर अधिक, अर्थ अल्प।

३. अक्षर अल्प, अर्थ अल्प।

४. अक्षर अधिक, अर्थ महान्।

इनमें प्रथम भंग ही प्रशस्त है। वही सूत्र-वाक्य अच्छा माना जाता है जो अल्पाक्षर वाला हो, किन्तु जिसका अर्थ महान् हो। इसीलिए प्राचीन आचार्यों ने कहा है—

'सो अत्थो वत्तव्वो, जो भण्णइ अक्खरेहिं थोवेहिं।
जो पुण थोवो बहुअक्खरेहिं सो होइ निस्सारो॥'

—जो अल्पाक्षर और महान् अर्थ वाला होता है, वही अच्छा है। जो अधिक अक्षर वाला और अल्प अर्थ वाला होता है वह निस्सार है।[4]

मुनि अल्प अर्थ वाले या अल्पकाल में पूर्ण होने वाले व्याख्यान या तत्त्व-प्रसंग को व्याकरण, तर्क आदि तथा प्रसक्ति या अनुप्रसक्ति के द्वारा लम्बा न करे।[5]

श्लोक २४ :

८९. भलीभांति अर्थ को देखने वाला (समियाअट्ठदंसी)

इसका संस्कृत रूप है—'सम्यक्+अर्थदर्शी'। इसका अर्थ है—यथावस्थित अर्थ का प्रतिपादन करने वाला, देखने वाला। मुनि आचार्य आदि के पास अर्थ की जैसी अवधारणा की हो उसी प्रकार से उसकी अभिव्यक्ति करे, मनगढ़ंत कथन न करे। वह नई व्याख्या न करे। वह यह समझे कि मैं आचार्य नहीं हूं। मुझे नई व्याख्या करने का अधिकार नहीं है। मैंने आचार्य के पास जैसी अवधारणा की है, वही मैं दूसरों को बताऊं।

इस प्रकार सोचने वाला सम्यक् अर्थदर्शी होता है।[6]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० २३५ : तस्य वाऽबुद्धयमानस्य श्रोतुर्न कुत्रचिद् भाषां विहिंसेत्—अहो! भङ्गा लक्ष्यन्ते, न निन्देदित्यर्थः।
 (ख) वृत्ति, पत्र २५७ : न तिरस्कुर्याद् असंबद्धोद्घट्टनतस्तं प्रश्नयितारं न विडम्बयेदिति।

२. वृत्ति, पत्र २५७ : निरुद्धम्—अर्थस्तोकम्...... ......निरुद्धं वा—स्तोककालीनं व्याख्यानम्।

३. चूर्णि, पृ० २३५ : निरुद्धं वाऽर्थमर्थाख्यानं वा न दीर्घं कुर्याद् अधिकार्थैः सो अत्थो वत्तव्वो जो अत्थो अक्खरेहिं आरूढो।

४. (क) चूर्णि पृ० २३५।
 (ख) वृत्ति, पत्र २५७।

५. वृत्ति, पत्र २५७ : स्तोककालीनं व्याख्यानं व्याकरणतर्कादिप्रवेशनद्वारेण प्रसक्त्यानुप्रसक्त्या 'न दीर्घयेत्'—न दीर्घकालिकं कुर्यात्।

६. (क) चूर्णि, पृ० २३६ : समिया नाम सम्यग् यथा गुरुसकाशादुपधारितम्, सम्यग् अर्थं पश्यन्ति समियाअट्ठदंसी नाहमाचार्य इति कृत्वा।
 (ख) वृत्ति, पत्र २५७ : सम्यग्—यथावस्थितमर्थं यथा गुरुसकाशादवधारितमर्थंप्रतिपाद्यं द्रष्टुं शीलमस्य स भवति सम्यगर्थदर्शी।

९०. संगत बात कहे (समालवेज्जा)

इसके दो अर्थ हैं—अच्छी प्रकार से बात कहना या संगत बात कहना।[1]

प्रश्नकर्त्ता यदि अल्पाक्षर वाली बात को अच्छी तरह से न समझ सके तो मुनि अपने कथन को विविध प्रकार से कहे, उसका भावार्थ बताए।[2]

९१. अर्थपूर्ण और अस्खलित वचन बोले (पडिपुण्णभासी)

अर्थपूर्ण और अस्खलित वचन बोलने वाला प्रतिपूर्णभाषी होता है।

अक्षरों तथा अर्थ की दृष्टि से जो वाक्य अहीन, अस्खलित और अमिश्रित होता है, वही वाक्य प्रतिपूर्ण होता है, वही भाषा प्रतिपूर्ण होती है। जो मुनि ऐसी भाषा का प्रयोग करता है, वह प्रतिपूर्णभाषी कहलाता है।[3]

मुनि व्याख्यान करते समय अथवा प्रश्न का उत्तर देते समय थोड़े अक्षर बोलकर ही अपने आपको कृतार्थ न समझे। क्योंकि यदि विषय गहन हो, उसकी अर्थाभिव्यक्ति दुरूह हो तो श्रोता के आधार पर उचित हेतु और युक्तियों के द्वारा विषय को स्पष्ट करे, जिससे कि श्रोता उसे हृदयंगम कर सके।[4]

दशवैकालिक सूत्र में भी मुनि को 'प्रतिपूर्ण' भाषा बोलने का निर्देश दिया है।[5]

९२. आज्ञासिद्ध वचन का प्रयोग करे (आणाए सिद्धं वयणं भिजुंजे)

मुनि आज्ञासिद्ध वचन का प्रयोग करे। जैसे गुरु ने अर्थ की अभिव्यक्ति की है, उसी प्रकार से अर्थ की अभिव्यक्ति करे। इस प्रकार आज्ञासिद्ध का अर्थ है—गुरु के पास की हुई अवधारणा, स्वेच्छाकल्पित नहीं। वचन का अर्थ है—सूत्र और अर्थ।

मुनि तत्त्व का निरूपण करते समय उत्सर्ग के स्थान पर उत्सर्ग, अपवाद के स्थान पर अपवाद, स्व-समय के स्थान पर स्व-समय और पर-समय के स्थान पर-समय का अवलंबन ले। स्वेच्छाचारिता से वह कुछ भी न कहे।[6]

वृत्तिकार ने 'आणाए सुद्धं' पाठ मानकर आज्ञा का अर्थ—सर्वज्ञ द्वारा प्रणीत आगम और शुद्ध का अर्थ—निर्मल, पूर्वापर-अविरुद्ध, निरवद्य वचन किया है। शेष व्याख्या चूर्णिकार के समान ही है।[7]

आचारांग १।३८ में 'आणाए' का अर्थ—तीर्थङ्कर या अतिशयज्ञानी का वचन- किया है।[8] उसी आगम के १।९७ में 'अणाणाए' का अर्थ—तीर्थङ्कर के वचनों का अतिक्रमण—किया है।[9]

---

१. चूर्णि, पृ० २३४ : सोभणं संगयं वा लवेज्जा।

२. वृत्ति, पत्र २५७ : यत्पुनरतिविषमत्वादल्पाक्षरैर्न सम्यगवबुध्यते तत्सम्यक् शोभनेन प्रकारेण समन्तात् पर्यायशब्दोच्चारणतो भावार्थ-कथनतश्चालपेद्।

३. (क) चूर्णि, पृ० २३६ : पडिपुण्णभासी अट्ठ-अक्खरेहिं अहीनं अक्खलितं अमिलितं।
(ख) वृत्ति, पत्र २५७ : प्रतिपूर्णभाषी स्याद—अस्खलितामिलिताहीनाक्षरार्थवादी भवेदिति।

४. वृत्ति, पत्र २५७ : नाल्पैरेवाक्षरैरुक्त्वा कृतार्थो भवेद्, अपि तु ज्ञेयगहनार्थभाषणे सद्धेतुयुक्त्यादिभिः श्रोतारम्······।

५. दसवेआलियं ८/४८ : दिट्ठं मियं असंदिद्धं, पडिपुन्नं वियं जियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं, भासं निसिर अत्तवं॥

६. चूर्णि, पृ० २३३ : आणाए सिद्धं वयणं, आज्ञा यथा गुरुणोपदिष्टं तथैवोपदेष्टव्यम्, आज्ञासिद्धं नाम यथोपधारितम् न स्वेच्छा-विकल्पितम्, वचनमिति सुत्तमत्थो वा, विविधं जुंजेज्ज। कधं? उस्सग्गे उस्सग्गं अववाते अववातं, एवं ससमये ससमयं परसमये परसमयं।

७. वृत्ति, पत्र २५७ : तीर्थकराज्ञया—सर्वज्ञप्रणीतागमानुसारेण 'शुद्धम्'—अवदातं पूर्वापराविरुद्धं निरवद्यं वचनमभियुञ्जीतोत्सर्गविषये सति उत्सर्गमपवादविषये चापवादं तथा स्वपरसमययोर्यथास्वं वचनमभिवदेत्।

८. आयारो, १/३८ वृत्ति, पत्र ३९ : आज्ञया मौनीन्द्रवचनेन।

९. वही, १/९७, वृत्ति पत्र ५८ : अनाज्ञा वर्त्तते, न भगवत्प्रणीतवचनानुसारीति।

'आणाए मामगं धम्मं'[1]—इसका अर्थ हैं— वे मेरे धर्म को जानकर— मेरी आज्ञा को स्वीकार कर (आजीवन मुनि-धर्म का पालन करते हैं)।

'आज्ञा' शब्द के ये सारे परम्परागत अर्थ हैं। वास्तव में इसका अर्थ—अतीन्द्रियज्ञान या उपचार से अतीन्द्रियज्ञानी का वचन भी हो सकता है।

६३. पाप का विवेक करने वाले वचन का संधान करे (अभिसंधए पावविवेग)

तत्त्व की व्याख्या करते समय मुनि प्रतिपल यह सोचे कि मेरे पाप का पृथक्करण कैसे हो? वह पूजा, सत्कार या किसी प्रकार के गौरव के वशीभूत होकर व्याख्यान न करे। वह केवल यह सोचे कि व्याख्यान करने का एकमात्र उद्देश्य है—कर्मों की निर्जरा, पाप का पृथक्करण।[2]

मुनि लाभ, सत्कार आदि से निरपेक्ष रहकर निर्दोष वचन कहे।[3]

श्लोक २५ :

६४. यथोक्त वचन को (अहाबुइयाइं)

इसका अर्थ है—यथोक्त वचन अर्थात् तीर्थङ्कर, गणधर आदि विशिष्ट ज्ञानियों का वचन।[4]

६५. मर्यादा का अतिक्रमण कर न बोले (णाइवेलं वएज्जा)

चूर्णिकार ने 'वेला' के दो अर्थ किए हैं[5]—

१. जिस सूत्र और अर्थ का या धर्मदेशना का जो काल है, वह।

२. मर्यादा।

वृत्तिकार ने 'वेला' का अर्थ—अध्ययन-काल और कर्त्तव्य-काल किया है।

जिस कार्य को जिस समय में करना हो, उसी समय में उसे निष्पन्न करना चाहिए। काल का अतिक्रमण दोष है। इसका तात्पर्य है कि मुनि अध्ययन काल में अध्ययन करे और निर्धारित काल में अपने दूसरे कर्त्तव्यों को सम्पन्न करे। जिस समय जो सूत्र पढ़ना हो, उसे पढ़े, जो अर्थ धारण करना हो उस अर्थ को धारण करे और जिस समय व्याख्यान करना हो, उस समय व्याख्यान करे। काल-मर्यादा का अतिक्रमण न करे। दशवैकालिक सूत्र का प्रसिद्ध सूक्त है—'काले कालं समायरे।' मुनि यथाकालवादी और यथाकालचारी हो।[6]

६६. दृष्टि को खंडित या दूषित न करे (दिट्ठि ण लूसएज्जा)

'लूसएज्जा' के दो अर्थ हैं—खंडित करना, दूषित करना।

दृष्टिमान् मुनि धर्मकथा करते समय, स्वपक्ष या परपक्ष की बात कहते हुए ऐसी बात कहे जिससे सम्यग्दृष्टि का हनन न हो। कुतीर्थिकों की प्रशंसा या अपसिद्धान्त के कथन से श्रोताओं की दृष्टि को भी दूषित न करे। वह तत्त्व का प्रतिपादन इस रीति से

---

१. आयारो ६/४८।

२. चूर्णि, पृष्ठ २३६ : कथं मम वाचयतः पापविवेकः स्यात्? न च पूजा-सत्कार-गौरवादिकारणाद् वाचयति।

३. वृत्ति, पत्र २५७ : लाभसत्कारादिनिरपेक्षतया काङ्क्षमाणो निर्दोषं वचनमभिसन्धयेदिति।

४. वृत्ति, पत्र २५८ : यथोक्तानि तीर्थंकरगणधरादिभिस्तानि।

५. चूर्णि, पृष्ठ २३६ : वेला नाम यो यस्य सूत्रस्यार्थस्य धर्मदेशनाया वा कालः, वेला मेरा, तां वेलां नातीत्य ब्रूयादित्यर्थः।

६. वृत्ति, २५८ : सदा यतमानोऽपि यो यस्य कर्तव्यस्य कालोऽध्ययनकालो वा तां वेलामतिलंघ्य नातिवेलं वदेद्—अध्ययनकर्त्तव्यमर्यादां नातिलङ्घयेत् स (वस) वनुष्ठानं प्रति व्रजेद्वा, यथावसरं परस्पराबाधया सर्वाः क्रियाः कुर्यादित्यर्थः।

करे जिससे श्रोताओं को सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो या सम्यग्दर्शन स्थिर होता जाए ।[1]

६७. समाधि को (समाहिं)

चूर्णिकार ने ज्ञान आदि समाधि तथा धर्म, मार्ग और चारित्र—तीनों का ग्रहण किया है ।[2]

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चारित्र रूप समाधि अथवा चित्त का सम्यक् व्यवस्थापन ।[3]

श्लोक २६ :

६८. सिद्धान्त को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करे (अलूसए)

अलूषक वह होता है जो सिद्धान्त और आचार को यथार्थरूप में प्रस्तुत करता है ।[4]

६६. (अपरिणत को) रहस्य न बताए (पच्छण्णभासी)

जो सिद्धांत और आचार के विषय को प्रकट नहीं करता, प्रच्छन्न वचनों के द्वारा उसे छुपाता है, वह प्रच्छन्नभाषी होता है । अथवा जो अपरिणत श्रोता के सम्मुख ऐसे रहस्यों का उद्‌घाटन करता है, ऐसे अपवाद-सूत्रों का कथन करता है कि श्रोता असमंजस में पड़ जाता है, शंकाशील बन जाता है । वह भी प्रच्छन्नभाषी होता है ।[5]

जो सिद्धान्त के सूक्ष्म रहस्य को अपरिणत शिष्य के सामने अभिव्यक्त करता है, वह रहस्य उस शिष्य के लिए दोषकारी होता है—

'अप्रशान्तमतौ शास्त्रसद्‌भावप्रतिपादनम् ।
दोषायाभिनवोदीर्ण, शमनीयमिव ज्वरे ॥'

—अप्रशान्त चित्त वाले व्यक्ति के सम्मुख शास्त्र के रहस्य का प्रतिपादन करना उसके दोष के लिए ही होता है, जैसे तत्काल उत्पन्न ज्वर में दी गई औषधि ज्वर को बढाती है, घटाती नहीं ।[6]

१००. सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे (णो सुत्तमत्थं च करेज्ज अण्णं)

मुनि सूत्र और अर्थ को अन्यथा न करे । इसका तात्पर्य यह है कि मुनि सूत्र—आगम को सर्वथा इधर-उधर न करे । उसके एक अक्षर को भी न घटाए और न बढाए । वह जैसा और जितना है उसे वैसा और उतना ही रखे । अर्थ की विकल्पना में व्यक्ति स्वतंत्र होता है । वह अपनी मेधा और सूक्ष्म में जाने की योग्यता के अनुसार उसके अर्थ की अभिव्यक्ति करता है । वह अर्थाभिव्यक्ति स्वसिद्धान्त से विरुद्ध या अविरुद्ध भी हो सकती है । किन्तु मुनि जानबूझकर सम्यक् को असम्यक् और असम्यक् को सम्यक् न करे ।[7]

१. (क) चूर्णि, पृ० २३६ : सम्यग्दृष्टिः सपक्खे परपक्खे वा कथां कथयन् तत् कथयेद् जेण दरिसणं ण लूसिज्जइ, कुतीर्थप्रशंसाभिः अपसिद्धान्तदेशनाभिर्वा न श्रोतुरपि दृष्टिं दूषयेत्, तथा तथा तु कथयेद् यथा यथाऽस्य सम्यग्दर्शनं भवति स्थिरं वा भवति ।

(ख) वृत्ति, पत्र २५८ : न दूषयेत्, इदमुक्तं भवति—पुरुषविशेषं ज्ञात्वा तथा तथा कथनीयमपसिद्धान्तदेशनापरिहारेण यथा यथा श्रोतुः सम्यक्त्वं स्थिरीभवति ।

२. चूर्णि पृ० २३६ : ज्ञानादिसमाधि-धर्म-मार्गं चारित्रं जानीते ।

३. वृत्ति, पत्र २५८ : समाधिं—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राख्यं सम्यक्चित्तव्यवस्थानाख्यं वा ।

४. चूर्णि, पृ० २३६ : अलूसकः सिद्धान्ताचारयो. प्रकटमेव कथयति ।

५. चूर्णि, पृ० २३६ : न तु प्रच्छन्नवचनैस्तमर्थं गोपयति, अपरिणतं वा श्रोतारं प्राप्य न प्रच्छन्नमुद्‌घाटयति, अपवादमित्यर्थः मा भूत् "आमे घडे णिहित्तं ·· किञ्च—अणुकंपाए दिज्जति ।·

६. वृत्ति, पत्र २५८ : न प्रच्छन्नभावी भवेत्—सिद्धान्तार्थमविरुद्धमवदातं सार्वजनीनं तत्प्रच्छन्नभाषणेन न गोपयेत्, यदि वा प्रच्छन्नं वाऽर्थमपरिणताय न भाषेत्, तद्धि सिद्धान्तरहस्यमपरिणतशिष्यविध्वंसनेन दोषायैव संपद्यते, तथा चोक्तम्—अप्रशान्तमतौ ···· ।

७. चूर्णि, पृ० २३६ : न सूत्रमन्यत् प्रद्वेषेण करोति अन्यथा वा, जधा "रण्णो मत्तंसिणो जत्थं" । प्रश्नो नाम अर्थः, तमपि नान्यथा कुर्याद्, जधा—"आवंती केआवंती" (आयारो १/५/१) एके यावंता तं लोगा विप्परामसंति । सूत्रं सर्वथैवान्यथा न कर्त्तव्यम् अर्थविकल्पस्तु स्वसिद्धान्तविरुद्धो अविरुद्धः स्यात् ।

१०१. शास्ता की भक्ति (सत्थारभत्ती)

शास्ता का अर्थ है– तीर्थंकर, सर्वज्ञ । भक्ति का अर्थ है—बहुमान ।

शास्ता स्वहित साध चुके होते हैं, अतः वे सदा परहित में रत रहते हैं। आगम-श्रुत उन्हीं के द्वारा प्रणीत है। इसलिए मुनि उनके प्रति अपनी भक्ति से प्रेरित होकर सूत्रार्थ को अन्यथा न करे ।[1]

१०२. परम्परा के अनुसार (अणुवीचि)

इसका संस्कृत रूप है 'अनुवीचि' । यह क्रिया विशेषण है । इसका अर्थ है—परंपरा के अनुसार ।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप—अनुविचिन्त्य किया है ।[2]

१०३. श्रुत का सम्यक् प्रतिपादन करे (सुयं च सम्मं पडिवादएज्जा)

मुनि संघ में रहता है, वहां अध्ययन करता है, संघ से सहयोग प्राप्त करता है। इस प्रकार वह संघ का ऋणी हो जाता है। उस ऋण से मुक्त होने के लिए संघ को सेवा देना ऋण-परिमोक्ष होता है। श्रुत के प्रतिपादन का एक उद्देश्य है - ऋण-परिमोक्ष ।[3]

श्लोक २७ :

१०४. जो सूत्र का शुद्ध उच्चारण करता है (सुद्धसुत्ते)

चूर्णिकार के अनुसार श्रुत जिसके लिए अत्यन्त परिचित हो चुका है और जिसका उच्चारण व्यत्याम्रेडित आदि दोषों से रहित है, वह शुद्ध सूत्र है ।[4]

वृत्तिकार के अनुसार जिसका प्रवचन अध्ययन और प्ररूपणा की दृष्टि से यथार्थ होता है वह शुद्ध-सूत्र कहलाता है ।[5]

१०५. तपस्वी है (उवहाणवं)

आगमों में जिस-जिस आगम के लिए जो-जो तपश्चरण विहित है, उसको करने वाला उपधानवान् कहलाता है ।[6]

१०६. धर्म को विविध दृष्टिकोणों से प्राप्त करता है (धम्मं च जे विदंति तत्थ तत्थ)

इसका अर्थ है—जो धर्म को विभिन्न दृष्टिकोणों से प्राप्त करता है। 'विदंति' के दो अर्थ हैं—जानना, सम्यक् रूप से प्राप्त करना। इस वाक्य का तात्पर्यार्थ यह है—

मुनि आज्ञाग्राह्य अर्थ को केवल आगम से ही जाने और हेतुग्राह्य अर्थ को सम्यक् हेतुओं से समझे। अथवा अपने सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध अर्थ को अपने सिद्धान्त में व्यवस्थापित करे और पर-सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध अर्थ को पर-सिद्धान्त में व्यवस्थापित करे। अथवा उत्सर्ग सूत्र से व्यवस्थित अर्थ को उत्सर्ग सूत्र से समझे और अपवाद को अपवाद सूत्र से समझे। मुनि सूत्र को विभिन्न

स भवति सत्थारभक्तिः ।

१. (क) चूर्णि, पृ० २३६ : शासतीति शास्ता, शास्तरि भक्तिःसत्थारभक्तिः, स भवति सत्थारभक्तिः ।
१. (क) चूर्णि, पृ० २३६ : शासतीति शास्ता, शास्तरि या व्यवस्थिता भक्तिः—बहुमानस्तया तद्भक्त्या······।
(ख) वृत्ति, पत्र २५८ : परहितैकरतः शास्ता तस्मिन् शास्तरि या व्यवस्थिता भक्तिः—बहुमानस्तया तद्भक्त्या······।

२. (क) चूर्णि, पृ० २३६ : ·· ···अणुविचिणंतु अणुविचिंतेऊण ·· अनुविचिन्त्य ।
(ख) वृत्ति, पत्र २५८ : ······अनुविचिन्त्य ।

३. (क) चूर्णि, पृ० २३६ : तच्च श्रुत्वा सम्यग् अन्येभ्यः रिणपरिमोक्खी पडिवादएज्जा तदिदं पडिवादयेत् पडिवादेज्जा सूत्रमर्थं धर्मकथां वा ।
(ख) वृत्ति, पत्र २५८ : तथा यत् श्रुतमाचार्यादिभ्यः सकाशात्तत्तथैव सम्यक्त्वाराधनामनुवर्तमानोऽन्येभ्य ऋणमोक्षं प्रतिपद्यमानः 'प्रतिपादयेत्'—प्ररूपयेन्न सुखशीलतां मन्यमानो यथाकथंचित्तिष्ठेदिति ।

४. चूर्णि, पृ० २३७ : सुद्धं परिचितं अविच्चामेलितं च ।

५. वृत्ति, पत्र २५८ : शुद्धम्— अवदातं यथावस्थितवस्तुप्ररूपणतोऽध्ययनतश्च सूत्रं—प्रवचनं यस्यासौ शुद्धसूत्रः ।

६. (क) चूर्णि, पृ० २३७ : उपधानवानिति तपोपधानवान् ।
(ख) वृत्ति, पत्र २५८ : उपधानं—तपश्चरणं यद्यस्य सूत्रस्याभिहितमागमे तद्विद्यते यस्यासावुपधानवान् ।

दृष्टियों से समझने का प्रयत्न करे।[1]

१०७. जिसका वचन लोकमान्य होता है (आएज्जवक्के)

आदेयवाक्य अर्थात् वह व्यक्ति जिसका वचन लोकमान्य होता है, ग्राह्य होता है।[2]

१०८. कुशल (कुसले)

चूर्णिकार ने इसके तीन अर्थ किए हैं[3] :—

१. प्रत्यक्षज्ञानी ।

२. परोक्षज्ञानी ।

३. खेदज्ञ—आत्मज्ञ ।

वृत्तिकार के अनुसार जो मुनि आगम के प्रतिपादन में तथा सद् अनुष्ठान में निपुण होता है वह कुशल कहलाता है।[4]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० २३७ : आज्ञाग्राह्या आगमेनैव प्रज्ञापयितव्याः दार्ष्टान्तिकोऽपि हेतूदाहरणोपसंहारैः । अथवा तत्र तत्र इति स्वसमये परसमये वा तथा ज्ञानादिषु द्रव्यादिषु वा, उत्सर्गाऽपवादयोर्वा यत्र यत्र तत् तथा द्योतयितव्यम् ।

(ख) वृत्ति, पत्र २५८, २५९ : धर्मं—श्रुतचारित्राख्यं यः सम्यक् वेत्ति विन्दते वा—सम्यग् लभते, तत्र तत्रे ति य आज्ञाग्राह्योऽर्थः, स आज्ञयैव प्रतिपत्तव्यो हेतुकस्तु सम्यग्हेतुना यदि वा स्वसमयसिद्धोऽर्थः स्वसमये व्यवस्थापनीयः पर (समय) सिद्धश्च परस्मिन्, अथवोत्सर्गापवादयोर्व्यवस्थितोऽर्थस्ताभ्यामेव यथास्वं प्रतिपादयितव्यः ।

२. (क) चूर्णि, पृ० २३७ : आदेयवाक्य इति ग्राह्यवाक्यः ।

(ख) वृत्ति, पत्र २५९ : आदेयवाक्यो ग्राह्यवाक्यो भवति ।

३. चूर्णि, पृ० २३७ : प्रत्यक्षः परोक्षज्ञानी वा खेदण्णे ।

४. वृत्ति, पत्र २५९ : कुशलो—निपुणः आगमप्रतिपादने सदनुष्ठाने च ।

पण्णरसमं अज्झयणं

जमईए

पन्द्रहवां अध्ययन

यमकीय

आमुख

इस अध्ययन का नाम 'यमकीय' है। समवायांग में भी यही नाम निर्दिष्ट है। इसके सभी श्लोक 'यमक' अलंकार से युक्त हैं। प्रथम श्लोक के अन्तिम चरण और दूसरे श्लोक के प्रथम चरण में 'यमक' है। जैसे—दूसरे श्लोक के अन्तिम शब्द हैं—'तहिं-तहिं' और तीसरे के प्रथम शब्द हैं 'तहिं तहिं'। सर्वत्र शब्द-साम्य या भाव-साम्य है। 'यमक' में निबद्ध होने के कारण इसे 'यमकीय' कहा गया है।

चूर्णिकार ने इसके दो नाम बताए हैं—आदानीय और संकलिका।[1]

वृत्तिकार ने मुख्य नाम आदानीय और विकल्परूप में—यमकीय[2] (प्रा० जमतीयं) और संकलिका[3]—ये दो नाम माने हैं। इस प्रकार इस अध्ययन के तीन नाम हो जाते हैं - आदानीय, यमकीय और संकलिका।

वृत्तिकार ने 'आदानीय' और 'संकलिका' नामकरण की सार्थकता इस प्रकार बतलाई है—

मुमुक्षु व्यक्ति अपने समस्त कर्मों को क्षीण करने के लिए जिन ज्ञान, दर्शन और चारित्र का आदान (ग्रहण) करता है, उनका इस अध्ययन में प्रतिपादन है, इसलिए इसे 'आदानीय' नाम से सम्बोधित किया गया है।[4]

संकलिका के दो प्रकार हैं—

१. द्रव्य संकलिका—सांकल आदि।

२. भाव संकलिका—जिसमें उत्तरोत्तर विशिष्ट अध्यवसायों का संकलन होता है।

इस अध्ययन के श्लोकों के अन्त-आदि पद में एक प्रकार की संकलना (संकलिका) है। उसके आधार पर इसे 'संकलिका' कहा गया है।[5]

प्रस्तुत अध्ययन में एक श्रृंखला (संकलिका) का प्रयोग है। इसमें तीन प्रकार की श्रृंखला है—१. सूत्र श्रृंखला, २. अर्थ श्रृंखला और ३. तदुभय (सूत्र-अर्थ) श्रृंखला।[6]

चूर्णिकार ने दूसरे श्लोक में सूत्र संकलिका और अर्थ संकलिका—दोनों माना है[7] तथा पन्द्रहवें श्लोक में केवल अर्थ संकलिका माना है।[8] शेष श्लोक संभवतः सूत्र-संकलिका के हैं।

---

१. चूर्णि, पृ० २३८ : आदाणिज्जं ति वा संकलितज्झयणं ति वा।

२. वृत्ति, पत्र २५९ : अथवा जमतीयं ति अस्याध्ययनस्य नाम।

३. वृत्ति, पत्र २६० : केचित् तु पुनरस्याध्ययनस्यान्तादिपदयोः संकलनात् संकलिकेति नाम कुर्वते।

४. वृत्ति, पत्र २६०।

५. वृत्ति, पत्र २६० : आद्यन्त (अन्तादि ?) पदयोः संकलनादिति।

६. चूर्णि, पृ० २३८ : कहिंचि सुत्तेण संकला भवति, कहिंचि अत्थेण, कहिंचि उभयेण वि।

७. चूर्णि, पृ० २३९ : अत्रोभयेनापि संकलिका।

८. चूर्णि, पृ० २४१ : इयमर्थसंकलिका—अंताणि धीरा सेवंति···।

पणरसमं अज्झयणं : पन्द्रहवां अध्ययन

जमईए : यमकीय

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. जमतीते पडुप्पण्णं आगमिस्सं च णायओ। सव्वं मण्णति तं ताई दंसणावरणंतए ॥	यदतीतं प्रत्युत्पन्नं, आगमिष्यच्च ज्ञायकः। सर्वं मन्यते तत् तादृग्, दर्शनावरणान्तकः ॥	१. दर्शनावरण का अन्त करने वाला ज्ञाता और द्रष्टा पुरुष अतीत, वर्तमान और भविष्य[1]—सबको जानता[2] है।
२. अंतए वितिगिच्छाए से जाणइ अणेलिसं। अणेलिसस्स अक्खाया ण से होइ तहिं तहिं ॥	अन्तकः विचिकित्सायाः, स जानाति अनीदृशम्। अनीदृशस्य आख्याता, न स भवति तत्र तत्र ॥	२. विचिकित्सा का[3] अन्त करने वाला अनुपम तत्त्व को जानता है। अनुपम तत्त्व का व्याख्याता यत्र-तत्र नहीं होता।
३. तहिं तहिं सुयक्खायं से य सच्चे सुआहिए। सदा सच्चेण संपण्णे मेत्तिं भूतेसु कप्पए ॥	तत्र तत्र स्वाख्यातं, तच्च सत्यं सु-आहृतम्। सदा सत्येन संपन्नः, मैत्रीं भूतेषु कल्पयेत् ॥	३. (जहां विचिकित्सा का अन्त होता है) वहां-वहां स्वाख्यात है[4]। वह सत्य[5] और सुभाषित यह है—सदा सत्य से संपन्न हो जीवों के साथ मैत्री करे।
४. भूतेसु ण विरुज्झेज्जा एस धम्मे वुसीमओ। वुसीमं जगं परिण्णाय अस्सिं जीवियभावणा ॥	भूतेषु न विरुध्येत, एष धर्मः वृषीमतः। वृषीमान् जगत् परिज्ञाय, अस्मिन् जीवितभावना ॥	४. जीवों के साथ विरोध[6] न करे—यह संयमी का[7] धर्म है। संयमी पुरुष परिज्ञा से जगत् को जानकर इस धर्म में[8] जीवित-भावना[9] करे।
५. भावणाजोगसुद्धप्पा जले णावा व आहिया। णावा व तीरसंपण्णा सव्वदुक्खा तिउट्टति ॥	भावनायोगशुद्धात्मा, जले नौरिव आहृतः। नौरिव तीरसंपन्नाः, सर्वदुःखात् त्रुट्यति ॥	५. जिसकी आत्मा भावना-योग से शुद्ध है[10] वह जल में नौका की तरह कहा गया है।[11] वह तट पर पहुंची हुई नौका की भांति सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।[12]
६. तिउट्टती उ मेहावी जाणं लोगंसि पावगं। तुट्टंति पावकम्माणि णवं कम्ममकुव्वओ ॥	त्रुट्यति तु मेधावी, जानन् लोके पापकम्। त्रुट्यन्ति पापकर्माणि, नवं कर्म अकुर्वतः ॥	६. मेधावी पुरुष लोक में पाप को जानता हुआ उससे मुक्त होता है। उसके पाप-कर्म टूट जाते हैं[13] जो नए कर्म का अकर्त्ता है।
७. अकुव्वओ णवं णत्थि कम्मं णाम विजाणतो। णच्चाण से महावीरे जे ण जाई ण मिज्जती ॥	अकुर्वतो नवं नास्ति, कर्म नाम विजानतः। ज्ञात्वा स महावीरः, यो न जायते न म्रियते ॥	७. जो नए कर्म का कर्त्ता नहीं है, विज्ञाता (या द्रष्टा) है[14] उसके नया कर्म नहीं होता। इसे जानकर जो (ज्ञाताभाव या चैतन्य के शुद्ध स्वरूप में) महावीर्य-वान्[15] है वह न जन्म लेता है और न मरता है—[16] मुक्त हो जाता है।[17]

८. ण मिज्जती महावीरे
जस्स णत्थि पुरेकडं ।
वाऊ व जालमच्चेइ
पिया लोगंसि इत्थिओ ॥

न म्रियते महावीरः,
यस्य नास्ति पुराकृतम् ।
वायुरिव ज्वालामत्येति,
प्रियाः लोके स्त्रियः ॥

८. जिसके पूर्वकृत कर्म नहीं होता वह महावीर्यवान् नहीं मरता[18] (और नहीं जन्मता) । जैसे वायु अग्नि की ज्वाला को पार कर जाती है वैसे ही वह (विज्ञाता या द्रष्टा) लोक में प्रिय होने वाली स्त्रियों (काम-वासना) का[19] पार पा जाता है ।

९. इत्थिओ जे ण सेवंति
आदिमोक्खा हु ते जणा ।
ते जणा बंधणुम्मुक्का
णावकंखंति जीवितं ॥

स्त्रियः ये न सेवन्ते,
आदिमोक्षाः खलु ते जनाः ।
ते जनाः बन्धनोन्मुक्ताः,
नावकांक्षन्ति जीवितम् ॥

९. जो स्त्रियों का सेवन नहीं करते (जो काम-वासना से मुक्त होते हैं) वे जन मोक्ष पाने वालों की पहली पंक्ति में हैं ।[20] वे बन्धन से उन्मुक्त हो, जीने की इच्छा नहीं करते ।[21]

१०. जीवितं पिट्ठओ किच्चा
अंतं पावंति कम्मुणं ।
कम्मुणा संमुहीभूता
जे मग्गमणुसासति ॥

जीवितं पृष्ठतः कृत्वा,
अन्तं प्राप्नुवन्ति कर्मणाम् ।
कर्मणा सम्मुखीभूता,
ये मार्गमनुशासति ॥

१०. वे जीवन की ओर पीठ कर कर्मों का अन्त करते हैं । वे कर्मों के सामने खड़े हो[22] मार्ग का अनुशासन करते हैं ।[23]

११. अणुसासणं पुढो पाणी
वसुमं पूयणासते ।
अणासते जते दंते
दढे आरतमेहुणे ॥

अनुशासनं पृथक् प्राणिषु,
वसुमान् पूजाऽनाशयः ।
अनाशयः यतो दान्तः,
दृढः आरतमैथुनः ॥

११, संयम-धन से सम्पन्न पुरुष[24] प्राणियों में उनकी योग्यता के अनुसार[25] अनुशासन[26] करते हैं । वे पूजा का आशय नहीं रखते ।[27] वे अनाशय, संयत, दान्त, दृढ़ और मैथुन से विरत होते हैं ।

१२. णीवारे व ण लीएज्जा
छिण्णसोते अणाइले ।
अणाइले सदा दंते
संधिं पत्ते अणेलिसं ॥

नीवारे वा न लीयेत,
छिन्नस्रोता अनाविलः ।
अनाविलः सदा दान्तः,
सन्धिं प्राप्तः अनीदृशम् ॥

१२. जिसके स्रोत छिन्न हो चुके हैं,[28] जो निर्मल चित्त वाला है,[29] वह प्रलोभन के स्थान में लिप्त न हो ![30] वह सदा निर्मल चित्त वाला दान्त अनुपम संधि (ज्ञान आदि) को[31] प्राप्त करता है ।

१३. अणेलिसस्स खेयण्णे
ण विरुज्झेज्ज केणइ ।
मणसा वयसा चेव
कायसा चेव चक्खुमं ॥

अनीदृशस्य क्षेत्रज्ञः,
न विरुध्येत केनचित् ।
मनसा वचसा चैव,
कायेन चैव चक्षुष्मान् ॥

१३, अनुपम संधि को[32] जानने वाला[33] चक्षुष्मान् पुरुष[34] किसी के साथ मनसा, वाचा, कर्मणा विरोध न करे ।

१४. से हु चक्खू मणुस्साणं
जे कंखाए य अंतए ।
अंतेण खुरो वहती
चक्कं अंतेण लोट्टति ॥

स खलु चक्षुर्मनुष्याणां,
यः कांक्षायाश्च अन्तकः ।
अन्तेन क्षुरो वहति,
चक्रं अन्तेन लुठति ॥

१४. वह मनुष्यों का चक्षु है जो आकांक्षा का अन्त करता है । उस्तरा अंत (धार) से चलता है । चक्का अन्त (छोर) से चलता है ।[35]

१५. अंताणि धीरा सेवंति
तेण अंतकरा इहं ।
इह माणुस्सए ठाणे
धम्ममाराहिउं णरा

अन्तान् धीराः सेवन्ते,
तेन अन्तकरा इह ।
इह मानुष्यके स्थाने,
धर्ममाराध्य नराः ॥

१५. धीर पुरुष अंत का[36] सेवन करते हैं, इसलिए वे धर्म के शिखर पर पहुंच जाते हैं[37] । वे इस मानव जीवन में[38] धर्म की आराधना कर

१६. णिट्ठितट्ठा व देवा व
उत्तरीए त्ति मे सुतं ।
सुतं च मेतमेगेसिं
अमणुस्सेसु णो तहा ॥

निष्ठितार्था वा देवा वा,
उत्तरीये इति मे श्रुतम् ।
श्रुतं च मे एतद् एकेषां,
अमनुष्येषु नो तथा ॥

१६. या तो मुक्त होते हैं[39] या अनुत्तर देवलोकों में[40] देव होते हैं, यह मैंने सुना है ।[41] कुछ प्रवचनकारों (बुद्धों) का यह मत भी मैंने सुना है कि अ-मनुष्यों (देवों) का भी निर्वाण होता है, किन्तु ऐसा नहीं होता, मनुष्य ही निर्वाण को प्राप्त करता है ।[42]

१७. अंतं करेंति दुक्खाणं
इहमेगेसि आहितं।
आघातं पुण एगेसिं
दुल्लभेऽयं समुस्सए॥

अन्तं कुर्वन्ति दुःखानां,
इह एकेषां आहृतम्।
आख्यातं पुनरेकेषां,
दुर्लभोऽयं समुच्छ्रयः॥

१७. कुछ प्रवचनकारों (तीर्थंकरों) का यह अभिमत है कि मनुष्य ही दुःखों का अन्त करता है। उनका यह अभिमत है कि यह मनुष्य का शरीर दुर्लभ है।

१८. इतो विद्धंसमाणस्स
पुणो संबोहि दुल्लभा।
दुल्लभाओ तहच्चाओ
जे धम्मट्ठं वियागरे॥

इतो विध्वस्यमानस्य,
पुनः संबोधिः दुर्लभा।
दुर्लभास्तथार्चाः,
ये धर्मार्थं व्याकुर्वन्ति॥

१८. इस मनुष्य शरीर से च्युत जीव को फिर संबोधि दुर्लभ होती है। जो धर्म के तत्त्व का उपदेश दें वैसी विशुद्ध लेश्या वाली आत्माओं का योग भी दुर्लभ है।

१९. जे धम्मं सुद्धमक्खंति
पडिपुण्णमणेलिसं।
अणेलिसस्स जं ठाणं
तस्स जम्मकहा कुतो?॥

ये धर्मं शुद्धमाख्यान्ति,
प्रतिपूर्णमनीदृशम्।
अनीदृशस्य यत् स्थानं,
तस्य जन्मकथा कुतः?॥

१९. जो शुद्ध, प्रतिपूर्ण और अनुपम धर्म का निरूपण करता है और यह अनुपम धर्म जिसमें ठहरता है, उसके पुनर्जन्म की बात कहां?

२०. कुतो कयाइ मेहावी
उप्पज्जंति तथागता?।
तथागता अपडिण्णा
चक्खू लोगस्सणुत्तरा॥

कुतः कदाचिद् मेधाविनः,
उत्पद्यन्ते तथागताः?
तथागताः अप्रतिज्ञाः,
चक्षुर्लोकस्य अनुत्तराः॥

२०. मेधावी तथागत (तीर्थंकर) कहां और कब उत्पन्न होते हैं? तथागत अप्रतिज्ञ, लोक के चक्षु और अनुत्तर (श्रेष्ठ) होते हैं।

२१. अणुत्तरे य ठाणे से
कासवेण पवेदिते।
जं किच्चा णिव्वुडा एगे
णिट्ठं पावंति पंडिया॥

अनुत्तरं च स्थानं तत्,
काश्यपेन प्रवेदितम्।
यत् कृत्वा निर्वृता एके,
निष्ठां प्राप्नुवन्ति पण्डिताः॥

२१. काश्यप (महावीर) ने उस सर्वश्रेष्ठ स्थान का प्रतिपादन किया है, जिसका आचरण कर कुछ पंडित मनुष्य उपशांत हो निष्ठा (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं।

२२. पंडिए वीरियं लद्धुं
णिग्घायाय पवत्तगं।
धुणे पुव्वकडं कम्मं
णवं चावि ण कुव्वइ॥

पंडितो वीर्यं लब्ध्वा,
निर्घाताय प्रवर्तकम्।
धुनाति पूर्वकृतं कर्म,
नवं चापि न करोति॥

२२. पंडित पुरुष कर्म-क्षय के लिए प्रवर्तक वीर्य को प्राप्त कर पूर्वकृत कर्म की निर्जरा करता है और नये कर्म का बन्ध नहीं करता।

२३. ण कुव्वइ महावीरे
अणुपुव्वकडं रयं।
रयसा संमुहीभूते
कम्मं हेच्चाण जं मतं॥

न करोति महावीरः,
अनुपूर्वकृतं रजः।
रजसा सम्मुखीभूतः,
कर्म हित्वा यद् मतम्॥

२३. महावीर (महावीर्यवान्) पुरुष कर्म-परम्परा में होने वाले रज का (बंध) नहीं करता। वह रज के सामने खड़ा होकर कर्म को क्षीण कर जो मत (इष्ट) है (उसे पा लेता है।)

२४. जं मतं सव्वसाहूणं
तं मतं सल्लगत्तणं।
साहइत्ताण तं तिण्णा
देवा वा अभविंसु ते॥

यद् मतं सर्वसाधूनां,
तद् मतं शल्यकर्त्तनम्।
साधयित्वा तत् तीर्णाः,
देवा वा अभवंस्ते॥

२४. जो सभी साधुओं का मत (इष्ट) है वह मत (निर्ग्रन्थ प्रवचन) शल्य को काटने वाला है। उसकी साधना कर वे संसार का पार पा जाते हैं अथवा देव होते हैं।

२५. अभविंसु पुरा वीरा
आगमिस्सा वि सुव्वया।
दुण्णिबोहस्स मग्गस्स
अंतं पाउकरा तिण्ण॥

अभवन् पुरा वीराः,
आगमिष्या अपि सुव्रताः।
दुर्निबोधस्य मार्गस्य,
अन्तस्य प्रादुष्कराः तीर्णाः॥

२५. वीर्यवान् सुव्रत पहले हुए हैं और भविष्य में भी होंगे। वे स्वयं तैरते हुए कठिनाई से समझे जा सकने वाले मार्ग के अन्त (उच्चतम शिखर) को प्रगट करते हैं।

—त्ति बेमि॥

इति ब्रवीमि॥

—ऐसा मैं कहता हूं।

श्लोक १ :

१. श्लोक १ :

अतीत, वर्तमान और भविष्य—ये तीन काल होते हैं। दर्शनावरण का अन्त करने वाला इन तीनों को जानता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव—इन चारों दृष्टियों से जानता है—इसका अर्थ है वह सबको जानता है। प्रस्तुत श्लोक में जानने के अर्थ में 'मण्णति' (सं० मन्यते) धातु का प्रयोग मिलता है और ज्ञानावरण के स्थान में दर्शनावरण का प्रयोग है। जाणइ-पासइ का संयुक्त प्रयोग होता है। प्राचीन काल में दर्शन का प्रयोग अधिक प्रचलित था। उत्तर-काल में ज्ञान का प्रयोग अधिक प्रचलित हो गया।

२. जानता है (ताई)

इसका संस्कृत रूप है—तादृग्। वृत्तिकार ने इसका अर्थ त्रायी किया है। उन्होंने इसके दो संस्कृत रूप दिए हैं—त्रायी और तायी। त्रायी का अर्थ है—त्राण देने वाला और 'तायी' का अर्थ है—जानने वाला।[1]

देखें—दसवेआलियं, ३/१, टिप्पण पृष्ठ ४७,४८।

श्लोक २ :

३. विचिकित्सा का (वितिगिच्छाए)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—संदेहज्ञान किया है।[2] वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—संशयज्ञान और चित्तविप्लुति।[3]

श्लोक ३ :

४. स्वाख्यात है (सुयक्खायं)

स्वाख्यात अर्थात् वह वचन जो पूर्वापर में अविरुद्ध तथा युक्तियुक्त है। ठाणं (३।५०७) में स्वाख्यात-धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन है। उसके अनुसार—भगवान् महावीर ने तीन प्रकार का धर्म प्ररूपित किया है—सु-अधीत, सु-ध्यात, और सु-तपस्यित (सु-आचरित)।

जब धर्म सु-अधीत होता है तब वह सुध्यात होता है। जब धर्म सु-ध्यात होता है तब वह सु-तपस्यित होता है। सु-अधीत, सु-ध्यात और सु-तपस्यित धर्म स्वाख्यात धर्म है।[4]

५. सत्य (सच्चे)

सत्य का अर्थ है—अवितथ अथवा संयम।

सत्य के तीन प्रकार हैं—तपःसत्य, संयमसत्य और ज्ञानसत्य। सत्य के संयम अर्थ की मीमांसा करते हुए चूर्णिकार कहते हैं—जो यथावादी तथाकारी होते हैं, उनके मूल में संयम होता है। कथनी और करनी की समानता सत्य की सूचक है। कथनी और करनी

---

१ वृत्ति, पत्र २६१ : त्राय्यसौ—त्राणकरणशीलः, यदि वा—अयवयपयमयचयतयणय गतावित्यस्य धातोर्घञ्प्रत्ययः तयनं तायः स विद्यते यस्यासौ—तायी, 'सर्वे गत्यर्था ज्ञानार्था' इति कृत्वा सामान्यस्य परिच्छेदकः।

२. चूर्णि, पृ० २३६ : वितिगिंछा नाम सन्देहज्ञानम्।

३. वृत्ति, पत्र २६१ : विचिकित्सा—चित्तविलुप्तिः संशयज्ञानम्।

४. देखें—ठाणं ३।५०७, टिप्पण पृष्ठ २८२ :

की पूर्ण समानता वीतरागी में घटित होती है। वीतरागी उत्कृष्ट संयमी होते हैं। वे कभी असत्य नहीं बोलते—

'वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते वचः।
यस्मात् तस्माद् वचस्तेषां तथ्यं भूतार्थदर्शनम् ॥'[1]

श्लोक ४ :

६. विरोध न करे (ण विरुज्झेज्जा)

विरोध के दो अर्थ हैं—विग्रह, उपघात।[2]

७. संयमी का (वुसीमतो)

चूर्णिकार ने वृषीमान् का अर्थ तीर्थंकर या साधु[3] तथा वृत्तिकार ने तीर्थंकर और संयम किया है।[4]

देखें—८।२० का टिप्पण।

८. धर्म में (अंसि)

चूर्णिकार ने इसे 'धर्म' के साथ और वृत्तिकार ने प्रधानरूप से जगत् के साथ और गौण रूप से धर्म के साथ जोड़ा है।[5]

९. जीवित भावना (जीवियभावणा)

इसके दो अर्थ हैं—

१. यावज्जीवन तक अपनी आत्मा को पचीस या बारह भावनाओं से भावित करना।[6]

२. जीव को समाधान देने वाली भावनाओं की भावना करना।[7]

श्लोक ५ :

१०. जिसकी आत्मा भावना योग से शुद्ध है (भावणाजोगसुद्धप्पा)

जिन चेष्टाओं और संकल्पों के द्वारा मानसिक विचारों को भावित या वासित किया जाता है, उन्हें 'भावना' कहा जाता है।[8] भावनाएं असंख्य हैं। फिर भी उनके अनेक वर्गीकरण प्राप्त हैं—पांच महाव्रत की पचीस भावनाएं, अनित्य आदि बारह भावनाएं, मैत्री, प्रमोद, कारुण्य, माध्यस्थ आदि चार भावनाए, आदि-आदि।

भावनाओं का महत्त्व बतलाते हुए योगशास्त्र ४।१२२ में कहा है—

आत्मानं भावयन्नाभिर्भावनाभिर्महामतिः।
त्रुटितामपि संधत्ते, विशुद्धध्यानसन्ततिम् ॥

—जो साधक भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करता है वह विच्छिन्न विशुद्ध ध्यान के क्रम को पुनः सांध लेता है।

---

१. चूर्णि, पृ० २३१ : सच्चे······अवितथो। ····· संयमो वा सत्यः। ······तपःसंयमज्ञानसत्येन वा। कस्मात् सत्यं संयमः ? येन यथावादिनः तथाकारिणो भवन्ति यथोद्दिष्टं चास्य सत्यं भवति।

२. चूर्णि, पृ० २३९ : विरोधो विग्रहः तदुपघातो वा।

३. वही, पृ० २३९ : वुसीमांश्च भगवान्···साधुर्वा वुसीमान्।

४. वृत्ति, पत्र २६३ : वुसीमओ त्ति तीर्थंकृतोऽयं सत्संयमवतो वेति।

५. (क) चूर्णि, पृ० २३९ :
(ख) वृत्ति, पत्र २६३।

६. चूर्णि पृ० २३९ : आजीवितादात्मानं भावयति पणवीसाए भावणाहिं बारसहिं वा।

७. वृत्ति, पत्र २६३ : जीवसमाधानकारिणीः सत्संयमाङ्गतया मोक्षकारिणीर्भावयेदिति।

८. पासनाहचरिअं, पृ० ४६० : भाविज्जइ वासिज्जइ जीए जीवो विसुद्धचेट्ठाए सा भावणत्ति वुच्चइ।

विशेष विवरण के लिए देखें—

१. उत्तराध्ययन : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ १३७-१४२।

२. उत्तरज्झयणाणि, भाग २ पृष्ठ २६७-२६८।

चूर्णिकार ने भावना और योग को भिन्न-भिन्न मानकर जिसकी आत्मा भावना और योग से विशुद्ध है उसे 'भावनायोग-शुद्धात्मा' माना है। अथवा भावना और योग में जिसकी आत्मा विशुद्ध है, वह भावनायोगशुद्धात्मा है।[1]

वृत्तिकार ने इसे एक शब्द मानकर व्याख्या की है।[2] जैन-योग की अनेक शाखाएं हैं— दर्शन-योग, ज्ञान-योग, चारित्र-योग, तपो-योग, स्वाध्याय-योग, ध्यान-योग, भावना-योग, स्थान-योग, गमन-योग, और आतापना-योग।

११. जल में नौका की तरह कहा गया है (जले णावा व आहिया)

जैसे जल में चलती हुई या ठहरी हुई नौका नहीं डूबती वैसे ही जिसकी आत्मा भावना-योग से विशुद्ध है वह भी संसार में नहीं डूबता। वह संसार में रहता हुआ भी संसार में लिप्त नहीं होता, नौका की तरह जल से ऊपर रहता है।[3]

१२. (णावा व ....तिउट्टति)

नौका में नाविक है, अनुकूल पवन बह रहा है, किसी भी प्रकार की बाधा नहीं है, वह नौका सहजता से तीर को प्राप्त कर लेती है। वैसे ही विशुद्ध चारित्र वाला यह जीवरूपी पोत, आगमरूपी कर्णधार से अधिष्ठित होकर, तपरूपी पवन से प्रेरित होता हुआ, सर्व दुःखात्मक संसार से पार चला जाता है और समस्त द्वन्द्वों से रहित मोक्षरूपी तीर को पा लेता है।[4]

श्लोक ६ :

१३. पाप कर्म टूट जाते हैं (तुट्टंति पावकम्माणि)

वृत्तिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जिस मुनि ने अपने आस्रवद्वारों को बंद कर दिया है, जो विकृष्ट तप करने में संलग्न है, उसके पूर्वसंचित कर्म टूट जाते हैं और जो नए कर्म नहीं करता, उसके संपूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं।[5]

श्लोक ७ :

१४. कर्म का ..विज्ञाता (या द्रष्टा) है (कम्मं णाम विजाणतो)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—जो कर्म और कर्म-निर्जरण के उपायों को जानता है।[6]

वृत्तिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—

१. नाम का अर्थ है 'नमन' अर्थात् जो कर्म के नाम—निर्जरण को जानता है।

२. जो कर्म और नाम को जानता है। अर्थात् जो कर्म के अवान्तर भेदों—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश को सम्यग् जानता है।

---

१. चूर्णि पृ० २४० : भावनाभियोगेन शुद्ध आत्मा यस्य स भवति भावणाजोगसुद्धप्पा। अथवा भावनासु योगेषु च यस्य शुद्धात्मा।

२. वृत्ति, पत्र २६३ : भावनाभियोगः सम्यक्प्रणिधानलक्षणो भावनायोगस्तेन शुद्ध आत्मा—अन्तरात्मा यस्य स तथा।

३. (क) चूर्णि, पृ० २४० : यथा जलेऽन्तर्नौर्गच्छन्ती तिष्ठन्ती वा न निमज्जति स एवं।

(ख) वृत्ति, पत्र २६३ : स च भावनायोगशुद्धात्मा सन् परित्यक्तसंसारस्वभावो नौरिव जलोपर्यवतिष्ठते, संसारोदन्वत इति; नौरिव—यथा जलेऽनिमज्जनत्वेन प्रख्याता एवमसावपि संसारोदन्वति न निमज्जतीति।

४. (क) चूर्णि, पृ० २४०।

(ख) वृत्ति, पत्र २६३।

५ वृत्ति, पत्र २६३ : निरुद्धाश्रवद्वारस्य विकृष्टतपश्चरणवतः पूर्वसंचितानि कर्माणि त्रुट्यन्ति निवर्तन्ते वा नवं च कर्माकुर्वतोशेषकर्म-क्षयो भवतीति।

६. चूर्णिः पृ० २४० : विजानतो हि कर्म कर्मनिर्जरणोपायांश्च कुतो बन्धः स्यात् ? एवं कर्म तत्फलं संवरं निर्जरोपायांश्च।

३. 'नाम' शब्द का प्रयोग संभावना के अर्थ में है।[1]

इसका वास्तविक अर्थ है कि जो व्यक्ति कर्म का विज्ञाता या द्रष्टा है, (उसके नये कर्म का बंध नहीं होता।)

१५. महावीर्यवान् (महावीरे)

इसका अर्थ है—महावीर्यवान्, महान् पराक्रमशाली, आयतचारित्री, कर्मों को नष्ट करने में समर्थ।[2]

१६. न जन्म लेता है, न मरता है (जे ण जाई ण मिज्जती)

इस चरण का अर्थ है—जो न जन्म लेता है और न मरता है अर्थात् जो जन्म-मरण की परम्परा से सर्वथा छूट जाता है।

वृत्तिकार ने इसका एक वैकल्पिक अर्थ भी किया है—वह प्राणी सदा के लिए मुक्त हो जाता है। फिर उसके लिए 'यह नारक है, यह तिर्यञ्चयोनिक है', इस प्रकार का व्यपदेश नहीं होता, इस प्रकार का भेद नहीं होता।[3]

चूर्णिकार ने 'मज्जती' पाठ मानकर उसका अर्थ डूबना किया है।[4]

श्लोक ६-७ :

१७. श्लोक ६-७ :

भगवान् महावीर की साधना-पद्धति के दो मूल तत्त्व हैं—संवर और निर्जरा—नए कर्मों का बंध न होना और पुराने कर्मों का क्षय होना। निर्जरा संवर के बिना भी हो सकती है, परंतु प्रस्तुत श्लोकों में निर्जरा और संवर का साहचर्य बतलाया गया है। संवरविहीन निर्जरा चित्तशुद्धि का समग्र साधन नहीं बनती। समग्रता के लिए निरोध और क्षय—दोनों का साहचर्य आवश्यक है। आस्रव-निरोध के उपायों के आलंबन से नए कर्मों के द्वार बंद हो जाते हैं। जब नए कर्मों को पोषण नहीं मिलता, नया आहार नहीं मिलता, तब पुराने कर्म अपने आप शिथिल होकर टूट जाते हैं। ज्ञाता और द्रष्टा होना संवर है, नए कर्मों को न करने का उपाय है।

श्लोक ८ :

१८. मरता (मिज्जती)

इसके दो संस्कृत रूपों के आधार पर दो अर्थ किए गए हैं[5]—

१. मीयते—परिच्छेद करना, मापना।

२. म्रियते—मरना।

१९. लोक में प्रिय होने वाली स्त्रियों (कामवासना) का (पिया लोगंसि इत्थिओ)

प्रश्न होता है कि यहां केवल स्त्रियों का ही ग्रहण क्यों किया गया है? वृत्तिकार ने इस प्रश्न के समाधान में अनेक विकल्प प्रस्तुत किए हैं[6]—

१. आस्रवों में स्त्री का प्रसंग प्रधान आश्रव है।

---

१. वृत्ति, पत्र २६४ : नमनं नाम—कर्मनिर्जरणं तच्च सम्यग् जानाति, यदि वा कर्म जानाति तन्नाम च, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्तद्भेदांश्च प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरूपान् सम्यगवबुध्यते, संभावनायां वा नामशब्दः।

२ (क) चूर्णि, पृ० २४० : महावीरे इति आयतचारित्री महावीर्यवान्।

(ख) वृत्ति, पत्र २६४ : महावीरः—कर्मदारणसहिष्णुः।

३. वृत्ति, पत्र २६८ : तत्करोति येन कृतेनास्मिन् संसारोदरे न पुनर्जायते तदभावाच्च नापि म्रियते, यदि वा—जात्या नारकोऽयं तिर्यग्योनिकोऽयमित्येवं न मीयते—न परिच्छिद्यते।

४. चूर्णि, पृ० २४० : मज्जतो संसारोदधौ।

५. वृत्ति, पत्र २६४ : न जात्यादिना 'मीयते'—परिच्छिद्यते, न म्रियते वा।

६. वृत्ति पत्र २६४।

२. कुछ दर्शनों में स्त्री के उपभोग को आश्रवद्वार नहीं माना है, उनके मत का खंडन करने के लिए ।

३. प्रथम और अंतिम तीर्थंकरों को छोड़कर शेष बावीस तीर्थंकरों के तीर्थ में चतुर्याम धर्म का ही प्रचलन रहता है । अंतिम तीर्थंकर के समय में पंचयाम धर्म की स्थापना है—इस तथ्य को अभिव्यक्त करने के लिए ।

४. दूसरे सारे व्रत अपवाद सहित होते हैं, ब्रह्मचर्य व्रत अपवाद रहित होता है, इसे प्रकट करने के लिए ।

५. सभी व्रत समान होते हैं, किसी एक के टूटने पर शेष सभी व्रत टूट जाते हैं, अतः किसी एक व्रत का नामोल्लेख किया गया है ।

श्लोक ९ :

२०. मोक्ष पाने वालों की पहली पंक्ति में है (आदिमोक्खा)

इसका अर्थ है—मोक्ष पाने वालों की पहली पंक्ति में । इसका तात्पर्यार्थ है कि वैसे मनुष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रधान रूप से उद्यम करने वाले हैं । वे पहले मोक्ष जाने वाले हैं ।

चूर्णिकार ने इसका दूसरा अर्थ किया है—वे मुनि आदि, मध्य और अवसान में आयतचारित्रभाव में परिणत होते हैं ।[1]

२१. जीने की इच्छा नहीं करते (णावकंखंति जीवितं)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—वे मनुष्य असंयम जीवन या कषायपूर्ण जीवन जीने की अभिलाषा नहीं करते ।[2] वृत्तिकार ने इसका दूसरा अर्थ भी किया है—वे दीर्घकाल तक जीने की इच्छा नहीं करते ।[3]

श्लोक १० :

२२. कर्मों के सामने खडे हो (कम्मुणा संमुहीभूता)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है—कर्मों को क्षीण करने के लिए उनके सामने खडे हो जाना, न कि पीठ दिखा कर भाग जाना ।[4]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ दूसरे प्रकार से किया है—विशिष्ट अनुष्ठान के द्वारा मोक्ष के अभिमुख होकर ।[5]

२३. अनुशासन करते हैं (अणुसासति)

भगवान् प्राणियों के सर्वहित के लिए मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करते हैं और स्वयं भी उस मार्ग का अनुसरण करते हैं ।[6]

श्लोक ११ :

२४. संयम धन से संपन्न पुरुष (वसुमान)

वसु का सामान्य अर्थ है—धन । मोक्षाभिमुख व्यक्ति का धन होता है—संयम । वसुमान् अर्थात् संयमी ।[7]

---

१. चूर्णि, पृ० २४० : आदिमध्याऽवसानेषु आयतचारित्तभावपरिणताः ।

२. चूर्णि, पृ० २४० : असंजम कसायादिजीवितं ।

३. वृत्ति, पत्र २६५ : नाभिलषन्ति असंयमजीवितम् अपरमपि परिग्रहादिकं नाभिलषन्ते, यदि वा परित्यक्तविषयेच्छाः सदनुष्ठानपरायणा मोक्षैकताना जीवितं'—दीर्घकालजीवितं नाभिकाङ्क्षन्तीति ।

४. चूर्णि, पृ० २४१ : येनासौ कर्मानीकस्य क्षपणाय सम्मुखीभूतः न पराङ्मुखः ।

५. वृत्ति, पत्र २६५ : कर्मणा—विशिष्टानुष्ठानेन मोक्षस्य संमुखीभूता—घातिचतुष्टयक्षयक्रियया उत्पन्नदिव्यज्ञानाः शाश्वतपदस्याभिमुखीभूताः ।

६. (क) चूर्णि, पृ० २४१ : जेणिमं णाण-दंसण-चरित्त-तवसंजुत्तं मग्गमणुसासति अण्णेसिं च कथयति, आत्मानं चानुशासते ।

(ख) वृत्ति, पत्र २६५ : मोक्षमार्गं—ज्ञानदर्शनचारित्ररूपम्, 'अनुशासन्ति'—सत्त्वहिताय प्राणिनां प्रतिपादयन्ति स्वतश्चानुतिष्ठन्तीति ।

७. वृत्ति, पत्र २६५ : वसु—द्रव्यं स च मोक्षं प्रति प्रवृत्तस्य संयम : तद्विद्यते यस्यासौ वसुमान् ।

आचारांग (६/३०) में 'अनुवसु' का प्रयोग हुआ है।

वृत्तिकार शीलांकाचार्य ने वसु का मूल अर्थ वीतराग और 'अनुवसु' का अर्थ सराग-छद्मस्थ किया है। उन्होंने वैकल्पिक रूप से वसु और अनुवसु के तीन-तीन अर्थ किए हैं[1]—

वसु—वीतराग, जिन, संयत।

अनुवसु—छद्मस्थ, स्थविर, श्रावक।

२५. योग्यता के अनुसार (पुढो)

इसके तीन अर्थ हैं—विस्तार से, पृथक्-पृथक् अथवा पुनः पुनः।[2]

२६. अनुशासन (अणुसासणं)

अपने सद्-असद् विवेक से प्राणियों को सन्मार्ग में अवतरित करने के उपाय को अनुशासन कहते हैं।[3]

चूर्णिकार ने इसका अर्थ केवल कथन किया है।[4]

२७. पूजा का आशय नहीं रखते (पूयणासते)

इसमें दो शब्द हैं—पूजा+अनाशय। छन्द की दृष्टि से 'यकार' का ह्रस्व प्रयोग किया गया है। इसमें द्विपदसंधि भी हो सकती है—पूया+अणासते। इसका अर्थ है—पूजा का आशय न रखने वाला।

वृत्तिकार ने इसको 'पूजनास्वादक' मानकर व्याख्या की है।[5]

चूर्णिकार ने 'पूयं णासंसति' पाठ मानकर इसका अर्थ—पूजा की आशंसा—प्रार्थना न करना—किया है।[6]

प्रस्तुत श्लोक के प्रथम दो चरणों का अर्थ चूर्णिकार और वृत्तिकार ने सर्वथा भिन्न प्रकार से किया है।

चूर्णिकार के अनुसार—

संयमी पुरुष प्राणियों को धर्म की ओर अग्रसर करने के लिए विस्तार से या बार-बार अनुशासन करते हैं, किन्तु पूजा की वांछा नहीं करते।[7]

वृत्तिकार के अनुसार—

संयमी पुरुष प्राणियों को सन्मार्ग की ओर उन्मुख करने के लिए पृथक् पृथक् रूप से अनुशासन करते हैं। वे देवादिकृत पूजा—अतिशयों का उपभोग करते हैं।[8]

यथार्थ में चूर्णिकार का अर्थ ही उचित लगता है। यद्यपि वृत्तिकार ने अपनी भावना को स्पष्ट करने के लिए स्वयं एक प्रश्न उपस्थित किया है कि देवादिकृत समवसरण आदि तीर्थंकरों के लिए ही बनाए जाते हैं। वे आधाकर्म दोषयुक्त होते हैं। उनका उपभोग

---

१. आचारांग वृत्ति, पत्र २१७ : वसु—द्रव्यं तद्भूतः कषायकालिकाविमलापगमाद्वीतराग इत्यर्थः, तद्विपर्ययेणानुवसु, सराग इत्यर्थः,
यदि वा वसुः—साधुः अनुवसुः-श्रावकः, तदुक्तम्—
वीतरागो वसुर्ज्ञेयो, जिनो वा संयतोऽथवा।
सरागो ह्यनुवसुः प्रोक्तः, स्थविरः श्रावकोऽपि वा॥

२. (क) चूर्णि, पृ० २४१।
(ख) वृत्ति, पत्र २६५।

३. वृत्ति, पत्र २६५ : अनुशास्यन्ते—सन्मार्गेऽवतार्यन्ते सदसद्विवेकतः प्राणिनो येन तदनुशासनम्।

४. चूर्णि, पृ० २४१ : अनुशासन्तो कथेंतो।

५. वृत्ति, पत्र २६५ : पूजनं—देवादिकृतमशोकादिकमास्वादयति—उपभुंक्त इति पूजनास्वादकः।

६. चूर्णि, पृ० २४१ : पूयं णाऽऽसंसति, ण पत्थेति।

७. चूर्णि, पृ० २४१।

८. वृत्ति, पत्र २६५।

करने वाले सत्संयमी कैसे हो सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में अगले (तीसरे) चरण में आए हुए 'अणासते' (सं० अनाशय) की व्याख्या करते हुए कहते हैं— उनमें पूजा-प्राप्ति का आशय ही नहीं होता अथवा द्रव्यतः पूजा का आशय होने पर भी समवसरणादि के उपभोग में वे भावतः अनास्वादक ही होते हैं, क्योंकि उनमें गृद्धि नहीं होती।

इसी प्रकार प्रस्तुत श्लोक के तीसरे-चौथे चरण में प्रयुक्त 'पांच' शब्दों को वृत्तिकार एक-दूसरे से संबद्ध कर, अनुलोम और प्रतिलोम विधि से व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। वह इस प्रकार है—

१. तीर्थंकर द्रव्यतः समवसरण आदि का उपभोग करते हैं किन्तु भावतः उनमें उन पूजा-स्थानों के उपभोग की आशंसा नहीं रहती, क्योंकि वे गृद्धि से उपरत होते हैं। संयमपरायण होने के कारण वे उन वस्तुओं का उपभोग करते हुए भी 'यतनावान्' हैं, क्योंकि वे इन्द्रियों और नो-इन्द्रिय से दान्त होते हैं। यह जितेन्द्रियता संयम की दृढता से उत्पन्न होती है। वे मैथुन से सर्वथा उपरत होते हैं। यह संयम का ही फलित है।

२. तीर्थंकर में 'काम' का अभाव होता है इसलिए वे संयम में दृढ होते है। विशुद्ध चारित्र के पालन से वे दान्त होते हैं। इन्द्रिय और नो-इन्द्रिय के दमन से वे 'प्रयत' होते हैं। यतनावान् होने के कारण वे देवादि की पूजा के अनास्वादक होते हैं और अनास्वादक होने के कारण ही द्रव्यतः वस्तुओं का उपभोग करते हुए भी सत्संयमवान् होते हैं।[1]

श्लोक १२ :

२८. जिसके स्रोत छिन्न हो चुके हैं (छिण्णसोते)

स्रोत दो प्रकार के हैं—इन्द्रियों के विषय प्राणातिपात आदि आस्रवद्वार तथा राग-द्वेष आदि। ये जन्म-मरण के मूल हेतु हैं। जिस पुरुष के ये स्रोत छिन्न हो जाते हैं, नष्ट हो जाते हैं, वह छिन्न-स्रोत हो जाता है।[2]

२९. जो निर्मल चित्त वाला है (अणाइले)

अनाविल का अर्थ है—निर्मल चित्त वाला। जिसका चित्त अकलुष तथा राग-द्वेष से मलिन नहीं होता वह अनाविल होता है। वैकल्पिक रूप से 'अणाउले' पाठ मानकर अनाकुल का अर्थ विषयों में अप्रवृत्त स्वस्थ चित्त वाला व्यक्ति किया है।[3]

३०. प्रलोभन के स्थान में लिप्त न हो (णीवारे व ण लीएज्जा)

इसका अर्थ है—मुनि प्रलोभन के स्थान में लिप्त न हो।

नीवार सूअर आदि प्राणियों का प्रिय भोजन है। इसका प्रलोभन देकर मनुष्य सूअर आदि को वध-स्थान में ले जाते हैं। सूअर नीवार में लिप्त हो जाता है। वध-स्थान में उसे नाना प्रकार की यातनाएं दी जाती हैं और अन्ततः उसे मार दिया जाता है।

वृत्तिकार के अनुसार स्त्री-प्रसंग (मैथुन) नीवार के समान है। मनुष्य अब्रह्मचर्य के वशीभूत होकर अनेक प्रकार की यातनाएं पाता है। इसलिए वह इस प्रलोभन के स्थान में लीन न हो, लिप्त न हो।[4]

---

१. वृत्ति, प० २६६ : यदि वा द्रव्यतो विद्यमानेऽपि समवसरणादिके भावतोऽनास्वादकोऽसौ, तद्गतगार्ध्याभावात्, सत्यप्युपभोगे 'यतः'—प्रयतः सत्संयमवानेवासावेकान्तेन संयमपरायणत्वात्, कुतो ?, यतः इन्द्रिय नोइन्द्रियाभ्यां दान्तः, एतद्गुणोऽपि कथमित्याह दृढः संयमे, आरतम्—उपरतमपगतं मैथुनं यस्य स आरतमैथुनः—अपगतेच्छामदनकामः, इच्छामदनकामाभावाच्च संयमे दृढोऽसौ भवति, आयतचारित्रत्वाच्च दान्तोऽसौ भवति, इन्द्रियनोइन्द्रियमदमाच्च प्रयतः, प्रयत्नवत्त्वाच्च देवादिपूजनानास्वादकः, तदनास्वादनाच्च सत्यपि द्रव्यतः परिभोगे सत्संयमवानेवासाविति।

२. (क) चूर्णि, पृ० २४१ : सोतं प्राणातिपातादि [इ] न्द्रियाणि वा।
(ख) वृत्ति, प० २६६ : छिन्नानि—अपनीतानि स्रोतांसि—संसारावतरणद्वाराणि यथाविषयमिन्द्रियप्रवर्त्तनानि प्राणातिपातादीनि वा आश्रवद्वाराणि येन स छिन्नस्रोताः।

३. वृत्ति, प० २६६ : अनाविलः—अकलुषो रागद्वेषासंपृक्ततया मलरहितोऽनाकुलो वा—विषयाप्रवृत्तेः स्वस्थचेता एवंभूतश्चानाविलोऽनाकुलो वा।

४. वृत्ति, प० २६६ : नीवारः—सूकरादीनां पशूनां वध्यस्थानप्रवेशनभूतो भक्ष्यविशेषस्तत्कल्पमेतन्मैथुनं, यथा हि असौ पशुर्नीवारेण प्रलोभ्य वध्यस्थानमभिनीय नानाप्रकारा वेदनाः प्राप्यते, एवमसावप्यसुमान् नीवारकल्पेनानेन स्त्रीप्रसङ्गेन वशीकृतो बहुप्रकारा यातनाः प्राप्नोति, अतो नीवारप्रायमेतन्मैथुनमवगम्य स तस्मिन् ज्ञाततत्त्वो 'न लीयेत' न स्त्रीप्रसङ्गं कुर्यात्।

३१. संधि (ज्ञान आदि) को (संधिं)

चूर्णि के अनुसार संधि का अर्थ है— संधान। उसमें भाव संधि के तीन उदाहरण दिए हैं— मनुष्यता, कर्म संधि, अर्थात् कर्म का विवर तथा ज्ञान आदि।[1]

वृत्तिकार ने केवल कर्म-विवर रूपी संधि को ही भाव-संधि माना है।[2]

श्लोक १३ :

३२. अनुपम सन्धि को (अणेलिसस्स)

पूर्व श्लोक के अनुसार इसका अर्थ है— अनुपमसंधि। वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—संयम, मुनि-धर्म या अर्हत् धर्म।[3]

३३. जाननेवाला (खेयण्णे)

इसके अनेक अर्थ हैं—आत्मज्ञ, निपुण[4], ज्ञाता[5] आदि।

३४. चक्षुष्मान् पुरुष (चक्खुम)

चक्षुष्मान् वही होता है जो प्रशान्त चित्त वाला, हितमितभाषी और संयमित प्रवृत्ति करने वाला होता है।[6]

श्लोक १४ :

३५. श्लोक १४ :

प्रस्तुत श्लोक का भावार्थ यह है—

वही व्यक्ति भव्य मनुष्यों के लिए चक्षुर्भूत होता है जो अपनी विषय-तृष्णा, भोगेच्छा के पर्यन्त में रहता है।

प्रश्न होता है कि क्या अन्त में रहने वाला अपने प्रयोजन को सिद्ध कर लेता है ?

इसका उत्तर श्लोक के उत्तरार्द्ध में है। कहा गया है कि हां, अंत से चलने वाला अपने प्रयोजन को सिद्ध कर लेता है। जैसे उस्तरा अन्त (धार) से चलता है और गाड़ी का चक्का भी अन्त (छोर) से चलता है। वे दोनों अन्त से चलते हुए अपने कार्य को सिद्ध कर लेते हैं।[7]

क्षुर के प्रसंग में 'अंत' का अर्थ है—धार और चक्र के प्रसंग में 'अंत' का अर्थ है—छोर।[8]

जैसे क्षुर और चक्र का 'अन्त' ही अर्थकारी होता है, प्रयोजनीय होता है, वैसे ही विषय—कषायात्मक मोहनीय कर्म का अन्त (नाश) ही संसार का क्षयकारी होता है।[9]

---

१. चूर्णि, पृ० २४१ : सन्धानः सन्धिः भावसन्धिर्मानुष्यम् कर्मसन्धिः कर्मविवरः ज्ञानादीनि च भावसन्धिः।

२. वृत्ति, प० २६६ : कर्मविवरलक्षणं भावसंधिम्।

३. वृत्ति, प० २६६ : अनन्यसदृशः संयमो मौनीन्द्रधर्मो वा।

४. वृत्ति, प० २६६ : खेदज्ञो—निपुणः।

५. चूर्णि, पृ० २४१ : खेतण्णे जाणगे।

६. वृत्ति, प० २६६।

७. (क) चूर्णि, पृ० २४१।
   (ख) वृत्ति, पत्र २६६।

८. (क) चूर्णि, पृ० २४१ : अन्तेनेति धारया।······चक्रमप्यन्तेन।
   (ख) वृत्ति, पत्र २६६ : 'अन्तेन'—पर्यन्तेन 'क्षुरो'—नापितोपकरणं तदन्तेन वहति, तथा चक्रमपि रथाङ्गमन्तेनैव मार्गे प्रवर्तते।

९. वृत्ति, पत्र २६६ : इदमुक्तं भवति—यथा क्षुरादीनां पर्यन्त एवार्थक्रियाकारी एवं विषयकषायात्मकमोहनीयान्त एवापसदसंसार-क्षयकारीति।

श्लोक १५ :

३६. अन्त का (अंताणि)

चूर्णिकार ने इसके अनेक अर्थ किए हैं—[1]

१. निवास के लिए आराम, उद्यान आदि।

२. भोजन के लिए अन्त-प्रान्त आहार।

३. कर्म और आस्रवों का अन्त अर्थात् उनमें वर्तन न करना।

इसका तात्पर्य यह है कि जो मुनि विषय-कषाय और तृष्णा के परिकर्म के लिए आराम-उद्यान आदि में निवास करता है, अन्त-प्रान्त आहार लेता है वह 'अन्त' का सेवन करने वाला होता है।[2]

३७. इसलिए वे धर्म के शिखर पर पहुंच जाते हैं (तेण अंतकरा इह)

इसलिए वे (धीर पुरुष) धर्म के शिखर पर पहुंच जाते हैं—यह चूर्णिकार के अनुसार व्याख्या है।[3]

वृत्तिकार ने इसका सर्वथा भिन्न अर्थ किया है—अन्त-प्रान्त के अभ्यास से वे (धीर पुरुष) यहां संसार का या उसके कारणभूत कर्म का अन्त कर देते हैं।[4]

चूर्णिकार का अर्थ ही उचित प्रतीत होता है।

३८. मानव जीवन में (माणुस्सए ठाणे)

चूर्णिकार ने इसका अर्थ—मनुष्य जीवन में किया है। उन्होंने वैकल्पिक रूप में 'स्थान' शब्द से कर्मभूमि, गर्भव्युत्क्रान्ति और संख्येय वर्ष का आयुष्य ग्रहण किया है।[5]

वृत्तिकार ने 'णरा' की व्याख्या में कर्मभूमि आदि का ग्रहण किया है।[6]

श्लोक १६ :

३९. मुक्त होते हैं (णिट्ठितट्ठा)

जिनके ज्ञान आदि अर्थ पूर्ण हो जाते हैं, वे निष्ठितार्थ कहलाते हैं। इसका तात्पर्य है—वे मनुष्य जो मुक्त हो गए हैं, कृतकृत्य हो गए हैं।[7]

४०. अनुत्तर देवलोकों में (उत्तरीए)

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—[8]

१. सौधर्म, ईशान आदि देवलोकों में तथा अनुत्तर विमानों में उत्पन्न होना।

२. इन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशक आदि उत्तरीय—ऊंचे स्थानों में उत्पन्न होना।

---

१. चूर्णि, पृ० २४२ : अंताइं आरामोद्यानानि वसत्यर्थम्, अन्तप्रान्त-भूतानि आहारार्थम् कर्माश्रवांश्च न सेवन्ते, न तेषु वर्तन्ते इत्यर्थः।

२. वृत्ति, पत्र २६६, २६७ : 'अन्तान्'—पर्यन्तान् विषयकषायातृष्णायास्तत्परिकर्मणार्थमुद्यानादीनामाहारस्य वाऽन्तप्रान्तादीनि।

३. चूर्णि, पृ० २४२ : तेनैव प्रान्तसेवित्वेनाऽऽयतचारित्रकर्माऽन्तकरा भवन्ति इह धर्मे।

४. वृत्ति, पत्र २६७ : तेन चान्तप्रान्ताभ्यसनेन 'अन्तकराः'—संसारस्य तत्कारणस्य वा कर्मणः क्षयकारिणो भवन्ति।

५ चूर्णि, पृ० २४२ : इह माणुस्सए ठाणे मनुष्यभवे, अथवा स्थाने ग्रहणात् कर्मभूमिः गब्भवक्कंतियसंखेज्जवासाउयसं च गृह्यते।

६. वृत्ति, पत्र २६७ : 'नराः' मनुष्या कर्मभूमिगर्भव्युत्क्रान्तिजसंख्येयवर्षायुषः।

७. (क) चूर्णि पृ० २४२ : णिट्ठितट्ठा निष्ठानं च येषां ज्ञानादयोऽर्थाः गतास्ते भवन्ति णिट्ठितट्ठा, सिद्ध्यन्त इति।

(ख) वृत्ति, पत्र २६७ : निष्ठितार्थाः—कृतकृत्या भवन्ति।

८. चूर्णि, पृ० २४२ : उत्तरीयं ति अणुत्तरोववाविया (दि) कप्पेसु वा उववज्जमाणा इन्द्र-सामानिक-त्रायस्त्रिंशकादिषूत्तरीकेषु स्थानेषूपपद्यन्ते, नाऽऽभियोग्या इत्यर्थः।

वृत्तिकार ने इसका सर्वथा भिन्न अर्थ किया है। उन्होंने 'उत्तरीए' का संबंध 'देवा' से न मानकर स्वतंत्र रखा है। उनके अनुसार भी इसके दो अर्थ हैं—[1]

१. लोकोत्तर प्रवचन।

२. लोकोत्तर भगवान् महावीर।

प्रसंग की दृष्टि से इसका संबंध 'देवा' शब्द से है और इसका अर्थ होना चाहिए—वैमानिक देव।

वृत्तिकार ने यह अर्थ 'देवा' शब्द की व्याख्या में भी दिया है।[2]

४१. (णिट्ठितट्ठा......सुतं)

प्रस्तुत श्लोक (१६) के प्रथम दो चरणों की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है—

१. आर्य सुधर्मा ने जंबू से कहा—कुछ मनुष्य धर्म की आराधना कर मुक्त हो जाते हैं या वैमानिक देवलोक में देवरूप में उत्पन्न होते हैं—यह मैंने तीर्थंकर से सुना है।

२. आर्य सुधर्मा ने जंबू से कहा—कुछ मनुष्य धर्म की आराधना कर मुक्त हो जाते हैं या इंद्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंशक आदि ऊंचे पद पर देव होते हैं—यह मैंने तीर्थंकर से सुना है।[3]

३. लोकोत्तरीय प्रवचन में आगमभूत सुधर्मा ने जंबू से कहा—मैंने लोकोत्तरीय भगवान् से यह बोध प्राप्त किया है कि धर्म की आराधना कर कुछ मनुष्य सिद्ध हो जाते हैं और कुछ वैमानिक देव।[4]

४२. श्लोक १६

बौद्ध-मत के अनुसार राग तीन प्रकार का होता है—कामराग, रूपराग और अरूपराग। जो इन तीनों का सर्वथा नाश कर देता है वह अर्हद् पद प्राप्त कर निर्वाण को प्राप्त हो जाता है। जो साधक केवल कामराग को ही नष्ट कर पाता है, उसके रागांश शेप रह जाता है। वह यहां से मरकर देवगति में जाता है। यहां से च्युत होकर वह निर्वाण प्राप्त कर लेता है, पुनः मनुष्य-भव में नहीं आता। वे देव 'अनागामी' कहलाते हैं।[5]

सूत्रकार ने इस मत का खंडन 'णो तहा' इन दो शब्दों से किया है। उनका प्रतिपाद्य है—देव (या अन्य गति वाले प्राणी) मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते, मनुष्य ही निर्वाण को प्राप्त कर सकता है।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने भी बौद्ध मान्यता को उद्धृत करते हुए उसका खंडन किया है।[6]

श्लोक १७ :

४३. श्लोक १७ :

प्रस्तुत श्लोक में पूर्ववर्ती श्लोक में प्रतिपादित सिद्धान्त की पुष्टि की गई है। मनुष्य जीवन में ही निर्वाण हो सकता है, दुःखों या कर्मों का अन्त हो सकता है। यह तीर्थंकर-सम्मत सिद्धान्त है। चूर्णिकार ने लिखा है—इस सिद्धान्त को सब दार्शनिक स्वीकार नहीं करते। कुछ दार्शनिक अर्थात् हम इसे स्वीकार करते हैं। इसका कारण यह है कि मनुष्य शरीर दुर्लभ है। इस शरीर में जैसा

---

१ वृत्ति, पत्र २६७ : ..... एतल्लोकोत्तरीये प्रवचने..... लोकोत्तरीये भगवत्यर्हति।

२. वृत्ति, पत्र २६७।

३. चूर्णि, पृ० २४२ : ......अज्जसुहम्मो जंबुं भणति—इति मया सुयं तित्थगरसगासातो, न स्वेच्छयोच्यते।

४. वृत्ति, पत्र २६७ : लोकोत्तरीये प्रवचने श्रुतम्—आगमः एवंभूतः सुधर्मस्वामी वा जम्बूस्वामिनमुद्दिश्यैवमाह—यथा मयैतल्लोकोत्तरीये भगवत्यर्हत्युपलब्धं, तद्यथा—अवाप्तसम्यक्त्वादिसामग्रीकः सिध्यति वैमानिको वा भवतीति।

५. अंगुत्तरनिकाय २/२१५, अभिधम्मत्थसंगहो, नवनीत टीका, पृ० १७७ : अनागामिमग्गं भावेत्वा कामरागब्यापादानं अनवसेसप्पहानेन अनागामी नाम होति, अवगन्ता इत्थत्तं।

६. (क) चूर्णि, पृ० २४२ : शाक्या वा ब्रुवन्ति—'अनागामिनो देवा भवन्ति, ते हि देवा नान्तं (? देवा अनागत्यान्तं) कुर्वन्ति।

(ख) वृत्ति, पत्र २६७ : एतेन शाक्याद्यैरभिहितं, तद्यथा—देव एवाशेषकर्मप्रहाणं कृत्वा मोक्षभाग्भवति, तदपास्तं भवति।

नाड़ी-संस्थान विकसित है वैसा अन्य शरीरों में नहीं है। इस शरीर में ज्ञान, दर्शन और चारित्र का जैसा विकास किया जा सकता है वैसा अन्य शरीरों में नहीं किया जा सकता।

प्रस्तुत श्लोक में शरीर के लिए 'समुच्छ्रय' (समुस्सय) शब्द का चुनाव बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसका अर्थ ही उन्नयन या उर्ध्वगमन है।[1]

श्लोक १८ :

४४. श्लोक १८

जो मनुष्य इस शरीर में संबोधि का प्रयत्न नहीं करता, इस महान् क्षमता वाले शरीर को व्यर्थ ही गंवा देता हैं, वह फिर अन्यान्य शरीरों में संबोधि को प्राप्त नहीं हो सकता। मनुष्य जैसे शरीर और लेश्या वाले व्यक्तित्व का योग बहुत दुर्लभ है। धर्म का व्याकरण मनुष्य शरीरधारी या मनुष्य शरीर के उपयुक्त लेश्या वाला व्यक्ति ही कर सकता है।

चूर्णिकार ने अर्चा का अर्थ लेश्या किया है[2] और वृत्तिकार ने उसके लेश्या और शरीर दोनों अर्थ किए हैं।[3]

श्लोक १९ :

४५. श्लोक १९

चूर्णिकार ने प्रतिपूर्ण का अर्थ यथाख्यातचारित्र[4]—वीतराग चेतना का अनुभव किया है। धर्म-साधना की उत्कृष्ट भूमिका वीतरागदशा है। वह राग-द्वेषात्मक दशा से सर्वथा भिन्न हैं। इसीलिए उसे अनीदृश—असाधारण कहा गया है। वीतरागी व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है, इसलिए उसका पुनर्जन्म नहीं होता।

प्रस्तुत श्लोक में विशुद्ध या अलौकिक धर्म की परिभाषा, उसके स्वरूप और परिणाम की चर्चा की गई है।

श्लोक २०

४६. तथागत (तीर्थंकर) (तथागता)

तथागत का अर्थ है—वीतराग। वीतराग यथावादी तथाकारी होता है। जो अवस्था जिस रूप में घटित होती है, वह उसे उसी रूप में स्वीकार कर लेता है। यथाख्यात चारित्र को प्राप्त होने वाला व्यक्ति तथागत ही होता है। वह प्रिय और अप्रिय संवेदनों से ऊपर उठकर केवल तथात्व, तथाता या वीतराग-चेतना के अनुभव में ही रहता है।

चूर्णिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—(१) यथाख्यात अवस्था को प्राप्त (२) निर्वाण को प्राप्त।[5] तथागत का तात्पर्यार्थ है—तीर्थंकर, केवली, गणधर आदि।[6]

श्लोक २१ :

४७. सर्वश्रेष्ठ स्थान का (अणुत्तरे य ठाणे)

चूर्णिकार ने स्थान का अर्थ—आयतन किया है। इसका तात्पर्य है—चरित्र-स्थान।[7]

ज्ञान, दर्शन और चारित्र के अनेक या असंख्य स्थान होते हैं। यहां चरित्र के अनुसार स्थान का उल्लेख किया गया है।

---

१ (क) चूर्णि, पृ० २४२ : समुच्छ्रीयते इति समुच्छ्रयः शरीरम्, समुच्छ्रितानि वा ज्ञानादीनि।
(ख) वृत्ति, पत्र २६७।

२ चूर्णि, पृ० २४२ : अर्चा लेश्या।

३. वृत्ति, पत्र २६७ : अर्चा—लेश्याऽन्तःकरणपरिणतिः ··· यदि वाऽर्चा—मनुष्यशरीरं।

४ चूर्णि, पृ० २४३ : पडिपुण्णं नाम सर्वतो विरतं पडिपुण्णं आहाख्यातं चारित्रम्।

५. चूर्णि, पृ० २४३ : तथागता अथाख्यातीभूता मोक्षगता वा।

६. वही, पृ० २४३ : च ग्रहणात् केवलिनो गणधराश्च।

७. चूर्णि, पृ० २४३ : ठाणं आयतनं चरित्तठाणं।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ संयम-स्थान किया है।[1]

४८. उपशान्त हो (णिव्वुडा)

चूर्णिकार के अनुसार निर्वृत का अर्थ है—उपशान्त।[2]

वृत्तिकार ने इसका अर्थ—निर्वाण प्राप्त—किया है।[3]

४९. निष्ठा (मोक्ष) को (णिट्ठं)

निष्ठा का अर्थ है—पर्यवसान, संपन्न होना। इसका तात्पर्य है—मोक्ष।[4]

श्लोक २२ :

५०. पंडित पुरुष कर्मक्षय के लिए प्रवर्तक वीर्य को (पंडिए वीरियं)

यहां 'पंडियं वीरियं' पाठ होना चाहिए। चूर्णि में 'पंडियं वीरियं'—यह व्याख्यात है 'पंडियवीरियं'—संजमवीरियं तपोवीरियं च।[5] पूर्वकृतकर्म का क्षय और नवकर्म का अकरण—निर्जरा और संवर का मुख्य साधन पंडितवीर्य है। तेवीसवें श्लोक में आए हुए 'महावीर' शब्द का संबंध भी इस पंडितवीर्य से है। पंडितवीर्य से संपन्न व्यक्ति ही महावीर होता है।

५१. निर्जरा करता है (धुणे)

इसका संस्कृत रूप 'धुनीयात्' हो सकता है। अर्थ-विचारणा की दृष्टि से यदि 'धुनाति' मानें तो यहां एक पद में संधि हुई है—धुण+इ। यह प्राकृत नियम के अनुसार माना जा सकता है।

श्लोक २३ :

५२. महावीर (महावीर्यवान्) पुरुष (महावीरे)

जो महान् वीर्य से संपन्न होता है वह महावीर कहलाता है।

चूर्णिकार ने महावीर का अर्थ ज्ञानवीर्य से सम्पन्न पुरुष किया है।[6]

वृत्तिकार ने महावीर का अर्थ—कर्मक्षय करने में समर्थ व्यक्ति किया है।[7] किन्तु प्रकरण के अनुसार 'महावीर' का अर्थ संयमवीर्य और तपोवीर्य से संपन्न व्यक्ति होना चाहिए। पूर्व श्लोक में बतलाया गया है कि संयमवीर्य के द्वारा नए कर्मबंध का निरोध होता है और तपोवीर्य के द्वारा पूर्वकृत कर्म का क्षय होता है। प्रस्तुत श्लोक का प्रतिपाद्य है कि महावीर पुरुष कर्मबन्ध के हेतुओं को क्षीण या उपशांत कर नए कर्म का वन्ध नहीं करता और आत्माभिमुखी होकर तपस्या के द्वारा पूर्वकृत कर्म को क्षीण कर देता है।

५३. कर्म परम्परा में होने वाले (अणुपुव्वकडं)

अनुपूर्व का अर्थ—कर्म, हेतु या कारण है। पूर्व का अर्थ भी कर्म, हेतु या कारण होता है। पूर्ववर्ती श्लोक में 'पूर्वकृत' और प्रस्तुत श्लोक में अनुपूर्वकृत शब्द का प्रयोग किया गया है। कर्म या हेतु विद्यमान रहता है। उसके कारण निरन्तर नए-नए कर्मों का आस्रवण होता रहता है।[8]

---

१. वृत्ति, पत्र २६८ : स्थानं तच्च तत्संयमाख्यम्।
२. चूर्णि, पृ० २४३ : णिव्वुता उवसंता।
३. वृत्ति, पत्र २६८ : निर्वृताः निर्वाणमनुप्राप्ताः।
४. वृत्ति, पत्र २६८ : निष्ठां पर्यवसानम्।
५. चूर्णि, पृ० २४३।
६. चूर्णि, पृ० २४३ : णाणवीरियसंपण्णो।
७. वृत्ति, पत्र २६९ : महावीरः—कर्मविदारणसहिष्णुः।
८. चूर्णि, पृ० २४३ : अणुपुव्वकडं णाम मिच्छत्तादीहिं कम्महेतूहिं

श्लोक २४ :

५४. मत (मतं)

चूर्णि के अनुसार 'मत' का अर्थ है—निर्ग्रन्थ-प्रवचन ।[1] वृत्तिकार ने इसका अर्थ संयम-स्थान किया है ।[2] आवश्यक-सूत्र में निर्ग्रन्थ-प्रवचन का 'सल्लगत्तणं' विशेषण मिलता है और प्रस्तुत श्लोक में वह 'मत' का विशेषण है ।

---

१. चूर्णि, पृ० २४४ : सर्वसाधुमतं तदिदमेव णिग्गंथं पावयणं ।
२. वृत्ति, पत्र २६६ : मतम्······तदेतत्सत्संयमस्थानम् ।

सोलसमं अज्झयणं

गाहा

सोलहवां अध्ययन

गाथा

आमुख

प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'गाथा' है। निर्युक्ति में इसका नाम 'गाथा षोडश' है। यह सोलहवां अध्ययन है, इसलिए इसका नाम 'गाथा षोडश' है।[1] चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसी नाम का अनुसरण किया है।[2] आवश्यक[3] और उत्तराध्ययन सूत्र[4] में 'गाथा षोडशक' का प्रयोग सोलह अध्ययन वाले प्रथम श्रुतस्कंध के लिए किया गया है।

प्रस्तुत आगम के दो श्रुतस्कंध हैं। पहले श्रुतस्कंध का नाम 'गाथा षोडशक' है।[5] यह नाम भी सोलहवें अध्ययन के आधार पर हुआ है। इस दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन का नाम 'गाथा' इतना ही पर्याप्त लगता है।

निर्युक्तिकार ने 'गाथा' शब्द के निक्षेप बतलाए हैं। उनमें 'द्रव्यगाथा' और 'भावगाथा' दो निक्षेप मननीय हैं। पत्र और पुस्तक में लिखित गाथा 'द्रव्यगाथा' कहलाती है और हमारी चेतना में अंकित गाथा 'भावगाथा' कहलाती है।[6]

निर्युक्ति में 'गाथा' के अर्थ-पर्याय और निरुक्त निर्दिष्ट हैं[7]—

१. जिसका उच्चारण श्रुतिपेशल—सुनने में मधुर होता है, जो गाई जाती है, वह गाथा है।

२. प्रस्तुत अध्ययन में अर्थ का ग्रथन या गुम्फन किया गया है। इसलिए इसका नाम 'गाथा' है।

३. यह सामुद्रक छन्द में गुम्फित है, इसलिये इसका नाम गाथा है।[8]

४. पूर्ववर्ती पन्द्रह अध्ययनों में प्रतिपादित अर्थ पिण्डितरूप में प्रस्तुत अध्ययन में गुम्फित है, इसलिये इसका नाम गाथा है।

प्रस्तुत अध्ययन में पहले के पन्द्रह अध्ययनों का सार-संक्षेप संगृहीत हैं। पूर्ववर्ती अध्ययनों में विधि और निषेध के द्वारा जिन-जिन आचरणों की ओर निर्देश किया गया है, उनका सम्यग् पालन करने वाला मुनि मुमुक्षु और मोक्षमार्ग का अधिकारी होता है। इस अध्ययन में माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ का स्वरूप निर्दिष्ट है। ये चारों शब्द भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के सूचक भी हैं और एकार्थक भी हैं। इनके स्वरूपगत गुणों का निर्देश पूर्ववर्ती पन्द्रह अध्ययनों में प्राप्त है। वहां उनका विस्तार से कथन हुआ है और यहां उन सब गुणों को पिण्डित कर—संक्षिप्त कर कहा गया है। चूर्णिकार और वृत्तिकार के अनुसार अध्ययनों के क्रम से उनका वर्णन या उनकी संकलिका इस प्रकार है[9]—

---

१ निर्युक्ति गाथा १३४ : गाधासोलस णामं अज्झयणमिणं ववदिसंति।

२. (क) चूर्णि, पृ० २४५ : गाहासोलसमं अज्झयणं समत्तं।
   (ख) वृत्ति, पत्र २७० : गाथाषोडशकमिति नाम।

३. आवश्यक, ४।

४. उत्तरज्झयणाणि ३१।१३ : गाहासोलसएहिं ·········।

५. चूर्णि, पृ० १५ : तत्थ पढमो सुतखंधो (गाधा) सोलसगो।

६. निर्युक्ति गाथा १३०, १३१ : ······पत्तय-पोत्थयनिहिता, होति इमा दव्वगाधा तु॥
होति पुण भावगाधा, सागारुवयोगभावणिप्फण्णा।

७. निर्युक्ति गाथा १३१, १३२, १३४ : मधुराभिधाणजुत्ता, तेण य गाहं ति णं बेंति॥
गाधीकता य अत्था, अधवा सामुद्दएण छंदेण।
एएण होती गाधा, एसो अण्णो वि पज्जाओ॥
पण्णरससु अज्झयणेसु, पिंडितत्थेसु जे अवितहं ति।
पिंडितवयणेणऽत्थं, गहेति जम्हा ततो गाधा॥

८. वृत्ति, पत्र २७१ : सामुद्रेण छन्दसा या निबद्धा सा गाथेत्युच्यते। तच्चेदं छन्दः—अनिबद्धं च यल्लोके, गाथेति प्रोक्तम्।

९. (क) चूर्णि, पृ० २४६ :
   (ख) वृत्ति, पत्र २६९, २७०।

१. स्वसमय और परसमय का परिज्ञान करने से मुनि सम्यक्त्व में स्थिर होता है।

२. ज्ञान कर्मक्षय का कारण है। आठों कर्मों के क्षय के लिये प्रयत्न करने वाला मुनि होता है।

३. अनुकूल और प्रतिकूल उपसर्गों को समभाव से सहनेवाला साधु होता है।

४. विश्व में स्त्री परीसह दुर्जेय है। जो इसको जीत लेता है वह मुनि होता है।

५. नारकीय वेदनाओं को जानकर जो उनसे उद्विग्न होता है, नरक-योग्य कर्म से विरत होता है, वह श्रामण्य में स्थित होता है।

६. चार ज्ञान से संपन्न भगवान् महावीर ने भी इस कर्मक्षय के लिये संयम का सहारा लिया था, वैसे ही छद्मस्थ मुनि को भी संयम के प्रति उद्यमशील रहना चाहिये।

७. कुशील व्यक्ति के दोषों को जानकर मुनि सुशील के प्रति स्थिर रहे।

८. बालवीर्य का प्रतिहार कर, पंडितवीर्य के प्रति उद्यमशील रहकर, सदा मोक्ष की अभिलाषा करनी चाहिये।

९. क्षांति, मुक्ति आदि धर्मों का आचरण कर मुनि मुक्त हो जाता है।

१०. संपूर्ण समाधि से युक्त मुनि सुगति को प्राप्त करता है।

११. मोक्षमार्ग के तीन साधन हैं—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र। तीनों की आराधना करनेवाला मुनि समस्त क्लेशों से मुक्त हो जाता है।

१२. अन्यान्य दर्शनों के अभिमतों की गुणवत्ता और दोषवत्ता का विवेक कर मुनि उनमें श्रद्धाशील नहीं होता।

१३. शिष्य के दोषों और गुणों को जानकर सद्‌गुणों में वर्तन करने वाला मुनि अपना कल्याण कर लेता है।

१४. प्रशस्त भावग्रन्थ से भावित आत्मा वाला मुनि बंधन के सभी स्रोतों को उच्छिन्न कर देता है।

१५. मुनि यथाख्यात चारित्र का अधिकारी होता है।

इस प्रकार इन पन्द्रह अध्ययनों में मोक्षमार्ग के लिये प्रस्थित मुनि के लिये करणीय और अकरणीय का विशद विवेचन किया गया है। प्रस्तुत सोलहवें अध्ययन में उन्हीं का संक्षेप मुनि आदि के विशेषण के रूप में निरूपित है।

प्रस्तुत अध्ययन में 'माहण, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ'—इन चारों के निर्वचन बतलाये गये हैं। 'माहण' शब्द के निर्वचन में सोलह विशेषण प्रयुक्त हैं। 'श्रमण' शब्द के निर्वचन में बारह, 'भिक्षु' शब्द के निर्वचन में आठ और 'निर्ग्रन्थ' शब्द के निर्वचन में पन्द्रह विशेषण प्रयुक्त हैं।

माहण, समण, भिक्खु और निग्गंथ—ये चार मुनि-जीवन की साधना भूमिकाएं प्रतीत होती हैं। चूर्णिकार ने 'समण', 'माहण' और 'भिक्खु', को एक भूमिका में माना है और 'निग्गंथ' की दूसरी भूमिका स्वीकार की है।[1] निर्ग्रन्थ की भूमिका का एक विशेषण है—आत्मप्रवाद-प्राप्त। चौदह पूर्वो में 'आत्मप्रवाद' नाम का सातवां पूर्व है।[2] जिसे आत्मप्रवादपूर्व ज्ञात होता है वही निर्ग्रन्थ हो सकता है। माहण, श्रमण और भिक्षु के लिये इसका ज्ञात होना अनिवार्य नहीं है।

औपपातिक सूत्र में भगवान् महावीर के साधुओं को चार भूमिकाओं में विभक्त किया गया है—श्रमण, निर्ग्रन्थ, स्थविर और अनगार। वहां श्रमण सामान्य मुनि के रूप में प्रस्तुत है। निर्ग्रन्थ की भूमिका विशिष्ट है। उसमें विशिष्ट ज्ञान, विशिष्ट बल, विशिष्ट लब्धियां (योगज विभूतियां), विशिष्ट तपस्याएं और विशिष्ट साधना की प्रतिमाएं उल्लिखित हैं। स्थविर की भूमिका का मुनि राग-द्वेष विजेता, आर्जव-मार्दव आदि विशिष्ट गुणों से संपन्न, आत्मदर्शी, स्वसमय तथा परसमय का ज्ञाता, विशिष्ट श्रुतज्ञानी और तत्त्व के प्रतिपादन में सक्षम होता है। अनगार की भूमिका का मुनि विशिष्ट साधक और सर्वथा अलिप्त होता है।[3]

प्रत्येक भूमिका में मुनि के लिये जो भिन्न-भिन्न विशेषण हैं वे ही साधना की भिन्न-भिन्न भूमिकाओं की सूचना देते हैं। इस प्रसंग में प्रस्तुत सूत्र और औपपातिक सूत्र का तुलनात्मक अध्ययन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

१. चूर्णि, पृ० २४८ : जहद्दिट्ठेसु ठाणेसु वट्टति, ते वि य समण-माहण-भिक्खुणो। णिग्गंथे किंचि णाणत्तं।

२. समवाओ १४।२।

३. ओवाइयं, सूत्र २३-२७।

प्रस्तुत आगम के अनुसार 'माहण' की भूमिका का साधक सब पापकर्मों से विरत है। पापकर्म के अठारह प्रकार हैं—प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन, रति, अरति, मायामृषा और मिथ्यादर्शनशल्य। प्रस्तुत भूमिका का मुनि राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति, अरति, मायामृषा, मिथ्यादर्शनशल्य से विरत होता है। इसका अर्थ है कि 'माहण' अठारह पापों में से उत्तरवर्ती नौ पापों के परित्याग की विशेष साधना करते थे। इसका दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि भगवान् महावीर से पूर्ववर्ती परम्परा में प्रस्तुत सूत्र में निर्दिष्ट नौ पापों के वर्जन में ही 'माहण' दीक्षा का स्वरूप निर्धारित किया गया हो। 'समण' की भूमिका में भी पांच महाव्रतों का उल्लेख नहीं है। उसमें अतिपात (हिंसा), मृषावाद और बहिस्तात् (परिग्रह), क्रोध, मान, माया, लोभ, राग और द्वेष—इन आदानों से विरत होने का उल्लेख है। 'भिक्षु' की भूमिका में एक सर्वसहिष्णु, देहनिरपेक्ष, अध्यात्मयोगी, स्थितात्मा मुनि का रूप सामने आता है। दशवैकालिक के दसवें अध्ययन में प्रयुक्त व्युत्सृष्टकाय, परीषहोपसर्गजयी, अध्यात्मयोगी, स्थितात्मा आदि शब्दों के संदर्भ यहां खोजे जा सकते हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रयुक्त—माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ—इन चारों शब्दों के स्वरूप का निरूपण अगले सूत्रों (३, ४, ५, ६) में हुआ है।

चूर्णिकार के अनुसार ये चारों शब्द एकार्थक हैं, किन्तु उनकी व्यंजन-पर्याय (शाब्दिक-दृष्टि) से भिन्नता है।[1]

माहण

जो यह कहता है— किसी भी जीव को मत मारो, जो किसी भी जीव की हिंसा नहीं करता, वह माहण कहलाता है।

समण

जिसका मन शत्रु और मित्र के प्रति सम रहता है, जिसके लिये न काई प्रिय है और न कोई द्वेष्य, वह 'समन' (श्रमण) कहलाता है।

भिक्खु

जो कर्मों का भेदन करता है, वह भिक्षु कहलाता है।

णिग्गंथ

जो बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ से रहित होता है, वह निर्ग्रन्थ कहलाता है।[2]

प्रस्तुत आगम के प्रथम श्रुतस्कंध का आदि-शब्द है—बुज्झेज्ज। यह ग्रन्थ का आदि-मंगल है। मध्यमंगल के रूप में आठवे अध्ययन के प्रथम श्लोक में प्रयुक्त 'वीर' शब्द माना जा सकता है। इस अध्ययन का प्रथम शब्द 'अथ' अन्त्य मंगल है।

इस प्रकार यह श्रुतस्कंध तीनों मंगलों—आदि-मंगल, मध्य-मंगल और अन्त-मंगल से युक्त होने के कारण मंगलमय है।

इस अध्ययन का अंतिम वाक्य है—'से एवमेव जाणह जमहं भयंतारो'—इसे ऐसा ही जानो जो मैंने भदन्त (महावीर) से सुना है।

सुधर्मा स्वामी ने जम्बू आदि श्रमणों को संबोधित कर कहा—आर्यो! जो मैंने कहा है, उसे तुम वैसा ही जानो। मैंने जैसा महावीर से सुना है, वैसा कहा है। स्वेच्छा से कुछ भी नहीं कहा है।[3]

---

१. चूर्णि, पृ० २४६ : एवमेतेगट्ठिया माहण णामा चत्तारि, वंजणपरियाएण वा किंचि णाणत्तं, अत्थो पुण सो च्चेव।

२. चूर्णि, पृ० २४६ : मा हणह सव्वसत्तेहिं भणमाणो अहणमाणो य माहणो भवति। मित्ता-ऽरिसु समो मणो जस्स सो भवति समणो, अथवा 'णत्थि य से कोइ वेसो पिओ व०।' 'भिदिर् विदारणे' क्षु इति कर्मण आख्या, तं भिवंतो भिक्खू भवति। बज्झ-अब्भंतरातो गंथातो णिग्गतो णिग्गंथो।

३. (क) चूर्णि, पृ० २४८।
(ख) वृत्ति, पत्र २७४, २७५।

सोलसमं अज्झयणं : सोलहवां अध्ययन

गाहा : गाथा

मूल	संस्कृत छाया	हिन्दी अनुवाद
१. अहाह भगवं—एवं से दंते दविए वोसट्ठकाए त्ति वच्चे—माहणे त्ति वा, समणे त्ति वा, भिक्खू त्ति वा, णिग्गंथे त्ति वा ॥	अथाह भगवान्—एवं स दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्टकायः इति वाच्यः—माहन इति वा, श्रमण इति वा, भिक्षु इति वा, निर्ग्रन्थ इति वा ।	१. भगवान् ने कहा[1]—'जो ऐसा (पूर्ववर्ती अध्ययनों में वर्णित गुण-संपन्न मुनि) उपशान्त[2], शुद्ध चैतन्यवान्[3] और देह का विसर्जन करने वाला[4] है, वह इन शब्दों से वाच्य होता है—माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ ।
२. पडिआह—भंते ! कहं दंते दविए वोसट्ठकाए त्ति वच्चे—माहणे त्ति वा ? समणे त्ति वा ? भिक्खू त्ति वा ? णिग्गंथे त्ति वा ? तं णो बूहि महामुणी !	प्रत्याह—भदन्त ! कथं दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्टकायः इति वाच्यः—माहन इति वा ? श्रमण इति वा ? भिक्षुः इति वा, निर्ग्रन्थ इति वा ? तद् नो ब्रूहि महामुने !	२. शिष्य ने पूछा —'भंते[5] ! उपशान्त, शुद्ध चैतन्यवान् और देह का विसर्जन करने वाले को माहन, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रन्थ क्यों कहना चाहिए ? महामुनि ![6] इसे हमें बतलाएं ।'
३. इतिविरतसव्वपावकम्मे पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाण-पेसुण्ण- परपरिवाद- अरति-रति- मायामोस - मिच्छा-दंसणसल्लविरते समिए सहिए सया जए, णो कुज्झे णो माणी 'माहणे' त्ति वच्चे ॥	इतिविरतसर्वपापकर्मा प्रेयो-दोष-कलह-अभ्याख्यान-पैशुन्य-परपरिवाद-अरतिरति-माया-मृषा-मिथ्यादर्शनशल्यविरतः समितः सहितः सदा यतः, नो क्रुध्येत् नो मानी 'माहन' इति वाच्यः ।	३. जो सब पाप-कर्मों से विरत होता है[7]—प्रेय[8], द्वेष, कलह, आरोप[9], चुगली, पर-निन्दा[10], अरति-रति[11], मायामृषा[12], मिथ्यादर्शनशल्य[13] से विरत होता है[14], जो सम्यग् प्रवृत्त[15], ज्ञान आदि से संपन्न[16] और सदा संयत[17] होता है, जो क्रोध नहीं करता, अभिमानी नहीं होता[18] वह 'माहन' कहलाता है ।
४. एत्थ वि समणे—अणिस्सिए अणिदाणे आदाणं च अति-वायं च मुसावायं च बहिद्धं च कोहं च माणं च मायं च लोहं च पेज्जं च दोसं च—इच्चेव जतो-जतो आदाणाओ अप्पणो पद्दोसहेऊ ततो-ततो आदाणाओ पुव्वं पडिविरते सिआ दंते दविए वोसट्ठकाए 'समणे' त्ति वच्चे ॥	अत्रापि श्रमणः—अनिश्रितः अनिदानः आदानञ्च अतिपातं च मृषावादं च बहिस्तात् क्रोधं च लोभं च मानं च मायां च प्रेयश्च दोषं च—इत्येव यतो यतः आदानात् आत्मनः प्रदोष-हेतुः ततः ततः आदानात् पूर्वं प्रतिविरतः स्यात् दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्टकायः 'श्रमण' इति वाच्यः ।	४. यहां भी श्रमण—जो अप्रतिबद्ध[19] होता है, जो अनिदान[20] (आशंसा-मुक्त) होता है, जो आदान[21] प्राणातिपात, मृषावाद, मैथुन, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेय और द्वेष—इस प्रकार जो-जो आदान आत्मा के लिए प्रदोष का हेतु बनता है, उस-उस आदान से पहले ही प्रतिविरत होता है, वह उपशान्त, शुद्ध चैतन्यवान् और देह का विसर्जन करने वाला 'श्रमण' कहलाता है ।

५. एत्थ वि भिक्खू—अणुण्णते णावणते दंते दविए वोसट्ठ-काए संविधुणीय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अज्झप्पजोग-सुद्धादाणे उवट्ठिए ठिअप्पा संखाए परदत्तभोई 'भिक्खू' त्ति वच्चे ॥

अत्रापि भिक्षुः—अनुन्नतः नावनतः दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्ट-कायः संविधूय विरूपरूपान् परीषहोपसर्गान् अध्यात्म-योग-शुद्धादानः उपस्थितः स्थितात्मा संख्याकः परदत्तभोजो 'भिक्षु'-रिति वाच्यः ।

५. यहां भी भिक्षु—जो गर्वोन्नत तथा हीन-भावना से ग्रस्त नहीं होता,[२२] जो उपशान्त, शुद्ध चैतन्यवान् और देह का विसर्जन करने वाला है, जो नाना प्रकार के परीषह और उपसर्गों को[२३] पराजित कर[२४] अध्यात्म-योग के द्वारा शुद्ध स्वरूप को उपलब्ध होता है[२५], जो संयम के प्रति उपस्थित, स्थितात्मा[२६], विवेक-संपन्न[२७] और परदत्तभोजी[२८] होता है, वह 'भिक्षु' कहलाता है ।

६. एत्थ वि णिग्गंथे—एगे एगविदू बुद्धे संछिण्णसोए सुसंजए सुसमिए सुसामाइए आतप्पवादपत्ते विऊ दुहओ वि सोयपलिछिण्णे णो पूया-सक्कारलाभट्ठी धम्मट्ठी धम्म-विऊ णियागपडिवण्णे समियं चरे दंते दविए वोसट्ठकाए 'णिग्गंथे' त्ति वच्चे । से एव-मेव जाणह जमहं भयंतारो ॥

अत्रापि निर्ग्रन्थः—एकः एकविद् बुद्धः संछिन्नस्रोताः सुसंयतः सुसमितः सुसामायिकः आत्मप्रवादप्राप्तः विद्वान् द्वितोऽपि परिच्छिन्नस्रोताः नो पूजासत्कारलाभार्थी धर्मार्थी धर्मविद् नियागप्रतिपन्नः सम्यक्चरः दान्तः द्रव्यः व्युत्सृष्ट-कायः 'निर्ग्रन्थ' इति वाच्यः । तत् एवमेव जानीत यदहं भदन्तात् ।

६. यहां भी निर्ग्रन्थ—जो अकेला[२९] होता है, एकत्व भावना को जानता है[३०], बुद्ध (तत्त्वज्ञ) है, जिसके स्रोत छिन्न हो चुके हैं[३१], जो सु-संयत[३२], सुसमित[३३] और सम्यक् सामायिक (समभाव) वाला[३४] है, जिसे आत्मप्रवाद (आठवां पूर्व-ग्रन्थ) प्राप्त है[३५], जो विद्वान् है, जो इन्द्रियों का बाह्य और आंतरिक—दोनों प्रकार से संयम करने वाला है[३६], जो पूजा-सत्कार और लाभ का अर्थी नहीं होता, जो केवल धर्म का अर्थी[३७], धर्म का विद्वान्[३८], मोक्ष-मार्ग के लिए समर्पित[३९], सम्यग् चर्या करने वाला[४०], उपशान्त, शुद्ध चैतन्यवान् और देह का विसर्जन करने वाला है, वह 'निर्ग्रन्थ' कहलाता है । इसे ऐसे ही जानो जो मैंने भदन्त से सुना है ।

—त्ति बेमि ॥

—इति ब्रवीमि ॥

—ऐसा मैं कहता हूं ।

सूत्र १ :

१. (अथ)

चूर्णिकार और वृत्तिकार के अनुसार इस श्रुतस्कंध का आदि-मंगल वाचक शब्द है 'बुज्झेज्ज' (१/१) और यह 'अथ' शब्द अन्त-मंगल है। आदि और अन्त मंगल के कारण यह सारा श्रुतस्कंध मंगलरूप है। 'अथ' शब्द का एक अर्थ आनन्तर्य भी है।[1]

२. उपशान्त (दंते)

दान्त वह होता है जो अपनी पांचों इन्द्रियों तथा चार कषायों का निग्रह करता है।[2]

३. शुद्ध चैतन्यवान् (दविए)

द्रव्य का अर्थ है --भव्यप्राणी, शुद्ध चैतन्यवान्, मोक्षगमन-योग्य। जो राग-द्वेष की कालिमा से रहित होता है, वह द्रव्य कहलाता है। जैसे स्वर्ण विजातीय पदार्थ से रहित हो जाता है तब वह शुद्ध द्रव्य कहलाता है।[3]

४. देह का विसर्जन करने वाला (वोसट्ठकाए)

जो अपने शरीर का प्रतिकर्म नहीं करता, जो शरीर की सार-संभाल छोड़ देता है, वह व्युत्सृष्टकाय कहलाता है।[4]

देखें—दसवेआलियं १०/१३ का टिप्पण, पृष्ठ ४९३, ४९४।

सूत्र २ :

५. भंते! (भंते!)

चूर्णिकार के अनुसार यह तीर्थंकर का आमंत्रण है।[5] वृत्तिकार ने इसके चार अर्थों के वाचक चार शब्द दिए हैं—भगवन्!, भदन्त!, भयान्त! और भवान्त।[6]

६. महामुनि (महामुणी!)

महामुनि अर्थात् तीर्थंकर, श्रमण महावीर।[7]

---

१. (क) चूर्णि, पृ० २४६ : अथेत्ययं मङ्गलवाची आनन्तर्ये च द्रष्टव्यः। यदिदमुदितं पञ्चदशानामध्ययनानामन्तरे वर्तते, आदौ मंगलं "बुज्झेज्ज" (सूत्र १/१/१) त्ति, इहाप्ययशब्दः अन्ते, तेन सर्वमङ्गल एवायं श्रुतस्कन्धः।

(ख) वृत्ति, पत्र २७१ : 'अथे' त्ययं शब्दोऽवसानमङ्गलार्थः, आदिमङ्गलं तु बुध्येतेत्यनेनाभिहितं, अत आद्यन्तयोर्मङ्गलत्वात् सर्वोऽपि श्रुतस्कन्धो मङ्गलमित्येतदनेनावेदितं भवति। आनन्तर्ये वाऽथशब्दः।

२. चूर्णि, पृ० २४६ : दंते इंदिय-णोइंदियदमेणं, इंदियदमो सोइंदियदमादि पंचविधो, णोइंदियदमो कोधणिग्गहादि चतुव्विधो।

३. वृत्ति, पत्र २७१ : द्रव्यभूतो मुक्तिगमनयोग्यत्वात्, 'द्रव्यं च भव्ये' इति वचनात्, रागद्वेषकालिकापद्रव्यरहितत्वाद्वा जात्यसुवर्णवत् शुद्धद्रव्यभूतः।

४. (क) चूर्णि, पृ० २४६ : वोसट्ठकाए त्ति अपडिकम्मसरीरो, उच्छूढसरीरे त्ति वुत्तं होति।

(ख) वृत्ति, पत्र २७१ : व्युत्सृष्टो निष्प्रतिकर्मशरीरतया कायः—शरीरं येन स भवति व्युत्सृष्टकायः।

५. चूर्णि, पृ० २४६ : भंते त्ति भगवतो तित्थगरस्स आमंतणं।

६ वृत्ति पत्र २७२ : एवं भगवतोक्ते सति प्रत्याह तच्छिष्यः—भगवन्!, भदन्त!, भयान्त!, भवान्त इति वा।

७. (क) चूर्णि, पृ० २४७।

(ख) वृत्ति, पत्र २७२।

सूत्र ३ :

७. सब पाप कर्मों से विरत होता है (विरतसव्वपावकम्मे)

चूर्णिकार ने इस संदर्भ में दो सूचनाएं दी हैं[1]—

१. पन्द्रह अध्ययनों में मुनि के गुण बतलाए हैं। उन गुणों से सर्वपापकर्मविरत फलित होता है।

२. राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति-अरति, मायामृषा, मिथ्यादर्शनशल्य—इन नौ पापकर्मों से जो विरत होता है वह सर्वपापकर्मविरत कहलाता है।

इससे अनुमान किया जा सकता है कि अठारह पापकर्मों की परंपरा से पूर्व नौ पापकर्मों की परंपरा भी रही है। इन नौ पापकर्मों से विरत होने का अर्थ सब पापकर्मों से विरत होना है।

८. प्रेय (पेज्ज)

प्राचीनकाल में प्रेम के अर्थ में 'प्रेयस्' शब्द अधिक प्रचलित रहा है। उपनिषद् काल में इस शब्द का प्रचुरता से उपयोग हुआ है। प्रेयस् अर्थात् प्रेम या राग।

९. आरोप (अब्भक्खाण)

अभ्याख्यान अर्थात् झूठा आरोप लगाना, जैसे—तूने ही यह किया है।[2]

१०. परनिन्दा (परपरिवाद)

दूसरे व्यक्ति के गुणों को सहन न कर सकने के कारण उसके दोषों का उद्घाटन करना, परनिन्दा करना।[3]

११. अरति-रति (अरति-रति)

धर्म के प्रति अरति—अनुत्साह और अधर्म के प्रति रति—उत्साह।[4]

संयम के प्रति चित्त का उद्विग्न होना अरति और विषयों के प्रति आसक्ति का होना रति है।[5]

१२. माया-मृषा (मायामोस)

मायामृषा का अर्थ है—माया सहित झूठ बोलना। दूसरे को ठगने के लिए असद् अर्थ का आविर्भाव करना मायामृषा है।[6]

१३. मिथ्यादर्शनशल्य (मिच्छादंसणसल्ल...)

मिथ्यादर्शन का अर्थ है—अतत्त्व में तत्त्व का अभिनिवेश अथवा तत्त्व में अतत्त्व का अभिनिवेश।

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने एक गाथा को उद्धृत कर मिथ्यात्व के छह स्थानों का उल्लेख किया है।[7]

'णत्थि ण णिच्चो ण कुणति, कतं ण वेदेति णत्थि णेव्वाणं।
णत्थि य मोक्खोवायो, छम्मिच्छत्तस्स ठाणाइं॥'

(सन्मतितर्क, काण्ड ३, गाथा ५४)

---

१. चूर्णि, पृ० २४७ : जे एते अज्झयणेसु गुणा वुत्ता तांहि वुत्तो विरतसव्वपावकम्मो, सव्वसावज्जजोगविरतो त्ति भणितं होति। अथवा विरतसव्वपावकम्मो त्ति सुत्तेण चेव भणितं, तं जधा—पिज्ज-दोस ···।

२. चूर्णि, पृ० २४७ : अब्भक्खाणं असब्भूताभिनिवेसो यथा—त्वमिदमकार्षीः।

३. वृत्ति, पत्र २७२ : परस्य परिवादः काक्वापरदोषापादनं।

४. चूर्णि, पृ० २४७ : अरती धम्मे। अधम्मे रती।

५ वृत्ति, पत्र २७२ : अरतिः -चित्तोद्वेगलक्षणा संयमे, तथा रतिः—विषयाभिष्वङ्गः।

६. वृत्ति, पत्र २७२ : माया—परवञ्चना तया कुटिलमतिर्मृषावाद—असदर्थाभिधानं गामश्वं ब्रुवतो भवति।

७. चूर्णि, पृ० २४७।

आत्मा नहीं है। वह नित्य नहीं है। वह कुछ नहीं करता। वह अपने कृत का वेदन नहीं करता। निर्वाण नहीं है और मोक्ष के उपाय नहीं हैं— ये छह मिथ्यात्व के स्थान हैं।[1]

यह मिथ्यादर्शन है। यह तीन शल्यों में एक शल्य है।

१४. विरत होता है (विरते)

यह 'विरत' शब्द सभी पापकर्मों की विरति का सूचक है। चूर्णिकार का मत है कि जो इस सूत्र में उल्लिखित सभी पापों से विरत है वही यथार्थ में विरत है।[2]

वृत्तिकार ने 'मिच्छादंसणसल्लविरते' पाठ मानकर अर्थ किया है।[3] क्वचित् 'सल्ले' पाठ भी मिलता है।

१५. सम्यक् प्रवृत्त (समिए)

समित का अर्थ है—सम्यक् प्रवृत्त। जो ईर्यासमिति आदि पांचों समितियों से युक्त होता है, वह समित कहलाता है।[4]

१६. ज्ञान आदि से संपन्न (सहिए)

सहित के दो अर्थ हैं[5]—

१. परमार्थ भूत हित से युक्त।

२. ज्ञान आदि से संपन्न।

देखें—१।२।५२ का टिप्पण।

१७. सदा संयत (सया जए)

चूर्णिकार ने 'सदा' का अर्थ सर्वकाल और 'यत' का अर्थ 'यती प्रयत्ने' धातु को उद्धृत कर प्रयत्नवान् किया है।[6] 'यमुं उपरमे' धातु का क्त प्रत्ययान्त रूप 'यतः' बनता है। वही यहां विवक्षित है।

१८. अभिमानी नहीं होता (णो माणी)

इसका अर्थ है—गर्व न करे। मैं उत्कृष्ट तपस्वी हूं—ऐसा मान न करे।

वृत्तिकार ने एक गाथा उद्धृत की है—

'जइ सो वि निज्जरमओ, पडिसिद्धो अट्ठमाणमहणेहिं।
अवसेसमयट्ठाणा, परिहरियव्वा पयत्तेणं॥'

आठ मद-स्थानों का परिहार करने वालों ने निर्जरा-मद का भी प्रतिषेध किया है। अतः शेष मद-स्थानों का प्रयत्नपूर्वक परिहार करना ही चाहिए।[7]

सूत्र ४ :

१९. अप्रतिबद्ध (अणिस्सिए)

वृत्तिकार ने निश्रित का निरुक्त इस प्रकार किया है—निश्चयेन आधिक्येन वा श्रितः—निश्रितः—जो निश्चय से या बहुलता

---

१. वृत्ति, प० २७२।
२. चूर्णि, पृ० २४७ : एवमादीसु पावकम्मेसु जो विरतो सो विरतसव्वपावकम्मे।
३. वृत्ति, प० २७२।
४. वृत्ति, प० २७२ : सम्यगितः समितः—ईर्यासमित्यादिभिः पञ्चभिः समितिभिः समित इत्यर्थः।
५. वृत्ति, प० २७२ : सह हितेन—परमार्थभूतेन वर्तत इति सहितः यदि वा सहितो—युक्तो ज्ञानादिभिः।
६. चूर्णि, पृ० २४७ : सदा सव्वकालं, "यती प्रयत्ने" सर्वकालं प्रयत्नवानीति।
७. वृत्ति, प० २७२।

से लगा हुआ है वह निश्रित है। निश्रित का आशय है—किसी के आश्रय में रहना। जो शरीर या कामभोगों से अप्रतिवद्ध है, उनके वश में नहीं है, वह अनिश्रित है।[1]

२०. अनिदान (आशंसा-मुक्त) (अणिदाणे)

निदान का अर्थ है—पौद्गलिक सुख का संकल्प। यह तीन शल्यों में से एक शल्य है। व्रती वही हो सकता है जो शल्यों का निरसन कर देता है।[2] इसलिए श्रमण को अनिदान कहा गया है, जो आकांक्षाओं से मुक्त है वह अनिदान कहलाता है।[3]

२१. आदान (आदाणं)

आदान का अर्थ है—ग्रहण, कर्महेतु। जिससे कर्म का ग्रहण होता है उसे आदान कहते हैं।[4] राग और द्वेष कर्म के आदान हैं। उत्तराध्ययन में राग और द्वेष को कर्म बीज कहा है।[5]

प्रस्तुत सूत्र में आदान के नौ प्रकार बतलाए गए हैं। उनमें अतिपात और बहिस्साद्—ये दो एक कोटि के हैं। चूर्णिकार के अनुसार इनका संबंध मूलगुण से है। क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम और द्वेष—ये दूसरी कोटि के हैं। चूर्णिकार ने इनका संबंध उत्तरगुण से बतलाया है। इस परंपरा में भी पांच महाव्रतों का उल्लेख नहीं है। चूर्णिकार ने 'बहिद्धा' शब्द के द्वारा मैथुन और परिग्रह का ग्रहण किया है तथा एक के ग्रहण से सबका ग्रहण होता है, यह एक न्याय है। इस न्याय के अनुसार मृषावाद और अदत्तादान का ग्रहण होता है।[6]

वृत्तिकार के अनुसार कर्मबंध के हेतुभूत साधन—कषाय, परिग्रह और पापकारी अनुष्ठान 'आदान' कहलाते हैं।[7]

सूत्र ५ :

२२. जो गर्वोन्नत तथा हीनभावना से ग्रस्त नहीं होता (अणुण्णते णावणते)

भिक्षु वह है जो गर्व से उन्नत नहीं है और हीनभावना से ग्रस्त नहीं है।

प्रधानरूप से उन्नत दो प्रकार का है—

१. द्रव्य उन्नत—शरीर से उन्नत-गर्वित।

२. भाव उन्नत—जाति आदि के मद से गर्वित।

अनुन्नत (अवनत) भी दो प्रकार का होता है—

१. द्रव्य अनुन्नत—शरीर से अवनत।

२. भाव अनुन्नत—जिसका मन हीनभावना से ग्रस्त नहीं होता, वस्तु की अप्राप्ति होने पर 'मुझे कोई नहीं पूजता' ऐसा सोचकर जो दुर्मना नहीं होता।[8]

---

१. वृत्ति, प० २७३ : निश्चयेनाधिक्येन वा 'श्रितो'—निश्रितः न निश्रितोऽनिश्रितःक्वचिच्छरीरादावप्यप्रतिबद्धः।
(ख) चूर्णि, पृ० २४७ : अणिस्सिते त्ति सरीरे काम-भोगेसु य।

२. तत्त्वार्थ ७।१८ : निःशल्यो व्रती।

३. वृत्ति, प० २७६ : न विद्यते निदानमस्येत्यनिदानो निराकांक्षः।

४. चूर्णि, पृ० २४७ : आदाणं च येनाऽऽदीयते तदादानम्, राग-द्वेषौ हि कर्मादानं भवति।

५. उत्तरज्झयणाणि ३२।७ : रागो य दोसो वि य कम्मवीयं।
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति॥

६. चूर्णि, पृ० २४७ : बहिद्धं मैथुन-परिग्रहौ, एगग्गहणे सेसाण वि मुसावादाऽदत्तादाणाणां गहणं कतं भवति। उक्ता मूलगुणाः। उत्तरगुणास्तु—क्रोधं च माणं च············।

७. वृत्ति, प० २७३ : तथाऽऽदीयते—स्वीक्रियतेऽष्टप्रकारं कर्म येन तदादानं—कषायाः परिग्रहसावद्यानुष्ठानं वा।

८. चूर्णि, पृ० २४७ : अणुण्णते णावणते, ण उण्णते अणुण्णते। उण्णओ णामादि चतुव्विधो, दव्वुण्णतो जो सरीरेण उण्णतो, सो भयितो, भावुण्णतो जात्यादिमदस्तब्धो एव स्यात्। अवनतोऽपि शरीरे भजितः, भावे तु दीनमना न स्यात्, अलाभेन वा 'ण मे कोइ पूयेति' त्ति ण दुम्मणो होज्ज।

उत्तराध्ययन सूत्र (२०।२१) में अणुण्णए नावणए महेसी' और दसवेआलियं (५।१।१३) में 'अणुन्नए नावणए' पद प्रयुक्त हैं।

२३. परीषह और उपसर्गों को (परीसहोवसग्गे)

परीषह का अर्थ है—जो कष्ट इच्छा के विना प्राप्त होता है, वह परीषह है।[1] ये बावीस हैं। देखें—उत्तराध्ययन का दूसरा अध्ययन।

उपसर्ग का अर्थ है—उपद्रव, बाधा। स्थानांग में उपसर्ग के चार प्रकार बतलाए हैं—

१. देवताओं से होनेवाला।
२. मनुष्यों से होनेवाला।
३. तिर्यञ्चों से होनेवाला।
४. स्वयं अपने द्वारा होनेवाला।[2]

२४. पराजित कर (संविधुणीय)

परीषहों और उपसर्गों को समता से सहना, उनसे अपराजित रहना ही उनको धुनना है।[3]

२५. अध्यात्म योग के द्वारा शुद्ध स्वरूप को उपलब्ध होता है (अज्झप्पजोगसुद्धादाणे)

हमने इसका अर्थ चूर्णि के अनुसार किया है।[4]

वृत्तिकार ने अध्यात्म योग का अर्थ—सुसमाहित मन से धर्मध्यान करना—किया है। उनके अनुसार आदान का अर्थ—चारित्र है।[5]

२६. स्थितात्मा (ठिअप्पा)

चूर्णिकार के अनुसार इसका अर्थ है[6]—ज्ञान, दर्शन और चारित्र में अवस्थित।

वृत्तिकार ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है—[7]

जो परीषहों और उपसर्गों से अपराजित होकर मोक्ष-मार्ग में अवस्थित होता है, वह स्थितात्मा कहलाता है।

२७. विवेक-संपन्न (संखाए)

इसका संस्कृत रूप है—संख्याकः। हमने इसका अर्थ विवेक-सम्पन्न किया है। चूर्णिकार और वृत्तिकार के अर्थ से भी यही फलित होता है।

चूर्णिकार ने इसका शब्द-परक अर्थ इस प्रकार किया है—जो गुण और दोषों की परिगणना करता है, वह 'संख्याक' कहलाता है।[8]

वृत्तिकार ने इसका संस्कृत रूप 'संख्याय' और अर्थ—'जानकर' किया है। इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—संसार की

---

१. तत्त्वार्थवृत्ति (श्रुतसागरीय), पृष्ठ ३०१, सू० ९।१७ की वृत्ति—यदृच्छया समागतः परीषहः।
२. ठाणं ४।५९७ : चउव्विहा उवसग्गा पण्णत्ता, तं जहा—दिव्वा, माणुसा, तिरिक्खजोणिया, आयसंचेयणिज्जा।
विशेष विवरण के लिए देखें—ठाणं, पृष्ठ ५३५, ५३६।
३. वृत्ति, पत्र २७३ : द्वाविंशतिपरीषहान् तथा दिव्यादिकानुपसर्गांश्चेति, तद्विधूननं तु यत्तेषां सम्यक् सहनं—तैरपराजितता।
४. चूर्णि, पृ० २४८ : अध्यात्मैव योगः, अध्यात्मयोगः, अध्यात्मयोगेन शुद्धमादत्त इति।
५. वृत्ति, पत्र २७३ : अध्यात्मयोगेन-सुप्रणिहितान्तःकरणतया धर्मध्यानेन शुद्धम्-अवदातमादानं-चारित्रं यस्य स।
६ चूर्णि, पृ० २४८ : ठितप्पा णाण-दंसण-चरित्तेहिं।
७. वृत्ति, पत्र २७३ : स्थितो-मोक्षाध्वनि व्यवस्थितः परीषहोपसर्गैरप्यधृष्यः आत्मा यस्य स स्थितात्मा।
८. चूर्णि, पृ० २४८ : संखाए परिगणेत्ता गुणदोसे।

असारता, कर्मभूमि की दुष्प्राप्ति और बोधि की दुर्लभता को जानकर तथा संसार-समुद्र से पार लगानेवाली सारी साधन-सामग्री को पाकर जो संयम के प्रति उद्यमशील होता है वह संख्याक (?) कहलाता है।[1]

२८. परदत्तभोजी (परदत्तभोई)

जैन मुनि परदत्तभोजी होता है। 'पर' का अर्थ गृहस्थ भी है। गृहस्थ के द्वारा अपने लिए बनाया हुआ, प्रासुक और एषणीय आहार लेनेवाला—यह इस शब्द का वाच्य है।[2]

सूत्र ६ :

२९. अकेला (एगे)

इसका अर्थ है—अकेला। चूर्णिकार ने इसकी मीमांसा दो प्रकार से की है—द्रव्य से अकेला और भाव से अकेला—

जिनकल्प मुनि द्रव्य से भी अकेले होते हैं और भाव से भी अकेले होते हैं।

स्थविरकल्पी मुनि भाव से अकेले होते हैं और द्रव्य से अकेले होते भी हैं और नहीं भी होते।[3]

वृत्तिकार ने 'एक' के दो अर्थ किए हैं—

१. रागद्वेषरहित, मध्यस्थ।

२. प्राणी स्वसुखदुःख का भोग अकेला ही करता है—इस दृष्टि से 'एक'।[4]

३०. एकत्व भावना को जानता है (एगविदू)

इसका अर्थ है—एकत्व भावना को जानने वाला।

चूर्णिकार के अनुसार एकविद् वह होता है जो यह भावना करता है कि मैं अकेला हूं। मेरा कोई नहीं है।[5]

वृत्तिकार ने इसके दो अर्थ किए हैं—[6]

१. अकेला ही आत्मा परलोकगामी होता है।

२. दुःख से बचाने वाला कोई भी सहायक नहीं है।

३१. जिसके स्रोत छिन्न हो चुके हैं (संछिण्णसोए)

स्रोत का अर्थ है—कर्माश्रव के द्वार। उनको छिन्न करने वाला—संछिन्नस्रोत कहलाता है।[7]

स्रोत ऊपर भी हैं, नीचे भी हैं और तिरछे भी हैं।[8]

---

१. वृत्ति, पत्र २७३ : संख्याय परिज्ञायासारतां संसारस्य दुष्प्रापतां कर्मभूमेर्बोधेः सुदुर्लभत्वं चावाप्य च सकलां संसारोत्तरणसामग्रीं सत्संयमकरणोद्यतः।

२. (क) चूर्णि, पृ० २४८ : परदत्तभोइ त्ति परकड-परिणिट्ठितं फासुएसणिज्जं भुंजति त्ति।
(ख) वृत्ति, पत्र २७३ : परैः—गृहस्थैरात्मार्थं निर्वर्तितमाहारजातं तैर्दत्तं भोक्तुं शीलमस्य परदत्तभोजी।

३. चूर्णि, पृ० २४८ : एगे दव्वतो भावतो य, जिणकप्पिओ दव्वेगो वि भावेगो वि, थेरा भावतो एगो, दव्वतो कारणं प्रति भइता।

४. वृत्ति, पत्र २७४ : 'एको' रागद्वेषरहिततया ओजाः, यदि वाऽस्मिन् संसारचक्रवाले पर्यटन्नसुमान् स्वकृतसुखदुःखफलभाक्त्वेनैकस्यैव परलोकगमनतया सदैकक एव भवति।

५. चूर्णि, पृ० २४८ : एगविदू एकोऽहं न च मे कश्चित्।

६. वृत्ति, पत्र २७४ : तथैकमेवात्मानं परलोकगामिनं वेत्तीत्येकवित्, न मे कश्चिद् दुःखपरित्राणकारी सहायोऽस्तीत्येवमेकवित्।

७. (क) चूर्णि, पृ० २४८ : सोताइं कम्मासवदाराइं, ताइं छिण्णाइं जस्स सो छिण्णसोतो।
(ख) वृत्ति, पत्र २७४ : सम्यक् छिन्नानि—अपनीतानि भावस्रोतांसि संवृतत्वात् कर्माश्रवद्वाराणि येन स तथा।

८. आयारो, ५।११८ : उड्ढं सोता अहे सोता, तिरियं सोता वियाहिया।

३२. सुसंयत (सुसंजए)

सुसंयत का अर्थ है—निरर्थक काय-क्रिया से विरत ।[1]

३३. सु-समित (सुसमिए)

जिसकी प्रत्येक प्रवृत्ति सम्यक् होती है, जो चलने, बोलने, भोजन आदि क्रिया करने में जागरूक होता है वह 'सु-समित' कहलाता है ।[2]

३४. सम्यक्-सामायिक (समभाव) वाला (सुसामाइए)

सामायिक का अर्थ है—समभाव ।

जिसका समभाव सध जाता है वह 'सु-सामायिक' कहलाता है ।[3]

३५. जिसे आत्मप्रवाद (आठवां पूर्व-ग्रन्थ) प्राप्त है (आतप्पवादपत्ते)

चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इसका अर्थ शब्द-परक किया है । जैसे—[4]

आत्मा का प्रवाद अर्थात् आत्मप्रवाद । आत्मा नित्य, अमूर्त्त, कर्त्ता, भोक्ता और उपयोग लक्षण वाला है । सभी जीवों का यही लक्षण है । ऐसा कोई एक आत्मा नहीं है जो सर्वव्यापी हो । आत्मा असंख्येय प्रदेश वाला है । उसमें संकोच-विकोच का सामर्थ्य है । वह प्रत्येक-शरीरी और साधारण-शरीरी के रूप में व्यवस्थित है । वह द्रव्य और पर्याय की दृष्टि से अनन्त धर्मात्मक है ।

हमारी दृष्टि में आत्मप्रवाद एक ग्रन्थ है । इसमें आत्मा के संबंध में विभिन्न दृष्टियों से विचार किया गया था । यह चौदह पूर्वों में आठवां पूर्व है ।

३६. (दुहओ वि सोयपलिछिण्णे)

जो द्रव्य से और भाव से—दोनों प्रकार से इन्द्रियों का संयम करता है वह 'स्रोतपरिछिण्ण' कहलाता है ।

कानों से सुनता हुआ भी नहीं सुनता और आंखों से देखता हुआ भी नहीं देखता—यह द्रव्यतः स्रोतपरिछिण्ण है । जो इन्द्रिय विषयों के प्रति अमनस्क होता है, राग-द्वेष नहीं करता वह भावतः स्रोतपरिछिण्ण है ।[5]

३७. धर्म का अर्थी (धम्मट्ठी)

जो समस्त क्रियाएं केवल धर्म के लिए ही करता है, वह धर्मार्थी है । वह धर्म के लिए ही प्रयत्न करता है, बोलता है, खाता है, अनुष्ठान करता है । उसके लिए और कोई प्रयोजन शेष नहीं रहता ।[6]

---

१. वृत्ति, पत्र २७४ : संयतः—कूर्मवत्संयतगात्रो निरर्थककायक्रियारहितः सुसंयतः ।

२. वृत्ति, पत्र २७४ : सुष्ठु पञ्चभिः समितिभिः सम्यगितः—प्राप्तो ज्ञानादिकं मोक्षमार्गमसौ सुसमित. ।

३. वृत्ति, पत्र २७४ : सुष्ठु समभावतया सामायिकं समशत्रुमित्रभावो यस्य स सुसामायिकः ।

४. (क) चूर्णि, पृ० २४८ : अप्पणो पवादो अत्तप्पवातो, यथा—अस्त्यात्मा नित्यः अमूर्त्तः कर्ता भोक्ता उपयोगलक्षणः, य एवमादि आतप्पवादो सो य पत्तेयं जीवेसु अत्थि त्ति, न एक एव जीवः सर्वव्यापी ।

(ख) वृत्ति, पत्र २४८ : तथाऽऽत्मनः—उपयोगलक्षणस्य जीवस्यासंख्येयप्रदेशात्मकस्य संकोचविकाशभाजः स्वकृतफलभुजः प्रत्येकसाधारणशरीरतया व्यवस्थितस्य द्रव्यपर्यायतया नित्यानित्याद्यनन्तधर्मात्मकस्य वा वाद आत्मवादस्तं प्राप्त आत्मवादप्राप्तः सम्यग्यथावस्थितात्मस्वतत्त्ववेदीत्यर्थः ।

५. (क) चूर्णि, पृ० २४८ : दुहतो त्ति दव्वतो भावतो य, सोताणि इंदियाणि, दव्वतो संकुचितपाणिपादो ; लास्सुत्तिकारणाणि—

'सुणमाणो वि ण सुणति पेच्छमाणो वि ण पेच्छति ।
भावतो इंदियत्थेसु राग-द्दोसं ण गच्छति ॥'
अतो दुहतो वि सोतपलिच्छण्णे ।

(ख) वृत्ति, पत्र २७४ ।

६. चूर्णि, पृ० २४८ : धम्मट्ठी णाम धर्ममेव चेष्टते भाषते वा भुंक्ते सेवते, नान्यत् प्रयोजनम् ।

३८. धर्म का विद् (धम्मविऊ)

जो धर्म के सब प्रकारों को जानता है वह धर्मविद् कहलाता है।[1]

जो धर्म के सभी पहलुओं को और उसके फल को जानता है वह धर्मविद् कहलाता है।[2]

३९. मोक्षमार्ग के प्रति समर्पित (णियागपडिवण्णे)

इसका अर्थ है—मोक्ष के लिए समर्पित ।

चूर्णिकार ने 'नियाग' का अर्थ चारित्र[3] और वृत्तिकार ने मोक्षमार्ग अथवा सत्संयम किया है।[4]

४०. सम्यक् चर्या करने वाला (समियं चरे)

इसके दो अर्थ हैं—(१) सम्यक् चर्या करने वाला।[5]
(२) सतत समभाव में रहने वाला।[6]

---

१. चूर्णि, पृ० २४८ : धम्मविदु त्ति सर्वधर्माभिज्ञः ।
२. वृत्ति, पत्र २७४ : धर्मं यथावत्तत्फलानि च स्वर्गावाप्तिलक्षणानि सम्यक् वेत्ति ।
३. चूर्णि, पृ० २४८ : नियागं णाम चरित्तं तं पडिवण्णो ।
४. वृत्ति, पत्र २७४ : नियागो—मोक्षमार्गः सत्संयमो वा तं सर्वात्मना भावतः प्रतिपन्नः नियागपडिवन्ने त्ति ।
५. चूर्णि, पृ० २४८ : समियं चरे सम्यक् चरेत् ।
६. वृत्ति, पत्र २७४ : समियं ति समतां समभावरूपां वासीचन्दनकल्पां 'चरेत्'—सततमनुतिष्ठेत् ।

परिशिष्ट

नोट : पृ० ६३० से ६४० तक पृ० संख्या के स्थान पर टिप्पण संख्या और टिप्पण संख्या के स्थान पर पृ० संख्या पढ़ें।

परिशिष्ट १

टिप्पण-अनुक्रम

परिशिष्ट २

पदानुक्रम

परिशिष्ट ३

सूक्त और सुभाषित

असंकियाइं संकंति, संकियाइं असंकिणो। (१।३३)

दिग्मूढ प्राणी अशंकनीय के प्रति शंका करते हैं और शंकनीय के प्रति अशंकित रहते हैं।

अंधो अंधं पहं णेंतो, दूरमद्धाण गच्छई। (१।४६)

अंधा व्यक्ति अंधे का मार्गदर्शन करता है तो वह भटका देता है, मूल रास्ते से दूर ले जाता है।

सयं सयं पसंसंता, गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति संसारं ते विउस्सिया॥ (१।५०)

अपने-अपने मत की प्रशंसा और दूसरे मतों की निन्दा करते हुए जो गर्व से उछलते हैं वे संसार (जन्म-मरण की परम्परा) को बढ़ावा देते हैं।

जहा आसाविणि णावं, जाइअंधो दुरूहिया।
इच्छई पारमागंतुं, अंतराले विसीयई॥ (१।५८)

जन्मान्ध मनुष्य सच्छिद्र नौका में बैठकर समुद्र का पार पाना चाहता है, पर वह उसका पार नहीं पाता, बीच में ही डूब जाता है।

अमणुण्णसमुप्पायं, दुक्खमेव विजाणिया।
समुप्पायमजाणंता, किह णाहिंति संवरं? (१।६९)

दुःख असंयम से उत्पन्न होता है—यह ज्ञातव्य है। जो दुःख की उत्पत्ति को नहीं जानते वे संवर (दुःख-निरोध) को कैसे जानेंगे?

सए सए उवट्ठाणे, सिद्धिमेव ण अन्नहा। (१।७३)

अपने मत की प्रशंसा करने वाले कहते हैं—अपने-अपने सांप्रदायिक अनुष्ठान में ही सिद्धि होती है, दूसरे प्रकार से नहीं होती।

सव्वे अकंतदुक्खा य, अओ सव्वे अहिंसगा। (१।८४)

कोई भी जीव दुःख नहीं चाहता, इसलिए सभी जीव अहिंस्य हैं।

एयं खु णाणिणो सारं, जं ण हिंसइ कंचणं।
अहिंसा समयं चेव, एयावंतं वियाणिया। (१।८५)

ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। समता अहिंसा है, इतना ही उसे जानना है।

वुसिते विगयगिद्धी य, आयाणं सारक्खए। (१।८६)

संयमी व्यक्ति धर्म में स्थित रहे। वह किसी भी इन्द्रिय-विषय में आसक्त न बने और आत्मा का संरक्षण करे।

संबुज्झह किण्ण बुज्झहा, संबोही खलु पेच्च दुल्लहा।
णो हूवणमंति राइओ, णो सुलभं पुणरावि जीवियं॥ (२।१)

संबोधि को प्राप्त करो। बोधि को प्राप्त क्यों नहीं कर रहे हो? जो वर्तमान में संबोधि को प्राप्त नहीं होता, उसे अगले जन्म में भी वह सुलभ नहीं होती। बीती हुई रातें लौटकर नहीं आतीं। जीवन-सूत्र के टूट जाने पर उसे पुनः सांधना सुलभ नहीं है।

मोहं जंति णरा असंवुडा। (२।१०)

जो असंवृत होते हैं, वे मोह को प्राप्त होते हैं।

अणुसासणमेव पक्कमे। (२।११)

तू अनुशासन का अनुसरण कर।

अविहिंसामेव पव्वए। (२।१४)

अहिंसा में ही प्रव्रजन कर।

जे यावि अणायगे सिया, जे वि य पेसगपेसगे सिया।
इद मोणपयं उवट्ठिए, णो लज्जे समयं सया चरे॥ (२।२५)

एक सर्वोच्च अधिपति हो और दूसरा उसके नौकर का नौकर हो। वह सर्वोच्च अधिपति मुनिपद की प्रव्रज्या स्वीकार कर (पहले से प्रव्रजित अपने नौकर के नौकर को वन्दना करने में) लज्जा का अनुभव न करे, सदा समता का आचरण करे।

समता धम्ममुदाहरे मुणी। (२।२८)

मुनि समता धर्म का निरूपण करे।

सुहुमे सल्ले दुरुद्धरे। (२।३३)

वंदना-पूजा ऐसा सूक्ष्म शल्य है जो सरलता से नहीं निकाला जा सकता।

सामाइयमाहु तस्स जं, जो अप्पाण भए ण दंसए। (२।३६)

जो भय से विचलित नहीं होता, उस साधक के सामायिक होता है।

अहिमरणं ण करेज्ज पंडिए। (२।४१)

पंडित वह होता है जो कलह नहीं करता।

ण य संखयमाहु जीवियं, तह वि य बालजणो पगब्भई। (२।४३)

टूटे हुए जीवन-सूत्र को जोड़ा नहीं जा सकता। फिर भी अज्ञ मनुष्य हिंसा आदि मे धृष्ट होता है।

छंदेण पलेतिमा पया। (२।४४)

माया और मोह से ढंका हुआ प्राणी स्वेच्छा से विभिन्न गतियों में पर्यटन करता है।

मा पेह पुरापणामए। (२।४६)

मुक्त-भोगों की ओर मत देखो।

अभिकंखे उवहिं धुणित्तए। (२।४६)

उपधि—मान और कर्म को दूर करने की अभिलाषा करो।

जे दूवण ण ते हि णो णया। (२।४६)

जो विषयों के प्रति नत होते हैं, वे समाधि को नहीं जान पाते।

आतहितं दुक्खेण लब्भते। (२।५२)

आत्महित की साधना अत्यन्त दुर्लभ है।

जे इह सायाणुगा णरा, अज्झोववण्णा कामेहि मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया, ण वि जाणंति समाहिमाहियं॥ (२।५८)

निम्नोक्त व्यक्ति समाधि को नहीं जान सकते—

१. जो सुख-सुविधा के पीछे दौड़ते हैं।

२. जो आसक्त जीवन जीते हैं।

३. जो कामभोगों में मूर्च्छित हैं।

४. जो दोषों का परिमार्जन करने में कृपण है।

मा पच्छ असाहुया भवे अच्चेही अणुसास अप्पगं। (२।६१)

मरणकाल में शोक या अनुताप न हो इसलिए तू काम-भोगों का अतिक्रमण कर अपने को अनुशासित कर।

ण य संखयमाहु जीवियं। (२।६४)

टूटे हुए जीवन को सांधा नहीं जा सकता।

सद्दहसु अदक्खुदंसणा। (२।६५)

हे अर्वाग्दर्शी! तुम द्रष्टा वचन पर श्रद्धा करो।

सोच्चा भगवाणुसासणं, सच्चे तत्थ करेज्जुवक्कमं। (२।६८)

भगवान् के अनुशासन को सुनकर सत्य को पाने का प्रयत्न करो।

सव्वत्थ विणीयमच्छरे। (२।६८)

किसी के प्रति मात्सर्यभाव मत रखो।

इणमेव खणं वियाणिया। (२।७३)

उपलब्धि का क्षण यही है।

मुहुत्ताणं मुहुत्तस्स, मुहुत्तो होइ तारिसो। (३।४१)

कोई एक क्षण वैसा होता है, जिसमें व्यक्ति का अधः-पतन या उर्ध्वारोहण होता है।

वितिगिंछसमावण्णा, पंथाणं व अकोविया। (३।४४)

व्रण को अधिक खुजलाना ठीक नहीं है, क्योंकि उससे कठिनाई पैदा होती है।

णाइकंडूइयं सेयं, अरुयस्सावरज्झई॥ (३।५२)

व्रण को अधिक खुजलाना ठीक नहीं है, क्योंकि उससे कठिनाई पैदा होती है।

कुज्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहिए। (३।५६)

भिक्षु अग्लानभाव से रुग्ण साधु की सेवा करे।

अणागयमपस्संता, पच्चुप्पण्णगवेसगा।
ते पच्छा परितप्पंति, खीणे आउम्मि जोव्वणे॥ (३।७४)

भविष्य में होने वाले दुःख को दृष्टि से ओझलकर वर्त-मान सुख को खोजने वाले मनुष्य आयुष्य और यौवन के क्षीण होने पर परिताप करते हैं।

जेहिं काले परक्कंतं, ण पच्छा परितप्पए। (३।७५)

जो ठीक समय पर पराक्रम करते हैं वे बाद में परिताप नहीं करते।

ते धीरा बंधणुम्मुक्का, णावकंखंति जीवियं। (३।७५)

जो कामभोगमय जीवन की आकांक्षा नहीं करते वे धीर पुरुष बंधन से मुक्त हो जाते हैं।

सव्वमेयं णिराकिच्चा, ते ठिया सुसमाहिए। (३।७७)

जो अनुकूल परीषहों को निरस्त कर देते हैं वे समाधि में स्थित हो जाते हैं।

आमोक्खाए परिव्वएज्जासि। (३।८२)

पुरुष! तू मोक्ष प्राप्ति तक चलता चल।

बालस्स मंदयं बीयं, जं च कडं अवजाणई भुज्जो। (४।२६)

मूढ़ की यह दूसरी मंदता है कि वह किए हुए पाप को नकारता है।

दुगुणं करेइ से पावं, पूयणकामो विसण्णेसी। (४।२६)

जो पूजा का इच्छुक और असंयम का आकांक्षी होता है, वह दूना पाप करता है।

बद्धे विसयपासेहिं, मोहमावज्जइ पुणो मंदे। (४।३१)

जो विषय-पाश में आबद्ध होता है, वह मंद मनुष्य फिर मोह में फंस जाता हे।

दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं। (५।१६)

अपने दुष्कृत से दुःखी बना हुआ प्राणी दुःख का ही अनुभव करता है।

एगो सयं पच्चणुहोइ दुक्खं॥ (५।४६)

प्राणी अकेला ही दुःख का अनुभव करता है।

जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं, तमेव आगच्छइ संपराए। (५।५०)

प्राणी जैसा कर्म करता है, वैसा ही परलोक में फल पाता है।

दुक्खेण पुट्ठे धुयमाइएज्जा। (७।२६)

दुःख से स्पृष्ट होने पर शांत रहे।

पमायं कम्ममाहंसु, अप्पमायं तहावरं। (८।३)

तीर्थंकरों ने प्रमाद को कर्म और अप्रमाद को अकर्म कहा है।

वेराइं कुव्वती वेरी, ततो वेरेहि रज्जती। (८।७)

वैरी वैर करता है और फिर वैर में ही अनुरक्त हो जाता है।

अप्पणो गिद्धिमुद्धहरे। (८।१३)

मनुष्य अपनी गृद्धि को छोड़े।

आरियं उवसंपज्जे, सव्वधम्ममकोवियं। (८।१३)

मनुष्य सब धर्मों में निर्मल आर्यधर्म को स्वीकार करे।

जहा कुम्मे सअंगाइं, सए देहे समाहरे।
एवं पावेहिं अप्पाणं, अज्झप्पेण समाहरे॥ (८।१६)

जैसे कछुआ अपने अंगों को अपने शरीर में समेट लेता है, इसी प्रकार पंडित पुरुष अपनी आत्मा को पापों से बचा अध्यात्म में ले जाए।

अवमाणिते परेणं तु, ण सिलोगं वयंति ते। (८।२५)

महान् वे होते हैं जो दूसरों के द्वारा अपमानित होने पर अपनी श्लाघा नहीं करते—अपने कुल-गौरव का परिचय नहीं देते।

तितिक्खं परमं णच्चा। (८।२७)

तितिक्षा मोक्ष का परम साधन है।

परिग्गहे णिविट्ठाणं, वेरं तेसिं पवड्ढई। (९।३)

जो परिग्रह के अर्जन, संरक्षण और भोग में रत हैं, उनका वैर बढ़ता है।

आरंभसंभिया कामा, ण ते दुक्खविमोयगा। (९।३)

काम आरंभ—प्रवृत्ति से पुष्ट होते हैं। वे दुःख का विमोचन नहीं करते।

कम्मी कम्मेहि किच्चती। (९।४)

जो धन के लिए कर्म का बंधन करता है, वह उन्हीं कर्मो से छिन्न होता है।

पलिउंचणं च भयणं च, थंडिल्लुस्सयणाणि य।
धुत्तादाणाणि लोगंसि, तं विज्जं! परिजाणिया॥ (९।११)

माया, लोभ, क्रोध, अभिमान—ये सब कर्म के आयतन हैं। इन्हें विद्वान् त्यागे।

भासमाणो ण भासेज्जा। (९।२५)

बोलते हुए भी न बोलते से रहो।

णोय वम्फेज्ज मम्मयं। (९।२५)

मर्मवेधी वचन मत बोलो।

माइट्ठाणं विवज्जेज्जा। (९।२५)

बोलने में माया का वर्जन करो।

अणुवीइ वियागरे। (९।२५)

सोच-समझ कर बोलो।

जं छण्णं तं ण वत्तव्वं। (९।२६)

हिंसाकारी वचन मत बोलो।

णिव्वाणं संधए मुणि। (९।२३)

निर्वाण की सतत साधना करो।

आदीणवित्ती वि करेति पावं। (१०।६)

जो दीनवृत्ति वाला होता है, वह पाप करता है।

सव्वं जगं तू समयाणुपेही। (१०।७)

समूचे प्राणी जगत् को समता की दृष्टि से देखो।

वेराणुगिद्धे णिचयं करेति। (१०।६)

जो संचय करता है, वह जन्मान्तरानुयायी वैर में गृद्ध होता है।

आयं ण कुज्जा इह जीवितट्ठी। (१०।१०)

मनुष्य इस जीवन का अर्थी होकर पदार्थों का अर्जन, संचय न करे।

एगत्तमेवं अभिपत्थएज्जा। (१०।१२)

एकत्व (अकेलेपन) की अभ्यर्थना करो।

एतं पमोक्खे। (१०।१२)

एकत्व ही मोक्ष है।

आरंभसत्ता गढिया य लोए,
धम्मं ण जाणंति विमोक्खहेउं। (१०।१६)

जो आरंभ—प्रवृत्ति में आसक्त और लोक में गृद्ध होते हैं, वे समाधि-धर्म को नहीं जानते।

पवड्ढती वेरमसंजयस्स॥ (१०।१७)

असंयमी व्यक्ति का वैर बढ़ता जाता है।

अहो य राओ परितप्पमाणे, अट्टे सुमूढे अजरामरे व्व। (१०।१८)

जो विषयों से पीडित और मोह से मूर्च्छित होकर अजर-अमर की भांति आचरण करता है वह दिन-रात संतप्त रहता है।

हिंसप्पसूताणि दुहाणि मत्ता,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि । (१०।२१)

दुःख हिंसा से उत्पन्न होते हैं। वे वैर की परम्परा को बढ़ाते हैं। वे महा भयंकर होते हैं।

मुसं ण बूया मुणि अत्तगामी । (१०।२२)

आत्मगामी मनुष्य असत्य न बोले।

णिव्वाणमेयं कसिणं समाहिं । (१०।२२)

सत्य है निर्वाण और समाधि।

सव्वे अकंतदुक्खा य, अतो सव्वे अहिंसया ।। (११।९)

सभी जीवों को दुःख अप्रिय है, इसलिए किसी प्राणी की हिंसा मत करो।

एयं खु णाणिणो सारं, जं ण हिंसति कंचणं ।
अहिंसा-समयं चेव, एतावंतं विजाणिया ।। (११।१०)

ज्ञानी होने का यही सार है कि वह किसी की हिंसा नहीं करता। 'समता अहिंसा है'—इतना ही उसे जानना है।

संति णिव्वाणमाहियं । (११।११)

शांति ही निर्वाण है।

ण विरुज्झेज्ज केणइ । (११।१२)

किसी के साथ विरोध मत करो।

उम्मग्गगया दुक्खं घातमेसंति तं तहा । (११।२९)

जो उन्मार्ग में प्रवृत्त होते हैं, वे दुःख और मृत्यु की कामना करते हैं।

संधए साहुधम्मं च, पावधम्मं णिराकरे । (११।३५)

साधु-धर्म—रत्नत्रयी का संधान करो और पाप-धर्म का निराकरण करो।

जे य बुद्धा अतिक्कंता, जे य बुद्धा अणागया ।
संती तेसिं पइट्ठाणं, भूयाणं जगई जहा ।। (११।३६)

जो बुद्ध (तीर्थंकर) हो चुके हैं और जो बुद्ध होंगे, उन सबका आधार है शांति, जैसे जीवों का पृथ्वी।

ण कम्मुणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा । (१२।१५)

कर्म से कर्म क्षीण नहीं किया जा सकता। अकर्म से कर्म क्षीण होते हैं।

संतोसिणो णो पकरेंति पावं । (१२।१५)

संतोषी मनुष्य पाप से बच जाता है।

विण्णत्ति-वीरा य भवंति एगे । (१२।१७)

कुछ पुरुष केवल वाग्वीर होते हैं, कर्मवीर नहीं।

णो जीवियं णो मरणाभिकंखे । (१२।२२)

मेधावी व्यक्ति न (असंयममय) जीवन की आकांक्षा करे और न (असंयत) मृत्यु की वांछा करे (वह संयत जीवन और पंडित मरण की वांछा करे।)

आयाणगुत्ते वलया विमुक्के । (१२।२२)

जो इन्द्रियों का संवरण करता है, वह संसारचक्र से मुक्त हो जाता है।

एगस्स जंतो गतिरागती च । (१३।१८)

जीव अकेला जाता है और अकेला आता है।

अणोसिते णंतकरे ति णच्चा । (१४।४)

जो गुरुकुलवास में नहीं रहता वह असमाधि या संसार का अन्त नहीं कर सकता।

णो तुच्छए णो य विकत्थएज्जा । (१४।२१)

व्यक्ति न अपनी तुच्छता प्रदर्शित करे और न अपनी प्रशंसा करे।

संकेज्ज याऽसंकितभावभिक्खू । (१४।२२)

किसी तत्त्व के प्रति शंकित होने पर भी व्यक्ति सत्य के प्रति विनम्र होकर उसका प्रतिपादन करे।

विभज्जवायं च वियागरेज्जा । (१४।२२)

प्रतिपादन में सदा विभज्यवाद—स्याद्वाद का प्रयोग करे।

ण कत्थई भास विहिंसएज्जा । (१४।२३)

किसी की भाषा की हिंसा (तिरस्कार) न करे।

णिरुद्धगं वावि ण दीहएज्जा । (१४।२३)

शीघ्र समाप्त होने वाली बात को न लंबाए।

अलूसए णो पच्छण्णभासी । (१४।२६)

सिद्धांत को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करे। अपरिणत को रहस्य न बताए।

भूतेसु ण विरुज्झेज्जा, एस धम्मे वुसीमओ । (१५।४)

जीवों के साथ विरोध न करे—यह संयमी का धर्म है।

भावणाजोगसुद्धप्पा, जले णावा व आहिया ।
णावा व तीरसंपण्णा, सव्वदुक्खा तिउट्टति ।। (१५।५)

जिनकी आत्मा भावनायोग से शुद्ध है वह जल में नौका की तरह कहा गया है। वह तट पर पहुंची हुई नौका की भांति सब दुःखों से मुक्त हो जाता है।

तुट्टंति पावकम्माणि, णवं कम्ममकुव्वओ ।। (१५।६)

जो नए कर्म नहीं करता उसके पापकर्म टूट जाते हैं।

अकुव्वओ णवं णत्थि, कम्मं णाम विजाणतो । (१५।७)

जो नए कर्म नहीं करता, विज्ञाता या द्रष्टा है, उसके नया कर्म नहीं होता।

इत्थिओ जे ण सेवंति, आदिमोक्खा हु ते जणा। (१५।९)

जो कामवासना से मुक्त होते हैं, वे मोक्ष पाने वालों की पहली पंक्ति में हैं।

से हु चक्खू मणुस्साणं, जे कंखाए य अंतए। (१५।१४)

जो आकांक्षाओं का अन्त कर देता है, वह मनुष्यों का चक्षु है।

दुल्लभेऽयं समुस्सए। (१५।१७)

यह मनुष्य का शरीर दुलर्भ है।

इतो विद्धंसमाणस्स, पुणो संबोहि दुल्लभा। (१५।१८)

मनुष्य शरीर से च्युत जीव को (अन्य योनियों में) संबोधि दुर्लभ है।

दुल्लभाओ तहच्चाओ, जे धम्मट्ठं वियागरे। (१५।१८)

धर्म के तत्त्व का उपदेश देने वाली विशुद्ध आत्माओं का योग भी दुर्लभ है।

परिशिष्ट ४

उपमा

मिगा वा पासबद्धा (१।४०)
मिलक्खू अमिलक्खुस्स जहा वुत्ताणुभासए । (१।४२)
मिलक्खू व्व अबोहिया ॥ (१।४३)
वणे मूढे जहा जंतू मूढणेयाणुगामिए । (१।४५)
दुक्खं ते णातिवट्टंति सउणी पंजरं जहा ॥ (१।४९)
जहा आसाविणि णावं जाइअंधो दुरूहिया । (१।५८)
मच्छा वेसालिया चेव उदगस्सऽभियागमे ॥ (१।६१)
उदगस्सप्पभावेणं सुक्कम्मि घातमेंति उ ।
ढंकेहि य कंकेहि य आमिसत्थेहि ते दुही ॥ (१।६२)
मच्छा वेसालिया चेव (१।६३)
वियडं व जहा भुज्जो णीरयं सरयं तहा ॥ (१।७१)
सेणे जह वट्टयं हरे (२।२)
ताले जह बंधणच्चुए (२।६)
धुणिया कुलियं व लेववं (२।१४)
सउणी जह पंसुगुंडिया विहुणिय धंसयई सियं रयं । (२।१५)
सय सं व जहाइ से रयं (२।२३)
बहुजणमणम्मि संवुडे (२।२९)
कुजए अपराजिए जहा अक्खेहिं कुसलेहिं दीवयं ।
कडमेव गहाय णो कलिं णो तेयं णो चेव दावरं ॥ (२।४५)
कडमिव सेसऽवहाय पंडिए ॥ (२।४६)
अग्गं वाणिएहि आहियं धारेंती रायाणया इहं । (२।५७)
किवणेण समं पगब्भिया (२।५८)
वाहेण जहा व विच्छए अबले होइ गवं पचोइए ।
से अंतसो अप्पथामए णाइवए अबले विसीयइ ॥ (२।५९)
सिसुपालो व महारहं ॥ (३।१)
रज्जहीणा व खत्तिया ॥ (३।४)
मच्छा अप्पोदए जहा ॥ (३।५)
संगामम्मि व भीरुणो ॥ (३।७)
तेउपुट्ठा व पाणिणो ॥ (३।८)
मच्छा पविट्ठा व केयणे ॥ (३।१३)
हत्थी वा कुद्धगामिणी ॥ (३।१६)
हत्थी वा सरसंवीता (३।१७)
जहा रुक्खं वणे जायं मालुया पडिबंधइ । (३।२७)
हत्थी वा वि णवग्गहे । (३।२८)
सूती गो व्व अदूरगा ॥ (३।२८)
पायाला व अतारिमा । (३।२९)
णीवारेण व सूयरं ॥ (३।३६)
उज्जाणंसि व दुब्बला ॥ (३।३७)
पंकंसि व जरग्गवा ॥ (३।३८)
जहा संगामकालम्मि पट्ठिओ भीरु वेहइ । (३।४०)
पंथाणं व अकोविया ॥ (३।४४)
अग्गे वेणु व्व करिसिया । (३।५४)
टंकणा इव पव्वयं ॥ (३।५७)
वाहच्छिण्णा व गद्दभा । (३।६५)
पीढसप्पीव संभमे ॥ (३।६५)
अयोहारि व्व जूरहा ॥ (३।६७)
जहा गंडं पिलागं वा परिपीलेत्ता मुहुत्तगं । (३।७०)
जहा मंधादए णाम थिमियं पियति दगं । (३।७१)
जहा विहंगमा पिंगा थिमियं पियति दगं । (३।७२)
पूयणा इव तरुणए ॥ (३।७३)
जहा णई वेयरणी दुत्तरा इह सम्मता । (३।७६)
समुद्दं व ववहारिणो । (३।७८)
सीहं जहा व कुणिमेणं (४।८)
रहकारा व णेमिं अणुपुव्वीए । बद्धे मिए व पासेणं (४।९)
भोच्चा पायसं व विसमिस्सं । (४।१०)
विसलित्तं व कंटगं णच्चा । (४।११)
अदु सावियापवाएणं (४।२६)
जउकुम्भे जोइसुवगूढे आसुभितत्ते णासमुवयाइ । (४।२७)
आणप्पा हवंति दासा वा ॥ (४।४६)
भारवहा हवंति उट्टा वा ॥ (४।४७)
वत्थधुवा हवंति हंसा वा ॥ (४।४८)
दासे मिए व पेस्से वा पसुभूए व से ण वा केई ॥ (४।४९)
मच्छा व जीवंतुवजोइपत्ता ॥ (५।१३)
फलगं व तच्छंति कुहाडहत्था ॥ (५।१४)
सजीवमच्छे व *अयो-कवल्ले* ॥ (५।१५)
से सुव्वई णगरवहे व सद्दे (५।१८)

ते तिप्पमाणा तलसंपुड व्व (५।२३)
पेसे व दंडेहि पुरा करेंति ।। (५।३२)
अयं व सत्थेहि समूसवेंति ।। (५।३५)
सावययं व (५।३७)
सप्पी जहा छूढं जोइमज्झे ।। (५।३६)
सत्तं व दंडेहि समारभंति ।। (५।४०)
फलगा व तट्ठा (५।४१)
उसुचोइया हत्थिवहं वहंति । (५।४२)
दीवे व ।। (६।४)
सूरिए वा (६।६)
वइरोयणिदे व ।। (६।६)
इंदे व देवाण महाणुभावे
सहस्सणेता दिवि णं विसिट्ठे ।। (६।७)
अक्खयसागरे वा (६।८)
महोदही वा वि अणंतपारे । (६।८)
सक्के व देवाहिवई जुईमं ।। (६।८)
सुदंसणे वा णगसव्वसेट्ठे । (६।६)
जलिए व भोमे ।। (६।१२)
गिरीवरे वा णिसढायताणं (६।१५)
रुयगे व सेट्ठे वलयायताणं । (६।१५)
संखेंदुवेगंतवदातसुक्कं ।। (६।१६)
रुक्खेसु णाते जह सामली वा (६।१८)
वणेसु या णंदणमाहु सेट्ठं (६।१८)
थणितं व सद्दाण अणुत्तरं उ (६।१६)
चंदे व ताराण महाणु भावे । (६।१६)
गंधेसु वा चंदणमाहु सेट्ठं (६।१६)
जहा सयंभू उदहीण सेट्ठे (६।२०)
णागेसु वा धरणिंदमाहु सेट्ठं । (६।२०)
खोओदए व रस वेजयंते (६।२०)
हत्थीसु एरावणमाहु णाते (६।२१)
सीहो मिगाणं । (६।२१)
सलिलाण गंगा । (६।२१)
पक्खीसु या गरुले वेणुदेवे (६।२१)
जोहेसु णाए जह वीससेणे (६।२२)
पुप्फेसु वा जह अरविंदमाहु । (६।२२)
खत्तीण सेट्ठे जह दंतवक्के (६।२२)
दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं (६।२३)
सच्चेसु या अणवज्जं वयंति । (६।२३)
तवेसु या उत्तम बंभचेरं (६।२३)
ठितीण सेट्ठा लवसत्तमा वा (६।२४)
सभा सुहम्मा व सभाण सेट्ठा । (६।२४)
णिव्वाणसेट्ठा जह सव्वधम्मा (६।२४)
तरिउं समुद्दं व महाभवोघं (६।२५)
अंधं व णेयारमणुस्सरंता (७।१६)
णीवारगिद्धे व महावराहे (७।२५)
णिस्सारए होइ जहा पुलाए ।। (७।२६)
संगामसीसे व परं दमेज्जा ।। (७।२६)
अक्खक्खए वा सगडं ।। (७।३०)
जहा कुम्मे सअंगाइं सए देहे समाहरे । (८।१६)
अजरामरे व्व ।। (१०।१८)
सीहं जहा खुद्दमिगा चरंता
दूरेण चरंती परिसंकमाणा । (१०।२०)
समुद्दं ववहारिणो ।। (११।५)
णक्खत्ताण व चंदमा । (११।२२)
जहा ढंका य कंका य कुलला मग्गुकासिही ।
मच्छेसणं झियायंति झाणं ते कुलसाधमं ।। (११।२७)
कंका वा कलुसाधमा ।। (११।२८)
जहा आसविणिं णावं जाइअंधो दुरूहिया ।
इच्छई पारमागंतुं अंतरा य विसीयति ।। (११।३०)
वातेण व महागिरी ।। (११।३७)
जहा हि अंधे सह जोइणा वि
रूवाणि णो पस्सइ हीणणेत्ते । (१२।८)
अद्धे व (१३।५)
जहा दिया-पोत मपत्तजातं सावासगा पवितुं मण्णमाणं ।
तमचाइयं तरुणमपत्तजायं ढंकादि अव्वत्तगमं हरेज्जा ।। (१४।२)
दियस्स छायं व अपत्तजातं (१४।३)
वणंसि मूढस्स जहा अमूढा
मग्गाणुसासंति हितं पयाणं । (१४।१०)
णेता जहा अंधकारंसि राओ
मग्गं ण जाणाति अपस्समाणे । (१४।१२)
सूरोदए पासइ चक्खुणेव ।। (१४।१३)
जले णावा व आहिया । (१५।५)
णावा व तीरसंपण्णा (१५।५)
वाऊ व जालमच्चेइ (१५।८)
णीवारे व ण लीए लीएज्जा (१५।१२)
णिट्ठितट्ठा व देवा व (१५।१६)

परिशिष्ट ५
व्याकरण विमर्श

पहला अध्ययन

श्लोक

२० ओहंतराआहिया—अत्र द्विपदयोः संधिः—ओहंतरा + आहिया ।

२७ एसंतणंतसो—एष्यन्ति + अनन्तशः ।

३२ एवं पुवट्ठिया—एवं + अपि + उवट्ठिया ।

४० एसंतऽणंतसो—एष्यन्ति + अनन्तशः ।

४५ णियच्छई—छन्दोदृष्ट्या एकवचनं—णियच्छंति ।

६० सड्ढी—विभक्तिरहितपदं—सड्ढीहिं ।

६० आगंतु—विभक्तिरहितपदं वर्णलोपश्च—आगन्तुकान् उद्दिश्य ।

६३ चेव—चेव—इव ।

६३ एसंतणंतसो—एष्यन्ति + अनन्तशः ।

६५ पहाणाइ—अत्र 'कडे' इति वाक्यशेषः ।

७३ सिद्धिमेव—मकारः अलाक्षणिकः ।

८३ चिट्ठंतदुव—अत्र द्विपदयोः सन्धिः—चिट्ठंति + अदुव ।

दूसरा अध्ययन

७ बहुस्सुए, धम्मिए, माहणे भिक्खुए—सर्वत्रापि बहुवचनं युज्यते । अत्र बहुवचनान्तं क्रियापदं स्वीकृतम्, तेन वृत्तिकृता छान्दसत्वाद् बहुवचनं द्रष्टव्यम्—इति लिखितम् ।

९ मायादि—विभक्तिरहितपदम्—मायादिणा ।

९ गब्भादणंतसो—गर्भादि अनन्तशः ।

१० पुरिसोरम—पुरुष ! उपरम ।

१२ कोहाकायरियाइपीसणा—अत्र दीर्घत्वमलाक्षणिकम् ।

१४ देहमणासणादिहिं—अत्र दीर्घत्वमलाक्षणिकम् ।

१८ जीवित—विभक्तिरहितपदम्—जीवितस्स ।

२१ दवि—विभक्तिरहितपदम्—दविए ।

२१ महाविहिं—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम्—महावीहिं ।

२३ तय—विभक्तिरहितपदम्—तयं ।

२८ समता—समतयाः ।

२८ माणि—विभक्तिरहितपदम्—माणी ।

३३ पलिगोव—विभक्तिरहितपदम्—पलिगोवं ।

३४ मासणे—मकारः अलाक्षणिकः ।

३९ अप्पाण—विभक्तिरहितपदम्—अप्पाणं ।

४० संसग्गि—विभक्तिरहितपदम्—संसग्गी ।

४२ सीओदग—विभक्तिरहितपदम्—सीओदगस्स ।

४६ सेसऽवहाय—विभक्तिरहितं सन्धिश्च—सेस अवहाय ।

४७ उत्तर—विभक्तिरहितपदम्—उत्तरा ।

४७ गामधम्म—विभक्तिरहितपदम्—गामधम्मे ।

४८ उट्ठिय—विभक्तिरहितपदम्—उट्ठिया ।

४९ दूवण—विभक्तिरहितपदम्—दूवणया, ये दुरूपनताः न ते हि समाधिं जानन्ति, ये नो नताः—विषयेषु न प्रणताः सन्ति ते समाधिं जानन्ति ।

५१ पसंस—विभक्तिरहितपदम्—पसंसं ।

५१ उक्कोस—विभक्तिरहितपदम्—उक्कोसं ।

५१ पगास—विभक्तिरहितपदम्—पगासं ।

६१ अच्चेही—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।

६१ असाहु—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।

६२ गिद्ध—विभक्तिरहितपदम्—गिद्धा ।

६३ आयदंड—विभक्तिरहितपदम्—आयदंडा ।

६८ भिक्खु—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।

७५ पाण—विभक्तिरहितपदम्—पाणा ।

७५ अणियाण—विभक्तिरहितपदम्—अणियाणे ।

तीसरा अध्ययन

२० सवा—शृण्वन्तीति श्रवाः ।

२३ कम्म—अकृत्याः इति क्रियाशेषः ।

३३ हत्थस्स—सन्धिपदमिदम्—हत्थि + अस्स ।

३९ गिद्ध—विभक्तिरहितपदम्—गिद्धा ।

४० भीरु—विभक्तिरहितपदम्—भीरू ।

४७ समाहिए—अत्र पंचम्येकवचने 'समाहीए' इतिरूपं भवति, किन्तु छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।

५३ असमिक्खा—अकारस्य दीर्घत्वम् ।

५४ उ—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।

६३ दीवायण—विभक्तिरहितपदम्—दीवायणे ।

७६ अमईमया—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।

चौथा अध्ययन

१२ इत्थीसु—तृतीयार्थे सप्तमी ।
१२ तऽणुगिद्धा—सन्धिपदम्—तयणुगिद्धा ।
२७ जोइसुवगूढे—अत्र द्विपदयोः सन्धिः—जोइसा+उवगूढे ।

पाचवां अध्ययन

१३ जीवंतुवजोइपत्ता—अत्र द्विपदयोः सन्धिः—जीवंता+उवजोइपत्ता।
१६ पाव—विभक्तिरहितपदम्—पावा ।
२६ तत्था—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
२६ पिट्ठउ—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।
३६ मंहतीउ—अत्र ओकारस्य ह्रस्वत्वम् ।
४२ रुद्द—विभक्तिरहितपदम्—रुद्दं ।

छठा अध्ययन

४ थावर—विभक्तिरहितपदम्—थावरा ।
११ जंसी—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
१२ गिरिसु—अत्र सप्तम्याः बहुवचने 'गिरीसु' इति रूपं भवति, किन्तु छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।
१५ णिसढायताणं—द्विपदयोः सन्धिः—णिसढे+आयताणं ।
१७ साइमणंत—विभक्तिरहितपदम्—साइमणंतं ।
२० मुणि—विभक्तिरहितपदम्—मुणी ।
२३ उत्तम—विभक्तिरहितपदम्—उत्तमं ।
२५ वीर—विभक्तिरहितपदम्—वीरे ।
२७ सम्म—अत्र अनुस्वारलोपः ।
२८ इत्थि—विभक्तिरहितपदम्—इत्थिं ।
२६ सद्दहंताऽय - द्विपदयोः संधिः वर्णलोपश्च—सद्दहंता+आदाय ।
२६ देवाहिव—विभक्तिरहितपदम्—देवाहिवा ।

सातवां अध्ययन

१ तण रुक्ख—विभक्तिरहितपदम्—तणा रुक्खा ।
१ जराउ—विभक्तिरहितं वर्णलोपश्च—जराउया ।
२ विप्परियासुवेति—द्विपदयोः संधिः—विप्परियासमुवेति ।
२ एताइं कायाइं पवेइयाइं—काय पुल्लिंग है। यहां नपुंसकलिंग में प्रयुक्त है ।
४ संसारमावण्ण—विभक्तिरहितपदम्—संसारमावण्णा ।
४ दुण्णियाणि—वन्धानुलोम्यात् 'दुण्णीयाणि—अत्र ईकारस्य ह्रस्वत्वम् ।
५ अगणि—विभक्तिरहितपदम्—अगणिं ।
६ पाणऽतिवातएज्जा—द्विपदयोः संधिः—पाणा+अतिवातएज्जा ।
६ अगणिऽतिवातएज्जा—द्विपदयोः संधिः—अगणिं+अतिवातएज्जा ।
६ अगणि—विभक्तिरहितपदम्—अगणिं ।
७ संपातिम—विभक्तिरहितपदम्—संपातिमा ।
७ अगणि—विभक्तिरहितपदम्—अगणिं ।
८ बहुणं—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।
१० मज्झिम—विभक्तिरहितपदम्—मज्झिमा ।
१६ जती—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
२५ मुहमंगलिओदरियं—द्विपदयोः संधिः—मुहमंगलिओ+ओदरियं ।
२८ भिक्खु—भिक्खू ।
२६ मुणि—मुणी ।
२६ विवेग—विवेगं ।
३० पवंचुवेइ—द्विपदयोः संधिः—पवंचं+उवेइ ।

आठवां अध्ययन

१५ किंचुवक्कमं—द्विपदयोः संधिः—किंचि+उवक्कमं ।

नौवां अध्ययन

६ सपेहाए—अत्र 'सं' शब्दस्य अनुस्वारलोपः ।
८ तण रुक्ख—विभक्तिरहितपदम्—तणा रुक्खा ।
८ पोय, जराऊ, रस, संसेय—विभक्तिरहितं वर्णलोपश्च—पोयया, जराउया, रसया, संसेइया ।

दसवां अध्ययन

२ थावर—थावरा ।
२ सुतवस्सि—सुतवस्सी ।
६ मेधावि—मेधावी ।
१३ आरयमेहुणे—आ+अरत+मैथुनः—विरतमैथुनः इत्यर्थः ।
१३ भिक्खु—भिक्खू ।
१८ साहसकारि—साहसकारी ।
२० मेहावि—मेहावी ।
२२ मुणि—मुणी ।

ग्यारहवां अध्ययन

१ उज्जु—उज्जुं ।
७ तण—तणा ।
८ छक्काय—छक्काया ।

बारहवां अध्ययन

२ वितिगिच्छ—वितिगिच्छं ।
३ असाहु—असाहुं ।
१२ चक्खु—चक्खू ।

१२ मग्गाणुसासंति—द्विपदयोः संधिः—मग्गं+अणुसासंति ।
१६ मणागयाइं—मकारः अलाक्षणिकः ।
१८ बुद्धप्पमत्तेसु—द्विपदयोः संधिः—बुद्धे+अप्पमत्तेसु, बुद्धे+पमत्तेसु ।
१९ सततांऽऽवसेज्जा—द्विपदयोः संधिः—सततं+आवसेज्जा ।
२० अत्ताण—अत्ताणं ।
२० जाण—अत्र इकारलोपः—जाणइ ।
२२ मरणाभिकंखे—द्विपदयोः संधिः—मरणं+अभिकंखे ।

तेरहवां अध्ययन

३ बहूगुणाणं—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
४ मायण्णिएहिंति—द्विपदयोः सन्धिः—मायण्णिआ+एहिंति ।
१२ भिक्खु—भिक्खू ।
१२ गारवं—अत्र वर्णलोपः—गारववं ।
१३ भिक्खु—भिक्खू ।
१४ भिक्खु—भिक्खू ।
२२ सिलोय—सिलोयं ।
२३ अकसाइ—अकसाई ।

चौदहवां अध्ययन

४ णंतकरे—ण+अंतकरे ।
५ या—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
६ पमाय—पमायं ।
६ वी—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
६ वितिगिच्छ—वितिगिच्छं ।
८ अब्भुट्ठिताए—छन्दोदृष्ट्या ह्रस्वत्वम् ।
९ पमाद—पमादं ।
१० मग्गाणुसासंति—द्विपदयोः संधिः—मग्ग+अणुसासंति ।
१० सम्मऽणुसासयंति—द्विपदयोः संधिः—सम्मं+अणुसासयंति ।
११ कायव्व—कायव्वा ।
१२ सुरियस्सा—छन्दोदृष्ट्या दीर्घत्वम् ।
१४ थावर—थावरा ।
१६ संति—संती ।
१७ भिक्खु—भिक्खू ।
१७ समीहमट्ठं—समीक्ष्य—मकारः अलाक्षणिकः ।
१७ आदाणमट्ठी—मकारः अलाक्षणिकः ।
१९ परिहास—परिहासं ।
१९ याऽऽसिसावाद—आसिसावादं ।
२१ अकसाइ—अकसाई ।
२२ याऽसंकितभाव—असंकितभावे ।
२३ साहु - साहू ।
२३ भास—भासं ।
२४ पावविवेग—पावविवेगं ।
२५ दिट्ठि—दिट्ठिं ।

पन्द्रहवां अध्ययन

७ जाई—जायई—जाई ।
१८ संवोहि—संबोही ।

☐ निर्देशन
साध्वी श्री उमरावकुंवर 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्त्तक मुनि श्री कन्हैयालाल 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ द्वितीय संस्करण : प्रकाशन तिथि
वीर निर्वाण सं० २५१६, वि० सं० २०४७
सितम्बर १९९० ई०

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
ब्रज-मधुकर स्मृति भवन, पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य : ५५) रुपये

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

Fifth Ganadhar Sudharma Swami Compiled : Fifth Aṅga

ĀCĀRĀṄGA SŪTRA

PART II : ĀCĀRACŪLĀ

[Original Text with Variant Readings, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Proximity
(Late) Up-pravartaka Shasansevi Rev. Swami Sri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Sri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Srichand Surana 'Saras'

Publishers
Shri Agama Prakashan Samiti
Beawar (Raj.)